सावरकर समग्र

स्वातंत्र्यवीर

विनायक दामोदर सावरकर



'सावरकर' शब्द साहस, शौर्य, पराक्रम और राष्ट्रभक्ति का पर्याय है। क्रांतिकारी इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों पर अंकित स्वातंत्र्यवीर सावरकर का समूचा व्यक्तित्व अप्रतिम गुणों से संपन्न था। मातृभूमि की स्वतंत्रता के लिए प्राण हथेली पर रखकर जूझनेवाले महान् क्रांतिकारी; जातिभेद, अस्पृश्यता व अंधश्रद्धा जैसी सामाजिक बुराइयों को समूल नष्ट करने का आग्रह करनेवाले महान् द्रष्टा; 'गीता' के कर्मयोग सिद्धांत को अपने जीवन में आचरित करनेवाले अद्भुत कर्मचोगी; अनादि-अनंत परमात्मा का प्राणमय प्रस्फुरण स्वयं के अंदर सदैव अनुभव करते हुए अंदमान जेल की यातनाओं को धैर्यपूर्वक सहनेवाले महान् दार्शनिक, अपने तेजस्वी विचारों से सहस्रों श्रोताओं को झकझोर देने और उन्हें सम्मोहित करनेवाले अद्भुत वक्ता तथा कविता, उपन्यास, कहानी, चरित्र, आत्मकथा, इतिहास, निबंध आदि विभिन्न विधाओं में उच्च कोटि के साहित्य की रचना करनेवाले प्रतिभाशाली साहित्यकार थे स्वातंत्र्यवीर विनायक दामोदर सावरकर।

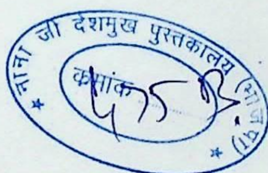
स्वतंत्रता-संग्राम एवं समाज-सुधार जैसे क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण कार्य करनेवाला व्यक्ति उच्च कोटि का साहित्यकार भी हो, यह अपवाद है—और इस अपवाद के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं वीर सावरकर।

भारतीय वाङ्मय में उनके साहित्य का अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है; किंतु वह अधिकांश मराठी में उपलब्ध होने के कारण इस महान् साहित्यकार के अप्रतिम योगदान के बारे में अन्य भारतीय भाषाओं के पाठक अधिक परिचित नहीं हैं।

वीर सावरकर के चिर प्रतीक्षित समग्र साहित्य का प्रकाशन हिंदी जगत् के लिए गौरव की बात है।

5

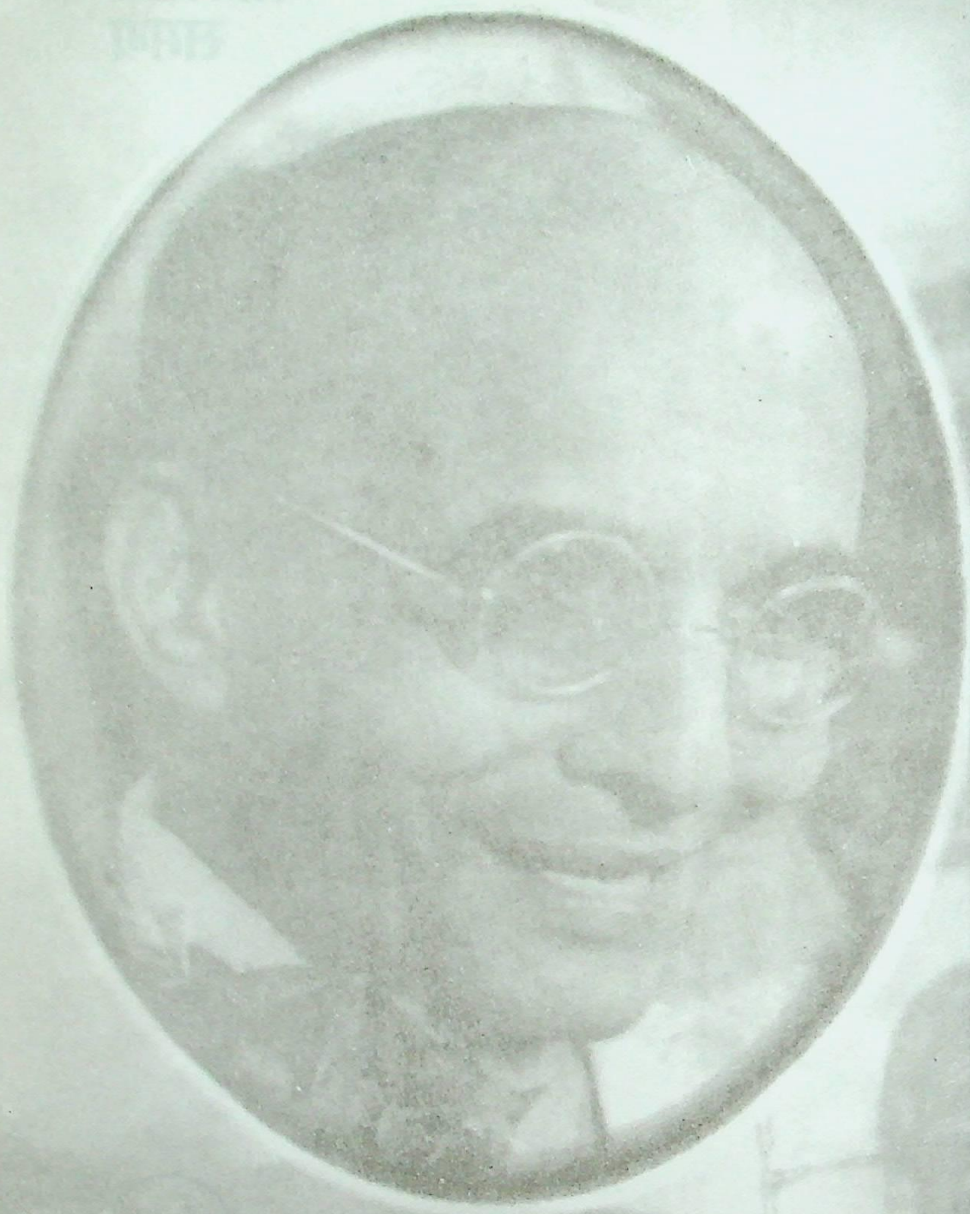
A2 7 R3





सावरकर समग्र

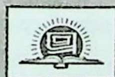




सावरकर समग्र

स्वातंत्र्यवीर

विनायक दामोदर सावरकर



प्रभात प्रकाशन, दिल्ली

आभार • स्वातंत्र्यवीर सावरकर राष्ट्रीय स्मारक
२५२ स्वातंत्र्यवीर सावरकर मार्ग
शिवाजी उद्यान, दादर, मुंबई-२८



प्रकाशक • **प्रभात प्रकाशन**
४/१९ आसफ अली रोड
नई दिल्ली-११०००२
संस्करण • २००४

मूल्य • पाँच सौ रुपए प्रति खंड
पाँच हजार रुपए (दस खंडों का सैट)
मुद्रक • गिर्राज प्रिंटर्स, दिल्ली

SAVARKAR SAMAGRA (Complete Works of Vinayak Damodar Savarkar)
Published by Prabhat Prakashan, 4/19 Asaf Ali Road, New Delhi-2

Vol. V	Rs. 500.00	ISBN 81-7315-325-6
Set of Ten Vols.	Rs. 5000.00	ISBN 81-7315-331-0

विनायक दामोदर सावरकर : संक्षिप्त जीवन परिचय

श्री विनायक दामोदर सावरकर भारतीय स्वाधीनता-संग्राम के एक तेजस्वी तथा अग्रणी नक्षत्र थे। 'वीर सावरकर' शब्द साहस, वीरता, देशभक्ति का पर्यायवाची बन गया है। 'वीर सावरकर' शब्द के स्मरण करते ही अनुपम त्याग, अदम्य साहस, महान् वीरता, एक उत्कट देशभक्ति से ओतप्रोत इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठ हमारे सामने साकार होकर खुल पड़ते हैं।

वीर सावरकर न केवल स्वाधीनता-संग्राम के एक तेजस्वी सेनानी थे अपितु वह एक महान् क्रांतिकारी, चिंतक, सिद्धहस्त लेखक, कवि, ओजस्वी वक्ता तथा दूरदर्शी राजनेता भी थे। वह एक ऐसे इतिहासकार भी थे जिन्होंने हिंदू राष्ट्र की विजय के इतिहास को प्रामाणिक ढंग से लिपिबद्ध किया तो '१८५७ के प्रथम स्वातंत्र्य समर' का सनसनीखेज व खोजपूर्ण इतिहास लिखकर ब्रिटिश शासन को हिला डाला था।

इस महान् क्रांतिपुंज का जन्म महाराष्ट्र के नासिक जिले के ग्राम भगूर में चितपावन वशीय ब्राह्मण श्री दामोदर सावरकर के घर २८ मई, १८८३ को हुआ था। गाँव के स्कूल में ही पाँचवीं तक पढ़ने के बाद विनायक आगे पढ़ने के लिए नासिक चले गए।

लोकमान्य तिलक द्वारा संचालित 'केसरी' पत्र की उन दिनों भारी धूम थी। 'केसरी' में प्रकाशित लेखों को पढ़कर विनायक के हृदय में राष्ट्रभक्ति की भावनाएँ हिलोरें लेने लगीं। लेखों, संपादकीयों व कविताओं को पढ़कर उन्होंने जाना कि भारत को दासता के चंगुल में रखकर अंग्रेज किस प्रकार भारत का शोषण कर रहे हैं। वीर सावरकर ने कविताएँ तथा लेख लिखने शुरू कर दिए। उनकी रचनाएँ मराठी पत्रों में नियमित रूप से प्रकाशित होने लगीं। 'काल' के संपादक श्री परांजपे ने अपने पत्र में सावरकर की कुछ रचनाएँ प्रकाशित कीं, जिन्होंने तहलका मचा दिया।

सन् १९०५ में सावरकर बी.ए. के छात्र थे। उन्होंने एक लेख में विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का आह्वान किया। इसके बाद उन्होंने अपने साथियों के साथ मिलकर विदेशी वस्त्रों की होली जलाने का कार्यक्रम बनाया। लोकमान्य तिलक इस कार्य के लिए आशीर्वाद देने उपस्थित हुए।

सावरकर की योजना थी कि किसी प्रकार विदेश जाकर बम आदि बनाने सीखे जाएँ तथा शस्त्रास्त्र प्राप्त किए जाएँ। तभी श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा ने सावरकर को छात्रवृत्ति देने की घोषणा कर दी। ९ जून, १९०६ को सावरकर इंग्लैंड के लिए रवाना हो गए। वह लंदन में 'इंडिया हाउस' में ठहरे। उन्होंने वहाँ पहुँचते ही अपनी विचारधारा के भारतीय युवकों को एकत्रित करना शुरू कर दिया। उन्होंने 'फ्री इंडिया सोसाइटी' की स्थापना की।

सावरकर 'इंडिया हाउस' में रहते हुए लेख व कविताएँ लिखते रहे। वह गुप्त रूप से बम बनाने की विधि का अध्ययन व प्रयोग भी करते रहे। उन्होंने इटली के महान् देशभक्त मैझिनी का जीवन-चरित्र लिखा। उसका मराठी अनुवाद भारत में छपा तो एक बार तो तहलका ही मच गया था।

१९०७ में सावरकर ने अंग्रेजों के गढ़ लंदन में १८५७ की अर्द्धशती मनाने का व्यापक कार्यक्रम बनाया। १० मई, १९०७ को 'इंडिया हाउस' में सन् १८५७ की क्रांति की स्वर्ण जयंती का आयोजन किया गया। भवन को तोरण-द्वारों से सजाया गया। मंच पर मंगल पांडे, लक्ष्मीबाई, वीर कुँवरसिंह, तात्या टोपे, बहादुरशाह जफर, नानाजी पेशवा आदि भारतीय शहीदों के चित्र थे। भारतीय युवक सीने व बाँहों पर शहीदों के चित्रों के बिल्ले लगाए हुए थे। उनपर अंकित था —'१८५७ के वीर अमर रहें'। इस समारोह में कई सौ भारतीयों ने भाग लेकर १८५७ के स्वाधीनता-संग्राम के शहीदों को श्रद्धांजलि अर्पित की। राष्ट्रीय गान के बाद वीर सावरकर का ओजस्वी भाषण हुआ, जिसमें उन्होंने सप्रमाण सिद्ध किया कि १८५७ में 'गदर' नहीं अपितु भारत की स्वाधीनता का प्रथम महान् संग्राम हुआ था।

सावरकर ने १९०७ में '१८५७ का प्रथम स्वातंत्र्य समर' ग्रंथ लिखना शुरू किया। इंडिया हाउस के पुस्तकालय में बैठकर वह विभिन्न दस्तावेजों व ग्रंथों का अध्ययन करने लगे। उन्होंने लगभग डेढ़ हजार ग्रंथों के गहन अध्ययन के बाद इसे लिखना शुरू किया।

ग्रंथ की पांडुलिपि किसी प्रकार गुप्त रूप से भारत पहुँचा दी गई। महाराष्ट्र में इसे प्रकाशित करने की योजना बनाई गई। 'स्वराज्य' पत्र के संपादक ने इसे प्रकाशित करने का निर्णय लिया; किंतु पुलिस ने प्रेस पर छापा मारकर योजना में बाधा डाल दी। ग्रंथ की पांडुलिपि गुप्त रूप से पेरिस भेज दी गई। वहाँ इसे प्रकाशित कराने का प्रयास किया गया; किंतु ब्रिटिश गुप्तचर वहाँ भी पहुँच गए और ग्रंथ को प्रकाशित न होने दिया गया। ग्रंथ के प्रकाशित होने से पूर्व ही उसपर प्रतिबंध लगा दिया गया। अंततः १९०९ में ग्रंथ फ्रांस से प्रकाशित हो ही गया।

ब्रिटिश सरकार तीनों सावरकर बंधुओं को 'राजद्रोही' व खतरनाक घोषित कर चुकी थी। सावरकर इंग्लैंड से पेरिस चले गए। पेरिस में उन्हें अपने साथी याद आते। वह सोचते कि उनके संकट में रहते उनका यहाँ सुरक्षित रहना उचित नहीं है।

अंततः वह इंग्लैंड के लिए रवाना हो गए।

१३ मार्च, १९१० को लंदन के रेलवे स्टेशन पर पहुँचते ही सावरकर को बंदी बना लिया गया और ब्रिक्स्टन जेल में बंद कर दिया गया। उनपर लंदन की अदालत में मुकदमा शुरू हुआ। न्यायाधीश ने २२ मई को निर्णय दिया कि क्योंकि सावरकर पर भारत में भी कई मुकदमे हैं, अतः उन्हें भारत ले जाकर वहीं मुकदमा चलाया जाए। अंततः २९ जून को सावरकर को भारत भेजने का आदेश जारी कर दिया गया।

१ जुलाई, १९०९ को 'मोरिया' जलयान से सावरकर को कड़े पहरे में भारत रवाना किया गया। ब्रिटिश सरकार को भनक लग गई थी कि सावरकर को रास्ते में छुड़ाने का प्रयास किया जा सकता है। अतः सुरक्षा प्रबंध बहुत कड़े किए गए। ८ जुलाई को जलयान मार्सेल बंदरगाह के निकट पहुँचने ही वाला था कि सावरकर शौच जाने के बहाने पाखाने में जा घुसे। फुरती के साथ उछलकर वह पोर्ट हॉल तक पहुँचे और समुद्र में कूद पड़े।

अधिकारियों को जैसे ही उनके समुद्र में कूद जाने की भनक लगी कि अंग्रेज अफसरों के छक्के छूट गए। उन्होंने समुद्र की लहरें चीरकर तैरते हुए सावरकर पर गोलियों की बौछार शुरू कर दी। सावरकर सागर की छाती चीरते हुए फ्रांस के तट की ओर बढ़ने लगे। कुछ ही देर में वह तट तक पहुँचने में सफल हो गए किंतु उन्हें पुनः बंदी बना लिया गया।

१५ सितंबर, १९१० को सावरकर पर मुकदमा शुरू हुआ। सावरकर ने स्पष्ट कहा कि भारत के न्यायालय से उन्हें न्याय की किंचित् भी आशा नहीं है, अतः वह अपना बयान देना व्यर्थ समझते हैं।

२३ दिसंबर को अदालत ने उन्हें ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध षड्यंत्र रचने, बम बनाने तथा रिवॉल्वर आदि शस्त्रास्त्र भारत भेजने आदि आरोपों में आजन्म कारावास की सजा सुना दी। उनकी तमाम संपत्ति भी जब्त कर ली गई।

२३ जनवरी, १९११ को उनके विरुद्ध दूसरे मामले की सुनवाई शुरू हुई। ३० जनवरी को पुनः आजन्म कारावास की सजा सुना दी गई। इस प्रकार सावरकर को दो आजन्म कारावासों का दंड दे दिया गया। सावरकर को जब अंग्रेज न्यायाधीश ने दो आजन्म कारावासों का दंड सुनाया तो उन्होंने हँसते हुए कहा, 'मुझे बहुत प्रसन्नता है कि ईसाई (ब्रिटिश) सरकार ने मुझे दो जीवनों का कारावास दंड देकर पुनर्जन्म के हिंदू सिद्धांत को मान लिया है।'

कुछ माह बाद महाराजा नामक जलयान से सावरकर को अंदमान भेज दिया गया। अंदमान में उन्हें अमानवीय यातनाएँ दी जाती थीं। कोल्हू में बैल की जगह जोतकर तेल पिरवाया जाता था, मूँज कुटवाई जाती थी। राजनीतिक बंदियों पर वहाँ किस प्रकार अमानवीय अत्याचार ढाए जाते थे, इसका रोमांचकारी वर्णन सावरकरजी ने अपनी पुस्तक मेरा आजीवन कारावास में किया है।

सावरकरजी ने अंदमान में कारावास के दौरान अनुभव किया कि मुसलमान वॉर्डर हिंदू बंदियों को यातनाएँ देकर उनका धर्म-परिवर्तन करने का कुचक्र रचते हैं। उन्होंने इस अन्यायपूर्ण धर्म-परिवर्तन का डटकर विरोध किया तथा बलात् मुसलिम बनाए गए अनेक बंदियों को हिंदू धर्म में दीक्षित करने में सफलता प्राप्त की। उन्होंने अंदमान की कालकोठरी में कविताएँ लिखीं। 'कमला', 'गोमांतक' तथा 'विरहोच्छ्वास' जैसी रचनाएँ उन्होंने जेल की यातनाओं से हुई अनुभूति के वातावरण में ही लिखी थीं। उन्होंने 'मृत्यु' को संबोधित करते हुए जो कविता लिखी वह अत्यंत मार्मिक व देशभक्ति से पूर्ण थी।

सावरकरजी ने अंदमान कारागार में होनेवाले अमानवीय अत्याचारों की सूचना किसी प्रकार भारत के समाचारपत्रों में प्रकाशित कराने में सफलता प्राप्त कर ली। इससे पूरे देश में इन अत्याचारों के विरोध में प्रबल आवाज उठी। अंत में दस वर्ष बाद १९२१ में सावरकरजी को बंबई लाकर नजरबंद रखने का निर्णय किया गया। उन्हें महाराष्ट्र के रत्नागिरी स्थान में नजरबंदी में रखने के आदेश हुए।

'हिंदुत्व', 'हिंदू पदपादशाही', 'उ:श्राप', 'उत्तरक्रिया', 'संन्यस्त खड्ग' आदि ग्रंथ उन्होंने रत्नागिरी में ही लिखे।

१० मई, १९३७ को सावरकरजी की नजरबंदी रद्द की गई।

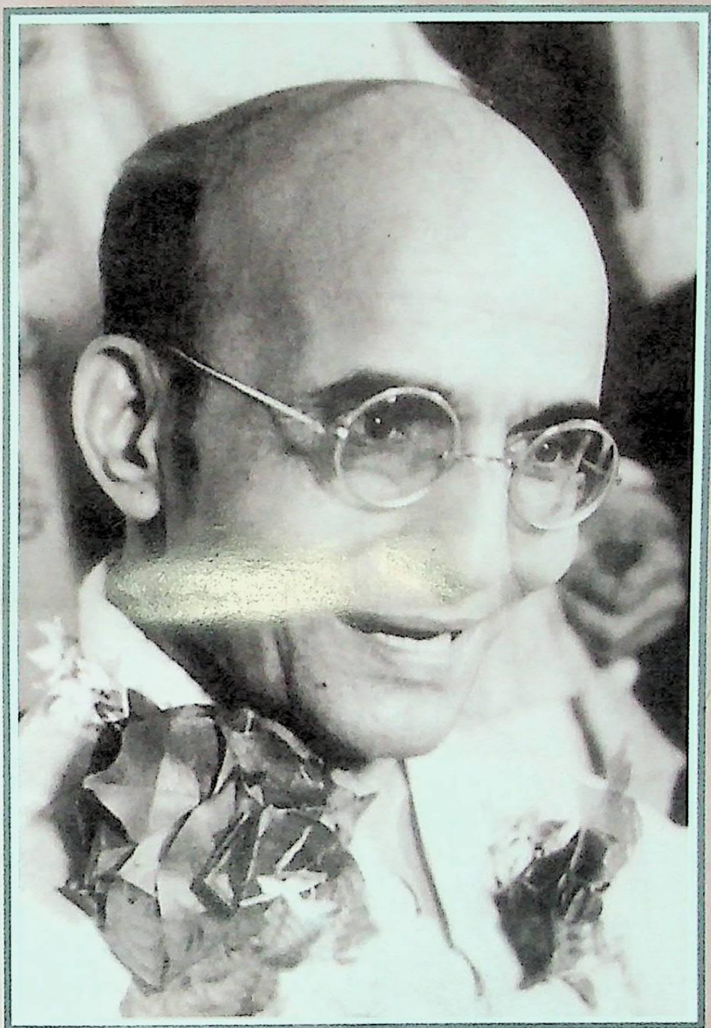
नजरबंदी से मुक्त होते ही साघरकरजी का भव्य स्वागत किया गया। अनेक नेताओं ने उन्हें कांग्रेस में शामिल करने का प्रयास किया; किंतु उन्होंने स्पष्ट कह दिया, 'कांग्रेस की मुसलिम तुष्टीकरण की नीति पर मेरे तीव्र मतभेद हैं। मैं हिंदू महासभा का ही नेतृत्व करूँगा।'

३० दिसंबर, १९३७ को अहमदाबाद में आयोजित अखिल भारतीय हिंदू महासभा के अधिवेशन में सावरकरजी सर्वसम्मति से अध्यक्ष चुने गए। उन्होंने 'हिंदू' की सर्वश्रेष्ठ व मान्य परिभाषा की। हिंदू महासभा के मंच से सावरकरजी ने 'राजनीति का हिंदूकरण और हिंदू सैनिकीकरण' का नारा दिया। उन्होंने हिंदू युवकों को अधिक-से-अधिक संख्या में सेना में भरती होने की प्रेरणा दी। उन्होंने तर्क दिया, 'भारतीय सेना के हिंदू सैनिकों पर ही इस देश की रक्षा का भार आएगा, अत: उन्हें आधुनिकतम सैन्य विज्ञान की शिक्षा दी जानी जरूरी है।'

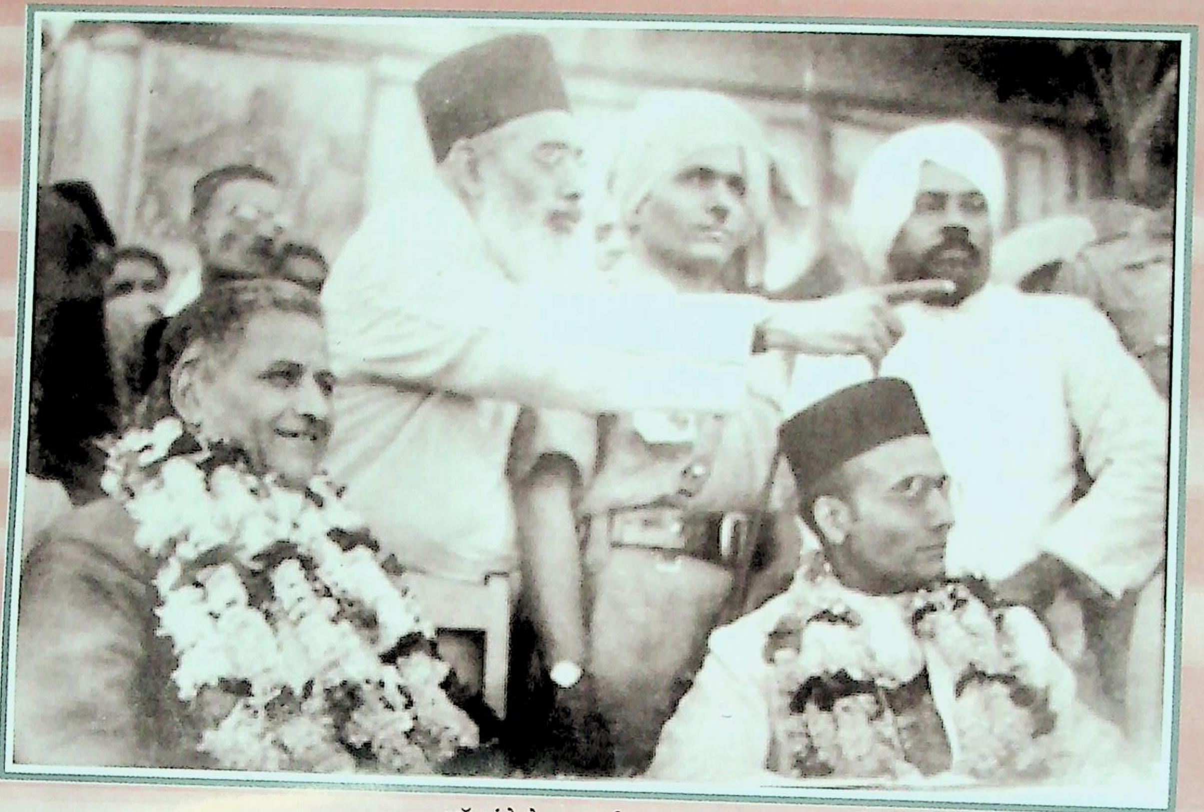
२६ फरवरी, १९६६ को भारतीय इतिहास के इस अलौकिक महापुरुष ने इस संसार से विदा ले ली। अपनी अंतिम वसीयत में भी उन्होंने हिंदू संगठन व सैनिकीकरण के महत्त्व, शुद्धि की आवश्यकता पर प्रकाश डाला। भारत को पुन: अखंड बनाए जाने की उनकी आकांक्षा रही।

ऐसे वीर पुरुष का व्यक्तित्व और कृतित्व आज भी हमारे लिए पथ-प्रदर्शक का काम करने में सक्षम है।

—शिवकुमार गोयल



वीर सावरकर प्रसन्न मुद्रा में



डॉ. मुंजे के साथ वीर सावरकर



डॉ. ना.भा. खरे के साथ वीर सावरकर



वीर सावरकर के साथ स्वर सम्राज्ञी लता मंगेशकर

सावरकर समग्र

प्रथम खंड

पूर्व पीठिका, भगूर, नाशिक
शत्रु के शिविर में
लंदन से लिखे पत्र

द्वितीय खंड

मेरा आजीवन कारावास
अंदमान की कालकोठरी से
गांधी वध निवेदन
आत्महत्या या आत्मार्पण
अंतिम इच्छा पत्र

तृतीय खंड

काला पानी
मुझे उससे क्या ? अर्थात् मोपला कांड
अंधश्रद्धा निर्मूलक कथाएँ

चतुर्थ खंड

उःशाप
बोधिवृक्ष
संन्यस्त खड्ग
उत्तरक्रिया
प्राचीन अर्वाचीन महिला
गरमागरम चिवड़ा
गांधी गोंधल

पंचम खंड

१८५७ का स्वातंत्र्य समर
रणदुंदुभि
तेजस्वी तारे

षष्टम खंड

छह स्वर्णिम पृष्ठ
हिंदू पदपादशाही

सप्तम खंड

जातिभंजक निबंध
सामाजिक भाषण
विज्ञाननिष्ठ निबंध

अष्टम खंड

मैझिनी चरित्र
विदेश में भारतीय स्वतंत्रता संग्राम
क्षकिरणे
ऐतिहासिक निवेदन
अभिनव भारत संबंधी भाषण

नवम खंड

हिंदुत्व हिंदुत्व का प्राण
नेपाली आंदोलन
लिपि सुधार आंदोलन
हिंदू राष्ट्रदर्शन

दशम खंड

कविताएँ
भाषा-शुद्धि लेख
विविध लेख

अनुवाद :

प्रो. निशिकांत मिरजकर, डॉ. ललिता मिरजकर,
डॉ. हेमा जावडेकर, श्री वामन राव पाठक, श्री काशीनाथ जोशी,
श्री शरद दामोदर महाजन, श्री माधव साठे, सौ. कुसुम तांबे,
सौ. सुनीता कुट्टी, सौ. प्रणोति उपासने

संपादन :

प्रो. निशिकांत मिरजकर, डॉ. श्याम बहादुर वर्मा,
श्री रामेश्वर मिश्र 'पंकज', श्री जगदीश उपासने,
श्री काशीनाथ जोशी, श्री धृतिवर्धन गुप्त, श्री अशोक कौशिक

मार्गदर्शन :

श्री त्रिलोकीनाथ चतुर्वेदी, डॉ. हरींद्र श्रीवास्तव,
श्री शिवकुमार गोयल

अनुक्रम



अठारह सौ सत्तावन का स्वतंत्रता संग्राम

भाग–१

ज्वालामुखी

प्रकरण–१

स्वधर्म और स्वराज्य

धर्मासाठी मरावे, मरोनि अवघ्यांसी मारावें।
मारिता मारिता घ्यावें, राज्य आपुलें॥

—स्वामी रामदास

अर्थात्—

धर्म हेतु मरें, मरते हुए सारों को मारें;
मारते-मारते जीतें, राज्य अपना।

कोई छोटा सा घर बनाना हो तो भी इतनी मजबूत नींव तो बनाई ही जाती है कि वह उसका भार सह सके। नींव मजबूत और घर का भार सँभालने योग्य न हो तो उस नींव पर निर्मित मकान ताश के तंबू से अधिक भव्य या विशाल कभी भी नहीं माना जा सकता, यह बात अशिक्षित-गँवार भी जानता है। परंतु किसी सामान्य मनुष्य को भी ज्ञात यह व्यवहार-ज्ञान भुलाकर जब कोई लेखक प्रचंड क्रांति का इतिहास लिखते हुए इस तरह की बात करे कि उस क्रांति के भव्य और विशाल भवन का भार सहन कर सकनेवाली वह नींव कौन सी थी कि या फिर वह प्रचंड क्रांति मंदिर किसी घास के तिनके पर निर्मित था—तो या तो वह पागल होता है या फिर क्षुद्र प्राणी। वह इन दोनों विशेषणों में से किसी एक का भी पात्र हो तो इतिहास लेखन के पवित्र कार्य के लिए वह पूरी तरह अयोग्य है।

बड़ी-बड़ी धर्म क्रांतियों या राज्य क्रांतियों के सतही स्वरूप में विहित असंबद्धता या असमानता की निरंतरता उन क्रांतियों के मूल तत्त्व को समझे बिना कभी भी समझ में नहीं आ सकती। अनेक चक्र और अनेक लौह मार्गोंवाला कोई विशाल संयंत्र प्रचंड शक्ति से काम करता हो तो वह शक्ति किस यंत्र-शास्त्रीय

नियम से उत्पन्न की गई है, यह पूर्ण रीति से समझे बिना, देखनेवालों को आश्चर्य मिश्रित विस्मय होगा। उसे ज्ञान से प्राप्त समझ या बूझ कभी नहीं कहा जा सकता। फ्रांस की राज्य क्रांति या हॉलैंड की धर्मक्रांति जैसी अद्‌भुत घटनाएँ जब पाठकों एवं लेखकों को अपनी भव्यता से चकित करती हैं तब उनकी उस भव्यता में हक्का-बक्का होकर पाठक की दृष्टि और लेखक की लेखनी भी उसके मूल शक्ति स्रोत को देखने-दरसाने की हिम्मत नहीं कर पाती। परंतु उस मूल शक्ति को जाने बिना उस क्रांति का वास्तविक रहस्य कभी भी समझ में नहीं आता, अत: इतिहास शास्त्र में वर्णन से अधिक मूल स्रोत को दरसाना ही अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है।

यह मूल स्रोत दरसाते हुए बहुत बार इतिहास-लेखक और एक चूक करते हैं। प्रत्येक कार्य में कुछ प्रत्यक्ष, कुछ अप्रत्यक्ष, कुछ विशिष्ट और कुछ सामान्य, कुछ आकस्मिक और कुछ प्रधान कारण निहित होते हैं और उनका वर्गीकरण करने में ही इतिहास-लेखक का वास्तविक कौशल होता है। परंतु कुछ इतिहासकार यहाँ भ्रमित होकर इस वर्गीकरण में आकस्मिक कारणों को प्रधान कारण का स्वरूप दे देते हैं। किसी घर को आग लगने पर उस आग को लगानेवाले व्यक्ति को छोड़ उसके हाथ की माचिस की तीली पर सारा आरोप लादनेवाले मूर्ख न्यायाधीश की तरह वह इतिहासकार भी हास्यास्पद हो जाता है। आकस्मिक कारण को ही प्रधान कारण मानकर किसी ऐतिहासिक घटना का इतिहास लिखने से उस घटना का वास्तविक महत्त्व कभी भी समझ में नहीं आता, उलटे वह अद्‌भुत एवं क्रांतिकारी घटना न कुछ कारणों से घटित हुई देखकर उस घटक और उसमें सम्मिलित व्यक्तियों के लिए तुच्छ भावना उत्पन्न होने लगती है। इसलिए ऐतिहासिक घटनाओं का और विशेषकर क्रांतिकारी घटनाओं का इतिहास लिखते समय उसका केवल वर्णन लिखने से उसकी समुचित कल्पना प्रस्तुत करना संभव नहीं होता या उसका उद्‌गम उसके निमित्त कारण तक ही खोजकर लौट आने से भी उसका यथार्थ स्वरूप ज्ञात नहीं होता। अत: जिसे सत्य, पक्षपात रहित और मर्मस्पर्शी इतिहास लिखना हो, उसे उस घटना और उस क्रांति की ज्वाला की नींव के कारणों का, उसके मूल में क्या तत्त्व थे, उसके प्रधान कारण क्या थे, इन सबका पर्यालोचन अवश्य करना चाहिए।

'हर क्रांति की नींव में कोई-न-कोई तत्त्व होना ही चाहिए'—इटली के प्रख्यात दार्शनिक और देशभक्त मैजिनी ने कार्लाइल लिखित फ्रांसीसी राज्य क्रांति की एक पुस्तक पर टीकात्मक लेख में ऐसा कहा है। क्रांति अथवा इतिहास में मनुष्य जाति के जीवन की उठा-पटक होती है। जिसके लिए लाखों जूझते हैं, राजसिंहासन जिस कारण डगमगाते हैं, स्थापित मुकुट लुढ़कते हैं, अजन्मे मुकुट

सिर चढ़ते हैं, स्थापित मूर्ति भंग होकर नई मूर्ति की स्थापना भी जिसके कारण होती है, और प्रचंड समूह को लगने लगता है कि इसके आगे रक्त बहाना तो कुछ भी नहीं, ऐसे किसी विक्षोभक तत्त्व के सिवाय किसी अन्य क्षुद्र व क्षणिक नींव पर क्रांति के भव्य भवन का निर्माण असंभव है। पर क्रांति की नींव का यह तत्त्व जिस प्रमाण में पवित्र या अपवित्र हाता है उसी प्रमाण में उस क्रांति के कार्यकर्ता-व्यक्ति के स्वरूप और कृत्य भी पवित्र या अपवित्र होते हैं। हेतु से जैसे कृत्य की परीक्षा सामान्य व्यवहार में की जाती है उसी तरह इतिहास में भी व्यक्ति या राष्ट्र के हेतु से उसके कृत्य का स्वरूप निश्चित होता है। यह कसौटी यदि छोड़ दें तो एक व्यक्ति द्वारा दूसरे को मारना या किसी एक सेना द्वारा दूसरी सेना को मारने में कोई भेद नहीं रहेगा। साम्राज्य के लिए सिकंदर की चढ़ाई और इटली की स्वतंत्रता के लिए गैरीबाल्डी द्वारा की गई चढ़ाइयाँ दोनों समान मूल्य की मानी जाएँगी। इन भिन्न घटनाओं का यथोचित परीक्षण करने के लिए जैसे उनका हेतु समझ लेना आवश्यक है उसी तरह हर क्रांति का यथोचित विवेचन करने के लिए उसका हेतु क्या था, अंतर्निहित इच्छा क्या थी, किस तत्त्व दर्शन से उसका उद्भव हुआ था, यह सब जानना आवश्यक है।

सारांश यह कि ऐतिहासिक क्रांति के इतिहासकार को उस क्रांति में असंबद्ध दिखाई देनेवाले प्रसंगों को या उनकी अद्भुतता को देखकर विस्मित होकर वहीं बैठ नहीं जाना चाहिए अपितु उसके उद्गम की खोज करते जाना चाहिए। इतना ही नहीं अपितु उस खोज में असंगत एवं आकस्मिक रूप से निकल आई शाखा को छोड़कर मूल तत्त्व तक की खोज करनी चाहिए और फिर उस मूल तत्त्व की दूरबीन लेकर उस क्रांति के विस्तीर्ण प्रदेश का निरीक्षण करना चाहिए। इस तरह प्रारंभ किए जाने पर अनेक असंबद्ध घटनाओं में पूर्ण संबद्धता दिखने लगती है, वक्र रेखा सरल रेखा प्रतीत होती है और सरल रेखा वक्र लगने लगती है। अंधकार में प्रकाश दिखने लगता है और प्रकाश में अँधेरा दिखाई देता है। नीचता में उच्चता और उच्चता में नीचता दृष्टिगोचर होती है, विद्रूपता में सुरूपता और सुरूपता में विद्रूपता मिलती है और अपेक्षित या अनपेक्षित रीति से परंतु स्पष्ट स्वरूप में वह क्रांति इतिहास के सामने आती है।

परंतु हिंदुस्थान में सन् १८५७ में घटित प्रचंड राज्य क्रांति का इतिहास उपरोक्त शास्त्रीय पद्धति से किसी भी स्वदेशी या विदेशी ग्रंथकार ने नहीं लिखा। कुछ अंग्रेज लेखकों ने उसका वर्णन करने के सिवाय कुछ प्रयास ही नहीं किया। परंतु अधिकतर लेखकों द्वारा यह प्रयास दुष्टतापूर्ण बुद्धि से और पक्षपातपूर्वक किए जाने के कारण उनकी दूषित दृष्टि को उस क्रांतियुद्ध के मूल तत्त्व दिखाई नहीं दिए

या दिखाई देते हुए भी उन्होंने उनकी अनदेखी की।

सन् १८५७ जैसी प्रचंड क्रांति बिना हेतु के घटित होना संभव है क्या? पेशावर से कलकत्ता तक जो आँधी चली उसका हेतु इसके सिवाय और क्या हो सकता है कि उसे अपनी सामर्थ्य भर कुछ खास चीजों को नष्ट कर देना है। दिल्ली पर डाले गए घेरे, कानपुर में हुए कत्ल, साम्राज्य के ऊँचे उठे ध्वज और उस ध्वज की छाया में लड़ते-लड़ते रणतीर्थ में शूरों द्वारा लगाई गई छलाँगें जैसी उदात्त एवं स्फूर्तिजनक घटनाएँ किसी एक अति उदात्त एवं स्फूर्तिजनक हेतु के बिना संभव थीं क्या? कोई हर हफ्ते लगनेवाला बाजार भी अकारण नहीं लगता। फिर जिस बाजार का आयोजन करने की तैयारी वर्षों से चल रही थी, जिसकी दुकानें पेशावर से कलकत्ता तक के हर सिंहासन पर सजनेवाली थीं, जिसमें राज्य और साम्राज्य का लेन-देन चल रहा था और जहाँ रक्त और मांस के सिक्कों के सिवाय और किसी सिक्के की पूछ नहीं की—वह बाजार क्या यूँ ही लगा और यूँ ही उठ गया? ऐसा नहीं हो सकता। ज्ञात होना बहुत कठिन है इसलिए नहीं अपितु वह ज्ञात हुआ, यह मानना अपने हित में न होने के कारण इस मुद्दे की ओर अंग्रेज इतिहासकारों ने दुर्लक्ष्य किया है। परंतु इस दुर्लक्ष्य से भी अधिक उलझानेवाली और सन् १८५७ के क्रांतियुद्ध के स्वरूप को सर्वाधिक भ्रष्ट करनेवाली दूसरी युक्ति या चूक विजातीय एवं उनकी झूल ओढ़नेवाले स्वजातीय इतिहासकरों ने जो की है, वह यह है कि इस सन् १८५७ के प्रलय का कारण दूसरा कुछ नहीं, मुट्ठी भर लालची लोगों द्वारा उठाई गई कारतूसों की अफवाह है। अंग्रेज इतिहासकार और अंग्रेजों की कृपा पर पले-बढ़े एक देसी ग्रंथकार कहते हैं—कारतूसों में गाय और सूअर की चरबी लगाई जाती है, केवल इतना सुनकर ही मूर्ख लोग भड़क गए। सुनी हुई बात सच है या झूठ, इसकी खोज किसीने नहीं की। एक ने कहा इसलिए दूसरे ने कहा और दूसरा बिगड़ गया इसलिए तीसरा बिगड़ गया, ऐसी अंधपरंपरा चली जिससे अविवेकी मूर्खों का समाज जमा हुआ और विद्रोह हो गया।

कारतूसों की बात पर लोगों ने अंधपरंपरा से विश्वास किया या क्या हुआ, इसका निर्णय आगे यथास्थान किया जाएगा। परंतु ये सच्चे या झूठे विश्वास विद्रोह की जड़ें थीं, यह विचार उत्पन्न करने का कैसा सुदीर्घ प्रयास चल रहा था यह इससे स्पष्ट होता है। सन् १८५७ जैसी प्रचंड क्रांति ऐसे कारणों से उत्पन्न होगी, यह कहनेवाले मंद या कुटिल बुद्धि के लोगों को क्रांति एक अविवेकी मूर्खों का समाज लगता है; लेकिन इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि यदि सन् १८५७ की क्रांति मुख्यत: कारतूसों के कारण ही प्रदीप्त हुई तो उसमें नाना साहब, दिल्ली का बादशाह, झाँसी की रानी या रोहिलखंड का खान बहादुर कैसे सम्मिलित

हुए? इनको अंग्रेजी सेना में नौकरी करनी नहीं थी या घर बैठे भी वह फौजी कारतूस तो तोड़ने ही होंगे, ऐसा आदेश भी किसीने उन्हें नहीं दिया था। यदि यह विद्रोह केवल या मुख्य रूप से कारतूसों की चरबी से ही हुआ था तो हिंदुस्थान के अंग्रेज गवर्नर जनरल द्वारा उसे उपयोग में न लाने का आदेश देते ही उसे तुरंत ठंडा हो जाना चाहिए था। पर सिपाही अपने हाथ से अपने कारतूस बना लें, ऐसी अनुमति मिलने पर भी उसका उपयोग न कर या सेना की नौकरी छोड़ सारी किटकिट से परे न हटकर, सेना के सिपाहियों ने ही नहीं बल्कि सेना से जिनका दूर का भी संबंध नहीं था ऐसे लाखों लोगों ने, राजा-महाराजाओं ने, अपने प्राण रणभूमि पर क्यों अर्पित किए? फौजी और सामान्य जन, राजा और रंक, हिंदू और मुसलमान इन सबको एक साथ आवेशित करनेवाली बातें क्षुद्र नहीं होतीं, उसके मूल में होते हैं तात्त्विक कारण।

कारतूसों का डर ही विद्रोह का प्रमुख कारण है—इस कथन में जितनी अयथार्थता है उतनी ही इस तर्क में भी कि उस विद्रोह का उद्‌गम केवल अयोध्या का राज छीनने में था। अवध के राज्य के हित-अहित से जिनका कुछ भी संबंध नहीं था ऐसे कितने ही लोग इस भयंकर क्रांति में सिर हाथ पर लिये लड़ रहे थे। फिर उस लड़ाई से उनका क्या हेतु था? स्वयं अयोध्या का नवाब तो कलकत्ता के किले में बंद था और उसकी प्रजा अंग्रेज इतिहासकारों के कथनानुसार नवाब के शासन से बेहद नाखुश थी। फिर पंजाब से बंगाल तक केवल राजा या लश्कर के लोग ही नहीं अपितु हर असल हिंदू व्यक्ति अपनी शमशीर ताने क्यों खड़ा था? सन् १८५७ की क्रांति पर लिखा एक लेख किसी हिंदू ने उसी समय इंग्लैंड में प्रकाशित कराया था। उसमें वह हिंदू कहता है—"जिन्होंने अवध के नवाब को जन्म से भी कभी नहीं देखा था और न आगे देखने की संभावना थी, ऐसे कितने ही सरल और दयालु लोग अपनी-अपनी झोंपड़ियों में नवाब पर आ पड़े दुःखों को कहते जार-जार रोते थे, इसकी कल्पना आपको नहीं है। और ऐसे आँसू बह जाने के बाद, जैसे स्वयं पर ही क्रूर प्रहार हो रहे हों, ऐसा मानकर वाजिद अलीशाह के अपमान का बदला लेने की प्रतिज्ञा कितने सिपाही प्रतिदिन कर रहे थे, यह भी आपको ज्ञात नहीं…"[१]

---

१. यह लेख इंडिया ऑफिस के ग्रंथालय में है। यह लेख अनेक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस लेख में से निम्न उद्धरण दिए बगैर रहा नहीं जाता—
"Your (Englishmen's) conduct has all along been mean and pettifogging. You accuse our ancient moghul rulers of despotism. They were despotic to some extent; but on the whole, they knew how to govern an empire—you know how to keep a shop. They had a large mind; you have an ingenious and a crafty one. They could conceive of grand projects. Despite their faults, they were loved by a grand people

इन सिपाहियों को उससे सहानुभूति क्यों होने लगी और जिन्होंने नवाब को जन्म से नहीं देखा था उनकी आँखें और कंठ क्यों भर आए? अत: अयोध्या का राज्य हड़पने से विद्रोह नहीं उपजा अपितु इन राज्यों को हड़पने में जिस तत्त्व का हनन हो रहा था उसके कारण विद्रोह उपजा। कारतूसों का डर या अयोध्या का राज्य हड़पना गौण और आकस्मिक कारण थे। इन्हीं को प्रधान कारण मानने से सन् १८५७ की क्रांति का वास्तविक स्वरूप कभी भी ज्ञात नहीं हो पाएगा।

इन निमित्त कारणों को ही मूल कारण मान लें तो उसका अर्थ यह होगा कि यदि ये विशिष्ट कारण घटित न हुए होते तो उनका कार्य भी घटित न हुआ होता। यदि कारतूसों का डर न होता या अयोध्या का अधिग्रहण न किया गया होता तो सन् १८५७ की क्रांति घटित न होती। परंतु इस प्रकार के विचार से अधिक भ्रामक और मूर्खतापूर्ण अन्य कोई मान्यता मिलना असंभव है। कारण, उस डर के मूल में छिपा तत्त्व यदि किसी और घटना द्वारा प्रकट हो जाता तो भी यह क्रांतियुद्ध होता ही, भले ही अयोध्या का राज्य हड़पा न गया होता, क्योंकि उस राज्य को हड़पने के मूल में छिपा तत्त्व किसी दूसरे राज्य को हड़पने में प्रकट हो जाता। फ्रांस देश की राज्य क्रांति का प्रधान कारण जैसे अनाज के बढ़े हुए मूल्य या बास्तील या राजा का पेरिस छोड़कर जाना या दावतों का रंग नहीं था वैसे ही उपरोक्त आकस्मिक एवं विशिष्ट घटनाएँ इस प्रचंड क्रांति के प्रधान कारण न होकर केवल निमित्तभूत कारण हैं। जैसे सीता-हरण रामायण का केवल निमित्त है और मुख्य या प्रधान कारण उसके मूल में छिपे तत्त्व ही हैं।

वे तत्त्व कौन से थे? हजारों शूरों की तलवारों को उनकी म्यानों से खींचकर रणांगण में चमचमानेवाले वे तत्त्व कौन से थे? निस्तेज हुए मुकुटों को सतेज करनेवाले और टूटे पड़े ध्वजों को फिर से खड़ा करनेवाले वे तत्त्व कौन से थे जिनपर हजारों व्यक्तियों ने अपने उष्ण रक्त का अभिषेक करना वर्षानुवर्ष अखंड प्रेम से चालू रखा है, ऐसे तत्त्व कौन से थे? मौलवी जिनका उपदेश करते थे, ब्राह्मण जिन्हें विजयी भव: कहकर आशीर्वाद देते थे, दिल्ली की मसजिद से और काशी के मंदिरों से जिनकी यश:प्राप्ति के लिए परमेश्वर की ओर दिव्य प्रार्थनाएँ

---

like us. They settled in the country and tried to improve it. Your servants come here only to make money and go home as soon as they have satisfied themselves on that score. Indeed, in as much as we have come to know you, we have learnt to dispise you. With increasing knowledge we have known that the Anglo-Saxon race is selfish and hypocritical in the extreme and always unprincipled in matters of gain!"

यह लेख करीब २५ पृष्ठों का है और दि. १३.१०.१८५७ को प्रकाशित हुआ है।

भेजी जाती थीं, जिनकी सहायता के लिए श्रीमंत हनुमानजी ने स्वयं कानपुर के रण-मैदान पर हुंकार भरी और जिनके लिए झाँसी की महालक्ष्मी ने शुंभ-निशुंभ के रक्त से भीगी अपनी पुराण-प्रसिद्ध तलवार फिर से चलाई, ऐसे वे तत्त्व कौन से थे?

सन् १८५७ की क्रांति के प्रधान कारण, जो दिव्य तत्त्व थे वे थे स्वधर्म व स्वराज्य। अपने प्राणप्रिय धर्म पर भयंकर, विघातक एवं कपटपूर्ण हमला हुआ है, यह यथार्थ दिखते ही स्वधर्म रक्षणार्थ जो 'दीन-दीन' की गर्जना शुरू हुई उस गर्जना में और अपनी प्रकृतिदत्त स्वतंत्रता के कपटपूर्वक छीने जाने पर और अपने पैरों में पड़ी राजनीतिक गुलामी की जंजीरें देखते ही स्वराज्य प्राप्त करने की पवित्र इच्छा उत्पन्न होने के कारण इस दास्य शृंखला पर जो प्रचंड आघात किए गए उन्हीं में इस क्रांतियुद्ध की जड़ें हैं। स्वधर्म प्रीति एवं स्वराज्य प्रीति के तत्त्व हिंदुस्थान के इतिहास में जितनी स्पष्टता से एवं उदात्तता से दिखते हैं उससे अधिक वे किस इतिहास में मिलनेवाले हैं? विदेशी और स्वार्थी इतिहासकारों ने इस दिव्य हिंद का चित्र चाहे कितने ही गंदे रंगों से भरा हो, फिर भी जब तक हमारे इतिहास के पृष्ठों पर से चित्तौड़ का नाम पोंछा हुआ नहीं है, सिंहगढ़ का नाम मिटा नहीं है, प्रताप आदि का नाम मिटा नहीं है या गुरु गोविंदसिंह का नाम पोंछा नहीं गया है, तब तक ये स्वधर्म और स्वराज्य के तत्त्व हिंदुस्थान के रक्त-मांस में जमे रहेंगे। उनपर क्षण भर गुलामी के भ्रम के बादल चाहे आएँ—सूर्य पर भी बादल आते हैं—परंतु वह क्षण समाप्त होते-न-होते उस तप्त सूर्य की उष्णता से वे पिघल जाएँगे, इसमें शंका नहीं।

स्वराज्य के लिए हिंदुस्थान ने कौन सा प्रयास नहीं किया और स्वधर्म के लिए हिंदुस्थान ने कौन सी दिव्यता अंगीकार नहीं की।...''सूरा सो पचाजिए जो लढ़े दीन के हेत। पुरजा-पुरजा कट मरे तबहु न छोड़े खेत।'' (गुरु गोविंदसिंह) इस रीति से स्वधर्म के लिए रण-मैदान में टुकड़े-टुकड़े हो जाने पर भी जो हटते नहीं—वीरों की ऐसी घटनाओं से भारतभूमि का संपूर्ण इतिहास भरा हुआ है।

इस परंपरागत एवं दिव्य तत्त्व का संचार होने के लिए सन् १८५७ के वर्ष में जितने कारण घटित हुए उतने पहले कुछेक बार ही घटित हुए थे। इन विशिष्ट घटनाओं से हिंद भूमि के शरीर में किंचित् प्रस्फुरण हुआ, इन मनोवृत्तियों को विलक्षण चेतना मिली और स्वधर्म एवं स्वराज्य के लिए लोकशक्तियाँ सज्जित होने लगीं। दिल्ली के बादशाह द्वारा स्वराज्य स्थापना के लिए जारी घोषणापत्र में वे कहते हैं—''हिंदवासियो, यदि हमसब मन में ठान लें तो शत्रु को क्षण भर में धूल चटा सकते हैं और अपने प्राणप्रिय धर्म एवं प्राणप्रिय देश को पूरी तरह भयमुक्त कर

सकते हैं।''[१]

इस वाक्य में उल्लिखित दिव्य तत्त्वों के लिए जो क्रांति होती है, अपने प्राणप्रिय धर्म को एवं अपने प्राणप्रिय देश को बंधनमुक्त करने के लिए जो क्रांतियुद्ध होता है उस क्रांतियुद्ध से अधिक पवित्र विश्व में दूसरा क्या मिलनेवाला है? स्वदेश रक्षा, स्वराज्य संस्थापन एवं स्वधर्म परित्राण के लिए दिल्ली के सिंहासन से प्रार्थित इस स्पष्ट दिव्य एवं स्फूर्तिजनक मंत्र में ही सन् १८५७ की क्रांति का बीज है। बरेली में मुद्रित कर प्रकाशित किए हुए, अयोध्या के नवाब द्वारा निकाले गए दूसरे एक आज्ञापत्र में वे कहते हैं—''हिंदुस्थान के सारे हिंदुओ और मुसलमानो, उठो! स्वदेश बंधुओ, परमेश्वर की दी हुई सौगात में सबसे श्रेष्ठ सौगात स्वराज्य (Sovereign) ही है। यह ईश्वरीय सौगात जिसने हमसे छल से छीन ली है उस अत्याचारी राक्षस को वह बहुत दिन पचेगी क्या? यह ईश्वरीय इच्छा के विरुद्ध किया गया कृत्य क्या जय प्राप्त करेगा? नहीं, नहीं। अंग्रेजों ने इतने जुल्म ढाए हैं कि उनके पाप के घड़े पहले ही लबालब भरे हुए हैं। और उसमें हमारे पवित्र धर्म का नाश करने की कुबुद्धि और समा गई है। अब आप अभी भी शांति से बैठे रहेंगे क्या? आप शांति से बैठें, यह परमेश्वर की इच्छा नहीं है। क्योंकि सारे हिंदुओं और मुसलमानों के हृदय में उसी की इच्छा उत्पन्न हुई है—परमेश्वर की इच्छा—और आपके पराक्रम से जल्दी ही उनका ऐसा सर्वनाश हो जाएगा कि अपने हिंदुस्थान में उनका छिलका, टुकड़ा भी नहीं रहेगा। छोटे-बड़े के सारे भेदभाव भुलाकर इस सेना में सब ओर समता का राज हो। क्योंकि पवित्र धर्मयुद्ध में जो वीर स्वधर्म के लिए अपनी तलवार म्यान के बाहर निकालते हैं वे सब समान योग्यता के होते हैं। वे भाई-भाई हैं। उनमें किसी तरह का भेद नहीं है। इसलिए फिर से एक बार मैं सारे हिंदू बंधुओं का आह्वान करता हूँ—उठो और इस परम ईश्वरीय और दिव्य कर्तव्य के लिए रण-मैदान में कूद पड़ो।''[२]

ये तत्त्वरत्न देखकर जिसे इस क्रांतियुद्ध की ओजस्विता भासित नहीं होगी उसे या तो मंदबुद्धि या दुर्बुधि होना चाहिए। ईश्वर प्रदत्त अधिकारों के लिए लड़ना मुनष्य मात्र का कर्तव्य है और स्वधर्म एवं स्वराज्य के लिए लड़ने को ही उस समय के भारतीय शूरों ने अपने शस्त्र निकाले थे, यह सिद्ध करने के लिए इससे सबल

---

१. लेकी द्वारा लिखित—'फिक्शन एक्सपोस्ड'।

२. लेकी कृत—'फिक्शन एक्सपोस्ड' में वर्णित यह घोषणापत्र उस क्रांतियुद्ध के समय लोक वृत्ति किस तरह चेत गई थी—यह दरसाने को बहुत उपयोगी है। इसका काफी कुछ अंश आगे भी दिया जाएगा।

साक्ष्य और क्या दिया जा सकता है! भिन्न-भिन्न स्थानों और भिन्न-भिन्न कालों में निकाले गए ये घोषणापत्र इस क्रांतियुद्ध की मीमांसा करने के लिए एक अक्षर भी और अधिक लिखने की आवश्यकता शेष नहीं रहने देते। ये घोषणापत्र ऐरे-गैरे द्वारा निकाले हुए नहीं हैं—सबके आदरणीय एवं सर्वाधिकारी सिंहासन के शासनपत्र हैं। उस समय की क्षुब्ध मनोवृत्ति की उष्ण उसाँसें हैं। संकोच या भय के कारण जब वास्तविक मनोवृत्ति दबाए रखने की कोई आवश्यकता नहीं होती, ऐसे रण-प्रसंग के समय ये हृदय से निकले स्पष्ट बोल हैं। इस युद्ध में जो भी शमशीर निकालते हैं वे सब समान योग्यता के हैं। धर्मयुद्ध में उठी यह वीर गर्जना 'स्वधर्म एवं स्वराज्य' दोनों तत्त्वों का उच्चारण एवं जयघोष करती है।

पर क्या ये दोनों ही तत्त्व (स्वराज्य-स्वधर्म) परस्पर विरुद्ध या भिन्न समझे जाते थे? स्वधर्म एवं स्वराज्य का एक-दूसरे से किसी भी अर्थ में संबंध नहीं है, ऐसी कम-से-कम प्राचीन लोगों की धारणा कभी नहीं थी। मैजिनी के कथनानुसार, स्वर्ग और पृथ्वी को किसी एक बाँस के बीच में बाँधकर अलग नहीं किया गया है, ये दोनों तो एक ही वस्तु के दो छोर हैं। ऐसी ही प्राचीन जनों की पूर्वा पर यथार्थ एवं परिपक्व धारणा है। हमारी स्वधर्म की कल्पना स्वराज्य से भिन्न नहीं है। ये दोनों साध्य नाते से संलग्न हैं। स्वधर्म के बिना स्वराज्य तुच्छ है और स्वराज्य के बिना स्वधर्म बलहीन है। स्वराज्य नामक ऐहिक सामर्थ्य की तलवार स्वधर्म नामक पारलौकिक साध्य के लिए हमेशा बाहर निकली रहनी चाहिए। यह प्राचीन जनों के मन का रुझान इतिहास में पग-पग पर दिखेगा। प्राचीन काल में हुई क्रांतियों को धार्मिक स्वरूप क्यों मिलता है, या यह कहें कि धार्मिक पवित्रता के या धर्म संलग्नता के सिवाय प्रचंड क्रांति का होना—यह बात प्राचीन इतिहास में बिलकुल भी क्यों ज्ञात नहीं है, इसका बीज भी धर्म के इस विश्व व्यापक स्वरूप में ही है। हिंदुस्थान के इतिहास में आज तक अखंड रूप से व्यक्त होते आए स्वराज्य एवं स्वधर्म के साधन और साध्य तत्त्व इस सन् १८५७ के क्रांतियुद्ध में भी व्यक्त हुए, इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है। दिल्ली के बादशाह द्वारा पहले-पहल निकाले गए घोषणापत्र का उल्लेख पहले किया गया है। उसके बाद जब दिल्ली को अंग्रेजी सेनाओं ने घेर लिया और युद्ध घमासान हो गया तब बादशाह ने हिंदुओं के लिए दूसरा घोषणापत्र जारी किया। उसमें वे कहते हैं—"जमी राजगान वो रोसाए हिंद पर वाझे होके तुम बेहामा उजूः नेकी और फय्याजी में मुश्तईर उद्दईर हो...खुदावंत ने तुमको ये मर्तबए आली और मुल्क और दौलत और हुकूमत इसी वास्ते बख्शी है कि तुम उन लोगों को, जो तुम्हारे मजहब में दखलंदाजी करें, गारद करो..." (हमें ईश्वर ने संपत्ति, देश, अधिकार किसलिए दिए हैं? ये सभी केवल व्यक्ति से

संबंधित सुख-भोग के लिए न होकर स्वधर्म संरक्षण के पवित्र हेतु के लिए हैं।)

परंतु इस पवित्र एवं अंतिम हेतु के ये साधन कहाँ हैं? पहले दिए हुए घोषणापत्र के अनुसार परमेश्वर की सब सौगातों में अत्यंत श्रेष्ठ स्वराज्य की सौगात कहाँ है? दौलत कहाँ है? मुल्क कहाँ है? हुकूमत कहाँ है? गुलामी के प्लेग में यह सारी दैविक स्वतंत्रता मृतप्राय हो गई है। गुलामी का प्लेग किस तरह संहार कर रहा है, यह दिखाने के लिए उपरोक्त घोषणापत्र में नागपुर का, अयोध्या का, झाँसी का स्वराज्य, सब कैसे धूल में मिला दिए गए, इसका मार्मिक वर्णन करने के बाद ऐसी चेतावनी दी गई है कि इस तरह धर्म रक्षण के साधन गँवाने पर तुम परमेश्वर के दरबार में अपराधी और धर्मद्रोही माने जाओगे।

...ईश्वर की आज्ञा है कि स्वराज्य प्राप्त करो। क्योंकि स्वधर्म रक्षण का वह मूल साधन है। जो स्वराज्य को प्राप्त नहीं करता, जो गुलामी में तटस्थ रहता है वह अधर्मी एवं धर्मद्रोही है। इसलिए स्वधर्म के लिए उठो और स्वराज्य प्राप्त करो।

'स्वधर्म के लिए उठो और स्वराज्य प्राप्त करो'—इस तत्त्व ने हिंदुस्थान के इतिहास में कितने दैवी चमत्कार किए हैं? श्री समर्थ रामदास ने महाराष्ट्र को ढाई सौ वर्ष पहले यही दीक्षा दी थी—''धर्मासाठी मरावें। मरोनि अवघ्यांसि मारावें। मारिता मारिता घ्यावें। राज्य आपुलें।''

धर्म हेतु मरें, मरते हुए सारों को मारें;
मारते-मारते जीतें, राज्य अपना।

सन् १८५७ के क्रांतियुद्ध का यही तात्त्विक कारण है। इस क्रांतियुद्ध का यही मन:शास्त्र है। जिस दूरबीन से उस युद्ध का स्पष्ट एवं सत्य स्वरूप दिखेगा, ऐसी खरी दूरबीन अर्थात्...धर्म हेतु मरें, मरते हुए सारों को मारें, मारते-मारते जीतें राज्य अपना।

इस दूरबीन से उस क्रांति की ओर देखें तो कितना अलग दृश्य दिखने लगता है! स्वधर्म एवं स्वराज्य—इन दो पवित्र कारणों से जो क्रांतियुद्ध लड़ा गया उसकी पवित्रता पराजय से भंग नहीं होती। गुरु गोविंदसिंह के प्रयास तादृश रीति से विफल रहे, इस कारण उसका दिव्यत्व कम नहीं होता। या सन् १८४८ में इटली में राज्य क्रांति की जो विशाल लहर उठी उसमें उस क्रांति के नेताओं की संपूर्ण पराजय हुई, इस कारण उनके हेतु का पुण्य क्षीण नहीं होता।

जस्टिन मैकार्थी ने कहा है—''वस्तुस्थिति यह है कि भारतीय प्रायद्वीप के संपूर्ण उत्तरी एवं उत्तरी-पश्चिमी प्रदेशों में ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध देशीय जातियों ने विद्रोह कर दिया था। केवल सिपाहियों ने ही विद्रोह नहीं किया, इसे कोरी सैनिक क्रांति का ही नाम नहीं दिया जा सकता। यह तो भारत पर आंग्ल सत्ता के

विरुद्ध सैनिक कठिनाइयों, राष्ट्रीय घृणा और धार्मिक कट्टरता का संयुक्त उभार था। इसमें देशी राजाओं और सैनिकों ने भी भाग लिया। मुसलमान और हिंदुओं ने अपने शताब्दियों के धार्मिक विरोध को भुलाकर ईसाइयों के विरुद्ध हाथ मिलाए थे। घृणा और चिंता ने इस महान् विद्रोही आंदोलन को प्रोत्साहित किया था। चरबीवाले कारतूसों के विवाद ने तो केवल चिनगारी दहकाई और उस चिनगारी ने सभी ज्वलनशील पदार्थों में आग भड़का दी। यदि इस चिनगारी से अग्नि प्रज्वलित न होती तो किसी अन्य माध्यम से भी यही कार्य संपन्न हो जाता।...मेरठ के सिपाहियों ने क्षण भर में ही एक नेता पा लिया, उन्हें एक ध्वज भी मिल गया और उद्देश्य भी और यह व्रिदोह एक क्रांतियुद्ध में परिणत हो गया। जब वे प्रात:कालीन सूर्य की रश्मियों से जगमगाती यमुना के तट पर पहुँचे तो उन्होंने अनजाने में ही इतिहास की एक निर्णायक घड़ी को प्राप्त कर लिया तथा सैनिक विद्रोह को एक राष्ट्रीय धर्मयुद्ध में परिणत कर दिया।''[१]

चार्ल्स बाल लिखते हैं—''आगे चलकर धारा किनारों को तोड़कर बह निकली और उसने भारत की सैनिक वसुंधरा को आप्लावित कर दिया। उस समय तो यही आशा की जाती थी कि ये धाराएँ संपूर्ण यूरोपीय तत्त्वों को विनष्ट कर निगल जाएँगी। जिस समय विद्रोह की यह धारा पुन: मर्यादित होगी और अपने आपको सीमाओं में आबद्ध कर लेती तो राष्ट्रभक्त भारत अपने विदेशी शासकों से अपने आपको स्वतंत्र कर लेगा तथा वह देशी राजाओं के स्वतंत्र राज्यदंड के सम्मुख नतमस्तक होगा। अब यह और भी अधिक महत्त्वपूर्ण रूप ग्रहण कर चुका था। यह विद्रोह उस संपूर्ण जनता के विद्रोह का रूप धारण कर चुका था जो काल्पनिक गलतियों से क्षुब्ध होकर भड़क उठी थी और घृणा और कट्टरता के भ्रम में आबद्ध हो चुकी थी।''[२]

'कंप्लीट हिस्ट्री ऑफ दि ग्रेट सेपॉय वार' शीर्षक की अपनी पुस्तक में ह्वाइट लिखते हैं—''यदि मैं अवधवासियों के द्वारा प्रदर्शित साहस की प्रशंसा नहीं करूँगा तो एक इतिहासकार का पावन दायित्त्व न निभा पाऊँगा। नैतिक दृष्टि से अवध के तालुकेदारों की एक महान् भूल यह थी कि उन्होंने हत्यारे विद्रोहियों से हाथ मिलाया। किंतु इसके लिए भी उन्हें सद्उद्देश्य से प्रेरित निष्ठावान देशभक्तों के रूप में मान्यता दी जा सकती है, क्योंकि वे अपनी मातृभूमि और सम्राट् के लिए संग्राम कर रहे थे। स्वराज्य और स्वधर्म के लिए संघर्षरत हुए थे।''

□

१. 'हिस्ट्री ऑफ अवर ओन टाइम', खंड ३।

२. 'इंडियन म्युटिनी', खंड १, पृष्ठ ६४४।

प्रकरण–२

कारण परंपरा

स्वधर्म एवं स्वराज्य—इन दो देवताओं का अधिष्ठान रखकर सन् १८५७ में प्रारंभ हुए इस रण-यज्ञ का संकल्प कब लिया गया? अंग्रेज इतिहासकारों के अनुसार इस रण-यज्ञ का संकल्प डलहौजी साहब के कार्यकाल में लिया गया था। उनकी यह धारणा भ्रमपूर्ण है। जिस क्षण हिंदुस्थान के तट पर परतंत्रता ने पहला कदम रखा तभी। बेचारा डलहौजी! उसने अधिक बुरा किया ही क्या? हिंदुस्थान की जन्मजात स्वतंत्रता का हरण कर उसके बदले गुलामी और स्वधर्म के स्थान पर ईसाइयत लादने का पातकी विचार जब पहले-पहल अंग्रेज व्यापारियों के मन में आया, तभी से हिंद भूमि के हृदय में क्रांति चेतना का संचार हुआ है। सन् १८५७ के क्रांतियुद्ध का कारण अंग्रेजों के 'अच्छे शासन' या 'बुरे शासन' में न होकर केवल 'शासन' में है। अच्छा या बुरा का प्रश्न गौण है, मुख्य प्रश्न 'शासन' है। जिस देश को हिमालय ने उत्तर और समुद्र देवता ने 'दक्षिण' की ओर से सुरक्षित किया हुआ है उस निसर्गतः बलिष्ठ एवं निसर्गप्रिय हिंदुस्थान पर अंग्रेजों की सत्ता चलने देना है या नहीं यह मुख्य प्रश्न सन् १८५७ के समर-पट पर हल किया जा रहा था, यह यदि सत्य है तो फिर इस समर की मूल उत्पत्ति तभी ही हुई होगी जब यह प्रश्न पहले-पहल सामने आया होगा।

मैजिनी कहता है—''स्वतंत्रता प्रत्येक का प्रकृतिप्रदत्त अधिकार है और इसलिए इस पवित्र अधिकार का अपहरण करने की इच्छा के अत्याचार को मिटाना भी प्रत्येक का प्रकृतिप्रदत्त कर्तव्य है। व्यक्ति की, राष्ट्र की एवं मनुष्य जाति की प्रगति के लिए उसमें चैतन्य चाहिए। परंतु जहाँ स्वतंत्रता नहीं होती वहाँ चैतन्य रहना संभव नहीं। जो लोगों की स्वतंत्रता छीन लेता है वह लोगों की प्रगति का विरोध कर पर पीड़न का अक्षम्य पाप करता है। इतना ही नहीं अपितु अनजाने सारी

मानव जाति का अर्थात् अपनी ही गरदन पर कुल्हाड़ी मारकर आत्महत्या के भयंकर पाप का भी भागीदार हो जाता है। यह पाप करके आज तक किसका उद्धार हुआ है? ये गुलामी की बेड़ियाँ परमेश्वर की इच्छा के विरुद्ध अपने मानवी बंधुओं के पैरों में जकड़कर आज तक किस पक्ष की विजय हुई है? स्वतंत्रता और गुलामी के झगड़े में अंतिम जय स्वतंत्रता की ही होती है।''[१]

सीले कहता है—''अंग्रेजों का हिंदुस्थान से संबंध प्रकृति से मजाक है। इन दो देशों में किसी तरह का प्राकृतिक बंधन नहीं है। उनका रक्त भिन्न है।''[२] पर यह सब भूलकर जिस वर्ष क्लाइव ने स्वार्थ और अन्याय का साम्राज्य स्थापित करने के लिए प्लासी के मैदान पर रक्त-मांस की नींव रखी उस सन् १६५७ के ही वर्ष इस क्रांतियुद्ध का संकल्प लिया गया।

इस स्व-स्वातंत्र्य-संपादन-संकल्प को अन्य किसी भी बात से अधिक अंग्रेजों की ही जंगी सहायता मिली है। उन्होंने इस क्रांतियुद्ध के बीज कहाँ-कहाँ नहीं बोए? हेस्टिंग्स ने काशी, रोहिलखंड और बंगाल में वे बीज बोए तो वेलेजली ने मैसूर, आसई, पुणे, सतारा एवं उत्तर हिंदुस्थान की उपजाऊ भूमि में उसकी बुआई की। इस बुआई में उन्हें कुछ भी कष्ट नहीं हुए, ऐसा नहीं है। तलवार और तोपों से हिंदुस्थान की भूमि जोतनी पड़ी। क्योंकि अन्य किन्हीं ऐरे-गैरे हलों को श्री वर्धन के परकोटे, शनिवार के बाड़े, सह्याद्री के टीले, आगरा के बुर्ज और दिल्ली के भारी सिंहासन दाद न देते। इस पथरीली भूमि पर हल चलाकर उन्हें इकसार करने के बाद बीच में बचे-खुचे छोटे-बड़े ढेलों को भी फोड़ा गया। वचन भंग, अविश्वास, घात, जुल्म आदि छोटे-बड़े हथौड़ों से छोटे-छोटे रियासतदार समाप्त किए गए। सेना में नेटिव सिपाहियों का अपमान होने लगा। उनपर उन्मत्त फिरंगी अधिकारियों के हाथों कोड़ों की मार पड़ने लगी। उनके पराक्रम से नए प्रदेश मिलने पर मराठे या निजाम की ओर से उन्हें जागीरें मिलती थीं। परंतु कंपनी की ओर से मिलती केवल मीठी-मीठी गप्पें।[३] जिनकी तलवारों ने अंग्रेजों के लिए सारा

---

१. 'मानव के कर्तव्य'।

२. 'इंग्लैंड का विस्तार', पृष्ठ २१४।

३. ''यदि उसे (देशी सैनिक) को अपना संपूर्ण जीवन अपनी पूर्ण क्षमता का प्रदर्शन करते हुए सेना में लगाना पड़ता था तो जो सर्वाधिक सम्मान उसे प्राप्त हो पाता था—वह थी सूबेदारी। एक अंग्रेज सार्जेंट भी अपने से उच्च पद पर नियुक्त देशी अधिकारियों पर हुकुम चलाता था। परेड में भी अंग्रेज अधिकारी भूल करते थे तथा आदेश देते समय गलत शब्दों का प्रयोग करते थे; किंतु इसका संपूर्ण दोष सिपाहियों पर डालकर वे उनकी निंदा और भर्त्सना किया करते। इतना ही नहीं,

हिंदुस्थान जीता था, उन सिपाहियों से इतना क्रूर व्यवहार किया जाता कि जनरल ऑर्थर वेलेजली घायल हुए सिपाहियों का उपचार करने के स्थान पर उन्हें तोप से उड़ा देता। इस तरह हिंदुस्थान के कोने-कोने में भयंकर क्रांतियुद्ध के बीज अंग्रेज लगातार बोते आ रहे थे और उनके इन प्रयासों को सफलता जल्दी ही प्राप्त होगी, ऐसे चिह्न प्रादुर्भूत होने में अधिक देर नहीं लगी।

डलहौजी

जिस दिन स्पेन ने नीदरलैंड की भूमि पर परमेश्वर की इच्छा के विरुद्ध अपनी गुलामी लादी, उसी दिन यह निश्चित हो गया था कि नीदरलैंड और स्पेन के मध्य हजारों लड़ाइयों से भरा हुआ क्रांतियुद्ध होगा। वह कब, कहाँ और कैसे होगा केवल इन गौण बातों का निर्णय आल्वा नामक स्पेन के गवर्नर ने किया। जिस क्षण ऑस्ट्रिया ने इटली के पैरों में गुलामी की बेड़ियाँ डालीं, उसी दिन अनेक पराजयों परंतु अंतिम जय से घटित होनेवाला प्रचंड क्रांतियुद्ध निश्चित हो गया था। केवल शेष रहा तिथि निर्णय, वह मैटरनिख के जुल्मों से हो गया। उसी तरह जिस समय आंग्ल भूमि हिंद भूमि पर दासता लादने के लिए किसी राक्षस की तरह दौड़कर आई उसी दिन अंग्रेजों और हिंदुओं का जो भयंकर, क्रूर और घमासान युद्ध होना है यह तय हो गया, केवल उसका आरंभ कब हो यह डलहौजी ने तय कर दिया। डलहौजी के शासनकाल में हुए अमानुषी अन्याय कुछ सीमा तक नरम भी हुए होते तो भी उसके कारण अंतिम रणसंग्राम टल नहीं सकता था, क्योंकि प्रत्येक देश स्वतंत्र रहे, यही प्राकृतिक दर्शनशास्त्र का अबाधित रहनेवाला अंतिम सिद्धांत है। इस प्रकृति-हेतु के विरुद्ध कोई राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्र के पैरों में बलपूर्वक गुलामी की बेड़ियाँ, फिर भले ही वह सोने से मढ़ी क्यों न हों, डाल दे तो काल के घन प्रहार के नीचे उनके टुकड़े होना निश्चित है। तथापि जहाँ-जहाँ गुलामी होती है

जो देशी अधिकारी सेना में सेवा करते-करते वृद्ध हो गए थे उन्हें भी यूरोपियन खुलेआम अपशब्द कहते थे।"देशी शासकों की सेनाओं के समान उन्हें यात्रा को पूर्ण करने के लिए हाथी और पालकियाँ प्राप्त नहीं होती थीं, फिर चाहे उन्हें कितनी भी लंबी यात्रा क्यों न करनी पड़े। वे कहते थे—निजाम और मराठी सरदारों के सिपाही भी हमारे सूबेदारों और जमादारों से अच्छा जीवन व्यतीत करते थे। अंग्रेज अधिकारी देश की सुंदरतम महिलाओं के जनानखानों में भी प्रविष्ट हो सकते थे।"और इस सबकी पराकाष्ठा तो तब हो गई थी जबकि जनरल ऑर्थर वेल्जली ने अपने घायल सैनिकों को निर्ममता सहित गोलियों से उड़ा देने का आदेश दे दिया था।"

—के कृत—'इंडियन म्युटिनी', खंड १, पृष्ठ १६०-६१

वहाँ-वहाँ अत्याचार होना स्वाभाविक है और जहाँ-जहाँ फिरंगी शासन है वहाँ-वहाँ डलहौजी आने ही चाहिए, क्योंकि बिना अत्याचार के जिस तरह गुलामी असंभव है उसी तरह बिना डलहौजी फिरंगी राज्य असंभव बात है।

विदेशियों पर अपना अन्यायमूलक शासन चलाना जहाँ सर्वसम्मत हो, वहाँ अपने शासन में जो सर्वाधिक क्रूर होगा उसे ही श्रेष्ठ माना जाएगा अर्थात् जो जितना ही अन्यायी है और उसे उस अन्याय् का कमाल दिखाने के सिवाय अपना श्रेष्ठत्व बनाए रखने की दूसरी कोई युक्ति नहीं बचती। इस तरह अन्याय और अधमता में जहाँ खुली स्पर्धा शुरू होती है वहाँ डलहौजी ही पैदा होंगे। अनीति मूलक साम्राज्य जहाँ-जहाँ बढ़े वहाँ-वहाँ ऐसे डलहौजियों के जंगल ही शेष रहे।

पर इन सब डलहौजियों को पीछे छोड़ देनेवाला एक आंग्ल डलहौजी सन् १८४८ में हिंदुस्थान आया। डलहौजी को अंग्रेजी इतिहासकार 'साम्राज्य का प्रणेता' कहते हैं—इस बात से अलग डलहौजी के अधम और नीच कर्मों के लिए अन्य किसी साक्ष्य की आवश्यकता ही नहीं है। सौ वर्ष तक चलाई गई अंग्रेजी अनीति का मूर्त परिणाम, स्वभाव से जिद्दी, जो मैं कहूँ वही होगा, इस टेक पर रहनेवाला, साम्राज्य की चटक और उसका घमंड जिसके रक्त-मांस में घुला हुआ था, ऐसा धूर्त न भी हो पर दुस्साहसी राजनीतिज्ञ, हिंदुस्थान की भूमि को सपाट करने के लिए इस भूमि पर उतरा।

डाकुओं के मुख्य नायक की दृष्टि में जिसके घर में संपत्ति भरी हुई है पहले उधर जाना स्वाभाविक है। ऐसा संपत्ति भरा घर दिखते ही वह उस घर पर, चाहे जिस रीति संभव से हो, डाका डालने की योजना बनाने में जुट जाता है। इस जल्दी में न्याय-अन्याय का विचार पूरी तरह अस्वाभाविक, असंभव और घातक होता है। जब न्याय-अन्याय का विचार शुरू हो जाता है तो उसी समय डाकूगिरी समाप्त हो जाती है। ऐसी ही वस्तुस्थिति होने से अंग्रेजों के हिंदुस्थान पर डाले गए भयंकर डाकों[१] में अंग्रेजों के शासन में उस शासन को स्थिरता देनेवाले और उस डकैती को बढ़ानेवाले उनके कृत्य न्यायसंगत थे या अन्यायी, यह निश्चित करने के लिए

---

१. मॉलकम लेविन कहता है—"...Grasping everything that could render life desirable, we have desired to the people of the country all that could raise them in society, all that could elevate them as men...we have delivered up their pagoda-property to confiscation; we have branded them in our official records as 'heathens.' We have seized the possessions of their native princes and confiscated the estates of the nobles; We have unsettled the country by exactions and collected the revenue by means neighbour's purse for what it contains.

घिस-घिस करना इतिहास की व्यर्थ खींचतान करना है। संधिपत्र, वचन, दोस्ती आदि शब्दों का डाकेजनी के शास्त्र में स्थान नहीं होता, इतना ध्यान में रखा जाए तो फिर इतिहास बहुत सी असंगतियों से बच जाएगा। फिर वॉरेन हेस्टिंग्स ने नंदकुमार को न्याय से मारा या अन्याय से और उस वॉरेन हेस्टिंग्स को अंग्रेजों ने निरपराध मानकर क्यों छोड़ दिया, यह तय करने के लिए कागजों के ढेर खराब करने की आवश्यकता नहीं होगी। अज्ञानी लोग अपने भोले स्वभाव के अनुसार संधिपत्रों की सूचियाँ लेकर, उनकी तिथियाँ देकर, धर्मशास्त्र के वचन देकर, तर्कों के ताने-बाने रच या पिछली परंपराओं के आधार देकर, अपने घर पर आक्रमण करने के लिए आए डाकुओं में परावृत्ति या सहानुभूति उत्पन्न करने का भ्रमपूर्ण प्रयास भले ही करें, परंतु धूर्त लोग इन निष्फल, बाँझ प्रयासों पर हँसे बिना नहीं रहेंगे। डाकुओं पर लागू ये सारी बातें डलहौजी की डकैतियों पर तो विशेष रूप से लागू होती हैं, अत: उसके शासनकाल में घटित कृत्यों में न्याय-अन्याय निश्चित करने का प्रयास करना मूर्खता है। हिंदुस्थान की भूमि समतल करके उसपर तांडव करने डलहौजी आया था, इतना ध्यान में रखा जाए तो काफी होगा। जिसका अंतिम उद्‌देश्य प्राकृतिक रूप से सुंदर हिंद भूमि को अपनी दासी बनाना था, ऐसे दुर्योधन के लिए न्याय कैसा और अन्याय कैसा? इस पाप वासना को तृप्त करने के लिए जो भी साधन मिलें वे सारे वह उपयोग में लाता ही।

इन साधनों में से पहला साधन था पंजाब से हुई लड़ाई। डलहौजी के पैरों का स्पर्श हिंदुस्थान के किनारे से होते ही उसे तुरंत यह ध्यान में आया कि पंजाब में जब तक रणजीतसिंह है तब तक अपनी पाप वासना पूरी करना इंग्लैंड के लिए बहुत भारी होगा। यह देखकर उसका दृढ़ निश्चय बना कि उस पंजाबी सिंह को किसी तरह गुलामी के जाल में फँसाना ही चाहिए। यद्यपि चिलियनवाला के द्वार से बाहर आकर उस पंजाबी सिंह ने एक भयंकर आघात अपने शत्रु की छाती पर किया, लेकिन गुजरात के पिछले द्वार से शत्रु अंदर घुसा और सिंह-गुफा जल्दी ही सिंह का पिंजड़ा बन गई। रणजीतसिंह की पटरानी चंदकुँवर लंदन में घुटकर मरीं और रणजीतसिंह का पुत्र दिलीप सिंह दूसरे के दरवाजे टुकड़े जोड़ता पड़ा रहा।[१]

---

१. रणजीतसिंह के साम्राज्य के उत्तराधिकारी दिलीपसिंह की दुर्दशा सुनकर किसीको भी दया आएगी। किंतु 'निष्पक्ष' के ने लिखा है—''दिलीपसिंह के लिए यह एक सुखद परिवर्तन था कि अपने जीवन के १२वें वर्ष में ही वह गवर्नर जनरल का आश्रित हो गया और उसे बंगाल की सेना के एक सहायक कर्मचारी की देखरेख में रखा गया, जो इस कार्य के लिए उपयुक्त व्यक्ति था, जिसके निर्देशन में सिख राजकुमार का विकास एक भद्र ईसाई, एक अंग्रेज दरबारी के रूप में हुआ।''

अब हिमालय से कन्याकुमारी तक तो सारा हिंदुस्थान लाल हो गया, परंतु अभी भी सिंधु नदी से इरावती (नदी) तक जैसा चाहिए था वैसा लाल नहीं हुआ था। फिर देर क्यों? ब्रह्मदेश में एक शांति मिशन भेजा कि फतह हुई। केवल वह शांतिमिशन शांति का इतने प्रेम से आलिंगन करे कि उसकी पसलियाँ चूर-चूर हो जाएँ। यह अति प्यारा कार्य भी अंत में संपन्न हो गया और ब्रह्मदेश लाल रंग में रँग गया। अब सिंधु नदी से इरावती तक और हिमालय से रामेश्वरम तक सारा हिंदुस्थान सचमुच लाल हो गया! पर जल्दी ही रक्तरंजित नहीं होगा, यह कैसे कहें?

पंजाब और ब्रह्मदेश अंग्रेजों ने जीते अर्थात् क्या किया, उसकी कल्पना केवल नामों से नहीं हो सकती। अकेले पंजाब का अर्थ था पचास हजार वर्ग मील का प्रदेश और चालीस लाख जनसंख्या। जिन पाँच नदियों के तट पर ऋषियों ने वेदमंत्र गाए, उनके द्वारा सिंचित यह प्रदेश—पंजाब। यही प्रदेश लेने अलेक्जेंडर आया और इसी प्रदेश को बचाने के लिए पोरस लड़ा। इसी प्रदेश को लेकर रावण की भी महत्त्वाकांक्षा पूरी हो गई होती। परंतु डलहौजी को पंजाब और ब्रह्मदेश जैसे विस्तृत प्रदेश लेकर भी कोई संतोष न हुआ। हिंदुस्थान की सरहद तो अवश्य बढ़ी, परंतु अब भी अंदर पूर्व बादशाहों के कुछ मजार शेष थे, अत: उन्हें भी उखाड़कर सर्वत्र सपाट मैदान करने की उसने प्रतिज्ञा की। पुरानी बादशाही के ये मजार स्थान घेरे हुए थे; केवल इतना ही नहीं, इन पुराने मजारों में गड़े प्रेतों से ही भावी बादशाही के पुनर्जीवित होने की संभावना थी और यह संभावना डलहौजी को पूरी तरह समझ में आ गई थी। सतारा के मजार में हिंदू पदपादशाही गड़ी हुई थी और यीशु मसीह के पुनर्जीवन की तरह उन गाड़े हुए प्रेतो में से कदाचित् किसी भावी बादशाही का पुनर्जीवन होगा, यह डर यीशु के चरित्र पर विश्वास रखनेवाले डलहौजी को लगा हो तो कोई आश्चर्य नहीं। सन् १८४८ के अप्रैल माह में सतारा के अंतिम महाराज अप्पा साहब दिवंगत हुए। यह समाचार मिलते ही डलहौजी ने वह रियासत हथियाने का निश्चय किया। कारण यह कि राजा की जायज संतति नहीं थी। जायज संतति न होने से गँवार मजदूर की झोंपड़ी भी लावारिस नहीं हो जाती। वह उसके द्वारा नियुक्त दत्तक को या उसके निकट संबंधी को दे दी जाती है। पर सतारा? वह तो किसी गँवार की झोंपड़ी न होकर अंग्रेजों के बराबरी की 'दोस्त सरकार' थी।[१] सन्

---

१. सतारा की गद्दी पर सन् १८१९ में छत्रपति की पुनर्योजना करते हुए अंग्रेजी सरकार द्वारा किए गए समझौते की पहली धारा निम्नवत् थी—"अंग्रेज सरकार अपनी ओर से वह देश अथवा क्षेत्र, जिसको विशेष रूप से निर्दिष्ट किया गया है, सरकार अथवा महाराजाधिराज छत्रपति (सतारा-नरेश) को देने पर सहमत है। हिज हाइनेस महाराजा छत्रपति और उनके पुत्र और उत्तराधिकारी

१८३९ में प्रताप सिंह छत्रपति पर अंग्रेजी राज्य उलटने के षड्यंत्र का आरोप लगाकर उन्हें गद्दी से हटाने के बाद उनके स्थान पर छत्रपति अप्पा साहब की नियुक्ति अंग्रेज सरकार ने ही की थी। इस पदच्युति के संबंध में मि. आर्नोल्ड अपने ग्रंथ 'Dulhousie's Administration' में कहते हैं—"It is not pleasant to dwell upon the circumstances of the dethronement—so discreditable they were." परंतु इस बेहूदी पदच्युति के बाद जिसे अंग्रेजों ने सतारा की गद्दी पर बैठाया वह प्रताप सिंह का जायज पुत्र न होकर भाई था। अर्थात् जायज पुत्र के अभाव में हिंदू शास्त्र के अनुसार अन्य संबंधियों का सिंहासन पर अधिकार बनता है, इस समय तक अंग्रेजों ने यह स्पष्ट स्वीकार किया है। यह स्वीकृति अपनी नियमित विश्वासघाती रीति के अनुसार डलहौजी साहब ने अस्वीकार कर दी। यही सत्य है। विभिन्न राजाओं से किए गए समझौतों में हमने दत्तक संतति पहले ही अमान्य की हुई है, ऐसा वे कभी भी नहीं कह सकते थे। सन् १८२५ में कोटा के राजा का दत्तक स्वीकार करते समय अंग्रेजी सरकार ने ऐसा स्पष्ट कहा था—

''कोटा के राजकुमार के इस अधिकार को मान्यता दी ही जानी चाहिए कि उन्हें शास्त्रों के नियमानुसार दत्तक पुत्र ग्रहण करने और उसे अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करने का अधिकार है।''[१]

पुनः सन् १८३७ में जब ओरछा के राजा ने दत्तक लिया तब अंग्रेजों ने उसे स्वीकार करते हुए वचन दिया था—

''हिंदू नरेशों को यह अधिकार है कि वे स्ववंश की शाखा में उत्पन्न उत्तराधिकारी से अलग भी किसीको गोद ले लें। ब्रिटिश सरकार को ऐसे दत्तक को मान्यता देनी होगी; किंतु गोद लेने की यह प्रक्रिया हिंदू शास्त्र के विरुद्ध नहीं होनी चाहिए।''[२]

इतनी स्पष्ट भाषा में और इतने साफ-साफ दिए गए वचन कागजों में लिखे होते हुए भी यह कहने की हिम्मत अंग्रेज प्रवक्ता और अंग्रेजी नीति के सिवाय और कोई नहीं कर सकता कि वे हमने दिए ही नहीं थे। उपरोक्त दोनों उद्धरण देने का आशय बस इतना ही है। केवल यही दो उद्धरण हों ऐसा नहीं, हिंदू शास्त्र के अनुसार दत्तक लेने का रजवाड़ों का अधिकार अंग्रेजों ने अनंत बार और अनंत करने का मूल कारण उपरोक्त समझौतों एवं वचनों की भाषा में खोजने का अर्थ पूर्व

पीढ़ी-दर-पीढ़ी प्रभुसत्ता प्राप्त राजाओं के रूप में इस क्षेत्र पर शासन करते रहेंगे।''

१. पार्लियामेंटरी पेपर्स, १५ फरवरी, १८५०, पृष्ठ १५३।

२. वही, पृष्ठ १४१।

शब्दों में मान्य किया हुआ था। केवल सन् १८२६ से सन् १८४७ तक अंग्रेज सरकार ने एकदम स्पष्ट शब्दों में लगभग पंद्रह राज्यों की गद्दियों पर दत्तक राजाओं की योजना एवं अधिकार मान्य किए हैं—इतना कहना पर्याप्त है। क्योंकि इन रियासतों को अधिग्रहण दिशा की खोज में उत्तर दिशा को जाना है। 'हिंदुस्थान की भूमि सपाट' करने के लिए डलहौजी आया था और सातारा के हिंदू पदपादशाही की कब्र अपना सिर ऊँचा करना चाहती थी। अर्थात् प्रताप सिंह एवं अप्पा साहब इन दोनों ही भाइयों ने शास्त्रोक्त पद्धति से दत्तक लिये थे फिर भी अंग्रेजों ने उन्हें सातारा राज्य का वारिस न मानते हुए उसका अधिग्रहण कर लिया। सातारा का राज्य, सातारा की गद्दी! सन् १६७४ में गागाभट्ट के हाथों अभिषिक्त और शिवाजी जिसपर विराजे थे, वह वही गद्दी थी। जिस गद्दी को पहला बाजीराव अपनी विजय अर्पण कर मुजरा करता था यह वही सिंहासन था। महाराष्ट्र! देख, शिवाजी जिसपर बैठता था और संताजी, धनाजी, निराजी, बाजी—जिनके आगे 'जी' कहकर लोग नम्रता से झुकते थे तेरा वही सिंहासन डलहौजी ने टुकड़े-टुकड़े करके फेंक दिया। अब तू चाहे अर्जियाँ लिख या डेपुटेशन भेजता रह। डलहौजी नहीं सुनता तो फिर नहीं ही सुनता। इंग्लैंड में उसके वरिष्ठ अधिकारी तो जीवित हैं न? डलहौजी एक सामान्य आदमी है, पर उसके वे वरिष्ठ अधिकारी देवता भी हो सकते हैं? हमने उन्हें देखा ही कहाँ है? यह रंगो बापूजी बहुत बढ़िया और स्वामीभक्त व्यक्ति है—सातारा की शिकायत लेकर उसका इंग्लैंड जाना उचित है। कृपा की तो देव नहीं तो पत्थर! पर वे कृपा करते हैं या नहीं, इसकी बाट जोहता तू कितनी देर बैठेगा? कृपा अब होगी तब होगी, इस आशा में रंगो बापूजी लंदन के लीडन हॉल स्ट्रीट की सीढ़ियाँ कितनी बार चढ़े-उतरेंगे। अपमान होने तक—मजाक बनाए जाने तक—करोड़ों रुपए अंग्रेज बैरिस्टरों की जेब में पहुँचाने पर लौटने के लिए दमड़ी भी न बचने तक—और अंत में हम सातारा नहीं देंगे, ऐसा गर्वीला उत्तर मिलने तक, रंगो बापूजी लंदन का मृगजल पीते रहें।

जब रंगो बापूजी लंदन जाने की तैयारी में लगे थे तब डलहौजी का ध्यान दूसरा षड्यंत्र रचने में लगा था। मराठा सत्ता का एक पौधा, नागपुर की गद्दी के स्वामी रघोजी भोंसले अपनी आयु के सैंतालीसवें वर्ष में ही अचानक स्वर्ग सिधार गए। इस राज्य से अंग्रेजों के संबंध स्नेहपूर्ण थे। और अंग्रेजों का स्नेह ही सबके नाश का कारण बना। जिन्हें यह ज्ञात रहा कि अंग्रेज हमसे द्वेष करते हैं वे बच गए। परंतु जिन्होंने भी यह माना कि अंग्रेजों से हमारा स्नेह है, उनकी गरदन मीठी छुरी से कटी। विदर्भ का राज्य अंग्रेजों की जागीर नहीं थी या वह उनकी मातहत रियासत भी नहीं थी; वह एक स्वतंत्र और बराबरी की सरकार थी। ऐसे राज्य का

राजा निस्संतान मर गया तो उस राज्य को अधिग्रहण करने का अधिकार किस पूर्व या पश्चिम के न्याय से मिलता है, यह सिद्ध करके दिखाने के लिए जे.सिल्वियन ने अंग्रेज सरकार का आह्वान किया था। सारी मिलीभगत। एक खाए दूसरा हजम करे। एक गला काटे दूसरा पूछे कि किस प्रकार से गला काटा? मानो गला काटनेवालों को कानून का बहुत डर रहता है। सन् १८५३ में डलहौजी ने अपने मित्र की गरदन उतार दी। कारण दिखाया—राजा ने दत्तक लिया ही नहीं था। राजे रघोजी संतान प्राप्ति की संभावना की आयु में एकाएक दिवंगत हो गए। उसमें यदि वे दत्तक न लेते हुए दिवंगत हुए थे तो भी वह अधिकार उनकी पत्नी को प्राप्त था। राजा की मृत्यु के बाद राजपत्नी द्वारा लिये गए दत्तक अंग्रेजों ने पहले स्वीकार न किए होते तो बात दूसरी थी। परंतु सन् १८२६ में दौलतराव सिंधिया की पत्नी का दत्तक, सन् १८३६ में जनकोजी सिंधिया की पत्नी का दत्तक, सन् १८३४ में धार की राजपत्नी द्वारा लिया दत्तक, सन् १८४१ में किशनगढ़ की रानी का लिया हुआ दत्तक—एक-दो नहीं अनेक दत्तक अंग्रेजों ने स्वीकार किए थे। परंतु उस समय उन्हें स्वीकारने में लाभ था और आज रघोजी के पीछे उनकी पत्नी द्वारा लिये गए दत्तक को नकारने में लाभ था। क्या लाभकारी था, यह मुख्य प्रश्न था और उसीके अनुसार सारी बातें तय होती थीं। दत्तक नहीं लिया इसलिए नागपुर का राज्य अधिग्रहीत किया तो लिया हुआ दत्तक वारिस नहीं होता, इसलिए सातारा का राज्य अधिग्रहीत किया। अपने प्राण बचाने की वास्तविक इच्छा हो तो तर्कशास्त्र के चक्कर में न पड़ें, यही उचित है!

नागपुर का राज्य अधिग्रहण कर डलहौजी ने ७६,४३२ वर्ग मील का विस्तीर्ण प्रदेश, ४६,५०,००० जनसंख्या और पाँच लाख वार्षिक आमदनी का राज्य हड़प लिया। राजवंश की गरीब रानियाँ दुःख से रो रही थीं। ठीक उसी समय राजमहल के दरवाजे को खटखटाया गया। कौन है, यह देखने के लिए द्वार खोला तो अंग्रेजों के सिपाही महल में घुसने लगे। तबेले से घोड़े छोड़े गए, हाथी पर बैठी रानियों को नीचे उतारकर उन हाथियों को बाजार में बिकने भेजा गया—वैसे ही राजमहल की सोने-चाँदी की वस्तुएँ छीन-छीनकर नागपुर के बाजारों में बिकने के लिए रखी गईं। राजपत्नी के कंठ में शोभित हार बाजार में धूल खाता पड़ा रहा। हाथी जहाँ सौ रुपए में बिका, उसी नीलामी में घोड़े की कीमत—जिस घोड़े को डलहौजी के घोड़े से अधिक मूल्यवान खुराक मिलती थी उस घोड़े की कीमत—बीस रुपए और दूसरा जोड़ा पाँच रुपए में बिका तो क्या आश्चर्य! हाथी और हाथी के हौदे, घोड़े और बैलों की पीठ की झूलें बेची गईं। परंतु अभी रानियाँ और रानियों के अलंकार रह गए हैं। फिर उन्हें भी क्यों न बेचा जाए?

शरीर के सारे अलंकार छिन जाने से रानियाँ निष्कांचन हो गईं। फिर भी अंग्रेजों का स्नेह कम नहीं हुआ था। फिर राजभवन खोदा जाने लगा। स्वयं रानी के शयनकक्ष में फिरंगियों की कुदाल चली। पाठक! ठहरें, इतनी जल्दी शरीर में सिहरन मत आने दें। क्योंकि यह खुदाई अभी तो आगे भी चलेगी। देखिए, वह रानी के शयनकक्ष के पलंग को तोड़-फोड़कर उसके नीचे की भूमि खोदने लगा।[१] और यह कब? जब बराबर के कक्ष में महारानी अन्नपूर्णाबाई जीवन के अंतिम क्षण गिन रही थीं। नागपुर के भोंसले घराने की राजपत्नी की अंतिम साँस अपमान की वायु से चल रही है और बराबर के अंत:पुर में रानी के शयन के पवित्र पलंग पर बैठकर अंग्रेज उस अंतिम साँस के ताल पर कुदाली चला रहे हैं। और अपराध कौन सा? वह यह कि राजा रघोजी दत्तक लेने से पहले स्वर्गवासी हो गए।

अन्नपूर्णाबाई अंतत: उस असह्य अपमान से मर गईं। परंतु रानी बांकाबाई की विलायत से न्याय पाने की आशा अभी नहीं मरी थी। पर जल्दी ही अंग्रेजी डॉक्टरों को लाखों रुपए चराने के बाद उन्होंने जो रामबाण औषधियाँ दीं उनसे वह आशा भी निजधाम चली गई। फिर रानी बांकाबाई क्या कर रही थी? वह अपनी शेष आयु 'राजनिष्ठा' में बिता रही थी। जब सन् १८५७ में झाँसी में बिजली कड़क रही थी तब इधर 'बांका' नागपुर में अपने पुत्रों के मन में स्वराज्य के लिए तलवार उठाने की इच्छा जाग्रत होने की संभावना को देख ''मैं स्वयं तुम्हारे नाम सरकार को बताऊँगी और तुम्हारे सिर कलम करने की सलाह दूँगी''—ऐसी धौंस दे रही थी। कुल कलंकिनी बांका, जा पड़ नरक में—यदि वहाँ भी देशद्रोहियों को प्रवेश हो तो।

□

१. 'डलहौजीज एडमिनिस्ट्रेशन', पृष्ठ १६५-६८।

प्रकरण–३

नाना साहब और लक्ष्मीबाई

महाराष्ट्र की पुण्य भूमि में माथेरान के गिरि शिखर के गौरव और उस गिरि शिखर की तलहटी में हरी चादर से शोभित भूमि के गौरव में से किसका वर्णन अधिक किया जाए, इसका निर्णय करना असंभव है। इस शानदार माथेरान की देखरेख में और इस सुंदर भूमि की गोद में वेणु नामक एक छोटा सा गाँव अपनी सहज सुंदरता से पहले से ही सुंदर उस प्रदेश को और अधिक सुंदर बना रहा था। वेणुग्राम में जो कुलीन एवं सदाचारसंपन्न परिवार थे उनमें माधवराव नारायण का परिवार मुख्य रूप से गिना जा सकता था। माधवराव नारायण और उनकी सुशील भार्या गंगाबाई का जोड़ा गृह दरिद्रता से पीड़ित होकर भी परस्पर प्रेम के सुख में स्वयं को भाग्यवान समझता था। उस पवित्र परिवार के उस छोटे से घर में सन् १८२४ में सबके मन और बदन उस समय उल्लास से खिल उठे जब साध्वी गंगाबाई ने पुत्र को जन्म दिया। वह सत्पुत्र और कोई नहीं, श्रीमंत नाना साहब पेशवा ही थे जिनके नाम से अत्याचारी राजाओं की देह काँपने लगती थी और जिन्होंने स्वराज्य और स्वतंत्रता के लिए मर मिटनेवालों में अपना नाम अजर-अमर किया। जिस दिन यह भाग्यशाली बालक जनमा वह दिन कौन सा था, इसकी भी इतिहास को जानकारी नहीं। जिस दिन की जयंती मनानी चाहिए उस दिन की स्मृति इतिहास में न हो, यह बात कितनी उद्‌वेगकारी है! ऐसे दिन राष्ट्र के इतिहास में बहुत अधिक नहीं होते। हिंदुस्थान में गुलामी के गोबर में सड़ते हुए गोबर के कीड़ों को जन्म देनेवाले दिन लाखों उदय या अस्त होते हैं। परंतु अपनी ईश्वरदत्त स्वतंत्रता और स्वराज्य का अपहरण करनेवाले का रक्त-प्राशन करने के लिए तृषित, मानधन नाना साहब को जन्म देनेवाले दिन शताब्दियों में एक-दो ही होंगे। ऐसे अलभ्य दिन की यह अवमानना देखकर परमेश्वर ऐसे अपात्र को फिर से दान नहीं करेगा, इसकी

लज्जा महाराष्ट्र, तुझको होनी चाहिए। जिसने तेरे लिए और तेरे सम्मान के लिए रणांगण में अपना रक्त उँडेला—उसकी जन्मतिथि तुम्हें ज्ञात न हो—और हाय-हाय! उसकी मृत्युतिथि भी तुझे ज्ञात न हो! तेरे स्वाभिमानी पुत्र कब जनमे यह तुझे ज्ञात न हो और तेरे ही विश्वासघात के कारण कब मरे? यह भी तुम्हें ज्ञात न हो! इस अक्षम्य कृतघ्नता के लिए तुम्हारे लिए गुलामी की बेड़ियों का दंड ही उचित है! और वही तुम भोग भी रहे हो!

यह गुलामी की बेड़ी आठ लाख रुपयों में पहली बार खरीदनेवाले कुल-कलंकी अंतिम रावबाजी पुणे की राजगद्दी से उतरकर भागीरथी के तीर पर इसी समय आए थे। उनके साथ ही महाराष्ट्र से बहुत से परिवार भी आए थे और यह सुनकर कि उन सब परिवारों का योगक्षेम अपनी पेंशन से उत्तम रीति से करने की उदारता उनमें है, अन्य अनेक परिवार भी उनके आश्रय में आकर रहने लगे। माधवराव नारायण भी इन्हीं लोगों के साथ सन् १८२७ में ब्रह्मावर्त में रावबाजी के आश्रय में रहने सपरिवार चले गए। वहाँ रावबाजी की माधवराव के पुत्र से बहुत ही ममता हो गई। सारे दरबार में नाना साहब छोटे-बड़े सबके आनंद-विधान हो गए। उनके बाल-तेज को देखकर रावबाजी इतने चकित हो गए कि माधवराव उनके सगोत्री हैं यह ज्ञात होते ही उन्होंने नाना साहब को ७ जून, १८२७ को दत्तक के रूप में ग्रहण कर लिया। उस समय नाना साहब की आयु केवल ढाई वर्ष की थी। इस तरह वेणुग्राम में जनमा यह बालक अपने पूर्वसंचित पुण्य अंश के कारण महाराष्ट्र राज्य के अधिपति की गद्दी का वारिस हो गया। पेशवा की गद्दी का वारिस होना महाभाग्य की बात है। परंतु ऐ तेजस्वी राजकुमार! उस भाग्य के साथ ही आनेवाला उत्तरदायित्व भी तुम्हें स्मरण है कि नहीं? पेशवाओं की गद्दी प्राप्त करना कोई सामान्य बात नहीं। इसपर बाजीराव बैठे हैं। इसने पानीपत की लड़ाइयाँ लड़ी हैं। इसने बड़गाँव की संधि की और सबसे विशेष महत्त्व की बात यह कि अब शीघ्र ही अपवित्र स्पर्श से इसके भ्रष्ट होने का अवसर आनेवाला है या आ ही गया है, यह सब तुझे मालूम है या नहीं? गद्दी का वारिस होने का अर्थ होता है उसके संरक्षण और सम्मान की रक्षा करना। फिर पेशवाओं की इस गद्दी के सम्मान की रक्षा करेगा या नहीं या तो विजय का मुकुट इस गद्दी के सिर पर रखना पड़ेगा अन्यथा चितूर की मानिनी की तरह दीप्त चिता में जलना होगा। इसके सिवाय पेशवा की गद्दी का सम्मान तीसरे किसी उपाय से नहीं होगा। हे तेजस्वी राजकुमार! यह दायित्व ध्यान में रखकर तू महाराष्ट्र की गद्दी पर सुख से बैठ। पेशवा की गद्दी शरणागत हुई, यह सुनने का अवसर तेरे बाप के कारण आने से सब ओर लज्जा की कालिमा छा गई थी और सबकी यह इच्छा थी कि पेशवा की गद्दी का अंत होना

ही है तो वह उसके प्रारंभ जैसा उज्ज्वल हो। मरना हो तो मारते-मारते मरे। बालाजी विश्वनाथ जिस गद्दी का पहला पेशवा था उस गद्दी का अंतिम पेशवा श्रीमंत नाना साहब था, यह अभिमानपूर्वक इतिहास को कहा जा सके, इसलिए हे राजतेजयुक्त बालक, तू महाराष्ट्र की पेशवाई गद्दी पर चिरकाल विराजमान हो।

इसी समय श्रीक्षेत्र काशी में मोरोपंत तांबे और उनकी सुशील पत्नी भागीरथी चिमणाजी अप्पा साहब पेशवा के आश्रय में रहते थे। इस दंपती को अपना नाम इतिहास में अजर-अमर होनेवाला था, लेकिन हिंदुस्थान के हाथ में दामिनी-सी दमकनेवाली खड्ग जैसी कन्या को जन्म देने का सौभाग्य उसे प्राप्त है, उस समय उस दंपती को यह शायद ही ज्ञात होगा। १९ नवंबर, १८३५ में उपरोक्त दंपती की गोद में महारानी लक्ष्मीबाई साहब ने जन्म पाया। उस शौर्यशालिनी का बचपन का नाम मनुबाई था। इस सुलक्षणी कन्या का जन्म हुए तीन-चार वर्ष बीतते-न-बीतते सारा परिवार काशी छोड़ बाजीराव के उदार आश्रय में ब्रह्मावर्त आ गया और वहाँ लक्ष्मीबाई और नाना साहब के मेल से रत्न और कांचन का जो संयोग बना उसे देखकर किसे आनंद न हुआ होगा? आगे चलकर अपने स्वधर्म एवं स्वराज्य के लिए तलवारें कैसे चलानी हैं, इसका प्रशिक्षण लेते हुए शस्त्रशाला में राजपुत्र नाना साहब एवं मनोहारिणी छबीली लक्ष्मीबाई को साथ-साथ खेलते देखकर किन नेत्रों को हर्ष नहीं हुआ होगा? मनुष्य की शक्ति कितनी मर्यादित है! जिस समय राजपुत्र नाना और छबीली लक्ष्मी तलवार का खेल एक साथ सीखते थे, उस समय लोगों को उन अद्वितीय बच्चों का भावी दिव्यत्व नहीं दिखा और अब जब वह दिव्यत्व उन्हें दिखता है, तब उनकी वह भूतकालीन बाल लीलाएँ नहीं दिखतीं। लेकिन मनुष्य के चर्मचक्षु की वह अदूरदृष्टि दूर करने को यदि कल्पना का चश्मा मिले तो भूतकाल की वह बाललीला हम सहज ही देख सकेंगे। श्रीमंत नाना साहब और उनके बंधु राव साहब जब अपने शिक्षक के पास विद्याभ्यास कर रहे थे तब यह तेजस्विनी छबीली भी अटक-अटककर पढ़ना सीख रही थी।[1] हाथी के हौदे में नाना साहब बैठे हैं और यह चपल कुँवरी कुमारी मुझे ऊपर लो न, लाड़ में ऐसा हठ कर रही है। एक घोड़े पर नाना बैठे हैं और दूसरे पर बैठकर यह मूर्त लक्ष्मी कब आती है, इसकी प्रतीक्षा में लगाम खींचे खड़े हैं—तभी कमर में तलवार लटकी हुई, वायु के कोमल झोंके से जिसके घुँघराले केश किंचित् मात्र हिल रहे हैं और जिसकी गौर तनु उन्मत्त घोड़े को नियंत्रण में रखने के श्रम से गुलाबी हो गई है—ऐसी छबीली अपने घोड़े पर साथ आते ही दोनों ही दौड़ते निकल जाते हैं। नाना की

---

१. पारसनी कृत 'झाँसी की रानी का चरित्र', पृष्ठ २८-२९।

आयु लगभग अठारह और छबीली की सात वर्ष के आसपास थी। सातवें वर्ष से भावी धर्मयुद्ध के इन दो प्रमुख योद्धाओं की कवायद प्रारंभ हुई, यह कितनी मनोरम बात है! इन दो मानवी रत्नों का तब से एक-दूसरे पर बहुत प्रेम था। इन दो भाई-बहनों की यम द्वितीया के दिन भाईदूज होती थी। सुंदर, सतेज, मनोहारी छबीली हाथ में सोने का दीप लेकर उस तरुण राजकुमार की आरती उतारती थी।

सन् १८४२ में छबीली का झाँसी के महाराज गंगाधर राव बाबा साहब से विवाह हुआ और वह झाँसी की महारानी लक्ष्मीबाई बनी। महारानी लक्ष्मीबाई झाँसी में अपने पति सहित लोकप्रिय हो ही रही थी कि सन् १८५१ में बाजीराव साहब का देहांत हो गया। बाजीराव साहब की मृत्यु के लिए एक बूँद आँसू भी नहीं बहाना है, क्योंकि सन् १८१८ में स्वयं का राज्य बेचकर इस कुल कलंकी ने दूसरे राज्य को डुबोने में अंग्रेजों की सहायता की थी। अपनी आठ लाख की पेंशन में से बहुत सारा धन बचाया था। अफगानिस्तान की लड़ाई में जब अंग्रेजों को धन की भारी टूट पड़ी तब बाजीराव ने अपनी बचत में से पाँच लाख रुपया अंग्रेजों को भेजा। फिर आगे जब पंजाब में सिख राष्ट्र से अंग्रेजों की लड़ाई शुरू हुई तब ब्रह्मावर्त का मराठामंडल सिखों से मिलकर अंग्रेजों के विरुद्ध उठेगा, ऐसा दिखने लगा, परंतु तभी इस बाजी ने उसे बेरंग कर दिया। उसने, शिवाजी के इस पेशवा ने अपनी गाँठ का व्यय करके एक हजार पैदल और एक हजार घुड़सवार अंग्रेजों की सहायता के लिए भेज दिए। इस बाजीराव के पास स्वयं का शनिवार वाड़ा बचाने के लिए सेना नहीं थी पर सिखों का बाड़ा अंग्रेजों को सौंपने के लिए भरपूर सेना थी। हाय रे राष्ट्र! मराठे सिखों का राज लेंगे और सिख मराठों का राज्य लेंगे। किस कारण से? इसलिए कि दोनों की छाती पर अंग्रेज नाच सकें। ऐसा बाजीराव मरा, इसके लिए मृत्यु का आभार ही माना जाए। बाजीराव ने मृत्यु-पूर्व ही मृत्युपत्र लिखकर श्रीमंत नाना साहब को पेशवाई के सारे अधिकार और अपने वारिसदारी के सारे हक सौंप दिए थे। परंतु बाजीराव के मरने का समाचार मिलते ही अंग्रेज सरकार ने घोषित किया कि नाना साहब को आठ लाख रुपयों की पेंशन पर किसी भी तरह का अधिकार नहीं है। अंग्रेज सरकार का यह निर्णय सुनकर नाना को कैसा लगा होगा? उनके हृदय में चल रही बेचैनी का कुछ प्रतिबिंब उनके द्वारा स्वयं लिखवाए गए पत्र में प्रतिबिंबित हुआ है। वे पूछते हैं—"हमारे विख्यात राजवंश से आपका यह कृपण व्यवहार पूरी तरह से अन्यायपूर्ण है। हमारा विस्तृत राज्य और राज्य-शासन जब आपको श्रीमंत बाजीराव से प्राप्त हुआ तब वह ऐसे समझौते पर प्राप्त हुआ कि आप उसके मूल्य के रूप में आठ लाख रुपया प्रति वर्ष दें। यह पेंशन यदि हमेशा रहनेवाली नहीं है तो उस पेंशन के लिए दिया हुआ राज्य हमेशा आपके पास कैसे

रहेगा? उस समझौते की एक शर्त तो तोड़ी जाए और दूसरी बनी रहे यह अनुचित है।''[१] बाद में ऐसा जो कहा जा रहा था कि आप दत्तक पुत्र हैं इसलिए आपका हक नहीं बनता, उसके संबंध में साफ-साफ और तर्कसंगत निवेदन करने के बाद श्रीमंत नाना साहब कहते हैं—''श्रीमंत बाजीराव साहब ने अपनी पेंशन में मितव्ययता से कुछ राशि बचाई इसलिए अब पेंशन चालू रखने का कोई कारण नहीं है, ऐसा यदि कंपनी कहती है तो इस तर्क का सारे इतिहास में उदाहरण मिलना कठिन होगा। यह पेंशन जो दी गई वह समझौते की शर्त के रूप में दी गई। उस समझौते में बाजीराव उस पेंशन को किस तरह व्यय करें, उस शर्त में क्या यह भी तय किया गया था? दिए हुए राज्य के लिए यह पेंशन मिलती है। उसे कैसे व्यय करना है यह कहने का इस जगत् में किसीको तनिक भी अधिकार नहीं है। इतना ही नहीं अपितु श्रीमंत बाजीराव इस पेंशन की सारी-की-सारी राशि यदि बचाते तो भी वैसा करने में वे पूरी तरह स्वतंत्र थे। कंपनी से मैं यह पूछता हूँ कि उनके कर्मचारियों की पेंशन का व्यय किस तरह होता है, क्या इसकी जाँच करने का अधिकार उसे है? कोई भी पेंशनभोगी कितना खर्च करता है, क्या बचाता है यह स्वयं के नौकरों से भी पूछना संभव है क्या? परंतु जो प्रश्न नौकरों से भी नहीं पूछा जा सकता वह एक विख्यात राजवंश के अधिपति से पूछा जा रहा है।'' यह आवेदन लेकर नाना के विश्वासपात्र वकील अजीमुल्ला खान विलायत गए।

इस सन् १८५७ के क्रांतियुद्ध में जो महत्त्व के पात्र हैं उनमें अजीमुल्ला खान का नाम स्मरणीय है। अजीमुल्ला खान पहले बहुत निर्धन होते हुए भी अपने बुद्धिबल से अपनी उन्नति कर नाना के एकनिष्ठ वकील हो गए थे।[२] वे पहले एक अंग्रेज के यहाँ घरेलू नौकर थे। उस अति सामान्य नौकरी में भी अपनी महत्त्वाकांक्षा न छोड़ते हुए वहाँ उन्होंने अंग्रेजी और फ्रेंच भाषा का अच्छा परिचय प्राप्त किया। ये दो भाषाएँ अच्छी तरह सीख लेने पर उन्होंने कानपुर के एक स्कूल में शेष अध्ययन किया और थोड़े ही दिनों में वहाँ की सरकारी पाठशाला में शिक्षक हो गए। उनकी बुद्धिमत्ता की कीर्ति नाना साहब के कानों में पड़ते ही उन्होंने उन्हें अपने दरबार में रख लिया। नाना साहब की सारी व्यवस्था में अजीमुल्ला खान का स्थान महत्त्वपूर्ण था। सन् १८५४ में अजीमुल्ला खान इंग्लैंड गए। अंग्रेजी रीति-रिवाजों की संपूर्ण जानकारी होने से लंदन के लोगों में वे बहुत प्रिय हो गए। अपनी आकर्षक और मीठी वाणी, अपने शारीरिक तेज एवं अपनी असीम उदारता के

---

१. 'नाना साहिब्स क्लेम अगेंस्ट ईस्ट इंडिया कंपनी' में यह मूल पत्र दिया हुआ है।

२. थॉमसन कृत—'कानपुर'।

कारण अजीमुल्ला अनेक अंग्रेजी ललनाओं के गले का हार बन गए। लंदन के सार्वजनिक बगीचों में या ब्राइटन के समुद्र किनारे पर रत्नजड़ित पोशाक में इस 'भारतीय राजा' को देखने आंग्ल नर-नारियों की भीड़ इकट्ठी होती थी। कुछ अंग्रेज युवतियाँ तो अजीमुल्ला पर इतनी लट्टू हो गई थीं कि उनके वापस हिंदुस्थान आ जाने पर भी उन्हें अत्यंत आदर और प्रेम की भाषा में लिखे उनके प्रेमपत्र आते थे। हेवलॉक की सेना ने जब ब्रह्मावर्त जीता तब उसे इंग्लैंड की अनेक भद्र महिलाओं द्वारा अपने 'प्रिय अजीमुल्ला खान' को भेजे हुए पत्र देखने को मिले। अजीमुल्ला खान के प्रति महिलाओं के मन आकर्षित हो गए थे तो भी ईस्ट इंडिया कंपनी का मन उसकी ओर आकर्षित न हुआ और उसने अनेक दिन चक्कर लगवाकर उन्हें साफ जवाब दिया कि 'गवर्नर जनरल द्वारा किया गया फैसला हमको पूरी तरह मान्य है और इसलिए बाजीराव के दत्तक का उनकी पेंशन पर किसी तरह का अधिकार शेष नहीं रहता।' इस तरह मुख्य कार्य के संबंध में निराश हो जाने पर अजीमुल्ला खान इंग्लैंड छोड़कर हिंदुस्थान की ओर आने के लिए फ्रांस के रास्ते निकले। हम उन्हें यात्रा में ही छोड़कर यह देखें कि नाना साहब उस समय क्या कर रहे थे?

श्रीमंत नाना साहब पेशवा के जीवन की विस्तृत जानकारी प्रकाशित करने का सुअवसर महाराष्ट्र के इतिहास के भाग्य में है क्या? वह अवसर जब आएगा तब आएगा पर अभी उनके संबंध में जो भी जानकारी मिली है, यद्यपि वह उनके शत्रुओं की ओर से ही प्राप्त हुई है तब भी उसका संकलन करके रखना बुरा न होगा। श्रीमंत के बचपन की थोड़ी-बहुत जानकारी ऊपर दी जा चुकी है। ब्रह्मावर्त एक छोटा सा परंतु ठाठदार नगर था। नगर से लगा हुआ भागीरथी का पाट था। सुंदर घाट, अनेक देवालय और नाना भूषणों से मंडित वहाँ आनेवाले नर-नारी के समूह की शोभा से वह ब्रह्मावर्त नगर और वह भागीरथी का पाट बहुत सुंदर लगता था। श्रीमंत का बाड़ा बहुत विस्तीर्ण और उत्तम साज-सामान से सुशोभित था। अलग-अलग रंग की मूल्यवान दरियों और गलीचों से उस बाड़े के दीवानखाने सजे हुए थे। यूरोपियन कारीगरी का भिन्न-भिन्न रंगों में काँच का सामान, मोमबत्तियों के बड़े-बड़े दर्पण, हाथी दाँत और सोने से निर्मित रत्नजड़ित नक्काशी के काम, संक्षेप में हिंदुस्थान के राजमहलों में दिखनेवाली सब प्रकार की कमनीयता श्रीमंत के उस दीवानखाने में दिखती थी।[१] घोड़ों और ऊँटों के सारे उढ़ावन चाँदी के होते थे।

---

१. थॉमसन कृत—'कानपुर' में कानपुर के कत्लेआम में से जो दो व्यक्ति बचे हुए थे थॉमसन उन्हींमें से एक थे, अत: उपरोक्त पुस्तक का किंचित् महत्त्व है।

श्रीमंत को घोड़ों का बहुत शौक था और उत्तर हिंदुस्थान में उनकी अश्वविद्या की बड़ी धूम थी। उनकी घुड़साल उत्तम और होशियार घोड़ों से हमेशा भरी रहती थी। अलग-अलग जाति के हिरन, शिकारी कुत्ते, साँभर, ऊँट एवं हिंदुस्थान के सब तरह के जानवर पालने में उनकी बहुत रुचि थी। परंतु इन सब वस्तुओं की तुलना में श्रीमंत का शस्त्रागार बहुत उत्तम था। उसमें अलग-अलग तरह के शस्त्र, तेज धारवाली तलवारें, एकदम नई बंदूकें और सब तरह की तोपें बहुत थीं। श्रीमंत स्वभाव से स्वाभिमानी थे। हम एक बड़े राजवंश के अंगभूत हैं और उस महान् और प्रथित वंश को सोहे ऐसा जीवन जी सकें तो जीना है अन्यथा पूरी तरह नामशेष हो जाना ही अच्छा, यह उनका निश्चय था। अपने आभिजात्य और कुल की महानता का उनके द्वारा भेजे गए आवेदन में बार-बार साभिमान उल्लेख हुआ है। मराठों के विस्तृत साम्राज्य का अधिपति होते हुए भी पेंशन के लिए दूसरों के दरवाजे पर निवेदन करने की मजबूरी का उनको बहुत दुःख होता था। 'संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते' के अनुसार अकीर्ति की अपेक्षा मृत्यु का आलिंगन करनेवालों में से वे थे। उनका स्वभाव राजा जैसा उदार और शूरों जैसा स्वाभिमानी था। कभी-कभी कानपुर की सेना के यूरोपियन अधिकारियों को वे पार्टियाँ देते थे, परंतु उनके निमंत्रण को वे कभी स्वीकार नहीं करते थे क्योंकि उनकी पात्रता के अनुसार तोपों की सलामी देना कंपनी को स्वीकार न था।[१] वे अपने प्रदेश के लोगों से बहुत स्नेह करते थे। उनका स्वभाव गंभीर और रहन-सहन बहुत सादा था। किसी तरह के दुर्व्यसन का उन्हें रत्ती भर भी शौक नहीं था।[२] उनका कई बार निरीक्षण कर चुके एक सज्जन लिखते हैं—

''मैंने जब उन्हें देखा, उस समय उनकी आयु लगभग २८ वर्ष होगी; पर वे चालीस के आसपास के दिखते थे। शरीर उनका स्थूल था, चेहरा गोल, आँखें उग्र, पानीदार और चंचल, कद-काठी सामान्य, स्पेनिश लोगों जैसा गोरा रंग और बातचीत कुल मिलाकर आनंदी और कुछ विनोदी थी।[३] दरबार में वे किनखाबी पोशाक पहनकर बैठते थे।'' उनके शरीर पर पहने अलंकार और उनके सिर के अत्यंत मूल्यवान मुकुट को देख यूरोपियन महिलाएँ ललचा जाती थीं—ऐसा ट्रेवेलियन लिखता है। नाना का व्यवहार भी इस भव्यता को शोभा देने योग्य उदार और दयालु

---

१. थॉमसन कृत—'कानपुर', पृष्ठ ४८।

२. सर जॉन के कहता है—"A quiet unostentatious young man not at all addicted to any extravagent habits."

३. चार्ल्स बाल कृत—'दि हिस्ट्री ऑफ इंडियन म्युटिनी', खंड १, पृष्ठ ३०५।

था। वे स्वयं की प्रजा पर कृपा करते थे इसमें तो कोई आश्चर्य ही नहीं, परंतु जिन्होंने उनसे बेईमानी कर उनके जीवन का सत्यानाश किया, उन अंग्रेज लोगों पर भी वे हमेशा कृपा करते रहते थे। कितने ही अंग्रेज युवा दंपतियों को हवाखोरी करने की इच्छा होने पर महाराज की बग्घी उनके लिए भेज दी जाती थी। कितने ही अवसरों पर महाराज के घर अंग्रेज अधिकारी तथा अन्य लोग अपनी मैडमों के साथ बुलाए जाते और उत्तम शालें, मूल्यवान मोती, रत्न आदि वस्तुएँ उनको उपहारस्वरूप दी जातीं।[१] व्यक्ति के लिए द्वेष उनकी उदार आत्मा को कलुषित नहीं करता था यह इससे अच्छी तरह सिद्ध होता है। राष्ट्रयुद्ध में जिनकी देह के टुकड़े-टुकड़े करना है उन्हीं प्रतिस्पर्धियों को अन्य अवसरों पर उपकृत करना, यह वीरता की उच्च कल्पना हिंदुस्थान के काव्य और इतिहास में हर क्षण दृष्टिगोचर होती आई है। राजपूत वीर अपने कट्टर शत्रु से भी युद्ध-अवसर को छोड़ ऐसी ही उदारता से व्यवहार करते थे। श्रीमंत नाना अपनी उदारता के कारण उस समय के अंग्रेजों के बहुत प्यारे हो गए थे, यह बात ध्यान में रखनी चाहिए।[२] श्रीमंत नाना के आतिथ्य-सत्कार का जब तक आनंद ले रहे थे तब तक अंग्रेज अधिकारियों और मैडमों के वे गले का हार बने हुए थे। परंतु कानपुर के रण-मैदान में स्वराज्य के लिए और स्वधर्म के लिए उनके द्वारा तलवार उठाए जाते ही उनपर दु:शब्दों और निम्न स्तर की गालियों की बौछार शुरू हो गई। ऐसे इन कोतवाल को डाँटनेवाले कृतघ्न चोरों से ही हिंदुस्थान में अंग्रेजी इतिहास भरा है। श्रीमंत नाना साहब एक विद्याचार-संपन्न व्यक्ति थे। उन्हें विश्व की राजनीति में बहुत रुचि थी और उसके लिए वे बहुत से प्रमुख अंग्रेजी पत्र खरीदते थे। हर रोज दैनिक पत्र आते ही महाराज वह सब पढ़वा लेते थे। इस काम के लिए मि. टॉड नामक एक अंग्रेज नियुक्त था। वे प्रोफेसर भी कानपुर के कत्ले-आम में मारे गए। इंग्लैंड और हिंदुस्थान में अंग्रेजों की राजनीति पर नाना बहुत बारीकी से चर्चा किया करते थे। अयोध्या के राज्य के संबंध में वे उसी अंग्रेज व्यक्ति से बहस किया करते थे।[३] श्रीमंत नाना साहब पेशवा के व्यक्तित्व से संबंधित चरित्र की ऊपर दी हुई जानकारी उनके ही शत्रुओं के

---

१. ट्रेवेलियन कृत—'कानपुर', पृष्ठ ६८-६९।

२. ''नाना साहब हमारे देशवासियों के साथ संपर्क होने पर सदैव जिस सत्यता का व्यवहार करते थे वह अवर्णनीय है। अधिकारियों को उनकी मैत्री और सरलता पर पूर्ण विश्वास और भरोसा था। पदाधिकारी भी उन्हें महान् पुरुष कहकर ही संबोधित करते थे।''

—ट्रेवेलियन कृत—'कानपुर'

३. चार्ल्स बाल कृत—'हिस्ट्री ऑफ इंडियन म्युटिनी', खंड १।

इतिहास से शब्दशः ली जाने के कारण एक बात समझ लेनी चाहिए, वह यह कि उस जानकारी में यदि सद्गुणों का वर्णन है तो वह बहुतायत से सत्य होना चाहिए। क्योंकि अंग्रेजों जैसा दीर्घद्वेषी शत्रु नाना जैसे कट्टर प्रतिद्वंद्वी का सद्गुण विवशता से ही किंचित्मात्र देगा। ऐसी स्थिति में उपर्युक्त वर्णन पढ़कर श्रीमंत के लिए मन में आदर हिलोरें मारता है और जिस वंश का बालाजी विश्वनाथ से उद्गम हुआ है, उस रण-विख्यात भट वंश के इस अंतिम पेशवा की वह गोरी और भव्य मूर्ति—मस्तक पर रत्नजड़ित मुकुट लकदक कर रहा है, कांतिमान देह पर किनखाबी पोशाक पहनी है, सतेज और चपल नेत्रों में मानभंग से उत्पन्न गुस्से की लालिमा है, कमर में तीन लाख रुपयों की तलवार लटकी हुई है और स्वराज्य एवं स्वधर्म का प्रतिशोध लेने के लिए गुस्से की ज्वाला जिसकी देह से और पानीदार तलवार जिसकी म्यान से बाहर कूदने को तैयार है—उस अंतिम पेशवा को प्रणाम करने के लिए मस्तक नत होने लगता है।

अंत में अंग्रेजों का अंतिम उत्तर आया कि 'आपका बाजीराव की पेंशन पर तिनके बराबर भी अधिकार नहीं था। इतना ही नहीं, आपका ब्रह्मावर्त की ओर के प्रदेश पर स्थापित स्वतंत्र शासक का अधिकार भी अब आपको नहीं मिलेगा।' ऐसा अंतिम उत्तर अंग्रेजों की ओर से नाना को आया और हम जो कर रहे हैं वही न्याय है यह भी कहा गया। न्याय? अब यह न्याय है या अन्याय, इसका ठीक-ठीक उत्तर देने का कष्ट अंग्रेज सरकार को उठाने की आवश्यकता नहीं है। उधर कानपुर के मैदान पर जल्दी ही इस प्रश्न का यथार्थ निर्णय करने की जंगी तैयारी शुरू हो चुकी है और मराठों के हृदय को दुखाना न्याय है या अन्याय, इसकी पूरी चर्चा अब वहीं होगी। अंग्रेजों के कटे सिर, उनकी कटी हुई गरदनें, चीरे हुए शरीर और बहनेवाले रक्त का लाल-लाल नाला, ये सब इस प्रश्न की यथायोग्य चर्चा करेंगे और इस चर्चा को शांति से सुन कानपुर के कुएँ पर बैठे गिद्ध इस प्रश्न का निश्चित उत्तर देंगे कि यह न्याय था या अन्याय।

नाना के घर ऐसे विशाल समारोह की तैयारी शुरू है तो उधर उनकी बहना छबीली भी शांत नहीं बैठी है। उसके भी सामने 'न्याय या अन्याय' यही प्रश्न आ पड़ा है। सन् १८५३ में उसके पति अचानक परलोक सिधार गए और उसके दत्तक लिये प्रिय पुत्र दामोदर को उत्तराधिकारी के अधिकार न देते हुए अंग्रेज सरकार ने झाँसी अधिग्रहीत कर ली। परंतु ऐसी चिट्ठी-पत्री से अधिग्रहीत होनेवाली वह रियासत नहीं थी। उस झाँसी की रियासत पर नागपुर की बांका का राज्य नहीं था, वहाँ तो नाना की 'छबीली' बहन महारानी लक्ष्मीबाई राज्य कर रही थी। वह ऐसे अधिग्रहण की क्या परवाह करे? अंग्रेजों का यह कुटिल और

जल्लादी कृत्य देखकर दु:ख, अपमान, मानभंग के बादलों की गड़गड़ाहट होने लगी और उनमें से झाँसी की उस चपला ने कड़कड़ाहट की—"अपनी झाँसी मैं नहीं दूँगी।"[१]

अपनी झाँसी मैं दूँगी नहीं—जिसमें हिम्मत हो वह लेकर देखे!



१. 'डलहौजीज एडमिनिस्ट्रेशन', खंड २।

प्रकरण–४

अयोध्या

मानव जाति के दुर्भाग्य से इस जग में चोर को छोड़ संन्यासी को फाँसी देने का न्याय हमेशा होता आया है। पर राजनीति के क्षेत्र में तो यह खुल्लम-खुल्ला किया जाता है। जुल्म और अन्याय दोनों भाववाचक कल्पनाएँ मानवीय मन को स्वीकार नहीं होतीं, अत: उनके कारण होनेवाले त्रास का प्रतिशोध लेने के लिए जब वह झल्लाकर बाहर निकल पड़ता है तब यह नहीं देखता कि उस जुल्म और अन्याय की जड़ में कौन है और जो सामने पड़ जाता है उसी गरीब को मारने लगता है। इस उतावली में जो अन्याय की जड़ या आत्मा है उसे भुला दिया जाता है। इस घालमेल के कारण कोई बड़ी हानि यदि नहीं होती तो उस उपेक्षा को क्षमा किया जा सकता है। परंतु सच में देखा जाए तो इस घालमेल के परिणाम बहुत भयंकर होते हैं। चोरों को मारने के लिए बनाए गए फंदे संन्यासियों को मारने में खप जाते हैं और उधर चोर के सुरक्षित बच जाने से चोरी की घटनाएँ पहले से भी अधिक होने लगती हैं। लेकिन इस फाँसी पर संन्यासी के बदले यदि एकाध चोर को भी चढ़ा दिया गया तो भी उस चोरी का सारा क्रोध उस एक ही चोर पर उतार दिए जाने से बाकी के चोर निर्भय होकर—'पुनश्च: हरि: ओम्' करने को तैयार हो सकते हैं। विषवृक्ष का वास्तविक नाश उसकी शाखाएँ और पत्तियाँ तोड़ते रहने से नहीं हो सकता—वह तो तब होगा जब उन शाखाओं और पत्तों को बार-बार आगे धकेलती हुई और उनका पोषण करती हुई उस वृक्ष की जड़ें खोदकर उनका सर्वनाश किया जाए।

डलहौजी किसी परिस्थिति का परिणाम है। वह परिस्थिति जब तक बनी हुई है तब तक एक डलहौजी जाए तो उसकी जगह दस डलहौजी आएँगे। परंतु यह सिद्धांत भूलकर अंग्रेज इतिहासकार जान-बूझकर और हिंदुस्थानी लोग भोलेपन

और अज्ञान से डलहौजी के शासनकाल में हुए सारे अत्याचारों का दोष इतने जोर से उसपर थोपते हैं मानो वही मुख्य कर्ता था। परंतु यह मानना पूरी तरह गलत है। इस मान्यता का यह परिणाम होता है कि डलहौजी को छोड़ मुख्य कारण की ओर ध्यान ही नहीं दिया जाता। यदि इंग्लैंड की सरकार की सम्मति न हो तो डलहौजी की हिम्मत है कि वह इधर का पैर उधर रख सके। डलहौजी के हर कृत्य को इंग्लैंड की सरकार की स्वीकृति मिले बिना हिंदुस्थान में एक पत्ता भी हिलना असंभव है। ऐसी स्थिति में डलहौजी यदि एक अंश का दोषी है तो उसके पीछे छिपकर यह अधम कृत्य करनेवाले ठगों पर दस गुना दोष आना चाहिए। परंतु इंग्लैंड की सरकार माने वहाँ के मुट्ठी भर अधिकारी—इन मुट्ठी भर अधिकारियों को इंग्लैंड की जनता के सामने कँपकँपी आती है। अंग्रेज जनता की अनिच्छा हो तो इन अधिकारियों को एक क्षण भी अपने अधिकार सँभाले रहना संभव न हो। ऐसी परिस्थिति में ये अधिकारी भी डलहौजी के पापी कृत्यों को मान्यता क्यों देते थे? वह इसलिए कि उनके सारे कृत्य सारी अंग्रेज जनता को पसंद थे। इस तरह देखें तो इंग्लैंड नामक पूरा राष्ट्र ही इस अन्याय और अत्याचार का दोषी है। साम्राज्य के रक्त की चटक लग जाने से पूरा राष्ट्र ही क्रूर, निर्दयी बन गया है। जब सारा इंग्लैंड मधुमक्खी का छत्ता है तो डलहौजी नामक एक मधुमक्खी पर सारा गुस्सा उतारने से क्या लाभ? जब तक यह छत्ता बना हुआ है तब तक ये मधुमक्खियाँ हिंदुस्थान के फूलों से मधु ले जाकर उसके बदले में विष भरे डंक मारती ही रहेंगी। उस छत्ते को सीने से चिपकाए रखें और उसमें से मधु लेने के लिए आनेवाली मधुमक्खियों को गाली-गलौज करें कि ये डंक बहुत मारती हैं तो इसमें कोई तुक नहीं। यह मूर्खतापूर्ण कल्पना और यह अभागी अंधता सन् १८५७ के नेताओं की दृष्टि को स्पर्श न कर सकी। यही उस क्रांतियुद्ध का मुख्य रहस्य है। उसका हेतु (साध्य) अमुक कानून रद्द करो या अमुक डलहौजी हटाओ, यह न होकर कानून बनाने की या उस डलहौजी को भेजने की मुख्य शक्ति अर्थात् राज्यसत्ता को प्राप्त करना ही था। सभी अंग्रेज डलहौजी हैं और उस छत्ते की सारी मधुमक्खियों का उद्देश्य अपने भारतीय फूलों से मधु लेकर उसके एवज में विष भरे डंक मारते रहने का है, यह अंतिम सत्य उन चतुर और माननीय पुरुषों के ध्यान में है और ऐसे इन अंग्रेजों से पूरी तरह संबंध तोड़े बिना, गुलामी की शाखाएँ न तोड़ते हुए उस हलाहल भरे कँटीले वृक्ष को समूल उखाड़े बिना, संक्षेप में यह कि स्वराज्य प्राप्त किए बिना इस असाध्य रोग की दूसरी रामबाण औषधि नहीं है, और स्वराज्य की यह औषधि संग्राम भूमि के अतिरिक्त कहीं और नहीं मिलती। ये वास्तविक सत्य उनकी कुशाग्र बुद्धि को ज्ञात होते ही एक क्षण भी न रुकते हुए वे अपने प्राण अपने हाथों में और

तलवार शत्रु की गरदन पर रखने रण-मैदान में कूद पड़े।

सन् १८५७ के क्रांतियुद्ध की पवित्रता और महानता इसी सत्य ज्ञान में और उसके लिए किए गए प्राणदान में है। जिन्हें डलहौजी ही सारे अत्याचारों का मुख्य कारण लगता है उन्हें इस युद्ध की वास्तविक महानता ज्ञात नहीं होगी। ऐसे अज्ञानी व्यक्तियों को यदि सत्य ज्ञात करने की इच्छा हो तो वे विशेषतः अयोध्या का राज्य किसने अधिग्रहण किया यह देखें, और क्यों अधिग्रहीत हुआ, यह समझ लें। अयोध्या का वह विस्तृत और संपन्न राज्य डलहौजी के पहले एक शताब्दी तक अधिग्रहण होता रहा था।

अयोध्या के नवाब ने जब से अंग्रेजों से रिश्ते बनाए तब से उसके राज्य का एक-एक टुकड़ा अंग्रेजों की ओर जाने लगा था। सन् १८०१ में एक समझौता वजीर के सिर पर जबरन लादा गया, उसमें यह अपहरण की इच्छा पूरी निर्लज्जता से प्रदर्शित की गई थी। नवाब वजीर उस समय पहले से ही कंपनी की सहयोगी सेना के लिए प्रतिवर्ष पचहत्तर लाख रुपए दे रहा था। कंपनी की इस डकैती से नवाब का खजाना कठिनाई में आ गया था। पर अंग्रेजों ने जबरन यह माँग की कि नवाब अपनी सेना हटाकर उसके स्थान पर कंपनी की सेना रखे। इस सेना का खर्च और सहयोगी सेना का खर्च उठाने की शक्ति नवाब के खजाने में नहीं है यह अंग्रेज अच्छी तरह जानते थे। बल्कि यह जानकारी थी इसीलिए उन्होंने यह माँग की थी। नवाब के पास खजाना नहीं था, किंतु प्रदेश था, अंत में उसमें से एक उपजाऊ टुकड़ा तोड़कर नवाब ने अंग्रेजों को दिया और नाहीं-नाहीं कहते भी नवाब के सिर यह संरक्षक सेना बैठ ही गई। इस सन् १८०१ के समझौते की तीसरी धारा का अर्थ था—"नवाब अपने प्रदेश की व्यवस्था प्रजा को सुखकर करे और हर काम में वह कंपनी के अधिकारियों से सलाह-मशवरा करे।" अब यह प्रजा को सुखकर व्यवस्था कैसे रखनी है? यदि नवाब कोई सुधार करने की इच्छा करे तो उसकी इच्छा के विरुद्ध कंपनी उसपर गुर्राए।[१] फिर भी आग्रह था कि प्रजा के लिए सुखकर व्यवस्था की जाए। नवाब का खजाना बार-बार डकैती डालकर खाली किया जाता और उसपर नई माँग भी रखी जाती और इस डकैती की पूर्ति के लिए जब नवाब को कर लादने की विवशता होती तो कंपनी कहती कि प्रजा को सुखकर व्यवस्था होनी चाहिए। नवाब को जब इस तरह स्वयं के राज्य में सुधार करना असंभव हो जाए और प्रजा विद्रोह कर राज्य में सुधार का प्रयास करे तो उसका बंदोबस्त करने अंग्रेजी बैनेट और संरक्षक सेना की तलवारें प्रजा की गरदन पर रख

१. 'डलहौजीज एडमिनिस्ट्रेशन', पृष्ठ ३४८-४९।

उसे हूँ-चूँ भी नहीं करने देना[1]—इस प्रकार कंपनी का आग्रह बना ही रहता कि प्रजा के लिए सुखकर व्यवस्था की जाए! इस तरह एक ओर नवाबों और जनता को राज्य व्यवस्था सुखकर करना पूरी तरह असंभव बनाकर दूसरी ओर कंपनी कहती कि राज्य व्यवस्था सुखकर करनी ही होगी। यह स्थिति कुछ ऐसी ही थी कि कोई अत्याचारी बाप बच्चे को जोर से पीटता जाए और कहे चुप रह, खबरदार जो रोएगा तो! इसमें फर्क इतना ही है कि वह बाप ऐसा मूर्खतापूर्ण कार्य कम-से-कम सद्हेतु से तो करता है! परंतु कंपनी नवाब का मुँह बाँधकर जो पिटाई कर रही थी वह तो केवल उसका गला दबाकर प्राण लेने के लिए ही थी। यह प्राणघात जितनी जल्दी और जितनी सुलभता से हो, करने के लिए अंग्रेजों ने हजारों अड़चनें और हजारों तिकड़में भिड़ाईं—उन सबका वर्णन स्थानाभाव के कारण संभव नहीं। फिर भी उदाहरण के लिए एक अत्यंत नीच तिकड़म दिए बिना रहा नहीं जाता। वह तिकड़म थी, सन् १८३७ में लॉर्ड आक्लैंड द्वारा नवाब से किया हुआ समझौता कुछ ही वर्षों बाद साफ तौर पर अस्वीकार करना। यह समझौता होते ही इंग्लैंड उसे भूल गया हो ऐसा नहीं, क्योंकि सन् १८४७ में लॉर्ड हार्डिंगटन ने उस समझौते को माना था। कर्नल सलीम ने सन् १८५१ में वही समझौता माना था। सन् १८५३ में हिंदुस्थान में चालू समझौते की सूची में भी वह सन् १८३७ का समझौता लिखा हुआ था।[2] पर सन् १८५३ में जो समझौता इंग्लैंड की स्मृति में था वह समझौता उसी वर्ष वास्तविक समय आने पर इंग्लैंड एकदम भूल गया। सन् १८३७ के उस समझौते के अनुसार वह रियासत अधिग्रहण करना संभव नहीं था, यह देखते ही एक घंटे पहले तक मान्य किया हुआ और चालू समझौतों की सूची में लिखकर भेजा हुआ समझौता हिंदुस्थान सरकार साफ अस्वीकार करने लगी। ऐसा कोई समझौता हुआ ही नहीं था, ऐसा धड़ल्ले से कहते समय अंग्रेज सरकार लज्जित कैसे नहीं हुई—हिंदुस्थान का अंग्रेजी इतिहास जिसने थोड़ा-बहुत भी पढ़ा है, उसे इसपर बहुत आश्चर्य नहीं होगा। क्योंकि अंग्रेज सरकार को अयोध्या का राज्य चाहिए था और वह राज्य हड़पने के लिए सन् १८३७ के समझौते की अपेक्षा सन् १८०१ का समझौता अधिक लाभदायक था।

---

१. सर जॉन के ने कहा है—''सत्यता यह है कि यह एक ऐसी त्रुटियुक्त प्रणाली थी कि जिसकी जितनी अधिक भर्त्सना की जाए, कम ही है। इस प्रकार उसने निकृष्ट श्रेणी का द्वैध शासन आरंभ कर दिया था। राजनैतिक और सैनिक सत्ता तो कंपनी के हाथों में थी; किंतु अवध का आंतरिक शासन अभी भी नवाब, वजीरों के हाथ में था।'' —खंड १, पृष्ठ ८२

२. 'डलहौजीज एडमिनिस्ट्रेशन', खंड २, पृष्ठ ३६७।

ये सारी तिकड़में डलहौजी के पहले ही हो चुकी थीं, इतना अवश्य ध्यान में रखना चाहिए जिससे यह स्पष्ट हो जाएगा कि डलहौजी ने अयोध्या के अधिग्रहण करने में कुछ अपूर्व पातक नहीं किया। अयोध्या का प्रदेश सबको चाहिए था, पर उसको कैसे हथियाया जाए? इसका निर्णय डलहौजी के हाथ से हुआ। पंजाब की तरह या ब्रह्मदेश की तरह उसपर चढ़ाई कर उसे जीता नहीं जा सकता था। क्योंकि वहाँ के लोगों ने कभी ब्रिटिशों से झगड़ा नहीं किया था। नवाब ने उनसे कभी प्रेम से व्यवहार नहीं किया, ऐसा आरोप लगाना भी संभव नहीं था। क्योंकि आज तक हर कठिन अवसर पर नवाब ने अंग्रेजों की सहायता की थी। जब अंग्रेजों की जेब में पैसा नहीं था तब नवाब ने उन्हें पैसा दिया। और जब बड़ी-बड़ी लड़ाइयों में अंग्रेजों के पास खाने को कुछ नहीं था तब उन्हें अनाज भिजवाया। नागपुर की तरह वहाँ कोई वारिस नहीं है, ऐसी शिकायत नहीं थी। क्योंकि राजमहल औरस संतति से भरा हुआ था। वहाँ झाँसी की तरह दत्तक का भी कोई बखेड़ा नहीं था। क्योंकि वर्तमान राजा मृत राजा का औरस पुत्र था और राज्य पर जमा हुआ था। इस तरह लखनऊ के इस नवाब ने उपरोक्त अपराधों में से एक भी अपराध नहीं किया था। यद्यपि ये सारे अपराध नवाब ने नहीं किए थे फिर भी उस मूर्ख के हाथों एक बड़ा प्रमाद हो ही गया। वह प्रमाद यह कि नवाब के राज्य का प्रदेश बहुत ही उपजाऊ, सुंदर और धनी था। यह उसका अपराध अंग्रेजों के बहुत पहले से ही ध्यान में आया हुआ था। अयोध्या के सुंदर प्रदेश का वर्णन करते हुए अंग्रेजी ब्ल्यू बुक की सुकोमल भाषा में भी कविता फूट पड़ी है—''इस सुंदर प्रदेश में कहीं-कहीं बीस तो कहीं-कहीं दस फीट पर ही भरपूर जल भंडार हैं। सारा प्रदेश हरे-भरे खेतों से भरा हुआ है। अमराई की छाया से शीतल, बाँस के ऊँचे-ऊँचे वन अपने सिर ठाठ और शान से उठाए हुए, इमली की घनी छाया, नारंगी की गंध, अंजीर के वृक्षों की विचित्रता और पुष्पराग का परिमल आदि सारी प्रकृति की अवर्णनीय सुंदरता फैली हुई है।''

ऐसा यह प्रदेश अपने कब्जे में रखने का प्रचंड अपराध अयोध्या के नवाब ने किया था, इसलिए सन् १८५९ में डलहौजी ने उसे गद्दी पर से उठाकर फेंक देने का आदेश दे दिया और उस आदेश को समस्त अंग्रेजों की अनुमति और सहयोग मिलने से अयोध्या एक झटके में अधिग्रहीत कर ली गई। कारण यह बताया गया कि नवाब अपने राज्य में सुधार नहीं कर रहा था। ओहो! ईसा मसीह भी इस उदारता के आगे नतमस्तक हो जाएँ। नवाब के राज्य में जो एक गुनी दरिद्रता थी, उसे चौगुनी करने, जो कुछ चैतन्य था, उसे समाप्त करने और अयोध्या के तन पर फटा-पुराना ही सही, पर स्वतंत्रता का जो कपड़ा था उसे फाड़कर नंगा करने तथा उसके

सिंहासन पर बलात्कार करनेवाले इंग्लैंड की यह अव्यवस्था की बात यदि एक बार मान ली तो हिंदुस्थान पर तेरा राज क्या एक दिन भी रह पाएगा? आज चीन में अफीम की लत है, अफगानिस्तान में अत्याचार है, बहुत क्या तेरे पैर के नीचे स्थित रशिया में अंधाधुंधी फैली है, क्या वहाँ के जार को अव्यवस्था के अपराध के लिए दंडित कर रशिया को अपने देश से जोड़ सकते हो? तेरे पड़ोसी के घर का सामान अव्यवस्थित है, इसलिए उसके घर में घुसकर उसे बाँधकर वह घर अपने कब्जे में लेने का अधिकार तुम्हें कैसे मिला? पर डलहौजी के प्रशासन के संबंध में लिखनेवाला आर्नोल्ड कहता है—''नवाब ने इसके सिवाय भी कितने ही अपराध किए थे। जैसे वह अपनी दासियों को जरी की साड़ियाँ भेंट देता था। दूसरा अपराध यह कि उसने ११ मई को आतिशबाजी का जलसा किया। और यह भी कि एक दिन सुबह ही उसने दवाई पी और शाही बेगम और ताज बेगम से भोजन का आग्रह किया। अब इससे भयंकर अपराध और क्या हो सकता है? फिर भी धन्य हैं अंग्रेज कि नवाब सुबह दवाई पीता था फिर भी उस (अपराध) की ओर ध्यान न देकर उसे राज्यच्युत नहीं किया। पर अंत में सारे उपाय व्यर्थ गए। कारण, एक दिन नवाब के सामने कुछ घोड़ियों पर घोड़े छोड़े गए। अर्थात् अंग्रेज सरकार को उन घोड़ियों की पवित्रता भंग होने पर बहुत दया आई और उन्होंने उस भयंकर अवसर पर वहाँ खड़े नवाब के अपराध पर उसे राज्यच्युत कर दिया।''

ऐसी घिनौनी बातें कहकर नवाब की राज्य व्यवस्था संबंधी अक्षमता का ढोल पीटना चाहनेवाले मूर्ख और ईर्ष्यालु अंग्रेज इतिहास-लेखकों को यह सब देखने हिंदुस्थान आने का कष्ट करने की आवश्यकता ही क्या थी? उन्हें इंग्लैंड में कहीं भी रोनाल्ड के ग्रंथ मिल सकते थे या लज्जावश किसीने न दिए हों तो इंग्लैंड के राजमहलों से भी उन्हें बहुत सारी जानकारी मिल गई होती और घोड़ियों का पातिव्रत्य भंग करने से भी बड़े व्रतों को भंग करनेवालों की जिंदगी और राज्य अधिग्रहण कर लेने तथा स्वयं के घर के छेद भरने में वे अपने समय का अधिक उपयोग कर सकते थे।

□

प्रकरण–५

धकेलो उसमें...

अब इच्छित राष्ट्रकार्य की तिथि पास आती जा रही है अत: ऐसे समय इष्ट सिद्धि के लिए कुल देवताओं की कृपा प्राप्त करनी ही चाहिए। इस प्रचंड राष्ट्र विक्षोभ के कुलदेव की प्रसन्नता ही प्रतिशोध है। इसे प्रसन्न किए बिना और अपनी सहायता के लिए आने को बाध्य करने के सिवाय सन् १८५७ में लिये गए संकल्प की सिद्धि नहीं होगी। इसलिए हवन कुंड को प्रदीप्त करो और उसमें इतनी दिव्य हवन सामग्री डालो कि मुख्य कुलदेव चैतन्य होकर प्रकट हो ही जाएँ। इंद्रजीत के प्रचंड यज्ञ से अजेय-रथ बाहर निकलने तक जैसे हवनों का धूम-धड़ाका उड़ाया गया वैसे ही इस यज्ञ से जब तक मूर्तिमंत प्रतिशोध अपनी सहस्र जिह्वाएँ और सहस्र दाँतों से युक्त होकर आविर्भूत न हो तब तक हवनकुंड में हवन करते ही जाना है। इंद्रजीत के समय वानर उस यज्ञ को भंग करने के लिए प्रयासरत थे। परंतु सौभाग्य से इस राष्ट्र यज्ञ में सहायता करने के लिए अंग्रेज स्वयं ही उतावले हो रहे हैं। फिर विलंब क्यों? कोप की अग्नि भभक रही है और उसकी सातों जीभें लपलपाती हुई उछल रही हैं। फिर विलंब क्यों? चलो, आहुति डालना प्रारंभ करो!

पंजाब के इतिहास प्रसिद्ध कोहिनूर के तेज के गिरिवर से और इस राजचिह्न के राजा से पहले आहुति दान का सम्मान पाने योग्य दूसरा कौन होगा! इसलिए चल आजा! रे डलहौजी, उस कोहिनूर को उसके वास्तविक मालिक से छीनकर ले आ। पंजाब की स्वतंत्रता का खून हुआ है—यह उस राष्ट्रक्षोभ के कुलदेव को सूचित करने के लिए वह अग्नि चेत गई है। इस कोहिनूर को फेंक दो उसमें!

इस ब्रह्मदेश को दूसरा सम्मान मिलना उचित है, इसलिए चल आ, रे डलहौजी, उस ब्रह्मदेश को उसके असली मालिक से छीनकर ले आ। अग्नि चेत गई है तो इष्ट सिद्धि के लिए इस ब्रह्मदेश को धकेलो उसमें!

सातारा के शिवाजी की गद्दी कहाँ है? उसका मान तीसरे हवन का है। इसलिए उसपर बैठे राजाओं को श्मशान में बैठने को कहकर वह गद्दी, अंग्रेजो जाओ और जल्दी ले आओ! यह अग्नि भभक रही है, इसलिए मराठों की ओर से सातारा की इस राजगद्दी को धकेलो उसमें!

इस चौथे हवन को केवल नागपुर की गद्दी कैसे पूरी पड़ेगी! तदर्थ उस गद्दी के साथ ही नागपुर के सारे भवन, हाथी, घोड़े, राजा, रानियाँ, रानियों के अलंकार, आक्रोश, चिल्लाहट जो भी मिले वह सब जल्दी लाओ! यह अग्नि भभक रही है इसलिए पूरा नागपुर धकेल दो उसमें!

अब हवन कुंड सच में जाज्वल्य दिखने लगा है। ऐसे समय उतनी ही जाज्वल्य हवि चाहिए। पर ऐसी आग से भी तेजस्विनी हवि ब्रह्मावर्त के सिवाय और कहाँ मिलेगी? अग्नि प्रज्वलित हो गई है इसलिए ब्रह्मावर्त के मुकुट को उसमें धकेलो!

राष्ट्रक्षोभ के न्याय देव 'प्रतिशोध' को प्रसन्न करने के लिए नई हवि ऐसी चुनो कि बस! यह मान उसीका। इस नीति होत्र की ज्वाला आकाश छूने लगे इसलिए यह झाँसी की बिजली धकेलो उसमें!

देखो, देखो, इस दिव्य हवन कुंड से सारे पापी दुर्योधनों के शरीर काँपने लगे हैं, इसलिए प्रतिशोध का सिर ऊपर दिखने लगा है। ऐसे समय आविर्भूत होने को तत्पर उस देवता को पूर्ण संतुष्ट करने के लिए हवनों का आक्रमण होना चाहिए। इसलिए चलो, ये हैं अर्काट के नवाब, धकेलो इन्हें!

तंजावुर की गद्दी, धकेलो उसमें!
अंगूल के राजा, धकेलो उसमें!
सिक्किम के भाग, धकेलो उसमें!
संबलपुर के राज्य, धकेलो उसमें!
खैरपुर के अमीर, धकेलो उसमें!

ऐसे रुपए और चिल्लर कितने गल गए, इसकी कोई गिनती नहीं! इसलिए ऐसे हविर्दान कौन गिने! अत्यंत पुष्ट और पूरी तरह निरपराध बलि लखनऊ के नवाब के अतिरिक्त मिलना कठिन है इसलिए लखनऊ के नवाब को धकेलो उसमें!

अहा-हा! इस अग्नि कल्लोल से ऊपर निकलते देवता की यह कैसी उग्रता! इस प्रतिशोध के भयानक जबड़े में सारा जगत् ही पिस जाएगा। परंतु उस जबड़े की धार जब तक अधिक तेज न हो जाए तब तक ठहरना उपयोगी नहीं। इसलिए दिल्ली के राजमहलों को ताले लगा और वहाँ के मयूरासन पर बैठनेवाले

अकबर के वंशज को खींचकर धकेलो उसमें!

अयोध्या प्रांत के बड़े-बड़े तालुकेदार[१] क्या कर रहे हैं? उनकी सारी जमीनें और उनके सारे हक छीनकर उन्हे जंगली पशुओं जैसा घेरकर लाओ इधर! वैसे ही बंबई प्रांत के (इनाम कमीशन आदि के द्वारा) हजारों हकदारों के हक फेंक-फाँककर उन्हें भी लाओ इधर! हवन कुंड प्रज्वलित है। इसलिए जमींदार, जागीरदार, तालुकेदार, वतनदार आदि सारे दारों को कंगाल कर धकेलो उसमें!

राजा, महाराजा, बादशाह, प्रधान, नवाब, वजीर जैसी उत्तम हवियाँ इस हवन कुंड में पड़ें और हमारे राष्ट्रक्षोभ 'कुलदेव' को प्रसन्न करें! हमारी यह वर्तमान दुर्दशा और गुलामी देखकर हमारे पूर्वजों की आँखों से बहनेवाले आँसू उस देवता को अच्छी तरह स्नान करावें। सातारा की गद्दी के टुकड़े देखकर गुस्से में भरे शिवाजी उस देवता को चैतन्य करें। अयोध्या के राजमहल की बेगमों के कष्ट और नागपुर के महलों में अपमान के कारण मरी हुई अन्नपूर्णाबाई की आत्मा हमारे उस राष्ट्रीय प्रतिशोध को चेताए। हे प्रतिशोध, जग के न्याय, तलवार की धार पर तू चढ़ता है तो तू देवों को भी वंदनीय और ऋषियों को भी स्तुत्य हो जाता है। सज्जन रक्षक प्रतिशोध! तेरा डर न हो तो अन्याय का कलि इस दुनिया पर निरकुंश होकर नाचने लगे। हे प्रतिशोध, तेरी उग्रता से ही कंपित होकर पापियों को पुण्यवान होना पड़ता है। तू ही रावण का राम था। तू ही दुर्योधन का भीम था, तू ही हिरण्यकशिपु

---

१. अयोध्या के राज्य को अधिग्रहीत करने के बाद वहाँ के अत्यंत कुलीन, प्रभावशाली और प्रमुख लोगों की जो दुर्दशा हुई उसका वर्णन बहुत भयंकर है। वंश परंपरा से प्राप्त जमीनें और वतन एक क्षण में नष्ट हो गए। इन अभागे तालुकेदारों के लिए 'के' लिखता है—"The charges against him were many and great for he had diverse ordeals to pass through and he seldom survived them all. ...When the claims of a great talukdar could not be altogether ignored, it was declared that he was a rogue or a fool. ...They gave him a bad name and straightway they went out to ruin him!...It was at once a cruel wrong and a grave error to sweep it away as though it were an encumbrance and an usurpation."

जो व्यवस्था नवाब नहीं कर सकते थे उस राज्य की ऐसी व्यवस्था करने पर सारे जमींदारों को कंपनी ने जल्दी ही बेरहम मार लगाई, यह आगे वर्णित है। इनाम कमीशन जो नियुक्त किया उसने तो विकट कहर ढाया। अंग्रेजों को जैसे बड़े-बड़े राजा नहीं चाहिए थे वैसे ही सिरजोर जमींदार भी नहीं चाहिए थे। जो जमीनें और जागीरें तलवार के जोर पर प्राप्त की थीं उनके कागज नहीं थे इसलिए उन्हें एक सिरे से अधिग्रहीत किया गया। कम-से-कम पैंतीस हजार 'वतन' और बड़ी जागीरें छानबीन के लिए निकालीं और उनमें से केवल पाँच वर्ष में तीन पंचमाश समाप्त कर दीं।

का नरसिंह था। उनके समय में तुम्हें प्रसन्न करने के लिए जितना हविर्दान नहीं हुआ था उतना इस प्रचंड हवन कुंड में लगा हुआ है। एतदर्थ, जग से अन्याय और अंधेर समाप्त हो, परवशता और परदासता मिट जाए, स्वतंत्रता और स्वराज्य की जय-जयकार हो, ऐसी परमेश्वर की इच्छा हो तो तू इस यज्ञ से मूर्तिमंत हो प्रकट होना। धन्य-धन्य!!'मृत्यु सर्वहरश्चाहम्'—ऐसी गर्जना करते यह मूर्तिमंत राष्ट्रक्षोभ ऊपर आ रहा है। इस भयंकर मूर्ति को शतशः प्रणाम है। जिसके भयंकर जबड़ों में उन्मत्त राजा पिस जाते हैं, जिसके हाथ के घन से निरपराध देशों के पैरो में पड़ी दासता की बेड़ियाँ तड़ाक से टूट जाती हैं, जिसके नेत्रों से निकलनेवाली ज्वालाएँ अत्याचारों की काली कोठरियों को जलाकर भस्म करती हैं और जिसकी लपलपाती तप्त जिह्वा हजारों दु:शासनों का रक्त गटागट पीती है उस भयंकर, उग्र एवं भयानक राष्ट्रीय प्रतिशोध को शतशः प्रणाम—

> वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशंति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
> केचिद्विलग्ना दशनांतरेषु संदृश्यंते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः॥

हे हिंदभूमि, अंततः इस महायज्ञ से तेरा 'प्रतिशोध' सभी में मूर्तिमंत रीति से प्रादुर्भूत हो गया। पर वह क्या-क्या करने से शांत होकर संपूर्ण रूप से अंतर्धान होगा, क्या यह भी तुझे ज्ञात है?

□

प्रकरण–६

अग्नि में घी

विश्व में ऐसा कौन सा सद्धर्म है कि जिसमें परतंत्रता और दासता को धिक्कारा नहीं गया हो। इसी कारण जहाँ परमेश्वर होगा वहाँ परतंत्रता कभी नहीं रह सकती और जहाँ परतंत्रता है वहाँ परमेश्वर का अधिष्ठान नहीं, वहाँ धर्म नहीं। एतदर्थ किसी भी प्रकार की परतंत्रता का अर्थ धर्म का उच्छेद एवं ईश्वरीय इच्छा का भंग होना है।

क्या मनुष्य जाति की उन्नति के लिए उत्पन्न हुए सारे धर्म मनुष्य जाति की अवनति के लिए उत्पन्न हुई परतंत्रता को एक क्षण भी जीवित रखने की आज्ञा देंगे? उसमें भी राजनीतिक परतंत्रता सभी परतंत्रताओं से मनुष्य जाति की अत्यंत भयानक अवनति करनेवाली है, इसलिए इस अधम राक्षस का कंठच्छेदन करने की आज्ञा प्रमुखता से ही दी गई होगी। जो अन्यों को गुलाम बनाते हैं और जो गुलामी में रहते हैं, वे दोनों ही मनुष्य जाति को नरक की ओर धकेलते हैं। इसलिए मनुष्य जाति को स्वर्ग की ओर ले जानेवाले सद्धर्म इस राजनीतिक गुलामी को नष्ट करने के लिए अपने अनुयायियों को बार-बार उपदेश देते हैं। उनका यह उपदेश अस्वीकार करनेवाले सारे लोग धर्मद्रोही हैं। दूसरों को गुलामी में ढकेलनेवाले अंग्रेज भले ही रोज चर्च में जाएँ, वे धर्मद्रोही ही हैं और परतंत्रता के नरक में सड़नेवाले भारतीय रोज शरीर पर भभूत मलते रहें तब भी वे धर्मद्रोही ही हैं। जो किसी भी तरह की दासता में रहते हैं वे सारे हिंदू धर्मभ्रष्ट हैं और वे सारे मुसलमान भी धर्मभ्रष्ट हैं, फिर वे चाहे रोज हजार बार संध्या वंदन कर रहे हों या हजार बार नमाज पढ़ रहे हों। यह ध्यान में रखकर ही श्री समर्थ रामदास ने स्वराज्य प्राप्ति को धर्म का मुख्य कर्तव्य कहा है। जो राज्य अपनी इच्छा के विरुद्ध बलपूर्वक अपने पर थोपा गया है—ऐसे पर-राज्य को उखाड़ फेंकना,

गुलामी की बेड़ियाँ तोड़ देना और मनुष्य जाति की उन्नति का जो प्रथम साधन होता है, वह स्वराज्य प्राप्त करना, स्वतंत्रता प्राप्त करना धर्म का प्रधान कर्तव्य है, ऐसा प्राणनाथ प्रभु का छत्रसाल को किया गया या समर्थ का शिवाजी को दिया गया उपदेश दो शताब्दियों बाद हिंदुस्थान की पुण्यभूमि के पुरुषों के कान में ज्ञात या अज्ञात रूप से सन् १८५७ में फिर से गूँजने लगा।

हिंदुस्थान की पुण्यभूमि की स्वतंत्रता का हरण कर अंग्रेजों ने सभी धर्मों को तो अपने पैरों तले कुचला ही था, परंतु धर्म का सैद्धांतिक अपमान पूरा नहीं है ऐसा लगने पर ही शायद, इस हिंदुस्थान के पवित्र धर्म का व्यावहारिक अपमान करने के लिए वे बहुत आतुर थे। अफ्रीका और अमेरिका में वहाँ के निवासियों को ईसाई धर्म की दीक्षा देने के काम में मिली सफलता से बहके हुए पश्चिमवासियों को अफ्रीका की भाँति ही हिंदुस्थान में भी सारे लोगों को ईसाई बना डालने की भारी आशा थी। वेद और प्राचीन हिंदू धर्म तथा ईसाइयत की पीठ पर नृत्य करते इसलाम के जड़-मूल कितने गहरे हैं, इसका उन्हें जरा भी ज्ञान नहीं था। दर्शनशास्त्र, भक्तिप्रेम एवं नीति निपुणता में सारे जग का आदिगुरु आर्य धर्म आज तक कितनों के ही नामकरण और नामशेष देखता आया है, यह इन अल्प बुद्धिवालों को कैसे ज्ञात हो! उन्हें आज पूरे हिंदुस्थान को ईसाई बनाने की रत्ती भर भी आशा शेष नहीं है—फिर भी सन् १८५७ तक उन्हें इस सफलता के संबंध में पूरा विश्वास था। औरंगजेब जैसे खुले द्वेष से भी भयानक गला काटनेवाला द्वेष करने और हिंदुस्थान को अनजाने ईसामय बना डालने का उनका दृढ़ उद्‌देश्य था। इतना ही नहीं अपितु इस हेतु उनके खुले प्रयास भी चल रहे थे। हिंदुस्थान में पाश्चात्य शिक्षा पद्धति प्रारंभ करनेवाला मैकाले अपने एक निजी पत्र में लिखता है, अपनी यह शिक्षा प्रणाली ऐसी ही बनी रही तो तीस वर्ष में पूरा बंगाल ईसाई हो जाएगा।[1] इस टिटहरी की ऐसी आशा और विश्वास था कि अपनी चोंच से मैं यह अगाध समुद्र देखते-देखते पी जाऊँगी। सारे हिंदुस्थान को ईसाई बना डालने के लिए हर अंग्रेज की कुछ-न-कुछ योजनाएँ अवश्य होती थीं। इस धर्म प्रवर्तन को प्रकटत: मदद करनेवाला हजारों मिशनरियों द्वारा किया जानेवाला निवेदन मानकर उसके अनुसार हिंदू और

---

१. ''हमारी अंग्रेजी पाठशालाएँ दिन-प्रतिदिन आश्चर्यजनक ढंग से प्रगति करती जा रही हैं। अकेले हुगली नगर में ही १४०० बालक अंग्रेजी सीख रहे हैं। इस शिक्षा का प्रभाव ही नितांत चमत्कारपूर्ण हो रहा है। मेरा यह सुदृढ़ विश्वास है कि यदि यह शिक्षा योजना सुचारु रूप से जारी रही तो तीस वर्ष पश्चात् बंगाल में एक भी मूर्तिपूजक न रह जाएगा।''

—मैकलेज लेटर टू हिज मदर, १२ अक्तूबर, १८३६

इसलाम धर्म की गरदन पर तलवार चलाने का कार्य भी अंग्रेजी सरकार द्वारा किया जाता था, परंतु उस राष्ट्र को धर्म प्रवर्तन की अपेक्षा व्यापार प्रवर्तन और यीशू की तुलना में द्रव्य भक्ति अधिक होने के कारण ऐसे खुले कार्य करके धर्म के लिए हिंदुस्थान का राज्य होने से निकलने देने कीगलती उसने नहीं की। इच्छा नहीं थी ऐसा नहीं, पर हिम्मत नहीं थी। फिर भी बड़े-बड़े नाम देकर और अपना मूल हेतु छिपाते हुए सती प्रथा प्रतिबंध, विधवा विवाह को समर्थन, दत्तक पुत्राधिकार की समाप्ति आदि अवसरों पर हिंदुस्थान की धर्म आस्थाओं में परिवर्तन करने का प्रयास उन्होंने प्रारंभ कर ही दिया था। मिशनरियों के तहत चलनेवाले स्कूलों को सरकारी पैसे की सहायता बिना रुके मिल रही थी। बड़े-बड़े आर्कबिशपों के वेतन—बड़े-बड़े सरकारी अधिकारियों द्वारा हिंदुस्थान की जनता को निचोड़कर जमा किए गए धन से दिए जाते थे। ये अधिकारी अपने अधीनस्थ लोगों को अपने पवित्र धर्म को त्यागकर ईसाई होने का उपदेश करते। सरकारी कागजों में हिंदुस्थान के लोगों का उल्लेख 'Heathen' शब्द से किया जाता। अंग्रेजी कर्मचारियों का अधिकतर समय आसमानी बाप का शुभ चरित सुनाने में ही जाता था।

सेना में जो अंग्रेज घुसते थे उनमें से कितने ही केवल अधिकार के बल पर भारतीय धर्म की खिल्ली उड़ाने के लिए ही घुसते थे। शांति काल में सेना के लोगों को कोई काम न होता था, अतः उस समय हिंदू और मुसलमान सिपाहियों को यीशू का चरित सुनाने को विपुल समय मिलने से लश्करी विभाग में यत्र-तत्र इन मिशनरी कर्नलों और सेनापतियों की आवाजाही बढ़ गई थी। जिस रामचंद्र के पवित्र नामोच्चार से हर हिंदू के हृदय में भक्तिभाव उमड़ पड़ता है और जिस मोहम्मद के नाम से सारे मुसलमानों के रग-रग से प्रेम झलक पड़ता है उस रामचंद्र के और उस मोहम्मद के नाम को वे पादरी कर्नल गालियाँ बकते। उठते-बैठते भारतीय सिपाहियों को अधिकार के जोर से चुप बैठाकर वे उनके सामने उनके प्राणप्रिय वेदों और कुरान की डटकर निंदा करते थे। इन मानवी राक्षसों का यह उद्योग किस तरह निरंतर चल रहा था और इस कार्य का उन्हें कितना अभिमान था, इसका स्वरूप स्पष्ट करने के लिए एक व्यक्ति से संबंधित उदाहरण देना आवश्यक है। सारे धर्मों का जनक आर्य धर्म तथा ईसाइयत की गरदन पर छुरी रखकर आगे बढ़ा हुआ मोहम्मदी धर्म, इन दोनों धर्मों को और उनके अनुयायियों को अपने टटपुँजिया शुभ चरित से ठगना चाहनेवाले इन पादरी सेनापतियों में से बंगाल पैदल रेजीमेंट का एक कमांडर बड़े घमंड से कहता है—''मैं गत बीस वर्षों से यह शुभ चरित का कार्य निरंतर कर रहा हूँ। इन काफिर लोगों की आत्मा को शैतान से बचाना एक फौजी कर्तव्य ही है।'' हिंदुस्थान के धन पर मोटे हुए ये पादरी वीर एक

हाथ में लश्करी आदेशों की पुस्तक और दूसरे हाथ में बाइबिल लेकर इस देश के सिपाहियों को धर्मच्युत करने का प्रयास दिन-रात करते रहते थे। इतना ही नहीं अपितु उस प्रयास में जल्दी सफलता मिले इसके लिए धर्मांतरण करनेवाले सिपाही को पदोन्नति का खुला वचन देते थे। सिपाही अपना धर्म छोड़े तो हवालदार हो जाता था और हवालदार—सूबेदार, मेजर। इस प्रकार सेना विभाग एक तरह से बलात् ईसाई बनाने का मिशन हो जाता था। हिंदुस्थान के धन से मुटाए हाथ और हिंदुस्थानी पैसे से खरीदी गई तलवार से हिंदुस्थानी धर्म को ही चोट पहुँचाने के अंग्रेजों के इस हेतु के विरुद्ध संशय उत्पन्न हुआ और उसमें हर रोज जुड़ती नई-नई घटनाओं के कारण सारे हिंदुस्थान को ईसाई बनाने की अंग्रेजी नीति सबको स्पष्ट दिखने लगी। अपने सनातन आर्य धर्म का व अपने प्राणप्रिय इसलाम धर्म का मीठी छुरी से गला काटा जा रहा है यह देखते ही हिंदू और मुसलमान क्रोधित हो उठे। फिरंगियों के असह्य अत्याचारों से उनके शरीर जलने लगे और धर्म रक्षा के लिए प्राण भी देने के लिए वे शपथ लेने लगे।

और इसी भड़कती आग में घी डालने को हिंदुस्थानी लश्कर में नए कारतूस उपयोग करने का आदेश आ गया। नए प्रकार की बंदूकों के लिए नए कारतूस काम में लाने की आवश्यकता पड़ जाने से इन कारतूसों का कारखाना हिंदुस्थान में लगाने का प्रस्ताव सरकार ने किया। यह प्रस्ताव यद्यपि सन् १८५७ के आरंभ में अमल में आया, फिर भी इन कारतूसों का प्रवेश पहले ही हो गया था। हिंदुस्थान के हिंदू और मुसलमानों की धर्मनिष्ठाओं को तुच्छ माननेवाली फिरंगी सरकार ने इंग्लैंड में तैयार गाय की चरबी लगे ये कारतूस सन् १८५३ में ही हिंदुस्थान में भेजे थे, ऐसा अब सिद्ध हो गया है। अंग्रेजों ने यह बात गुप्त रखकर कि उन कारतूसों में किसकी चरबी लगी है कानपुर, रंगून एवं फोर्ट विलियम की हिंदुस्थानी फौज के हिंदू-मुसलमानों को सन् १८५३ में ही धर्मच्युत कर दिया था। यह विश्वासघात सन् १८५७ में खुलने तक कारतूसों को चाहे जो भी चरबी लगाने की अंग्रेजों ने जान-बूझकर व्यवस्था की थी। यह बात अनुमान से नहीं कही गई है। क्योंकि सन् १८५३ के दिसंबर में कर्नल टक्कर द्वारा भेजी गई सरकारी रिपोर्ट में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है।[१] स्वयं कमांडर-इन-चीफ को यह बात ज्ञात थी। ऐसा होते हुए भी हिंदुस्थानी सिपाहियों को वे कारतूस देकर उनके पवित्र धर्म को भ्रष्ट करने का अधम कृत्य निरंतर चालू रखा गया था। अंग्रेजों के मन के इस विश्वासघात की कल्पना सन् १८५३ में भारतीय सिपाहियों को बिलकुल भी न थी, अत: उन्होंने इन

---

१. के कृत—'इंडियन म्युटिनी', खंड १, पृष्ठ ३८०।

कारतूसों का प्रयोग बिना किसी शंका के किया। इस तरह अपनी कपट भरी योजना सफल होते देख उन कारतूसों के निर्माण का कारखाना दमदम में चालू किया गया। इस कारखाने में तैयार किए गए कारतूसों को पहले जैसी ही चरबी लगाई जाती थी पर ऐसा करने में हिंदुस्थानी लोगों को धर्मच्युत करने का सरकार का हेतु नहीं था—इसे कोई भी भूले नहीं! ऐसा उद्देश्य न होते हुए भी हमारा देश मिट्टी में मिल गया। ऐसा कोई उद्देश्य न होते हुए भी हमारा स्वराज्य चर-चर चीर दिया गया और ऐसा उद्देश्य न होते हुए भी हमारे धर्म का नाश हो रहा था। कमांडर-इन-चीफ को चरबी की बात मालूम होते हुए भी उसने क्योंकर हिंदुओं के मुँह में गाय का मांस एवं मुसलमानों के मुँह में सूअर का मांस ठूँसा? इस एक व्यवहार में अंग्रेजी सरकार ने कितनी बार सफेद झूठ बोला, यह देखें तो रक्त की हर बूँद खौलने लगती है।

कारतूस को गाय और सूअर की चरबी लगाई जाती है, इस अफवाह पर सिपाहियों ने अंधविश्वास किया, ऐसा कहनेवाले निर्लज्ज लोग, दमदम कारखाने में जो ठेकेदार चरबी देता था उसका करार पत्र अवश्य देखें[१] जिससे इसका स्पष्ट उत्तर मिलेगा कि उन कारतूसों में गाय की चरबी का उपयोग किया जाता था या नहीं।[२] हिंदू लोग जिसे माँ मानते हैं उस गाय की चरबी की पूर्ति दो आने की एक पौंड की दर से की जाती थी और उस चरबी में सूअर की चरबी का अंश मिलाया जाता था, यह भी असंभव नहीं है। इन कारतूसों का हल्ला होते ही सन् १८५७ की २९ जनवरी को एक सरक्यूलर भेजा गया था। उसमें से सरकारी हुकूमत कहती है—"नेटिव सिपाहियों के लिए बननेवाले कारतूसों को केवल बकरी या बकरे की चरबी लगाई जाए, सूअर या गाय की चरबी बिलकुल काम में न ली जाए।" जल्दबाजी में निकाले गए सरक्यूलर से यही सिद्ध होता है कि गाय या सूअर की चरबी न लगाने का इसके पहले नियम नहीं था। दमदम और मेरठ में इन कारतूसों के कारखाने थे। दमदम के कारखाने में काम करनेवाले एक मेहतर ने एक ब्राह्मण से उसके लोटे का पानी माँगा। ऐसा करने पर वह लोटा भ्रष्ट हो जाएगा, उस ब्राह्मण के ऐसा कहते ही वह मेहतर बोला—"अब सब ओर भ्रष्टता फैलेगी। जिन कारतूसों को तुम दाँत से तोड़ोगे उन कारतूसों पर गाय और सूअर की चरबी मढ़ी जा रही है।" यह सुनते ही वह ब्राह्मण दूसरे सिपाहियों को वह बात कहने लगा। दमदम में जल्दी ही सारे सिपाही संशयग्रस्त हो गए और उन्होंने पड़ताल की तो यह सत्य

---

१. के कृत—'इंडियन म्युटिनी', खंड १, पृष्ठ ३८१।

२. "चरबी की बनावट में गाय की कुछ चरबी होती थी, इस विषय में तनिक भी संदेह नहीं है।"
—के कृत—'इंडियन म्युटिनी', खंड १, पृष्ठ ३८१

स्पष्ट हो गया कि कारतूसों को गाय और सूअर की चरबी लगाई जाती है। दमदम का यह समाचार आग की तरह सब ओर फैल गया। हर सिपाही को अपने हाथों में गाय और सूअर की चरबी लगी दिखने लगी। और हर लश्करी शिविर में ईसाई लोगों के इस षड्यंत्र से हर एक को अपने धर्म और अपने अस्तित्व का एक क्षण का भी भरोसा नहीं रहा। यह देखकर अंग्रेजी सरकार घबरा उठी और उसने अपना कुकृत्य छिपाने के लिए ऐसी झूठी और नीच बातें कहना शुरू किया जिससे कि मनुष्य जाति को कालिख पुती रहे। कारतूसों को गाय और सूअर की चरबी लगाई हुई थीं, यह जब अस्वीकार करना कठिन हो गया, तब हिंदुस्थानी सरकार के लश्करी सचिव बर्च ने सरकारी घोषणा की कि मेरठ और दमदम में तैयार होनेवाले नए कारतूस हमने अभी तक बिलकुल नहीं बाँटे हैं। उसका यह कथन बिलकुल झूठ था। अंबाला, सियालकोट और बंदूकों के प्रशिक्षण के लिए चलाए गए नए लश्करी वर्गों में ये चरबी लगे कारतूस सन् १८५६ से ही भेजे जा रहे थे। अंबाला डिपो में २२,५०० और सियालकोट को १४,००० कारतूस २३ अक्तूबर, १८५६ को भेजे गए, फिर भी कर्नल बर्च जनवरी १८५७ में सरकारी घोषणा करता है कि कारखाने से एक भी कारतूस नहीं भेजा गया। जहाँ लश्करी वर्ग चल रहे थे वहाँ नई बंदूकों के प्रशिक्षण में इन कारतूसों का उपयोग नहीं किया गया, यह असंभव था। इसके पहले लिखा जा चुका है कि सन् १८५३ में यही कारतूस भारतीय सिपाहियों को कोई जानकारी न देते हुए उपयोग के लिए दिए गए थे। गुरखा पलटन में तो ये कारतूस खुलेआम बाँटे गए थे। फिर भी बर्च किसी उस्ताद उचक्के जैसा सीना तानकर कहता है कि चरबी लगा एक भी कारतूस नहीं बाँटा गया था।[१]

भोले सिपाहियों को चाहे जैसी लुका-छिपी कर धोखे में रखना चाहनेवाली सरकार का यह प्रयास विफल हो जाने पर अब सिपाही को ऐसी अनुमति दी गई कि वे चाहे कोई भी चिपचिपी वस्तु अपने कारतूसों में स्वयं ही लगा लें। इस अनुमति का परिणाम जो होना था वही हुआ। सरकार द्वारा चरबी लगाने की जिद इतनी जल्दी छोड़ देने का अर्थ है कि एक तरफ चुप करके दूसरी ओर से छल करने की उसकी योजना होगी—ऐसा उनको पक्की तरह लगने लगा। चरबी की जगह पर चाहे कोई भी चिपचिपी वस्तु लगाने को कहा अवश्य गया, परंतु जिस सरकार ने

---

१. ''ठीक अंतिम समय पर कर्नल बर्च सिपाहियों को यह आश्वासन देने हेतु आगे आया कि उन्हें दिए गए किसी कारतूत में चरबी नहीं लगाई गई है। उसका यह कथन सर्वथा मिथ्या था। सिपाही इससे धोखे में आनेवाले नहीं थे। जैसाकि एक साहसी लेखक ने लिखा है कि 'सरकार तो केवल झूठ का पुलिंदा ही खोल रही है।' ''

—बंगाल के एक हिंदू का पत्रक, १८५७

चुपके से चरबी में गाय का और सूअर का मांस डाला था वह सरकार इन कारतूसों पर लगे कागज पर वैसा चिपचिपापन लाने के लिए ऐसा ही कोई धर्मबाह्य पदार्थ लगाने का प्रयास नहीं करेगी, इसको कैसे माना जाए? अत: ये कारतूस किसी भी मूल्य पर नहीं लेना है, यह दृढ़ निश्चय सब लोगों को करना चाहिए।

पर यह निश्चय हो गया तो भी इतने से मुख्य आपदा तो टलनेवाली नहीं है। बहुत हुआ तो ये कारतूस नहीं दिए जाएँगे। परंतु इनके स्थान पर कल कोई दूसरी आपदा आएगी। अर्थात् इन कारतूसों को न लेने से भी धर्म पर आई वास्तविक आपदा टलनेवाली नहीं है। गुलामी के नरक में गिरे लोगों का धर्म पवित्र कैसे रह सकता है! गाय की चरबी तो क्या, देशमाता की चरबी काटकर निकाली जा रही है—इस बात को भुला देनेवालों का धर्म जीवित कैसे रह सकता है? सद्धर्म स्वर्ग में रहता है और गुलामी में पड़े लोग नरक में रहते हैं। अत: यदि उन्हें धर्म चाहिए तो उन्हें गुलामी की गंदगी अपने और अपने शत्रुओं के रक्त से धोकर साफ करनी चाहिए।

इसलिए अब कारतूस लें या न लें, हे हिंदुस्थान, धर्मरक्षण यदि आवश्यक हो, धर्म के उद्देश्य के लिए मानव का जो प्रगमन आवश्यक है उसे साधने का यदि तेरा हेतु हो और यदि अपमान पर तुझे लज्जा आती है, तो इस गुलामी को भंग करने को तैयार हो जा। धर्म के लिए मर, मरते-मरते सबको मार और मारते-मारते स्वराज्य प्राप्त कर। सन् १८५७ का वर्ष उदय हो चुका है, इसलिए उठ! हिंदुस्थान उठ! और स्वराज्य प्राप्त कर!

□

प्रकरण–७

गुप्त संगठन

जैसाकि पिछले अध्याय में वर्णन किया गया है, जब सारे हिंदुस्थान में क्रांति की सामग्री इधर–उधर तैयार हो रही थी तब उस सामग्री की यथोचित योजना कैसे तैयार की जाए और उसमें क्रांतियुद्ध का भवन किस तरह बनाया जाए, इसका नक्शा ब्रह्मावर्त में तैयार हो रहा था।

पूर्व प्रकरण में हमने अजीमुल्ला खान को यूरोप प्रवास पर छोड़ दिया था। उस प्रवास में जाने के पहले लंदन में उसी समय सातारा की गद्दी का झगड़ा सुलझाने हेतु रंगो बापूजी नामक एक चतुर और कर्मठ सज्जन गए हुए थे, उनसे अजीमुल्ला खान ने भेंट की। सातारा की गद्दी का प्रेत दहन करने आए हुए रंगो बापूजी और पेशवा की गद्दी का प्रेत दहन करने आए हुए अजीमुल्ला खान, इनकी उन दोनों इतिहास प्रसिद्ध गद्दियों के प्रेत संस्कार के समय क्या वार्त्ता हुई, अपने देश का सर्वनाश करनेवाले फिरंगियों की पिटाई करने के लिए उन्होंने कैसी शपथें लीं और हिंदुस्थान में लौटकर सातारा में रंगो बापूजी ने और ब्रह्मावर्त में अजीमुल्ला खान ने प्रचंड युद्ध की रचना करने के लिए क्या–क्या मंत्रणा की, इतिहास कभी भी यह शब्दशः नहीं बता पाएगा, फिर भी सन् १८५७ का युद्ध हुआ यह जितना सत्य है—इस युद्ध की योजना लंदन में अजीमुल्ला खान और रंगो बापूजी ने बनाई थी, यह बात भी उतनी ही सत्य है। लंदन से रंगो बापूजी सीधे सातारा को लौट गए और उत्तर की ओर ब्रह्मावर्त में जिस भवन का निर्माण हो रहा था उस भवन के निर्माण की सामग्री जुटाने लगे। परंतु अजीमुल्ला खान सीधे हिंदुस्थान न आकर यूरोप में प्रवास करने लगे। उस समय क्रिमिया द्वीप में अंग्रेजों का रूस से घमासान शुरू था और रूसी भालुओं के पंजों तले ब्रिटिश शेर भी गाय बनता जा रहा था। अजीमुल्ला खान को यह समाचार ज्ञात होते ही उसके मन में घुमड़ते महान् कार्य को बल

मिला। स्वदेश के सीने पर नाचते अंग्रेज शेर को रूस ने कहाँ तक घायल किया है, उसके कितने पंजे काटे हैं तथा शेष को काटने के लिए अपने प्रिय हिंदुस्थान में होनेवाले प्रयासों में रूस की कितनी सहानुभूति या सहयोग प्राप्त करना संभव है, इसकी प्रत्यक्ष जानकारी प्राप्त करने अजीमुल्ला खान क्रिमिया द्वीप गए।

यूरोप के प्रवास से अजीमुल्ला खान के हिंदुस्थान लौटने के बाद ब्रह्मावर्त के राजभवन में निराला ही वातावरण बन गया। सारे हिंदुस्थान पर विजय-आनंद से लहरानेवाला पेशवाओं का वह ध्वज 'जरी पटका' आज तक उस राजभवन में धूल खाता पड़ा हुआ था। जिसके सुर सुनकर लाखों मराठी तलवारें रणांगण में शत्रु पर टूट पड़ती थीं, वह दुंदुभि उस राजभवन में वीर रस को त्याग करुण रस के सुर निकालने लगी थी। वह देशव्यापी राजमुद्रा भी, जिसके मुद्रण पर दिल्ली की घटनाएँ अवलंबित थीं, अपने स्वयं के वैधव्य पर सिक्का मारते पड़ी थी। परंतु अजीमुल्ला खान के यूरोप से लौटते ही ऐसा लगने लगा जैसे उन वस्तुओं को एक विलक्षण चैतन्य प्राप्त हुआ हो। धूल खाती हुई जरी पटके में फिर से चमक मारने लगी और श्रीमंत नाना साहब के उस तेजस्वी, चपल और उग्र नेत्रों में असह्य अपमान से उत्पन्न हुए प्रतिशोध से अधिक उग्रता एवं 'तस्मात् युद्धाय युज्यस्व' की चेतना से अधिक तेजस्विता आने लगी। 'तस्मात् युद्धाय युज्यस्व' क्योंकि स्वराज्य की होली हो चुकी है। तस्मात् युद्धाय युज्यस्व! क्योंकि स्वदेश में, इस अपने हिंदुस्थान में फिरंगी चोरों की बढ़त हुई है। तस्मात् युद्धाय युज्यस्व— स्वधर्म को पैरों तले कुचला जा रहा है और स्वतंत्रता का हनन हो रहा है। तस्मात् युद्धाय युज्यस्व! स्वदेश स्वतंत्रता आज तक किसीको भी युद्ध के बिना प्राप्त नहीं हुई। छत्रपति को जिसके लिए ताना की बलि देनी पड़ी थी, वह स्वराज्य का सिंहगढ़ युद्ध के बिना कभी नहीं मिलेगा। धर्मरक्षा के लिए जो स्वराज्य संपादन नहीं करता वह महाराष्ट्र धर्म का असल मराठा नहीं और जो महाराष्ट्र धर्म का असल मराठा है वह, स्वराज्य संपादन का जो एकमात्र मार्ग है उस समर-मार्ग में कूदने से कभी भी पीछे हटनेवाला नहीं। एतदर्थ युद्धाय युज्यस्व! श्री छत्रपति द्वारा प्रारंभ किए गए स्वतंत्रता यज्ञ के होता का कंकण बाँधने जो हाथ आगे आता है वह हमेशा ही धन्य है।

हतो वा प्राप्यसि स्वर्गं, जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्!
तस्मात् युद्धाय युज्यस्व!!

ऐसी दैवी चेतना श्रीमंत नाना साहब के नेत्रों को अधिक उग्रता और अधिक तेजस्विता देने लगी। श्री शिवराय को जो कर्तव्य निभाना पड़ा वही महान् कार्य

अपने हिस्से में आया है इसलिए जय या पराजय जो भी मिले, मुझे तो स्वतंत्रता का नूतन 'शिवराज' या प्रथम पेशवा का मान बढ़ानेवाला अंतिम पेशवा बनना है— उनके मन ने यह दृढ़ निश्चय किया।

अपने देश और स्वराज का भविष्य निश्चित करने का वीरोचित निर्णय हो जाने के बाद श्रीमंत नाना का एकमात्र लक्ष्य था उस निर्णय को कार्य-रूप देना। स्वराज्य प्राप्ति के लिए जो क्रांतियुद्ध लड़ना है उसे सफलता मिले, इसके लिए दो बातें अनिवार्य थीं। पहली बात हिंदुस्थान के समस्त लोगों में स्वतंत्रता की जंगी और अनिवार्य इच्छा उत्पन्न होना और फिर उस इच्छा की सिद्धि के लिए—एक ही समय में पूरे देश द्वारा विद्रोह करना; हिंदुस्थान के इतिहास को स्वतंत्रतागामी करना, ये दोनों ही काम विदेशियों को चकमा देकर ही किए जा सकते थे। क्योंकि जिस किसी परतंत्र देश के मन में स्वतंत्रता संग्राम छेड़ने की इच्छा हो उस देश में उस संग्राम की तैयारी गुप्त रीति से ही करनी पड़ती है। अन्यथा आत्म में ही अमोघ शक्ति से हमला कर बलवान शत्रु उस प्रयास को चूर-चूर कर सकता है। यह ऐतिहासिक सत्य जानकर दोनों महान् विभूतियों श्रीमंत नाना साहब और अजीमुल्ला खान ने सन् १८५६ के प्रारंभ में स्वतंत्रता के लिए हिंदुस्थान को तन और मन से जाग्रत करने के लिए युद्ध संगठन बनाया।

हिंदुस्थान में जितने राजे-रजवाड़े हैं उन सभी में यदि अंग्रेजों के विरुद्ध उठने की इच्छा उत्पन्न हो गई तो एक क्षण में ही अपना देश अपने हाथ आ जाएगा। यह तथ्य नाना के ध्यान में पहले ही आ गया था। इन हिंदुस्थानी सिरचढ़े राजाओं से आगे-पीछे अंग्रेजी राज को धोखा होगा, यह जानकर ही अंग्रेजी सरकार एक के बाद दूसरी रियासत छीनती चली जा रही है, यह वास्तविक स्थिति सारे राजे-रजवाड़ों के आगे रख उनके मन को स्वतंत्रतागामी करने के लिए नाना ने हर दरबार में अपना दूत भेजना प्रारंभ किया। कोल्हापुर, दक्षिण की सारी पटवर्धनी रियासतों, अयोध्या के जमींदारों और दिल्ली से मैसूर तक की सारी राजधानियों में नाना के दूत और उनके पत्र सारे हिंदुस्थान को स्वतंत्रता युद्ध के लिए उठने की चेतना देते हुए घूम रहे थे। अंग्रेजी सत्ता के नीचे स्वराज्य और स्वधर्म की कैसी छीछालेदर होती जा रही है, जो रियासतें आज जीवित हैं, वे भी कल किस तरह नामशेष होनेवाली हैं तथा अंग्रेजों की विश्वासघाती गुलामी में अपने प्राणप्रिय हिंदुस्थान की कैसी बरबादी हो रही है—यह सब स्पष्ट और मार्मिक रीति से जनता के मन में भरते हुए मौलवी, पंडित एवं राजनीतिक संन्यासी सारे हिंदुस्थान भर में गुप्त रीति से विचरने लगे। दासता और गुलामी के प्रति गुस्सा उत्पन्न करते हुए यह दास्य नामशेष करना कितना सुलभ है, हिंदुस्थान के हृदय में हिंदुस्थान की तलवार ही कैसे धँसाई जा

रही है और हिंदुस्थानी लोग स्वदेश के लिए मर मिटने के लिए तैयार हो जाएँ तो एक क्षण में उन्हें अपना देश फिरंगियों के चंगुल से मुक्त करना कितना सरल है— यह सब राजा से रंक तक हर भारतीय हृदय को वे राजनीतिक संन्यासी भली प्रकार समझाकर कहते थे। हम सब देशबंधु एक हो जाएँगे तो मुट्ठी भर गोरों को धूल चटाकर स्वदेश को क्षण भर में स्वतंत्र कर सकते हैं, यह आत्मविश्वास हर सिपाही और हर नागरिक के मन में इन राजनीतिक संन्यासियों ने किस तरह उत्पन्न किया था, यह उस समय के देशभक्तों के उद्‌गार में पग-पग पर दिखता है। काली नदी की लड़ाई में हारे हुए अंग्रेजों ने प्रश्न किया कि 'हमारे विरुद्ध उठने की तुम्हारी हिम्मत कैसे हुई?' इस अक्खड़ प्रश्न के उत्तर में सिपाहियों ने कहा—"हिंदुस्थानी सिपाही एक हो गया तो गोरा चटनी के लिए भी नहीं मिलेगा।"

अंग्रेज सरकार ने सन् १८५७ के प्रारंभ में ही सिपाहियों की चिट्ठियाँ खोलनी शुरू कर दी थीं। उन पत्रों में से एक पत्र हिंदुस्थान के लोगों की शक्ति के संबंध में कहता है—"विदेशियों को हम ही सिर चढ़ाए हुए हैं! यदि हम उठे तो फिरंगियों के मुट्ठी भर लोगों को तलवार के एक झटके में गारद कर सकते हैं। कलकत्ते से पेशावर तक मैदान साफ है।"

श्रीमंत नाना साहब के स्वयं के हस्ताक्षर के पत्रों ने और ब्रह्मावर्त से भेजे गए संन्यासियों ने ऐसी उदात्त आत्मनिष्ठा के बीज भारतीय मन में बो दिए। परंतु आज उपलब्ध जानकारी से ऐसा दिखता है कि अयोध्या का राज्य अधिग्रहीत होने तक इन बीजों में जोरदार अंकुर नहीं फूटे थे।[१]

---

१. विभिन्न प्रांतों में भेजे गए राजकीय दूतों में से एक दूत मैसूर में पकड़ा गया। उसका कहा निम्न भाग बहुत महत्त्वपूर्ण होने से पूरा-का-पूरा यहाँ दिया जा रहा है—"श्रीमंत नाना ने अयोध्या अधिग्रहीत होने के पूर्व दो-तीन माह से पत्र-प्रेषण शुरू किया था। परंतु पहले उन्हें उत्तर नहीं आए। किसीको भी आशा नहीं थी। अयोध्या का राज्य अधिग्रहीत हो जाने पर नाना ने पत्रों की अधिक मार की तब जाकर केवल लखनऊ के साहूकार नाना के विचार पढ़ने लगे। पुरबिया लोगों का राजा मानसिंह भी मिल गया। फिर सिपाही लोगों ने अपनी-अपनी 'तजवीजें' करनी शुरू कीं और लखनऊ के साहूकारों से उन्हें सहायता मिलने लगी।" अयोध्या अधिग्रहीत होने तक बिल्कुल उत्तर नहीं आया परंतु वह राज्य अधिग्रहीत होते ही सैकड़ों लोगों ने हिम्मत से आगे आकर नाना को वचन-पत्र भेजे। सिपाहियों की तजवीजें पहले से ही शुरू हो गई थीं। फिर कारतूसों की घटना हुई और उस असंतोष पर नाना के पत्रों की बरसात होने लगी। जम्मू के गुलाब सिंह ने—मैं सेना और खजाना लेकर तैयार हूँ—ऐसा पत्र लिखा। और लखनऊ के साहूकारों ने धनराशियाँ भी भेज दीं।

सन् १८५६ में अयोध्या का राज्य अधिग्रहीत होते ही अकस्मात् सब लोगों में परतंत्रता के प्रति घृणा उत्पन्न हुई। स्वतंत्रता का रम्य एवं पुण्य दर्शन श्रीमंत नाना की तीक्ष्ण दृष्टि को इसके पहले ही हो चुका था और गुलामी की गंदगी की दुर्गंध बड़ी दूर से उन्हें आने लगी थी। परंतु जड़बुद्धि सामान्य जनसमूह प्रत्यक्ष साक्ष्य के बिना उसे ग्रहण न कर सका। फिर भी अयोध्या का राज्य अधिग्रहीत होते ही हर कोई अपने अस्तित्व को धिक्कारने लगा और गुलामी में सड़ने की अपेक्षा मरना भला, ऐसी गर्जना कर अपनी तलवारों पर पानी चढ़ाने लगा। इसी समय हिंदुस्थान की इतिहास प्रसिद्ध राजधानी को भी मानो नई चेतना मिल गई और दिल्ली के राजमहलों में स्वतंत्रता संग्राम की मंत्रणाएँ शुरू हो गईं। दिल्ली के बादशाह की बादशाही लेकर ही अंग्रेज नहीं रुके अपितु उनकी 'बादशाह' की शाब्दिक पदवी भी उनके बाद न चले, यह भी तय कर लिया। ऐसी विपन्नावस्था में अपना पूर्व वैभव प्राप्त करने हेतु एक बार अंतिम प्रयास करके देखें और मरना ही है तो बादशाही की शान से मरें—ऐसा विचार राजमहल में होने लगा। इस काम में प्रमुख इसलामी सत्ताओं की सहायता मिले इसलिए मैं सुन्नी पंथ छोड़कर अयोध्या के नवाब और ईरान के शाह का शिया पंथ स्वीकार करता हूँ, ऐसी घोषणा भी बादशाह ने की। इसी समय अंग्रेजों की ईरान से लड़ाई शुरू हुई। हिंदुस्थान में भी उसी समय विद्रोह होना अपने लिए लाभदायक है, यह देखकर ईरान के शाह ने सन् १८५६ में दिल्ली के बादशाह की सहायता करने का वचन लिख भेजा। इतना ही नहीं सन् १८५७ के प्रारंभ में दिल्ली की मसजिदों से इसी प्रकार की सार्वजनिक घोषणाएँ होने लगीं—''फिरंगियों के कब्जे से हिंदुस्थान को मुक्त करने ईरानी फौज जल्दी ही आ रही है इसलिए बूढ़े, जवान, छोटे-बड़े, सुशिक्षित-अशिक्षित, रैयत और लश्कर सारे लोग इन काफिर लोगों के शिकंजे से मुक्त होने के लिए रणांगण में कूद पड़ें।''[१]

इस घोषणापत्र को सारे भारतीय समाचारपत्रों ने प्रकाशित किया और दिल्ली के लोगों में क्रांतियुद्ध की लहर दौड़ गई। दिल्ली के बादशाह के सचिव मुकुंदलाल कहते हैं—''राज मंदिर के द्वार पर और महल में मुगल खुले मन से युद्ध की चर्चा करते रहते थे। सिपाही जल्दी ही विद्रोह कर राजमहल की ओर आएँगे और फिरंगियों का जुआ उतार फेंककर फिर से अपना राज्य स्थापित करेंगे ऐसी निश्चयपूर्वक बातें वे करते और अपना राज्य हो जाने पर अपने देश की सारी सत्ता एवं सारे अधिकार अपने ही हाथों में रहेंगे ऐसी आशा से सब लोग उत्साहित हो

---

१. के कृत—'इंडियन म्युटिनी', खंड २, पृष्ठ ३०।

जाते।'' इस लोक जागृति को उत्तेजना देने के लिए शाहजादे और राजवंश के अन्य पुरुषों ने अलग-अलग उपाय किए और दिल्ली में क्रांति की ज्वालाएँ सब ओर से सुलगने लगीं।

इस तरह दिल्ली के दीवाने-आम में और ब्रह्मावर्त के राजमंदिर में स्वतंत्रता संग्राम की गुप्त तैयारी हो रही थी। हिंदुस्थान की क्रांतिकारी शक्तियों को इकट्ठा और संगठित करने के लिए इन दो राजमहलों से जो प्रचंड प्रयास चल रहे थे वे इतने गुप्त रीति से किए जा रहे थे कि अंग्रेजों जैसे धूर्त लोगों को भी सन् १८५७ में तोपों की गड़गड़ाहट होने तक उसकी रत्ती भर भनक नहीं थी। हजारों रुपयों की तनख्वाह और हाथियों का पुरस्कार देकर इस राजनीतिक जिहाद का उपदेश करने के लिए बड़े-बड़े मौलवी भेजे गए। वे गाँवों और शहरों में इस राजनीतिक धर्मयुद्ध का उपदेश गुप्त सभाओं में देते हुए घूमते थे। सिपाहियों के शिविरों में रात को इनके व्याख्यान होते थे। लखनऊ की मसजिदों में मौलवी जिहाद शुरू करने संबंधी खुले भाषण किया करते। पटना और हैदराबाद में रात में सभाएँ होतीं और विभिन्न मौलवी सब स्तर के लोगों को स्वतंत्रता की रक्षा करने और स्वधर्म के लिए युद्ध करने की शिक्षा देते थे। जिनके पवित्र नाम से अपने हिंदुस्थान देश का इतिहास भूषित हुआ और जिनके पावन चरित्र का कथन आगे यथाप्रसंग किया जानेवाला है, उन देशभक्त मौलवी अहमदशाह को लखनऊ में हिंदू और मुसलमानों को फिरंगियों के विरुद्ध एक साथ विद्रोह करने का खुला उपदेश देने के कारण फाँसी का दंड दिया गया था।

उपरोक्त मौलवी की तरह ही सैकड़ों प्रचारक फ़कीरों और संन्यासियों का बाना धारण कर स्थान-स्थान पर गुप्त प्रचार करने लगे। भीख माँगने के बहाने हर घर में जाना सुलभ होने से और इस तरह शत्रु के मन में किसी तरह की आशंका उत्पन्न न होने के कारण ये देशभक्त फकीर और संन्यासी दर-दर घूमकर दासता के प्रति घृणा और भावी स्वतंत्रता की अभिलाषा लोक समूह में प्रदीप्त किया करते थे। विशेषत: सेना में इन लोगों का उपयोग बहुत था। क्योंकि हर टुकड़ी में एक पंडित और एक मुल्ला धार्मिक कार्यों के लिए रखना अनिवार्य होने से उस स्थान पर यही लोग जाकर बैठते थे। सिपाहियों के मन पर उनके धर्मगुरु का दबाव और प्रभाव होने से इन्हीं लोगों के द्वारा स्वतंत्रता के पवित्र धर्म की दीक्षा देना आवश्यक था। स्वतंत्रता के बिना धर्मरक्षण असंभव है, यह मर्म जानकर हजारों धर्मगुरु इस राजनीतिक जिहाद का आह्वान करने आगे आए। यह हिंदुस्थान के इतिहास के लिए हमेशा-हमेशा के लिए अभिमान की बात है। मेरठ में सन् १८५७ के अप्रैल माह में ऐसा ही एक देशभक्त फकीर वहाँ की सैनिक छावनी में आया। उसके पास हाथी-घोड़े

आदि तथा अन्य सरंजाम भी था। वहाँ के सिपाहियों को राजनीतिक जिहाद की दीक्षा देने में वह मग्न था—परंतु अंग्रेज अधिकारियों को उसपर शंका हुई और उन्होंने उसे वहाँ से निकल जाने का आदेश दिया। यह आदेश होते ही फकीर वहाँ से तो निकल गया परंतु पास के ही एक गाँव में घुसकर फिर अपनी गुप्त रचना का कार्य करने लगा।[१] ऐसे कितने ही स्वतंत्रता के भक्त लोग अपनी जान हथेली पर लिये उस अपार रचना का गुप्त कार्य बड़े कौशल से कर रहे होंगे। परंतु वे…थे कौन? कहाँ के? यह भी स्मृति आज जनता में नहीं रही—हाय हाय!!

जिस प्रकार मसजिद, मंदिर और भिक्षा के बहाने घर-घर में स्वतंत्रता की चेतना उत्पन्न करने मौलवी और पंडित, फकीर और संन्यासी भेजे गए वैसे ही विभिन्न स्थानों से अधिक महत्त्व के स्थान पर उपदेशकों और शिक्षकों को भेजा गया था। हिंदुस्थान में विभिन्न प्रदेशों के लोगों के एकत्रित होने के मुख्य स्थान बड़े-बड़े तीर्थ क्षेत्र हैं। ये क्षेत्र एक प्रकार से सारे प्रदेशों के लोगों के राष्ट्रीय सम्मेलन-स्थल ही हैं। मसजिदों में स्थानीय लोग ही आएँगे परंतु तीर्थों में भी राजकीय महंत नियुक्त किए गए और जल्दी ही गंगा के पुण्य स्नान के लिए आनेवाले हजारों बंधुओं को हिंदुस्थान के मन में मचल रहे स्वतंत्रता युद्ध में सम्मिलित होने का गुप्त उपदेश देते-देते पंडित लोग प्रत्येक तीर्थ में घूमने लगे।[२]

विराट् जनसमूह के मन में एक ही इच्छा उत्कटता से उत्पन्न करने और उसकी अक्षय मुद्रा उनके हृदय पर अंकित करने के लिए कविता जैसा उत्तम साधन नहीं है। मार्मिक शब्द और आकर्षक पद्धति से पद्य में गुँथा हुआ सत्य जनता के हृदय में बहुत तेजी से अंकुरित होता है। इसीलिए राष्ट्रगीत की महत्ता बहुत मानी जाती है। राष्ट्रगीत राष्ट्र के हृदय की भावना एक वाक्य में प्रकट कर सकते हैं। जब-जब किसी प्रबल भावना से राष्ट्रीय आत्मा छटपटाने लगती है तब-तब उससे निकले सहज बोल ही तो राष्ट्रगीत हो जाते हैं। फ्रांस की राष्ट्रीय आत्मा के बोल हैं—ला मार्सेलीज। सन् १८५७ में स्वधर्मरक्षण की उदात्त भावना से भारत भूमि की आत्मा फड़फड़ाते समय उसके मुख-मार्ग से ऐसा कोई राष्ट्रगीत निकला न होता तो आश्चर्य ही होता। दिल्ली के बादशाह के एक निजी गवैया ने सारे हिंदुस्थान के कंठ से निनादित होनेवाले एक राष्ट्रगीत की रचना स्वयं की थी।[३] अपने पूर्वजों के

---

१. मि. विलियम कृत—'दि मेरठ नैरेटिव'।

२. ट्रेवेलियन कृत—'कानपुर'।

३. ''दिल्ली के राजमहल से बहुत पहले ही एक राजाज्ञा प्रसारित की गई थी, जिसमें मुसलमानों को यह निर्देश दिया गया था कि वे अपने सभी महत्त्वपूर्ण समारोहों पर एक गीत का गायन करें

पराक्रम का वर्णन करने के पश्चात् उस राष्ट्रगीत में वर्तमान की अवनति को करुण रस में चित्रित किया गया था। जो लोग एक दिन हिंदुस्थान के इस छोर से उस छोर तक विजयशाली वैभव से अभिषिक्त हुए थे उन्हीं लोगों को आज विश्व में गुलाम कहलाने की बारी आए, उनका धर्म अनाथ हो जाए और उनके अभिषिक्त सिर विदेशियों के पैरों तले कुचले जाएँ—इस विपरीत और लज्जास्पद स्थिति के लिए उस राष्ट्रगीत में भारत माता आक्रोश कर रही थी। परंतु अब उसका यह आक्रोश हमें सुनाई देगा क्या? क्या अब वह सन् १८५७ का गीत हम फिर सुन सकेंगे? उस राष्ट्रगीत का प्रारूप यदि कोई खोजकर निकाले तो अपने इतिहास पर उसके अक्षय उपकार होंगे। तब तक इतिहास इतना ही कहता है कि अपनी धरती माता सन् १८५७ में आक्रोश कर रही थी और कानपुर के मैदान में कूदते समय नाना के कान में वही आक्रोश भयंकर रूप से गूँज रहा था।

विस्तीर्ण रचना के साधन भी विस्तीर्ण ही होते हैं। जर्जर हुई मातृभूमि को मदोन्मत्त अत्याचारों के हाथ से छुड़ाने जैसा कठिन कार्य करने के लिए पहली मूलभूत एवं महत्त्वपूर्ण कोई बात है तो वह है सब लोगों का मन:प्रवर्तन। वस्तुस्थिति में क्रांति करनी हो तो सबसे पहले मन:स्थिति पर विजय पानी चाहिए। यह मन:क्रांति संपादित करने के लिए मन की ओर जो भी रास्ते जाते हैं उन सारे रास्तों पर क्रांति की चौकियाँ स्थापित करनी चाहिए। मानव मन सहज ही उत्सवप्रिय होता है अत: सामान्य जनसमूह को वश में करने के लिए उत्सव के अतिरिक्त दूसरा राजमार्ग नहीं दिखता। इन उत्सवों को शक्कर में घोलकर सिद्धांतों की गोली दी जाए तो समाज का बालमन उसे रुचि से गटक लेता है और उससे रोग भी ठीक हो जाते हैं। ऐसे गहरे विचार से उस गुप्त संगठन के कार्य में विभिन्न चित्ताकर्षक उत्सवों से सामान्य जन को स्वतंत्रता युद्ध की शिक्षा देने की व्यवस्था की गई थी। विभिन्न प्रकार के चित्रों के खेल तैयार कर, स्वधर्म की और स्वतंत्रता की कैसी अवहेलना हुई है—इसका हूबहू नाटक उन चित्रों द्वारा प्रस्तुत कराया जाता था; और उस सारे अपमान, गुलामी और परतंत्रता का प्रतिशोध किस तरह लिया जाए इसके

जिसकी राज-दरबार के संगीतज्ञ ने रचना की है, जिसमें बड़े ही मार्मिक शब्दों में उनकी जाति के पराभव और उनके उस प्राचीन धर्म की अवमानना का वर्णन उपलब्ध है जो कभी उत्तर की हिममालाओं से दक्षिणी राज्यों तक व्याप्त था; किंतु जो अब शैतानों और विदेशियों द्वारा पददलित किया जा रहा है।'' —ट्रेवेलियन कृत—'कानपुर'। मेरे मत से—वृत्ति का अभिप्राय समझ पाने में पूरी तरह असमर्थ ग्रंथकार को इतना लिखना ही पड़ा, यह उस राष्ट्रगीत की सुंदरता का परिचायक है।

उद्दीपक और अनिवार्य चेतना देनेवाले चरित्र इन तारों से बँधी गुड़ियों से दर्शाए जाते थे। चौपाल, पनघट, चौकी, धर्मशाला आदि बस्ती की खुली जगह में वीर रसोत्पादक गीत आदि गाकर लोगों को चेताया जाता था। उत्तर हिंदुस्थान का अति प्रिय गीत आल्हा, जिसे सुनने पर आठ दिन में कहीं-न-कहीं लड़ाई होनी ही चाहिए ऐसी धारणा है, वह वीर रस से भरा गीत गाते-गाते लोगों की बाँहें फड़कने लगीं। पूर्वजों के पराक्रम के स्मरण से जब उनका रक्त खौलने लगता तो तुरंत विषय घुमाकर वर्तमान दासता की पूरी बात प्रस्तुत की जाती, इसपर जो हर-हर महादेव की गर्जना न करे ऐसा कापुरुष कौन होगा?

राष्ट्रकार्य के लिए केवल उस राष्ट्र के पुरुषों की अनुमति होने से ही बात पूरी नहीं होती। इसके लिए तो पुरुषों को जन्म देनेवाली कोख में भी राष्ट्रक्षोभ के बीज अंकुरित होना आवश्यक है। भारतीय महिलाओं की शूरता कितनी सहायक होती है—यह सिखों का और राजपूतों का इतिहास अभिमानपूर्वक कहता है। भारतीय स्त्रियों की मन:सामर्थ्य संपादन हेतु इस गुप्त संगठन के कार्यक्रम में वैदू लोगों की महिलाओं को लगाया गया था।[१] इन वैदू महिलाओं की घरेलू दवाइयों एवं सामान्य ज्योतिष कार्य के लिए हिंदुस्थान के सामान्य वर्ग की महिलाओं में हमेशा आवाजाही होती है। अत: भारतीय स्त्रियों को ऐसी दवाई देने के लिए जिससे अपनी मातृभूमि का यह गुलामी का रोग ठीक हो और वह दवाई देने पर गुलामी का भूत माँ को कब छोड़ेगा और यह भूत-बाधा उतरते ही उसे स्वतंत्रता का सुंदर बालक कब उत्पन्न होगा, यह भविष्य बताने का कार्य ये वैदू महिलाएँ जितनी कुशलता से करती थीं उतना कोई धन्वंतरि भी नहीं कर सकता था। इन वैदू महिलाओं ने महिलाओं में और मौलवी तथा पंडितों ने पुरुष समाज में जिस तरह प्रचंड जागृति उत्पन्न कर दी, उसी तरह गाँव-गाँव घूमनेवाले तमाशेवालों ने भी इस राष्ट्रक्षोभ को बहुत बढ़ाया। ये तमाशगीर अपने खेलों में गुलामी से घृणा उत्पन्न करने का प्रयास करते थे। इस प्रकार हर तरह के और हर स्तर के लोगों में अंग्रेजी शासन पलट देने के लिए सन् १८५७ के उस गुप्त संगठन के प्रचंड प्रयास चल रहे थे।

इस संगठन के गुप्त केंद्र अब सब स्थानों पर फैल गए थे।[२] इस गुप्त संगठन

---

१. ट्रेवेलियन।

२. अपने विस्तृत इतिहास के अंत में मैलसन लिखता है—''इस षड्यंत्र का नेता निश्चित रूप से मौलवी ही था। इस संगठन की शाखाएँ संपूर्ण भारत में फैल गई थीं। निश्चित रूप से ही आगरा में, जहाँ यह मौलवी यदा-कदा रहता था और दिल्ली, मेरठ, पटना एवं कलकत्ता में भी जहाँ अवध का भूतपूर्व नवाब रहता था, इस क्रांति संगठन का प्रभाव प्राय: व्यापक ही था।''

की जिस राजभवन में प्रथम प्राणप्रतिष्ठा हुई उस ब्रह्मावर्त में तो उसकी बढ़त जोरदार ही रही थी; परंतु श्री नाना के और अजीमुल्ला के पत्रों ने और उपदेशकों ने अब हजारों स्थानों पर उस रचना की शाखाएँ खोल दी थीं। ब्रह्मावर्त में नाना का निवास आगामी मंगल कार्य की तैयारी में जैसे जुटा दिखता था वैसी ही दिल्ली के महल में भी तैयारी की धूमधाम थी। इधर लखनऊ और आगरा में उस देशभक्त–मौलवी अहमद शाह ने इस स्वतंत्रता संग्राम के जिहाद का प्रचंड केंद्र निर्माण किया था। पटना शहर में जिहाद के बीज इतने गहरे उतर गए कि वह सारा शहर जैसे किसी क्रांतिकारी दल का गढ़ बन गया। मौलवी, पंडित, जमींदार, किसान, व्यापारी, वकील, विद्यार्थी ऐसी सारी जातियाँ और सारे पंथ स्वधर्मार्थ और स्वदेशार्थ अपने प्राणदान करने की दीक्षा लेकर सज्जित हो गए थे और इस गुप्त रचना की अगुवाई करनेवालों में सबसे अग्रणी नेता एक पुस्तक विक्रेता था। कलकत्ता में तो स्वयं अयोध्या के भूतपूर्व नवाब और उनके मुख्य वजीर अली नक्की खान ठहरे हुए थे। उपरोक्त मुख्य वजीर ने सन् १८५७ की घटना में जितना धैर्य, चतुराई और साहस दिखाया उतना बहुत कम दिखा पाए होंगे। कलकत्ता में मुख्य काम—बैरकपुर, दमदम आदि स्थानों पर रह रहे सिपाहियों को राज्य क्रांति के लिए अनुकूल कर लेने का था। वह बहुत नाजुक काम अली नक्की खान ने इतनी सफाई से किया कि सन् १८५७ का वर्ष आते ही सारे सिपाही राष्ट्रकार्य में मिल जाने के लिए शिवजी का बेल-पत्र उठाकर या गंगाजल हाथ में लेकर या कुरान की कसम लेकर वचनबद्ध हो गए थे और अयोध्या के नवाब ने भी उन्हें उदारता का वचन दिया था। सिपाहियों के सारे ठिकानों पर रात को गुप्त बैठकें होतीं और वहाँ शपथ-विधि संपन्न होते ही दूसरे दिन उस रेजिमेंट का सूबेदार नवाब के यहाँ जाकर स्वतंत्रता संग्राम के लिए उनसे मिलने का वचन दे आता। इन सिपाहियों के मिलने के मुख्य स्थान मेरठ और बैरकपुर ही थे। उत्तर में जैसी संगठित और नियमित रचना थी वैसी ही दक्षिण में बनाने के लिए रंगो बापूजी प्रयासरत थे। पटवर्धनी रियासतों और कोल्हापुर के दरबार में क्रांतियुद्ध के लिए जाल बुना जा रहा था। अधिक क्या कहा जाए, परंतु ठेठ मद्रास तक इस क्रांतियज्ञ की ज्वालाएँ भड़कने लगी थीं। सन् १८५७ की जनवरी में निम्न घोषणापत्र प्रकाशित हुआ—''हे देशबंधुओ और धर्मनिष्ठो, उठो! काफिर अंग्रेजों को अपने देश से भगा देने के लिए सारे उठो! इन अंग्रेजों ने न्याय के सारे सिद्धांत मटियामेट कर दिए हैं। उन्होंने हमारा स्वराज्य लूट लिया है और स्वदेश को धूल में मिलाने का उनका दृढ़ निश्चय है। अंग्रेजों की इन भयानक यातनाओं से अपने हिंदुस्थान को मुक्त करने के लिए केवल एक ही उपाय शेष रह गया है और वह उपाय है तुमुल युद्ध करना। ऐसे युद्ध में जो रण-मैदान में खेत रहेंगे

वे अपने देश के शहीद होंगे। जो स्वदेश एवं स्वधर्म के लिए लड़ेंगे और मरेंगे उन वीर्यवान शहीदों के लिए स्वर्ग के दरवाजे खुल रहे हैं और जो डरपोक और देशद्रोही अधम इस राष्ट्रकार्य से परावृत्त होंगे उनके लिए नरक के द्वार खुले होंगे! देशबंधुओ, इनमें से तुम क्या स्वीकार करोगे?''[१]

ऐसी स्थिति में सन् १८५७ का उदय हुआ और ऐसी सूचनाएँ आने लगीं कि हिंदुस्थान में यत्र-तत्र सांकेतिक महत्कार्य का मुहूर्त आ गया। इसी समय कारतूसों का बखेड़ा खड़ा हुआ। हर एक सिपाही दिन में अपनी बंदूक को रगड़-रगड़कर साफ करता और रात होते ही अपनी रेजिमेंट के सूबेदार मेजर के बँगले पर आयोजित होनेवाली गुप्त बैठकों में जाकर स्वतंत्रता संग्राम के लिए शपथ लेने के लिए उत्सुक रहता। सिपाहियों के भिन्न-भिन्न रेजिमेंट परस्पर शपथ दिलाने के लिए भोज के कार्यक्रम आयोजित करते। इन भोजों के समय एक-दूसरे से योजना कही जाती और उन योजनाओं को फिर नाना साहब या अली नक्की खान को बताया जाता। कुछ रेजिमेटों में ऐसी क्रांति-घटना चलते हुए गलती या विश्वासघात से वह जानकारी सरकार के कानों तक गई तो एक-दो रेजिमेंटों को निःशस्त्र कर दूर कर दिया गया। बहुत बढ़िया! ये सारे सिपाही स्वयंसेवक बनकर गाँव-गाँव जाते और क्रांतियुद्ध के जिहाद का उपदेश करते। सिपाहियों के सब ठिकानों से वचन-पत्र भेजे जाते पर वे सब सांकेतिक भाषा में लिखे होते। अंग्रेज ये पत्र डाकखाने से चुराकर खोलते थे। सातवीं अयोध्या रेजिमेंट का अड़तालिसवें रेजिमेंट को भेजा गया वचन-पत्र ऐसा था—''रेजिमेंट के हमारे भाई का मत हमें स्वीकार है। कारतूसों के बारे में उनके जैसा ही व्यवहार करेंगे और समय आने पर टूट पड़ेंगे।''[२] बैरकपुर से सियालकोट जैसे दूर देश भेजे गए पत्र पकड़े गए थे। उनमें एक में बैरकपुर के सिपाही सियालकोट के सिपाहियों को लिखते हैं—''भाइओ, शत्रुओं के विरुद्ध उठो!''

रूसी क्रांति की तरह ही हिंदुस्थान के क्रांतियुद्ध में भी पुलिसवाले जनता से बहुत सहानुभूति बरतते थे। क्रांति के गुप्त संगठन यंत्र का प्रचंड पहिया अब तीव्र गति से घूमने लगा था। ऐसे समय में विभिन्न पहियों की गति एक लय में घूमने लगे, ऐसा प्रयास आवश्यक था। इसी उद्देश्य से क्रांति पक्ष का एक दूत हाथ में रक्त कमल पुष्प लेकर बंगाल की सैनिक छावनी में प्रवेश करता और अपने हाथ का फूल पहली टुकड़ी के मुख्य भारतीय अधिकारी को देता। भारतीय अधिकारी उसे अपने निचले आदमी को देता। और इस तरह वह कमल हर सिपाही के हाथ

---

१. चार्ल्स बाल कृत—'म्युटिनी', खंड १, पृष्ठ ४०।

२. रेड पैम्फलेट, खंड १।

से होकर अंतिम सिपाही तक और अंतिम सिपाही से फिर आए हुए उस क्रांतिदूत के हाथ लौट आता। बस! इतना काफी था! इस तरह एक शब्द भी बोले बिना वह क्रांतिदूत तीर की तरह आगे बढ़ता और रास्ते में दूसरी टुकड़ी मिलते ही उसके मुखिया के हाथ में वह रक्त कमल दे देता। इस रीति से कँवल काव्य में पूर्ण हुआ संगठन क्रांति के एक ही रक्तमय विचार से भर जाता। यह रक्त कमल मानो क्रांति की अंतिम राजमुद्रा ही थी। इस रक्त कमल को स्पर्श करते ही सिपाहियों के मन में किन भावनाओं का उछाल आता इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। वस्तुतः किसी महान् वक्ता को अपने अतुल्य शब्दों से श्रोताओं में जो वीर वृत्ति जाग्रत कर पाना कठिन था उस वीर वृत्ति का संचार इन लड़ाके सैनिको में उस निर्वाक् कमल पुष्प ने अपने रक्तिम वर्णीय संकेत से किया।

कमल पुष्प! शुचि, यश और प्रकाश का कविजनों का मान्य काव्य प्रतीक! और उसका वर्ण? रक्तोज्ज्वल!! उस पुष्प के स्पर्श मात्र से हृदय पुष्प विकसित हो उठे, इतना वह मृदुचेतन! सैकड़ों सिपाहियों द्वारा जब वह कमल पुष्प इस हाथ से उस हाथ में दिया गया होगा तब उस पुष्प के मूक वाक् संदेश से भी बहुत बड़े गूढ़ार्थ एवं उदात्त ध्येय की स्फूर्ति संचरित हो जाती होगी, यह बात निश्चित है। इस रक्त कमल के कारण सबके हृदय सच में एक हो गए। क्योंकि बंगाल में सिपाही और किसान दोनों ही एक ही बात बोलते हुए दिखाई देते कि 'सबकुछ लाल होगा!' और यह कहते हुए उनकी आँखों में कुछ ऐसी हलचल होती कि—उनके उस बोल में कुछ गहरा अर्थ छिपा है यह बात तत्काल प्रतीत हो जाता। 'सबकुछ लाल होगा!' सब ओर अब लाल होना है।[१]

उस रक्त कमल और उसके द्वारा संचरित भावना ने हर व्यक्ति के हृदय में एक ही ध्वनि का निर्माण किया था। सिपाही द्वारा सिपाही को लिखे पत्र भी इसी रीति से लिखे होते थे। परंतु इस संगठन के नेताओं के पत्र अत्यंत महत्त्वपूर्ण होते थे अतः उन्हें बहुत सावधानी से लिखा जाता। अधिकतर योजना एवं रचना प्रत्यक्ष व्यक्ति भेजकर ही निश्चित की जाती। परंतु पत्र भेजना ही हो तो अत्यंत अस्पष्ट भाषा में लिखे जाते थे। इतना ही नहीं अपितु ये अस्पष्ट पत्र पकड़े जाने पर कदाचित् मुश्किल हो जाएगी इसलिए चतुर नेता लोग अपना सारा पत्राचार सांकेतिक भाषा में ही करते थे। कुछ बूँदों की और आँकड़ों की लिपि बनाकर उसका इस गुप्त संगठन में उपयोग किया जाता।[२]

---

१. ट्रेवेलियन कृत—'कानपुर'।

२. इन्स कृत—'सेपॉय रिवॉल्ट', पृष्ठ ५५।

परंतु इन संकेत चिह्नों और इन गुप्त पत्रों में भी जो राष्ट्रीय उद्‌बोध न दिया जा सका वह उद्‌बोध हिंदुस्थान की भविष्यवाणी ने दिया। भविष्य कथन मन के आगामी काल में होनेवाली कूद है। मन के दिव्यत्व पर भविष्य का दिव्यत्व अवलंबित होता है। सन् १८५७ में हिंदुस्थान का मन स्वतंत्रता के प्रकाश से दिव्य हो गया इसलिए सन् १८५७ में हिंदुस्थान के भविष्य कथन में अति महत्त्वपूर्ण और सन् १८५७ के इतिहास पर उसके कितने ही पृष्ठों पर मुद्रांकित हुआ वह भविष्य यह था कि कंपनी का राज ठीक सौ साल में समाप्त हो जाएगा। प्लासी की लड़ाई को सन् १८५७ में सौ वर्ष पूरे हो रहे थे। अतः इस वर्ष की जनवरी से एक विलक्षण आशा और एक विलक्षण चेतना पूरे देश के कण-कण में संचार कर रही थी। इस एक भविष्य कथन ने देखते-ही-देखते राष्ट्र में ऐसी आशा उछाल दी कि अंग्रेजी राज डूब जाएगा। इस भविष्य काल को वर्तमान काल में बदलने के लिए हर कोई सज्जित होने लगा।

सन् १८५७ के साल में अंग्रेजी राज डूबेगा इस भविष्य कथन द्वारा राष्ट्र विभूति को स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए पहले ही तैयार किया गया। वह इसीलिए कि रण-देवता से स्वतंत्रता का दान मिलते ही किसी तरह का आकस्मिक घोटाला न होने पाए; सिपाही, सेनापति, पटेल, जमींदार आदि अंग्रेजी शासन में जिस-जिस पद पर थे उसी पद पर रहकर स्वतंत्र राज्य की सेवा किसी तरह की गड़बड़ी न करते हुए करें, ऐसी योजना बनी थी। गुप्त संगठन के नेताओं ने कितनी कुशलता से सारे राष्ट्र को सूत्रबद्ध कर दिया था, इसे ध्यान से देखने पर मन धन्य हो जाता है।

जनक्षोभ को उत्तेजित करने रोज लखनऊ में उत्तेजक और क्रांतिकारी घोषणापत्र लगाए जाते। इन घोषणापत्रों में—सारे भाई एक साथ उठें और हिंदुस्थान का राज्य वापस लें, ऐसा उपदेश अति उत्तेजक भाषा में दिया जाता। सुबह होते ही शहर के हर चौराहे पर इस अर्थ के नए घोषणापत्र और परचे लगे मिलते। ये बातें अंग्रेज अधिकारियों के कानों में पहले ही पड़ी होने पर भी उन्हें ये पत्र और परचे पढ़ने और उनके लेखकों को गाली देते हुए कुढ़ते रहने के सिवाय कुछ करते बनता नहीं था। क्योंकि पुलिसवाले कहते कि ये पत्र-परचे लिखता कौन है? चिपकाता कौन है? इसे खोज पाना कठिन है। कुछ ही दिनों में अंग्रेजों को ज्ञात हो गया कि ये पुलिसवाले ही क्रांति पक्ष के नेता थे।[१] गुलामी की सुरक्षा की अपेक्षा स्वतंत्रता की रक्षा करनेवाले पुलिसवाले रूस की राज्य क्रांति में ही दिखते हैं ऐसा नहीं, वे हिंदुस्थान की राज्य क्रांति में भी थे। उत्तरी हिंदुस्थान में जैसे यह

---

१. रेड पैम्फलेट, खंड २।

गुप्त संगठन कुशलता से खड़ा हो गया था वैसे ही यदि दक्षिण में भी होता तो कैसी बहार आ जाती!

इस तरह इधर-उधर मन:प्रवर्तन की लहरें उठा देने के बाद श्री नाना साहब फिर सारे केंद्रों को भी सूत्रबद्ध कर डालने के लिए और मुख्य-मुख्य गुप्त संगठनों में एकवाक्यता लाने के लिए ब्रह्मावर्त से बाहर निकले। सन् १८५७ के अप्रैल में श्रीमंत अपने साथ अपने भाई बाबा साहब और अपने मंत्री अजीमुल्ला खान को लेकर दिल्ली की ओर गए। दिल्ली के वातावरण में उस समय नाना ने क्या मंत्र पढ़े और दिल्ली के दीवाने-आम में बादशाह से नाना ने क्या निजी बातें कीं इसकी स्मृति केवल उस वातावरण और दीवाने-आम को ही होगी! अंग्रेज लोगों में से मोर्लड नाम का अधिकारी आगरा में जज के पद पर था। वह उस समय नाना से मिलने गया था और उसका नाना द्वारा उत्तम स्वागत हुआ था, इस कारण अगले तीन माह बाद अंग्रेजों के कैसे स्वागत की तैयारी नाना कर रहे थे इसकी उसको हवा भी नहीं लगी। दिल्ली की सारी तैयारी देख और वहाँ के सारे काम जाँच, नाना लखनऊ चले गए। सन् १८५७ के गुप्त संगठन के केंद्रों में लखनऊ अत्यंत महत्त्वपूर्ण केंद्र था। १८ अप्रैल को नाना साहब लखनऊ की ओर चले। उसी दिन सुबह लखनऊ के चीफ कमिश्नर सर हेनरी लॉरेंस की बग्गी के पीछे दौड़ते हुए लोगों ने उसपर कीचड़ के लड्डू फेंके थे और जल्दी ही इससे अधिक प्रभावी लड्डू कैसे फेंके जाएँ, यह बताने के लिए नाना की सवारी वहाँ आई थी। फिर क्या? उस लखनऊ शहर के उत्साह और साहस की कोई सीमा नहीं रही। लखनऊ के प्रमुख रास्तों से नाना की जंगी शोभा यात्रा निकली और स्वतंत्रता के अपने इस भावी योद्धा को देखकर सारे क्रांतिकारियों में एक अनिवार्य चैतन्य उत्पन्न हुआ। नाना स्वयं सर हेनरी लॉरेंस के यहाँ गए थे और हम लखनऊ शहर देखने यहाँ आए हैं, ऐसा उससे कहा। लखनऊ शहर देखने का अर्थ क्या है, इसकी उस समय उस पगले को क्या कल्पना होती। नाना इसी माह कालपी शहर देखने भी गए। आगे स्वतंत्रता संग्राम में जिन्होंने अपने अतुल देशाभिमान और रण-कुशलता से पूरे जग को चकित किया उस जगदीशपुर के कुँवरसिंह से नाना की राजनीति चल रही थी और उधर के सारे आंदोलन का नक्शा भी इसी समय अंतिम आकार ले पाया था। इस रीति से दिल्ली, लखनऊ, कालपी, जगदीशपुर आदि स्थानों पर स्थित प्रमुख नेताओं से प्रत्यक्ष मिलकर और उनकी सलाह से भावी क्रांति का पक्का नक्शा बनाकर श्री नाना साहब अप्रैल के अंत में ब्रह्मावर्त लौट आए।

प्रमुख नेताओं से मिलकर बात पक्की करने नाना साहब जब इधर प्रवास कर रहे थे तब उधर सारे देश में भावी मंगल कार्य की सुपारी देने के लिए राज्य

क्रांति के संदेशवाहक अपने कार्य में संलग्न थे। वे आज ही अवतरित हुए हैं ऐसा बिलकुल नहीं है। क्योंकि वेल्लोर के विद्रोह के पहले भी उधर ऐसी ही रोटियाँ भेजी गई थीं। सन् १८५७ के आरंभ में गुप्त पंखों के ये देवदूत सारे हिंदुस्थान में भावी मंगल कार्य का समाचार देते हुए भ्रमण करने लग गए थे। वे कहाँ से आए और किधर जाएँगे यह कोई भी नहीं जान पा रहा था। ये देवदूत जिसे समझ में आता उसीको मुख्य संदेश देते और जिसे ठीक न समझते उससे खूब बतियाते। इस विचित्र रोटी को कुछ पगले अंग्रेज अधिकारियों ने पकड़-पकड़कर उसका चूरा किया और फिर उस चूरे का भी चूरा बनाकर उससे कुछ कहलवाने के प्रयास किए परंतु किसी चुड़ैल की तरह उस चपाती को बोलने को कहते ही वह अपने मुँह की जीभ ही नष्ट कर देती; और जिससे मन होता उसीसे बोलती। वह रोटी गेहूँ या बाजरे के आटे की बनी होती थी। उसपर यद्यपि कुछ भी लिखा हुआ नहीं होता था फिर भी वह हाथ में आते ही, उसका स्पर्श होते ही हर व्यक्ति की देह में क्रांतिचेतना संचार करने लगती। हर गाँव के मुखिया के पास वह रोटियाँ आतीं। वह स्वयं उसका एक टुकड़ा खाता और उसको प्रसाद के रूप में सारे गाँव में बाँट देता। फिर उतनी ही ताजा रोटियाँ बनवाकर वे गाँववाले पड़ोस के गाँव में भिजवा देते।

जा, हे क्रांति के देवदूत, ऐसे ही आगे जा। अपनी प्रिय माता, अपनी स्वतंत्रता के लिए जिहाद करने को तैयार हो गई है, यह शुभ वार्त्ता उसके बच्चों को सुनाने दसों दिशाओं में दौड़कर जा। तुम्हारी माँ पर संकट है अतः उसके बचाव के लिए दौड़! दौड़!! ऐसी कर्कश चिल्लाहट करते हुए आधी रात में भी न रुकते निरंतर दौड़ता रह! गढ़ और कोट के दरवाजे बंद हैं, तथापि उनके खुलने तक न रुकते वहाँ आकाश मार्ग से पहुँच जा।

घाटियाँ गहरी हैं, कगार टूटे हुए हैं, नदियाँ विराट् हैं, वन भयानक हैं। परंतु इस कारण एक क्षण भी न सहमते हुए यह भयंकर राष्ट्रसंदेश लेकर तू तीर की गति से बढ़ता जा। तेरी गति पर हमारी इस माता का जीवन और मृत्यु अवलंबित है। इसलिए तेरे पंख जितनी काट सकें उतनी दूरी कम करते हुए पूरे वातावरण में उड़ान भरता जा। शत्रु ने तेरी देह के किसी अंग का भंग किया तो भी हे मायावी देवदूत, हमारे राष्ट्र के इस संकट समय में तू हजारों, लाखों देह धारण कर उस हर देह में जीभ लगाकर बढ़। पत्नी एवं पति, माता एवं बालक, बहन एवं भाई सबको स्वतंत्रता संग्राम की कार्य सिद्धि के लिए सपरिवार आने का निमंत्रण देना। कानपुर के देवता को बुलाना, शंख, भेरी, दुंदुभि, ध्वज, पताका, रणगीत, गर्जना, गड़गड़ाहट आदि सारे सगे-संबंधियों को इस युद्ध कार्य की इष्ट सिद्धि के लिए बुला लाना। कुल देवता, ग्राम देवता, एवं राष्ट्र देवता अपने-अपने अनुचरों सहित स्वातंत्र्य समर

के मंगल समारोह के लिए सुसज्ज होकर उत्सुक हैं—उन सबसे कह—'अति समयो वर्तते' सावधान!

सावधान, मित्रो! सावधान!! और अपनी ही अकड़ में उस हरे-भरे पर्वत पर शांति से लेटे शत्रुओ, अब सावधान! यह पर्वत ऊपर से जितना हरा-भरा दिखता है उतना ही वह अंदर से भी हरा-भरा होगा इस विश्वास से[१] तुम इसके माथे पर लातें मार रहे हो क्या? मारो वैसे ही मारते जाओ लातें! जल्दी ही तुम्हें कालिदास के 'शमप्रधानेषु तपोधनेषु गूढं हि दाहात्मकमास्ति तेजः' इस वचन की सच्चाई ज्ञात होगी। हे विश्व, यह हमारा तपोधन हिंदुस्थान शम-प्रधान है, यह सच है पर इसलिए तुम इसके इस शम-प्रधानत्व का अनुचित लाभ मत उठाना। क्योंकि इस तपोनिधि के शरीर में प्रदाहक, प्रचंड शक्तियाँ भी गूढ़ता से भरी हुई हैं। शंकर के तीसरे नेत्र की कथा क्या तुमने कभी सुनी है? वह नेत्र जब तक खुला नहीं बहुत शांत रहता है। परंतु उसके खुलते ही पूरे विश्व को राख करने में सक्षम ज्वालाएँ उसीमें से निकलती हैं। तूने कभी ज्वालामुखी को देखा है। वह ज्वालामुखी ऊपर से हरा-भरा रहता है पर यदि वह एक बार अपना जबड़ा खोलने लगे तो उसके उबलते अग्नि रस से दसों दिशाएँ जलने लगती हैं। परंतु इस सामान्य ज्वालामुखी से भी जाज्वल्यतर यह हिंदुस्थान का जीवित ज्वालामुखी अब खौलने लग गया है। उसके उदर के भयंकर अग्नि रस में लहरें उठने लगी हैं। उसके दाहक द्रव्य एक-दूसरे में मिल रहे हैं और उनपर स्वातंत्र्य प्रेम की चिनगारी गिर गई है। उसके मस्तक पर नाचनेवालो, एक क्षण और···कि दिग्गजों के कान भी बधिर हो जाएँ ऐसी कड़कड़ाहट होनेवाली है; फिर मदांध जुल्म को यह ज्ञात होगा कि हिंदुस्थान के ज्वालामुखी का प्रतिशोध कैसा होता है।

□

१. अंग्रेजों को हिंदुस्थान की मनोवृत्तियाँ इतनी ज्ञात थीं कि सत्तावन की फरवरी में अंग्रेजी पत्र एवं अंग्रेजी सरकारी रिपोर्ट कहती है—''संपूर्ण देश पूर्णरूपेण शांत है।'' —चार्ल्स बाल

भाग–२

विस्फोट

प्रकरण–१

शहीद मंगल पांडे

सन् १८५७ के क्रांतियुद्ध के इतिहास में एक आश्चर्यजनक बात थी उसकी परम गोपनीयता। पूरे युद्ध की रचना गुप्त रीति से हुई। सारे हिंदुस्थान भर में क्रांति रचना का दौर-दौरा चलते हुए भी अंग्रेजों जैसे धूर्त राज्यकर्ताओं को उस विद्रोह की इतनी कम जानकारी मिल पाई थी कि प्रत्यक्ष विद्रोह होने के एक वर्ष बीत जाने के बाद भी अंग्रेजों के अनेक अधिकारियों को विद्रोह का प्रमुख कारण कारतूस ही लगता था। कारतूस कितना निमित्त मात्र कारण था, यह अब कहीं जाकर अंग्रेजी इतिहासकारों को ज्ञात होने लगा है और सन् १८५७ के भयंकर युद्ध में स्वदेशाभिमान और स्वधर्माभिमान का पवित्र स्फुरण उन योद्धाओं में कैसे संचरित हुआ था यह स्पष्ट रीति से कुछ इतिहासकार डरते-डरते अब स्वीकार करते हैं।[१]

---

१. मैलसन ने लिखा है—''एक बहाने मात्र के रूप में ही और केवल इसी रूप में ही कारतूस क्रांति का कारण सिद्ध हुए थे। षड्यंत्रकारियों ने इस बहाने का पूर्ण लाभ उठाया था और उन्हें यह अवसर इसलिए उपलब्ध हुआ था, जैसाकि मैंने सिद्ध करने का प्रयास भी किया है कि सैनिकों तथा जनता के कतिपय वर्गों के मन में यह विश्वास बद्धमूल करा दिया गया था कि उनके विदेशी स्वामी प्रत्येक कार्य ही दुष्ट हेतु को लेकर कर रहे हैं।''

मेडली ने अपनी पुस्तक में लिखा है—''वस्तुतः चरबी से चिकने किए गए कारतूसों की बात ने तो केवल उस सुरंग में अंगार मात्र ही लगाया था जिसका निर्माण अनेक कारणों द्वारा किया गया था।'' श्री डिजरैली ने तो सुस्पष्ट शब्दों में इस धारणा को अस्वीकार किया था कि ''चिकने कारतूस ही इस विद्रोह का मूल कारण थे।''

—चार्ल्स बाल कृत—'इंडियन म्युटिनी', खंड १, पृष्ठ ६२९

इससे भी एक पग आगे रखकर एक लेखन ने अपने ग्रंथ में लिखा है—''यह तो असंदिग्ध रूप से सिद्ध कर दिया गया है कि कारतूसों का भय था, तो अनेकों के लिए बहाना मात्र ही था।''

हिंदुस्थान जैसे विस्तीर्ण देश में राज्य क्रांति जैसे गंभीर काम को अंग्रेजों जैसे धूर्त अधिकारियों को हवा भी न लगने देते हुए इतनी गोपनीयता से संगठित करने का कार्य जिन्होंने किया उन श्रीमंत नाना साहब, मौलवी अहमद शाह, वजीर अली नक्की खान आदि नेताओं की जितनी प्रशंसा की जाए, वह कम है। सिपाही, पुलिस, जमींदार, राजस्व अधिकारी, किसान, व्यापारी, साहूकार आदि सारे वर्गों में और हिंदू और मुसलमान इन दोनों जातियों में अपूर्व दोस्ती और प्रचंड क्रांति के बीज बो दिए और वे बीज अंकुरित होते ही उन सबने उत्कृष्ट संगठन कर अंग्रेजों को उस प्रचंड हलचल की हवा भी लगने नहीं दी। यह गुप्त संगठन पूर्ण आकार ले पाए इससे पहले बंगाल में सरकार ने सिपाहियों पर नए कारतूस बलजोरी से लादना प्रारंभ कर दिया। पहले १९वीं पलटन पर प्रयोग किया जाएगा, ऐसा रंग दिखने लगा। बंगाल में फरवरी माह में सारी पलटनों की अपेक्षा ३४वीं पलटन राज्य क्रांति के लिए अति उत्सुक हो गई थी। इस ३४वीं पलटन का मुख्यालय बैरकपुर में होने से और वजीर अली नक्की खान उसके पास—कलकत्ता में होने से उन्होंने सारी पलटन को शपथपूर्वक राज्य क्रांति-कार्य से जोड़ लिया था। इस पलटन की कुछ टुकड़ियाँ १९वीं पटलन में भेजी गई थीं। इस कारण उन टुकड़ियों ने १९वीं पलटन को भी राष्ट्रकार्य में खींच लिया। परंतु परिस्थिति यह हो गई कि राज्य क्रांति की प्रचंड घटना की बिलकुल भनक न लगने, अंग्रेज अधिकारियों को उसकी कोई जानकारी न होने से, उन्होंने उस १९वीं पलटन पर ही कारतूसों का पहला प्रयोग किया। परंतु वे कारतूस लेने से वह पलटन खुले रूप से मुकर गई और समय आया तो शस्त्र उठाने तक का अपना निश्चय है, यह प्रकट किया। वह कृत्य देखते ही हमेशा की तरह अंग्रेजों ने 'नेटिवों' को धौंस पट्टी दिखाना चालू किया। परंतु अब वहाँ पहले के 'नेटिव' नहीं थे, यह बात उस पलटन में हो रही तलवारों की खनखनाहट से जल्दी ही गोरे अधिकारियों की समझ में आ गई। अब यह मानभंग चुपचाप पी जाने के सिवाय दूसरा रास्ता नहीं था। क्योंकि उस सारे प्रदेश में ऐसी एक भी पलटन नहीं थी जो इस नेटिव सेना को नियंत्रण में रख सके। यह बाधा दूर करने के लिए मार्च के प्रारंभ में ब्रह्मदेश में स्थित फिरंगी पलटन कलकत्ता लाई गई और १९वीं पलटन को निःशस्त्र कर काम से हटाने का आदेश जारी हुआ। इस आदेश पर कार्यवाही बैरकपुर में की जाए, यह निश्चित किया गया।

जिन कारतूसों की टोपी दाँत से तोड़ने पर अपने धर्म से ही हाथ धो बैठने का भय निर्माण कर बात का बतंगड़ बनाया गया था, हमसे युद्ध करते समय उन्हींको वे ही सिपाही हमपर चलाते समय किसी प्रकार के संकोच का प्रदर्शन नहीं करते थे।''

अपने बंधुओं को अपनी आँखों के सामने दंडित किया जाएगा, यह सुनकर भी शांत रहनेवाला—बैरकपुर नहीं था। वहाँ स्वतंत्रता की ज्योति हर तलवार में चमकने लग गई थी। परंतु इन सबसे अधिक मंगल पांडे की तलवार म्यान में अधीर हो रही थी। १९वीं पलटन की तरह ही ३४वीं पलटन को भी समय आते ही कंपनी की नौकरी को लात मारकर निकल जाने की इच्छा थी। इसलिए १९वीं पलटन को कंपनी अपने आप ही निकाल रही है, यह बहुत बढ़िया हो रहा है—ऐसा सारे स्वदेशाभिमानियों को लग रहा था। सब ओर का एकमत होने तक एक माह रुका जाए, ऐसा चतुर नेता कह रहे थे और सारे हिंदुस्थान में अलग-अलग पलटनों में कौन सा दिन निश्चित किया जाए इसके लिए बैरकपुर से संकेत भाषा में पत्र भी भेजे गए थे। परंतु मंगल पांडे की तलवार को धीरज कौन बँधाए? मंगल पांडे ब्राह्मण कुल में जन्मा और क्षात्रधर्म में दीक्षित हट्टा-कट्टा जवान था। स्वधर्म पर प्राणों से अधिक निष्ठा रखनेवाला, आचरण से सद्शीलवान, स्वभाव से तेजस्वी और आयु से तरुण, मंगल पांडे के पवित्र रक्त में देश-स्वातंत्र्य की विद्युत् चेतना प्रवेश कर गई थी। फिर उसकी तलवार कैसे धीरज रखे? शहीदों की तलवार को कभी धैर्य रहता है क्या? जय-पराजय की रत्ती भर भी परवाह न करते हुए अपनी तत्त्वनिष्ठा पर जो स्वयं के रक्त का अभिषेक करते हैं ऐसे ही लोगों के सिर पर बलिदानी मुकुट झिलमिलाता है और इस निष्फल-से लगते उष्ण रक्त से ही विजय की मूर्ति प्रकट हुआ करती है। अपने स्वदेश बंधुओं का अपनी आँखों के सामने अपमान हो यह बात मंगल पांडे के अंतरतम को असह्य पीड़ा देने लगी और अपनी रेजिमेंट उसी दिन विद्रोह करे, वह ऐसा आग्रह करने लगा। गुप्त समिति के नेता आज विद्रोह करने को अनुमति नहीं दे रहे हैं ऐसा ज्ञात होते ही उस जवान का साहस रुकना दुष्कर हो गया। उसने लपककर अपनी बंदूक उठाई और 'मर्द हो वो उठो' ऐसी गर्जना करते हुए परेड मैदान में कूद पड़ा। "अरे अब पीछे क्यों रहते हो? भाइयो, आओ, टूट पड़ो। तुम्हें तुम्हारे धर्म की सौगंध है—चलो अपनी स्वतंत्रता के लिए शत्रु पर टूट पड़ो।" ऐसी गर्जना करते हुए वह अपने स्वदेश बंधुओं को अपने पीछे आने का आह्वान करने लगा। यह देखते ही सार्जेंट मेजर ह्यूसन ने सिपाहियों को मंगल पांडे को पकड़ने का आदेश दिया। परंतु अंग्रेजों को आज तक मिले देशद्रोही सिपाही अब बचे नहीं थे। उस सार्जेंट का आदेश उसके मुँह से निकलने पर एक भी सिपाही मंगल पांडे को पकड़ने नहीं हिला। और इधर मंगल पांडे की बंदूक से सन्-सन् करके निकली गोली ने उस ह्यूसन का शव तत्काल भूमि पर पटक दिया। यह गड़बड़ हो ही रही थी कि इतने में लेफ्टिनेंट बॉ भी वहाँ आ गया। इससे पहले कि उसका घोड़ा नाचते-नाचते आगे सरकता मंगल

पांडे की बंदूक से दूसरी गोली छूटी और वह उस घोड़े के पेट में घुसते ही घोड़ा लेफ्टिनेंट को लेकर धड़ाम से गिरा। मंगल पांडे को बंदूक भरने का अवसर मिले इसके पहले ही धूल में पड़े उस लेफ्टिनेंट ने अपनी पिस्तौल निकाल ली। यह देखते ही मंगल पांडे ने तिल भर भी डगमगाए बिना अपनी शमशीर निकाली। बॉ ने पिस्तौल चलाई पर गोली चूक गई और वह तलवार निकाले उसके पहले ही मंगल पांडे की तलवार का वार हुआ और बॉ मिट्टी सूँघने लगा। इतने में मंगल पांडे पर उस पहलेवाले गोरा को हमले की तैयारी में बढ़ता देख पास के एक सिपाही ने बंदूक के दस्ते से उसका सिर फोड़ दिया और सारे सिपाहियों ने गर्जना की—''मंगल पांडे को कोई हाथ न लगाए।'' तभी कर्नल ह्वीलर वहाँ आया और मंगल पांडे को पकड़ने का आदेश देने लगा। 'हम अपने आदरणीय ब्राह्मण के बाल को भी नहीं छुएँगे', फिर ऐसी गर्जना हुई और अंग्रेजों के गाढ़े लाल रक्त के उस दृश्य के आगे अधिक न रुकते हुए वह कर्नल जनरल के बँगले की ओर भाग गया। इधर मंगल पांडे अपने रक्तरंजित हाथ उठाकर—'मर्दो, बढ़ो!' ऐसी भयानक गर्जना करते हुए इधर-उधर घूम रहा था। जरनल हीर्से को यह समाचार मिलते ही वह कुछ और यूरोपियन लेकर मंगल पांडे की ओर दौड़ता आया। अब निश्चित ही शत्रु पकड़ लेगा, यह जान उस देशवीर मंगल पांडे ने फिरंगियों के हाथों पकड़े जाने की अपेक्षा मृत्यु को अपनाने का निश्चय किया और अपनी बंदूक अपने ही सीने की ओर कर ली और तत्काल उसकी पवित्र देह घायल होकर गिर गई। तुरंत उस घायल युवक को अस्पताल ले जाया गया; और उस एक सिपाही ने जो बहादुरी दिखाई उससे लज्जित होकर सारे अंग्रेज अधिकारी अपने-अपने तंबू में चले गए। यह सन् १८५७ के मार्च की २९ तारीख थी।

मंगल पांडे का कोर्ट मार्शल कर जाँच-पड़ताल हुई। उस जाँच में वह अन्य षड्यंत्रकारियों के नाम बताए, इसके लिए बहुत प्रयास हुए। परंतु उस तेजस्वी युवक ने 'वह किसीके भी नाम बताने को तैयार नहीं है,' यह उत्तर दिया। उसने यह भी बताया कि मैंने जिनपर गोलियाँ चलाईं उन अंग्रेज अधिकारियों से मेरा किसी तरह का व्यक्तिगत द्वेष नहीं था। यदि व्यक्तिगत द्वेष होता तो उनकी हत्या खून मानी जाती। मंगल पांडे का मंगल नाम शहीदों की सूची में न जाकर खूनी मनुष्यों की सूची में डालना पड़ता। परंतु मंगल पांडे का वह साहस सिद्धांतों के लिए था। स्वदेश और स्वधर्म की रक्षा के लिए—'सुख-दुःखे समे कृत्वा' मंगल पांडे की तलवार म्यान से बाहर निकली थी। स्वदेश और स्वधर्म का अपमान देखने से मृत्यु भली है—यह वज्र निश्चय करके ही वह बाहर निकला था। इस कार्य में जैसी उसकी स्वदेश भक्ति और स्वधर्म प्रीति दिखाई दी, वैसा ही उस युवा की तलवार

का पानी भी दिखाई दिया। ऐसे युवा को फाँसी का दंड सुनाया गया। दिनांक ८ अप्रैल उसकी फाँसी के लिए तय हुआ। शहीदों के रक्त में क्या तेज होता है, यह तो ज्ञात नहीं परंतु उसके नाम-स्मरण से भी मन की उदात्त वृत्तियाँ खिलने लगती हैं। परंतु जिनकी दृष्टि को मंगल पांडे के प्रत्यक्ष दर्शन का लाभ हुआ था—बैरकपुर के ऐसे सारे नागरिकों के हृदय में उसके प्रति दिव्य प्रीति उत्पन्न हुई हो तो इसमें क्या आश्चर्य? उस सारे बैरकपुर शहर में मंगल पांडे को फाँसी देने के लिए एक भी जल्लाद नहीं मिला। अंत में उस अमंगल कार्य के लिए कलकत्ता से चार जल्लाद लाए गए। दिनांक ८ अप्रैल को सुबह मंगल पांडे को फाँसी-स्थल की ओर ले जाया गया। चारों ओर लश्करी लोगों का पहरा था। उनके बीच से मंगल पांडे गर्व से चलता चला गया और फाँसी पर चढ़ गया। 'मैं किसीके नाम नहीं बताऊँगा,' यह एक बार फिर से कहते ही उसके पैर के नीचे का सहारा निकाल लिया गया और मंगल पांडे की देह से उसकी पवित्र आत्मा स्वर्ग चली गई।

इस तरह सन् १८५७ के क्रांतियुद्ध की पहली भिड़ंत हुई और इस रीति से उस क्रांतियुद्ध का पहला शहीद स्वर्गवासी हो गया। जिसके रक्त से सन् १८५७ की शहादत की नदी का उद्गम हुआ उस देशवीर, धर्मवीर मंगल पांडे का नाम हर एक के कंठ एवं हृदय में अक्षय बना रहना चाहिए। सन् १८५७ में हिंदुस्थान के स्वतंत्रता बीज में अंकुर फोड़ने के लिए मंगल पांडे ने अपना उष्ण रक्त सबसे पहले अर्पित किया। उस स्वतंत्रता की फसल आगे-पीछे कभी लहलहा उठी तो उसके पहले नैवेद्य का अधिकारी मंगल पांडे है।

मंगल पांडे नहीं है पर उसका चैतन्य सारे हिंदुस्थान में फैला हुआ है और जिस सिद्धांत के लिए मंगल पांडे मरा वह सिद्धांत चिरंजीवी हो गया है। मंगल पांडे ने सन् १८५७ के क्रांतियुद्ध को अपना रक्त दिया, इतना ही नहीं अपितु उस क्रांति में जो-जो स्वदेश के और स्वधर्म के लिए लड़े उन सबको 'पांडे' उपाधि लगाने का प्रयत्न शुरू हो गया।[१] और इसीलिए यह नाम हर माता अपनी संतान को साभिमान बताने लगी।

□

---

१. ''यह नाम भारत भर में सभी विद्रोही सिपाहियों के लिए उपनाम के रूप में ख्याति प्राप्त कर गया।''
—चार्ल्स बाल

''सिपाहियों को सामान्यत: 'पांडे' कहकर संबोधित किए जाने का उद्गम स्थल यह नाम ही था।''
—लॉर्ड रावर्ट कृत—'फोरटी वन ईयर इन इंडिया'

प्रकरण–२

मेरठ

देशवीर मंगल पांडे के बलिदान से सन् १८५७ का बीज जमते ही उसे अंकुरित होने में देर क्यों हो? जिस १९वीं रेजिमेंट में मंगल पांडे था उस रेजिमेंट के सूबेदार को भी इस आरोप में फाँसी दी गई कि उसने रात में क्रांतिकारी बैठकें कीं और १९वीं रेजिमेंट व ३४वीं रेजिमेंट इन दोनों ने मिलकर पूरे प्रदेश में विद्रोह करने का गुप्त षड्यंत्र रचा—यह उनके पास मिले कागज-पत्रों से सिद्ध हो जाने पर उन्हें निःशस्त्र कर नौकरी से निकाल देने का दंड दिया गया। सरकार के हिसाब से वह दंड था; परंतु इन दोनों ही रेजिमेंट के सिपाहियों को यह अपना बड़ा सम्मान लग रहा था। जिस दिन उन्हें शस्त्र नीचे रखने का आदेश हुआ उस दिन यूरोपियन सेना को पूरी तरह तैयार रखा गया था। अंग्रेज अधिकारियों को विश्वास था कि नौकरी से निकाल देने के दंड से सिपाही पश्चात्ताप करेंगे, परंतु उन हजारों सिपाहियों ने किसी बहुत ही अपवित्र वस्तु की तरह कंपनी की दासता पर खुशी से लात मारी। अपने बूट और यूनिफॉर्म फाड़-फूड़कर फेंक दिए। उन सिपाहियों को अपने वेतन से सैनिक टोपियाँ लेनी पड़ती थीं। अतः उसे उनकी निजी संपत्ति मान कंपनी ने उन्हें छूट दी थी कि वे चाहें तो उसे ले जाएँ। परंतु नदी में नहाकर बाहर आने के बाद फिर से गुलामी का चिह्न सिर पर ढोना? अपनी भले ही हो, पर उसपर कंपनी की छाप तो है। खबरदार! किसीने उस दास्य चिह्न को स्पर्श किया तो। अब हिंदुस्थान को कोई दूसरा आकर टोपी पहनाए वे दिन लद गए हैं। फेंक दो दासता की टोपियाँ। हजारों टोपियाँ आकाश में दिखने लगीं। परंतु गुरुत्वाकर्षण के जिद्दी स्वभाव के कारण वे फिर से हिंदुस्थान की भूमि पर ही गिरीं। फिर से भू देवी को दासता की छूत लगी, दौड़ो सिपाहियो, उन दास्य चिह्नों को उन अंग्रेजी अधिकारियों के सामने फाड़कर और पैरों तले कुचलकर धूल में मिला दो। हजारों सिपाही उन

दास्यदूषित टोपियों को कुचलने लगे और बलहीन हुए अंग्रेज अधिकारी अपनी सत्ता का खुला अपमान करता यह भारतीय नृत्य देखते रहे।[१]

उत्तर प्रदेश के उच्च पुरबिया ब्राह्मण कुल में जनमे मंगल पांडे का रक्त केवल बंगाल में ही स्वतंत्रता के बीज नहीं जमा रहा था, उधर अंबाला में भी उसकी विद्युत् चेतना का संचार हो गया था। अंबाला अंग्रेजी सेना का अड्डा था और वहीं पर कंमाडर-इन-चीफ ॲन्सन रहता था। अंबाला में सिपाहियों ने एक नई पद्धति चालू की थी। वह था—यदि कोई अधिकारी उनके विरुद्ध जाए तो उसका घरबार जलाकर भस्म कर डालना। रोज रात को देशद्रोहियों और विदेशियों के घर जलने लगे। यह काम इस झटके से और गुप्त ढंग से होता मानो प्रत्यक्ष अग्नि नारायण ही क्रांति पक्ष की गुप्त समिति का सदस्य बन गया है। बहुत आग लगी और जो आग लगानेवाले को पकड़वा देगा उसको हजारों रुपयों के इनाम भी घोषित किए गए। पर एक आदमी भी सूचना न देता। अंत में परेशान होकर स्वयं कमांडर-इन-चीफ ॲन्सन, गवर्नर जनरल को लिखता है—

"It is really strange that the incendiaries should never be detected. Everyone is on the alert here, but still there is no clue to trace the offenders." फिर अप्रैल के अंत में वह लिखता है—"We have not been able to detect any of the incendiaries at Ambala. This appears to me extraordinary; but it shows how close the combinations among the miscreants who have recourse to this mode of revenging what they concieve to be their wrongs and how great the dread of retaliation to any one who would dare to become an informer."

हिंदुस्थान के देशद्रोहियों पर तो अंग्रेजी साम्राज्य आधारित था! परंतु अंबाला में एक भी देशद्रोही न मिला। इससे स्वयं कमांडर-इन-चीफ गऊ बन गया और सिपाहियों के गुप्त षड्यंत्र की स्तुति करते हुए उनपर गुस्सा करता रहा तो इसमें आश्चर्य की बात क्या थी!

अब यह आग हिंदुस्थान में जगह-जगह प्रारंभ हो गई थी। अंतिम विशाल आग भड़काने के पहले इधर-उधर छोटी-बड़ी चिनगारियाँ उड़ना स्वाभाविक था। लखनऊ में नाना की यात्रा के बाद से बड़ी गड़बड़ शुरू हो गई थी। अंबाला की भाँति वहाँ भी अधिकारियों और देशद्रोहियों के घर सुलगने लगे थे। दिनांक ३१ मई

---

१. रेड पैम्फलेट, खंड १, पृष्ठ ३४।

को सारा हिंदुस्थान एक साथ सुलगा दिया जाए, जिससे इधर-उधर जान छिपाने का अवसर न पाकर परतंत्रता अंदर-ही-अंदर राख हो जाएगी, यह निर्धारित योजना—लखनऊ की गुप्त समिति को यद्यपि मान्य थी, फिर भी वहाँ के तेजस्वी सिपाही बहादुरों को अपना गुस्सा दबाए रखना कठिन हो गया। उसमें भी हर रात की गुप्त सभाओं में चल रहे उद्दीपक भाषणों और जलनेवाले घरों के भयंकर दृश्यों से सिपाहियों को रुकना और अपने को रोकना कठिन हो गया। मई की तीन तारीख को ऐसे ही चार अटल सिपाही बहादुर बलपूर्वक लेफ्टिनेंट मेशम के तंबू में घुसे और बोले—"आपसे यद्यपि हमारा कोई व्यक्तिगत द्वेष नहीं है फिर भी चूँकि आप फिरंगी हैं इसलिए आपको मारना होगा।"[१]

राक्षस रूप में आए उन सिपाहियों को देखते ही भयभीत हुआ वह लेफ्टिनेंट उनसे घिघियाकर कहने लगा—"आप चाहें तो मुझे एक क्षण में मार सकते हैं, परंतु मुझ गरीब को मारने से आपको क्या मिलेगा? दूसरा कोई आएगा और मेरा काम करने लगेगा। अपराध मेरा न होकर इस राज्य व्यवस्था का है। फिर मुझे क्यों नहीं छोड़ते?" इन बातों से सिपाही बहादुर थोड़े होश में आए और सारी राज्य व्यवस्था को एकदम मारना चाहिए, यह मानकर लौट आए। पर यह बात अधिकारियों तक गई और तुरंत ही हेनरी लॉरेंस ने पलटन को धोखे से तोपखाने की मार में खड़ा करके नि:शस्त्र कर दिया।

परंतु मेरठ की ओर तो दाँव इससे भी अधिक रंगत पकड़ रहा था। कारतूसों के संबंध में सिपाही वास्तविक शिकायत करते हैं या नहीं, यह पक्का जानने के लिए एक कुटिल चाल कुछ अंग्रेजों ने सोची और उन्होंने दिनांक ६ मई को घुड़सवारों की एक टुकड़ी को वे कारतूस देने का निश्चय किया। उस परेड में आए नब्बे सिपाहियों में से पूरे पाँच ने भी उन कारतूसों को नहीं छुआ। परंतु वे कारतूस फिर से दिए गए। फिर से सिपाहियों ने उन्हें स्पर्श करने से मना किया और वे अपने-अपने स्थान पर चले गए। उनका यह आचरण जनरल के कानों तक जाते ही उसने कोर्ट मार्शल के सामने उन सारे सिपाहियों को खड़ा कर पचासी घुड़सवारों को आठ से दस वर्ष तक सश्रम कारावास का दंड दिया।

मई की ९ तारीख को एक हृदयद्रावक घटना घटी। यूरोपियन कंपनी और तोपखाने की मार के पहरे में ऊँचाई पर पचासी सिपाहियों को खड़ा किया गया। शेष नेटिव सिपाहियों को यह तमाशा देखने को जान-बूझकर बुलाया गया और फिर

---

१. "व्यक्तिगत रूप से तो तुम्हारे प्रति हमारे मन में कोई द्वेष भावना नहीं है; किंतु तू फिरंगी है, अतः तुझे मरना ही चाहिए।" —चार्ल्स बाल कृत—'इंडियन म्युटिनी', खंड १, पृष्ठ ५२

उन पचासी देशभक्त सैनिकों को अपने कपड़े उतारने का आदेश दिया गया। उनके हाथ के शस्त्र छीनकर, उनके शरीर से कपड़े उतरवाकर भारी-भारी लोहे की बेड़ियाँ उनके पैरों और हाथों में ठोंक दी गईं। शत्रु की छाती में घुसनेवाली तलवार के सिवाय जिनके हाथों में अन्य कुछ भी न पड़ा था अपने उन मर्द स्वदेश बंधुओं के हाथ में आज फिरंगियों ने लोहे की बेड़ियाँ ठोंक दीं, यह देखकर सारे भारतीय सिपाहियों के शरीर थर्रा उठे। पर सामने ही खड़ी तोपों को देखकर हर तलवार म्यान में ही फड़फड़ाती रही। फिर उन पचासी शूर सिपाहियों को—तुम्हें दस वर्ष के कठोर कारावास का दंड दिया गया है—यह सुनाया गया और हाथ-पैर की भारी-भारी बेड़ियों के बोझ तले झुके वे धर्मवीर कारावास की ओर चल दिए। उस समय अपने धर्म की रक्षा के लिए कारावास में जा रहे उन सिपाहियों को स्वदेश बंधुओं ने कैसे नेत्र संकेत किए, यह भविष्य शीघ्र ही कहेगा। गाय और सूअर के रक्त से बने कारतूस अपने पर जबरन लादे जाएँ और उसे कोई रोके तो उसे दस वर्ष के कठोर कारावास का दंड भुगतना पड़े, ऐसा भयंकर अपराध जिस दासता में होता है, उस फिरंगी दासता का हम टेटुवा दबाएँगे और दस वर्ष के लिए तुम्हें पहनाई गई बेड़ियाँ और सौ वर्षों से अपनी मातृभूमि के पैरों में पड़ी गुलामी की बेड़ियाँ—इन दोनों को जल्दी ही तोड़ देंगे। यह उन नेत्र संकेतों का अर्थ हो सकता है।

यह घटना प्रात:काल की थी। प्रिय देशबंधुओं को अपनी आँखों के सामने परदेसी और परधर्मी लोग बेड़ियाँ डालकर कारावास में डालें और उस दृश्य को खुली आँखों से देखें, इसका दु:ख झेलते, मन-ही-मन जलते सिपाहियों का अपनी-अपनी बैरकों में लौटते ही धीरज टूटने लगा। शहर के बाजार में वे गए तो वहाँ की महिलाएँ उनका तिरस्कार कर कहने लगीं—"तुम्हारे बाप कारावास में भेजे गए हैं और तुम यहाँ मक्खियाँ मारते फिर रहे हो। थू तुम्हारी जिंदगी पर!!"[१] पहले ही गुस्से से पगलाए सिपाहियों को यह कैसे सहन होता कि रास्ते में औरतें उनके जीवन पर थूकें? उस दिन रात में सारी लाईन पर सिपाहियों की गुप्त बैठकें होती रहीं। क्या अब भी मई की ३१ तारीख तक रुकना है? इधर अपने भाइयों के कारावास में पड़े होते हुए हम नामर्दों की तरह चुप होकर बैठें! रास्ते में औरतें-बच्चे अपने पर देशद्रोही कहकर थूकने लगें, फिर भी दूसरों की राह देखते चुप बैठना? ३१ मई की तारीख अभी कितनी दूर है। तब तक उन फिरंगियों के झंडे तले रहना? नहीं-नहीं; कल ही रविवार है, इस रविवार का सूर्य नारायण अस्तमान होने के पहले कारावास के उन देशवीरों की बेड़ियाँ टूट ही जानी चाहिए।

---

१. जे.सी. विल्सन।

स्वदेश जननी की बेड़ियाँ टूटनी ही चाहिए और स्वतंत्रता का झंडा लहराना ही चाहिए। तत्काल दिल्ली संदेश भेजे गए—"हम तारीख ११ या १२ को वहाँ आ रहे हैं; सारी तैयारी करके रखो।"[१]

१० मई का रवि उदय हुआ। सन् १८५७ की गुप्त तैयारी की अंग्रेजों को इतनी कम जानकारी थी कि मेरठ के सिपाहियों की दूसरों से तो क्या आपस में भी कुछ सामान्य योजना बन रही है, इसकी भी उनको आशंका नहीं हुई। रविवार की सुबह उनका नित्यकर्म शांति से शुरू हुआ। घोड़े की गाड़ियाँ, शीत उपचार, सुगंधित फूल, हवाखोरी, गाना-बजाना सारी बातें हमेशा की तरह चालू हो गईं। साहबों के घर के नेटिव नौकर अकस्मात् नौकरी पर नहीं आए, इसका भी उन्हें कोई अधिक आश्चर्य नहीं हुआ।

इधर सिपाहियों के बीच बहस चल रही थी कि पूरा कत्लेआम करना है या नहीं। २०वीं पलटन और तीसरी घुड़सवार पलटन के सिपाही बोले—"चर्च में फिरंगियों के जाते ही हर-हर महादेव बोलो। और लश्करी और मुलुकी, सैनिक और नागरिक, बच्चे-औरतें, मर्द जो मिले उसे काटते दिल्ली चलो!" यही अंत में तय हुआ।

इधर मेरठ में पास-पड़ोस के गाँवों से भी टूटे-टाटे शस्त्र हाथ में लिये हजारों लोग आकर मिल रहे थे। स्वदेश कार्य के लिए आए उन ग्रामीणों की तरह मेरठ के नागरिक भी सज्जित होने लगे। फिर भी अंग्रेजों को तिनके भर जानकारी नहीं थी।

रविवार की शाम के पाँच बजे चर्च का घंटा उस शांत वातावरण में हलके-हलके बजने लगा और अंग्रेज लोग अपनी-अपनी पत्नियों सहित हँसते-खेलते चर्च की ओर जाने लगे। परंतु उस दिन का चर्च का घंटा अंग्रेजों के लिए प्रार्थना नहीं बजा रहा था—वह तो उनकी मृत्यु वेला बजा रहा था। क्योंकि उधर सिपाहियों की लाइन में एक ही गर्जना उठ रही थी—'मारो फिरंगी को'। इस ध्वनि से सारा वातावरण भर गया।

सबसे पहले कारावास में पड़े धर्मवीरों की बेड़ियाँ तोड़ने सैकड़ों घुड़सवार उधर गए। उस कारावास के रक्षक भी क्रांति पक्ष के ही थे, अत: 'मारो फिरंगी को' की रण-ध्वनि सुनते ही वे कारागृह छोड़कर अपने साथियों से मिल गए। दूसरे ही क्षण उस अभागे कारागृह की दीवारें ढहने लगीं। दस वर्ष कठोर कारावास भोगने के लिए फिरंगियों द्वारा पहनाई गई बेड़ियाँ थर-थर काँपने लगीं। एक देशाभिमानी

---

१. रेड पैम्फलेट, खंड १।

लुहार आगे आया और उसने जल्द ही उन बेड़ियों के टुकड़े-टुकड़े कर दिए। प्रचंड वीर गर्जना करते वे कारावास भोग रहे धर्मवीर बाहर आए, घोड़ों पर चढ़े और अपनी मुक्ति के लिए आए देशबंधुओं के साथ उस कारावास को पीछे छोड़ चर्च की ओर पूरे जोश से दौड़े। इधर पैदल टुकड़ी ने दंगा शुरू कर दिया। ग्यारह पलटनों का कर्नल फिनीस अपने घोड़े पर बैठ यूँ ही उधर आया था। सिपाहियों के सामने खड़ा होकर हमेशा की अकड़ के साथ उन्हें डाँटने-डपटने लगा तो सिपाही उसका काल बन उसपर दौड़ पड़े। २०वीं पलटन के एक सिपाही ने अपनी पिस्तौल उसपर चलाई और वह कर्नल अपने घोड़े के साथ भूमि पर गिर गया। पैदल और घुड़सवार, हिंदू और मुसलमान सारे-के-सारे गोरे रक्त के लिए इतने बेचैन हो गए थे कि यह फिनीस का रक्त तो दरिया में खसखस थी। मेरठ के बाजार में यह समाचार पहुँचते ही वह पूरा शहर जलने लगा और जहाँ-जहाँ भी अंग्रेज मिला वहाँ-वहाँ उसे गारद किया गया। सदर बाजार के सारे लोग हाथ में तलवारें, भाले, लाठियाँ, छुरियाँ—जो जिसके हाथ में लगा वह शस्त्र लेकर गली-गली में दौड़ने लगे। जिस किसी भवन पर अंग्रेजी सत्ता के चिह्न थे वे सारे भवन, बँगले, कार्यालय सब आग में जलने लगे। आकाश में धुएँ के बादल, अग्नि की रंग-बिरंगी ज्वालाएँ, हजारों लोगों के हल्ले-गुल्ले की मिली-जुली आवाजें, और सबसे ऊँची आवाज—मारो फिरंगी को—से मेरठ का आकाश भयानक हो उठा। विद्रोह प्रारंभ होते ही पूर्व संकेतों के अनुसार मेरठ से दिल्ली की ओर जानेवाली तार तोड़ डाली गई और उस रास्ते पर अपना कड़ा पहरा बैठा दिया। वह अँधियारी रात होने से अंग्रेजों की बड़ी आफत हुई। कोई तबेले में छुपा तो कोई सारी रात पेड़ के नीचे बैठा रहा—कोई घर की तीसरी मंजिल पर तो कोई जमीन के गड्ढे में। किसीने किसान का वेश बनाया तो कोई बटलर के पाँव पकड़े रहा। विद्रोही सिपाही अँधियारा होते ही दिल्ली की ओर कूच करने लगे थे, परंतु उनके प्रतिशोध का अधूरा काम मेरठ के लोगों ने स्वयं ही पूरा किया। अंग्रेजों के लिए इतना गुस्सा उत्पन्न हुआ था कि अंग्रेजों के स्पर्श होने से जो घर जलाने लायक हो गए थे पर पत्थर के होने से जलाए नहीं जा सकते थे, उन्हे चूर-चूर कर दिया गया। वहाँ के कमिश्नर ग्रीदेड के बँगले को आग लगा दी गई, फिर भी वह अंदर ही छिपा बैठा रहा। यह बात बाहर ज्ञात हुई तो मेरठ के लोग सशस्त्र होकर कर्कश गर्जना करते इकट्ठा हो गए। तब वह कमिश्नर अपने बटलर के पाँव पड़ने लगा और पैरों के नीचे फैली आग और चारों ओर शत्रुओं का घेराव, मृत्यु के ऐसे जबड़े से अपने परिवार को बचाने के लिए उसकी चिरौरी करने लगा। वह बटलर उसपर द्रवित हो गया और क्रांतिकारियों से बोला, ''कमिश्नर घर में नहीं है'' और जहाँ वह छिपा था उसकी विपरीत दिशा में चलने का आग्रह करते

हुए उन्हें दूर तक ले गया। इतने में वह कमिश्नर गिरते घर से भाग गया। मिसेज चेंबर्स के बँगले में विद्रोहियों ने उसे छुरा भोंककर, खींच-घसीटकर फेंक दिया। कैप्टन क्रेजी ने अपनी पत्नी और बच्चों का गोरा रंग छिपाने के लिए उन्हें घोड़े की जीन पहनने को दी और उन्हें काले रंग से रँगकर एक मंदिर के खंडहर में रात भर छिपाके रखा। डॉक्टर ख्रिस्टे और व्हेटरनरी सर्जन फिलिप्स को पत्थरों से कुचलकर मारा गया। लेफ्टिनेंट टेंपलर का कचूमर निकालकर फेंक दिया गया। कैप्टन टेलर मैकडोनल, लेफ्टिनेंट हेंडरसन और लेफ्टिनेंट पेंट का पीछा कर उन्हें गारद कर दिया गया। घरों में आग लगाने से कितने ही औरत-बच्चे जल मरे। जैसे-जैसे अंग्रेजी रक्त अधिकाधिक गिरता गया वैसे-वैसे विद्रोहियों की कर्कश गर्जना और भयानक अट्टहास का उत्साह बढ़ने लगा। रास्तों में पड़े अंग्रेजों के शवों को लोग लतियाने लगे। बीच में किसी विद्रोही को गोरे लोगों पर वार करते किंचित् दया आ जाती तो अन्य हजारों लोग 'मारो फिरंगी को' कहते-चिल्लाते-दौड़ते आते और कारावास में डाले गए उन पचासी निरपराध धर्मवीरों में से एकाध वहाँ होता तो उसके हाथ पर चढ़ाई गई फिरंगी बेड़ी के निशान की ओर अँगुली दिखाकर—'इसका प्रतिशोध लेना है' कहते हुए वार-पर-वार करने लगते।[१]

वास्तविकता यह थी कि यदि कहीं पहले विद्रोह खड़ा होने की संभावना नहीं थी तो वह मेरठ मे; क्योंकि वहाँ नेटिव सिपाहियों की दो पैदल रेजिमेंट और एक घुड़सवार रेजिमेंट थी। परंतु गोरे सिपाहियों की एक पूरी रायफलमेंस बटालियन और एक ड्रॅगून रेजिमेंट के साथ एक उत्तम तोपखाना उनके पास था। ऐसी स्थिति में सिपाहियों को सफलता मिलने की संभावना बिलकुल नहीं थी। विद्रोह होते ही वहाँ अंग्रेजों से प्रतिशोध लेने का कार्य मेरठ शहर को सौंपकर विद्रोही सिपाही तत्काल इसी उद्देश्य से दिल्ली की ओर जा रहे थे। उनका पीछा कर उन्हें रोकना और पूर्ण नाश करने का काम भी बड़ा सरल था। पर अंग्रेजी सेना और उनके अधिकारियों में उस समय जो भीरुता, अव्यवस्था और चिंता दिखाई दी उसपर तो अंग्रेज इतिहासकारों को भी बहुत लज्जा आती है। नेटिव घुड़सवारों का कर्नल स्मिथ, उसकी पलटन विद्रोह कर गई है, यह ज्ञात होते ही उधर देखे बिना भाग खड़ा हुआ। तोपखाने का अधिकारी तैयार होकर कुछ करे इससे पहले सिपाही दिल्ली की ओर चल पड़े थे। उसमें भी आगे न बढ़ते हुए अंग्रेजी सेना घबड़ाई सी जगह-जगह सारी रात पड़ी रही। वास्तविकता यह है कि मेरठ के विद्रोह से अंग्रेजों का बड़ा नुकसान हुआ। यह अभूतपूर्व और अकस्मात् घटित प्रचंड घटना क्या है,

---

१. एक हिंदू द्वारा लिखित 'विद्रोह के कारण'।

इसका दूसरे दिन तक उन्हें कुछ पता न चला। इधर सिपाहियों ने नक्शा अच्छी तरह बनाया हुआ था। विद्रोह करते ही कारागार से बंदियों को छुड़ाना और बाद में अंग्रेजी रक्त की बरसात करना। इस अकस्मात् हमले से अंग्रेज लोग बुरी तरह घबड़ा उठे। उस एक झटके में मेरठ शहर ने विद्रोह करके सब ओर आग लगाकर एवं चारों ओर से मार-पीटकर अंग्रेजों के लिए यह पता कर पाना असंभव बना दिया कि वास्तव में दंगा किधर हुआ। वे यह जान पाते तब तक सैनिक दिल्ली की ओर रवाना हो गए। यह दिल्ली की ओर जाने की योजना बहुत चतुराई की थी। पहले झटके में दिल्ली पर कब्जा कर विद्रोह को एक क्षण में राष्ट्रीय क्रांति का स्वरूप देने में और अंग्रेजी अभिमान पर कुल्हाड़ी चलाने में गुप्त योजनावालों ने अपनी अप्रतिम चतुराई दिखाई, इसमें रत्ती भर भी संदेह नहीं। यह योजना जितनी कुशलता से बनाई गई उतनी ही तेजी से उसे पार भी लगाया गया। विद्रोह होने की सूचना अंग्रेज अधिकारियों के कानों तक पहुँचती, तभी दिल्ली की ओर जानेवाले तार तोड़कर और रास्ता रोककर, कारागृह से अपने धर्मवीरों को मुक्त करके, अंग्रेजों के रक्त के नाले बहाकर, वे दो हजार सिपाही गोरे रक्त से रँगी अपनी तलवारें ऊँची उठाकर गर्जना करने लगे—'दिल्ली! दिल्ली!! चलो दिल्ली!!!'

□

प्रकरण–३

दिल्ली

श्रीमंत नाना साहब पेशवा अप्रैल के अंतिम भाग में दिल्ली आ गए थे। तब निश्चित हुई बातों के अनुसार ३१ मई के रविवार की सारे लोग उत्सुकता से राह देख रहे थे। दिनांक ३१ को सारे हिंदुस्थान भर में 'हर-हर महादेव' एक साथ गूँज उठा होता तो सच में अंग्रेजी साम्राज्य की इतिश्री होने और स्वतंत्रता की विजय दुंदुभि बजाने के लिए इतिहास को अधिक देर ठहरना न पड़ता; परंतु मेरठ के अग्रिम विद्रोह से क्रांति की तुलना में अंग्रेजों को अधिक लाभ हुआ।[१] मेरठ के बाजार में जिन तेजस्विनी महिलाओं ने सिपाहियों की जिंदगी पर थूका और 'मर्द हो तो कारागृह के वीरों को छुड़ाकर लाओ,' ऐसा कहकर हमारे इतिहास की नारियों की तेजस्विनी चेतना में एक स्फूर्तिदायी कथा तो जोड़ी फिर भी उन्होंने परदेसियों को बिना बताए सावधान कर अपने स्वदेशी नेताओं को अकल्पित गड्ढे में डाला। दिल्ली में सारे सिपाही नेटिव ही थे। उन्हें भी मंगल पांडे का समाचार सुनने के बाद

---

१. ''इतना सुनिश्चित था कि यदि संपूर्ण हिंदुस्थान में सहसा ही विद्रोह की ज्वाला धधक उठती और अंग्रेजों को इस विद्रोह के होने से पूर्व इसका पता न लग पाता तो हमारे (गोरे) बहुत ही थोड़े व्यक्ति इस वेगवान संहार से बच पाते। ऐसी स्थिति में ब्रिटिश राष्ट्र के लिए भारत पर पुन: विजय प्राप्त कर पाना एक अत्यंत ही कठिन कार्य होता अथवा अपने पूर्वी साम्राज्य में पराजय का एक अमिट कलंक सर्वदा के लिए हमारे मस्तक पर अंकित हो जाता।'' —मैलसन, खंड ५

''मेरठ के इस भयानक विद्रोह से हमें एक महान् लाभ अवश्य हुआ। वह यह था कि समूचे भारत के सैनिकों के विद्रोह का कार्यक्रम ३१ मई, १८५७ के निश्चित दिन क्रियान्वित होना था। किंतु इस समय से पूर्व भड़के उभार ने हमें समय से ही जागृत कर दिया।''

—ह्वाइट का इतिहास, पृष्ठ १७

से धीरज रखना कठिन हो रहा था। पर बादशाह और बेगम जीनत महल ने बड़ी कुशलता से सारी दिल्ली शांत बनाए रखी थी। इतने में १० मई को मेरठ की गुप्त समिति की ओर से दिल्ली की गुप्त समिति को संदेश आया कि हम कल आ रहे हैं, तैयारी रखो!! यह अपूर्व और आकस्मिक संदेश दिल्ली में पहुँचते-न-पहुँचते मेरठ से दो हजार सिपाही 'दिल्ली! दिल्ली!!' की गर्जना करते हुए निकल गए। उस रविवार की रात को पूर्ण रतजगा रहा। हजारों घोड़े दौड़ रहे हैं, हिनहिना रहे हैं, तलवारों और बैनेटों की खनखनाहट हो रही है, दो हजार रणोद्धत वीरों की कर्कश चिल्लाहट और गुप्त बातचीत निरंतर चल रही है—ऐसा यह भयानक दृश्य देखते हुए रात जाग रही थी। अंत में भोर हुई और अपना पीछा करता मेरठ का तोपखाना अभी भी नहीं आया, यह देखकर उत्साहित वे सिपाही रात भर हुए कष्टों को भूलकर एक क्षण भी कहीं न ठहरकर वैसे ही आगे बढ़े। मेरठ से दिल्ली कोई ३२ मील है। सुबह के आठ बजे सेना के प्रमुख हिस्से को यमुना का पवित्र दर्शन हुआ। स्वतंत्रता के पवित्र कार्य के लिए जानेवाले योद्धाओं को अपने शीतल जल से सिंचित कर प्रोत्साहन देनेवाली भगवती यमुना उन्हें दिखते ही उन हजारों योद्धाओं ने 'जय जमुनाजी' कहकर उसका वंदन किया। यमुना से दिल्ली शहर को जोड़नेवाले नाव के पुल पर से भारतीय घोड़े दौड़ते चले जा रहे थे। पर वे किसलिए दौड़ रहे हैं, यह यमुना नदी को ज्ञात है क्या? उसे यह बताए बिना जाना इष्ट नहीं है तो पकड़ो, वह कोई अंग्रेज पुल पर से जा रहा है; उसे और उसके गोरे रक्त को फेंक दो इस काली कालिंदी में। सिपाही क्यों दौड़े जा रहे हैं, इसका पूरा समाचार वह रक्त यमुना नदी को दे देगा।

वह नाव का पुल उतरकर सिपाही दिल्ली की प्राचीर से भिड़ गए। यह भनक लगते ही दिल्ली में स्थित अंग्रेज अधिकारी नेटिव सिपाहियों को परेड पर बुलाकर उन्हें राजनिष्ठा के व्याख्यान देने लगे। फिर ५४वीं पलटन को लेकर कर्नल रिप्ले विद्रोहियों का सामना करने निकला। ५४वीं पलटन के नेटिव सिपाहियों ने निकलते समय ही कहा कि कर्नल साहब, उन मेरठ के सिपाहियों को दिखाइए तो सही; फिर हम उन्हें देख लेंगे। क्या देख लेंगे, ये उस कर्नल को क्या मालूम? उसने बड़े गर्व से उन्हें शाबासी दी और वह पलटन विद्रोहियों का सामना करने चल दी। थोड़ा आगे जाते ही प्राचीर से मेरठ के घुड़सवार दौड़ते हुए आते दिखाई दिए। गुस्से से उग्रतम हुए और गोरे रक्त की अनिवार्य माँग करनेवाले उन घुड़सवारों के पीछे लाल रंग की वरदी में मेरठ का पैदल दल भी था। एक-दूसरे को देखते ही उन्होंने एक-दूसरे को सलामी दी और मेरठ की सेना दिल्ली की सेना से मिलने लगी। मेरठ की सेना ने—फिरंगी राज्य का नाश हो और बादशाह की जय हो—के नारे लगाए।

ये नारे सुनते ही दिल्ली की सेना ने 'मारो फिरंगी को' की प्रति-गर्जना की। यह क्या है? कहनेवाला कर्नल रिप्ले क्षण में ही गोलियों की बौछार में भूमि पर गिर गया और फिर उस रेजिमेंट के साथ आए सारे अंग्रेजों को एक साथ कत्ल कर दिया गया। इस तरह अपने स्वदेश प्रेम पर फिरंगी रक्त की मुहर लगाकर मेरठ के घुड़सवार नीचे उतरे और दिल्ली के सिपाहियों से गले मिलने लगे। यह समाचार सुनते ही शहर का कश्मीरी दरवाजा खुल गया और उस इतिहास प्रसिद्ध दरवाजे से 'दीन-दीन' की गर्जना करते स्वतंत्रता योद्धा दिल्ली में प्रवेश कर गए।

मेरठ सेना की दूसरी टुकड़ी कलकत्ता दरवाजे से अंदर घुसने लगी। वह दरवाजा पहले बंद किया हुआ था, परंतु इन सिपाहियों की भयानक थपकी पड़ते ही वह धीरे-धीरे पीछे हटने लगा और जल्दी ही उस दरवाजे पर नियुक्त पहरेवालों ने 'दीन-दीन' कहते विद्रोहियों को अंदर कर लिया। कलकत्ता दरवाजे से अंदर घुसे सिपाही प्रथम दरियागंज के यूरोपीय बँगलों की ओर गए और वे भवन कुछ क्षणों में आग बन गए। जो अंग्रेज आग से बचे वे तलवार के भक्ष्य बने। पास में ही अंग्रेजी अस्पताल था। उन्होंने विदेशी लोगों को आश्रय दिया हुआ है, यह ज्ञात हुआ। विलायती आदमियों को अंदर लेने के कारण दरियागंज के घरों को जो दंड मिला उसे देखने के बाद भी यह अस्पताल यदि विलायती लोगों को अंदर लेने का साहस करे तो किसीको भी गुस्सा आना स्वाभाविक है। उस अस्पताल की जमकर पिटाई करने के बाद वह शस्त्रधारी उग्रता अपने असंख्य अवयवों के साथ दिल्ली के घर-घर में गोरे रक्त को सूँघने चली! पर निशान के बिना सेना कैसी? और ऐसी सेना को कपड़े का निशान किस काम का? इसलिए जहाँ भी गोरा सिर मिले वहाँ उसे भाले पर टाँगकर उसका भयानक निशान 'दीन' के ताल पर नाचते हुए वह अपूर्व सेना आगे घुसती गई।

बादशाह के नाम का जयघोष करते हुए सिपाही और शहर के सैकड़ों लोग दिल्ली के राजमहल में घुसने लगे। रास्ते से घायल होकर भागता आया कमिश्नर फ्रेजर एक छोटे दरवाजे पर खड़ा था। उसे देखते ही मुगल बेग नाम के आदमी ने उसके गाल पर वार किया। यह इशारा होते ही सब विद्रोही दौड़ पड़े और सीढ़ियों पर क्षत-विक्षत हुआ कमिश्नर फ्रेजर आने-जानेवालों के पैरों तले कुचला जाने लगा। उसे कुचलते सिपाही वहाँ न रुककर ऊपर चढ़ गए और जिस कमरे में जेनिंग और उसका परिवार रहता था, वहाँ जाकर वे डरावने राक्षस की तरह खड़े हो गए। इतने में किसीने उस कमरे का दरवाजा लगाने का प्रयास किया पर वह एक धक्के से चरमरा गया और सिपाहियों की तलवार के नीचे वह जेनिंग, उसकी युवा कन्या, उसके यहाँ की मेहमान एक अंग्रेज स्त्री का खत्मा हो गया। दिल्ली के रास्ते पर से

मरते-मरते दौड़ा कैप्टन डगलस कहाँ है? भेजो उसे यम के घर! और ये कोने में घुसे कलेक्टर साहब? उन्हें भी जीवन की पेंशन पर भेजो। अब दिल्ली के राजमहल में फिरंगी सत्ता का नाम भी शेष नहीं रहा। अब जरा शांत बैठने में कोई हानि नहीं। घुड़सवारों ने अपने घोड़े राजमहल के मैदान में बाँधे और सारी रात दौड़ते आए सिपाही दीवानेखास के राजमहल में अपना सामान रख विश्राम करने लगे।

इस तरह दिल्ली का राजमहल लोक-सेना के हाथ आ गया और अब आगे क्या करना है, इस विषय पर बादशाह, बेगम साहिबा और सिपाहियों के नेता वार्त्ता करने लगे। पहले निर्धारित योजना के अनुसार ३१ मई तक रुकना अब मूर्खता थी। अत: कुछ सोच-विचार के बाद बादशाह ने क्रांतिकारियों से मिल जाना तय किया। इतना होते-होते मेरठ से विद्रोह कर निकला तोपखाने का बहुत सा भाग दिल्ली आ पहुँचा और उसने बादशाह के सम्मान में और स्वतंत्रता के लिए राजमहल में आकर इक्कीस तोपों की सलामी दी। सिपाहियों और अन्य लोगों की वार्त्ता के बाद भी जो थोड़ी चंचलता बादशाह के मन में शेष थी वह भी इन तोपों की गड़गड़ाहट में पिघल गई। और उस राजकीय सलामी की घन गर्जना में उस वृद्ध बादशाह के हृदय का अनंत राजतेज हड़बड़ाकर जाग उठा। उसकी उस भव्य और आदरणीय मूर्ति के सामने फिरंगियों के रक्त से सनी तलवार चलाते हुए सिपाहियों के नेता ने कहा, "खाविंद! मेरठ में अंग्रेजों की पराजय हो चुकी है, दिल्ली अपने हाथ में है और पेशावर से कलकत्ता तक के सारे सिपाही आपके आदेश की राह देख रहे हैं। अंग्रेजों की गुलामी की बेड़ियाँ तोड़कर अपनी प्रकृतिदत्त स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए सारा हिंदुस्थान जाग उठा है। ऐसे समय में यह स्वतंत्रता का निशान अपने हाथ में लें जिससे हिंदुस्थान के सारे बहादुर उसके सम्मान के लिए मरने को तैयार हो जाएँगे। हिंदुस्थान अपना स्वराज्य वापस लेने के लिए लड़ने लगा है और अब उसका नेतृत्व यदि आपने स्वीकार किया तो पल भर में हम उस फिरंगी राक्षसों को या तो समुद्र में डुबो देंगे या उनके शवों की दावत गिद्धों को देंगे।[१] हिंदू और मुसलमान दोनों ही जातियों के नेताओं का यह एक स्वर और उद्दीपक भाषण सुनकर बादशाह को स्वतंत्रता का उत्साह आने लगा। उसकी कल्पना के सामने शाहजहाँ और अकबर की मूर्तियाँ आने-जाने लगीं और अब गुलामी में रहने की अपेक्षा स्वदेश को स्वतंत्र करते-करते मरना ही अधिक श्रेयस्कर है, ऐसी दैवी स्फूर्ति उसके हृदय में संचरित होने लगी। आगे बादशाह ने कहा—"मेरे पास खजाना नहीं है और तुम्हें वेतन भी नहीं मिलेगा।" तब वे सिपाही बोले—"हम

१. चार्ल्स बाल कृत—'इंडियन म्युटिनी', खंड १, पृष्ठ ७४।

अंग्रेजों का खजाना लूटेंगे और आपके खजाने में भरेंगे।''[१] ''तो फिर आपका नेतृत्व मैं स्वीकार करता हूँ।'' ऐसा अभिवचन उस वृद्ध बादशाह से मिलते ही उस राजभवन में जमा उस प्रचंड जनसमूह ने बड़े जोर से गर्जना की।

राजमहल में जब यह सब गड़बड़ी चल रही थी तब शहर में जोर का ऊधम हो रहा था। दिल्ली के सैकड़ों लोग घर में जो शस्त्र मिले वही लेकर विद्रोही सिपाहियों से मिल रहे थे और यूरोपीय लोगों को काट डालने के लिए यहाँ-वहाँ घूम रहे थे। बारह बजे के आसपास दिल्ली के बैंक पर हमला हुआ। उसमें बैंक का मैनेजर बेरेस फोर्ड, उसकी पत्नी और उसके पाँच बच्चे मार डाले गए। वह भवन भी नष्ट कर दिया गया। फिर दिल्ली गजट के छापाखाने की ओर लोग गए। मेरठ का समाचार छापने के लिए कंपोजिटर कंपोजिंग कर रहे थे तभी दरवाजे पर 'दीन-दीन' की गर्जना हुई और कुछ ही देर में छापाखाने का हर ईसाई चीर दिया गया। वहाँ का सबकुछ—मशीनें आदि जो कुछ भी था—फिरंगियों के स्पर्श से अपवित्र हो गया था, अतः उसको नष्ट करके क्रांति की यह भयानक हवा आगे बढ़ी। परंतु अभी भी वह चर्च खड़ा होकर अपने धर्मयुद्ध की ओर देखता रहे, यह पूरी तरह अनुचित है। इस चर्च में हिंदुस्थान की दासता बनी रहने के लिए प्रार्थनाएँ की गई हैं। हिंदुस्थान में तुम्हारा राज्य रहना ही भयानक पाप है, अपने अनुयायियों को एक दिन भी इस चर्च ने ऐसा कहा था क्या? उलटे ऐसे पाप के अधिकारियों को ऐहिक और पारलौकिक संरक्षण देने के लिए इस पक्षपाती चर्च ने अपने पंखों को फैलाया हुआ है। हिंसा की ऐसी गुफा हमने अपने देश में निर्मित होने दी, उसका प्रायश्चित्त गाय और सूअर के रक्त से बने कारतूसों के रूप में हमें मिला। अभी भी सँभलो और उस चर्च की व्यवस्था करने के लिए पहले उसीकी ओर बढ़ो! देखते क्या हो? फोड़ो वह क्रॉस! दीवारों की सारी चमड़ी उखाड़ो, उस व्यासपीठ का चूरा बनाओ और बोलो दीन! रोज चर्च में आते समय यह घंटा बजता है। अब हम उसको घनघनाएँ। बज घंटा, बज! आज तू इतना बज रहा है पर कोई गोरा तेरी ओर क्यों नहीं बढ़ रहा। तुझे इन काले हाथों का स्पर्श भाता है क्या? हाथ का स्पर्श भला न लग रहा हो तो गिर जा नीचे! हमारे वे बंधु अपने पैरों का स्पर्श करने बुला रहे हैं। सारे घंटे टूटकर नीचे गिरने के बाद उनके गिरने की आवाज के साथ वे सिपाही भी विकट हास्य करते हुए एक-दूसरे को कहने लगे—''कैसा तमाशा है! क्या मजा है!!''

परंतु उधर दूसरी तरफ इससे भी भयानक तमाशा चल रहा था। राजमहल के

---

१. मेटकॉफ।

एक ओर अंग्रेजों की सेना के लिए तैयार किया हुआ एक बारूदखाना था। इस बारूदखाने में लड़ाई में आवश्यक सारा सामान ठूँस-ठँसकर भरा हुआ था। उसमें कम-से-कम नौ लाख कारतूस, आठ-दस हजार बंदूकें, तोपें और सीजट्रेन भरी हुई थीं। यह बारूदखाना अपने कब्जे में लेने का क्रांतिवीरों ने दृढ़ संकल्प किया। पर यह काम सरल नहीं था। उस बारूदखाने में नियुक्त अंग्रेज चाहे तो वहाँ लड़ने पहुँचनेवाले सबका नाश करने में एक क्षण भी लगनेवाला नहीं है। क्योंकि उस बारूदखाने को सुलगा देने के लिए एक तीली जलाकर डालना काफी था। इस काम में हाथ डालना बहुत ही जोखिम का था। काम फिर भी वह बारूदखाना कब्जे में लिये बगैर क्रांति का जीवन क्षण भर भी सुरक्षित न रहता, अत: यह काम पूरा करने हजारों सिपाही तैयार हो गए। उन्होंने उस बारूदखाने के अंग्रेज अधिकारी को शरण आने के लिए बादशाह के नाम से संदेश भेजा। परंतु ऐसे कागज के टुकड़ों को मान देकर अंगेजों ने इस देश का शासन प्राप्त नहीं किया था। लेफ्टिनेंट बिलोमी ने उस चिट्ठी को उत्तर देने का भी मान नहीं दिया। यह अपमान देखकर गुस्सा हुए हजारों सिपाही उस बारूदखाने की दीवार पर चढ़ने लगे। बारूदखाने के अंदर नौ अंग्रेज और कुछ भारतीय लोग थे। दीवार पर दिल्ली के बादशाह का निशान लगा देखकर भारतीय लोग अपने स्वदेश बंधुओं को तेजी से आकर मिलने लगे और उन नौ अंग्रेजों पर निराशा की छाया मँडराने लगी। सिपाहियों की लगातार मार के आगे अंग्रेज कितनी देर टिक सकेंगे, यह दिख ही रहा था। उन्होंने समय आने पर बारूदखाना उड़ा देने का निश्चय किया था, इसमें संदेह नहीं; क्योंकि यदि वे बारूदखाना स्वयं सौंप देते तो भी उनके प्राण सिपाही न लेते, इसपर उनका कोई भरोसा नहीं था। इधर सिपाही भी यह जानते हुए भी कि बारूदखाना उड़ाया जाएगा तो अपनी ओर की प्रचंड हानि होगी, टूट पड़े थे। इतने में दोनों ओर के लोग जिस भयानक आवाज की प्रतीक्षा में आशंकित थे वह हजारों तोपें एक साथ छूटने की जंगी आवाज हुई और उस बारूदखाने से आग की प्रचंड ज्वाला आकाश की ओर बढ़ गई। उन अंग्रेज वीरों ने स्वयं के प्राणों की आशा छोड़कर वह बारूदखाना शत्रु के कब्जे में न देते हुए अपने हाथों से सुलगा दिया और उस एक आवाज के साथ करीब पच्चीस सिपाही और आसपास के रास्तों पर के तीन सौ आदमी आकाश में उड़ गए।

परंतु क्रांति पक्षवालों ने इस बारूदखाने की आग में जान-बूझकर जो अपना नाश करवा लिया वह यूँ ही नहीं था। क्योंकि जो लोग इस बारूद के विस्फोट में बलि हुए, उनके आत्मयज्ञ से उस राज्य क्रांति को अपूर्व शक्ति मिली। जब तक यह प्रचंड बारूदखाना अंग्रेजों के कब्जे में था तब तक मुख्य केंद्र के नेटिव सिपाही

अपने अधिकारियों की अधीनता में थे। वे अपने स्वदेश बंधुओं पर हमला नहीं कर रहे थे, पर अंग्रेजों के विरुद्ध भी नहीं हुए थे। दोपहर चार बजे सारा दिल्ली शहर हिलानेवाले विस्फोट की आवाज सुनते ही वे कैंटोन्मेंट के सिपाही इकट्ठे हुए और 'मारो फिरंगी को' की गर्जना करते हुए अंग्रेजों पर टूट पड़े। मुख्य रक्षक गार्डन को किसीने उड़ा दिया। स्मिथ और रेह्वले को मार डाला और गोरा रंग दिखते ही 'टूट पड़ो—मार डालो' की ध्वनि होने लगी। एक शतक के बाद जाग्रत हुआ राष्ट्रक्षोभ अपने उग्र जबड़े के नीचे पुरुष, महिलाएँ, बच्चे, घर, दरवाजे, पत्थर, ईंटें, घड़ियाँ, मेज-कुरसियाँ, रक्त, मांस, अस्थियाँ—जिन-जिन चीजों को फिरंगी स्पर्श हुआ था सब पर क्रांतिकारियों का आक्रोश टूटा। उस सारी सचेतन दिल्ली के बादशाह का बहुत सख्त आदेश हो जाने के बाद ही बहुत से अंग्रेज लोग मृत्यु से बच पाए और राजमहल की कैद में पहुँचा दिए गए। परंतु लोकमत बादशाह के इस कृत्य के इतना विरुद्ध था कि चार-पाँच दिन खींचतान करने के बाद उसे अपने कब्जे के उन पचास फिरंगियों को लोगों को सौंप देना अनिवार्य हो गया। १६ मई को एक सार्वजनिक मैदान पर वे पचास फिरंगी ले जाए गए। वह दृश्य देखने के लिए इकट्ठा हुए हजारों नागरिकों ने उनके सामने फिरंगी राज्य और अंग्रेजों की बेईमानी की पूरी-पूरी निंदा की और फिर सिपाहियों का आदेश होते ही एक क्षण में उन पचासों के टुकड़े-टुकड़े कर दिए गए। सिपाही की तलवार से बचने कोई महिला या बच्चा गिड़गिड़ाने लगता तो—'मेरठ की बेड़ियों का बदला, गुलामी का बदला, बारूदखाने का बदला'—कहते हुए लोग बड़े जोर से चिल्लाने लगते। इस बदले की धार चढ़ी तलवार वह गिड़गिड़ाता भूरा सिर छाँट देती। ११ मई को अंग्रेजों के कत्लेआम का आरंभ होकर उसकी पूर्णाहुति १६ मई को हुई। इस बीच सैकड़ों अंग्रेज जान बचाके दिल्ली से भाग गए। किसीने मुँह पर काला रंग पोतकर नेटिव होने का स्वाँग रचा तो कोई जंगल-जंगल भागता धूप के कारण मर गया; किसीने कबीर के दोहे याद कर संन्यासी का स्वाँग बनाकर गाँवों में छिपने का साहस किया, पर भेद खुलते ही गाँववालों के हाथों मारा गया। कोई—यात्रा में थककर रास्ते में बैठ जाने पर—पास-पड़ोस के गाँववालों द्वारा फिरंगी कहकर काट डाला गया और कोई दयालु गाँववाले मिल जाने से उनकी कृपा पाकर मेरठ छावनी पहुँच गया।

बारूदखाने के विस्फोट में विद्रोही सैनिकों को भरपूर बंदूकें मिलीं और उसके कारण हर सिपाही के हिस्से में जो कत्ल हुआ, उसका समाचार सुनते ही सैकड़ों गाँवों ने अपनी सीमा में फिरंगी को घुसने न देने का संकल्प लिया। परंतु इन गाँवों या दिल्ली में इतने बवंडर के चलते हुए भी एक भी अंग्रेज महिला के शील पर किसीने आक्रमण नहीं किया था। यह बात अब अंग्रेजों द्वारा की गई

जाँच-पड़ताल में ही सिद्ध हुई है।[1] दिल्ली में कत्ल हो जाने के बाद उस अवसर के प्रत्यक्ष देखे हुए वर्णन के नाम पर कितने ही अंग्रेज धर्माधिकारियों ने जो भयंकर वर्णन किए हैं उनसे अधिक निंदात्मक, असत्य और घटिया बयान आज तक किसीने नहीं किया होगा। दिल्ली के रास्तों पर महिलाओं को नंगा कर घुमाया, सार्वजनिक रूप से उनका शील भंग किया गया, उनके स्तन काटे गए, छोटी बच्चियों पर अत्याचार किए गए आदि अमानवीय झूठ जिनके धर्मोपदेशक प्रकाशित करते हैं उन अंग्रेज लोगों की सत्यनिष्ठा कितनी घटिया होगी।[2] सन् १८५७ की राष्ट्रीय क्रांति इसलिए नहीं हुई थी कि हिंदुस्थान के लोगों को गोरी औरतें नहीं मिलती थीं। उलटे, गोरी महिला के मनहूस कदम (मराठी में पाढरा पाप अर्थात् गोरे पाँव) फिर से अपने घर में न पड़ें इसलिए सन् १८५७ का राष्ट्रक्षोभ उद्भूत हुआ था।

इस तरह मेरठ की महिलाओं के फुफकार से उठे उस भयानक चक्रवात के चक्कर में पड़ पाँच दिन के अंदर हिंदुस्थान में सौ वर्ष से जमा हुआ गुलामी का विषवृक्ष भरभराकर गिर गया। इन पहले पाँच दिनों में क्रांति पक्ष के नेताओं को जो अपूर्व सफलता मिली, उसका मूल कारण था अंग्रेजों की गुलामी से छूटने की उत्कट इच्छा का सारी जनता में पैदा होना। मेरठ की महिलाओं से दिल्ली के बादशाह तक सबके हृदय में स्वतंत्रता और स्वधर्म रक्षण की अनिवार्य इच्छा प्रादुर्भूत होने से और उस इच्छा को गुप्त संगठन के द्वारा पहले से ही व्यवस्था प्राप्त हो जाने से केवल पाँच दिन के अंदर हिंदुस्थान की इतिहास प्रसिद्ध राजधानी में स्वराज्य की प्राणप्रतिष्ठा हो गई। दिनांक १६ मई को दिल्ली में फिरंगी सत्ता का एक भी चिह्न शेष नहीं रहा था। अंग्रेजी वस्तुओं से दिल्ली को इतनी घृणा हो रही थी कि कोई अंग्रेजी भाषा का एक शब्द भी बोले तो उसे जमकर मार खानी पड़ती। अंग्रेजी निशान के टुकड़े गली-कूचों में कुचले जा रहे थे। और अपने आज तक के अपमान के दाग दासता के उष्ण रक्त से धोकर स्वच्छ हुआ स्वराज्य का चिह्न उस प्रचंड क्रांति के सिर पर डोल रहा था। यह स्वतंत्रता की इच्छा इतनी प्रबल थी कि पहले पाँच दिन में देशद्रोह की छूत कहीं नहीं लगी। पुरुष और महिलाएँ, श्रीमंत व

---

१. ''चाहे कितनी भी क्रूरता अथवा रक्तपात क्यों न किया गया और बाद में कितनी भी जन श्रुतियाँ क्यों न प्रसारित की गई हों कि महिलाओं से भी छेड़छाड़ की गई है, उनका अपमान किया गया है, किंतु जहाँ तक मैंने जाँच की है, इसकी सत्यता का कोई भी प्रमाण मुझे नहीं मिला।''

—आनरेबल सर विलियम म्यूर, के.सी.एस.आई., गुप्तचर विभाग के प्रमुख

२. चार्ल्स बाल, खंड १, पृष्ठ १०५।

गरीब, तरुण और वृद्ध, सिपाही और नागरिक, मौलवी और पंडित, हिंदू और मुसलमान सारे-के-सारे स्वदेश के निशान के नीचे अपने-अपने शस्त्र निकालकर परदेसी दासता पर हमले कर रहे थे। ऐसी विलक्षण स्वदेश प्रीति और स्वातंत्र्य प्रीति उबल रही थी और पर-सत्ता के प्रति इतनी घृणा उत्पन्न हो गई थी। इसलिए मेरठ की ललनाओं के वाक् बाणों से दिल्ली का सिंहासन प्रादुर्भूत हुआ।

ये पाँच दिन हिंदुस्थान के इतिहास में हमेशा चिरस्मरणीय रहें। क्योंकि मोहम्मद गजनी के आक्रमणों से प्रारंभ हुआ हिंदू और मुसलमान का प्रचंड युद्ध समाप्त हो जाने की घोषणा इन पाँच दिनों में हुई और हिंदू और मुसलमान के बीच का परायापन तथा विजेता-विजित भाव नामशेष होकर उनमें आपसी बंधुत्व भाव इन्हीं दिनों में प्रकट हुआ। मुसलमानों की परतंत्रता से श्री शिवराज, प्रतापसिंह, छत्रसाल, प्रतापादित्य, गुरु गोविंदसिंह तथा महादजी शिंदे द्वारा मुक्त भारत हुई माता ने—'इसके बाद तुम सब समान और सहोदर हो और मैं तुम दोनों की माँ हूँ' इस दिव्य मंत्र का उच्चारण किया। हिंदुस्थान अपना देश है और हमसब सगे भाई हैं, ऐसी गर्जना करते हिंदू-मुसलमानों ने सम समानता से और एकमत से दिल्ली के तख्त पर स्वराज्य का उभय स्वीकृत झंडा तभी खड़ा किया। ऐसे ये पाँच दिन इतिहास में चिरस्मरणीय रहें।

इन पाँच दिनों में हिंदुस्थान में लोकशक्ति का प्रथमोदय हुआ। अपने पर कौन राज्य करे, इस प्रश्न का निर्णय करने का कार्य लोकपक्ष का है। इस संवेदना का जन्म हिंदुस्थान में इन पाँच दिनों में हुआ। लोकपक्ष ने ही उस राज्य सिंहासन पर स्वसम्मत पुरुषार्थ की योजना की। लोगों को जो पसंद होगा उसीका राज्य स्वदेश पर चले, यह भावना और राजनीति लोकपक्ष का कर्तव्य है, यह चेतना हिंदुस्थान के शरीर में इन पाँच दिनों में उदय हुई।

लोकपक्ष की यह जयंती हिंदुस्थान के इतिहास में अविस्मरणीय रहे। □

प्रकरण–४

मध्यांतर और पंजाब

दिल्ली स्वतंत्र हो जाने की वार्त्ता विद्युत् वेग से फैलते ही उसकी आकस्मिकता ने सारे हिंदुस्थान में अपनों और परायों दोनों को क्षण भर के लिए तो चकित कर दिया। अंग्रेजों को तो तुरंत यह भी समझते न बना कि हम जो सुन रहे हैं उसका अर्थ क्या है ? सारे देश में शांति का साम्राज्य है, ऐसा जान कलकत्ता में लॉर्ड केनिंग सोए पड़े थे और इधर कमांडर-इन-चीफ ॲन्सन शिमला की ठंडी हवा में जाने के लिए सज रहे थे। उन्हें पहले जब दिल्ली स्वतंत्र हो जाने का अधूरा तार आया तब उस तार का वास्तविक अर्थ ही उनके ध्यान में न आया। यह वार्त्ता सुन अंग्रेजों में कितनी हड़बड़ी मची, उतनी हड़बड़ी चकित-विस्मित सारे हिंदुस्थानी लोगों में भी मची हुई थी। क्योंकि दिल्ली के इस अकल्पनीय विद्रोह से क्रांति रचना की सारी व्यवस्था ही मानो बिगड़ गई और दिल्ली के विद्रोह के आकस्मिक हल्ले में अंग्रेजों को भावी संकट की सूचना मिलने से उस संकट का परिहार करने का अवसर मिल गया। अकल्पित हमले से दिल्ली का सिंहासन जैसे एक-दो दिन में उनसे झटक लिया गया, वैसे ही ३१ मई को निश्चित पूर्व संकेत के अनुसार एक समय में यदि सब जगह विस्फोट होता तो सारे हिंदुस्थान का सिंहासन एक झटके में हथियाया जा सकता था। अब वह योजना तो मेरठ के विद्रोह के कारण उलझ गई थी, फिर भी दिल्ली कब्जे में आ जाने से विद्रोह को राज्य क्रांति का स्वरूप मिल गया और इस असंभव वार्त्ता से एक विलक्षण चेतना का जन्म हो गया था। अब इस चेतना का लाभ उठाकर एकदम विद्रोह किया जाए या पूर्व नियोजित संकेत के अनुसार ३१ मई की राह देखी जाए ? दिल्ली के विद्रोह की वार्त्ता सुन अन्यत्र क्या योजना चल रही है ? दिल्ली की जल्दबाजी से जैसा घोटाला हुआ वैसे ही अन्य स्थानों की सम्मति लिये बिना हम भी विद्रोह करें और अधिक घोटाला फैल गया तो क्या

होगा? ऐसी अनेक अनिश्चितताओं के कारण क्रांतिकारी नेताओं को—आगे क्या होना है—उसकी प्रतीक्षा करते हुए अपनी-अपनी जगह रुका रहना पड़ा। मंद गति जैसा क्रांति का प्राण हरण करनेवाला दूसरा विष नहीं है। क्रांति का विस्तार जितना त्वरित और जितना आकस्मिक होता है उतनी ही उसकी विजय की संभावना अधिक होती है। यह विस्तार का वेग शिथिल हुआ तो शत्रु को संरक्षण का अवसर मिल जाता है। जो पहले उठते हैं उनका उत्साह यह देखकर घटने लगता है कि अपने साथ कोई आ नहीं रहा और जो बाद में आते हैं उनके रास्ते में बीच के अवसर का लाभ लेनेवाला चतुर शत्रु अनेक बाधाएँ खड़ी कर देता है। इसलिए उठाव और प्रसार के बीच में अधिक समय जाने देना क्रांतियुद्ध के लिए हमेशा हानिकारक होता है। फिर भी जहाँ तक बने एक साथ विद्रोह करना निश्चित होते हुए भी बीच में ही आ पड़े पेंच के कारण विभिन्न स्थानों के क्रांतिकारी नेताओं को न ठहरते बन रहा था और न आगे बढ़ते।

क्रांतिकारी पक्ष की इस अपरिहार्य स्तब्धता का अंग्रेजों को बहुत लाभ हुआ। अंग्रेजों के पैर हिंदुस्थान में पड़ने के बाद से आज तक उन्हें ऐसी भयानक वार्ता सुनने का अवसर कभी भी नहीं आया था। इस मई माह में बैरकपुर से सीधे आगरा तक कोई सात सौ पचास मील में केवल एक गोरी रेजिमेंट थी। ऐसी स्थिति में क्रांतिकारी पक्ष के पूर्व संकेतानुसार यदि यह सारा प्रदेश एकदम उठ गया होता तो दस इंग्लैंड भी इकट्ठा हो जाते तो भी हिंदुस्थान कब्जे में न रहता। यह गोरी रेजिमेंट दानापुर में रखी गई थी। उधर पंजाब में सरहद पर पर्याप्त गोरी सेना थी। परंतु उसे उधर ही रखना आवश्यक था। ऐसी स्थिति में लॉर्ड केनिंग का पहला प्रयास था अधिक-से-अधिक गोरी सेना को जमा करना। उसी समय अंग्रेजों के भाग्य से ईरान की लड़ाई समाप्त हुई थी—इसलिए उस सेना को हिंदुस्थान जल्दी आने के आदेश हुए। ईरान की लड़ाई समाप्त होते ही अंग्रेजों ने चीन से बखेड़ा खड़ा कर उधर सेना भिजवाई थी। परंतु हिंदुस्थान में यह भयानक आँधी आते ही केनिंग ने चीन की ओर जानेवाली सारी सेना बीच में ही रोक लेने का निश्चय किया। इन दो सेनाओं के सिवाय रंगून में स्थित गोरी रेजिमेंट भी कलकत्ता में रख ली गई और मद्रास फ्युजिलियर नामक गोरी सेना को तैयार रखने को लिखा गया।

ये गोरी सेनाएँ जब सभी दिशाओं से यथासंभव वेग से कलकत्ता के लिए चल रही थीं तब केनिंग ने सिपाहियों के मन को फिर से एक बार कब्जे में लेने का प्रयास किया। उसने कहा, आपकी जाति और वर्ण विषयक रीति में हाथ डालकर हिंदुस्थान के धर्म को दुखाने का हमारा कोई इरादा नहीं है। सिपाही चाहें तो कारतूस अपने हाथों से बना लें। कंपनी का नमक जिन्होंने खाया है उनका ही यह विद्रोह

करना पाप है। इस प्रकार की बातों से भरा एक घोषणापत्र निकालने का अधिकार है या नहीं, जहाँ यही विवादास्पद विषय है वहाँ नया घोषणापत्र निकालने का अर्थ वह विवाद समाप्त करना नहीं बल्कि उसे चिढ़ाना है। लेकिन हिंदुस्थान के पास अब ये घोषणापत्र पढ़ने का समय नहीं है, क्योंकि दिल्ली में उसी समय घोषित दिव्य घोषणापत्र की ओर सबकी आँखें लगी हुई हैं। एक ही समय दो घोषणापत्र जारी हुए। कलकत्ता में गुलामी का, दिल्ली में स्वतंत्रता का। हिंदुस्थान को उस समय दिल्ली का घोषणापत्र भाया इसलिए केनिंग ने कलम तोड़कर कमांडर-इन-चीफ, दिल्ली को तुरंत तोपें दागने का आदेश दिया।

कमांडर-इन-चीफ ॲन्सन जब शिमला में था तब उसे दिल्ली के विद्रोह का तार मिला। उसे पढ़कर, अब क्या करना चाहिए इसका विचार वह कर ही रहा था कि केनिंग ने उसे तुरंत दिल्ली जीतने का आदेश दिया। विद्रोहियों की योजना का या शक्ति का अंग्रेजों को इतना अज्ञान था कि उन्हें लगता था, दिल्ली एक हफ्ते में छीनी जा सकती है और एक बार दिल्ली जीती तो उस माह के अंत में विद्रोह का अंत हो जाएगा। पंजाब का मुख्य अधिकारी सर जॉन लॉरेंस भी दिल्ली पर कब्जा करने को जोर डाल रहा था। परंतु दिल्ली जीतना कितना कठिन है, इसका केनिंग और लॉरेंस की तुलना में कुछ अधिक सही अनुमान ॲन्सन को था, अतः समुचित सामग्री इकट्ठी करने के पहले दिल्ली की ओर नहीं जाने की नीति उसने बनाई। शिमला की ठंडी हवा छोड़ मुख्य सेना स्थल की ओर ॲन्सन आ भी न पाया था कि वहाँ शिमला में हुल्लड़ मच गया। गुरखाओं की नासिरी बटालियन ने विद्रोह किया, यह समाचार शिमला आते ही अंग्रेजों का धीरज छूट गया। उस वर्ष शिमला में भी इतनी गरमी थी कि अंग्रेजों को सहन न हो सके। ऐसे आसार दिखने लगे कि शिमला में बनाए गए हवादार बँगलों और वृक्षों के बगीचों में आज तक भोगे राजविलास का अब भयंकर किराया देना पड़ेगा। गुरखा पलटन आई, ऐसा एक शोर होते ही गोरी औरतें और बच्चे जिधर राह दिखे उस तरफ भाग निकले। इस भागमभाग में अंग्रेज पुरुषों ने स्वाभाविक ही महिलाओं को पीछे छोड़ दिया—और वह भी अपने सामान के थैले पीठ पर बँधे होते हुए। अंग्रेजी धैर्य का प्रदर्शन दो दिन निरंतर चलता रहा लेकिन जब गुरखा न आए तो हारकर वह प्रदर्शन बंद करना पड़ा। इसी समय कलकत्ता में भी रोज ऐसा ही होता था। कलकत्ता के पास बैरकपुर की नेटिव रेजिमेंट ने विद्रोह किया, यह अफवाह बार-बार उठती और अंग्रेजों की औरतें, बच्चे और पुरुष रास्ते से पोर्ट की ओर दौड़ते दिखाई देते। कितनों ने इंग्लैंड का टिकट निकाल लिया, कितनों ने अपनी गठरियाँ बाँधकर पोर्ट की ओर भागने की तैयारी रखी और अनेक दफ्तर के काम छोड़ कोने-कोने में छिपे रहते। ऐसा डर

मेरठ और दिल्ली में था फिर भी अंग्रेजों का कानपुर अभी बचा हुआ था!

कमांडर-इन-चीफ अॅन्सन ने अंबाला आते ही दिल्ली पर घेरा डालने के लिए सीजट्रेन तैयार करना शुरू किया। हिंदुस्थान पर आज तक कभी ऐसा संकट न आया था। अंग्रेजों की शक्ति की बंद मुट्ठी लाख की होते हुए भी अंदर की स्थिति शोचनीय थी। अॅन्सन को किसी तरह भी जल्दी करना असंभव हो गया। अंग्रेजों के काले सिपाहियों को 'चल' कहते ही चलाया जा सकता था, परंतु अब गोरे सिपाहियों को केवल 'चल' कहने से कैसे चलेगा? उनका एक-एक का दिमाग और आज तक बढ़ता मिजाज अब एकाएक कैसे सँभले! उसमें भी अब नेटिवों से पहले जैसी हर तरह की सहायता मिलना पूरी तरह असंभव था। गाड़ियाँ मिली नहीं, मजूर मिले नहीं, रसद मिले नहीं, जख्मी लोगों के लिए डोली मिली नहीं। ऍडज्यूटेंट, क्वार्टर मास्टर, कमिसारी, मेडिकल चीफ हर कोई अपने-अपने विभाग की तैयारी करना छोड़ 'नकार' का घंटा बजाने लगा। हिंदुस्थानी लोगों के आश्रय बिना अंग्रेजी सत्ता धूल पर की गई लिपाई जैसी है। सन् १८५७ में इस कुचली हुई धूल में थोड़ा चैतन्य आते ही अंग्रेजों को अंबाला से दिल्ली तक आना कठिन हो गया। क्योंकि—"Natives of all classes stood aloof, waiting and watching the issue of events. From the capitalists to the coolie all shrunk alike from rendering assistance to those whose power might be swept away in a day."[१]

उपर्युक्त लेखक कहता है, हिंदुस्थान के नेटिव ऐसे ही चुप हो बैठते तो अंग्रेजी सत्ता वास्तव में एक दिन में फेंक दी गई होती। परंतु सन् १८५७ में वह दिन उगनेवाला नहीं था। सन् १८५७ उस दिन के भोर की रात थी। जिन्हें वह भावी भोर दिखने लगी वे नींद छोड़कर उठे। परंतु जिन्हें वह तत्कालीन रात ही दिखी वे अपना गुलामी का खींचा हुआ ओढ़ावन और खींचकर सो गए। इन उनींदे लोगों में कुंभकर्ण का सम्मान पानेवाली पटियाला, नाभा और जींद ये तीन रियासतें थीं। इन रियासतों के हाथों में सन् १८५७ की क्रांति का जीवन या मृत्यु थी। ये रियासतें दिल्ली और अंबाला के बीच में थीं, अत: उनके आधार के बिना अंग्रेजों की पीठ बिलकुल सुरक्षित रहनेवाली नहीं थी। ये रियासतें अन्य रियासतों की तरह केवल चुप रही होतीं तो भी क्रांति सफल होने की बहुत संभावना थी। परंतु पटियाला, जींद और नाभा इन तीनों ने जब अंग्रेजों से भी अधिक क्रूरता से सन् १८५७ की राज्य क्रांति को चोट पहुँचाना प्रारंभ किया तब पंजाब और दिल्ली, इन दो हिस्सों

---

१. के कृत—'इंडियन म्युटिनी', खंड २।

की यह जंजीर एकाएक टूट गई और उस क्रांति के अवयवों की संगति क्षणार्ध में नष्ट हो गई। इन रियासतों ने दिल्ली के बादशाह की ओर से आए निमंत्रण को धिक्कार दिया; निमंत्रण देने आए सवारों को मार डाला; स्वयं के खजाने से अंग्रेजों पर पैसों की सतत वर्षा थी। जिस प्रदेश से अंग्रेजी सेना जानेवाली थी उस प्रदेश को सैन्य संरक्षण दिया; अंग्रेजों के साथ दिल्ली पर हमला करने गए सैनिक और पंजाब के क्रांतिकारी लोग जब दिल्ली के स्वदेशी निशान को सँभालने घर-द्वार छोड़कर दौड़ने आए तब इन सिख रियासतों ने—इन गुरु गोविंदसिंह के चेलों ने— अत्यधिक क्रूरता से उनका वध किया, यंत्रणा दी।[१]

पटियाला, नाभा और जींद की सहायता मिलना पक्का होते ही अंग्रेजों में विलक्षण धीरज आ गया। पटियाला के राजा ने अपने भाई के साथ उत्तम सेना और तोपें देकर उसे ठाणेश्वर का रास्ता रोकने भेज दिया और जींद के राजा ने पानीपत की चौकी पर कब्जा जमाया। ये दो अति महत्त्वपूर्ण चौकियाँ इस तरह परस्पर रोकी जाने से अंबाला से दिल्ली तक के मार्ग और पंजाब का निरंतर यातायात—ये दो बहुत नाजुक बातें संरक्षित हो गईं और कमांडर-इन-चीफ ने २५ मई को अंबाला छोड़ दिल्ली की ओर स्वयं कूच किया। पर दिल्ली स्वतंत्र हो जाने का समाचार सुनने के पश्चात् उसके धक्के से ॲन्सन पूरी तरह हताशा से भर गया था। उसमें भी शिमला की ठंडी हवा में जो आज तक कभी अनुभव नहीं हुई ऐसी गरमी में उसे झुलसना पड़ा था। इन मानसिक और शारीरिक चिंताओं से कृश हुआ वह कमांडर-इन-चीफ करनाल तक आते-आते २७ मई को कोलरा की बीमारी से मर गया। उस दिन उसके अधीनस्थ अधिकारी बर्नार्ड ने कमांडर-इन-चीफ के अधिकारों को सँभाला।

इस तरह पुराने कमांडर-इन-चीफ को गाड़कर अंग्रेजी सेना नए कमांडर के नेतृत्व में दिल्ली की ओर बढ़ी। उस समय उस अंग्रेजी सेना में इतना उत्साह था कि सुबह लड़ाई आरंभ कर शाम को दिल्ली शहर में शत्रु का रक्त गटगट पिएँगे, ऐसी घमंड भरी बातें वे खुलेआम करने लगे। गोरे सिपाहियों के काले हृदय में कितना

---

१. इस वर्णन से अधिक हृदयद्रावक वर्णन सत्तावन के क्रांतियुद्ध में मिलना मुश्किल है। जिस प्रदेश से अंग्रेजों को संरक्षण मिलता था उसी प्रदेश से स्वधर्म और स्वराज्य के लिए हथेली पर सिर लिये स्वकीयों को केवल रास्ता भी न मिले! इतना ही नहीं अपितु उनमें के हजारों लोगों को शत्रु से भी अधिक यंत्रणा देकर मार डाला जाए! इस अमानुषिक पाप का प्रायश्चित्त हिंदुस्थान के इतिहास में कभी हो तो हो। इस यंत्रणा का वर्णन—'टू नेटिव नैरेटिव्स ऑफ दि म्युटिनी इन दिल्ली' में देखने को मिलेगा।

हलाहल भरा हुआ है यह सेना अंबाला से दिल्ली आ रही थी उस समय वे पूरे जग को यह दिखा रहे थे कि मेरठ की नेटिव सेना का क्या? वे तो हर तरह से काफिर (Heathen) थे। उन्होंने कारतूसों के निर्माण में हड्डियों का चूरा मिलाने की गप पर विश्वास कर मेरठ और दिल्ली में निरपराध अंग्रेजों को कत्ल किया। यह नेटिव के देश और धर्म का जंगलीपन था, परंतु इसके नीचे जो ढका हुआ है, संभव है वह कभी स्पष्टता से प्रकट भी न हो। क्योंकि काफिरों की अपेक्षा ईसाई गप्पों की विश्वसनीय बातों और जंगलीपन में सुधार को ही परमेश्वर अधिक धिक्कारेगा और उस गंदगी को धोने के लिए उसे रक्त की वर्षा करनी पड़ेगी।

अंबाला से दिल्ली की ओर आते समय हजारों गाँवों में से जिन-जिनपर हाथ डाला जा सका, उन सारे भारतीय आदमियों को एक साथ पकड़ा जाता और तुरंत आधे घंटे में उनका कोर्ट मार्शल कर पंक्ति में खड़ा कर, सबको फाँसी का दंड देकर, तरह-तरह की यंत्रणाएँ देकर मार डाला जाता। मेरठ में नेटिवों ने भी अंग्रेजों को मार डाला था। परंतु वह जंगलीपन से अर्थात् एक आघात से मारा गया था। परंतु अंग्रेजों ने उस त्रुटि को सुधारकर बहुत अच्छा किया। वे कोर्ट मार्शल के आगे केवल दृष्टिपात होते ही फाँसी का दंड दिए गए सैकड़ों लोगों को, उनके फाँसी के खंभे खड़े करते हुए ही पैशाचिक यंत्रणाएँ देने लगते, उनके सिर के बाल तड़ातड़ तोड़ते, उनके शरीर में बैनेट के सिरे से आर-पार छेद किए जाते और तत्पश्चात् इन सारी यंत्रणाओं और प्रत्यक्ष मृत्यु को भी जिसके आगे आनंद से स्वीकारा होता वह भयंकर पाप उन्होंने उनसे करवाया। गोरे सिपाही उन गरीब, निर्दोष और निरपराध हिंदू लोगों के मुँह में, उनके फाँसी पर चढ़ने को तैयार होने पर भी जबरन गाय का कच्चा मांस कुचल-कुचलकर भरते।[१]

वह कोर्ट मार्शल क्या झमेला था, यह जंगली पाठक वर्ग को बताना रह ही गया। गाँवों के निरपराध लोगों को सैकड़ों की संख्या में पकड़कर उनका 'न्याय' किया जाता। इस न्याय की घुट्टी यूरोपियन राष्ट्र पहले से ही पिए होते हैं। नीदरलैंड की राज्य क्रांति में अल्वा ने भी ऐसा ही एक न्यायासन स्थापित किया था। उस न्यायासन की कार्यवाही इतने ध्यान से चलती कि वहाँ के न्यायाधीश बीच में ही सो जाते और दंड देने का समय आने पर उन्हें हिलाकर जगाए जाने पर जितने कैदी सामने दिखते उतनों की ओर एक गंभीर नजर डालकर वह कहते—'चढ़ाओ इन्हें फाँसी पर!' नीदरलैंड के इतिहास में अंकित इस 'यमासन' को अंग्रेजों ने सुधारकर विकसित किया था, इसमें कोई शंका नहीं, क्योंकि इनके न्यायाधीश कभी

---

१. होम्स कृत—'हिस्ट्री ऑफ दि सीज ऑफ दिल्ली'।

भी सोते नहीं थे। इतना ही नहीं, कोर्ट मार्शल पर नियुक्त होने के पूर्व उन्हें यह शपथ लेनी पड़ती थी कि हम निरपराध या अपराधी यह भेद न करके सबको फाँसी का दंड देंगे।[१] यह पवित्र शपथ लेकर अंग्रेज लोग निरपराध नेटिव को फाँसी पर चढ़ाने के लिए जहाँ न्याय करते हैं उस स्थान को अंग्रेजी भाषा में 'कोर्ट मार्शल' कहा जाता है।

मेरठ और दिल्ली में मारे गए मुट्ठी भर अंग्रेज लोगों के लिए हजारों निरपराध लोगों से ऐसा पैशाचिक प्रतिशोध लेते हुए कमांडर बर्नार्ड दिल्ली के पास पहुँचने के पहले मेरठ में शेष बची गोरी सेना से मिलने का अवसर देख रहा था। मेरठ में अंग्रेजों की बड़ी सेना थी, यह पहले कहा जा चुका है। वह सेना अंबाला से निकली सेना से मिलने नीचे उतर रही थी। परंतु इन सेनाओं के मिलने के पहले ही उनसे दो-दो हाथ करने क्रांतिकारी दिल्ली से आगे आए हुए थे। हिंडन नदी के किनारे दोनों ३० मई को मिले। क्रांतिकारियों का दायाँ बाजू तोपों से सुरक्षित था। अत: उस ओर मुँह मारने का प्रयास करने में अंग्रेजों को सफलता नहीं मिल रही थी। दाईं ओर तोपों और संगीनों की लड़ाई अच्छी जम रही थी, इतने में अंग्रेजों की मार के सामने बिलकुल न टिकते हुए क्रांतिकारियों का बायाँ बाजू उखड़ने लगा। यह देखते ही उनकी पंक्तियों में भगदड़ मच गई और पाँच तोपों को शत्रु के हाथों छोड़कर वे दिल्ली लौट आए। इस पहली लड़ाई में क्रांतिकारियों की हुई हार का अपयश देखकर ११वीं रेजिमेंट के एक शूर सिपाही ने तत्काल मृत्यु गले लगाई। अन्य अपने कर्तव्य करें न करें परंतु स्वयं मरने के पहले अपना जीवन किसी तरह सार्थक कर जाऊँ, ऐसी उदात्त स्फूर्ति से उस ११वीं रेजिमेंट के सिपाही ने अंग्रेजों के हाथों तोप पड़ेगी, यह जानते ही जान-बूझकर तोप और बारूदखाने में बंदूक चलाई। उसके जंगी धमाके में कैप्टन एंड्रयूज और उसके सारे साथी जलकर खाक हो गए तथा अनेक अंग्रेज घायल होकर गिर पड़े। स्वदेश भूमि को इतने शत्रु-सिरकमल अर्पित करने के बाद उस देशवीर ने अपना भी सिरकमल उसकी सेवा में

---

१. ''सैनिक पंच न्यायालय के आसन को ग्रहण करने के पूर्व प्रत्येक पंच द्वारा यह शपथ ग्रहण की जाती थी कि मैं बंदी के अपराधी अथवा निर्दोष होने की चिंता न करते हुए उसे प्राणदंड दूँगा। और यदि उनमें से कोई इस विवेकहीन निर्णय के विरुद्ध अपना मुख खोलता भी था तो उसके अन्य साथी उसका मुख बंद कर देते थे। निर्णय के तत्काल उपरांत ही फाँसी के फंदों पर जाते हुए बंदियों को प्रताड़ना दी जाती थी और उनका उपहास भी किया जाता था। उन्हें अनाड़ी-हत्यारे भाँति-भाँति की यंत्रणाएँ देते थे और पढ़े-लिखे अधिकारी मनोरंजन करते थे।''

—होम्स कृत—'हिस्ट्री ऑफ दि सेपॉय वार', पृष्ठ १२४

अर्पित किया। दिल्ली में बारूदखाना उड़ा देने के लिए कैप्टन विलोबी के स्तुति स्तोत्रों में जिस तरह अंग्रेज इतिहासकार रम जाते हैं, वैसे ही केवल राष्ट्रकार्य के लिए प्राण निछावर करनेवाले उस शूर सिपाही के स्तुति स्तोत्र गाने में क्या उसके देशबंधुओं को नहीं रँगना चाहिए? पर इस शहीद का नाम भी इतिहास को ज्ञात नहीं। इस देशवीर के लिए 'के' कहता है—"विद्रोहियों में भी ऐसे अनेक शूरवीर विद्यमान थे जो अपने राष्ट्र-कार्य की सफलता हेतु प्रसन्न वदन मृत्यु का आलिंगन करने को तत्पर रहते थे तथा काल को भी चुनौती देते थे।"[१]

इस पहली लड़ाई में अंग्रेजों की पूर्ण विजय हो जाने से कलकत्ता तक इस अनुमान से डाक द्वारा यह पूछताछ होने लगी कि अब एक-दो दिन में दिल्ली गिरने को है; परंतु वास्तविक स्थिति कितनी अलग थी। इस अभूतपूर्व, आकस्मिक और अस्त-व्यस्त क्रांतियुद्ध का विकराल स्वरूप देखकर भी वह पहला धक्का सहकर उसपर अंकुश लगाने की खूबी और हिम्मत यद्यपि उत्पन्न नहीं हुई थी, तो भी अपने स्वदेश को स्वतंत्र किए बिना जब तक जान में जान है तब तक रुकना नहीं, यह इच्छा अवश्य अति उत्कटता से दिल्ली के हजारों नागरिकों के हृदय में उछल रही थी और इसीलिए दिनांक ३० की पराजय के लिए सारी रात नागरिकों द्वारा धिक्कारे गए सिपाही फिर से ३१ मई को बाहर निकले। क्रांतिकारियों की तोपों की भारी मार शुरू होते ही अंग्रेजों ने भी अपनी तोपें दागनी शुरू कीं। क्रांतिकारियों की तोपें आज अच्छे अनुशासन और बड़ी जिद से हमला कर रही थीं, इसलिए अंग्रेजों की प्राणहानि भी बहुत होने लगी। मई माह की धूप अंग्रेजों को असह्य थी सो अलग। फिर भी अंग्रेजों ने कल की तरह हमला करने का प्रयास किया, पर वह सफल नहीं हो रहा था। अंत में शाम को अंग्रेज अंतिम हमला करने निकले। इसके आगे उन्हें रोकना कठिन होगा, यह देखते ही क्रांतिकारियों ने तोपों का एक भयानक हमला किया और उस हमले से अंग्रेजों की तितर-बितर हुई सेना फिर से एकत्रित हो तब तक अपनी तोपें सँभालते हुए रणांगण छोड़ दिया। कोई बात नहीं, एक दिन में स्थिति कुछ सुधरी ही है। कल और ऐसी तीसरी पराजय झेली तो भी अंगेजों की दुर्दशा होगी, क्योंकि अब उनमें क्रांतिकारियों से छोटी हाथापाई करने लायक भी शक्ति नहीं है। जून की पहली तारीख को ऐसी चिंता में पड़े अंग्रेजी कैंप के पीछे से एक सेना आती दिखी। अपनी पिछाड़ी पर चली आ रही यह सेना काले रंग की है, यह देखते ही अंग्रेजों में हड़बड़ी मच गई और वे किसी तरह संरक्षण के लिए तैयार होते तभी उनके ध्यान में आया कि वह क्रांतिकारियों की सेना नहीं है अपितु

---

१. के कृत—'हिस्ट्री ऑफ इंडियन म्युटिनी', खंड २, पृष्ठ १३८।

मेजर रीड की अधीनता में अंग्रेजों की ओर से लड़ने गुरखे आ रहे हैं। अंबाला से नीचे आ रही अंग्रेजी फौज को सिखों की सहायता और मेरठ से नीचे आ रही फौज को गुरखों की सहायता! ऐसी स्थिति में बेचारे गरीब क्रांतिकारी क्या करेंगे? ये दोनों अंग्रेजी सेनाएँ ७ ज़ून को एक-दूसरे से मिल गईं। इस समय दिल्ली पर घेरा डालने के लिए तैयार करवाई गई। सीजट्रेन भी नाभा के राजा की सहायता से सही-सलामत आ पहुँची। इस सीजट्रेन के अंबाला पहुँचते ही उसे साथ लेकर ५वीं रेजिमेंट सहित अंग्रेजों की इकट्ठी हुई वह सेना हमला करने के लिए दिल्ली के पास के अलीपुर गाँव तक आ पहुँची।

अंग्रेजी सेना के अलीपुर पहुँचने का समाच.र सुनते ही क्रांतिकारी फिर से दिल्ली के बाहर निकले और उनका बुंदेल की सराय नामक स्थान पर अंग्रेजी सेना से सामना हुआ। इस समय अंग्रेजों की सेना भरपूर सामग्री, उत्तम सेनापति, ताजा दम सैनिकों और लाभ का स्थान, इतनी बातों से युक्त थी तो क्रांतिकारियों की ओर उनकी सदिच्छा के सिवाय दूसरी कोई शक्ति नहीं थी। जिसने रणभूमि का कभी मुँह भी नहीं देखा, ऐसे एक राजपुत्र पर सेनापतित्व का दायित्व था। उनकी संख्या में सिपाहियों से असैनिक ही अधिक थे और उसमें भी अपने ही देशबंधु सिख और गुरखा—फिरंगियों की ओर होने से उनका मन निरुत्साहित था। ऐसी स्थिति में यह लड़ाई एक बहुत बड़ा तमाशा होगा, ऐसा विश्वास अंग्रेजों को था। परंतु इतनी विरोधी बातों की भी परवाह न करती स्वराज्य की विलक्षण चेतना उन सिपाहियों के मन में उत्पन्न हो गई थी जिससे उन्होंने अंग्रेजी सेना को टक्कर देने में ऐसा कमाल किया कि अंग्रेजों को जल्दी ही समझ में आ गया, यह तमाशा न होकर वास्तव में जान लेने या देनेवाली लड़ाई है। दिल्ली की सेना की तोपें इतनी जिद और जोर से मार करने लगीं कि ऐसा लगने लगा जैसे उसके सामने अंग्रेजी सेना की कुछ भी नहीं चलेगी। अंग्रेजी तोपखाने के गोलंदाज और अधिकारी चट-पट मरने लगे और क्रांतिकारियों की तोपों की मार और भी तेज हो गई। यह देखते ही अंग्रेजों ने अपनी पैदल सेना को तोपों पर हमला करने का कड़ा आदेश दिया। यह अंग्रेजी पैदलों का हल्ला देखते-ही-देखते क्रांतिकारियों के तोपखाने से आकर भिड़ गया, फिर भी उस दिन क्रांतिकारी तोपें छोड़कर एक इंच भी इधर-उधर नहीं हुए। स्वराज्य और स्वदेश के लिए लड़नेवाले वीरों को शोभा दे, ऐसी ही अटल रीति से अंग्रेजी सेना की संगीन छाती में घुसने तक उन्होंने अपना स्थान नहीं छोड़ा। परंतु ऐसे शूर मर्दों को अपनी कृति से उत्तेजना देना तो दूर, उनके साथ अंत तक केवल खड़ा रहनेवाला सेनापति भी उन्हें नहीं मिला था, बल्कि जब अंग्रेजों की संगीन छाती में घुसने के बाद भी अपना स्थान छोड़कर एक पैर भी पीछे न हटानेवाले वीर

स्वदेश और स्वधर्म के लिए प्राण न्योछावर कर रहे थे तो उनका कमांडर-इन-चीफ तोप की पहली आवाज होते ही सिर पर पाँव रखकर दिल्ली भाग गया था। इतने में उस अभागी सेना की बाईं ओर अंग्रेजों के घुड़सवार टूट पड़े और उनपर पीछे से होपग्रांट ने घुड़सवार-तोपखाने से हमला किया। इस तरह अपनों और परायों द्वारा अनाथ हुई वह सेना दिन भर लड़ी गई लड़ाई का कुछ भी श्रेय न मिलने पर तितर-बितर होकर दिल्ली में घुसने लगी। जनरल बर्नार्ड ने इस विजय का अधिकतम लाभ प्राप्त करने हेतु अपनी सेना को उन्हें वैसे ही धकियाते जाने का आदेश दिया और वह अंग्रेजी सेना उस दिन शाम तक दिल्ली की दीवारों से आ भिड़ी। उस दिन की लड़ाई में क्रांतिकारियों का शहर-बाहर का सारा कब्जा नष्ट हो गया और अंग्रेजों को दिल्ली पर मोरचा लगाने के लिए अति उत्तम स्थान मिल गए। यहाँ यह कहना आवश्यक है कि उस दिन की लड़ाई में सीमूर की गुरखा पलटन ने बड़ा पराक्रम दिखाया, इसलिए अंग्रेजी इतिहासकार उन्हें बहुत शाबासी देते हैं। स्वदेश स्वतंत्रता के गले पर छुरी चलाने के काम में अति उत्सुकता और अद्वितीय शूरता दिखाने के कारण उन गुरखों के नाम सदा-सर्वदा के लिए शापित हुए हैं, इसमें तिल भर भी शंका नहीं।

इन देशद्रोही गुरखों की सहायता से अंग्रेजों ने बुंदेल की सराय की लड़ाई जीती अवश्य, परंतु इस जय ने उनके मनोराज्य को धूल में मिला दिया; क्योंकि दिल्ली के बाहर दोपहर लड़ाई लड़कर उस दिन की रात दिल्ली के राजमहल में रिपुरक्त का प्राशन करते बिताएँगे, ऐसी जो अंग्रेज सैनिकों को आशा थी वह इस लड़ाई ने पूरी तरह खत्म कर डाली। दिल्ली में केवल असैनिक लोग ही नहीं भरे थे, स्वराज्य और स्वधर्म के रक्षणार्थ म्यान से बाहर निकली तलवारें भी सिद्धांतनिष्ठा के संकल्प के साथ उस प्राचीर पर बीच-बीच में झलकती हैं, यह अप्रिय सत्य अंग्रेजों की नजर में इस लड़ाई ने ला दिया। इस लड़ाई में अंग्रेजों के एक सौ चौंतीस लोग घायल हुए तथा चार अधिकारी और सैंतालीस लोग मारे गए। परंतु इन सब मृतकों में अंग्रेजी लश्कर में दुःख और उदासीनता फैलानेवाली जो मृत्यु हुई वह ऍडज्यूटंट जनरल कर्नल चेस्टर की थी। लड़ाई की भीड़ में यह मृत्यु हुई। क्रांतिकारियों की ओर की हानि बताते हुए अंग्रेज इतिहासकार उपन्यासकारों से भी बढ़-चढ़कर कैसा वर्णन करते हैं यह आगे दिखेगा। परंतु इस प्रथम महत्त्वपूर्ण लड़ाई की गड़बड़ में भी विशेष रूप से उल्लेखनीय एक बात अवश्य कहनी है कि उस दिन अंग्रेजों के हाथ लगी क्रांतिकारियों की तोपों की संख्या एक तेरह कहता है और दूसरा पूरी छब्बीस, जबकि ये दोनों ही वहाँ उपस्थित सरकारी अधिकारी थे।

इस तरह दिनांक ८ जून को संध्या समय अंग्रेजी सेना ने दिल्ली की प्राचीर तक आकर तंबू ठोंके। अंबाला और मेरठ से दिल्ली की ओर अंग्रेजी सेना को अबाधित रीति से लाने का कार्य—पंजाब की स्थिति पर पूरी तरह अवलंबित होने से उस महत्त्वपूर्ण प्रांत में मेरठ के विद्रोह के क्या परिणाम हुए, वहाँ के स्वदेशी लोगों ने क्या प्रयास किए और उनका प्रतिकार करने के लिए अंग्रेजों के सोचे हुए उपायों को कितनी सफलता मिली, इस सबका जायजा लेना अति आवश्यक है। सिखों का साम्राज्य डुबोकर पंजाब प्रांत को पूर्णतया ब्रिटिशों के अधीन लाने के बाद डलहौजी ने उन लोगों का सैनिकी बाना और स्वतंत्रता प्रेम, इन दो सद्‌गुणों का नाश करनेवाली अपनी राज्य व्यवस्था की नीति रखी। सर हेनरी लॉरेंस और सर जॉन लॉरेंस इन दो प्रमुख कूटनीतिज्ञों को प्राप्त इस नवीन प्रांत की राज्य व्यवस्था मिलते ही उन्होंने पंजाब के लोगों को पूरी तरह नि:शस्त्र कर दिया। उनमें से अधिकतर सिख सिपाहियों को उन्होंने अपनी सेना में मिला लिया। उत्तर हिंदुस्थान की अंग्रेजी सेना का अधिकांश ऊपर लाकर उसके डेरे पूरे पंजाब भर में फैला दिए और इस योजना से सारे सूत्र चलाए कि सब लोग खेती की ओर ध्यान देकर अपनी उपजीविका कमाने के नशे में गर्क हो जाएँ। लोगों के किसान हो जाने पर उनके सैनिकी गुण घुटते जाते हैं, वे शांति के बहुत भूखे हो जाते हैं और उनकी खेती में बाधक राज्य क्रांतियों की लहरों को उनकी अनुमति सहज नहीं मिलती। ऐसी गहरी राजनीति से प्रेरित अंग्रेजों की नीति का पंजाब के लोगों पर जल्दी ही प्रभाव पड़ा और रणजीतसिंह का साम्राज्य और स्वतंत्रता नष्ट हुए दस वर्ष बीतते-बीतते पंजाब में हर कोई तलवार छोड़कर हल की मूँठ पकड़ने लगा और जिसने स्वयं हल नहीं पकड़ा ऐसे सिख सिपाहियों ने अंग्रेजी लश्कर में प्रवेश कर वह (हल) अंग्रेजों की ओर से अपनी मातृभूमि पर चलाया। ऐसी स्थिति में पंजाब में वास्तव में कुछ भी गड़बड़ नहीं होगी, ऐसा उस प्रांत के मुख्य अधिकारी जॉन लॉरेंस को विश्वास था। मई माह प्रारंभ होने तक अन्य अंग्रेज कूटनीतिज्ञों की तरह उस प्रांत के मुख्य अधिकारी सर जॉन लॉरेंस को भावी संकट की कुछ भी कल्पना न होने से वह गरमी के कारण लाहौर छोड़कर 'मरी' हिल्स की ठंडी हवा में जाने को तैयार हुआ कि तभी १० मई को मेरठ के विद्रोह की और ११ मई को दिल्ली स्वतंत्र होने का विद्युत् समाचार पंजाब पर आ गिरा। यह सुनते ही पंजाब के उस चाणक्य (धूर्त) चीफ कमिशनर को समाचार की भयंकरता पूरी तरह समझ में आ गई और अंग्रेजी साम्राज्य को उलट देनेवाले इस आघात से निपटने वह रावलपिंडी में ही जमकर बैठ गया।

इस समय पंजाब की अंग्रेजी सेना का अधिकतर हिस्सा मियाँ मीर में था।

मियाँ मीर की छावनी लाहौर के बहुत पास थी, अत: लाहौर के किले पर उन्हीं सिपाहियों में से चुने हुए सिपाही सुरक्षा के लिए रखे गए थे। इस छावनी में देसी सिपाही यूरोपियन सोल्जर से चार गुना अधिक होते हुए भी मेरठ का समाचार आने तक उनके लिए अंग्रेजी अधिकारियों के मन में कोई विशेष आशंका नहीं थी और इसीलिए वे क्रांतिकारियों से मिले हुए हैं या नहीं, यह एकाएक निश्चित करना बहुत कठिन हो गया। उस समय लाहौर में रॉबर्ट मोंटगोमरी मुख्य अधिकारी था। मोंटगोमरी और जॉन लॉरेंस ये दोनों ही डलहौजी की प्रशिक्षा में तैयार हुए थे, अत: त्वरित बुद्धि और अकस्मात् आ पड़े संकट से पार पाने में आवश्यक साहस और धैर्य में प्रवीण थे। फिर भी पंजाब के सिपाहियों में स्वतंत्रता की चेतना कहाँ तक उत्पन्न हुई है, इसकी सही जानकारी प्राप्त करना आवश्यक था। इस कार्य पर एक ब्राह्मण डिटेक्टिव की मियाँ मीर के सिपाहियों का मन जानने के लिए नियुक्ति की गई। उस ब्राह्मण ने अपना देशद्रोही कार्य उत्तम रीति से सिद्ध करके मोंटगोमरी से निवेदन किया कि 'साहब, वे सारे फसादी हैं और फसाद में बुरी तरह डूबे हुए हैं।' ऐसा कहकर उसने अपना हाथ अपने गले से लगाकर दिखाया। इस ब्राह्मण की यह वार्त्ता सुनकर अंग्रेजों की आँखों का भ्रम पटल हट गया। विद्रोह की गुप्त तैयारी केवल उत्तर हिंदुस्थान में ही नहीं अपितु उसकी ज्वालाएँ सारे पंजाब में उचित अवसर पर उफन पड़ने तक दबी बैठी हैं, यह उन्हें स्पष्ट नजर आ गया और यह भयानक रहस्य प्रकट करनेवाले मेरठ के विद्रोह को धन्यवाद देते हुए मोंटगोमरी ने मियाँ मीर की नेटिव सेना को तत्काल नि:शस्त्र करने का आदेश दिया। मई माह की तेरहवीं तारीख को सुबह के समय मियाँ मीर में एक जनरल परेड बुलाई गई। सिपाहियों को इसकी कोई पूर्व सूचना न मिले इसलिए उस सुबह के पहले दिन सारे अंग्रेज लोगों के लिए एक जंगी बॉल कार्यक्रम आयोजित किया गया। अंग्रेजों के इस बाहरी मनोरंजन का मर्म नेटिव सिपाहियों के ध्यान में आने के पूर्व ही उन्हें अचानक यूरोपियन सोल्जरों, घुड़सवारों और तोपखाने के घेरे में ले लिया गया और इस कपट नाटक का नेटिव सिपाहियों को पता चलते ही हमेशा की तरह परेड के बीच ही एकाएक तोपखाने को बत्ती लेकर तैयार रहने का आदेश हुआ और यह विचित्र आदेश सुनकर चकित उन रेजिमेंटों को हथियार नीचे रखने के आदेश दिए गए। गुस्से से गुर्राए पर प्रदीप्त तोपखाने के कारण हताश उन हजारों नेटिव सिपाहियों ने अपने-अपने हथियार नीचे डाले और एक अक्षर भी बोले बिना अपनी-अपनी लाइनों की ओर लौट गए।

अति शूर और जिसके पराक्रम से ही अफगानिस्तान में अंग्रेजों के प्राण बचे थे, उसी पंजाबी सेना को मियाँ मीर में नि:शस्त्र करने की इस विधि-प्रक्रिया

में ही वहाँ की सेना की एक टुकड़ी लाहौर के किले पर भेजी गई। उस टुकड़ी ने लाहौर किले के तोपखाने पर नियुक्त अंग्रेजी सोल्जर की सहायता से वहाँ के नेटिव सिपाहियों को निःशस्त्र कर किले से निकाल दिया और किला अपने कब्जे में ले लिया। १३ मई को अंग्रेजों ने जिस फुरती से यह साहस भरा कृत्य पूरा किया उस फुरती में यदि एक अणु मात्र भी ढील हुई होती तो उस दिन से पंद्रह दिन के अंदर सारा पंजाब विद्रोह की आग में जलने लगा होता। क्योंकि पेशावर, अमृतसर, फिल्लौर, जालंधर इन अलग-अलग स्थानों पर स्थित पलटनें बड़ी उत्सुकता से इसकी प्रतीक्षा कर रही थीं कि मियाँ मीर के सिपाही लाहौर के किले पर कब टूट पड़ते हैं। फिरंगियों द्वारा मियाँ मीर के सिपाहियों को निःशस्त्र कर लाहौर का किला कब्जे में लेने का समाचार फैलते ही पंजाब भर में अंग्रेजों का दबदबा फिर बढ़ने लगा।[१]

परंतु लाहौर के दुर्ग से भी अति महत्त्वपूर्ण स्थान अमृतसर का गोविंदगढ़ था। अमृतसर नगर सिखों के लिए काशी क्षेत्र होने से यहाँ किसी प्रकार की गड़बड़ी होने पर उन सारे लोगों के संतप्त हो जाने की संभावना थी इसलिए क्रांतिकारी सिपाहियों की उसपर अधिक नजर थी। मियाँ मीर के निःशस्त्र सिपाही गोविंदगढ़ जीतने के लिए अमृतसर की ओर आ रहे हैं, यह अफवाह उठ जाने से अंग्रेजों में दहशत फैल गई और उन्होंने अमृतसर को बचाने के लिए सिख और जाट किसानों से विनती की। इस विनती को उन राजनिष्ठ देशद्रोहियों ने माना और अमृतसर का किला—लाहौर के किले की तरह ही अंग्रेजों ने पूरी तरह अपने अधिकार में ले लिया। इस तरह १५ मई के पहले ही लाहौर और अमृतसर, ये दो शहर तात्कालिक रूप से क्रांति की ज्वालाओं से सुरक्षित कर लिये गए।

इतनी सुरक्षा होते ही सर जॉन लॉरेंस केवल अपने मातहत प्रदेश की चिंता नहीं कर रहा था; दिल्ली का समाचार मिलते ही उसने कहा कि यह सिर्फ विद्रोह नहीं है अपितु राज्य क्रांति होनेवाली है। फिर भी उसका अनुमान था कि दिल्ली यदि झटके में वापस आ गई तो फिर और कहीं विद्रोह नहीं होगा। इसी आधार पर उसने जनरल ॲन्सन को जून माह के पहले दिल्ली जीत लेने के लिए पत्र-पर-पत्र लिखे। इतना ही नहीं अपितु पंजाब में सब ओर शांति बनाए रखने का काम अपने

---

१. ''यदि पंजाब हाथ से चला जाता तो हमारा सर्वनाश हो जाना निश्चित था। ऊपरी प्रदेश में सेना पहुँचने से पहले ही सभी अंग्रेजों की अस्थियाँ धूप में सूखने के लिए डाल दी गई होतीं। इस संकट से बचकर पूरब में अपनी सत्ता पुनः स्थापित करना तथा गर्व से माथा ऊँचा उठाना इंग्लैंड के लिए असंभव ही हो जाता।''
—लाइफ ऑफ लॉर्ड लारेंस

जिम्मे लेकर दिल्ली पर हमला करने के लिए और अंबाला में सेना की कमी को पूरी करने के लिए पंजाब से लश्कर भेजना प्रारंभ किया। इस सहायता की पहली खेप डॉली के अधीन भेजी गई गाइड कोर रेजिमेंट थी। जॉन लॉरेंस का डॉली की बहादुरी पर बहुत विश्वास था और इसीलिए दिल्ली पर चढ़ाई करने के लिए उसने उसीको चुना। डॉली अपनी रेजिमेंट लेकर मंजिल-दर-मंजिल दिल्ली की ओर बढ़ा और बुंदेल की सराय की लड़ाई के दूसरे दिन वहाँ की अंग्रेजी सेना से आकर मिल गया। दिल्ली के घेरे में अब दो नेटिव रेजिमेंट हो गई थीं—एक गुरखों की रीड के अधीन और दूसरी डॉली के अधीन पंजाब से आई हुई। इन दोनों रेजिमेंटों पर अंग्रेजों की बड़ी कृपा थी और वह अनुचित थी यह कौन कहे? इन नेटिव रेजिमेंटों ने उस कृपा के बदले वैसा ही देशद्रोह किया था।

डॉली की रेजिमेंट के दिल्ली की ओर रवाना होने के बाद सर जॉन लॉरेंस ने पंजाब की कुल परिस्थिति का सूक्ष्म निरीक्षण किया। उस प्रदेश में हिंदू, सिख और मुसलमानों का आपस में अखंड द्वेष शुरू था। उत्तर हिंदुस्थान में हिंदू और मुसलमान दोनों को ही स्वदेशाभिमान का जैसा चैतन्य मिला हुआ था वैसा पंजाब के लोगों को उस समय मिला नहीं था। वास्तव में उनकी स्वतंत्रता गए दस वर्ष भी नहीं हुए थे। अंग्रेजों के कंठनाल पर सन् १८४९ में जो सिख सिपाही कुल्हाड़ी चला रहे थे वे ही सन् १८५७ में उनके गले क्यों लगने लगे, इस विलक्षण कूट प्रश्न का खुलासा इसी बात में होनेवाला है कि उनकी स्वतंत्रता जाते-न-जाते ही सन् १८५७ की क्रांति आ गई थी। मुसलमानों की परतंत्रता पर जिस शूर और स्वाभिमानी जाति को इतना गुस्सा आया था कि सौ वर्ष तक अखंड लड़ाई कर अंत में पंजाब को स्वतंत्र किए बिना उन्होंने तलवार नीचे नहीं रखी, उसी 'खालसा' पंथ के अनुयायियों ने अंग्रेजों की गुलामी को इतना चाहा हो, ऐसा बिलकुल नहीं है। पर अंग्रेजों का राज गुलामी है या नहीं, यह उन सिपाहियों की बुद्धि में पूर्णता से आ भी नहीं पाया कि सन् १८५७ आ गया। अंग्रेजों का राज हिंदुस्थान पर ऐसे ही समय आया जिस समय हिंदुस्थान में एक ऐतिहासिक जल प्रलय शुरू हो गया था। अनेक सदियों के बाद स्थान-स्थान पर अलग-अलग जमा जलसर अपने-अपने अपेक्षित बाँधों को फोड़कर एक प्रचंड महानदी में विलीन हो रहे थे। यह महानदी थी हिंदुस्थान की एकराष्ट्रीय प्रवृत्ति। आज विश्व में जो-जो राष्ट्र एकीकृत और संगठित हुए हैं उन सबको वह एकीकृत अस्तित्व आने के पहले, और आने के लिए ही ऐसी अराजकता और गृह कलह की अग्नि में पिघलना पड़ा था। इटली का गृहयुद्ध, जर्मनी का गृहयुद्ध और स्वयं इंग्लैंड का रोम साम्राज्य के पतन के बाद का गृहयुद्ध—उनमें उनके विभिन्न प्रांतों और विविध जातियों की कड़ी शत्रुता और प्रतिशोध लेने के

लिए एक-दूसरे पर किए गए अत्याचार—आदि की ओर देखें तो ऐसा लगता है जैसे हिंदुस्थान का यह गृहयुद्ध कुछ भी नहीं था। परंतु उपर्युक्त देशों को गृह कलह की भयानक आग में तथा गुलामीगिरी की अत्यंत तीव्र उष्णता में पिघलना पड़ा इसीलिए आज उनका एक संगठित, सुंदर और सबल व्यक्तित्व बना है, यह भी कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। वैसी ही ऐतिहासिक उत्क्रांति से भारतभूमि की घटना गुजर रही थी। गुलामी की आँच हिंदुस्थानी लोगों को अच्छी तरह लग जाने से वे संगठित होने लगे थे। परंतु पंजाब को वह गुलामीगिरी की आँच पूरी तरह लगने में दस वर्ष की अवधि कम थी और इसीलिए विशेषत: सिख सन् १८५७ के उबलते राष्ट्रतेज में विलीन न हो सके थे।[१]

पंजाब के अंग्रेज अधिकारियों के ध्यान में यह सत्य आ गया था और इसीलिए उन्होंने सिखों और जाटों में मुसलमानों के प्रति द्वेष अधिक-से-अधिक भड़का देने का कार्य शुरू किया। सिख लोगों में मान्य एक पुराने भविष्य कथन का उन्हें स्मरण कराया गया। पहले मुगल बादशाह ने जहाँ अपने गुरु को मार डाला था उसी दिल्ली पर 'खालसा साहब' एक बार हमला कर उसे धूल में मिला देनेवाले हैं, ऐसा भविष्य संदेश हर सिख को दिया गया था। उस भविष्य कथन की पूर्णता होने का समय अब सच में ही आ गया। पर इस समय कदाचित् केवल 'खालसा साहब' ही दिल्ली पर चढ़ाई कर बैठा और उसने दिल्ली जीत ली तो इस भविष्य की पूर्णता का 'कंपनी साहब' को क्या लाभ? बहादुरशाह के स्थान पर कोई रणजीतसिंह दिल्ली पर राज्य करने लगेगा? हिंदुस्थान में रणजीतसिंह और बहादुरशाह दोनों ही न हों, इस हेतु जो प्रयास कर रहे थे उनको इस एकांगी भविष्य में कुछ संशोधन करना आवश्यक और सहज था। संशोधन करके जारी किए गए भविष्य के नए संस्करण में ऐसा लिखा हुआ था कि दिल्ली मिट्टी में तब ही मिलेगी जब खालसा साहब और कंपनी साहब एक होंगे। भविष्य तो भविष्य ही है। एक बात बुरी है, वह यह कि आज के भविष्य कल भूत हो जाते हैं। पर कम-से-कम आज जितना हो सके उतना लाभ ले लेना बुद्धिमानी है। इस भविष्य के अतिरिक्त सिख लोगों में दिल्ली के प्रति अधिक गुस्सा दिलाने के लिए एक झूठी घोषणा की गई

---

१. सर जॉन लारेंस ने अपने २१ अक्तूबर, १८५७ को लिखे गए एक पत्र में लिखा था—"यदि सिख हमारे विरुद्ध क्रांतिकारियों के साथ मिल जाते तो हमारी रक्षा करना मानवी शक्ति से परे था। किसीको यह आशा नहीं थी, न ही कोई यह कल्पना ही कर पाया था कि अपनी राष्ट्रीय स्वतंत्रता को हड़पनेवालों से प्रतिशोध लेने का अवसर ये लोग गँवा देंगे और इस लोभ का संवरण कर लेंगे।"

को नि:शस्त्र करने को तैयार हो गए। परंतु उस भारतीय सेना के अंग्रेज कमांडर आदि अधिकारियों को अपने सिपाहियों का यह अपमान बहुत बुरा लगा। सन् १८५७ में जो एक विलक्षण गुप्तता चारों ओर रखी गई थी उसीके जाल में फँसे ये अंग्रेज अधिकारी यह मानने को बिलकुल तैयार नहीं थे कि उनके अधीनस्थ सिपाही विद्रोह पर उतारू हैं। फिर भी कॉटन और निकल्सन ने इन नेटिव सिपाहियों को २१ मई को सुबह के समय यूरोपियन सेना से घेरकर नि:शस्त्र करने का आदेश दिया। इस अकस्मात् हुए हमले से बच पाना असंभव है, यह देखकर सारे सिपाहियों ने अपने हथियार नीचे रखे और यह अपमान भरा कृत्य देखकर क्रोधित उनके अंग्रेज अधिकारी भी अपने सिपाहियों के साथ कंपनी को धिक्कारने लगे।

पेशावर की नेटिव सेना को नि:शस्त्र करने के बाद पंजाब सरकार को होती-मर्दान में रखी ५५वीं नेटिव रेजिमेंट की ओर देखने की फुरसत मिली। यह ५५वीं नेटिव रेजिमेंट विद्रोही हो गई है, इस संबंध में सरकार को विश्वास हो गया था। परंतु उन सिपाहियों के मुख्य सैनिक अधिकारी कर्नल स्पॉटिस वुड को सरकार के इस संदेह पर बहुत खेद हुआ।

हमारे सिपाही सरकार से कभी भी बेईमानी नहीं करेंगे, यह वह जी तोड़कर कहता रहा, फिर भी जब सरकार पर सवार खून नहीं उतरा तो उसका हृदय टूट गया। २४ मई को सिपाहियों के नेताओं ने कर्नल के पास आकर पूछा—''अंग्रेजी सेना पेशावर से हमपर हमला करने आ रही है, क्या यह समाचार सच है?'' इस प्रश्न का कर्नल ने गोलमोल उत्तर दिया। सिपाहियों को उससे संतोष न होते हुए भी वे लौट गए। उस ५५वीं नेटिव रेजिमेंट का पेशावर की सेना की तरह खात्मा करने के लिए अंग्रेजी सेना वास्तव में चढ़ी चली आ रही थी। वह दुष्टतापूर्ण कार्य देखते बैठने की अपेक्षा कर्नल स्पॉटिस वुड ने अपने कमरे में जाकर आत्महत्या कर ली। यह समाचार ५५वीं रेजिमेंट को ज्ञात होते ही उसने खजाने पर हमला किया और अपने-अपने शस्त्र, निशान और वह खजाना लेकर वे सारे सिपाही फिरंगियों की गुलामी को लात मारकर आगे चले। परंतु होती-मर्दान से दिल्ली कोई पास नहीं थी। सारा पंजाब यूरोपियनों की सुसज्ज सेना से अटा पड़ा था और यूरोपियन सेना पिछाड़ी पर टूटी पड़ रही थी। ऐसी स्थिति में सफलता इतनी कठिन थी कि पेशावर के सिपाहियों की तरह ही चुपचाप शस्त्र नीचे रखकर फिरंगियों के शरण जाने की बात भी उनके मन में आने लगी। परंतु अब फिरंगी दासता की बेड़ियाँ पैरों में डाल लेने की अपेक्षा यमपाश गले में डलवा लेना उन वीरों को पसंद आया और अपने पीछे लगी अंग्रेजी सेना को उसने यह बात कह दी कि 'अब लड़ते-लड़ते ही मरेंगे।' और इस ५५वीं रेजिमेंट ने अपने देश की स्वतंत्रता के लिए सचमुच ही लड़ते-लड़ते प्राण दिए। इस

५५वीं रेजिमेंट की कहानी भी इतनी हृदयद्रावक है कि उसे सुनने पर—'अपि ग्रावा रोदत्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्!' उनका पीछा करने के लिए निकल्सन इतना कठोर हो गया था कि वह चौबीस घंटे तक घोड़े से नीचे नहीं उतरा। सैकड़ों लोग उस लड़ाई में मारे गए और शेष लड़ते-लड़ते सरहद के बाहर निकल गए। परंतु वहाँ भी उन्हें आश्रय कौन दे? वहाँ की मुसलमान जमातों ने उनका स्वागत बहुत ही भयंकर तरीके से किया। उनमें से हिंदुओं को अकेले-अकेले पकड़कर बलपूर्वक मुसलमान बनाया जाने लगा। तब वे अभागे सिपाही यह सोचकर कि अपने हिंदुत्व की रक्षा करने में कश्मीर का हिंदू राजा समर्थ होगा, आश्रय पाने, धर्मरक्षण करने एवं देश-सेवा करने गुलाबसिंह के प्रदेश की ओर चल पड़े। रास्ता पथरीला, वहाँ अन्न नहीं, वस्त्र नहीं, विश्राम नहीं—ऐसे संकटों और कठिनाइयों से जूझते वे सैकड़ों हिंदू सिपाही—अपने धर्म का आज तीनों लोकों में कोई त्राता नहीं, इस दुःख के अश्रु बहाते कश्मीर की ओर बढ़ रहे थे, तब उन्हें चींटियों, कीड़ों की तरह मसल डालने को अंग्रेजों ने हर कदम पर तलवार चलाई। परंतु फिर भी अपने धर्म का त्राता कश्मीर में है, ऐसी उत्कट भावना से वे हजारों सिपाही कश्मीर की ओर बढ़ ही रहे थे। धर्म का त्राता! हाय!! हाय!!! यह ज्ञात होते ही कि वे कश्मीर की ओर आ रहे हैं, वहाँ के राजा राजपूत कुलोत्पन्न गुलाबसिंह ने उन अनाथ हुए और धर्मरक्षा के लिए मृत्यु से भी बच निकलनेवाले हिंदू लोगों को अपने राज्य में प्रवेश करने से मना किया। इतना ही नहीं अपितु इन हिंदुओं में से जो कोई जहाँ कहीं भी मिल जाए उसे वहीं काट डालने का कड़ा आदेश अपने लश्कर को देकर उसने अपना यह सद्कृत्य अंग्रेजों के दरबार में बड़े गर्व से सूचित किया। अब या तो धर्मांतरण करना या फिर गुलामी स्वीकार करना या मृत्यु का आलिंगन करना, यही कुछ करना था उन्हें। इन तीनों में से उन हिंदू शूरों ने तीसरा रास्ता अपनाया। अंग्रेजों ने कदम-कदम पर निष्ठुरता से इतने कत्ल किए कि मैदानों में स्थित वधस्तंभ निरपराध हिंदू रक्त से भीगकर सड़ने लगे। फिर भी अंग्रेजों को उस रक्तपात से घृणा नहीं हुई। वधस्तंभ—स्थायी वधस्तभ—जब रात-दिन काम करते वधिक थक गए तब तोपों के मुँह खोले गए। और जिस ५५वीं रेजिमेंट ने अंग्रेजों के रक्त की एक बूँद भी नहीं बहाई थी उसका हर सिपाही तोप से उड़ा दिया गया। एक हजार हिंदू चुटकी बजाते गारद कर दिए गए। परंतु उस अंतिम समय में भी उन हिंदू वीरों ने अपना वीरत्व नहीं त्यागा। क्योंकि फाँसी या तोप के प्रश्न के उत्तर में वे अटल होकर उत्तर देते—"कुत्ते जैसे फाँसी पर नहीं मरेंगे—हमें तो तोप से उड़ाया जाना ही इष्ट है।"[१]

---

१. के द्वारा प्रस्तुत वृत्तांत।

घोर जंगली आदमी भी लज्जित हो जाए, ऐसी क्रूरता से उपरोक्त शूरवीरों को काट डालने के लिए अंग्रेजी इतिहासकार कहते हैं—'यह दंड क्रूरतम था इसमें कोई शंका नहीं, परंतु उस समय की क्रूरता ही सर्वकालीन भूतदया है। भूतदया के लिए ही वह क्रूरता करना इष्ट था।' अंग्रेजी इतिहासकारो, तुम अपने ये बोल ध्यान में रखना, अच्छा! ''घड़ी भर की क्रूरता में सदैव के लिए मानवता का मंगल निहित था।'' इस वाक्य का जो अर्थ तुम अभी कर रहे हो वैसा ही वह तुम्हें क्या और थोड़ी देर बाद भी स्मरण रहेगा? सार्वकालिक भूतदया के लिए यह तत्कालिक क्रूरता कर रहे हो वह तो ठीक है, पर उधर कानपुर में हिंदुओं का नाना साहब बैठा हुआ है, यह भी थोड़ा ध्यान में रखना।

यहाँ एक बात और कहनी चाहिए कि क्रांतिकारियों द्वारा की गई मारकाट का वर्णन जो अंग्रेजी इतिहासकर कमाल की नाटकीयता से करते हैं वे ही (अंग्रेजी इतिहासकार) अंग्रेजों द्वारा किए गए अक्षम्य, अनन्वित एवं अमानुषिक अत्याचारों को जान-बूझकर छिपाने का प्रयास करने लगते हैं। उपर्युक्त दुर्दैवग्रस्त परंतु स्वाभिमानी रेजिमेंट का कत्लेआम जब चल रहा था तब उनके मृत्यु पूर्व तक अंग्रेजों के राक्षसी विद्वेष ने उन्हें कैसी-कैसी यंत्रणाएँ दी होंगी, वह केवल ईश्वर को ही ज्ञात होगा। क्योंकि उन भयानक कहानियों को इतिहास से पोंछ डालने के लिए अंग्रेजी इतिहासकारों ने उसका कोई संकेत भी अब रहने नहीं दिया है। स्वयं 'के', जो प्रमुख अंग्रेज लेखक है, कहता है—''यद्यपि मेरे सामने अंग्रेजों द्वारा की गई भयंकर क्रूरतापूर्ण यंत्रणाओं के वर्णन के ढेर सारे पत्र पड़े हैं, फिर भी यह विषय फिर से विश्व के सामने न आ पाए इसलिए मैं उस हेतु एक अक्षर भी नहीं लिखता।'' ये हैं इतिहासकार! जिन लोगों ने दिल्ली के रास्ते पर गरीब और निरपराध ग्रामीणों के मुँह में मरने के पहले गाय का मांस ठूँसा, उन लोगों ने ५५वीं रेजिमेंट के धर्मनिष्ठ सिपाहियों के मुँह में गाय का मांस ठूँसकर ही उन्हें तोप से उड़ाया होगा, इसमें शंका की गुंजाइश कहाँ?

पेशावर की ओर ऐसी अमानवीय घटनाएँ हो रही थीं और इधर जालंधर की ओर विद्रोह की आग चेत रही थी। पंजाब में जॉन लॉरेंस नेटिव सिपाहियों को लगातार सपाटे से निःशस्त्र करता जा रहा था और उसी सपाटे में अब तक जालंधर और फिल्लौर भी पड़ जानेवाला था। परंतु फिल्लौर के नेटिव सिपाहियों ने जो आत्मसंयम और घटना चातुर्य दिखाया वह वास्तव में बड़ी चालाकी का था। पंजाब में सारे नेटिव सिपाहियों की जैसी एकदम उठने की तैयारी हुई थी वैसी ही जालंधर-दोआब में भी नेटिव सिपाहियों की थी। दिल्ली जीतते समय उस लड़ाई में घायल पड़े एक देशभक्त हवलदार ने स्पष्ट कहा है और सरकारी रिपोर्ट में यही

मान्य है कि सारे जालंधर-दोआब भर में एकाएक विद्रोह करने का पक्का निर्णय हो चुका था। जालंधर की सेना ने एक टुकड़ी होशियारपुर भेजी और यह संदेश भी कि वहाँ ३३वीं पैदल रेजिमेंट विद्रोह करे और वह न हो सके तो ३३वीं पैदल रेजिमेंट वहीं रहे। (उसी तरह वे रहे भी) बाद में उन सब लोगों के फिल्लौर की ओर आते ही फिल्लौर की तीसरी रेजिमेंट विद्रोह करे और फिर सब मिलकर दिल्ली की ओर चलें। अन्य स्थानों पर भी ऐसी ही योजनाएँ चल रही थीं। परंतु उसपर कार्यवाही का समय आने के पहले ही सब बात फूटने से अंग्रेज सावधान हो जाते। हाँ, फिल्लौर के रेजिमेंट ने अंत तक आश्चर्यजनक गोपनीयता बनाए रखी। दिल्ली के लिए जब सीजट्रेन ले जाई गई उस समय उसके टुकड़े कर देना उनके हाथ में था। परंतु इससे सारी योजना ही न फूट जाए, इसलिए इस रेजिमेंट ने अंत तक ऊपरी शांति बनाए रखकर कमाल किया। आखिर में ९ जून को जालंधर की ओर पक्की सूचना दी गई—क्वींस रेजिमेंट के कर्नल के बँगले को आग लगाई गई। यह संकेत होते ही आधी रात को जालंधर के सिपाहियों ने विद्रोह किया। वास्तव में वहाँ यूरोपियन सेना के अधीन तोपखाना और अंग्रेजी सेना थी। पर सिपाहियों का विद्रोह इतना अचूक और तेजी से हुआ कि उनकी कर्कश रणध्वनि होते ही अंग्रेजों का साहस टूट गया। अंग्रेज महिला, बच्चे, पुरुष अपनी-अपनी जान बचाने के लिए तेजी से भागने लगे। परंतु जालंधर के सिपाहियों को अभी फिरंगियों को काटने के लिए समय ही नहीं था। उधर दिल्ली में स्वतंत्रता के निशान पर अंग्रेजी तोपें निशाना साधे हुए थीं, इसलिए हर एक का मन उधर दौड़ रहा था। ॲडर्जटेंट बागशा व्यर्थ में बीच में आ रहा था, इसलिए एक घुड़सवार ने दौड़कर उसे गोली मारकर समाप्त किया। परंतु जालंधर के सिपाही हमारे पूर्ण विश्वास के हैं, इसलिए उन्हें निःशस्त्र न करें, ऐसा वहाँ के अंग्रेजी अधिकारियों ने अंत तक सरकार को सूचित किया हुआ था और उनका सचमुच उन सिपाहियों पर विश्वास था। इस कारण भी सिपाहियों ने उनपर आक्रमण नहीं किया। इतना ही नहीं अपितु जालंधर छोड़ते समय भी उन्होंने उनके हाथ में आए अधिकारियों को जीवनदान दिया। जालंधर के सैनिकों ने अपनी योजना को कितना गुप्त रखा था, उस गुप्तता के झाँसे में आकर ही जिन व्यक्तियों ने उनपर विश्वास किया था, उनके उस विश्वास के फलस्वरूप ही उन्हें जीवनदान देने की उदारता सिपाहियों ने दिखाई।[१] और उन व्यक्तिगत

---

१. अंग्रेजों ने एक झूठी गप उड़ाकर उसे 'कलकत्ता की काल कोठरी' नाम दिया और अंग्रेजों के अपने कुटिल मस्तिष्क से निकले इस भयंकर शोधकार्य पर विश्वास कर सारा विश्व सिराजुद्दौला की स्मृति को गाली-गलौज करता है। वास्तविक अर्थ में 'काल कोठरी' नाम जिसके लिए

संबंधों को राष्ट्रकार्य में बाधा न बनने देकर यद्यपि अपनी रेजिमेंट पर सरकार खुश थी, तब भी मातृभूमि की स्वतंत्रता के युद्ध का शंखनाद होते ही उस उदात्त कर्तव्य पर उन्होंने कैसा आत्मार्पण किया, यह उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट दृष्टिगत होता है।

उस आधी रात को विद्रोह शुरू करने के पहले ही वह समाचार फिल्लौर के देशवीरों को बताने के लिए एक घुड़सवार दौड़ता गया था। जालंधर से स्वतंत्रता के इस दूत के आते ही फिल्लौर के सैनिकों ने विद्रोह किया। अब केवल जालंधर के लोगों के फिल्लौर पहुँचाने भर की देरी थी। पर अंग्रेजों के तोपखाने और घुड़सवारों को अनदेखा कर जालंधर से फिल्लौर आना कोई सरल काम नहीं था। परंतु अंग्रेजों में इतना गड़बड़ घोटाला फैल गया था और विद्रोहियों का नक्शा इतना सही था कि जालंधर के सारे सिपाही अपना अनुशासन बनाए हुए फिल्लौर पहुँच गए। अपने इन हजारों स्वदेश बंधुओं को अपनी ओर आते देखकर फिल्लौर के सिपाही प्रेम से

सार्थक है, सुनते ही रक्त जम जाए, अंग्रेजों के ऐसे एक शूर कृत्य का वृत्तांत उसमें सम्मिलित एक क्रूर कर्मी ने ही अपने मुँह से बयान किया है—''हथियार रखवा लिये जाएँ, इस सकारण भय से भाग रहे सिपाही, जिनपर केवल आशंका में ही गोलीबारी चालू थी, ऐसे कुछ सिपाही पंजाब में अजनाला के पास एक द्वीप में छिपे बैठे थे। इन सारे दो सौ बयासी सिपाहियों को कूपर पकड़कर अजनाला ले आया। अब इनका क्या करना है, यह प्रश्न उसके सामने आ खड़ा हुआ। जहाँ उनकी कायदे से छानबीन करनी थी, वहाँ तक वाहन न होने से उन्हें ले जाना संभव नहीं था। परंतु इन लोगों को एक साथ ही मृत्यु का दंड दिया जाए तो अन्य टुकड़ियों और विद्रोह करनेवालों में भी उससे दहशत बैठने से आगे होनेवाला संभावित रक्तपात अपने आप टल जाएगा। पर 'यह अपने सिर बड़ी जोखिम होगी,' इस बात की अनुभूति कूपर को थी। फिर भी उन सबको मार डालने का निर्णय उसने लिया। दूसरे दिन प्रातः उन्हें दस-दस की टोली में बाहर निकलवाकर सिखों से उनपर गोलियाँ चलवाई गईं। इस तरह दो सौ सोलह लोगों को किनारे लगा दिया गया। परंतु अभी भी तहसील की गढ़ी में बंद छियासठ लोग रह गए थे। यह जानते हुए कि प्रतिरोध होगा, फिर भी कूपर ने दरवाजे खोलने का आदेश दिया। परंतु कोठरी से हलचल की कोई ध्वनि सुनाई नहीं दी। अंदर देखा गया तो छियासठ में से पैंतालीस के शव पड़े थे। इसका कारण, जो कूपर को ज्ञात नहीं था, वह यह था कि उस कोठरी की खिड़की, दरवाजे आदि इतने पक्के बंद कर दिए गए थे कि उन अभागे सिपाहियों के लिए वह गढ़ी काल कोठरी ही साबित हुई। शेष जीवित बचे इक्कीस भी गोलियों से भून दिए गए (दिनांक १.८.१८५७)। कूपर द्वारा किए गए इस कार्य पर अज्ञानी भूतदया प्रेरित लोगों ने भारी हल्ला-गुल्ला कर उसका विरोध किया। परंतु कूपर के इस आचरण से ही लाहौर की टुकड़ियों में असंतोष का प्रसार टल सका, ऐसा बलपूर्वक कहकर रॉबर्ट मोंटगोमरी अट्टहास के साथ प्रतिपादित करता है कि कूपर एकदम सही था।''

—होम्स कृत—'हिस्ट्री ऑफ इंडियन म्युटिनी', पृष्ठ ३९३

उमड़ पड़े तथा अपनी लाइनें छोड़ भागकर आलिंगनबद्ध हुए और वह विशाल सेना स्वदेशी जमादारों, सूबेदारों की आज्ञा में दिल्ली की ओर चल पड़ी। रास्ते में एक नदी थी और उसके पार लुधियाना शहर था, जो उन देशवीरों की चरणधूलि की बाट जोह रहा था।

लुधियाना शहर में उस दिन प्रातः ही अंग्रेज अधिकारियों के पास जालंधर विद्रोह का तार आ गया था। पर वह जब तक मिले तब तक उस शहर के सिपाहियों को कब्जे में रखने की सारी आशा नष्ट हो चुकी थी। क्योंकि यह तार आने के पहले ही अपने भाइयों के जालंधर छोड़कर निकल पड़ने का समाचार उन्हें मिल गया था। लुधियाना के अंग्रेज अधिकारियों ने फिल्लौर से आ रही सेना को दोनों शहरों के मध्य स्थित सतलुज नदी पर रोकने का निश्चय किया। उस नदी का नावोंवाला पुल तोड़कर यूरोपियन, सिख और नाभा द्वारा सहायता के लिए भेजा लश्कर—ये सब नदी किनारे की सुरक्षा करने लगे। क्रांतिकारियों को जब यह पुल तोड़े जाने का समाचार मिला तो वे वहाँ से चार मील दूर जाकर नदी के पार उतरने लगे। उनकी कुछ सेना नावों द्वारा उस पार हो गई थी, कुछ हो रही थी और कुछ किनारे पर ही खड़ी थी। यह अवसर उचित व अनुकूल समझकर अंग्रेजों और सिखों ने उनपर तोपखाने से हमला शुरू कर दिया। यह समय रात के दस बजे का था, इसलिए अंग्रेजों की सेना निकट ही है, इस बात का क्रांतिकारियों को अनुमान नहीं लग रहा था। उनकी तोपें भी अभी नदी पार नहीं हुई थीं। ऐसी कठिन परिस्थिति में फँसे उन क्रांतिकारियों पर तोपखाने के साथ अंग्रेज और सिख अचानक आ टूटे थे। परंतु उनके हमले का पहला जोर समाप्त होते ही सिपाहियों ने तनिक भी पीछे न हटते हुए उनपर गोलियों की बौछार शुरू कर दी। अंग्रेजी तोपों और सिखों की मार के सामने नदी उतरते वे बिखरे हुए सैनिक अडिग होकर लड़ रहे थे। इतने में अंग्रेज सेनापति विलियम के सीने में एक सिपाही की सनसनाती हुई गोली आ घुँसी और वह मरणासन्न हो गिर पड़ा। तभी उस भयंकर रणभूमि में आधी रात का अँधियारा दूर करने और स्वतंत्रता भक्तों के संतप्त सिरों पर शीतल चंद्रिका की वर्षा करने हेतु रजनीनाथ का आकाश में उदय हो गया था। इस चंद्र प्रकाश से क्रांतिकारियों को अंग्रेजों की सारी व्यूह रचना समझ में आ गई और वे अपना स्थान छोड़कर अंग्रेजों पर पूरी शक्ति से टूट पड़े। इस अद्‌भुत आक्रमण के सामने अंग्रेजी सेना, सिख और अन्य राजनिष्ठ अपनी जान बचाकर भाग खड़े हुए।

अपनी इस आधी रात की विजय और जल्दी ही उदित उषाकाल की सुंदर प्रभा से और अधिक खिली वीरश्री से वे सारे क्रांतिकारी सैनिक दूसरे दिन दोपहर के लगभग लुधियाना शहर में घुसने लगे। लुधियाना में एक मौलवी अंग्रेजों की

गुलामी से मुक्त होकर स्वराज्य संस्थापना करने के लिए लगातार उपदेश करता घूमता रहता था। उस मौलवी के प्रचार से लुधियाना शहर पंजाब में क्रांतिकारियों का एक सशक्त केंद्र बन गया था। गुलामी की बेड़ियाँ तोड़ने के लिए अंतिम चोट करने का समय आ गया है, ऐसी सूचना मिलते ही वह सारा शहर 'दीन' की गर्जना करता उठ खड़ा हुआ। सरकारी भंडार लूटे गए; यूरोपियन चर्च, यूरोपियनों के घर, अंग्रेजी अखबारों के छापाखाने, ऐसे सारे स्थान जलाकर खाक कर दिए गए और जब सिपाही अंदर घुसने लगे तो उन्हें साथ लेकर यूरोपियनों के प्रमुख स्थानों और विशेष रूप से सरकार के आगे दुम हिलानेवाले सारे नेटिव कुत्ते खोज निकालने के लिए नागरिकों में स्पर्धा शुरू हो गई। कारावास तोड़े गए। जो कुछ भी सरकारी था या जो कुछ अंग्रेजों का था वह अग्नि की भेंट न चढ़ पाया तो चूर-चूर कर दिया गया और इस तरह लुधियाना शहर विद्रोह की आग में जलने लगा।

विद्रोहियों का दिल्ली जाना आवश्यक था; जबकि लुधियाना के किले पर रहकर पंजाब का वह नाका पकड़े रहना भी अत्यावश्यक था। यदि दिल्ली की भाँति लुधियाना भी विद्रोह का केंद्र हो जाता तो उससे अंग्रेजी सत्ता को जोरदार धक्का लगा होता। हालाँकि विद्रोही यह समझते नहीं थे, ऐसा कदापि नहीं था, पर उस परिस्थिति में बिलकुल असंभव था। ये सारे लोग थे सिपाही; न उनका कोई सेनापति था, न ही कोई नेता। उनके पास यात्रा हेतु आवश्यक सामग्री भी नहीं थी। ऐसे समय में वहाँ कोई नाना साहब, खानबहादुर या मौलवी अहमदशाह होता तो उसने लुधियाना को कभी न छोड़ा होता। परंतु उन सबके न होने के कारण उन्हें दिल्ली की ओर जाने के सिवाय दूसरा मार्ग ही नहीं था और इसीलिए—स्वराज्य या गुलामी, इसका अंतिम निर्णय अब दिल्ली की प्राचीर पर ही होगा—ऐसी गर्जना करते हुए वे दिल्ली की ओर चल पड़े। उस समय अंग्रेजों की कमर इतनी टूटी हुई थी कि वे क्रांतिवीर दिल्ली की ओर दिन-दहाड़े गाते-बजाते जा रहे थे, फिर भी उनका पीछा करने की किसीमें हिम्मत नहीं थी।

मेरठ के विद्रोह के कोई तीन हफ्ते बाद तक क्रांतिकारियों को जो शांति बनाए रखना अनिवार्य हो गया था, उस शांति का लाभ अंग्रेजों ने पंजाब में पूरी तरह उठाया। पंजाब में यूरोपियन सेना अधिक होने कारण वहाँ की नेटिव रेजिमेंटों को या तो नि:शस्त्र करना या असमय और अपरिपक्व अवस्था में विद्रोह करने को बाध्य करके उनका सहज नाश करना बहुत ही सुलभ हो गया। राज्य क्रांति के पक्ष से सिख रियासतदार और अन्य सिख लोग मिलकर अपने से ही मिल रहे हैं, यह देखकर ही वे सरहद से सतलज तक पंजाब में जितने भी हिंदुस्थानी थे उन्हें वहाँ से भगाकर पंजाब में विद्रोह का बीज समाप्त कर सके। इस समय लश्कर में ही

नहीं अपितु गाँवों और शहरों में आराम से रह रहे हजारों हिंदुस्थानी लोग पंजाब से अंग्रेजों की इच्छा के कारण सीमा पार कराए गए और इस तरह पंजाब हाथ में आते ही वहाँ की यूरोपियन सेनाओं को दिल्ली की ओर तीव्रता से भेजा जाने लगा।

पंजाब के अंग्रेजों के पूर्ण नियंत्रण में रहने के दो मुख्य कारण थे। एक तो यह कि सिखों ने अंग्रेजों का साथ दिया। इन लोगों ने उस समय केवल चुप्पी ही साध ली होती तो अंग्रेजों के हाथों में पंजाब एक दिन भी नहीं रह पाता। इन सिख लोगों को क्रांतिकारियों ने अपनी ओर करने के लिए प्रयास नहीं किए, ऐसा भी नहीं था। दिल्ली के स्वतंत्र होते ही बादशाह के एक 'ईमानदार सेवक' ने उन्हें पंजाब के सारे समाचार सूचित करने के लिए एक लंबा, विस्तृत एवं बहुत ही मार्मिक पत्र लिखा था। उसमें वह ईमानदार पत्र-लेखक ताजुद्दीन लिखता है—''पंजाब के सारे सिख सरदार कायर, डरपोक और हिंदुस्थानी लोगों का साथ न देकर फिरंगियों के कुत्ते बने हुए हैं। मैं स्वयं उनसे मिला, उनसे संवाद किया और उनको जी-जान से कहा कि फिरंगियों से मिलकर जो तुम देशद्रोह कर रहे हो वह किसलिए? स्वराज्य में तुम्हारा लाभ नहीं है? फिर अपने इस लाभ के लिए ही तुम्हें बादशाह से मिलना चाहिए। इसपर वे मेरे सामने कहते हैं—देखिए, हमसब अवसर की प्रतीक्षा में हैं। दिल्ली के बादशाह का हुकुम आते ही इन काफिरों का खात्मा एक क्षण में कर देंगे।'' पर जब दिल्ली के बादशाह का आदेश लेकर घुड़सवार सिख राजाओं के पास आए तब उन्होंने उन्हें मरवा दिया। पंजाब पर नियंत्रण रखना अंग्रेजों को सुलभ हुआ, उसका यह पहला और विशेष कारण है। सिखों के इस विरोध की परवाह न कर पंजाब से अंग्रेजों को भगाना किसी तरह भी संभव नहीं, ऐसा नहीं था। अंग्रेज जिस विलक्षण ढीलेपन से मई माह तक रहते थे उस ढीलेपन का लाभ उठाकर पूर्व संकल्प के अनुसार सब ओर एक साथ विद्रोह हुआ होता तो सिखों पर भी क्रांतिकारियों का आतंक छाने से कम-से-कम उनमें फूट तो निश्चित ही पड़ जाती। विशेषकर पंजाब के नेटिव सिपाहियों को एक-एक कर पकड़कर अंग्रेज जिस तरह उन्हें नरम कर सके वैसा बिलकुल नहीं हो पाता। पंजाब में स्वराज्य की इच्छा नहीं थी। ठाणेश्वर के ब्राह्मण, लुधियाना के मौलवी, फिरोजपुर के दुकानदार और पेशावर के मुसलमान—सभी 'स्वराज्य और स्वधर्म के लिए जंगी जेहाद करो,' ऐसा उपदेश देते हुए घूम रह थे। उपर्युक्त पत्र लेखक भी लिखता है—''बादशाह के दरबार से यदि कोई सरदार सेना के साथ इधर भेजा जाए तो पंजाब चुटकी बजाते ही स्वतंत्र हो जाएगा। सारी हिंदुस्थानी सेना विद्रोह कर उनके झंडे के नीचे आ जाती और सिखों का भागना मुश्किल हो जाता। मेरा ऐसा विश्वास है कि सारे हिंदू और मुसलमान आपके भाग्यशाली सिंहासन का प्रेम मुजरा करेंगे। और यह भी कि

जून माह में ही विद्रोह करना इष्ट है, क्योंकि अंग्रेज सोल्जरों को धूप की गरमी में लड़ना बहुत कठिन होता है। वे लड़ने के पहले ही चटापट मरने लगते हैं। इसलिए आप कोई सरदार पंजाब में पत्र देखते ही भेजें।''

पंजाब के लोकमत का झुकाव दिल्ली की ओर होते हुए भी वह दिल्ली का लाभ नहीं ले सका, इसका कारण यह था कि दिल्ली में विद्रोह हो जाने के बाद तीन सप्ताह तक क्रांति की लहर का ठहरी रहना अपरिहार्य हो गया था। यही विद्रोह यदि पहले से निश्चित संकेतों के अनुसार एक सप्ताह में होता तो अंग्रेज कहीं भी हलचल नहीं कर सकते थे। पंजाब में अकेली एक-एक और अनाथ सेनाएँ निःशस्त्र नहीं की जा सकती थीं। क्रांति की लहर निरंतर उबलने से सिखों जैसे अनिश्चित विचार के लोग भी उसमें बह सकते थे और प्रारंभ में ही विजय प्राप्त हो जाने पर जिनके मन क्रांति की ओर झुके हुए थे, पर क्रांति में सम्मिलित होने से डरते थे, उन्हें भी जोश आ जाता।

सारांश यह है कि सिख लोगों के देशद्रोह के कारण और अधपकी स्थिति में विद्रोह हो जाने से पंजाब में क्रांति जड़-मूल से खोद दी गई और पंजाब चूँकि दिल्ली की रीढ़ की हड्डी था, दिल्ली का इस समाचार से उत्साह भंग हुआ।

इन तीन सप्ताहों के दिल्ली और पंजाब के समाचार ऊपर दिए हुए हैं। दिल्ली में अंग्रेजों ने इन तीन सप्ताहों में चारों ओर यथासंभव बंदोबस्त करके कलकत्ता से इलाहाबाद तक यूरोपियन सेनाओं का निरंतर प्रवाह चालू रखा था। बंबई, मद्रास, राजपूताना और सिंध प्रांत में विद्रोह से सहानुभूति रखनेवाले कोई हैं या नहीं, इसकी बारीकी से जाँच कर उनको पंजाब की भाँति ही समय रहते पूरी तरह नष्ट कर डालने के प्रयास प्रारंभ हो गए थे। और इस अग्रिम सूचना के लिए ईश्वर का आभार मानते हुए अब विद्रोह की ज्वालाएँ स्थान-स्थान पर समाप्त कर दी गई हैं, यह विश्वास भी उन्हें होने लगा। इन तीन हफ्तों में अंग्रेजों की कार्यवाहियों के चलते क्रांति पक्ष की ओर से इक्का-दुक्का विद्रोह को छोड़कर सब ओर यथासंभव गोपनीयता रखी गई थी।

३० मई तक दोनों पक्षों की ऐसी स्थिति थी। यह स्थिति मई की ३० तारीख के बाद किस तरह पलट गई, अंग्रेजों के मन में उत्पन्न होता विश्वास कैसे चकनाचूर हुआ और इन तीन हफ्तों में हुई हानि की परवाह न करते हुए क्रांति की ज्वालाएँ कैसे एकाएक भड़क उठीं, यह देखना आवश्यक है। राज्य क्रांतियाँ किसी सूत्रबद्ध नियम से नहीं चलतीं। राज्य क्रांति कोई घड़ी की तरह ठीक-ठीक चलनेवाला यंत्र नहीं है। राज्य क्रांतियाँ स्वैर संचारप्रिय होती हैं। उनपर सिद्धांतों का बंधन ही रह सकता है, बाकी फुटकर नियम उनके अपूर्व धक्के से गिर जाते हैं। राज्य

क्रांति का एक नियम है और वह यह कि उसकी पकड़ बनी रहनी चाहिए। मध्यांतर में चाहे नई और अकल्पित परिस्थितियाँ उत्पन्न हों, परंतु उनके कारण रुके बिना उन्हें एक तरफ करते हुए आगे बढ़ना होगा। राज्य क्रांति एक विचित्र पक्षी है, जो बहुत दिनों बाद पिंजरे से बाहर निकलने पर गंतव्य को जाने के पहले आकाश में देर तक उड़ान भरता है। जिसे उस गरुड़ जैसे पक्षी पर बैठकर इच्छित स्थान को पहुँचना हो वह उसकी पीठ पर अटल आसन लगाए। उड़ान भरकर उसकी मस्ती ठंडी हो जाने के बाद तक जो उसकी पीठ पर जमकर बैठा है उसीके पूरे नियंत्रण में वह आ जाता है।

मेरठ के लोगों ने इस राज्य क्रांति के पंछी को पिंजरे से कुछ पहले ही उड़ा दिया था; फिर भी उससे न घबराए श्रीमंत नाना साहब, लखनऊ के मौलवी, झाँसी की बिजली, छबीली आदि धुरंधर उस्तादों ने उस पक्षी की कैसे पकड़ की, वह सब हे इतिहास, अब तू हमें बता। उस गरुड़ पक्षी को पकड़े रखने की दृढ़ता हिंदू भूमि के सब हाथों में न होने के कारण वह गरुड़ आकाश में कैसे उड़ गया, हे इतिहास, यह तू हमें बता। तू हमारे साथ पहले वर्ग के स्तुति गीत गा और दूसरे वर्ग के लिए हमारे साथ-साथ आक्रोश करने लग!

□

प्रकरण–५

अलीगढ़ और नसीराबाद

मेरठ में उत्पन्न भूकंप का धक्का जैसे ऊपर अंबाला और पंजाब की ओर सारा प्रदेश ध्वस्त कर रहा था वैसे ही उस भूकंप के धक्के की दूसरी लहर मेरठ के निचले प्रदेश की उस सारी भूमि को कंपित कर रही थी। दिल्ली के नीचे अलीगढ़ शहर में नौवीं नेटिव पैदल रेजिमेंट थी। इस रेजिमेंट को अलीगढ़ के मुख्य थाने के साथ–साथ मैनपुरी, इटावा और बुलंदशहर में भी रखा हुआ था। इस रेजिमेंट पर सरकार का इतना विश्वास था कि चाहे हिंदुस्थान के सारे सिपाही विद्रोह कर जाएँ, फिर भी ९वीं रेजिमेंट राजनिष्ठ बनी रहेगी। बुलंदशहर के बाजार में राज्य क्रांति के गुप्त षड्यंत्र प्रारंभ होने का समाचार कानों में आ जाने के बाद भी इस क्रांति से ९वीं रेजिमेंट के सिपाही निश्चित ही अलग रहेंगे, ऐसा समझकर बुलंदशहर के अधिकारी सबकुछ सुरक्षित अनुभव करते रहे।

मई माह के करीब बुलंदशहर के आसपास के गाँवों ने अपने में से एक माननीय, विश्वस्त एवं स्वातंत्र्यप्रिय ब्राह्मण चुना और उसे तत्काल बुलंदशहर भेज दिया। एक तरफ जिसकी राजनिष्ठा पर अंग्रेजों का अपना पूरा विश्वास है और दूसरी ओर जिसे मातृभूमि अपने अश्रुपूरित नेत्रों से अपलक देख रही है—ऐसी उस बुलंदशहर की सैनिक छावनी की ओर वह ब्राह्मण भयानक कल्पनाओं और अपने भावी यश–अपयश के बादलों से घिरा अपना हृदय लिये तेजी से जाने लगा। मातृभूमि की स्वतंत्रता और स्वधर्म की रक्षा के लिए क्या मेरे स्वदेश बंधु मेरा निवेदन मानेंगे? क्या स्वराज्य के उच्चतर वातावरण में उड़ान भरने में सक्षम पंख इन सैनिक बंधुओं के पास हैं? मेरे इस भविष्यवाद को धिक्कारकर गुलामी के अँधियारे के गह्वर में सोए सुंदर उषःकाल के दर्शन हेतु मैं उनकी उस नींद को भंग कर रहा हूँ। इसलिए मेरे सिर पर ये देशबंधु आघात ही करेंगे? मनोविकारों की ऐसी उथल–

पुथल हृदय में चलते हुए भी जिसके चेहरे पर मूर्त शांति विराजमान थी, ऐसा वह ब्राह्मण अपना विलक्षण संदेश लिये लश्कर में प्रवेश कर गया। उन सिपाहियों को दीक्षा देते हुए उसने कहा कि एक बड़ी सी बारात निकालकर उस हल्ले-गुल्ले में आप सब विद्रोह करें और सारे अंग्रेजों को मौत के घाट उतारकर दिल्ली की ओर चलें। अंग्रेजों का राज्य उलटने के सिद्धांत का विरोधी कोई था ही नहीं; पर उसमें भी उस सिद्धांत को यथार्थ में कैसे बदला जाए, इस प्रश्न का हल भी सुनकर उसकी ग्राह्यता-अग्राह्यता पर विचार चल रहा था। तभी उस रेजिमेंट के तीन सिपाहियों ने अंग्रेजों को यह समाचार देकर उस ब्राह्मण को कैद कर लिया। तत्काल बुलंदशहर से उस ब्राह्मण को रेजिमेंट के मुख्य थाने की ओर रवाना किया गया और उन सब सिपाहियों के सामने फाँसी पर लटकाने का दंड दिया गया। यह घटना जब अलीगढ़ में घटित हो रही थी तभी इधर बुलंदशहर के उन तीन राजनिष्ठों पर सब ओर से थू-थू होने लगी। उनपर गालियों की बौछार करते हुए बुलंदशहर का सारा लश्कर अधिकारियों की अनुमति न लेते हुए जिस स्थान पर वह क्रांतिदूत ले जाया गया था उस अलीगढ़ शहर की ओर चल दिया। दिनांक २० मई की शाम को उस ब्राह्मण को फाँसी दी गई। बगल में सारी रेजिमेंट खड़ी की गई थी। अब क्या करें ? दिनांक ३१ मई तक रुकें तो ब्राह्मण हाथ से निकलता है—ऐसा आपस में बतियाते ऊपर देखते हैं तो सबने देखा कि ब्राह्मण निकलता नहीं, निकल ही गया है और फाँसी पर उसकी मृत देह प्रतिशोध का बीभत्स व्याख्यान देती लटकी हुई है। भयानक व्याख्यान! शब्द के स्थान पर जहाँ रक्त की धाराएँ स्खलित बह रही हैं। उस भयानक वक्ता ने जीवित रहते जो व्याख्यान कभी न किया हो वह आज फाँसी पर लटके एक शब्द भी न बोलते हुए कर दिया था। क्योंकि आधे क्षण में ही उन असंख्य सिपाहियों की भीड़ में से उछलकर एक सिपाही आगे आया और अपनी तलवार उस फाँसी पर लटकते ब्राह्मण की ओर करके चिल्लाया—"अरे यार, यह शहीद रक्त में नहा रहा है।" बारूद के ढेर पर चढ़ी चिनगारी भी किंचित् देर से सुलगती, पर उस शूर सिपाही के मुँह से छूटी तेजस्वी चिनगारियों को उन हजारों सिपाहियों के हृदय में घुसने में उतना भी समय नहीं लगा। उन्होंने अपनी तलवारें बाहर निकालीं और 'फिरंगियों का नाश हो' की गर्जना करते क्रोध से पगलाए वे हजारों सिपाही नाचने लगे।

इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि यह देखते ही अंग्रेज कर्मचारी भयभीत हो गए। राजनिष्ठ ९वीं रेजिमेंट विद्रोह कर उठी। इतना ही नहीं, उसने अंग्रेजों को सूचित किया कि अपने प्राण बचाने हों तो तत्काल अलीगढ़ छोड दें। इस उदारता का लाभ लेकर अलीगढ़ के सारे अंग्रेज अधिकारी, उनकी पत्नियाँ, बच्चे, लेडी

आउटॅरम आदि सारे-के-सारे अंग्रेज चुपचाप उस शहर से निकल गए। रात बारह बजे तक अलीगढ़ में अंग्रेजी सत्ता का नामोनिशान न रहा।

अलीगढ़ स्वतंत्र हो जाने का समाचार २२ मई की शाम को मैनपुरी पहुँचा। मैनपुरी में ९वीं रेजिमेंट का कुछ हिस्सा रहता था, यह पहले ही बताया जा चुका है। उन सिपाहियों के मन में क्या था, यह अलीगढ़ की ओर के बंधुओं के समाचारों से स्पष्ट है। मई की १० तारीख को मेरठ में क्रांति होने के बाद अंग्रेजों से लड़े सिपाही राजनाथ सिंह के अपने गाँव जीवंती लौटने का समाचार मैनपुरी के अधिकारियों को मिलने पर उन्होंने अपनी ९वीं रेजिमेंट के कुछ सिपाहियों को उसे पकड़ने के लिए भेजा। परंतु उन सिपाहियों ने राजनाथ सिंह को पकड़ने की जगह सुरक्षा के साथ उसे जीवंती के बाहर पहुँचा दिया और अंग्रेजों को रिपोर्ट दी कि जीवंती में राजनाथ सिंह नाम का कोई व्यक्ति रहता ही नहीं। सिपाही रामदीन सिंह ने आदेश की अवहेलना की, इसलिए उसे कैद कर अंग्रेज अधिकारियों ने सिपाहियों के पहरे में अलीगढ़ भेज दिया। परंतु आधे रास्ते में आने के बाद पहरे के सिपाहियों ने रामदीन सिंह को मुक्त कर दिया। उन्होंने उसकी बेड़ियाँ काट डालीं और वे चुपचाप मैनपुरी लौट आए।[१]

इस स्थिति तक पहुँचा वह नेटिव लश्कर केवल संकेत समय के लिए रुका हुआ था और उस एक निश्चित समय के पूर्व शत्रु को अपने पैर काट डालने का अवसर न मिले, इसलिए ऊपर से इतना शांत व्यवहार कर रहा था कि यह ९वीं रेजिमेंट 'राजनिष्ठतम' गिनी गई। परंतु ऊपर बताए गए ब्राह्मण के दौरे के बाद से सिपाहियों का ही नहीं अपितु अलीगढ़ की सारी जनता का गुस्सा अतिरेक की सीमा तक चला गया था। यह ९वीं रेजिमेंट अलीगढ़ में फैलते जा रहे असंतोष को दबाने जब शहर में भेजी गई तब शहर से निकलते समय बाजार के खटीक और कसाई लोगों ने उन सिपाहियों से पूछा कि यूरोपियनों को कब मारेंगे और स्वतंत्रता के लिए कब उठेंगे? खटीक और कसाई भी जिसके लिए जल्दी कर रहे हों वह कृत्य अब भी टालना सिपाहियों को अच्छा कैंसे लगे? और तभी अलीगढ़ का समाचार आया। रेजिमेंट के अन्य लोगों द्वारा विद्रोह कर देने के बाद अब केवल अपना ही रुका रहना निंदनीय है, यह देखकर मैनपुरी का लश्कर विद्रोह कर उठा। उन्होंने भी अलीगढ़ के अपने भाइयों की भाँति अंग्रेजों को जीवनदान दिया, शस्त्रागार से शस्त्र और भरपूर गोला-बारूद ऊँटों पर लादकर उन सारे सिपाहियों ने २३ मई को दिल्ली की ओर तत्काल कूच किया।

---

१. चार्ल्स बाल, खंड १, पृष्ठ १३४।

इसी समय इटावा की टुकड़ी में भी धुआँधार हो रही थी। इस इटावा शहर के मुख्य मजिस्ट्रेट एवं कलेक्टर एलन ओ. ह्यूम को मेरठ का समाचार मिलते ही उसने असिस्टेंट मजिस्ट्रेट डेनियल की सहायता से पड़ोस के रास्ते पर गश्त करने को एक चुनी हुई सेना तैयार की। १९ मई को मेरठ से आए कुछ सिपाही इस सेना से मिले। वे मुट्ठी भर सिपाही शरण में आ गए और उन्हें कुछ थोड़े लोगों के सशस्त्र पहरे में रखने का आदेश मिला। यह आदेश हमारे सिरमाथे पर है, ऐसा दिखाते हुए मेरठ के उन सिपाहियों ने अपने शत्रु को पूरी तरह असावधान कर दिया और फिर वे ही शस्त्र लेकर उन्होंने उन सबको कत्ल कर दिया। यह समाचार फैलते न फैलते वे सिपाही पड़ोस के एक हिंदू देवालय में जा घुसे और अंदर शस्त्र-सज्जित हो घात लगाकर बैठ गए। इटावा शहर के कलेक्टर मि. एलन ह्यूम ने यह समाचार पाते ही मि. डेनियल के साथ कुछ नेटिव सेना लेकर उस मंदिर पर हमला करने निकला। ह्यूम को यह विश्वास था कि उसके सिपाहियों के हमला करने के पूर्व उन विद्रोहियों को गाँववालों ने मार ही डाला होगा। परंतु मंदिर के पास आने पर उसने देखा कि गाँववालों ने उनका सफाया करना छोड़ उनकी प्रशंसा करते हुए उन्हें ढेर सारी रसद पहुँचा दी थी। गाँववालों ने हमें धोखा दिया; पर कम-से-कम अपने साथ आए सिपाही और पुलिस तो धोखा नहीं देंगे, इस विश्वास से मंदिर पर सामने से आक्रमण करने का आदेश देकर मि. डेनियल स्वयं आगे बढ़ा। पर पीछे—केवल एक नेटिव उसकी सेना का सैनिक बनने को तैयार हुआ। और फिर उस गोरे सेनापति और उस काले सेवक को मंदिर से चली गोलियों ने धराशायी कर दिया। यह भयंकर स्थिति देखते ही आक्रमण करने आए ह्यूम साहब उन सिपाहियों को उनके मंदिर में छोड़कर इटावा की ओर भाग गए।

उस दिन अर्थात् तारीख १९ मई को ही इटावा की नेटिव सेना विद्रोह करेगी, ऐसी खबर सब ओर थी। परंतु उस सेना का मुख्यालय अलीगढ़ में होने से और उधर से विद्रोह का आदेश अभी न मिलने से इटावा की नेटिव सेना अवश्य ही चुप होकर बैठ गई होती, परंतु मध्यांतर में ही उस शहीद ब्राह्मण के आत्मयज्ञ की ज्वालाएँ एकाएक भड़क उठने का समाचार इटावा में २२ तारीख को पहुँच जाने से वहाँ के सिपाहियों को विद्रोह करना आवश्यक हो गया। दिनांक २३ मई को वहाँ की सारी सेना ने 'हर-हर महादेव' की घोषणा कर दी और एक हाथ में तलवार तथा दूसरे हाथ में जलती मशाल लेकर सिपाहियों ने यूरोपियनों की छावनी पर धावा बोल दिया। सारा खजाना कब्जे में ले लिया गया। कारावास तोड़ दिए गए और सारे अंग्रेजों को कह दिया गया कि वे तुरंत भाग जाएँ, अन्यथा एक सिरे से उनका कत्ल होगा। यह अभूतपूर्व एवं भयप्रद समाचार सुनते ही भयभीत हुए अंग्रेज लोग अपनी

पत्नी-बच्चों सहित जिधर रास्ता सूझे उधर दौड़ पड़े। स्वयं एलन ओ. ह्यूम ने नेटिव सिपाहियों की उदारता का लाभ लेकर, एक नेटिव महिला का वेश धारण कर 'यः पलायति स जीवति' का आश्रय लिया।[१] इस ह्यूमबाई के भागते ही इटावा पूर्ण स्वतंत्र हो जाने की मुनादी पीटी गई और बाद में वे सारे सिपाही दिल्ली की ओर जानेवाली अपनी रेजिमेंट के मुख्य भाग से मिल गए।

इस तरह यह पूरी रेजिमेंट एक व्यक्ति के कारण एकाएक विद्रोह कर उठी। इतना ही नहीं अपितु खजाना लूटना, देश स्वतंत्र करना, विदेशियों को अपनी तलवार की नोंक पर रहते हुए भी जीवन दान देना और बढ़ जाना, इस सारे कार्यक्रम का अभ्यास अलीगढ़, बुलंदशहर, मैनपुरी और इटावा जैसे दूर-दूर के भाग में भी एक साथ करने, दिल्ली का सारा नेटिव लश्कर विद्रोह कर दे फिर भी वे विद्रोह नहीं करेंगे, जिसपर यह विश्वास सरकार का था वही रेजिमेंट कोई और नहीं उठा उससे पहले तलवार निकालकर उठ खड़ी हुई। यह सब समाचार मिलने के बाद अंग्रेजों को अपने जीवन का तनिक भी भरोसा नहीं रह गया था।

अजमेर से कोई छह कोस पर नसीराबाद नाम का गाँव है। वहाँ अंग्रेज सिपाहियों की छावनी थी और वहाँ तीसवीं नेटिव पैदल रेजिमेंट, नेटिव तोपखाना, पहली बंबई लांसर और मेरठ से वहाँ लाई गई १५वीं रेजिमेंट—इतनी सेना इकट्ठा थी। मेरठ से कुछ दिनों पूर्व ही लाई गई इस रेजिमेंट में अंग्रेजी सरकार के प्रति अति द्वेष और उसे उतार फेंकने की उत्कट लालसा पूरी तरह भरी हुई थी। मेरठ की गुप्त सभाओं में जो-जो प्रस्ताव हुए वे सब आमने-सामने नसीराबाद के सिपाहियों को समझाकर कहने को प्राप्त हुआ। यह दुर्लभ अवसर मेरठ के उन एक हजार राजनीतिक प्रचारकों (उपदेशकों) ने व्यर्थ गँवाया होता तो ही आश्चर्य होता। बंबई लांसर्स के कुछ गैर नेटिवों को छोड़कर सारा नेटिव लश्कर एकमत हो गया और वे उचित अवसर की राह देखते ठहरे रहे। २८ मई को वह अवसर प्राप्त हो गया, क्योंकि उस दिन तोपखाने का प्रभाव बहुत ढीला हो गया था। अतः निर्धारित संकेत मिलते ही मेरठ की १५वीं रेजिमेंट ने पहले तोपखाना हथिया लिया। उसे वापस लेने बंबई के लांसर्स के साथ अंग्रेज अधिकारी आगे बढ़े। परंतु कुछ ही देर में उस लांसर्स के सिपाही मैदान से भाग गए और उनके अंग्रेज अधिकारी प्रेत बनकर भूमि पर गिर गए। इतना ही नहीं, उनके शरीरों के टुकड़े-टुकड़े कर दिए गए। कर्नल पेनी, कैप्टन स्पॉटिस वुड भी इस लड़ाई में मारे गए। फिर उस शहर से आशा छोड़कर सारे अंग्रेज बोरिया-बिस्तर लिये भाग खड़े हुए। विद्रोहियों ने खजाना

१. रेड पैम्फलेट, खंड २, पृष्ठ ७०।

अपने नियंत्रण में लिया और उनमें से सर्वसम्मति से चुने गए नेटिव सेनापति ने दिल्ली के बादशाह के नाम से सिपाहियों में इनाम बाँटे। यूरोपियनों के घर जलाए गए, नसीराबाद स्वतंत्र हो जाने की घोषणा की गई। विद्रोहियों का दो-तीन हजार लोगों का वह समुदाय अपने शस्त्र चमकाता लश्करी ठाट से अपने स्वदेशी नए सेनापति के अधीन लश्करी बैंड बजाता हुआ दिल्ली की ओर बढ़ चला।

□

प्रकरण–६

रुहेलखंड

रुहेलखंड प्रदेश की मुख्य राजधानी का शहर बरेली है। इस राज्य में रोहिला जाति के पठानों का राज था और उसे जब से अंग्रेजों ने छीना तभी से इस अपमान का बदला लेने के लिए घात लगाए बैठे शूर, बलिष्ठ और क्रूर मुसलमानों की एक बड़ी बस्ती वहाँ थी। सन् १८५७ के आसपास अंग्रेजों के शिकंजे से छूटने के लिए विद्रोह की चर्चा जिन किन्हीं प्रदेशों में रंग ला रही थी उसमें रुहेलखंड की और उसकी राजधानी की भी गिनती करनी होगी। बरेली में इस समय आठवीं इर्रेग्यूलर घुड़सवार, नेटिव पैदल की अठारह और ६८वीं रेजिमेंट तथा नेटिव तोपखाने की एक बैटरी—इतनी नेटिव सेना थी। इस ब्रिगेड का ब्रिगेडियर सिवाल्ड था। अप्रैल में कुछ सिपाहियों ने कारतूसों के संबंध में आशंका व्यक्त की थी। परंतु उधर ध्यान न देते हुए सरकार ने सिपाहियों को एक-एक में अलग करके उनसे कारतूस चलवाए। आगे भी एक-दो बार गड़बड़ होने से सिपाहियों में क्षोभ बढ़ ही रहा था; फिर भी सरकार को उनके चेहरों पर संतोष ही दिखता रहा।

इसी समय १४ मई को मेरठ विद्रोह का समाचार बरेली में आ पहुँचा। यह समाचार आते ही अंग्रेजों ने अपने बाल-बच्चे नैनीताल भेजकर घुड़सवारों को तैयार रहने का आदेश दिया। यह घुड़सवार पलटन नेटिव ही थी, पर थी सरकार के पूर्ण विश्वास की। इस घुड़सवार रेजिमेंट के साथ बरेली के सभी नेटिव सिपाहियों को परेड पर बुलाकर अंग्रेज अधिकारियों ने दिनांक १५ मई को उन्हें उत्तम आचरण रखने का आदेश किया। नए कारतूस अब काम में नहीं लाए जा रहे हैं, सिपाहियों को जो पसंद हैं वही पुराने कारतूस वे काम में लाएँ। नए कारतूस यदि दिखाई दिए तो मैं उनका चूरा कर दूँगा, ऐसा स्पष्ट कहते हुए एक अधिकारी ने सिपाहियों में व्याप्त कारतूसों का डर दूर करने का प्रयास किया। वास्तव में देखें तो अब

सिपाहियों के भय पर व्याख्यान देते समय कारतूसों की बात करना विषयांतर ही था।...स्वयं कमांडर-इन-चीफ द्वारा सारे हिंदुस्थान में सिपाहियों को सैनिक आदेश से यह घोषित कर दिया गया था कि आगे से नए कारतूस काम में लाना सरकार ने बंद कर दिया है। मेरठ के विद्रोह के बाद जब सरकार ने स्वयं ही कदम पीछे हटा लिया और जिन कारतूसों के लिए मई माह के पहले इतनी जिद की थी—वे ही कारतूस काम में लाना स्वयं ही बंद किया तो—इस आदेश में सरकार के भयग्रस्तता और दुर्बलता के सिवाय सिपाहियों और लोगों को कुछ और नहीं दिखा। कारतूसों के कारण सिपाही भड़के हैं, यह समझने में सरकार से जो गलती हुई उसका पूरा विस्फोट बरेली में होने का अवसर आ गया था। ब्रिगेडियर ने यह कहकर कि नया कारतूस दिखते ही मैं उसे चूरा कर दूँगा, उनका डर दूर करने का प्रयास किया। परंतु अब इस तरह के आदेश से शांति स्थापित होने के दिन नहीं रहे थे; क्योंकि सिपाहियों को डर कारतूसों का नहीं था, वहाँ कारतूसों के संबंध में कैसा भी आदेश दिया जाए तो भी उसका क्या उपयोग? अंग्रेजों को आदेश देने का अधिकार रहे या न रहे, यही जहाँ चर्चा थी वहाँ नया आदेश देने से वह चर्चा बंद न होकर उलटे अधिक तीव्र होनी थी। अब कारतूसों के प्रकरण में अच्छा या बुरा कैसा भी व्याख्यान देना विषयांतर ही था। क्योंकि दिल्ली में स्थापित स्वकीय सिंहासन की ओर से हिंदुस्थान का स्वातंत्र्य ध्वज थामे रखने के लिए रुहेलखंड के लोगों के लिए आग्रहपूर्ण और एक आवश्यक निमंत्रण आया हुआ है। अब इस निमंत्रण पत्रिका को ठुकराना है क्या?

'दिल्ली के फौजी बहादुरों की ओर से बरेली के फौजी बहादुरों को प्रेमालिंगन! भाई, दिल्ली में अंग्रेजों से लड़ाई हो रही है। परमेश्वर की कृपा से अपनी एक पराजय भी उनकी दस पराजय के बराबर हानि कर रही है। अनगिनत स्वदेशी वीर इधर आ रहे हैं। ऐसे समय आप वहाँ भोजन कर रहे हों तो हाथ धोने यहाँ आना। शाहों का बादशाह और वैभव का आगार जो अपना दिल्ली का बादशाह है वह आपका बढ़िया मान-सम्मान करेगा और आपकी सेवा का उत्तम पुरस्कार भी देगा। आपकी तोपों की गड़गड़ाहट के लिए हमारा कार्य और आपके दर्शनों के लिए हमारे नेत्र चातक की तरह बाट जोह रहे हैं। आइए, जल्दी आइए! क्योंकि बंधु! भवदागमन के बसंत के बिना यहाँ गुलाब कैसे खिलेगा? दूध के सिवाय बच्चा कैसे जीएगा?'[१]

अब ऐसी निमंत्रण पत्रिका को कैसे ठुकराया जाए? ऐसे निमंत्रणों के बीच

१. असली पत्र : कॉलिंस नैरेटिव, पृष्ठ ३३।

रुहेलखंड के अंतिम स्वतंत्र रोहिला सरदार हाफिज रहमत का वंशज भी बरेली में गुप्त षड्यंत्र के ताने-बाने बुन रहा था। इस खानबहादुर खान को अंग्रेजों की ओर से वह हाफिज रहमत खाँ का वंशज होने के नाते 'एक' और वह अंगेज सरकार में जज था, इसलिए 'दूसरी'—ऐसी दो पेंशनें मिलती थीं। अंग्रेज अधिकारियों का मुँह-लगा बना रहने में खान बहुत ही कुशल है उधर यह कहा जाता था। सरकार का भी उसपर वैसा ही विश्वास था और बरेली के सारे गुप्त षड्यंत्रों का प्राण भी यही था।

बरेली स्थित सारे नेटिव सिपाही और रुहेलखंड की स्वतंत्रता-प्रेमी जनता से इस निमंत्रण पत्र द्वारा जल्दी दिल्ली आने का आग्रह यद्यपि किया गया था, तब भी पहले से निश्चित ३१ मई के दिन की राह में बरेली के सारे सिपाही अंग्रेजों के लश्करी आदेशों का पालन पूरी तरह करते हुए अपने-अपने काम कर रहे थे। इस बीच मेरठ से चले सौ सिपाही चुपके से लाइन में कुछ दिन रहकर और उधर के उत्क्षोभक समाचारों से क्रांति की हवा अधिक भरकर चले गए। फिर भी सिपाहियों ने ऊपर से शांति बनाई हुई थी। यूरोपियन लोग अपने बाल-बच्चे वापस बुला लें, यह निवेदन उनसे सिपाहियों के सूबेदार कर रहे थे। परंतु यह निवेदन माना जाने से पहले ही २९ मई को ऐसी भूमिका बनी कि प्रात: नदी पर नहाते समय उस दिन दोपहर को दो बजे ही यूरोपियनों को कत्ल करने की शपथ सिपाहियों ने ले ली। तत्काल अंग्रेजों ने अपने भरोसे की घुड़सवार रेजिमेंट तैयार की। वह भी बिना ना-नुकुर किए तैयार हो गई। परंतु वह पूरा दिन बीत गया, पर सिपाही उठे नहीं। यह समाचार झूठ निकला; फिर भी एक बात सिद्ध हो गई कि घुड़सवार पूरी तरह अपने अधीन हैं, यह कहते हुए अंग्रेज रात को लौट गए। फिर दूसरा पक्का समाचार आया कि घुड़सवार रेजिमेंट ने तो पहले ही शपथ ले ली है कि हम अपने देशबंधुओं पर शस्त्र नहीं उठाएँगे और फिरंगियों की ओर से नहीं लड़ेंगे। ऐसे में किस बात पर विश्वास किया जाए, यह अंग्रेजों की समझ में नहीं आ रहा था। इस तरह २९ मई ही नहीं, ३० मई भी निकल गई और उस दिन तो सिपाहियों का आचरण इतना राजनिष्ठ हो गया था कि वैसा शायद कभी नहीं था। ऐसे में सैनिक-असैनिक—सारे अंग्रेज अधिकारियों ने यह निश्चय किया कि संकट टल गया है और अब डरने की कोई आवश्यकता नहीं है।

३१ मई उदित हुई। उस दिन कैप्टन ब्राउन लो के घर को एकाएक आग लग गई थी। परंतु अंग्रेजों के मन में डर उत्पन्न हो, ऐसा कोई विशेष कारण नहीं था। वह दिन रविवार का था। रविवार को होनेवाली लश्करी हाजिरी हो गई। नेटिव अधिकारियों की रिपोर्ट आ गई। अंग्रेज अधिकारियों को यह भी लगा कि

आज सिपाही लोगों में विशेष संतोष और शांति दिख रही है। चर्च में अंग्रेजों ने प्रार्थना भी की। कहीं अणु मात्र भी गड़बड़ नहीं दिखी। घड़ी ने दोपहर के ग्यारह बजाए।

तभी सिपाहियों की लाइन से एक तोप छूटी। तोप छूटते ही बंदूकों की आवाजें और चिल्ल-पों से आकाश भर गया। बरेली की क्रांति इतनी सूत्रबद्धता से की गई थी कि क्रांति आरंभ होते ही कौन किस यूरोपियन का खून करेगा, यह पहले ही ठहरा लिया गया था। ग्यारह बजते ही ६८वीं पैदल सेना ने अपनी लाइन के पास के यूरोपियनों पर आक्रमण किया। छोटी-छोटी टुकड़ियाँ अलग-अलग बँगलों की ओर तुरत-फुरत चल पड़ीं। बाकी बचे सिपाहियों ने इधर-उधर भागना चाहनेवाले अंग्रेजों की व्यवस्था करने, उनके घर लूटने, उनमें आग लगाने की दौड़ लगाई। उन कर्कश चीत्कारों को सुनकर डरे-सहमे यूरोपियन लोग घुड़सवारों की लाइन की ओर दौड़े। वहाँ सारे मुलुकी और लश्करी अधिकारियों की आश्रयार्थ इकट्ठे होने की योजना पहले से बनी थी। वहाँ जाते ही नेटिव घुड़सवार रेजिमेंट को विद्रोहियों पर आक्रमण करने का आदेश दिया गया। पर उस रेजिमेंट का मुख्य नेटिव अधिकारी मोहम्मद शफी विद्रोहियों से मिला था। घुड़सवारों को अपने पीछे दौड़कर आने का आदेश देता वह विद्रोहियों की ओर दौड़ चला। उसने घुड़सवारों को—'स्वधर्म के लिए बलिदान दो। देखो, वह हरा निशान तुम्हें बुला रहा है।' ऐसा चिल्लाकर कहा और सारे घुड़सवार दौड़ पड़े। फिर भी जो कोई शेष रहे उन्हें लेकर अंग्रेजों ने एक बार परेड की ओर आने का प्रयास किया। पर विद्रोहियों की मार के आगे एक क्षण भी रुकना असंभव होने के कारण उन्होंने उधर से पीठ फेरी और सबके सब नैनीताल की ओर भागने लगे। ब्रिगेडियर सिवाल्ड इस पहले ही हमले में मारा गया। कैप्टन कर्बी, लेफ्टिनेंट फ्रेजर, सार्जेंट वाल्डन, कर्नल ट्रूप, कैप्टन राबर्ट्सन आदि जो भी अधिकारी विद्रोहियों के हाथ लगे उन्हें उन्होंने काट डाला। इस कत्लेआम से बचकर कोई बत्तीस अधिकारी नैनीताल तक सही-सलामत पहुँच सके। इस तरह छह घंटों के अंदर बरेली में अंग्रेजी शासन का अंत हो गया।

अंग्रेजी निशान उतार फेंककर बरेली में स्वतंत्रता का झंडा फहराते ही नेटिव तोपखाने के मुख्य सूबेदार बख्तर खान ने सारी नेटिव सेना का नियंत्रण अपने हाथ में ले लिया। बख्तर खान का नाम आगे दिल्ली की लड़ाई में हमको सुनने को मिलेगा। इस सेनापति ने सारे नेटिव सिपाहियों को स्वतंत्रता के बाद किस तरह व्यवहार करना है और नव स्थापित स्वराज्य में क्या-क्या कर्तव्य करने चाहिए, इसपर एक भाषण दिया और बाद में अंग्रेज ब्रिगेडियर की बग्घी में बैठकर यह

स्वदेशी ब्रिगेडियर बरेली के रास्ते से जाने लगा।[१] उसके साथ अलग-अलग अंग्रेज अधिकारियों की गाड़ियों में नव नियुक्त अधिकारी भी चल दिए। खानबहादुर खान के नाम का जयघोष करके दिल्ली के बादशाह के सूबेदार की हैसियत से उन्होंने रुहेलखंड का शासन अपने हाथ में लिया। बरेली में स्थित यूरोपियनों के घर-द्वारों को जलाकर, लूटकर भस्म करने के बाद फिर कैद किए गए यूरोपियनों को खानबहादुर ने अपने सामने बुलवाया। अंग्रेजी शासन में जज का काम करने से उन्हें अंग्रेजी न्याय कैसे किया जाता है, यह ज्ञात ही था। इसलिए उन्होंने उन यूरोपियन अपराधियों की जाँच के लिए एक कोर्ट नियुक्त किया। इन अपराधियों में वायव्य प्रांत के लेफ्टिनेंट गवर्नर का दामाद डॉ. 'हे' भी था। बरेली के सरकारी कॉलेज का प्रिंसिपल डॉ. कर्सन भी था। बरेली का जिला मजिस्ट्रेट भी था। एक दिन पूर्व ही राजनिष्ठ खानबहादुर खान इसके गले में गलबहियाँ डालकर बैठे थे। आज ये सिंहासन पर और वह अपराधी के पिंजरे में था। ज्यूरी की शपथ लेकर रीति अनुसार न्यायासन पर बैठे। अलग-अलग आरोप अलग-अलग अपराधियों पर लगाकर उन्हें फाँसी का दंड सुनाया गया और उन छह यूरोपियन लोगों को तुरंत फाँसी पर चढ़ा दिया गया। तुरंत ही खानबहादुर के आदेश से एक विज्ञापन छापा गया कि यूरोपियन कमिश्नर भाग गया है। उसे जो पकड़कर लाएगा या उसका सिर काट लाएगा उसे एक हजार रुपए का पुरस्कार सरकार के खजाने से दिया जाएगा। इस तरह यूरोपियन रक्त और मांस से अपना सिंहासन पक्का जमाने के बाद खानबहादुर ने सारा रुहेलखंड स्वतंत्र होने का समाचार दिल्ली भेजा। उस दिन विद्रोह ग्यारह बजे प्रारंभ हुआ और शाम को सूर्यास्त के पूर्व सारा प्रांत स्वतंत्र हो जाने की घोषणा दिल्ली की ओर चल दी।

वह सारा प्रांत स्वतंत्र हो जाने की घोषणा केवल शाब्दिक थी, ऐसा भी नहीं है। उधर बरेली में विद्रोह की तोपें अपनी गड़गड़ाहट से अंग्रेजी सत्ता को कँपा रही थीं, इधर शाहजहाँपुर में भी गोरे रक्त का छिड़काव होने लगा था। बरेली से शाहजहाँपुर कोई चालीस मील की दूरी पर है। वहाँ २८वीं नेटिव पैदल रेजिमेंट थी। मेरठ की खबर शाहजहाँपुर १५ मई को पहुँची। परंतु अंग्रेज अधिकारियों को पता चल जाए, ऐसा एक भी खुला कृत्य न होने से ३१ मई का दिन भी अन्य दिनों की तरह बड़ी शांति, संतोष और उल्लास में उदय हुआ। वह रविवार का दिन था। सारे अंग्रेज चर्च में भी गए। उनकी प्रार्थना अभी आधी ही थी कि चर्च की ओर सिपाही तीव्रता से दौड़ते हुए आने लगे। उस चर्च का चॅप्लेन बाहर आया तो उसका हाथ

---

१. चार्ल्स बाल कृत—'इंडियन म्युटिनी', खंड १, पृष्ठ १७५।

सिपाहियों ने उड़ा दिया और विद्रोह की शुरुआत हो गई। शहर का मजिस्ट्रेट रिफेट्स भागते हुए मारा गया। सर बाडोर को चर्च के अंदर ही कुचल दिया गया। चर्च पर आक्रमण करने एक टोली इधर आई; तभी दूसरी एक टोली कैंटोनमेंट में यूरोपियनों को मारने के लिए भेजी गई थी। उसने उधर आग लगाने और लूटने का काम चालू कर दिया था। असिस्टेंट मजिस्ट्रेट जान बचाने भागा तो बरामदे में ही काट डाला गया। सिपाहियों से दो बातें कहने का प्रयास डॉ. बाउलिंग ने किया और सिपाही भी उसकी बात सुनने लगे; परंतु दुर्भाग्य उसने उनको 'राजद्रोही' कह दिया। उसके मुँह से यह शब्द निकलना था कि एक गोली सनसनाती हुई आई और वह चल बसा। चर्च की ओर जो विद्रोही गए थे वे केवल तलवारें और लाठियाँ लेकर गए थे, इसलिए वे बंदूकें लेने लाइनों की तरफ आए। इसी बीच सिख सिपाही और बावरची आदि नौकरों ने कुछ अंग्रेज स्त्री-पुरुषों को पास के एक राजा के यहाँ पहुँचाया। पर राजा द्वारा अपनी असमर्थता व्यक्त कर उन्हें निकाल देने पर वे उघड़े बदन, नंगे पैर महमंदी की ओर निकल गए। इस तरह ३१ मई की संध्या तक शाहजहाँपुर भी स्वतंत्र हो गया।

बरेली से वायव्य दिशा में कोई अड़तालीस मील की दूरी पर मुरादाबाद जिला मुख्यालय है। वहाँ २९वीं नेटिव पैदल रेजिमेंट और नेटिव तोपखाने की आधी बैटरी—इतनी सेना थी। मेरठ के समाचार के बाद इस सेना के मन में कितनी राजनिष्ठा है, यह देखने का एक अपूर्व अवसर आया। मेरठ के कुछ सिपाही मुरादाबाद के पास ही ठहरे हुए हैं, ऐसा समाचार अंग्रेज अधिकारियों को १८ मई को मिला तो उन्होंने उनपर रात में ही छापा मारने का आदेश उस रेजिमेंट को दिया।

उस आदेश को सिर-माथे लेकर उन सिपाहियों ने उस रात मेरठ के जंगल में सो रही सेना पर बहुत जोर का आक्रमण किया। परंतु जाने क्या हुआ कि मेरठ की उस मुट्ठी भर सेना पर सोते हुए—आकस्मिक और प्रबल आक्रमण होने पर भी उसमें से एक को छोड़ सारे सैनिक जीवित भाग गए। पर सिपाही उसके लिए क्या करें? उस रात अँधियारा भी विकट था। अंग्रेज अधिकारियों ने कहा, "सिपाहियों ने कमाल का आक्रमण किया; पर अँधियारे के कारण ही शत्रु जीवित भाग सका।" अब यह ज्ञात हुआ कि मेरठ की सेना पर मुरादाबाद के सिपाहियों ने दिखावे का आक्रमण किया था। इतना ही नहीं, उस रात भागे हुए मेरठ के कुछ सिपाही मुरादाबाद के सिपाहियों की लाइन में ही आकर रहने लगे थे। परंतु अंग्रेजों का २९वीं रेजिमेंट पर उस कमाल के आक्रमण से भारी विश्वास जम गया और वह भंग हो, ऐसा उन सिपाहियों के आचरण से मई माह की समाप्ति तक कुछ भी घटित नहीं हुआ।

३१ मई उदित हुई और परेड पर सिपाही पूरे अनुशासन में एकत्र होने लगे। आदेश के बिना तुम लोग यह क्या कर रहे हो, ऐसा अंग्रेज अधिकारी जो पूछने लगे तो सिपाहियों ने उन्हें आदेश दिया कि कंपनी का राज समाप्त हो गया है, अत: आप प्रदेश छोड़कर भाग जाएँ नहीं तो आपको कत्ल किया जाएगा। तुरंत नहीं जा सकते तो दो घंटे की मोहलत दी जा सकती है। परंतु उतनी देर में मुरादाबाद खाली करना होगा। सैनिकों के इस आदेश के साथ ही मुरादाबाद की पुलिस ने भी अब अंग्रेजों के आदेशों का पालन न करने की घोषणा की और शहर के नागरिकों ने भी उससे सहमति जताई। एक ही समय तीनों ओर से चेतावनी मिलते ही मुरादाबाद के जज साहब, कलेक्टर साहब, मजिस्ट्रेट साहब, सर्जन साहब और अन्य सारे साहब अपने बाल-बच्चे लेकर एक पल भी विलंब न करते हुए मुरादाबाद छोड़कर भाग गए। जो कोई यूरोपियन या ईसाई इस चेतावनी के बाद भी मुरादाबाद में दिखे उन्हें काट डाला गया। मि. पॉवेल आदि कुछ लोगों ने इसलाम धर्म अपनाया और अपने प्राण बचाए। सैनिकों ने खजाने पर कब्जा किया। सारी सरकारी संपत्ति पर भी कब्जा किया गया और मुरादाबाद पर ३१ मई की शाम से पूर्व ही हरा झंडा लहराने लगा।[१]

बरेली और शाहजहाँपुर—इन दो शहरों के बीच बदायूँ नामक जिले का मुख्यालय है। उस जिले का कलेक्टर और मजिस्ट्रेट मि. एडवर्ड्स उसी शहर में रहता था। अंग्रेजी राज के प्रारंभ से पुराने जमींदारों की दुर्दशा और लगान वसूली के लिए झटपट की जानेवाली नीलामी में हाथ से जाती हुई जमीनों से पूरे रुहेलखंड के बड़े-बड़े जमींदार और किसान बहुत त्रस्त हो गए थे। उसमें भी बदायूँ में लगान पद्धति का इतना अत्याचार था कि यह जिला अंग्रेजी राज को मिटा देने के लिए किसी भी अवसर की ताक में था। यह बात स्वयं एडवर्ड्स को भी ज्ञात थी और इसलिए उसने बरेली से सेना की सहायता माँगी थी। परंतु स्वयं बरेली के उस समय क्या हाल थे, यह पहले बताया ही जा चुका है। फिर भी बरेली से यह लिखित प्राप्त हुआ कि १ जून को हम यूरोपियन अधिकारी के अधीन सेना भेज रहे हैं। यह समाचार आते ही एडवर्ड्स बहुत खुश हुआ। वह १ जून को बरेली के रास्ते की ओर आँखें गड़ाए बैठा रहा। उस रास्ते पर कोई सरकारी आदमी दौड़ता आ रहा है, वह भी उसे दिखने लगा। अर्थात् बरेली से आनेवाली सहायता का यह हरकारा ही है, यह मान एडवर्ड्स ने उतावली में उससे प्रश्न किए। परंतु प्रश्न के उत्तर में बरेली से बदायूँ को सेना सहायता के लिए आ रही है, यह न बताते हुए यह बतायां गया कि बरेली में ही अंग्रेजी सत्ता समाप्त हो गई है। बदायूँ में खजाने की सुरक्षा के लिए

१. चार्ल्स बाल, भाग १।

कुछ सिपाही रखे हुए थे। उसके अधिकारी से एडवर्डर्स ने पूछा, 'बरेली स्वतंत्र हो गई। बदायूँ का क्या होगा?' अधिकारी ने कहा, 'मेरे सिपाही राजनिष्ठ हैं। कोई डर नहीं है।' उसने यह आश्वासन दिया ही था कि शाम को बदायूँ में विद्रोह हो गया। खजाने के सैनिक, पुलिस और नागरिक—सबने फिरंगी राज डूब जाने की घोषणा कर दी और वह सारा जिला खानबहादुर खान के नियंत्रण में चला गया। सैनिकों ने खजाना लेकर दिल्ली की ओर कूच किया और बदायूँ के सारे अंग्रेज अधिकारी रात में ही जंगलों में होकर भागने लगे। खाने को अन्न नहीं, पहनने को कपड़ा नहीं—ऐसी स्थिति में छिपते-छिपते कभी-कभी किसी गाँववाले के घर भैसों के पीछे, जहाँ गोबर की दुर्गंध से नाक फट रही थी वहाँ हफ्ते-हफ्ते बिताते अंग्रेज महिलाएँ, अंग्रेज कलेक्टर, मजिस्ट्रेट अपने प्राण बचाते भाग रहे थे। कुछ मारे गए, कुछ मर गए, कुछ दयालु नेटिवों के कृपाश्रय में प्राण बचाए बने रहे।

इस तरह पूरा रुहेलखंड एक दिन के अंदर विद्रोह कर उठा। बरेली, शाहजहाँपुर, मुरादाबाद, बदायूँ आदि जिलों के शहरों में स्थित सेना, पुलिस और जनता ने एक चेतावनी में ही दो घंटे के अंदर ब्रिटिश सत्ता को सीमा पार कर दिया। ब्रिटिश सिंहासन औंधा हुआ, उसपर स्वकीय सिंहासन विराजमान हुआ। ब्रिटिश झंडा उतारकर उसके स्थान पर हरे झंडे लगाए गए। ब्रिटिश कोर्ट, कार्यालयों और थानों से हिंदुस्थान पर अधिकार करनेवाला इंग्लैंड अपराधी के कटघरे में खड़ा हो गया। ऐसा यह विलक्षण परिवर्तन सारे प्रदेश में दो घंटे में हो गया। रुहेलखंड से अंग्रेजी शासन का उन्मूलन करने के लिए स्वदेशी रक्त की एक बूँद भी खर्च नहीं करनी पड़ी। यह कितना बड़ा आश्चर्य था। रुहेलखंड गुलाम है, यह न कहकर रुहेलखंड स्वतंत्र है, ऐसा सबने कहा और वह स्वतंत्र हुआ। सेना, सिपाही, नागरिक सबके विद्रोह करते ही हर जिले के मुख्य शहर से दो-चार यूरोपियन अधिकारियों को निकाल देने से अधिक उस प्रदेश को स्वतंत्र करने को कुछ भी अधिक काम नहीं करना पड़ा। गुप्त कार्यक्रम, मजबूत संगठन और उसके द्वारा की गई त्वरित कौशलपूर्ण कार्यवाही—इन बातों के आधार पर अंग्रेजों के कब्जे से निकलते ही रुहेलखंड ने खानबहादुर खान का शासन स्वीकार किया। पहले बताया गया है कि यहाँ के सारे सैनिक बरेली के तोपखाने के सूबेदार बख्तर खान की अधीनता में दिल्ली की ओर लड़ने चल दिए। उसके बाद खानबहादुर खान ने प्रदेश का बंदोबस्त रखने के लिए नई सैनिक भरती चालू की और राजधानी के अधिकतर नागरिकों को सिपाही के रूप में तैयार किया गया। सारे स्थानीय विभागों की व्यवस्था करके उसमें अधिकतर पहले के लोग ही रखे गए और वरिष्ठ स्थानों पर नए स्वदेशी अधिकारियों की नियुक्ति की गई। सरकारी पैसा दिल्ली के बादशाह के

नाम पर वसूल किया जाने लगा। न्याय देने के लिए पहले जैसे ही कोर्ट खोले गए और पहले के ही नौकर नियुक्त कर दिए गए। संक्षेप में, जहाँ यूरोपियन अधिकारी होते थे वहाँ हिंदुस्थानी नियुक्त करने के सिवाय किसी भी विभाग में राज्य क्रांति के धक्के से अन्य तरह का परिवर्तन नहीं हुआ। खानबहादुर खान ने अपने सूबे की यह सारी जानकारी दिल्ली के बादशाह को लिखकर भेज दी और रुहेलखंड में निम्नलिखित राजकीय घोषणापत्र लगाया गया।

'हिंदुस्थान देश के वासियो! स्वराज्य-प्राप्ति का दुर्लभ अवसर तुम्हें प्राप्त हो गया है। उसको स्वीकार करोगे या अनादर? इस अपूर्व और असाधारण अवसर का तुम लाभ लोगे या उसे हाथ से फिसल जाने दोगे? हिंदू बंधुओ और मुसलमान भाइयो! यह ध्यान में रखना कि यदि अपने हिंदुस्थान देश में इन अंग्रेजों को तुमने रहने दिया तो ये तुम्हारे देश का सत्यानाश और तुम्हारे धर्म का विनाश किए बिना कभी भी रहनेवाले नहीं हैं।[१] अंग्रेजों के फरेब के कारण आज तक हिंदुस्थान के निवासियों ने अपनी गरदन अपनी ही तलवार से काटी है। अत: वह गृह-कलेश की गलती हमें अब ठीक कर लेनी चाहिए। मुसलमानों से लड़ने की सलाह हिंदुओं को देना और हिंदुओं के विरुद्ध चलने की बात मुसलमानों को कहना—इस कपट नाटक का प्रयोग अंग्रेज लोग अब भी करना चाहेंगे। परंतु हिंदू बंधुओ, आप उनके जाल में मत फँसना। चतुर हिंदू बंधुओं से यह कहना आवश्यक नहीं कि अंग्रेज लोग अपने वचन का कभी भी पालन नहीं करते। झूठी-सच्ची बातें कहकर बहलाने में वे उस्ताद हैं। वे पृथ्वी से अन्य धर्मियों का नाश करने के लिए आज तक प्रयास करते रहे। उन्होंने दत्तक संतान के अधिकार छीने। देशी राजाओं के प्रदेश और राज्य उन्होंने खा लिये। नागपुर का राज्य उन्होंने अधिग्रहण किया। लखनऊ का राज उन्होंने डुबो दिया। हिंदू और मुसलमान दोनों को ही उन्होंने पैरों तले कुचला। मुसलमान भाइयो, तुम्हें कुरान की परवाह हो और हिंदुओ, आपको गो माता की चिंता हो तो अब आपस के भेदभाव भूलकर इस जिहाद में सब लोग सम्मिलित हो जाओ। एक झंडे के नीचे लड़ते-लड़ते मैदान में कूद पड़ो और हिंदुस्थान से अंग्रेजों का नाम रक्त के प्रवाह से धो डालो। हिंदुस्थान से फिरंगियों

---

१. ''हिंदू एवं मुसलिम बंधुओ, भलीभाँति समझ लो कि यदि तुमने अंग्रेजों को हिंदुस्थान में रहने दिया तो वे निश्चित रूप से ही तुम्हारा धर्म भ्रष्ट करेंगे और तुम्हारा नरमेध भी होगा···अंग्रेज अब भी हमारे साथ कुटिलता की नीति का ही पालन करेंगे। वे हिंदू को मुसलमान के विरुद्ध उभारने में कदापि नहीं चूकेंगे···''

—दि दफ्टर ऑफ खानबहादुर खान, ट्रांस्लेटेड बाइ क्रासॉफ्ट विल्सन

को नष्ट करने के लिए यदि हिंदू लोग मुसलमानों के साथ लड़ेंगे, यदि स्वदेश की मुक्ति के लिए वे रणांगण बनाएँगे तो उनके देशाभिमान के इनामस्वरूप गो माता का वध बंद किया जाएगा। इस धर्मयुद्ध में जो स्वयं लड़ेगा या दूसरों को लड़ने के लिए द्रव्य सहायता करेगा वह ऐहिक और पारमार्थिक स्वतंत्रता प्राप्त करेगा। परंतु यदि कोई इस स्वदेश युद्ध के विरुद्ध जाएगा तो···तो वह स्वयं के सिर पर आघात करके आत्महत्या का अपराधी होगा।'

□

प्रकरण–७

बनारस और इलाहाबाद

कलकत्ता से लगभग चार सौ साठ मील दूर श्री जाह्नवी के किनारे बनारस शहर अपने पुरातन वैभव के साथ बसा हुआ है। भागीरथी के पवित्र, शीतल और धवल जल में प्रतिबिंबित होने का महद्भाग्य जिन शहरों को है बनारस उन सब शहरों की पटरानी लगता है। गंगा के घाट से एक पर एक चढ़ती भुवनराजि, उनके मस्तकों पर सुवर्ण मुकुटों-से चमकते ऊँचे-ऊँचे मंदिरों के कलश, उनपर चँवर जैसे डोलते फल-पुष्पों से भरे घने वृक्ष, भिन्न-भिन्न देवालयों में बजते हजारों घंटों के अलग-अलग स्वर एक-दूसरे से मिलकर उनसे उत्पन्न होनेवाली कर्ण मधुर एक तान और सारी सुंदरता पर स्थापित श्री काशी विश्वेश्वर के अधिष्ठान आदि से बनारस शहर को अनन्य शोभा प्राप्त हुई है। आसक्ति के लिए भोग-विलासाकांक्षी, भक्ति के लिए भजनलोलुप, वैराग्य के लिए वैरागी और मुक्ति के लिए मुमुक्षु इस काशी क्षेत्र में अपने-अपने साध्य की सिद्धि पाते हैं। जग में वैभव का उपभोग कर पूर्णकाम हुए लोगों के लिए काशी क्षेत्र वानप्रस्थाश्रम या संन्यासाश्रम है। इस जग में सारी आस और उपभोग दुष्ट दुर्जनों के मत्सर या दीप्ति के कारण छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। ऐसे भाग्यहीन और वैभवविहीन लोगों का काशी क्षेत्र और वहाँ की भी भागीरथी का प्रसन्न जल-तुषार—श्रमपरिहारक शांति भवन हैं।

ऐसे इस शांति भवन में अपना श्रम परिहरण करने के लिए आनेवाले भाग्यहीन लोगों की सन् १८५७ में अंग्रेजों की कृपा से बिलकुल कमी नहीं थी। दिल्ली की अमीरी बंद होने से अशरण हुए कितने ही राजपुत्र और अन्य कितने ही मुसलमान, सिख और मराठों के नष्ट-वैभव हुए राजकुल उस बनारस शहर में अपने दुःखों की कहानी मंदिर-मंदिर और मसजिद-मसजिद में कहने बैठे हुए हैं। ऐसे इस शहर में हिंदुस्थान में चल रही स्वधर्म की दुर्दशा और स्वराज्य का नाश आदि

पर चर्चा हिंदू और मुसलमानों में विशेष जोर-शोर से चले, इसमें कोई आश्चर्य नहीं। बनारस से कुछ ही दूरी पर स्थित सिक्रोली गाँव में उस प्रदेश के लश्कर की छावनी थी। वहाँ नेटिव पैदलों की ३७वीं रेजिमेंट, लुधियानवी सिख रेजिमेंट और एक घुड़सवार पलटन भी रखी हुई थी। वहाँ का तोपखाना अवश्य जान-बूझकर यूरोपियनों के कब्जे में रखा हुआ था। इन लश्करी सैनिकों में अलग-अलग रूप से स्वराज्य और स्वधर्म के लिए विद्रोह करने की लालसा गुप्त रीति से उत्पन्न हुई थी। जैसे-जैसे सन् १८५७ का साल करीब आने लगा वैसे-वैसे बनारस के लोक समुदाय में विलक्षण खलबली मचने के चिह्न स्पष्ट होने लगे। उस शहर का मुख्य कमिश्नर टक्कर, जज म्यूबिन, मजिस्ट्रेट लिंड आदि स्थानीय अधिकारियों और कैप्टन ओलफर्ट, कर्नल गॉर्डन आदि लश्करी गोरे अधिकारियों ने पहले से ही बनारस में रह रहे अंग्रेज लोगों के संरक्षण की बहुत व्यवस्था की हुई थी; क्योंकि उस शहर में लोक-क्षोभ—कभी-कभी गोपनीयता की सीमा के बाहर फूटने से—का जोर रोकना कठिन हो जाता। पुरबिया लोग 'हे रामजी, इन फिरंगियों की गुलामी से मुक्त करो' कहते हुए खुलेआम मंदिरों में प्रार्थना करने लगे।[१] अन्य स्थानों की तैयारी कितनी क्या हुई, इसकी पक्की जानकारी ज्ञात करने हेतु समितियाँ स्थापित की गईं। मई माह आते ही सैनिक छावनियों में मुसलमान मौलवियों का जमघट बढ़ गया। शहर की दीवारों पर और सार्वजनिक चौतरों पर लोक शक्ति प्रचंड विद्रोह करे, इस हेतु घोषणाएँ चिपकाई गईं और बात इतनी बढ़ गई कि हिंदू पंडित मंदिरों में इकट्ठे होकर स्वराज्य की विजय और फिरंगियों का नाश हो, इस हेतु सार्वजनिक प्रार्थना करने लगे।[२] उसी समय बाजार में अनाज के भाव बहुत ही अधिक बढ़ने लगे। भाव इतने अधिक बढ़ गए तो अनाज व्यापारियों की ही अंतिम हानि कैसे है, यह अर्थशास्त्रीय सिद्धांत जब बाजार में घूमकर अंग्रेज अधिकारियों ने समझाना चालू किया तब लोग उनसे मुँह पर ही पूछने लगे कि हमारे देश में महँगाई कर अब हमें ही उपदेश देने क्यों तैयार हुए हो? बनारस शहर में इस लोक-क्षोभ का विकराल रूप देखकर अंग्रेजों को इतना डर हो गया कि विद्रोह होने के पहले ही बनारस छोड़कर जाने का आग्रह स्वयं ओलफर्ट और कैप्टन वॉटसन करने लगे। अंत में म्यूबिन ने बेचैन होकर उनसे कहा, 'I will go on my knees to you not to leave Banaras!' (बनारस न छोड़ें, मैं आपके पाँव पड़ता हूँ।) इस पैर पकड़ने के प्रभाव से बनारस छोड़कर जाने का विचार तात्कालिक रूप से रद्द कर दिया

१. 'रिपोर्ट ऑफ दि ज्वाइंट मजिस्ट्रेट' मि. टेलर।

२. रेड पैम्फलेट, पृष्ठ ८८।

गया—और वह क्यों न किया जाता? कारण, बनारस के सिख स्वयंसेवकों की टोलियाँ बना ली गई थीं। वारेन हेस्टिंग्स के लतियाए चेतसिंह का वंशज भी क्या आज अंग्रेजों की ओर नहीं जा मिला था? इतनी राजनिष्ठा कायम होने पर अंग्रेजों के लिए बनारस छोड़कर जाने का कोई कारण ही नहीं था।

परंतु इस राजनिष्ठा पर सवार होकर अंग्रेज लोग बनारस में अपना आसन अटल करने की बात सोच ही रहे थे कि पड़ोस के आजमगढ़ से भयंकर गर्जना सुनाई देने लगी। आजमगढ़ बनारस से लगभग साठ मील दूर बसा था। वहाँ १७वीं देशी रेजिमेंट रखी हुई थी। इस रेजिमेंट में ३१ मई से रोज भयानक खलबली मचने लगी। उसे शांत करने के लिए वहाँ का मजिस्ट्रेट मि. हार्न रोज सैनिकों को व्याख्यान देने लगा। पर ऐसे व्याख्यानों से दिल बहलने के दिन अब नहीं रहे थे। ३१ मई उदय हुई। उस प्रांत के सिपाहियों ने विद्रोह की सूचना देने के लिए बनारस में बैरकों को ही आग लगा दी। अत: जून के पहले हफ्ते में विद्रोह हो जाना है। आज ३ जून है। यह मुहूर्त कोई बुरा नहीं है; क्योंकि गोपालपुर में आ रहे खजाने में आजमगढ़ का खजाना मिलाकर सात लाख रुपयों का खजाना बनारस की ओर जा रहा है। इससे उत्तम मुहूर्त कौन सा होगा।

तारीख ३ जून की संध्या काल की प्रभा रात्रि में विलीन हो रही थी। सारे गोरे सैनिक अधिकारी अपने क्लब में इकट्ठा होकर खाना खा रहे थे और उनके बाल-बच्चे वहीं हँस-खेल रहे थे। इतने में धूम-धड़ाके का क्या अर्थ होता है, यह जून के पहले हफ्ते में अंग्रेजों को जबानी याद था। उनकी भयभीत शांति 'विद्रोह हुआ' ऐसा एक-दूसरे को कहने लगी। तभी नगाड़ों और दुंदुभि की ध्वनि शुरू हो गई। एक क्षण भी नहीं गया और जिनके हृदय में मेरठ की स्मृतियाँ ताजा थीं वे गोरे लोग सिर पर पैर रखकर भागने लगे। औरतें-बच्चे, अधिकारी—सबने प्राणों की आशा छोड़ दी। पर आजमगढ़ के सैनिकों ने इस तरह मरे हुए से लोगों को देखकर अधिक प्रतिशोध लेने का विचार छोड़ दिया था। उन्होंने उन गोरे लोगों को जीवित रखने के लिए अपने कब्जे में ले लिया और आजमगढ़ छोड़कर तुरंत चले जाने को कहा। परंतु कुछ भीमकाय सैनिकों ने अंग्रेजी रक्त चखने की भीषण प्रतिज्ञा की हुई थी, उनकी उस भीष्म प्रतिज्ञा का क्या हो?[१] तो लेफ्टिनेंट हचिन्सन साहब और क्वार्टर सार्जंट लुई साहब, कम-से-कम तुम्हारे शरीर में तो ये हमारी गोलियाँ घुसनी ही चाहिए। बस, अब शेष चाहें तो भाग जाएँ। वे दौड़कर नहीं जा सकते हों तो गाड़ियों में बैठकर आजमगढ़ छोड़ दें। फिर भी हमें कुछ कहना नहीं है। पर

१. सर कॉलिन कैंपबेल कृत—'नैरेटिव्स', पृष्ठ ३८।

यूरोपियन अधिकारी और उनकी पत्नियाँ कहने लगीं—'पर हमें अब गाड़ियाँ भी कौन देगा?' सैनिकों ने कहा—'उसकी चिंता न करें। हम देते हैं गाड़ियाँ।' ऐसी विलक्षण उदारता देख कर्ण भी सिर नवाए, इसमें कोई शंका नहीं। सैनिकों ने स्वयं गाड़ियाँ मँगवाईं और उसमें उन कैदी अंग्रेजों को मुक्त कर बैठाया। साथ में कुछ संरक्षक सैनिक भी दिए और आजमगढ़ की अंग्रेजी सत्ता के नाम-निशान के साथ वे सारे बनारस की ओर चल दिए। उधर वह सात लाख का खजाना, अंग्रेज सैनिकों का तोपखाना, अंग्रेजी सत्ता की मुहर जिसपर थी वह जेल, कार्यालय, रास्ते, बैरकें सब पर जो सैनिकों ने अधिकार किया उसकी अगुवाई किसने की? विद्रोह का समाचार मिलने पर यदि सैनिक विद्रोह कर ही दें तो अपनी सुरक्षा हो सके इसलिए जिन अति विश्वसनीय सिपाहियों को अंग्रेजों ने नियुक्त किया था, उन सिपाहियों ने। यह पुलिस विभाग भी सेना की तरह अंदर से खोखली सुरंग थी। संकेत मिलते ही उन्होंने यूरोपियन घरों और कारागृह पर स्वराज्य का निशान लगाना प्रारंभ किया। बनारस की ओर जाती गाड़ियों में, जिन्हें जगह न मिली ऐसे कितने ही अंग्रेज गाजीपुर की ओर भाग गए और दूसरे दिन का सूर्य अपनी अनुपस्थिति की अल्पावधि में हुए इस विलक्षण रूपांतर की ओर साश्चर्य देखते-देखते आजमगढ़ पर फहराते हरे निशान को प्रकाशित करने लगा।[१] जो हृदय में डोल रहा था वही हिंदुस्थान का हरा निशान आज अपने सिर पर भी मँडरा रहा है, यह देखकर विजयी रंग में रँगे सारे सैनिकों ने एक बड़ा भारी सैनिक जुलूस निकाला और लश्करी बैंड के ताल-सुर पर अपना हरा निशान लहराते हुए वे फैजाबाद की ओर चले गए।

आजमगढ़ स्वतंत्र होने का समाचार बनारस पहुँचते ही उस शहर की हलचलों से अंग्रेजों में उत्पन्न हुए भय का निराकरण होने के संकेत दिखने लगे। मेरठ के विद्रोह का समाचार सुनकर पंजाब से जॉन लारेंस और कलकत्ता से लॉर्ड केनिंग यूरोपियन सेना को विद्रोह के मुख्य स्थान की ओर भेजने के लिए अश्रांत श्रम कर रहे थे। उत्तर की ओर से भेजी गई गोरी सेना दिल्ली को घेरकर बैठी होने से दिल्ली के निचले हिस्से में सभी ओर असहायता की स्थिति उत्पन्न हो गई थी और अंग्रेज अधिकारी कलकत्ता को—कृपा करके यहाँ यूरोपियन भेजो (For Godl sake send us Europeans) यह माँग बिलकुल रोते हुए कर रहे थे। इस समय लॉर्ड केनिंग ने मद्रास, बंबई तथा रंगून से यूरोपियन सेना कैसे मँगाई और चीन पर होनेवाली चढ़ाई रद्द कर वह सारी सेना हिंदुस्थान में ही कैसे रोककर

---

१. 'नैरेटिव्स' में सर सी. कैंपबेल ने लिखा है—"The green flag was mastered on the right of the 3rd."

रखी, इसका वर्णन ऊपर आ चुका है। उस जगह-जगह से मँगाई गई यूरोपियन सेना में से मद्रास के फ्युसिलियर के साथ जनरल नील इस समय बनारस तक आ पहुँचा था। यूरोपियन सेना की यह पहली कुमुक और वह भी जनरल नील जैसे बहादुर, साहसी और कठोर सेनापति के अधीन आ जाने से बनारस के अंग्रेजों में बहुत धीरज आ गया। इसी समय दानापुर की अंग्रेजी सेना भी बनारस आ गई। बनारस के लोगों की विलक्षण बेचैनी और वहाँ के सिपाहियों का शहर के लोगों से सहयोग होने के स्पष्ट प्रमाणों आदि की जानकारी के आधार पर वहाँ के अंग्रेज अधिकारियों ने विद्रोह को उसके गर्भाशय में ही मसल डालने का निश्चय किया। जनरल नील की यूरोपियन सेना और बनारस के सिख सरदार और सिख सिपाहियों एवं तोपखाने की सहायता से विद्रोह को मसल डालने की योजना सहज ही सिद्ध हो जाएगी, इसका अधिकारियों को पहले से ही पूरा भरोसा था। आजमगढ़ का समाचार ४ तारीख को बनारस में पहुँचते ही बनारस के नेटिव सिपाही विद्रोह करें इसके पहले ही उन्हें निःशस्त्र कर दिए जाने का निश्चय बहुत चर्चा के बाद हुआ और उस दिन दोपहर को जनरल परेड का आदेश दिया गया।

यह आदेश सुनते ही आगे क्या होगा, सिपाहियों को स्पष्ट दिखने लगा। अंग्रेज तोपखाना तैयार करके लाए हुए हैं यह गुप्त समाचार भी उन्हें मिल गया था। परेड के मैदान पर अंग्रेज अधिकारी शस्त्र नीचे रखने का आदेश देकर हमें निःशस्त्र कर तोपों से उड़ा देनेवाले हैं यह उन्हें स्पष्ट दिख गया और इसलिए शस्त्र नीचे रखना छोड़ उन्होंने समीप के शस्त्रागार पर ही हल्ला बोल दिया और कर्कश गर्जना करते हुए वे अंग्रेज अधिकारियों पर ही टूट पड़े। उनपर दबाव बनाए रखने के लिए मँगाई गई सिख रेजिमेंट भी वहाँ आ गई। उन सिख सिपाहियों में राजनिष्ठा का उफान इतने जोरों पर था कि वे हिंदुस्थानी सेना से भिड़ने का अवसर प्राप्त करने के लिए अंग्रेजों के पैर पड़ रहे थे। यह देखते ही उनके कमांडर पर एक हिंदुस्थानी सैनिक ने हमला किया और कमांडर न्युइस तत्काल मर गया। उसके स्थान पर ब्रिगेडियर जनरल हड्सन अभी आ भी न पाया था कि तभी एक सिख सिपाही को जोश आया और उसने उसे गोली मार दी। परंतु यह अक्षम्य अपराध सहन न होने से उसके पास खड़े एक सिख सिपाही ने अंग्रेज को मारना चाहने वाले सिख को तत्काल काट डाला। इस राजनिष्ठा के कृत्य को क्या पुरस्कार मिलता है यह देखने के लिए दूसरे सिख उत्सुक थे—तभी उन सबपर अंग्रेजी तोपखाना बरसने लगा। सिख सिपाहियों में हिंदुस्थानी सिपाहियों द्वारा मचाई घालमेल देखकर सिख रेजिमेंट ही विद्रोही हो गई है—ऐसी गलतफहमी अंग्रेज अधिकारियों को होने पर उन्होंने हिंदुस्थानी रेजिमेंट के साथ सिख रेजिमेंट पर भी गोलीबारी शुरू कर दी। अब उन

अभागे सिखों को विद्रोहियों से मिल जाने के सिवाय दूसरा रास्ता ही न बचा। उन सब भारतीय लोगों ने मिलकर अंग्रेजी तोपखाने पर तीन हमले किए। हिंदू, मुसलमान और सिख मिलकर अंग्रेजी तोपों पर टूटे पड़ रहे हैं—सन् १८५७ के इतिहास में ऐसा अकेला अवसर यही था। प्रसन्नता की बात यह कि इस अवसर पर हो रहे पाप का शमन करने के लिए उसी समय बनारस शहर में सिख लोग अश्रांत प्रयास कर रहे थे। क्योंकि सिपाहियों और अंग्रेजों की जब बैरकों की ओर लड़ाई हो रही थी तब शहर के लोग भी विद्रोह करेंगे, इस डर से अंग्रेज अधिकारी, उनके बाल-बच्चे सारे रास्तों पर भाग रहे थे, उस समय उन्हें आश्रय देने के लिए सिख सरदार सूरतसिंह आगे आया। बनारस के खजाने में लाखों रुपया जमा था और उसीमें सिख लोगों की भूतपूर्व पटरानी से अंग्रेजों के छीने हुए बहुत मूल्यवान रत्नालंकार भी भरे हुए थे और उस खजाने पर सिखों का कड़ा पहरा था। अर्थात् यह खजाना अपने कब्जे में लेकर, सीमापार की हुई अपनी रानी के अलंकार वापस लेने की अनिवार्य इच्छा सिखों के मन में उत्पन्न होना अस्वाभाविक नहीं था। परंतु उनका नेता राजनिष्ठ सूरतसिंह आगे आया और उसने खजाने से एक दमड़ी भी बाहर न जाने देने की पक्की व्यवस्था अपने जात-भाइयों को वहाँ से हटाकर की। और जल्दी ही वह खजाना यूरोपियन सेना को सुरक्षित सौंप दिया गया। इसी समय एक बड़ा पंडित गोकुलचंद भी अंग्रेजों के पक्ष में मिल गया था और स्वयं बनारस के राजा ने भी अपनी शक्ति, सारी संपत्ति, सारे अधिकार सबकुछ अपने प्रभु के—काशी विश्वनाथ नहीं, अपितु अंग्रेज के चरणों में अर्पित कर दिए। सिपाही तोपों के सामने भी न झुकते हुए लड़ते-लड़ते अंग्रेजों की मार से बाहर सारे प्रांत में फैल गए।

अंग्रेज लोगों ने जॉन लॉरेंस की पंजाबी युक्ति अपनाकर बनारस शहर का विद्रोह गर्भावस्था में ही मसल दिया, यह बात सच थी; परंतु इस मसल डालने के समाचार से अधिक बनारस में विद्रोह हुआ, यह समाचार सारे हिंदुस्थान में बिजली सा फैला और बनारस से संकेत प्राप्त करने आँखें गड़ाए बैठे उस प्रांत के सारे क्रांति केंद्रों ने विद्रोह का धूम-धड़ाका शुरू कर दिया।

बनारस से निकले सारे सिपाही मंजिल-दर-मंजिल बढ़ते जौनपुर आ रहे हैं यह समाचार ज्ञात होते ही वहाँ के अंग्रेजों ने जौनपुर की सिख टुकड़ी को राजनिष्ठा पर व्याख्यान देना प्रारंभ किया। परंतु ये व्याख्यान समाप्त होते-न-होते बनारस के सिपाहियों की पदचाप सुनाई देने लगी। जौनपुर में जो थोड़े सिख सिपाही थे वे सब बनारस की सिख रेजिमेंट के ही थे सो वे तत्काल विद्रोहियों से मिल गए और सारा जौनपुर शहर विद्रोही ज्वाला में जलने लगा। यह देखकर ज्वॉइंट मजिस्ट्रेट क्यूपेज फिर से एक बार व्याख्यान देने खड़ा हो गया। परंतु अब तालियों की जगह एक

गोली सूँऽऽऽ करते हुए श्रोताओं में से बाहर आई और मजिस्ट्रेट साहब की मृत देह गिर पड़ी। कमांडिंग आफिसर लेफ्टिनेंट 'मारा' भी गोली लगकर गिरा। यह देखते ही विद्रहियों ने खजाने पर हमला किया और यूरोपियनों को जौनपुर छोड़ देने का आदेश दिया। अब तक बनारस के घुड़सवार भी शहर में घुस गए थे। यूरोपियन दिख जाए तो उसे जीवित नहीं छोड़ना है, ऐसी कठोर प्रतिज्ञा उन्होंने की थी। एक बूढ़ा डिप्टी कलेक्टर भागता दिखा—घुड़सवार दौड़े। जौनपुर के कुछ लोग बीच-बचाव करने लगे—"इस गरीब को छोड़ दो, वह बहुत दयासागर है।" सिपाहियों ने उत्तर दिया—"ऐसा कुछ नहीं, वह यूरोपियन है और उसे मरना है।"[१]

इस जोश से भरे माहौल में भी विद्रोहियों ने यूरोपियनों को शस्त्र नीचे रखकर चुपचाप भाग जाने की जो अनुमति दी उसका लाभ लेकर सारे अंग्रेज लोग जौनपुर खाली कर भागने लगे। उन्होंने बनारस की ओर भागने के लिए गंगा किनारे नौकाएँ कीं। परंतु आधे प्रवाह में आने के बाद मल्लाहों ने उन सब अंग्रेजों को लूटकर रेत पर ले जाकर छोड़ दिया। इधर जौनपुर में 'दीन-दीन' का नारा लगा सारा शहर सड़कों पर आ गया। उन्होंने सारे यूरोपियन घरों को लूटकर जलाकर नष्ट किया। अंग्रेजी शासन की, उनके बहते रक्त के सिवाय सारी पहचान धूल में मिला दी और जितना हो सके उतना खजाना लेकर सिपाही अयोध्या की ओर बढ़ने लगे। बाद में शहर की वृद्ध महिलाएँ और जीवन में दमड़ी भी जिसने नहीं देखी उन कंगालों को यह खजाना दिया गया, जिसपर उन्होंने जमकर स्वराज्य और दिल्ली के बादशाह का मन से आभार व्यक्त किया।

इस तरह ३ जून को आजमगढ़, ४ जून को बनारस और ५ जून को जौनपुर के उठते ही बनारस का सारा प्रांत क्रांति-ज्वाला में भड़क उठा। प्रांत का मुख्य शहर छूटते ही, साधारणत: राज्य क्रांति का उस प्रांत में जोर नहीं रहता। परंतु राजधानी के ऊपर राज्य क्रांति जैसे अनिश्चित अवसर पर अवलंबित रहना क्रांतिशास्त्र में बहुत नाशकारी दोष माना जाता है। मैजिनी कहता है—"जहाँ हमारा निशान लहराए वहीं हमारी राजधानी। अपनी राजधानी जिधर विद्रोह हो उधर ले जानी चाहिए। विद्रोह राजधानी के पीछे रहे यह अच्छी बात नहीं।" राज्य क्रांति के नक्शे पहले कितने भी सोच-विचारकर बनाए हुए हों—बिलकुल वैसे ही घटनाएँ घटित होना असंभव होता है। इसलिए चाहे राजधानी में क्रांति दुर्बल पड़ जाए, पर प्रांत को उसे छोड़ नहीं देना चाहिए। इस नियम का पालन बनारस प्रांत में बहुत मजबूती से हुआ इसमें कोई शंका नहीं। क्योंकि उस प्रांत की राजधानी बनारस शहर अंगेजों के अधीन होते

---

१. चार्ल्स बाल कृत—'इंडियन म्युटिनी', खंड १, पृष्ठ २४५।

हुए भी बनारस प्रांत में चुटकी बजाते ही राज्य क्रांति की आँधी दस दिशाओं को धुँधला करती बह रही थी। जमींदार, किसान, सिपाही सब लोगों ने फिरंगी शासन को गोमांस की तरह आपत्तिजनक मान लिया। छोटे-छोटे गाँव में अपनी सीमा में गोरों के आने की खबर लगते ही उन्हें मार-पीटकर भगा दिया जाता।[१] विशेष बात यह कि केवल अंग्रेज लोगों के लिए ही नहीं अपितु उनके द्वारा किए गए हर काम के लिए लोगों में इतनी घृणा थी कि वे काम भी उन्हें आँखों से सुहाते नहीं थे। उन्होंने अंग्रेजों द्वारा नियुक्त जमींदारों—फिर वे कैसे भी हों—को निकालकर पुरानी पीढ़ी के जमींदारों को वहाँ लाकर बैठाया। अंग्रेजों की लगान पद्धति, उनके कारावास, उनके न्यायासन सबको एक हफ्ते में बदल दिया गया। तारयंत्रों को तोड़ दिया, रेल और यातायात के रास्ते खोद दिए गए। हर टेकरी और हर झाड़ी के पीछे गोरों के रक्त और धन के लिए ललचाए गाँववाले छिपकर बैठे रहते और अंग्रेजों को रसद तो दूर की बात, कोई समाचार भी न मिलने देने को खेत-खेत में पहरेदार हरे और जरी के झंडों के साथ गश्त लगाते रहे। ऐसी स्थिति में अंग्रेजों का दम घुटने लगा। यद्यपि बनारस शहर अंग्रेजों के कब्जे से छूटते-छूटते रह गया था और सारे सिपाही विद्रोह होते ही अयोध्या की ओर निकल गए थे।[२]

बनारस शहर का ४ जून का प्रयास असफल रह जाने पर वहाँ हुई पकड़-धकड़ में एक महत्त्वपूर्ण बात प्रकट हुई। ऐसी ही फुटकर बातों से १८५७ के साल में वह रचनाचक्र किस तरह घुमाया जा रहा था यह ज्ञात होना संभव है। बनारस शहर के तीन भारी क्रांतिकारी नेताओं और एक लखपति साहूकार को पकड़ा गया। उनके घर में क्रांति पक्ष के मुख्य केंद्र से प्राप्त कठोर परंतु सांकेतिक भाषा में लिखे अनेक पत्र सरकार के हाथ लगे। उनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण पत्र एक प्रमुख अधिपति

---

१. ''सैनिकों में विद्रोह की बढ़ती हुई अवस्था में चारों ओर फैला हुआ गहन द्वेष, तथाकथित अन्याय के प्रतिशोध का कभी भी शांत न होनेवाला भाव बढ़ता गया, यह तथ्य स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। लूट-खसोट की इच्छा तो उस द्वेष तथा प्रतिशोध की भावना की ही उपज थी, जिससे विभिन्न स्थानों पर रहनेवाले अंग्रेज अधिकारियों को भाँति-भाँति की आपदाओं का शिकार होने के लिए बाध्य होना पड़ा और उनपर आपदाओं के घन आ गिरे।''

—चार्ल्स बाल कृत—'इंडियन म्युटिनी', खंड १, पृष्ठ २४५

२. ''ज्योंही काशी में विद्रोह होने का समाचार अन्य जिलों में फैला कि संपूर्ण प्रांत एक साथ उठ खड़ा हुआ। आसपास के स्थानों से यातायात के मार्ग तोड़ दिए गए। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि सिपाही जिस कार्य को नहीं कर सके थे उसे साफल्य मंडित करने का प्रयास जनता और जमींदारों द्वारा संयुक्त रूप से किया जा रहा था।'' —रेड पैम्फलेट, पृष्ठ ९१

की ओर से आए हुए थे और उनका सारांश था—''बनारस के नागरिक शीघ्र विद्रोह करें—बाकर, गिबन, लिंड और जितने भी यूरोपियन हों उनको काट डाला जाए। इस काम के लिए आवश्यक राशि नगरसेठ, कोठीवाले···की ओर से दी जाएगी।'' इस कोठीवाले के घर पर छापा डाला गया तो वहाँ से एक सौ तलवारों और बंदूकों का संग्रह मिला।[१]

बनारस प्रांत के विद्रोह की यह संक्षिप्त जानकारी मैंने दी। जगह-जगह के सिपाहियों ने इस प्रांत में मेरठ या दिल्ली के लोगों की तरह यूरोपियनों को अंधाधुंध नहीं काटा था। इस सारे प्रांत में एक भी यूरोपियन लेडी नहीं मारी गई थी। इतना ही नहीं अपितु राष्ट्रक्षोभ के इस प्रचंड प्रतिशोध की ज्वाला में जलते हुए भी लोगों ने स्वयं गाड़ियाँ देकर अंग्रेजों को उनके अधिकारियों के साथ विदा किया था। यह चित्र देखें और आगे आनेवाला चित्र भी देखें।

जनरल नील विद्रोह के समय बनारस में आ चुका था, यह पहले ही कहा है। बनारस प्रांत के स्वराज्य के लिए विद्रोह हेतु खड़ा हो जाने पर उसे प्रोत्साहित करने की ऐसी महानता मनुष्य जाति में मिलना दुर्लभ है और इंगलिश राष्ट्र में तो असंभव ही है। परंतु अंग्रेजों को कम-से-कम जैसे-को-तैसा इस न्याय के अनुसार उनकी समझ से जो विद्रोही थे उनके साथ व्यवहार करना चाहिए था। विद्रोहियों और सारे हिंदुस्थान को उनकी 'क्रूरता' के लिए अश्लील शब्दों और नरकगामी शापों की लाखों गालियाँ देनेवाले अंग्रेजों की सुसभ्य सेना के बहादुर सेनापति ने बनारस प्रांत के लोगों के साथ कैसा व्यवहार किया, यह प्रकाशित साहित्य से प्राप्त जानकारी देने के बाद और अधिक एक शब्द भी लिखने की आवश्यकता नहीं रहेगी।

बनारस प्रांत के विद्रोह के बाद जनरल नील ने आस-पड़ोस के गाँवों में बंदोबस्त करने के लिए यूरोपियन और सिखों की टोलियाँ भेजीं। निराश्रित और खेती पर उपजीविका चलानेवाले छोटे-छोटे गाँवों में ये टोलियाँ घुस जातीं और जो कोई भी रास्ते में दिखे उसे या तो वहीं काट डाला जाता था या फाँसी पर लटकाया जाता था। इस फाँसी पर चढ़नेवालों की संख्या इतनी होती थी कि एक फाँसी रात-दिन चलाकर पूरा न पड़ने पर फाँसी के खंभों की स्थायी पंक्तियाँ लगाकर रखनी पड़ीं। इस लंबी पंक्ति में लोग रात-दिन अधमरे करके फेंके जा रहे थे फिर भी फाँसी पर चढ़नेवाले उम्मीदवारों की भीड़ थी। फिर अंग्रेज अधिकारियों ने पेड़ काटकर खंभे बनाने की गँवारू पद्धति छोड़ दी और सीधे पेड़ ही फाँसी के खंभे

१. सर सी. कैंपबेल द्वारा प्रस्तुत 'भारतीय विद्रोह का वृत्तांत', पृष्ठ ६४।

बनाए गए। पर एक पेड़ पर एक ही आदमी को फाँसी दें तो परमेश्वर ने उस पेड़ को एक से अधिक शाखाएँ क्या बिना कारण ही दी हैं ? अत: पेड़ों की हर शाख पर नेटिव की गरदनें बाँध उन्हें लटकते छोड़ दिया जाता। यह 'लश्करी कर्तव्य' और ईसाई मिशन हर दिन और हर रात लगातार चलाते-चलाते वे बहादुर अंग्रेज उकताने लगे हों तो कोई आश्चर्य नहीं। अत: फिर इस धार्मिक और उदार कार्य में जो गंभीरता थी उसे थोड़ा कम करके मनोरंजक करने के लिए कुछ नवीनता मिलाई गई। सिर्फ उठाया और पेड़ पर टाँग दिया, इस भोंडी पद्धति को अब थोड़ा कलात्मक बनाया गया। "अब नेटिवों को पहले हाथी पर बैठाया जाता फिर हाथी को ऊँचे पेड़ की शाखा तक ले जाया जाता और उसके ऊपर बैठे नेटिव की गरदन शाख से बाँधने के बाद हाथी को हटा लिया जाता। हाथी निकल जाने पर उन अगणित छटपटाकर मरते लोगों के ऊटपटाँग लटकते शव दिखाई देते। पर इस तरह वहाँ से गुजरते अंग्रेजों को एक मनहूस साम्यता दिखाई देती थी, इसलिए नेटिव को पेड़ पर सीधे लटकाकर फाँसी देने की बजाय अलग-अलग आकृति बनाकर टाँगा जाता। कोई अंग्रेजी आठ जैसा (8) बाँधा जाता तो कोई नौ (9) जैसा।"[१]

परंतु इस तरह प्रयास करने के बाद भी काले लोग हजारों-लाखों में जीवित-के-जीवित। अब इतनों को फाँसी चढ़ाने की बात सोचें तो उन्हें बाँधने के लिए इतनी रस्सी कहाँ से लाएँ? ऐसी अजीब गुत्थी इंग्लैंड जैसे विकसित ईसाई राष्ट्र के सामने आ पड़ी। परमेश्वर की कृपा से अंत में एक युक्ति उन्हें सूझी और उसका प्रयोग इतना सफल रहा कि—अब आगे फाँसी के स्थान पर उस शास्त्रीय युक्ति को ही काम में लाने की बात निश्चित हुई और एक घंटे में पूरा गाँव-का-गाँव फाँसी चढ़ने लगा। आग की लपटों से उसकी गरदनें कसकर बाँध देने पर और चारों ओर तोपें ताने रखने पर गरीब नेटिवों के हजारों घर जलकर राख होने में फिर कितनी देर! इन गाँवों को चारों ओर से आग लगाकर उन्हें कहीं से भी न निकलने देकर जला डालने में कितने ही अंग्रेजों को इतना आनंद आता कि उन्होंने उन दृश्यों के हास्यास्पद वर्णन लिखकर इंग्लैंड भेजे। गाँव को आग इतनी जल्दी और पूरी तरह से लगाई जाती कि उसमें से बाहर निकलने का नाम भी नहीं लिया जा सकता। गरीब किसान, विद्वान् ब्राह्मण, निरपराध मुसलमान, स्कूली बच्चे, कुमार, कुमारी, वृद्ध, विकलांग सारे आग की ज्वाला में जलकर राख हो जाते। गोद के दूध-पीते बच्चे के साथ उनकी माताएँ जलकर राख हो जातीं। बिस्तर से लगी बूढ़ी औरतें और पुरुष अपने चारों ओर धधकती आग की ज्वाला में जरा सी सरकने की शक्ति

१. के एवं मैलसन कृत—'दि इंडियन म्युटिनी', खंड २, पृष्ठ १७७।

न होने से बिस्तर पर ही जलकर राख हो जाते।[१] और कोई जलकर राख नहीं हुआ? तो एक अंग्रेज अपने पत्र में लिखता है—"We set fire to a large Village which was full of them. We surrounded them and as they came rushing out of the flames, shot them!" (आग की उस भयंकर लपटों में से कोई अधजला बाहर भागता तो हम उसे गोली मारकर मार देते।)[२]

ऐसा कोई एकाध गाँव ही नहीं जलाया गया था, अंग्रेजों ने अलग-अलग दिशा में अलग-अलग टोलियाँ गाँवों को जलाकर राख करने के लिए भेजी थीं। ऐसी टोलियों के अनेक नायकों में से एक नायक अपने अनेक हमलों में से एक हमले के बारे में लिखता है—"You will, however, be gratified to learn that 20 villages are razed to ground." (आज के हमले में हमने बीस गाँव राख कर दिए हैं—यह सुनकर आपको संतोष हुए बिना नहीं रहेगा।)[३]

उपर्युक्त दानवी सच्चाई, 'जरनल नील के प्रतिशोध के बारे में कुछ न लिखना ही अच्छा'...ऐसी स्पष्ट प्रतिज्ञा करनेवाले अंग्रेज इतिहासकारों के उदार इतिहास में हुई चूक के कारण जो जानकारी बाहर आई है यह उसका सारांश है।

बस, इससे अधिक एक शब्द भी लिखना क्रूरता के इस नंगे चित्र को खराब करना है।

इसलिए अब हताश आँखों से, श्री भागीरथी और कालिंदी के प्रीति संगम की प्रेम लहरों की ओर दृष्टिपात करें। इलाहाबाद शहर बनारस से कोई सत्तर मील दूरी पर बसा हुआ है। इस प्रयाग क्षेत्र की धार्मिक पवित्रता को वहाँ अकबर के शासनकाल में निर्मित विस्तीर्ण किले की अपूर्व भव्यता ने बढ़ाया है। कलकत्ता से पंजाब और दिल्ली आदि बड़े-बड़े प्रांतों को जानेवाले सारे महत्त्वपूर्ण रास्तों का यह इलाहाबाद नाका होने से इन सब प्रांतों की हलचलों पर निगरानी रखने के लिए नियुक्त किसी ऊँचे भीमाकृति और उग्र सेनापति जैसा वह इलाहाबाद का किला अपनी गंभीरता से शोभित है। सन् १८५७ की क्रांति के समय में जिसके हाथ में यह किला हो उसके हाथ में यह सारा विस्तीर्ण प्रांत होगा ऐसी स्थिति होने से यह महत्त्व का स्थान अपने अधिकार में रखने के लिए दोनों ही ओर से जोरदार प्रयास चल रहे थे। इलाहाबाद में जो सिपाही थे उनके साथ सारा शहर एक ही समय में विद्रोह करे यह क्रांति पक्ष का विचार था। इस कार्य के लिए जब गुप्त रचना चल रही थी तब

---

१. चार्ल्स बाल कृत—'इंडियन म्युटिनी', भाग १, पृष्ठ २४२-४३।

२. वही, पृष्ठ २४४।

३. वही, पृष्ठ २४२।

शहर के नागरिकों में स्वराज्य प्राप्ति के लिए उठने की प्रबल लालसा उत्पन्न करने में हिंदू पंडों का बहुत उपयोग हुआ। केवल इलाहाबाद के हिंदू नागरिकों में ही नहीं अपितु उस सारे प्रांत के हिंदू लोगों में उनके वजनदार धर्मगुरु स्वातंत्र्य युद्ध के बीजों की कितने ही दिनों से अखंड बुआई कर रहे थे। हिंदू लोगों में स्नान संकल्प के साथ ही मानो यह धार्मिक और पवित्र राज्य क्रांति का संकल्प भी लिया जा रहा था। वैसे ही उस शहर की विस्तीर्ण मुसलमान बस्ती में भी मुल्लाओं की चहल-पहल बढ़ गई थी। दीन और देश की मुक्ति के लिए शरीर के रक्त से समरभूमि का सिंचन करने को दृढ़संकल्प हजारों मुसलमान संकेत समय की राह देख रहे थे। इसमें अंग्रेजों को कुछ भी नया नहीं था, सारा हिंदुस्थानी मुसलमान अपना शत्रु ही रहेगा यह सारे अंग्रेजी लेखकों की पक्की धारणा थी जो स्पष्ट दिखती है। Red Pamphlet का प्रसिद्ध लेखक कहता है—

"The Mohamedans have shown that they cherish in their hearts the proselytising doctrines of their religion and that as christians, they for ever detact and take advantage of coming opportunity of destroying Europeans." यह बात सार्वजनिक रीति से जितनी सत्य है उससे भी अधिक वह इस शहर विशेष में सत्य हुई थी। इलाहाबाद में मुसलमानों के कदम हिंदुओं से भी आगे पड़ रहे थे। इतना ही नहीं अपितु इस शहर में क्रांति-केंद्र के संचालन में वे ही प्रमुख भूमिका में थे। हिंदू और मुसलमानों में अपनी जन्मभूमि की मुक्ति के लिए चल रहे प्रयासों का स्वरूप यह बना कि शहर के न्यायाधीश और मुंसिफ भी गुप्त रीति से क्रांति मंडल में सम्मिलित हो गए थे।[१]

इलाहाबाद में किले की रक्षा के लिए और इसके प्रांत का मुख्यालय होने से अंग्रेजों को वहाँ बहुत मजबूत बंदोबस्त रखना आवश्यक था। परंतु सन् १८५७ के मई माह के बिलकुल शुरू में भी सारे देश में क्या आंदोलन चल रहे हैं यह ज्ञात न होने से इलाहाबाद में बहुत ढील चल रही थी। इलाहाबाद में क्रांति की ज्वालाएँ चारों ओर से सुलगाते हुए नेताओं ने इतनी चतुराई से गोपनीयता रखी हुई थी कि यहाँ एक भी यूरोपियन सिपाही रखने की आवश्यकता सरकार को नहीं पड़ी। मेरठ का समाचार जब आया तब इस अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान पर सिपाहियों की ६वीं रेजिमेंट और सिखों की फिरोजपुर रेजिमेंट की कोई दो सौ लोगों की टुकड़ी—इतनी ही सेना थी। जल्दी ही अयोध्या से घुड़सवार लाए गए और वह किला, उसकी प्रचुर शस्त्र सामग्री सहित उन नेटिव सिपाहियों के अधिकार में ही दिया गया, इन

१. चार्ल्स बाल कृत—'इंडियन म्युटिनी', भाग १, पृष्ठ ६८।

सिपाहियों पर जो अंग्रेज अधिकारी थे उन्हें अपने सिपाही राजनिष्ठा की जीवित मूर्तियाँ लगते थे। विशेषकर ६वीं रेजिमेंट ने तो राजनिष्ठा की हद कर दी थी, इसमें बिलकुल भी शंका नहीं। उन्होंने दिल्ली का समाचार मिलने के बाद एक दिन सरकार को संदेश भेजा कि हमें उन क्रांतिकारियों का प्राण लेने के लिए दिल्ली जाने का आदेश दिया जाए। हम उस अवसर की राह देख रहे हैं। इस अप्रतिम राजनिष्ठा की हर तरफ तारीफ होने लगी। स्वयं गवर्नर जनरल की ओर से इस अद्वितीय ईमानदारी और राजनिष्ठा के लिए ६वीं रेजिमेंट का सार्वजनिक धन्यवाद दिए जाने का आदेश हुआ। इतने में किसी नागरिक ने यह सूचना दी कि ६वीं रेजिमेंट अंदर से पूरी-की-पूरी विद्रोही हो गई है। यह समाचार सुनते ही राजनिष्ठा का प्रदर्शन करने के लिए ६वीं रेजिमेंट ने दो क्रांतिदूतों को पकड़कर अधिकारियों को सौंप दिया। अब शंका की बात ही कहाँ रही! परंतु सरकार को अभी भी हमारी राजनिष्ठा पर शंका हो तो हमारे हृदय कितने निर्मल हैं—देखना चाहे तो अंग्रेज अधिकारी भी ६वीं रेजिमेंट में आएँ—और देखें कहाँ-कहाँ राजनिष्ठा का सागर लहरा रहा है। इतना ही नहीं अपितु अंग्रेज अधिकारियों के पास दौड़ते हुए पहुँचकर सिपाहियों ने आलिंगन दिए और प्रेम का प्रदर्शन करते हुए उनके दोनों गाल चूमे।[१]

…और उसी रात को ६वीं रेजिमेंट के सारे-के-सारे सिपाही 'मारो फिरंगी को' कहते हुए तलवार तान उठे!

क्रांतियोजना का बनारस की तरह समय पूर्व ही विध्वंस न हो और सिपाहियों को निःशस्त्र न किया जा सके इसलिए सिपाहियों के गुप्त प्रयास जब चल रहे थे, तभी अंग्रेजों ने अपने काफी कुछ परिवार किले में ले जाकर उनका संरक्षण करने कुछ सिखों और घुड़सवारों के दल वहाँ तैनात कर दिए थे। बनारस का समाचार ५ जून को इलाहाबाद आ धमका। उस दिन शहर में ऐसी अपूर्व गड़बड़ी प्रारंभ हुई कि अंग्रेजों ने कुछ तोपें बनारस की ओर के पुल पर निशाना साधकर रख दीं और किले के दरवाजे बंद कर लिये। रात के समय सिपाहियों ने जिन्हें कुछ समय पूर्व ही चूमा था, वे सारे अंग्रेज अधिकारी नाचते-कूदते खाना खाने मैस में गए ही थे कि तभी कुछ दूरी पर संकटसूचक बिगुल बजने लगा। वह बिगुल शायद राजनिष्ठ ६वीं रेजिमेंट के विद्रोही हो उठने का भयानक समाचार बजा रहा था!

बनारस के पुल पर सुरक्षा के लिए रखी गई तोपें किले में पहुँचाने का

---

१. 'नैरेटिव्स' में सर सी. कॉलिन ने लिखा है—"Sepoys hung themselves about the necks of their European officers and kissed them on both cheeks."

आदेश उस दिन शाम को ही हो गया था। परंतु अंग्रेज आदेश दें और सिपाही पालन करें यह आज तक का राजनिष्ठ नियम उस शाम को एकाएक बदला-बदला दिखाई देने लगा। क्योंकि सिपाहियों ने एक दूसरा आदेश जारी किया कि तोपें किले की ओर न ले जाकर कैंट की ओर ले जाई जाएँ। यह विवित्र ढंग देखकर उन उद्दंड सिपाहियों को दंड देने के लिए अयोध्या के घुड़सवार बुलाए गए। ले. कर्नल अलेक्जेंडर नामक युवा अंग्रेज अधिकारी अपने नेटिव घुड़सवारों को तैयार कर लेफ्टिनेंट हॉवर्ड के साथ तुरंत उन सिपाहियों पर दौड़ पड़ा। इस समय चंद्र प्रकाश से दिशाएँ प्रकाशित हो रही थीं। घुड़सवार पलटन को उन उद्धत सिपाहियों पर हमला करने का अंग्रेजी अधिकारियों ने आदेश दिया और अब अपने पीछे हजारों दौड़ते घोड़े आकर मुट्ठी भर सिपाहियों को लतिया डालेंगे ऐसे विश्वास से अंग्रेज अधिकारी स्वयं आगे बढ़ टूट पड़े। पर आश्चर्य! पीछे सारे घुड़सवार अपने स्वदेश बंधुओं पर शस्त्र उठाने से मना कर जहाँ-के-तहाँ खड़े रहे। यह देखते ही सिपाही जय-जयकार कर उठे। कर्नल अलेक्जेंडर सीने में गोली लगने से नीचे गिरा। उसके शरीर के टुकड़े किए गए और वे सारे भारतीय सिपाही एक-दूसरे के गले लगते तोपों के साथ कैंट की ओर चल दिए। इस समय पहले ही दौड़कर आए दो घुड़सवारों ने कैंट पर यह समाचार अपने भाइयों को बता भी दिया था। फिर क्या था, परेड मैदान पर जो घटना घटित हुई वह अभूतपूर्व ही थी। अंग्रेज अधिकारी के मुँह से आदेश निकलता और उसे गोली लगती। प्लैंकेट मरा, अडज्युटंट स्ट्यूअर्ड मरा, क्वार्टर मास्टर हावस मरा, पिंगले मरा, मैनरो मरा, बर्च मरा, लेफ्टिनेंट इन्नेस मरा। परेड मैदान से वह क्रोधित सैन्य समूह अब आग लगाते इधर-उधर फैल गया था। मैस हाउस में खाने-पीने के लिए बहुत अंग्रेज लोग आए हुए हैं यह ज्ञात होते ही उस मैस हाउस पर हमला किया गया और वहाँ के सारे अंग्रेज गिन-गिनकर काटे गए। पहले ही कहा था कि इलाहाबाद में मुख्य बात किला हथियाना थी। उस किले में अंग्रेज महिला-बच्चे, भरपूर गोला-बारूद को पूरी तरह सिख सिपाहियों के हाथों सुरक्षा के लिए सौंपा गया था और ये सिख सिपाही भारतीय लोगों की तरह ही विद्रोह करेंगे और किले में से फिरंगी भगाए जाने की खुशखबरी देनेवाली तोप जल्दी ही छूटेगी, यह उत्सुकता सारे सिपाहियों को थी।

परंतु किले के सिखों ने सच्ची राजनिष्ठा दिखलाई। उन्होंने किले से फिरंगी झंडा उखाड़ फेंकने से तो मना किया ही साथ में किले के नेटिव सिपाहियों को निःशस्त्र करके बाहर भगा देने के लिए अंग्रेजी अधिकारियों की पूरी सहायता की। इस समय सिख लोग अपनी तरफ किस तरह बने रहे, अंग्रेजों को इस बात का

आश्चर्य अभी भी है।[1] एकाध घंटे में इलाहाबाद का यह विस्तृत किला क्रांतिकारियों के हाथ में पड़ जाता, पर सिखों ने वह आधा घंटा अपने स्वदेश बंधुओं और अपनी मातृभूमि के शरीर को चूर-चूर करने में ही खर्च कर दिया। किले के अंदर स्थित भारतीय सिपाहियों ने बार-बार प्रयास किया पर उनका साथ न देकर अंग्रेज अधिकारियों के आदेशों पर उन्हें निःशस्त्र कर सिख सिपाहियों ने किले के बाहर भगा दिया और इस तरह किला अंग्रेजों के कब्जे में बना रहा।

परंतु उन चार सौ सिखों से ही वह इलाहाबाद शहर नहीं भरा था। सिपाहियों के विद्रोह का समय होते-न-होते इलाहाबाद शहर विद्रोह कर उठा। इधर परेड की ओर भयानक गर्जनाएँ हो रही थीं तभी उसकी प्रतिध्वनि शहर के उस घनघोर कंठ से निकलने लगी। पहले शहर की नाकेबंदी कर यूरोपियन घरों का सत्यानाश किया गया और फिर सिपाही और नागरिकों ने इकट्ठे होकर कारागृह को खोल दिया। उस कारागृह के कैदियों के मन में अंग्रेजों के प्रति इतना द्वेष भरा हुआ था जितना किसीके मन में नहीं होगा। कारागृह से छूटते ही कर्कश आवाज और चीत्कार करते पहले वे यूरोपियनों की बस्ती की ओर दौड़े। विशेषकर तारयंत्र और रेलों पर क्रांतिकारियों का बड़ा गुस्सा था। रेल के दफ्तर, पटरी, तार, खंभे, इंजन सारा कुछ मटियामेट कर दिया। अंग्रेजों ने अपने अधिकतर बाल-बच्चे किले में रखे थे फिर भी कुछ क्रांतिकारियों के हाथ लग ही गए। वे एक-एक झटके में जो भी गोरा मिलता उसका सफाया कर देते। जो गोरे भी नहीं थे, ईसाई भी नहीं थे, पर अंग्रेजों के आगे-पीछे रहने के आदी हो गए थे, ऐसे आधे गोरे भी पिटने लगे। विद्रोह करने जो तैयार नहीं थे उन सबके घरों पर हमले हुए और जिन्होंने 'हम दिल्ली के बादशाह के प्रति राजनिष्ठ रहेंगे और फिरंगियों से लड़ेंगे'—ऐसी शपथ ली, केवल उन्हें ही प्राणदान मिला। ७ जून के प्रातः क्रांतिकारियों ने इलाहाबाद का खजाना कब्जे में लिया। इस खजाने में कोई तीस लाख रुपए थे। फिर दोपहर के समय एक बड़ा सा हरा झंडा ले जाकर शहर की मुख्य कोतवाली पर लगाया गया और उसे सारे नागरिकों ने सलाम किया। जिस दिन शहर और किला इस विद्रोह की ज्वाला में सुलग रहा था उसी दिन सारा इलाहाबाद प्रांत मानो एक व्यक्ति सा उठ खड़ा हुआ। इधर कहीं मानो फिरंगियों का राज था ही नहीं, ऐसा लगने लगा। हर गाँव ने हरा या जरी का झंडा फहराया और आसपास के गोरे अधिकारी को भगा दिया, अधिकतर को मार ही डाला जिससे वहाँ फिरंगियों की गुलामी जड़-मूल से उखाड़ फेंकने जैसी स्थिति हो गई। अरे रे, सौ वर्ष तक जिसके जड़-मूल गहरे बैठाने के

---

१. स्वयं नील कहता है—"How the plan has not taken, by the sikhs, is a wonder!"

लिए प्रयास किए गए उस गुलामी की जड़ें इतनी उथली होती हैं! वास्तव में केवल तलवार से जोती हुई भूमि में कुछ भी पैदा नहीं होता—यह सच है और उसमें गुलामी जैसा नकली बीज तो कभी जमता ही नहीं। रे विश्व, तू अब भी यह पाठ सीख सकेगा क्या?

इलाहाबाद प्रांत में अधिकतर तालुकेदार मुसलमान थे, पर उनकी प्रजा हिंदू थी। ऐसी दोनों परस्पर विरोधी जातियों में एकता होगी और, अपने विरुद्ध सामान्य जनता में विद्रोह जन्म लेगा, यह अंग्रेजों के लिए असंभव लगता था। परंतु जून के पहले हफ्ते में ऐसी कितनी ही असंभवताएँ संभव हो गई थीं। इलाहाबाद का विद्रोह सुनने के लिए न रुकते हुए उस प्रांत के सारे-के-सारे गाँव एक ही समय में स्वतंत्र हो गए। मुसलमान और हिंदू—हमसब स्वदेश माता के एक ही दूध से पोषित हैं, दोनों इसी प्रतिक्रिया से विद्रोह कर उठे और वे सबके सब फिरंगियों के शासन पर प्रहार करने को तत्पर हो गए। नौकरी में लगे मजबूत सिपाही ही नहीं, पेंशनभोगी बूढ़े सैनिक भी स्वयंसेवक हो गए। वे अपनी सफेद मूँछों पर ताव भरते तरुणों की सेना तैयार करते और जो अति बुढ़ापे के कारण कुछ भी प्रत्यक्ष कृति करने में असमर्थ थे, अपने बिस्तर पर पड़े-पड़े लड़ाई के दाँव-घात समझाते और संकट की बातों पर सलाह देते।[१] पेंशनभोगी सिपाहियों को भी जिस उद्देश्य से बुढ़ापे में यौवन की उमंग आने लगती है उस स्वराज्य और स्वधर्म की दिव्य चेतना की हवा अन्यत्र भी लोगों में भर गई थी इसमें कोई शंका नहीं। दुकानदार, मारवाड़ी, बनिया इनको भी उस लोकक्षोभ से इतना साहस भर गया था कि उनके द्वेष के संबंध में जनरल नील ने अपनी रिपोर्ट में विशेष रूप से उल्लेख किया है—"अनेक प्रमुख व्यापारियों एवं अन्य लोगों ने भी हमारे प्रति प्रचंड द्वेष भावना अभिव्यक्त की। इतना ही नहीं, उनमें से अनेकों ने तो हमारे विरुद्ध सक्रिय युद्ध में भी भाग लिया।" (नील का द्वितीय पत्र)

पर इतना हो जाने के बाद भी किसान हमारी ओर होंगे यह बात अंग्रेज बड़ी बड़ाई से कर रहे थे। परंतु इलाहाबाद ने यह भ्रम भी तोड़कर उसकी ठिकरियाँ बना दीं। हिंदुस्थान में आज तक किसी भी आंदोलन में इतनी अगुवाई किसानों ने नहीं की जितनी अगुवाई इस सन् १८५७ के क्रांति-युद्ध में की। अपने पुराने तालुकेदारों

---

१. "कल तक जो सिपाही हमारे हाथ सहलाते थे, वे ही आज उन पैंशन प्राप्त वृद्धों के साथ, जो रणभूमि में जाने के सर्वथा अयोग्य थे, अन्य लोगों को कायरता और क्रूरता के कार्य करने में नितांत तत्परता सहित बढ़ावा दे रहे थे।"

—के कृत—'इंडियन म्युटिनी', खंड २, पृष्ठ १९३ तथा रेड पैम्फलेट भी देखें

के (अंग्रेज द्वारा नियुक्त नहीं) झंडों के नीचे अपने हाथों के हल जहाँ-के-तहाँ फेंककर ये किसान हवा की भाँति स्वतंत्रता युद्ध के लिए दौड़ पड़े। उन्होंने पहले के राजाओं से अंग्रेज कंपनी की तुलना करके देखी थी और उसमें उन्हें अंग्रेजी कंपनी से अपना आड़ा-टेढ़ा परंतु स्वराज्य अधिक अच्छा है, यह पक्की तरह से दिख गया था। इसलिए उन्होंने नियत समय पर आज तक के अपमान का भयानक प्रतिशोध लेना प्रारंभ किया। जहाँ-तहाँ स्वराज्य की जय-जयकार होती, गुलामी के मुँह पर गली-कूचों में बच्चे भी थूकने लगे। सचमुच लड़कों ने थूका। क्योंकि बारह-चौदह वर्ष के बच्चों ने स्वराज्य के हरे जरीदार झंडे लगाए और ताशे बजाते हुए उन झंडों को उठाए उन्होंने जुलूस भी निकाले। ऐसे ही एक जुलूस को पकड़कर अंग्रेजों ने उसमें सम्मिलित तरुणों को फाँसी पर लटकाया। यह दंड दिए जाने पर एक अंग्रेज अधिकारी भी इतना लज्जित हुआ कि वह अश्रुपूरित नेत्र लेकर मुख्य कमांडर से उन बच्चों को छोड़ देने का निवदेन करने लगा। परंतु उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा और स्वतंत्रता के झंडे को लेकर चलनेवाले उन तरुण लड़कों को दिन-दहाड़े फाँसी दी गई। इन तरुण देवदूतों पर किया गया जुल्म उन जालिमों के सिर पर आघात करने से कैसे चूक सकता है? सारी सृष्टि भूकंप-जैसी डोलने लगी। किसान और तालुकेदार, हिंदू और मुसलमान, वृद्ध और तरुण, पुरुष और महिला, सारे-के-सारे राजनीतिक दास्य का उच्छेद करने के लिए 'हर-हर' कर उठा। "केवल गंगा पार के लोग ही नहीं अपितु गंगा और यमुना के मध्य में स्थित भूखंड की जनता भी उठी, किसान भी सन्नद्ध हुए और दोनों धर्मों का एक भी अनुयायी ऐसा नहीं रह गया जो हम (अंग्रेजों) पर प्रहार करने के लिए बेचैन न हो उठा हो।[१]" इस बहुजन समाज के प्रचंड प्रयासों को सफलता मिले और श्रीमती भारतभूमि स्वराज्य-संपन्न हो जाए—इसके लिए प्रयाग के पंडे और मुल्ला अपना पवित्र आशीर्वाद उस क्रांति के माथे पर बरसाने लगे।

हिंदुस्थान के इतिहास में इतनी उत्क्षोभक, विद्युत् वेगी, भयानक एवं सर्वत्र व्याप्त राज्य क्रांति दूसरी दिखना बहुत कठिन है। लोक शक्तियाँ जिसमें भड़भड़ाकर जाग उठीं और अपने देश की स्वतंत्रता के लिए एकाएक गर्जना करते मेघों की तरह रक्त की मूसलाधार वर्षा करने लगीं। यह सन् १८५७ जैसी प्रचंड राज्य क्रांति हिंदुस्थान के इतिहास में अभूतपूर्व बात थी। उसमें भी हिंदू और मुसलमान अपने भाई-भाई होने का रिश्ता पहचानकर हिंदुस्थान के लिए इकट्ठा होकर लड़ने लगे, यह दृश्य बहुत ही अपूर्व एवं आश्चर्यकारी था। यह अपरिचित प्रचंड तूफान उत्पन्न

---

१. के कृत—'इंडियन म्युटिनी', खंड २, पृष्ठ १९५।

करने के बाद उसपर नियंत्रण रख पाने में हिंदुस्थान धोखा खा गया, इसमें कौन सा आश्चर्य? आश्चर्य है तो यह कि जिसपर कोई दोषारोपण न किया जा सके ऐसा तूफान हिंदुस्थान ने निर्मित किया! क्योंकि राज्य क्रांति पर नियंत्रण रखना तो किसी भी राष्ट्र के लिए संभव नहीं हुआ। अधिक क्या कहें, यदि फ्रेंच राज्य क्रांति से तुलना कर देखें तो अत्याचार, अंधाधुंधी, आपाधापी, अव्यवस्था, अंधस्वार्थता, लूटपाट आदि क्रांति जैसे अनिवार्य प्रलय में अनिवार्य तथा घटित हुई—ऐसा दिखता है। हिंद-भू का वह पहला प्रयत्न नहीं, प्रयोग था और इसीलिए उस प्रयोग में जहाँ इलाहाबाद में इतनी विजय प्राप्त हुई वहीं त्रुटियाँ, धोखे या अंधाधुंधी भी हुई। इसमें आश्चर्य का कोई कारण नहीं है। जमींदारों के आनुवंशिक झगड़े, गुलामी के कारण प्राप्त दरिद्रता आदि और शताब्दियों पुराने हिंदू-मुसलमानों का वैर एकाएक नामशेष करने के प्रयास में स्वाभाविक रूप से एकाएक उठी भ्रांतियों के कारण विद्रोह के पहले झटके में ही इधर-उधर अनियंत्रण आरंभ न होना बहुत कठिन था। सृष्टि के पहले प्रलय होना चाहिए। उसे रोक पाना ईश्वर के लिए भी असंभव था। जिन्हें राज्य क्रांतियाँ चाहिए उन्हें ऐसे संकट रास्ते में मिलेंगे ही।

पर लूटपाट और आगजनी का पहला हफ्ता गुजर जाने के बाद अंधाधुंधी के सारे संकट दूर हो इलाहाबाद में क्रांति का सही आकार उभरने लगा। उस प्रांत में ही नहीं, जहाँ-जहाँ भी लोकक्षोभ से क्रांतियाँ होती हैं वहाँ-वहाँ क्रांति क्षण के बाद पहली समस्या नेता की होती है। परंतु यह बाधा इलाहाबाद में जल्द ही टल गई। क्योंकि मौलवी लियाकत अली नामक एक कट्टर स्वतंत्रता भक्त जल्दी ही उस क्रांति का नेता बन गया। इस पुरुष की जो संक्षिप्त जानकारी मिलती है वह यह कि यह जुलाहों का प्रमुख धर्मगुरु था। क्रांति के पहले उसने विद्यालयों में अध्यापन कार्य किया था। इसकी धर्मशील पवित्रता से इसपर लोगों की श्रद्धा हो गई थी। विद्रोह के बाद जनता द्वारा इलाहाबाद स्वतंत्र करते ही कुछ दिनों में चौबीस परगने के जमींदारों ने इस मौलवी को इलाहाबाद में लाकर प्रांत का मुख्य अधिकारी नियुक्त किया और बड़े समारोह के साथ दिल्ली के बादशाह के प्रतिनिधि के रूप में उसके नाम की डौंड़ी पीट दी गई। इस मौलवी ने अपना मुख्यालय खुसरो बाग में बनाया। इस बाग के चारों ओर एक मजबूत दीवार थी। फिर उसने सारे प्रांत के विद्रोहियों को संगठित करना प्रारंभ किया। उसने जल्दी ही सारे सरकारी काम और षड्यंत्र व्यवस्था से प्रारंभ करवाए। 'मैं दिल्ली के बादशाह का सूबेदार हूँ' केवल वह कहता ही नहीं रहा, ऐसा इलाहाबाद के सारे समाचार और घटनाओं की सरकारी रिपोर्ट अंत तक दिल्ली के बादशाह को भेजता भी रहा।

मौलवी लियाकत अली को इलाहाबाद का किला अपने अधीन करने का

काम सबसे पहले करना था। उसके अधीन जो सेना इकट्ठी हो गई थी उसे किले पर हमला करने के लिए सज्जित करने के प्रयास और प्रबंध उसने चालू किए थे। उसी समय जनरल नील के बनारस से इलाहाबाद की ओर घूम जाने का समाचार आ पहुँचा। यदि उन चार सौ सिखों को सुबुद्धि आई होती तो तोपें, शस्त्र, गोला-बारूद सहित वह प्रचंड किला एक गोली भी चलाए बिना विद्रोहियों के हाथ पड़ जाता। जनरल नील के हृदय में वह बात लगातार चुभ रही थी, इसलिए उसने रात को दिन बनाते हुए सेना के साथ इलाहाबद की ओर कूच किया। ११ जून को नील इलाहाबाद आया। उसके आने तक किला और उसमें रह रहे अंग्रेजों का सिख लोग संरक्षण करेंगे इसकी नील को बिलकुल आशा न थी, अतः जब उसने किले पर अंग्रेजी झंडा फहराते देखा तो उसे बहुत प्रसन्नता हुई। उसने अपने साथ की यूरोपियन सेना को तत्काल किले की सुरक्षा के लिए लगाकर उन राजनिष्ठ सिखों को किले के बाहर निकाल लड़ाई के काम में लगा दिया। नील का यद्यपि सिखों पर बिलकुल विश्वास नहीं था फिर भी सिखों को उसपर पूरा विश्वास था। क्योंकि उन्होंने उस अपमान के बाद भी विद्रोहियों से मिलने से मना किया और नील के साथ पास-पड़ोस के गाँवों को बेचिराग करने के लिए वे तत्काल तैयार हो गए। १७ जून को अंग्रेजी सेना शहर में घुसने लगी। उस समय की घटनाओं के संबंध में अपने बादशाह को भेजी रिपोर्ट में मौलवी कहता है—''जो देशद्रोही, पापी उन फिरंगियों से मिल गए हैं उनमें से कुछ ने शहर में ऐसी गप उड़ा दी है कि सारा शहर अंग्रेज लोग तोपों से उड़ाने वाले हैं और ये सबको सच लगे इसके लिए उन्होंने ऐसी घोषणा कर दी है कि हम अपने घर छोड़कर जान बचाने भाग रहे हैं। इस कारण सारा शहर डरकर मेरे सुरक्षा आश्वासन पर ध्यान न देते हुए वीरान हो रहा है।'' मौलवी की यह अभागी रिपोर्ट तैयार होकर दिल्ली की ओर चली ही थी कि खुसरो बाग पर अंग्रेजों का आक्रमण होने लगा। उस दिन का आक्रमण विद्रोहियों ने नाकाम कर दिया। परंतु किला उनके पास होने से एक खंडहर बाग में बैठकर इलाहाबाद सँभाले रहना शुद्ध पागलपन ही था, यह जानकर मौलवी अपने अनुयायियों के साथ १७ जून की रात को कानपुर की ओर निकल गया। दिनांक १८ जून को अंग्रेजों ने इलाहाबाद शहर में अपने सिख राजनिष्ठों के साथ प्रवेश किया।

बनारस की तरह ही इलाहाबाद फिर से अंग्रेजों के हाथ लग गया। परंतु इससे विद्रोहियों का धीरज तिल भर भी कम नहीं हुआ। मुख्य किले में अंग्रेज सुरक्षित हैं यह देखकर उस प्रांत के कट्टर लोगों को अधिक ही जोश चढ़ने लगा और हर गाँव अपनी-अपनी गढ़ी को किला बना उसे लड़ाने की तैयारी में लग

गया। ऐसे कृतनिश्चयी लोगों को घूस देकर फाँसने के दिन नहीं रहे थे। वह युद्ध सिद्धांत के लिए लड़ा जा रहा था। इसलिए छोटे-छोटे नेता पकड़कर लाने के लिए नील ने हजारों रुपए के पुरस्कार घोषित किए, फिर भी कंगाल किसान तक वह काम करने को तैयार नहीं थे। लोगों की इस अपूर्व निष्ठा के लिए उस समय के अंग्रेज अधिकारियों ने अपने पत्रों में भी बड़ा आश्चर्य व्यक्त किया है। एक गाँव के संबंध में एक अधिकारी लिखता है—''मजिस्ट्रेट ने किसानों में सुपरिचित एक क्रांतिकारी नेता का सिर काटकर उपस्थित करने पर एक हजार रुपए का पुरस्कार देने की घोषणा की। किंतु हम (गोरों) से भारतवासियों को इतना अधिक द्वेष था कि एक भी व्यक्ति ने उसे बंदी बनाने के लिए आगे आने तक की चेष्टा नहीं की।'' —चार्ल्स बाल, खंड १। नेता पकड़कर देना ही नहीं पैसा लेकर अंग्रेजों को माल बेचना तक बहुत बड़ा पाप माना जाता था। यदि किसीने यह अपराध किया तो उसे समाज की ओर से भयानक दंड तत्काल दिया जाता। ''कोई भी ऐसा व्यक्ति जो यूरोपियन के लिए कुछ भी करता था उसे ये हत्यारे मार ही डालते थे।...एक निर्धन पाव रोटीवाले ने हमारे लिए पाव रोटी भेज दी थी तो बाद में देखा गया कि उसके दोनों हाथ ही काट लिये गए हैं और नाक भी साफ कर दी गई है।'' ऐसा २३ जून की यह उपर्युक्त रिपोर्ट कहती है। ऐसे राष्ट्रीय और शास्त्रीय बहिष्कार के कारण अंग्रेजों की कठिनाइयों की सीमा नहीं रही। इलाहाबाद का किला तो ले लिया परंतु वहाँ से आगे-पीछे कदम बढ़ाना अंग्रेजों को असंभव हो गया। उन्हें बैल नहीं मिलते, उन्हें गाड़ियाँ नहीं मिलतीं, उन्हें दवाइयाँ भी नहीं मिल रही थीं। बीमार सोल्जरों को डोलियाँ नहीं मिलतीं—डोली उठानेवाले कहार नहीं मिलते थे। इस कारण जगह-जगह पड़े बीमार लोगों की कर्कश कराहें इतनी भयानक होतीं कि उन्हें सुनकर ही अंग्रेज महिलाएँ चटपट मरने लगीं। वे दिन धूप के थे और जून माह में विद्रोह करके हम अंग्रेजों को अपने देश के सूर्यताप से मार डालेंगे, विद्रोहियों का यह जो दाँव था, उंसका अनुभव होने लगा। सिर पर गीला कपड़ा बार-बार रखने में ही सारे अंग्रेज निमग्न थे। उसपर अन्न न मिलना। अनाज का एक दाना भी कोई अंग्रेजों को बेचने के लिए तैयार नहीं था—''आज तक हमें नितांत ही अल्प भोजन पर अपने दिन गुजारने पड़े हैं। वस्तुतः कल मुझे अपने नाश्ते में जितना भोजन मिला था उससे तो एक श्वान का भी अपना पेट नहीं भर पाता।'' ऐसा इलाहाबाद का एक अंग्रेज अधिकारी लिखता है। अपने कुत्ते को भी जो खाना मैंने न खिलाया होता—वह खाना कल मैं स्वयं खा रहा था। गरमी और भुखमरी से अंग्रेजों में हैजा शुरू हो गया और उसमें भी अंग्रेज सोल्जरों ने दारू पीकर धुत्त पड़े रहने का सिलसिला चालू रखा। सारा अनुशासन बिगड़ गया। नील के आदेश को

भी वे शराबी ऐसे ठुकरा देते कि अब मैंने उनमें से एक-दो को फाँसी देने का निश्चय किया है, ऐसा उसने केनिंग को सूचित किया। इन अनंत संकटों से घिरी अंग्रेजी सेना जहाँ-की-तहाँ बँधी रह गई। कानपुर से तुरंत सहायता भेजने के संदेश-पर-संदेश आते रहे फिर भी जनरल नील जैसे साहसी योद्धा को इलाहाबाद में जुलाई की पहली तारीख देखनी पड़ी।

जनरल नील और उसकी फ्युजिलियर सेना मद्रास की ओर से आई हुई थी—यह बात महत्त्वपूर्ण है। यदि इस समय मद्रास की ओर विद्रोह की गप भी उड़ जाती तो अंग्रेजों को उसका तनाव सहना एक दिन भी असंभव हो जाता। परंतु इलाहाबाद के कृतनिश्चयी हिंदुस्थानी लोगों ने यद्यपि अंग्रेजी योद्धाओं को मानो कमरे में बंद करके मार डालने का इतना सफल प्रयास किया था फिर भी अंग्रेजों को उससे डरने की वास्तविक आवश्यकता नहीं थी। क्योंकि मद्रास, बंबई, राजपूताना, पंजाब, नेपाल आदि सारा हिंदुस्थान अभी तक मृत सा निश्चल पड़ा था। जब उसमें से कुछ भाग चैतन्य हुआ तो वह पिशाच बनकर विद्रोहियों पर ही टूट पड़ा। इलाहाबाद और बनारस में अंग्रेजों के साथ हजारों सिख सिपाही थे ही। फिर क्यों घबड़ाया जाए! दूसरे कुछ भी करें, पर इलाहाबाद के पंडों और मुल्लाओं ने, तालुकदार और किसानों ने, छात्रों और शिक्षकों ने, दुकानदारों और ग्राहकों ने अनंत बाधाएँ सामने खड़ी होते हुए भी, सबको एक छाने के नीचे ला सके, ऐसा कोई करामाती नेता न होते हुए भी और पराजय से लोगों में हताशा और अंधाधुंधी मची होते हुए भी, गुलामी के प्रति जो दीर्घ द्वेष प्रदर्शित किया और स्वराज्य एवं स्वतंत्रता के उच्च ध्येय के लिए जो स्वार्थ त्याग, स्वप्राण त्याग किया इससे उन सब देशभक्तों के लिए इतिहास हमेशा-हमेशा गौरव गान ही करेगा।

क्योंकि उन सब देशभक्तों को अंग्रेजी दासता के विरुद्ध उठ खड़े होने के लिए बहुत भारी मूल्य चुकाना पड़ा था।[१] बनारस और इलाहाबाद प्रांत में जनरल

---

१. एक ब्रिटिश अधिकारी ने अपने प्रयाग के क्रियाकलापों के संवंध में यह विवरण प्रस्तुत किया था—''हाँ, यह प्रवास तो मुझे बहुत ही रुचिकर प्रतीत हुआ। जब सिख सैनिकों के साथ फ्युजिलियर्स सिपाही नगर पर आक्रमण करने गए तो हम अपनी बंदूकों सहित जहाजों पर सवार हुए। जहाज चल रहा था और हम अपने दाएँ-बाएँ तटों पर गोलियों की बौछार करते आगे बढ़ रहे थे। जब हम एक खराब स्थान पर आए तो गोली वर्षा करते हुए ही तट पर उतर पड़े। मेरी दुनाली बंदूक से बरसती गोलियों का आहार अनेक 'काले' लोग बन रहे थे। मैं प्रतिशोध लेने की भावना से उन्मादग्रस्त सा हो गया था। दाएँ-बाएँ और आसपास के स्थलों पर जब हमने अग्नि वर्षा की तो पवन के प्रवाह से भड़की अग्नि ज्वालाओं ने आकाश तक अपनी सैकड़ों जिह्वाएँ फैला दीं। अब राजद्रोही दुष्टों से पूरा-पूरा प्रतिकार लिया जा रहा था। यह देखकर हम हर्ष और

नील ने जो क्रूर व्यवहार किया उसका जंगली इतिहास में भी कोई सही उदाहरण मिलना कठिन है। यह मैं अलंकारिक भाषा में नहीं लिख रहा, अंग्रेजों के ही वर्णन पढ़कर मेरी आत्मा यह कहती है। नील ने वृद्धों को जलाया, नील ने प्रौढ़ों को जलाया, नील ने युवाओं को जलाया, नील ने कुमारों को जलाया, नील ने अर्भकों को जलाया, नील ने पलने में सो रहे मुन्ने को उसके पालने में और गोद में दूध पीते मुन्ने को उसकी माँ की गोद में ही भून डाला। सैकड़ों स्त्रियों को, कुमारियों को, माताओं और पुत्रियों को जिनकी संख्या भी न गिनी जा सके, जिंदा जला दिया। परमेश्वर और मनुष्य जाति के सामने मैं यह कथन कर रहा हूँ। इसमें का एक अक्षर भी मिटाने की किसीमें हिम्मत है तो वह सामने आकर एक क्षण के लिए तो खड़ा रहे। इन सबका अपराध क्या था? तो वे अपने देश की स्वतंत्रता के लिए सारे कष्ट भोगने को तैयार हो गए थे।

फिर भी अभी कानपुर का कत्लेआम नहीं हुआ था। कानपुर के कत्लेआम के प्रतिशोध में नील ने यह कत्लेआम नहीं किया था, उलटे नील के कत्लों के प्रतिशोध में कानपुर का कत्लेआम हुआ था।

सन् १८५७ में सारे हिंदुस्थान में जितने अंग्रेज पुरुष, महिला और बच्चे कत्ल नहीं हुए उतने अकेले नील ने केवल इलाहाबाद में किए थे। ऐसे सैकड़ों नील हजारों गाँवों में उस वर्ष नेटिवों के सरेआम कत्ल कर रहे थे। अंग्रेजों के एक-एक आदमी के लिए हिंदुस्थान का एक-एक गाँव जीवित जलाया गया है।

इसके लिए अंग्रेज इतिहासकार क्या कह रहे हैं? वे पहले तो यह घटना पूरी

आनंद से सुध-बुध भी खो बैठे। प्रतिदिन विद्रोहियों के ग्रामों को अग्नि की भेंट चढ़ाने के लिए हमारी टोलियाँ निकलती थीं और हम पूर्णत: प्रतिशोध ले रहे थे। जिन मक्कारों ने सरकार और अफसरों के साथ अपराधपूर्ण व्यवहार किया था, उनकी जाँच हेतु जिस समिति का गठन किया गया था, मैं उसका अध्यक्ष था। प्रतिदिन ही हम आठ-दस व्यक्तियों को तो निश्चित रूप से ही फँसाते थे। अब इन लोगों के प्राण हमारे चंगुल में थे। मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि हमने किसीके भी प्रति तनिक सी भी उदारता का प्रदर्शन नहीं किया। पैरवी की प्रक्रिया तो बड़ी ही सामान्य सी थी। दंडित अपराधी को अपने गले में फंदा डालकर, एक गाड़ी पर चढ़ाकर वृक्ष से बाँध दिया जाता था। गाड़ी को आगे बढ़ाया कि उसकी देह वृक्ष से झूल गई।'' —चार्ल्स बाल कृत—'इंडियन म्युटिनी', खंड १, पृष्ठ २५७; और ऐसा कितने दिन तक चलता रहा—''तीन मास तक आठ शव ढोनेवाली गाड़ियाँ सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक उन शवों को एकत्र करने के लिए चक्कर लगाती थीं, जो राजमार्गों और बाजारों में लटकाए जाते थे। इस प्रकार लगभग छह हजार व्यक्तियों को सामान्य सुनवाई के उपरांत प्राणदंड देकर उन्हें चिर निद्रा में सुलाया गया था।''

—के कृत—'इंडियन म्युटिनी', खंड २, पृष्ठ २०३

तरह छोड़ देते हैं और वह भी कह-सुनकर यदि थोड़ी-बहुत बातें लिखीं तो उससे नील कितना साहसी, कट्टर और बहादुर था यह सिद्ध करते हैं। ऐसी प्रासंगिक क्रूरता से अलग अधिक दयालुता कौन सी होती है? मानव जाति के लिए नील के हृदय में कितनी ममता भरी हुई थी, इस मानवी कल्याण के लिए उसके द्वारा दिखाई गई क्रूरता से व्यक्त होता है, ऐसा कुछ लोगों का कहना है। पार्लियामेंट की रिपोर्ट में भी यह कहा गया है। अंग्रेजों के इस प्रतिशोध के कारण ही कानपुर का कत्लेआम हुआ, यह आशंका 'के' व्यक्त करता है। पर वह कहता है, नेटिवों की उद्धतता के कारण ब्रिटिशों का सिंहरूप प्रकट होना स्वाभाविक ही था। इस क्रूरता के लिए नील के विरुद्ध 'के' ने एक अक्षर भी नहीं लिखा है, उलटे इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर चर्चा करने का साहस न करते हुए वह उसे ईश्वर को सौंप देता है। परंतु नाना के संबंध में लिखते समय उसकी लेखनी अश्लीलता को भी लज्जित करती है। चार्ल्स बाल नील की अपरिमित स्तुति करता है। स्वयं नील कहता है—"परमात्मा साक्षी है कि मैंने जो भी कार्य किया, वह न्याय का विचार करके ही किया है। मैं जानता हूँ कि मैंने कुछ अधिक क्रूरता प्रदर्शित की है; किंतु इन संपूर्ण परिस्थितियों पर सामूहिक दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह सभी कुछ क्षम्य है। मैंने जो कुछ भी किया, अपने देश के लिए, उसके कल्याण के लिए किया है। मैंने यह कार्य अपनी साम्राज्य सत्ता का आतंक बैठाने तथा उसे पुनः स्थिरता प्रदान करने के लिए किया है।" 'स्वदेश के लिए मैं यह अघोर अत्याचार कर रहा हूँ इसलिए परमेश्वर मुझे क्षमा करे' जनरल नील का उपर्युक्त वाक्य देकर जो अंग्रेज इतिहासकार उसकी स्तुति करते हैं वे ही श्रीमंत नाना के और सिपाहियों के जोश को नरकगामी कहते हैं। इंग्लैंड के स्वदेशाभिमान की व्याख्या भी विचित्र है!

होम नामक इतिहासकार कहता है—"बूढ़े लोगों को और गोद में दूध पीते अर्भकों को लिये बेसहारा महिलाओं को भी इस भयानक प्रतिशोध में बलि चढ़ाया गया, पर वह सुख के लिए नहीं—यह पवित्र कर्तव्य था इसलिए किया गया, जनरल नील के सम्मान में यहाँ यह कहना होगा।"[१]

---

१. "वृद्ध व्यक्तियों ने तो हमें कोई हानि नहीं पहुँचाई थी। असहाय अबलाओं के आँचल से अबोध शिशुओं को भी हमारे प्रतिशोध की लपट उतनी ही प्रखरता से निगल गई थी जितनी तीव्रता से उसने घोर अपराधियों को चाटा था। किंतु उस परम श्रद्धेय नील के संबंध में यह तथ्य स्मरण रखना होगा कि ऐसे कठोर दंड देने में उसे तनिक सी भी सुखानुभूति नहीं होती थी, अपितु वह तो अपने कठोर दायित्त्व का पालन मात्र ही कर रहा था।"

—होम्स कृत—'सेपॉय वार', पृष्ठ २२९-३०

उपर्युक्त उद्धरण में निष्पक्ष इतिहास और सच्चे परमेश्वर को (नील के परमेश्वर को नहीं) यदि किसीके द्वारा की गई आम हत्याएँ किसीको यथार्थ और न्यायपूर्ण लगती हों तो वह अंग्रेजों द्वारा की गई हत्याएँ न होकर विप्लवकारियों द्वारा की गई हत्याएँ हैं। स्वतंत्रता के लिए की गई हत्याए क्षम्य हैं या नहीं इस प्रश्न का निर्णय परमेश्वर पर छोड़ दें—परमेश्वर मुझे क्षमा करे। क्योंकि मैं जो कर रहा हूँ वह अपने देश का प्राकृतिक स्वराज्य प्राप्त करने के लिए है—यह वाक्य नील की अपेक्षा नाना साहब के मुँह से अधिक शोभा देता। स्वदेश के लिए विप्लवी लड़ रहे थे, अंग्रेज नहीं। इसीलिए क्रूर हत्याएँ करते हुए यदि कोई पवित्र कर्तव्य कर रहा था तो वह स्वधर्म और स्वराज्य इस महान् उपलब्धि के लिए झगड़नेवाले और सौ वर्ष के अत्याचारों से पीड़ित मातृभूमि का प्रतिशोध लेने को तत्पर क्षुब्ध देशवासी ही थे।

परंतु अब इस तत्त्वज्ञान का उपयोग ही क्या? नील ने इलाहाबाद में भयानक क्रूरता के जो बीज बोए उसकी फसल उधर कानपुर के खेतों में लहलहा उठी है। ऐसे समय में उस फसल की कटाई के लिए जल्दी से कानपुर की ओर जाना ही उचित है।

□

प्रकरण–८

कानपुर और झाँसी

दासता के नरक में पड़े अपने पितरों का उद्धार करने के पवित्र हेतु से अत्यंत वेग से बह रहे क्रांति भागीरथी के रक्त प्रवाह को उत्तर हिंदुस्थान के विस्तृत मैदान पर धमाचौकड़ी करते छोड़कर अब कुछ देर हमें उस क्रांति भागीरथी के मुख्य स्रोत हरिद्वार में क्या चल रहा है—उसे देखना चाहिए। श्रीमंत नाना साहब के बाड़े में मेरठ के विस्फोट के समय जितने कार्यकर्ता इकट्ठे हुए थे उतने उस समय लखनऊ के राजमंदिर में, बरेली प्रांत में या स्वयं दिल्ली के दीवान-ए-खास में भी मिलने कठिन थे। इस ब्रह्मावर्त के महल में सन् १८५७ की क्रांति का गर्भ संभव हुआ और वहीं वह गर्भ विकसित हो रहा था। वहीं उस विचार गर्भ के द्रवीभूत रस का संगठन होने लगा और फिर पूर्ण गर्भ का उद्भव भी यदि यथाकाल ब्रह्मावर्त में ही होता तो निश्चय ही वह अल्पायु जीन होता। परंतु जब बीच में ही समय पूर्व मेरठ की गड़गड़ाहट से वह क्रांति गर्भ निकलकर बाहर आ गिरा तब उस कच्चे गर्भ का परित्याग न करते हुए उस कठिन परिस्थिति में ही उसकी उचित अभिवृद्धि करने के लिए इधर ब्रह्मावर्त के महल में क्रांति की तैयारी जोर-शोर से चल रही थी।

उस महल में नाना साहब के भाई श्री बाबा साहब व श्री बाला साहब और उनके भतीजे श्री राव साहब अपने मालिक के क्रांति के उदात्त हेतु को सफल करने के लिए अपना तन-मन-धन अर्पण करने को तैयार थे। वैसे ही नाना के गुरु जिन्होंने खिदमतगार की अत्यंत कनिष्ठ स्थिति से अपनी दक्षता और चतुराई से अपने को राज्यमान्य के पद तक पहुँचाया था, जिन्होंने यूरोप खंड की राजनीति एवं संग्राम भूमि का अध्ययन कर अपनी स्वदेश भूमि को गुलामी से मुक्त करने के धर्मयुद्ध में उसका किस तरह उपयोग किया जाए—यह बड़ी चतुराई से प्रत्यक्ष अवलोकन किया था, जिन्होंने इस क्रांति का विस्तृत नक्शा सबसे पहले अपने

मन:पटल पर बनाया था और जिन्होंने स्वयं मुसलमान होते हुए भी अपनी भारतमाता की स्वतंत्रता के लिए एक हिंदू राजा के अभ्युदय के लिए अपना जीवन अर्पण कर 'परैस्तु विग्रहे प्राप्ते वयं पंचशतोत्तरम्' (संकट पड़ने पर हम एक सौ पाँच हैं) महाभारत के इस उपदेश की सार्थकता स्वआचरण से की थी, वे देशभक्त अजीमुल्ला खान भी फिरंगियों की गुलामी छोड़ने के लिए वहाँ हाथ में तिलांजलि लेकर खड़े थे। उसी महल में झाँसी की बिजली भी अपनी तेजपुंजता से उस गहरे अँधियारे में लगातार चमक मार रही थी।

परंतु ऐसे इतिहास प्रसिद्ध राजमहल के शस्त्रागार में कसौटी के पत्थर पर तलवार को धार लगाने में कौन सा योद्धा तल्लीन है—यह तो देखें जरा!

प्रिय पाठक! शस्त्रागार में शमशीर को पानी चढ़ाने में तल्लीन वह सतेज मराठा तात्या टोपे है। शिव छत्रपति के अखाड़े का अंतिम जवाँमर्द मराठा है यह। जवाँमर्दी जिनमें होती है ऐसे बहुत लोग होते हैं, परंतु इस अंतिम मराठा की जवाँमर्दी अपनी स्वतंत्रता के लिए अपनी हिंद देवी की म्यान से बाहर निकाली हुई तलवार थी। तलवार मर गई परंतु उसका 'वार' नहीं मरा—वह कभी मरने वाला भी नहीं है। तात्या टोपे जैसी तलवार जिसे काल द्वारा जीर्ण और शत्रु द्वारा विदीर्ण की हुई म्यान में से स्वेच्छा मात्र से निकाला जा सकता है उस हिंद-भू की अक्षय कोख को नमस्कार करें।

हिंदभूमि की इसी आदरणीय कोख से सन् १८१४ के आसपास वीरवर तात्या टोपे का जन्म हुआ।[१] उनके पिता का नाम पांडुरंग भट था। पांडुरंग भट को कुल आठ पुत्र थे और दूसरे पुत्र का नाम रघुनाथ था। यही रघुनाथ हिंदुस्थान के इतिहास के तारामंडल में 'तात्या' नाम से चमकता स्वतंत्रता का दिव्य तारा था।

पांडुरंग राव टोपे देशस्थ ब्राह्मण थे और अंतिम बाजीराव के पास ब्रह्मावर्त में वे दानाध्यक्ष के पद पर थे। उस ब्रह्मावर्त को एक समय कितना अलभ्य लाभ हुआ था! उसके आँगन में नाना साहब, झाँसी की छबीली, तात्या टोपे आदि की समकालीन स्नेह लीला हुई थी। बचपन से ही श्रीमंत नाना की तात्या से बड़ी प्रीति थी। जिस महान् कार्य में उन्हें वीर चरित्र की भूमिका करनी थी उस महान् कृत्य की शिक्षा बाल वय से ही इन दोनों विभूतियों को सृष्टि देवी की ओर से एक ही शाला में दी जा रही थी। 'रामायण', 'महाभारत' के पारायण जिन्होंने एक साथ किए,

---

१. सन् १८५९ में श्री तात्या अपनी जबानी कहते हैं—''मेरा नाम तात्या टोपे है। मेरे पिताजी का नाम पाडुरंग है और मैं यवला परगना पालोडा, जिला नगर का निवासी हूँ। मैं बिठूर में रहता हूँ और मेरी आयु लगभग पैंतालीस वर्ष है और मैं नाना साहब की सेवा में तैनात हूँ।''

मराठों की जवाँमर्दी का इतिहास जिन्होंने एक साथ पढ़ा और उस वीर रस को पीकर उनके बाल-बाहु एक साथ ही फड़क उठे थे—वही दो सिंह शावक अपनी देशमाता के लिए इकट्‌ठा लड़े। किसी एक सदी में ऐसी एक ही शाला खुलती है जिसमें नाना, तात्या, राव और छबीली जैसे बालक साथ-साथ शिक्षा लेते हैं, साथ-साथ मुसकराते, साथ-साथ खेलते हैं; किसी एक सदी में ऐसी एक ही परीक्षा होती है कि जिसमें ये सारे महानुभाव बालक संग्राम पत्रिका पर अद्‌भुत वीर चरित्र एकमत से लिखते हैं ऐसी असाधारण शाला का और ऐसी असाधारण परीक्षा का सम्मान ब्रह्मावर्त के राजमहल को प्राप्त हुआ था।

अप्रैल के अंत में क्रांति पक्ष के संगठन को एकमत करने के लिए हिंदुस्थान के प्रमुख शहरों में स्वयं प्रवास करने के बाद अजीमुल्ला खान और नाना साहब संकेत समय की प्रतीक्षा करते हुए बहुत सावधानी से रुके हुए थे। तभी १८ मई को मेरठ के विप्लव और दिल्ली स्वतंत्र हो जाने का समाचार कानपुर आ पहुँचा। इस असमय हुए विप्लव के कारण ब्रह्मावर्त के राजमहल में किसी भी तरह की बेचैनी दिखाई नहीं दी। राज्य क्रांतियाँ सहस्रशः अलग-अलग भागों में चलती हैं—इसलिए उनमें से कुछ भाग जल्दी से तो कुछ मंद गति से, कुछ पूर्व संकेत के अनुसार तो कुछ आकस्मिक तेज से ही गतिमान हो जाते हैं। ब्रह्मावर्त के राजमहल के ध्यान में यह बात तत्काल आ गई और उसने मेरठ के विद्रोह का पूरा लाभ लेने का निश्चय किया। परंतु वह लाभ लेने के लिए तत्काल दिल्ली के पीछे-पीछे विद्रोह करें या जून के पहले हफ्ते में पूर्व संकेतों के अनुसार विद्रोह करें? इन दोनों में से दूसरा ही रास्ता ठीक समझ उसके अनुसार मई के उत्तरार्ध में ब्रह्मावर्त के अंतर्बाह्य दाँव-घात चलने लगे। ब्रह्मावर्त से कानपुर बिलकुल पास है। इस शहर में बहुत दिनों से अंग्रेजी सेना का महत्त्वपूर्ण शिविर था। सन् १८५७ के मई माह में वहाँ पर पहली, ५३वीं एवं ५६वीं पैदल सिपाहियों की पलटन और घुड़सवार सिपाहियों की दूसरी पलटन—ऐसी कोई तीन हजार नेटिव सेना थी। वहाँ का तोपखाना अंग्रेजों के कब्जे में था और उसपर कोई साठ अंग्रेज और अन्य सौ-सवा सौ सोल्जर—इतने गोरे रहते थे। सारी सेना का कमांडर सर हो व्हीलर था। व्हीलर आयु से वृद्ध और सिपाहियों में बहुत लोकप्रिय अधिकारी था। इस वृद्ध अधिकारी ने सिख युद्ध में और अफगानिस्तान की मुहिम में अच्छी सेवा की थी। कानपुर की नेटिव सेना इस अधिकारी से बहुत खुश है यह अंग्रेज सरकार को पूरी तरह ज्ञात होने के कारण कानपुर के सिपाहियों की पंक्तियों में कुछ पक रहा है इसकी आशंका किसीके मन को छू तक न सकी।

मई माह में कोई १५ मई को कानपुर शहर में इधर-उधर एक विशेष

हलचल दिखने लगी। मेरठ के विप्लव का समाचार पहुँच जाने से सिपाहियों की पंक्तियों में पहले की स्तब्धता हटकर चंचलता आई थी। परंतु सिपाहियों को ज्ञात वह समाचार अंग्रेज अधिकारियों को १८ मई तक ज्ञात नहीं हुआ था। दिल्ली के समाचार देनेवाले तारयंत्र तोड़-फोड़ डाले गए थे, इसलिए सर हो व्हीलर ने समाचार ज्ञात करने के लिए कुछ दूत भेजे। उन्हें रास्ते में दिल्ली से आ रहा एक सिपाही मिला। परंतु फिरंगी को समाचार देने से उसने साफ मना किया। सन् १८५७ में दूर-दूर के समाचार नेटिव लोगों को तत्काल कैसे ज्ञात हो जाते थे और तारयंत्र कान से लगाए अंग्रेज उस संबंध में कैसे अज्ञानी रहते थे, यह अंग्रेज अधिकारियों के लिए बड़ा कूट प्रश्न था।[१] कानपुर के नेटिव सिपाहियों को मेरठ में हुए विद्रोह का समाचार विद्रोह होने के बाद तार से सूचित करने की आवश्यकता नहीं थी। क्योंकि वह विद्रोह से एक दिन पूर्व ही जीवित तारों से ज्ञात हो चुका था। कानपुर के अंग्रेज अधिकारियों को जब यह समाचार विदित हुआ तब कानपुर शहर और सिपाहियों की पंक्तियों में क्या कुछ पक रहा है इसका आभास उन्हें होने लगा। परंतु अद्‌भुत समाचार के कारण उत्पन्न चंचलता जनमानस से जल्दी ही निकल जाएगी इस आशा से सर हो व्हीलर काफी कुछ निश्चिंत थे। इधर कानपुर शहर और सिपाहियों में अंग्रेजी शासन की समाप्ति का समय पास आ गया है—यह हर कोई अनुभव करने लगा। हिंदू और मुसलमानों की होनेवाली बड़ी-बड़ी सभाएँ, सिपाहियों की होनेवाली गुप्त बैठकें, विद्यार्थियों और उनके शिक्षकों में चलनेवाले संवाद और बाजार और दुकानों-दुकानों में चर्चाओं आदि से लोकक्षोभ की चिनगारियाँ उड़ने लगी थीं। फिरंगियों को मार डालने की बातें लोग राह चलते करने लगे थे और सिपाही अपने स्वदेशी सूबेदार के आदेशों छोड़ दूसरों के आदेश टालने लगे।[२] बाजार में एक अंग्रेज महिला कुछ वस्तुएँ खरीदने हमेशा की ऐंठ में जा रही थी कि कोई राहगीर भौंहें चढ़ाए उसके पास आया और बोला—''अब यह ऐंठ बहुत हो गई। हिंदुस्थान के बाजार से अब आपकी जल्दी ही विदाई होनेवाली है—समझीं?'' अंग्रेजों को ऐसे कड़वे बोल सुनने का यह पहला ही अवसर था। अब ऐसे अवसर पर शांत बैठे रहने से कोई लाभ नहीं है यह सोच कमांडर सर हो व्हीलर ने विद्रोह

---

१. ''वस्तुतः इस विद्रोह की एक उल्लेखनीय बात यह है कि अत्यंत निश्चित तथा नितांत वेग सहित सुदूर स्थित स्थानों के समाचार भारतीय सैनिकों तथा अन्य लोगों को किस प्रकार हो जाते थे। सामान्य संदेश प्रेषण का प्रमुख माध्यम हरकारे ही थे, जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर असाधारण फुरती सहित संदेश पहुँचाते थे।'' देखें—'मिलिट्री नैरेटिव्स', पृष्ठ २३

२. नानकचंद की डायरी।

के पहले ही सुरक्षा की तैयारी आरंभ कर दी।

सबसे पहले, संकट के समय आश्रय मिल सके ऐसा एक स्थान तैयार रहे, इस हेतु गंगा के दक्षिण और सिपाहियों की पंक्तियों के पास ही एक स्थान उसने चुना। उस स्थान को मजबूती देने के लिए चारदीवारी और तोपें रखने के लिए स्थान बनवाकर सर व्हीलर ने अनाज भरने का आदेश भी दिया। ऐसी अफवाह है कि नेटिव कांट्रेक्टर ने अनाज आदि रसद व्हीलर की नजर बचाकर आदेश से बहुत कम भरी थी। इस चारदीवारी से घिरे स्थान का उपयोग कर सिपाही विद्रोह करें तो भी अधिक नहीं करना पड़ेगा—ऐसा भरोसा व्हीलर और अन्य अंग्रेज अधिकारियों को था। क्योंकि अन्य स्थानों की तरह ही कानपुर के सिपाही भी जगह-जगह मारकाट न कर दिल्ली की ओर ही निकल जाएँगे और उनके दिल्ली की ओर बढ़ते ही गंगा उतरकर इलाहाबाद में अंग्रेजी सेना से मिलने का सुअवसर उन्हें मिल जाएगा, यह उनकी पक्की धारणा थी। कानपुर के अंग्रेज लोगों की सुरक्षा के लिए चारदीवारी का मजबूत स्थान बनाकर ही व्हीलर चुप नहीं बैठा और उसने लखनऊ में सर हेनरी लॉरेंस को सहायता भेजने को पत्र लिखे। पर लखनऊ में क्रांति की ज्वाला इतनी भड़क उठी थी कि सर हेनरी लॉरेंस ही सहायता के लिए चिल्ला रहा था। फिर भी उसने चौरासी गोरे सोल्जर, लेफ्टिनेंट अॅशे के नेतृत्व में गोरा तोपखाना और कुछ घुड़सवार—इतनी सेना कानपुर की ओर तुरंत भेजी।

अंग्रेज लोगों की सुरक्षा के लिए सर व्हीलर ने ये दो उपाय किए, यह कोई विशेष बात नही थीं। परंतु अंग्रेजों के हिंदुस्थानी शासन पर आया यह संकट टालने के लिए उसने जिस तीसरी युक्ति की योजना की थी, उसके जैसी अब अद्‌भुत लगनेवाली, परंतु उस समय की क्रांति रचना के कौशल की यथार्थ कल्पना देनेवाली ऐसी दूसरी विलक्षण बात इस इतिहास में नहीं लिखी गई। सर व्हीलर की तीसरी युक्ति कानपुर के संरक्षण के लिए उसकी ब्रह्मावर्त के राजा से की गई प्रार्थना थी। मेरठ का आकस्मिक समाचार सुनते ही लश्कर के छोटे सिपाहियों और बाजार के साधारण लोगों में तत्काल चंचलता और क्षोभ उत्पन्न हो गया था। परंतु ब्रह्मावर्त का समुद्र पहले जितना शांत, गंभीर और सहनशील दिखाई देता था उतना ही वह आज भी था। उसके हृदय में घुमड़ते प्रचंड बादलों का संकेत उसके जलपृष्ठ पर रत्ती भर दिखना असंभव था। कानपुर की सेना की चंचलता से सर व्हीलर चौंका था फिर भी उसे इसकी तिल भर शंका नहीं हुई कि ब्रह्मावर्त का राजा अपने विरुद्ध है। जिसके मस्तक का मुकुट अभी क्षण भर पहले पैरों से कुचला है, एक क्षण पहले ही जिस नाना की पूछ को जान-बूझकर मसला है, उसी नाना को अंग्रेजों ने अपनी सुरक्षा की विनती कर कानपुर बुलाया। नाना सहनशील हिंदू है, वह मन में द्वेष पालनेवाला

जहरीला नाग नहीं, ऐसा अंग्रेजों को लगता था तो कोई एकदम गलत भी नहीं था। क्योंकि आज तक अंग्रेजों के पैरों तले कुचले, निर्जीव, निरुपद्रवी, और नपुंसक केंचुए क्या हिंदुस्थान में कम थे? उन्ही केंचुओं जैसा केंचुआ नाना भी होगा, इस भ्रम में पड़कर ही सर व्हीलर ने ब्रह्मावर्त की बाँबी में अपना हाथ डाला था। ब्रह्मावर्त की बाँबी में बैठे नाग को और चाहिए ही क्या था? उसने दो तोपें, तीन सौ निजी सिपाही, पैदल और घुड़सवारों के साथ दिनांक २२ मई को कानपुर में प्रवेश किया। कानपुर में अंग्रेजी सैनिक और असैनिक अधिकारियों की बहुत बड़ी बस्ती थी—उसीके बीचोबीच जाकर नाना ने अपना शिविर बनाया। कानपुर में विप्लव होते ही पहला हमला खजाने पर होगा, तो उसकी सुरक्षा की क्या व्यवस्था हो? अच्छा तो खजाना दे दो नाना के कब्जे में। बारूदखाना और शस्त्रागार की सुरक्षा? इन्हें भी नाना की निगरानी में रहने दो। जल्दी ही इस निगरानी में नाना के दो सौ सिपाहियों का पहरा बैठ गया। कलेक्टर हिल बर्डन ने नाना और तात्या को धन्यवाद दिए; और सारी अंग्रेज महिलाएँ और बच्चे चाहें तो ब्रह्मावर्त के राजमहल में जाकर रहें यहाँ तक बातें होने लगीं। इसीका नाम है मराठी कावा (दाँव)! अंग्रेजों की सुरक्षा करने और स्वदेश-स्वतंत्रता के लिए युद्धरत अपने सगे भाइयों से लड़ने सेना-तोपखाने के साथ नाना को कानपुर बुलाया गया। अंग्रेजी बस्ती में उनका शिविर लगा। अंग्रेज उन्हें लाखों रुपयों का खजाना सौंप दे और इस तरह सहायता देने के लिए धन्यवाद दे—इसी सबका नाम है मराठी दाँव! और ये सारी बातें उस प्रचंड विस्फोट के एक हफ्ते पहले की हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि सन सन् १८५७ में अंग्रेज सरकार को अंधकार में टटोलते रखकर एकाएक कैसे गड्ढे में गिराया गया। स्वतंत्रता की अनिवार्य इच्छा—यही साध्य और उसकी प्राप्ति हेतु युद्ध संग्राम यह साधन। इन दो बातों का स्पष्ट ज्ञान सारे समाज को दिया हुआ था। परंतु उसका नेता कौन हो? विद्रोह का पक्का दिन कौन सा हो? क्रांति के मुख्य केंद्र कहाँ होंगे? ये सब बातें इतनी चतुराई से गुप्त रखी गई थीं कि उसकी भनक अंग्रेजों को तो खैर क्या होती, उस जनसमूह को भी पक्की पता नहीं थी। मुख्य गुप्त केंद्र के नेता और उनके विश्वसनीय सहयोगियों को ही पूरे नाम आदि की जानकारी थी। पीछे कहा था कि हर रेजिमेंट में एक समिति बनाई गई थी, उसका भेद भी यही था। काशी में पकड़े गए पत्र में महान् एक नेता की ओर से इतने ही हस्ताक्षर थे। इस क्रांति रचना के अनुरूप ऐसा ही व्यवहार उसके उत्तरदायी नेताओं की ओर से रखा गया था। दिल्ली के बादशाह, झाँसी की रानी या नाना साहब की योजना के बारे में विद्रोह होने के पहले दिन तक अंग्रेजों को तिनके के बराबर भी भनक नहीं मिली। परंतु इस सबमें ब्रह्मावर्त के बाड़े की विशेष करामात! इतिहासकार 'के' कहता

है—"मराठी राज्य-संस्थापक शिवाजी के चरित्र का अध्ययन नाना ने यूँ ही नहीं किया था।"

कानपुर में गुप्त मंडली का जो जाल बिछा था उसका मुख्य केंद्र सूबेदार टीकासिंह के घर में स्थापित था। बैठक करने का दूसरा स्थान शम्सुद्दीन खान सिपाही के घर में था।[१] इन् गुप्त बैठकों में होनेवाली मंत्रणा में नाना की ओर से ज्वाला प्रसाद और महमूद अली नामक ब्रह्मावर्त के राजमहल के विश्वसनीय नौकर उपस्थित रहते थे। सूबेदार टीकासिंह और ज्वाला प्रसाद की सहायता, उत्कट स्वातंत्र्य इच्छा और निष्कलंक सच्चाई के कारण सारी सभा पर उनका प्रभाव था और इस सभा के निर्णयों के अनुसार सेना एकमत से व्यवहार करे यह निश्चित था। इस कारण सूबेदार टीकासिंह का जो मत होता वही सारी सेना का मत होता था। ऐसे नेता और नाना की भेंट होना, आमने-सामने सारी बातें होना अति आवश्यक था। उसमें भी मेरठ के आकस्मिक विद्रोह से अस्त-व्यस्त हुए कार्यक्रम को फिर से एक बार सही करना अनिवार्य था, इसलिए नाना की और सूबेदार टीकासिंह की भेंट निश्चित हुई। पहली भेट में सूबेदार और नाना की मंत्रणा बहुत देर तक हुई। "सेना के हिंदू और मुसलमान—ये दोनों ही स्वराज्य और स्वधर्म के लिए एकमत से विद्रोह करने को सज्जित हो गए हैं और हम वह करने के लिए तैयार हैं।" सूबेदार के ऐसा विश्वास दिलाने पर अन्य फुटकर बातें निश्चित करने को दूसरी अधिक सावधान और सावकाश भेंट की बात निश्चित कर सूबेदार वापस लौटे। जून की पहली तारीख को, संध्या समय श्रीमंत नाना अपने बंधु बाला साहब और मंत्री अजीमुल्ला खान के साथ गंगा किनारे आए। सूबेदार टीकासिंह अपनी केंद्र मंडली के साथ वहाँ आए हुए थे ही। ये सारे लोग एक नाव में बैठकर गंगा के सुधा धवल जलाशय में घुस गए। अपने स्वदेश संरक्षण के लिए घनघोर संग्राम करने की प्रतिज्ञा उस गंगाजल को हाथ में लेकर करने के बाद, कोई दो-तीन घंटे तक उनकी चर्चा चलती रही। भावी कार्यक्रम का पक्का निर्णय हो जाने पर वे सब लोग लौट आए। उनकी वहाँ क्या चर्चा हुई यह गंगानदी के पाट को ही ज्ञात होगा। इतना सच है कि दूसरे दिन शम्सुद्दीन ने अपनी प्रियतमा को यह स्वतंत्रता का समाचार यूँ ही नहीं सुनाया था। क्योंकि स्वराज्य के लिए शम्सुद्दीन की आत्मा जितनी फड़फड़ा रही

---

१. कानुपर में विद्रोह शांत हो जाने पर एकत्रित साक्ष्य तथा नानकचंद नामक एक वकील की डायरी—इन दो आधारों पर G. D. Trevelyan द्वारा लिखित 'Cownpore' नामक पुस्तक से उपर्युक्त सारी जानकारी ली गई है। इन सबूतों से भी उस समय की परिस्थितियों की कल्पना करना बहुत कठिन नहीं है।

थी उतनी ही इस सुंदरी की भी। अजीजन सिपाहियों की अतिप्रिय वेश्या थी। परंतु उसने अपना प्रेम पैसों के लिए बाजार में बेचना छोड़कर स्वतंत्रता संग्राम के बाजार में देशप्रेम के पुरस्कार के रूप में बाँटना शुरू कर दिया था। अपने सुंदर मुख और भृकुटी की एक-एक सिकड़न से उसने अनेक भगोड़ों को फिर से रण में भेजा है। यह किस्सा शीघ्र ही आगे आएगा।

क्रांति पक्ष की योजनाएँ इधर इस ऊँचाई तक पहुँच रही थीं और उधर अंग्रेज लोगों को हर नए पल इतनी घबड़ाहट हो रही थी कि क्या पूछने? लखनऊ से सहायता आने और श्रीमंत नाना साहब की सुरक्षा में खजाना और गोला-बारूद पहुँच जाने के बाद सर व्हीलर के मन को थोड़ा धीरज बँधा था। पर अंग्रेज बस्ती को बिलकुल धीरज नहीं था। २४ मई को मुसलमानों की ईद थी। उस दिन सब ओर विद्रोह होगा—ऐसा डर हर शहरी अंग्रेज को था। परंतु ऐसे सहज ध्यान में आ जानेवाले दिन सार्वजनिक विद्रोह करने के लिए सन् १८५७ के क्रांतिनायक इतने पगलाए नहीं थे। जिस दिन विद्रोह होगा, ऐसा सहज में लग सकता है, उस दिन शांति बनाए रखना और जिस दिन विद्रोह होने की बिलकुल भी संभावना न हो उस दिन उछल पड़ना—ये दाँव-घात ही तो विद्रोह की सफलता के मुख्य कारण थे, इसीलिए कानपुर में ईद के महोत्सव में किंचित् भी गड़बड़ी नहीं होने दी गई। उस दिन सुबह अंग्रेज इतना घबड़ाया हुआ था कि सर व्हीलर ने लखनऊ को तार भेजा—''आज विद्रोह किसी भी तरह नहीं रुक सकता!'' परंतु इस महोत्सव के दिन शाम को जब सारे मुसलमानों ने परंपरा के अनुसार साहब लोगों से ईद मिलन किया तब सर व्हीलर को फिर से एक बार बहुत संतोष हुआ। परंपरा के अनुसार रानी के जन्मदिन पर उसे तोपों की सलामी दी जाती थी, परंतु कदाचित् उस आवाज से सिपाहियों में बेकार ही गड़बड़ी होगी इसलिए वह सलामी नहीं दी गई। अंग्रेजों की महारानी को उसके जन्मदिन पर स्वयं उसकी सेना में ही सलामी देने की शक्ति न हो, इसके लिए बहुत से अंग्रेज अधिकारियों को बड़ा दुःख हुआ। पर क्या करते बेचारे! विद्रोह होने पर सुरक्षा के लिए जो चारदीवारी का स्थान बनाया गया था—जैसा पीछे कहा है—उस स्थान की ओर ध्यान दें तो अंग्रेजों की कैसी दयनीय स्थिति हो गई थी यह तत्काल समझ में आ जाता है। 'भेड़िया आया रे भेड़िया' ऐसी गप यदि कोई उड़ा दे तो अंग्रेजों के परिवार अस्त-व्यस्त दौड़-भाग करने लगते। एक अंग्रेज अधिकारी लिखता है—

''मैं जब वहाँ था तो मैंने देखा कि बग्घियों, गाड़ियों, डोलियों आदि सवारियों की भीड़ सहसा ही लग जाती थी और उनमें लेखकों, व्यापारियों, महिलाओं—जो बालकों को छाती से चिपकाए होती थीं, बालकों, धायों और

अधिकारियों आदि सभी को पहुँचा दिया जाता था। सार रूप में कहा जाए तो यह कहना उपयुक्त होगा कि ज्योंही किसी प्रकार के उपद्रव की आशंका होती अथवा समाचार प्राप्त होता तो वहाँ हमारा अभिनंदन करनेवाला भी कोई न होता; क्योंकि उपर्युक्त दृश्यों से हम भारतीयों को यह स्पष्टत: दिखा चुके थे कि हम कितने कायर हैं और हमारी दशा कितनी दयनीय है।''

अंग्रेजों द्वारा अपने व्यवहार से दरसाया गया यह डरपोकपन, उपर्युक्त अधिकारी कहता है वैसे वास्तव में नेटिवों ने पहचान लिया था। परंतु वह कोई आज ही की नई बात नहीं। जब चारदीवारी बनाने का काम प्रारंभ हुआ तभी अजीमुल्ला खान ने एक लेफ्टिनेंट से मुसकराते हुए यही तो कहा था। उस लेफ्टिनेंट से अजीमुल्ला खान ने अपनी हमेशा जैसी मधुर वाणी में पूछा—''क्यों साहब, इधर जो आप नया भवन निर्माण कर रहे हैं उसका नाम क्या होगा?'' साहब ने कहा—''सच में अभी मुझे ठीक से सूझता नहीं है।'' आँखे मटकाते उस चतुर अजीमुल्ला खान ने कहा—''रख लीजिए—'निराशा का किला'।''

मई के अंत में एक दिन एक शरारती तरुण अंग्रेज ने शराब के नशे में एक सिपाही पर गोली चला दी। यह गोली चूक गई और उस सिपाही ने सोल्जर के विरुद्ध शिकायत दर्ज की। हमेशा की तरह इस घोर अपराध के लिए उस सोल्जर को निरपराध मान छोड़ दिया गया और कहा गया कि शराब के नशे में बंदूक गलती से चल गई। यह हमेशा का निर्णय था, पर अब स्थिति हमेशा की नहीं थी।[१] यह अपमानजनक समाचार फैलते ही सारी सेना गुर्राने लगी—''ठीक है! हमारी बंदूकें भी अब जल्दी ही गलती से चल जाएँगी।'' यह वाक्य सिपाहियों के बीच एक उत्क्षोभक नरसिंह मंत्र ही हो गया था। एक-दूसरे को मिलते ही 'अब बंदूक गलती से चलेगी ना!' ऐसी व्यंग्यात्मक सलामी सेना में दी जाने लगी। फिर भी मेरठ की तरह जल्दी न कर संकेत समय आने तक उन्होंने सारा गुस्सा मन-ही-मन पी जाने का निश्चय किया था।

इस भयानकता को और भयानक करने के लिए ही शायद उसी समय एक

---

१. ट्रेवेलियन ने लिखा है—''निम्न स्तर के यूरोपियनों की क्रूरता तथा सैनिक अधिकारियों द्वारा न्याय के नाम पर की जानेवाली धींगामस्ती से सिपाही भलीभाँति परिचित थे। किसी अन्य अवसर पर तो संभवत: उन्हें इस प्रकार के न्याय पर किसी प्रकार का आश्चर्य न होता; किंतु अब तो उनका रक्त खौल उठा था, उनका आत्माभिमान जाग्रत हो चुका था, जिससे किसी एंग्लो-सेक्सन वंशज को ऐसा अधिकार एवं सैनिक न्यायालय की विवेचना शक्ति की प्रखरता को मान्यता देने के लिए वे तत्पर नहीं थे।''

—'कानपुर', पृष्ठ ९३

अंग्रेज और उसकी पत्नी—दोनों के शव गंगा प्रवाह में बहते-बहते कानपुर आ गए। ऊपर किसी शहर के विद्रोहियों के किए कृत्य का साक्ष्य कानपुर से क्या-क्या भयंकर संवाद करेगा? गंगा को अभी ऐसे कितने ही शव बहाने हैं।

'भेड़िया आया रे भेड़िया'—ऐसी अफवाह उड़ाकर अब तक अंग्रेजों को इतनी बार चकित दिया गया था कि अब यदि भेड़िया आया तो भी वे सचमुच सोते रहने वाले थे। जून की पहली तारीख को स्वयं सर हो व्हीलर लॉर्ड केनिंग को लिखता है—"क्षोभ और डर रहा नहीं। कानपुर सुरक्षित है। इतना ही नहीं, मैं लखनऊ को जल्दी ही सहायता भेजे देता हूँ।" इलाहाबाद से आई हुई गोरी फौज वास्तव में लखनऊ की ओर जाने लगी और वह भी कब? ३ जून को। जिस षड्यंत्र में तीन हजार सिपाही और वेश्या सहित कानपुर का सारा शहर लगा हुआ था उस षड्यंत्र का समाचार अंग्रेजों और उनकी सहायता करनेवाले नानकचंद जैसे कुल्हाड़ी की बेंटे से भी इतनी मुहरबंद रहे—यह कितना बड़ा आश्चर्य था!

यह मुहर ४ जून की रात को टूटी। सार्वजनिक कार्यक्रम के अनुरूप रात के अँधेरे में कुछ बंदूकें चलीं और निश्चित भवनों को आग लगी। रक्तपात, नाश और मृत्यु की दौड़ शुरू हो जाने की वह करतल ध्वनि थी। सबके पहले टीकासिंह का घोड़ा कर्कश रीति से हिनहिनाया और उसीके साथ हजारों घोड़े एक क्षण में टापों की आवाज करते सरपट दौड़ते निकले। कुछ अंग्रेजी पगड़ियों और घरों को आग लगाने निकले, कुछ अन्य रेजिमेंटों को बुलाने गए और कुछ लश्करी निशानों और झंडों को कब्जे में लेने निकले। ये झंडे जिसके कब्जे में थे, वह वृद्ध सूबेदार मेजर नेटिव होते हुए भी विद्रोहियों के विरुद्ध जाता सा दिखाई दिया, अत: एक तलवार का वार उसके सिर पर पड़ा और तुरंत उसका धड़ धड़धड़ाकर नीचे गिर गया। "पहली पैदल रेजिमेंट के सूबेदार को सूबेदार टीकासिंह का सलाम है और वह पूछता है, घुड़सवार फिरंगियों के विरुद्ध चल पड़े हैं फिर पैदल को देर क्यों?" दो घुड़सवारों के यह सुनाते ही पहली पैदल रेजिमेंट 'दीन और देश' कहते बाहर निकली। यह देखते ही उसका अधिकारी कर्नल एवर्ट कहने लगा—"हाँ-हाँ, मेरे प्रिय बच्चो, (बाबा लोगों) यह क्या? यह तुम्हारे राजनिष्ठ शील को शोभा नहीं देता। ठहरो बच्चो, ठहरो!!" कहाँ का ठहरो और क्या? कुछ ही देर में वह सारी रेजिमेंट सैनिक अनुशासन में घुड़सवारों से जाकर मिल गई और फिर सारी सेना नवाबगंज की नाना की छावनी की ओर युद्धगीत गाते हुए निकली!

नवाबगंज खजाने पर नाना के सिपाही तैयार थे। उन्होंने सामने से आते स्वदेश बंधुओं को बाहुओं में जकड़ लिया और तभी वह लाखों रुपयों से भरा खजाना और लाखों शस्त्रास्त्र से भरा बारूदखाना क्रांतिकारियों के हाथ आ गया।

नवाबगंज में रात को यह हो रहा था तभी उधर जो दो रेजिमेंट बाकी थीं—कम-से-कम उन्हें कब्जे में रखने के लिए अंग्रेजों ने तत्काल परेड पर बुलाया। अंग्रेजों के हाथ में तोपखाना होने से वे दोनों रेजिमेंट उस सारी रात परेड पर अपने यूरोपियन अधिकारियों के साथ सशस्त्र खड़ी रहीं। सूर्योदय होते ही यूरोपियन अधिकारियों को विश्वास हो गया कि ये सिपाही तो कम-से-कम विद्रोही नहीं हैं। इसलिए उन्हें फिर से लाइन में जाने की अनुमति दी गई। और यूरोपियन अधिकारी भी जाने लगे। अब सही अवसर आ गया है यह जान उनमें से एक ने आगे बढ़ चिल्लाकर कहा—"ईश्वर सत्य की ओर है। भाइयो, उठो, चलो!" यह आदेश होते ही इधर-उधर तलवारें बजने लगीं और अंतिम समय आया जान अंग्रेजी तोपें भी चलने लगीं। परंतु सिपाही अब उनकी मार के बाहर निकल गए थे। इस समय अंग्रेज अधिकारियों को काट डालना संभव होते हुए भी सिपाहियों ने उन्हें नहीं छेड़ा और वे अवसर मिलते ही अपने देशबंधुओं की ओर निकल गए। और इस तरह ५ जून को कानपुर के तीन हजार सिपाही अंग्रेजी गुलामी को फेंककर नवाबगंज में नाना की छावनी के पास जाकर जमा हो गए। यह समाचार सुन सर व्हीलर को एक तरह का संतोष हुआ कि एक भी अंग्रेज मरा नहीं। अब रीति के अनुसार सिपाही दिल्ली की ओर निकल जाएँ तो समझो कानपुर के ऊपर से जान का संकट टल गया।

अन्य स्थानों की तरह यदि योग्य और कर्मठ नेताओं की कानपुर में भी कमी होती तो सर व्हीलर के अनुमान के अनुसार सिपाही दिल्ली की ओर निकल जाते। परंतु उस समय नवाबगंज में सिरमौर नेताओं की कोई कमी नहीं थी। वहाँ श्रीमंत नाना थे, वहाँ श्री बाबा साहब, बाला साहब और राव साहब पेशवा थे। वहाँ तात्या टोपे थे। वहाँ अजीमुल्ला खान थे। इतनी अलग-अलग शक्तियाँ सौभाग्य से एक स्थान पर होने पर सिपाहियों को नेताओं की खोज में दिल्ली की ओर जाने का कोई कारण नहीं था। विद्रोह की शुरुआत में ही सारी सेना दिल्ली में ही जमा हो जाए तो वास्तविक कार्यक्रम सिद्ध नहीं होना था। स्थान-स्थान पर अंग्रेजों की खिंचाई करने में ही भला था। उसमें भी कानपुर, पंजाब, कलकत्ता और दिल्ली प्रांत के बीच की कड़ी होने से उसपर आघात कर अंग्रेजी यातायात को तोड़ना अति आवश्यक था। ये सारी बातें सिपाहियों को उनके सूबेदारों एवं नाना के मंत्रियों के समझाने पर कानपुर की ओर ही वापस लौटने की योजना सर्वसम्मति से बनी। उन तीन हजार सिपाहियों ने श्रीमंत नाना को अपना राजा चुना और उनके प्रत्यक्ष दर्शन की तीव्र इच्छा प्रदर्शित की। श्रीमंत नाना को देखते ही उनके नाम से सब ओर जयघोष होने लगा और उन सभी ने उस स्वयं वृणीत महाराजा के भक्ति भाव से मुजरे किए। श्रेष्ठ का चयन होते ही नाना की सहमति से अपने लश्करी

अधिकारी चुनने का काम शुरू हुआ।

लश्कर के सारे नए नियम प्रचारित किए गए। कानपुर के क्रांति केंद्र का प्राण सूबेदार टीकासिंह को उसके जनरल का पद दिया गया। वैसे ही जमादार दलगंजन सिंह को ५३वीं रेजिमेंट का कर्नल और सूबेदार गंगादीन को ५६वीं रेजिमेंट का कर्नल नियुक्त किया गया। फिर हाथी की पीठ पर एक बड़ा भारी स्वातंत्र्य ध्वज खड़ा कर उसका जंगी जुलूस निकाला गया और उस दिन से श्रीमंत नाना साहब पेशवा का शासन प्रारंभ हो जाने की घोषणा कर दी गई।

परंतु यह चुनाव होते ही श्रीमंत नाना ने एक क्षण भी गँवाया नहीं और विप्लवी सिपाही दिल्ली की ओर न जाकर बीच में ही रुक गए हैं, यह समाचार सुनते ही जनरल व्हीलर सहित सारे अंग्रेज लोग अपनी उस चारदीवारी के किले में जाकर और तोपें तानकर बैठ गए। उनके पुरुष, महिला, बच्चे मिलकर संख्या कोई १००० थी। वह किला जीतना सबसे पहला कर्तव्य था, अतः श्रीमंत नाना ने सारी सेना को उधर चलने का आदेश दिया। विप्लवी उनपर हमला करेंगे यह विश्वास अंग्रेजों को न था। परंतु ६ जून की भोर में एक चिट्ठी सर व्हीलर को मिली। वह चिट्ठी श्रीमंत नाना ने ही भेजी थी और वह ऐसी थी—"हम जल्दी ही आक्रमण करने वाले हैं, आपको उसकी अग्रिम सूचना जानबूझकर भेजी है।" यह लड़ाई का आह्वान पाते ही सर व्हीलर ने सारे अधिकारियों और सोल्जरों को सज्जित कर स्थान-स्थान पर नियुक्त किया। तोपों पर गोलंदाज बत्ती के साथ बैठ गए और लड़ाई की यथासंभव तैयारी कर ली गई।

लड़ाई प्रारंभ करने से पहले श्रीमंत नाना ने अंग्रेजों को, किसी भी प्रकार की विशेष आवश्यकता न होते हुए भी, अग्रिम लिखित सूचना दी थी। यह बात अति महत्त्व की है। अंग्रेज यदि नाना के स्थान पर होते तो इतनी उदारता उन्होंने निश्चित ही न दिखाई होती। श्रीमंत नाना के नाम पर अमानुषता का दाग लगाना चाहनेवाले लोगों को उनके हृदय की यह सहज वीरता देख लज्जा से सिर झुका लेना चाहिए। कानपुर विद्रोह के प्रारंभ में अंग्रेज अधिकारियों को दिया जीवनदान और आक्रमण करने के बारह घंटे पूर्व दी गई लिखित सूचना—प्रारंभ की ये दो बातें ही ध्यान में रखकर फिर अंतिम लड़ाई का अध्ययन किया जाए तो कानपुर की खरी स्थिति स्पष्ट हो जाती है।

अंग्रेजों को लड़ाई की सूचना भिजवाते ही सूबेदार टीकासिंह—अब जनरल टीकासिंह—बारूदखाने की ओर गए और वहाँ सवेरा होने तक शस्त्रास्त्र की व्यवस्था देखी। वे उसे आक्रमण के स्थान पर भेजने में लगे रहे। उस शस्त्रागार से तोपें और बारूद नदी और जमीन से अंग्रेजों की चारदीवारी तक ले जाया गया और वहाँ

लश्करी कौशल से उसकी रचना भी की गई। इसी समय कानपुर शहर में दंगा हो गया था। बाजार का हर छोटा-बड़ा कारीगर—हम्माल से लेकर सेठ-महाजन तक हाथ में जो मिले उसे लेकर यूरोपियन लोगों को खोजते फिर रहे थे। कचहरी, कोर्ट और उसके अंदर के सारे अंग्रेजी नए-पुराने दफ्तर जला दिए गए और चारदीवारी में जो यूरोपियन नहीं पहुँचे थे उन्हें एक साथ मार डाला गया। इस तरह दोपहर के बारह बज गए। एक बजने तक अंग्रेजों की चारदीवारी को घेरा जाने लगा और शाम तक तोपों की गर्जना के साथ वह भयानक युद्ध निश्चय से प्रारंभ हुआ।

अंग्रेजों के साथ आठ तोपें थीं और उन्होंने विपुल गोला-बारूद चारदीवारी के अंदर पहले से ही गाड़ रखा था। विद्रोहियों के हाथ में पूरा बारूदखाना, शस्त्रागार और बड़ी-बड़ी तोपें लग जाने से उन्हें भी सामग्री की कोई कमी नहीं थी। जनरल टीकासिंह ने पहले से तोपखाने की व्यवस्था अति उत्तम रखी थी। उनकी तोपों की भारी मार से अंग्रेजों की चारदीवारी के अंदर के भवन धड़ाधड़ गिर रहे थे। ७ जून को जब विद्रोहियों की ओर से लगातार गोले बरसने लगे तब उस भयंकर परिस्थिति का कभी भी अनुभव न होने से महिलाएँ और बच्चे जोर-जोर से आक्रोश करते यहाँ-वहाँ दौड़ने लगे। परंतु परिचय से मृत्यु की उग्रता भी कम हो गई और जैसे पंछियों के इधर-उधर उड़ने से कुछ डर नहीं लगता वैसे ही तोप के लाल-लाल गोले सिर के ऊपर तेजी से जाते देख अद्भुतता या भयानकता कुछ भी लगना बंद हो गया।

आक्रमण के दो दिन बाद ही अंग्रेजों को पानी की कमी पड़ने लगी। उस चारदीवारी के अंदर एक कुआँ उपयोग में लाने लायक था। पर विद्रोहियों की उस कुएँ पर अंग्रेजी सोल्जर से अधिक आँख थी। धूप और गरमी की तपन भी इतनी प्रखर थी कि सोल्जर खड़े-खड़े लू के कारण ही मर जाते। सबके हृदय पत्थर की तरह कड़े हो गए। स्त्री-पुरुषों के बीच का सर्व भेदाभेद और जन लज्जा छूट गई। मरे हुओं को गाड़ने की बात तो छोड़ो, कौन मरा या कौन जीवित है इसकी भी खबर रखना कठिन हो गया। क्योंकि जीवित लोगों की सूची में नाम लिखते-लिखते उसे काटने की बारी आ जाती। ऐसे अवसर का यथार्थ वर्णन करने का एक ही उपाय था और वह था एक घंटे की अवधि का चित्र जैसा है वैसा बनाना—कैप्टन थॉमस स्वयं के अनुभव लिखता है—"आर्मस्ट्रॉंग घायल होकर गिरा, उसका हाल देखने लेफ्टिनेंट प्रोल वहाँ गया। वह दो-चार संतोष की बात कहे इतने में सामने से आती बंदूक की गोली उसकी जाँघ में लगी और वह नीचे गिरा। उसका एक हाथ अपने कंधे पर रख और उसकी कमर में हाथ डालकर मैं उसे सर्जन के पास ले जाने को उठाकर एक-दो कदम चला इतने में गूँ-गूँ करती एक गोली मेरे कंधे में लगी और मैं और प्रोल

दोनों भूमि पर मरणासन्न होकर गिर गए। यह देखते ही गिलबर्ट बक्स हमारी ओर दौड़ा। परंतु उसके साथ ही दौड़ती आ रही शत्रु की एक गोली उसके शरीर में घुसी और वह मृत्यु के मुँह में जा गिरा।'' यह एक घंटे का इतिहास उन इक्कीस दिनों के इतिहास की ठीक कल्पना दे सकता है। जनरल सर हो व्हीलर का लड़का घायल हो गया इसलिए कमरे में उसकी खटिया के पास उसकी दो बहनें और माँ उसका उपचार कर रही थीं। परंतु औषधि पेट में जाने के पहले ही धड़ाम की ध्वनि के साथ आए तोप के गोले ने उस लड़के का सिर उड़ा दिया। मजिस्ट्रेट हिलर्स्टन की पत्नी का डर से गर्भपात हो गया। उससे वह बरामदे में खड़ा बातें कर ही रहा था कि तभी बीस पौंड का गोला उसके सिर पर पड़ा और उसकी चटनी बना गया। दो-चार दिन बाद वही दीवार जिससे टिककर वह नूतन विधवा खड़ी थी, गिर जाने से वह भी उसके नीचे अपने पति की देह जैसी चटनी हो मर गई। चारदीवारी के पास की खंदक में सात गोरी महिलाएँ बैठी थीं। एक बम ऊपर से गिरा और उसमें सातों मर गईं। इतना ही नहीं जिसने विद्रोह के पहले सिपाही पर अकारण गोली चलाई थी और जो छूट गया था वह गोरा सोल्जर भी मर गया। अर्थात् सिपाहियों की बंदूकें भी गलती से चल ही गईं। और जब चल गईं तब ऐसी चलीं कि फिर यावतचंद्र दिवाकरौ, उनके वह भयानक आघात दारू के नशे में भी अंग्रेज लोग भूलेंगे नहीं!

इस भयंकर घेरे में अंग्रेजों से ईमानदारी बनाए रखना जिन्हें अपना कर्तव्य लगता था, ऐसे कितने ही नेटिव उस चारदीवारी में केवल राजनिष्ठा से मृत्यु दाढ़ों में हाथ डाले खड़े थे। अंग्रेजों के एक बच्चे को दूध पिलाती एक नेटिव दाई के दोनों हाथ गोले ने उड़ा दिए। अपने मालिक को गरमागरम खाना मिले इसके लिए गोलियों की बरसात में भी नेटिव बटलर यहाँ से वहाँ दौड़ते मरते जा रहे थे। अंग्रेजों को पानी पिलाते नेटिव भिस्ती अपने प्राण दाँव पर लगाए थे। पानी इतना कम था कि बच्चे चमड़ा ही चबाते रहते थे। हैजा, बीमारी और त्रिदोष ने भी अंग्रेजों से प्रतिशोध लेने में कमी नहीं की। सर जॉर्ज पार्कर, कर्नल विलियम, लेफ्टिनेंट रूनी एक के बाद दूसरा सड़-सड़कर मर गए। जो बीमारी या गोली से नहीं मरे वे इस जीवित श्मशान की भयानकता से गल गए। और इस अनर्थ से भी भयंकर अनर्थ करने के लिए अब अकाल का तांडव शुरू हुआ। कहर ऐसा हुआ मानो सौ साल किए अन्याय का खरा प्रतिशोध कानपुर की चारदीवारी के अंदर काल की दाढ़ बनकर सबको चबाता इक्कीस दिन तक तांडव करता रहा।

अंग्रेजों की चारदीवारी के अंदर ऐसा कहर हो रहा था तभी चारदीवारी के बाहर रखी गई उनकी तोपों ने अच्छी लड़ाई चला रखी थी। तोपखाने के प्रमुख अधिकारी ॲशे, कैप्टन मूर, कैप्टन थॉमसन आदि अंग्रेज बहादुरों ने साहस और

पराक्रम की सीमा लाँघी। लखनऊ या इलाहाबाद से जल्दी ही सहायता आएगी ऐसी अंग्रेजों को बहुत आशा थी। विद्रोहियों के मजबूत बंदोबस्त से कहीं भी पत्राचार करना असंभव हो गया था। फिर भी एक-दो बार व्हीलर ने पंछियों के पंखों में दबाकर भेजा फ्रेंच, लैटिन एवं अंग्रेजी भाषा में लिखा एक पत्र नेटिव जासूस ने लखनऊ पहुँचाया था। उसमें···सहायता, सहायता, सहायता! सहायता भेजो नहीं तो मरते हैं। सहायता आ गई तो हम फिर से लखनऊ को मुक्त करेंगे ऐसा लिखा था। पर विद्रोहियों की व्यवस्था इतनी कड़ी थी कि अंग्रेजों की ओर से आया काला या गोरा दूत कदाचित् ही लौट पाता और कोई लौटा तो उसकी नाक, कान कटा हुआ होता। विद्रोहियों के शिविर में गद्दारी कराने अंग्रेज लाखों रुपयों का पुरस्कार देने का अधिकार देकर बार-बार जासूस भेजते रहे। परंतु लौटकर संदेश देने कसम खाने के लिए कोई न बचा। उदाहरणार्थ एक जासूस की स्वयं ही लिखी बात देखें—"मिल्स शेफर्ड की पत्नी और कन्या जब मर गई तब उसने विद्रोहियों का समाचार लाने और कानपुर में गद्दारी कराना स्वीकार किया। एक नेटिव रसोइए का भेष धारण कर बाहर आया। कुछ दूर आया ही था कि उसे पकड़कर नाना के सामने लाया गया। उससे अंग्रेजों की स्थिति के संबंध में बहुत से प्रश्न पूछे गए। पहले से पढ़ाए अनुसार वह झूठे और बढ़ा-चढ़ाकर उत्तर देने लगा। परंतु उसीके पहले पकड़ी हुई दो महिलाओं ने अंग्रेजों की वास्तविक दुर्दशा का समाचार दिया है यह देखते ही वह घबरा गया। पहले उसे कोठरी में रखा गया फिर १२ जुलाई को न्यायालय में छानबीन करके तीन वर्ष के सश्रम कारावास का दंड दिया गया।" इस दंड से नाना ने उस युद्ध के गर्जन-तर्जन में भी न्याय करने की कितनी दक्षता रखी थी—यह दिखता है। अंग्रेजों के जासूसों की ऐसी फजीहत हो रही थी, पर विद्रोहियों के जासूस अपने काम बढ़िया कर रहे थे। एक दिन एक नेटिव भिश्ती अंग्रेजी चारदीवारी के पास के एक टीले पर खड़ा होकर चिल्लाया—"अपने मन में बसी हुई प्रीत के कारण मृत्यु के भय की भी परवाह न करते हुए एक खुशी का समाचार देने आया हूँ, गंगा पार साहब लोगों की एक सेना तोपों के साथ आई हुई है और वह कल तुम्हारी मुक्ति के लिए आनेवाली है। इस कारण इन हरामखोर विद्रोहियों के शिविर में बड़ी घबड़ाहट और आपाधापी मची हुई है और हम जैसे सारे राजनिष्ठ लोग अंग्रेजों से मिलने को तैयार हैं।" यह सुनकर अंग्रेजों को लगा कि उनके द्वारा भेजे गए दूत की विजय के कारण विद्रोहियों में फूट पड़ गई होगी और इसी समय लखनऊ से यूरोपियन भी आ गए होंगे। दूसरे दिन वही भिश्ती ऊपर आया और चिल्लाया—"साहब लोगों की जय! गंगा में आई बाढ़ के कारण यूरोपियन सेना को आने में देर हो गई थी, परंतु अब सब ठीक-ठाक होकर वे निकल पड़े हैं। इस

दिन के अंत तक साहब लोगों की जय-जयकार होगी।'' वह दिन गया, दूसरा गया पंरतु अंग्रेजों की दृष्टि में यूरोपियन सेना भी नहीं आई और वह राजनिष्ठ भिश्ती भी नहीं दिखा। अजीमुल्ला खान ने चाही संख्या में अंग्रेजी सेना की दुर्दशा कर देने के कारण फिर से अपनी जान खतरे में डालने की उस भिश्ती को कोई आवश्यकता नहीं थी। शत्रु की ओर के जासूसों द्वारा बार-बार किए जाते ऐसे छल के कारण अंग्रेज उदास हो जाते।

छह जून को आक्रमण की अग्रिम सूचना अंग्रेजों को देने के बाद नाना साहब ने अपना शिविर उस युद्ध स्थल के बहुत पास ही लगा लिया था। चारदीवारी के पास ही उनका तंबू खड़ा था और उसके पास ही जनरल टीकासिंह का तंबू भी तना हुआ था। कानपुर स्वतंत्र हो जाने का समाचार सुनकर उस सारे प्रांत में सब ओर क्रांति की एक लहर उठ रही थी। रोज नए-नए जमींदार और रियासतदार अपने-अपने आदमियों को लेकर नाना के साथ होने लगे थे। मीर नवाब नामक रियासतदार जिस दिन संयुक्त धर्मध्वज का जुलूस लेकर दो हजार सैनिकों के साथ नाना से आकर मिले, उस दिन नागरिकों ने आनंद उत्सव मनाया। कानपुर के हलवाइयों ने उन स्वदेश रक्षकों में मिठाई बाँटी। श्रीमंत के झंडे तले कोई चार हजार सेना एकत्रित हो गई थी। परंतु उसमें से तोपखाने के अधिकारी अपना काम बहुत मुस्तैदी से पूरा कर रहे थे। इस तोपखाने पर एक जगह एक हरा झंडा लहरा रहा था और वहाँ नन्हे नवाब अपने विशाल तंबू में दिन-रात बैठे हुए थे। इस नवाब के घर पर विद्रोह के प्रारंभ में जप्ती ले जाई गई थी। परंतु जल्दी ही बात सुलट गई और आज इस धर्मरक्षक समर में इस नवाब को हर ओर से धन्यवाद दिए जा रहे हैं। उनके अधीन तोपखाने पर उस प्रांत के सारे वृद्ध पेंशनर गोलंदाज इकट्ठा हो गए थे। अंग्रेजों की चारदीवारी के भवनों को आग लगाने के लिए विद्रोहियों के प्रयास चल रहे थे, तब इस नवाब के अधीन लड़ रहे एक नौसिखिया गोलंदाज ने एक नया ज्वालाग्राही सम्मिश्रण खोज निकाला और उसका प्रयोग इतना सफल रहा कि अंग्रेजों के बहुत काम की बैरकें तुरत ही भस्म हो गईं। इस तोपखाने की बैटरी पर स्वराज्य प्राप्त करने के लिए इतनी प्रतियोगिता थी कि पुरुषों के साथ स्त्रियाँ और तरुणों के साथ वृद्ध लोग भी जुटे हुए थे। उस उदात्त चैतन्य के अवसर पर लोक शक्तियाँ कितनी बेचैन थीं—यह उस समय के एक वाक्य से समझ में आ जाएगा। एक नेटिव ईसाई कहता है—''मुसलमान का रूप धरकर एक ऊँचाई पर मैं बैठा था, तब देखा—लड़ते वीरों को पानी पहुँचाने के लिए लोग भाग-दौड़ कर रहे हैं। इतने में एक मेरे पास आया और बोला, उधर अपने देशबंधु लड़ रहे हैं और तेरे जैसा तरुण मुसलमान यहाँ मक्खियाँ मारते बैठे यह लज्जाजनक है। चल उधर,

तोपखाने पर स्वयं सेवा करने।'' उसने मुझे यह भी कहा कि ''करीम अली नाम के काने पेंशनर सूबेदार के युवा लड़के ने आज बड़ा पराक्रम किया। उसने खोजकर अंग्रेजों के भवनों को आग लगा दी। उसके इस शौर्य के लिए उसे नब्बे रुपए और एक दुशाला इनाम दिया गया।''

स्वदेश के लिए लड़ना छोड़ बैठकर मक्खियाँ मारना यह केवल तरुणों के लिए ही अति लज्जास्पद माना जा रहा था ऐसा नहीं, क्योंकि कानपुर की महिलाओं ने अपना जनाना स्वरूप छोड़ समर भूमि में प्रवेश किया था। परंतु उन सारे युवा पुरुषों और मर्दाना स्त्रियों को एक बिजली अपनी चमकार से लज्जित कर रही थी। यह बिजली और कोई नहीं—पीछे जिसका परिचय दिया वह वेश्या अजीजन थी। उसने अपने माशूक वेश को लश्करी पेशे में ढाल लिया था। गाल पर लाली चढ़ी थी। ओंठों पर हास्य था और वह घोड़े पर सवार थी। वह सशस्त्र भी थी और तोपखाने के सिपाही उसकी मुद्रा की ओर देखकर अपनी थकान भूल जाते। नानकचंद अपनी डायरी में लिखता है—''सशस्त्र होकर अजीजन बिजली-सी दमक रही थी। कभी-कभी थके और घायल सिपाहियों को वह मिठाई बाँटती रास्ते में खड़ी रहती।''

इधर ऐसी लड़ाई चल रही थी उधर श्रीमंत नाना राज्य व्यवस्था की रचना करने में यथासंभव जुटे थे। राज्य क्रांति जैसे अशाश्वत और अद्‌भुत अवसर पर व्यवस्था और अनुशासन बनाए रखना बहुत कठिन होते हुए भी नाना ने प्रथमतः शहर के लोगों का यथान्याय संरक्षण देने के लिए राज्य व्यवस्था करना प्रारंभ किया। कानपुर शहर के प्रमुख नागरिकों को इकट्ठा बुलाकर उनके बहुमत से चुने गए होलासिंह नामक व्यक्ति को मुख्य मजिस्ट्रेट के अधिकार दिए गए। होलासिंह अनुशासनहीन सिपाहियों के या लुटते ग्रामीणों के अत्याचारों से नागरिकों का संरक्षण करे, यह नाना का कड़ा आदेश था। लश्कर को अन्न का संभरण करने का काम मुल्ला नामक नागरिक को सौंपा गया था।

नागरिक और सैनिक मुकदमों का न्याय करने के लिए स्थापित किए गए न्यायासन पर ज्वाला प्रसाद, अजीमुल्ला खान और अन्य मंत्रिमंडल की नियुक्ति कर उसका अध्यक्ष श्री बाबा साहब को बना दिया गया। इस न्यायासन के सामने प्रस्तुत जो थोड़े-बहुत कागज प्राप्त हुए हैं उनसे बिना कारण छल या अंधाधुंधी करनेवालों को कड़ा दंड देकर प्रजा में शांति करने के लिए क्या व्यवस्था की जाती थी यह समझ में आता है। चोरी की—यह सिद्ध हो जाने पर उसका दाहिना हाथ काट डाला गया। गाय का वध किए जाने पर एक मुसलमान कसाई को भी ऐसा ही कठोर दंड दिया गया। गाँव में उठाईगिरी जैसे मामूली अपराध करते घूमनेवाले को गधे पर

बैठाकर घुमाया जाता। फ्रांस की राज्य क्रांति में स्थापित की गई 'The committee of public safety' की तरह इस न्यायालय का अधिकार धीरे-धीरे सभी विभागों पर चलने लगा। बारूद की कमी होने पर उसकी पूर्ति करना, सेना को कपड़े की रसद पहुँचाना। अंग्रेजों के पकड़े गए जासूसों की छानबीन करना या भागना चाहने वाले शत्रु को दंडित करना आदि काम इसी न्यायालय में किए जाते और जो कोई गोरे आदमी को खोजकर इस न्यायालय में लाए उसको वहीं पुरस्कार दिया जाता।

१२ जून को अंग्रेजों की चारदीवारी पर विद्रोहियों ने पहला हमला बोला। अंग्रेजों की चारदीवारी को हमला करके जीत लेने की अपेक्षा उन्हें चारों ओर से घेरकर, तोपों की मार से भूनकर नरम करने के सामान्य विचार से विद्रोही चल रहे थे। पर फिर भी बीच-बीच में सीधा हमला भी वे कर रहे थे। दोनों ओर के कुछ लोग मर जाने के बाद विद्रोही लौट आते। विद्रोहियों के तोपखाने ने जितनी दृढ़ता और साहस इस युद्ध में दरसाया उतना पैदल और घुड़सवारों ने नहीं दिखाया, यह दोष ध्यान में रखने योग्य है। दिल्ली और लखनऊ के घेरे में इस दोष का प्रकटीकरण विशेष रूप से दिखेगा। परंतु कानपुर की लड़ाई में भी तोपों पर सारा बोझ डालकर सिपाही आमने-सामने के युद्ध के लिए अधिक तैयार नहीं होते थे, यह सत्य दिखता है। सारे ही सिपाही मृत्यु से डरते थे ऐसा नहीं था। १८ जून को अयोध्या के सिपाहियों ने अंग्रेजों की चारदीवारी पर जो हमला बोला वह साहस और शूरता के कृत्य इतिहास का गौरव ही थे। उस दिन सिपाहियों ने तोप के गोले भी पीछे छोड़कर शत्रु की छावनी पर सीधा हमला किया। उस चारदीवारी पर वे चढ़ गए, अंग्रेजों की एक तोप दबाकर उलटी घुमाई और कुछ देर के लिए ऐसा रंग दिखा कि वह संयुक्त धर्म का निशान और वह भगवा झंडा अब किसी तरह भी लौटकर नहीं आता। परंतु ऐसे शूर सिपाहियों की सहायता करना तो दूर उलटे कारण न होते हुए भी एकदम भागमभाग मचाकर सब ओर गडबड़ी फैलाने का कुछ सिपाहियों ने मानो ठेका ही ले रखा था। उनके इस अवसान घात के कारण दूसरों को भी वापस आना पड़ता था। अयोध्या के शूर सिपाहियों की तरह ही अनेक उदात्त हृदय, शीश और बाहु दूसरों की राह न देखकर स्वयं जो हो सके वह देश-सेवा करते वीर मुक्ति प्राप्त करते रहे। एक दिन हमला विफल हुआ तो भी एक सिपाही मरने का स्वाँग धरे मैदान में वैसे ही पड़ा रहा। अंग्रेजी सेना में शूरता के लिए ख्यात और लड़ाई में अनेक बार टूट पड़नेवाला कैप्टन जैक्सन निर्भयता से दौड़ता जा रहा था तभी उसपर उस मरे हुए सिपाही ने हमला बोल उस कैप्टन की गरदन पर गोली मारकर उसे गिरा दिया।

अब जून की २३ तारीख आ गई थी। सौ वर्ष पूर्व इसी जून की २३ तारीख

को अंग्रेजों ने प्लासी के मैदान पर अपने साम्राज्य की नींव खोदी थी। जून की २३ तारीख को ही हिंदुस्थान पर अंग्रेजी तलवार का पहला वार पड़ा था। अपनी स्वतंत्रता का मंगलसूत्र टूट जाने के कारण २३ जून को ही हिंद माता प्लासी के मैदान पर फूट-फूटकर रोने लगी थी। उस १७५७ की २३ जून के अमंगल दिन लगा अपमान का घाव हिंदुस्थान के हृदय को इतना जला रहा है कि—सौ वर्ष हो गए तब भी वह अशुभ दिन और उसकी वह अमंगल स्मृति हिंद-भू के हृदय में ताजी है। पर दासता का वह २३ जून को हुआ भयानक घाव सौ वर्ष गुजर गए तब भी भरा नहीं है। उसे भरने के लिए आवश्यक मलहम अभी मिला नहीं है। शमप्रधान और क्षमाशील हिंद भूमि का यह कैसा द्वेष! यह कैसा वैर! सौ वर्ष बीत गए तब भी प्लासी का प्रतिशोध वह भूली नहीं है। हर मरती पीढ़ी के पहले उच्छ्वास में प्लासी का प्रतिशोध मिलता रहता है। यह गुरु परंपरा आज सौ वर्ष से चलते हुए आज सन् १८५७ के २३ जून का उदय हुआ है। इस दिन तेरा प्रतिशोध पूरा किया जाएगा—ऐसे आश्वासन हिंदभूमि को भविष्यवक्ताओं ने दिया है। नाना साहब, उसकी पूर्ति करना या न करना यह यद्यपि ईश्वराधीन है फिर भी उसके लिए तुम्हारा जो कर्तव्य है वह तुम पूरा करोगे न?

और यह कर्तव्य पूरा करने का शुभ अवसर न गँवाने के लिए ही इस दिन नाना की सेना में बड़ा हल्ला-गुल्ला मचा हुआ था। आज तक जैसा कभी भी नहीं किया ऐसा जोरदार हमला करने का निश्चय कर यद्यपि लश्कर का हर व्यक्ति नहीं फिर भी सारे-के-सारे भाग सज्जित हो गए थे। तोपखाना, घुड़सवार और पैदल—सारे लश्कर उस ऐतिहासिक दिन के स्मरण से स्फूर्तिमान होकर रणांगन में उतर पड़े। उनमें जो बहुत बहादुर थे उन्होंने एक तरफ जाकर गंगा का पानी हाथ में लेकर या कुरान पर हाथ रखकर प्रतिज्ञा ली कि आज या तो स्वतंत्रता प्राप्त करनी है या मारते-मारते मर जाना है। घुड़सवारों ने ऐसी दौड़ लगाई कि शत्रु की गोलाबारी की परवाह न करते वे चारदीवारी तक जाकर भिड़ गए। पैदल सेना ने कपास के बड़े-बड़े गट्ठों को धकेलते-धकेलते उसके सहारे से चारदीवारी पर गोलियों की बौछार चालू की। विद्रोहियों की सेना से आसपास के गाँववाले भी आकर मिल गए थे। अंग्रेजों ने भी चारदीवारी से गोलियों और तोप-गोलों की बौछार चालू रखी थी। विद्रोहियों की सेना को रोकना यद्यपि उन्हें असंभव हुआ फिर भी उन्होंने उन्हें चारदीवारी पर चढ़ने नहीं दिया। लड़ाई का जोश भी जल्दी ही ठंडा पड़ गया और प्लासी के दिन का आधा बदला लेकर विद्रोही स्वयं ही लौट आए।

परंतु कानपुर का यह अंतिम आक्रमण बिलकुल ही व्यर्थ नहीं गया। उस दिन के हमले से अंग्रेजों की सारी आशाएँ विनष्ट हो गईं। उनका सारा धीरज भी टूट

गया और इसके आगे नाना के हाथ से बच पाना असंभव है ऐसा उनको स्पष्ट दिखाई दिया। २३ जून नहीं २५ जून को अंग्रेजों ने संधि के लिए झंडा लगा दिया।[१] यह झंडा देखते ही श्रीमंत ने युद्ध रोकने का आदेश दिया और जेलबंद अंग्रेजों में से एक महिला के साथ जरनल व्हीलर को निम्न चिट्ठी भेजी—''क्वीन विक्टोरिया की प्रजा को—डलहौजी की राजनीति से जिनका किसी भी तरह का संबंध नहीं हो और जो शस्त्र नीचे रखकर शरण आने को तैयार होंगे उन्हें इलाहाबाद सुरक्षित पहुँचाया जाएगा।'' यह चिट्ठी अजीमुल्ला खान के हस्ताक्षरों और नाना के आदेश से लिखी हुई है।

यह चिट्ठी आते ही जनरल व्हीलर ने उसपर विचार करने के सारे अधिकार कैप्टन मूर एवं व्हाइटिंग को दिए और उन दोनों अधिकारियों ने नाना के सामने आत्मसमर्पण करने का निश्चय पक्का किया। दूसरे दिन २३ जून को नाना की ओर से ज्वाला प्रसाद और अजीमुल्ला खान, अंग्रेजों की ओर से मूर, व्हाइटिंग और रोचे मिले। अंग्रेज अपनी सारी तोपें, खजाना, गोला-बारूद और शस्त्रास्त्र नाना को सौंप दें और नाना उन्हें खाने-पीने की सामग्री देकर इलाहाबाद पहुँचा दें—यह तय हुआ। ये शर्तें एक कागज पर लिखी गईं और श्रीमंत नाना के हस्ताक्षर लेने अजीमुल्ला खान आदि लौट आए। इस भेंट में आरंभिक भाषण अंग्रेजी में होने के बाद शेष भाषण हिंदुस्थानी में हुए।[२] दोपहर के समय अंग्रेज उसी रात निकलें या प्रातः निकलें इस संबंध में थोड़ी बातचीत होकर यह तय हुआ कि उस रात सारा कब्जा नाना के हाथ में दिया जाए और अंग्रेज दूसरे दिन भोर में निकलने की तैयारी करें। इस तरह दोनों पक्षों के मध्य निश्चित संधिपत्र को लेकर मि. टॉड (नाना के महल का अंग्रेजी वाचक) श्रीमंत के पास आया। उसे नाना ने बहुत आदर से बैठाया और कुशल-क्षेम की पूछताछ की। उसी रात अंग्रेजों ने अपने शस्त्र नीचे रखे, तोपें नाना को सौंप दी गईं और ब्रिगेडियर ज्वाला प्रसाद ने अपने दो अनुचरों के साथ उस चारदीवारी में अपना शिविर बनाया। उस रात कानपुर के मजिस्ट्रेट होलासिंह और तात्या टोपे ने मल्लाहों को पैसा देकर कोई चालीस नौकाएँ तैयार कीं। उनका निरीक्षण करने हाथी पर बैठकर आए अधिकारियों ने शिकायत की इसलिए सौ मजदूर तुरंत लगाकर नौकाओं पर आच्छादन और बैठने के लिए बाँस के फर्श बनाए

---

१. अधिकतर अंग्रेज इतिहासकार यह बात छोड़ देते हैं, यह बात ध्यान में रखने की है। श्री तात्या टोपे की जबानी इस बात का स्पष्ट उल्लेख है—''जनरल व्हीलर ने शांति की पताका फहराई और युद्ध बंद हो गया।''

२. रेड पैम्फलेट, भाग १।

गए। अनाज और अन्य आवश्यक सामग्री भी उसपर चढ़ा दी गई।

परंतु इधर जब अंग्रेजों की जाने की तैयारी चल रही थी तब उधर कानपुर में कौन-कौन आने लगा है यह देखने के अतिरिक्त उस जावक पक्ष के साथ ही आवक पक्ष का भी ब्योरा न दिया जाए तो हिसाब बराबर ध्यान में नहीं आएगा। श्रीमंत नाना साहब ने स्वतंत्रता का ध्वज कानपुर में लगा दिया, यह समाचार चारों ओर फैल जाने के बाद से सारे धर्मवीर और देशवीर बाढ़ की तरह वहाँ आने लगे थे। गाँव-गाँव से युवा स्वयंसेवक उधर आ रहे थे। जिस गाँव से स्वयंसेवक भेजना संभव नहीं था, उस गाँव से धन की सहायता आ रही थी। परंतु केवल इन स्वयं-सेवकों की भीड़ ही कानपुर की ओर आ रही थी ऐसा नहीं था। विद्रोह में विफल और हारे हुए अनाथ, अंग्रेजी दासता से बेजार हुए लोग भी, नाना के झंडे के नीचे फिरंगियों से प्रतिशोध लेना चाहिए, ऐसी गर्जना करते रात-दिन आ रहे थे। जलाए गए गाँवों का धुआँ वहाँ आ गया था। मृत व्यक्तियों की आत्मा के विकृत भूत भी वहाँ आए थे। इलाहाबाद और काशी के सिपाहियों पर और उनके बीवी-बच्चों से क्रूर प्रतिशोध लिये जाने की खबरों के साथ वहाँ के सैकड़ों सिपाही गत हफ्ते कानपुर आए थे। जिनके बूढ़े बाप पेड़ों पर अंग्रेजी अंक आठ (8) के आँकड़े बनाकर अंग्रेजों ने टाँगे थे ऐसे सैकड़ों भारतीय तरुण पुत्र वहाँ आए थे। जिनकी युवा पत्नियों को उनके पालने में सोए बच्चे सहित नील ने जीवित जलाया था उनके पति भी वहाँ आए थे। जिनकी बच्ची के घुँघराले बालों और कपड़ों को आग लगाकर उसे देख-देखकर सोल्जर तालियाँ पीट रहे थे—ऐसे बाप वहाँ इकट्ठा हो गए थे। जिनका देश बेचिराग हुआ था, जिनका धर्म पैरों से कुचला जाता था और जिनके राष्ट्र की स्वतंत्रता छीन ली गई थी—ऐसी बेचैन आत्माएँ—इसका प्रतिशोध लेना है—इसका बदला लेना है, ऐसा कहती हुई उस राष्ट्रध्वज के चारों ओर हल्ला-गुल्ला कर रही थीं। और अब यह विजय दिवस आने पर भी जब श्रीमंत नाना साहब अंग्रेजों को इलाहाबाद पहुँचा देने का वचन देने लगे तब उन सिपाहियों और लोगों के मन में आशा भंग होने से बादल गरजने लगे। नदी पर नौकाओं की तैयारी देखने आए हुए अंग्रेज अधिकारियों को भागीरथी के तीर पर इधर-उधर डेरा लगाए सिपाहियों में—कत्ल-कत्ल की चल रही फुसफुसाहट स्पष्ट सुनाई दे रही थी। ऐसा कहते हैं कि राजमहल के एक पंडित ने राष्ट्र के साथ विश्वासघात करनेवालों और हत्यारों का शिरच्छेद करने में धर्म की कोई रोक नहीं है यह भी सिपाहियों को समझा दिया था।[१]

---

१. ट्रेवेलियन कृत—'कानपुर'।

इस भयानक वातावरण में जून की २७ तारीख का उदय हुआ। सत्तीचौरा घाट से अंग्रेजों को संदेश दिया जाना था। उस घाट के इधर-उधर तोपें तनी हुई थीं और घुड़सवार और पैदल सेना भी वहाँ भीड़ किए थी। कानपुर शहर के हजारों नागरिक गंगा किनारे आज क्या देखने को मिलेगा, इस संबंध में अपने-अपने मन में भिन्न-भिन्न चित्र बनाते हुए सवेरा होते ही उस घाट की ओर चल पड़े थे। अजीमुल्ला खान, श्रीमंत बाबा साहब और सेनापति तात्या टोपे भी उस घाट के पास एक मंदिर के चबूतरे पर जाकर खड़े थे। उस मंदिर का नाम भी उस प्रलय काल को शोभा देनेवाला था मानो सारे प्रदेश का अधिपति पद उस मंदिर को दिया गया है, ऐसा लगता था। क्योंकि उस मंदिर में हरदेव की मूर्ति स्थापित थी।

चारदीवारी का स्थान छोड़कर गंगा किनारे अंग्रेजों को लाने के लिए नाना ने उत्तम वाहन भेज दिए थे। सर हो व्हीलर के लिए तो उत्तम रीति से सजे हाथी लेकर स्वयं नाना साहब के हाथी का महावत चारदीवारी के दरवाजे पर आकर खड़ा हुआ था।

उस हाथी पर अपना जुलूस निकलवाना सर व्हीलर के मन को नहीं जँचा इसलिए उसने बाल-बच्चे हाथी पर चढ़ा दिए और स्वयं पालकी में बैठा। अंग्रेज महिलाओं को भी पालकियाँ दी गई थीं। ऐसे ठाठ से यह जुलूस निकला। कानपुर की चारदीवारी पर लगा अंग्रेजी झंडा नीचे उतारा गया और वहाँ सद्धर्म का संयुक्त ध्वज और स्वराज्य का झंडा लहराने लगा। अंग्रेजी अभिमान के हुए अपमान से दिल जलते हुए भी मृत्यु की कराल दाढ़ से छूटने का आनंद अंग्रेजों को हुआ था। उस आनंद के भाव में वे चारदीवारी पीछे छोड़ जाने को तैयार हो गए—पर कहाँ? और अब सुरक्षा का व्यवहार मिलेगा ऐसा उनको विश्वास हो गया। पर डलहौजी की राजनीति से जिसका कुछ भी संबंध नहीं है क्या ऐसा मनुष्य इस समूह में एक भी है? लेकिन इस प्रश्न की चर्चा अभी करने का कोई लाभ नहीं। गंगा घाट अभी डेढ़ मील दूर है। डेढ़ मील तक चलकर जानेवाला यह जुलूस गंगा की रेत पर उतरते ही उसके पीछे सिपाहियों की पंक्तियों ने पीछे का रास्ता रोक दिया। पालकी से उतरते या हाथी से उतरकर नाव पर चढ़ते अंग्रेजों को उस दिन हाथ का सहारा देने कोई नेटिव तैयार नहीं हुआ। नहीं, ऐसा नहीं। एक-दो विशेष स्थानों पर पालकी से उतरते समय सहायता मिली, परंतु वह हाथ का सहारा देने नहीं हाथ दिखाते समय थी। कर्नल एवर्ट घायल था, अतः उसे एक डोली में डालकर ले जाया जा रहा था। उसकी वह डोली बीच में ही रोककर एक सिपाही बोला—"क्यों कर्नल साहब, ये परेड आपको कैसी लगी? रेजिमेंट की वरदी कैसी है?" ऐसी बात करते-करते उसने उसे नीचे खींचा और तलवार से उसके टुकड़े कर दिए। उस कर्नल की स्त्री

पास ही खड़ी थी। उसे कुछ लोग कहने लगे—''तू स्त्री है इसलिए तुझे जीवदान दिया!'' पर एक क्रूर साथी चिल्लाया—''अरे हटो। स्त्री! पर यह गोरी है न? फिर कर दो टुकड़े।'' वाक्य समाप्त होने के पहले उस वाक्य के भयानक अर्थ की पूर्ति हो चुकी थी।

नदी में सारी नौकाएँ अनाज आदि से भरी तैयार थीं यह बात अंग्रेजों की समिति ने ही खोज के बाद सिद्ध की है। उन नौकाओं पर पानी में चलकर कुछ लँगड़ाते हुए अंग्रेज लोग जाकर बैठने लगे। इधर-उधर स्तब्धता थी। नौकाएँ भर गई थीं। मल्लाह नौकाओं पर चढ़ गए थे। नौकाएँ आगे बढ़ें इसलिए श्रीमंत नाना ने अपना हाथ हवा में आगे-पीछे घुमाकर आदेश दिया। इतने में एक कोने से उस भयप्रद शांति को भंग करने के लिए किसीने एक बिगुल जोर से फूँका। उस घाट के श्री हरदेव का प्रलयकाली डमरू तो नहीं डमडमाया? क्योंकि उस बिगुल का कर्कश—हुँकार—होते ही तोपें, बंदूकें, तलवारें, कटारें, बैनट एकदम चलने लगे। मल्लाह नौका से कूदकर भूमि पर आ गए और सैनिक भूमि पर से पानी में कूद पड़े। ''मारो फिरंगी को,'' ''छाँटो गनीम को।'' इसके सिवाय एक शब्द कोई बोल नहीं रहा था। इतने में सारी नौकाएँ जलने लगीं। अंग्रेजी पुरुष, स्त्रियाँ, बच्चे सारे गंगा में छलाँगें लगाने लगे। कोई तैरने लगा, कोई डूबने लगा, कोई जलने लगा और सारे-के-सारे जल्दी या देर में गोलियों से चित्त हो गए। मांस के लोथड़े, कटे सिर, टूटे बाल, छिन्न हुए हाथ, टूटे पैर, रक्त की बाढ़। सारा गंगाजल लाल-लाल हो गया। पानी में से कोई अंग्रेज सिर उठाता कि उसे गोली लग जाती। पानी में सिर छिपाए तो घुटकर मर जाए, ऐसा हरदेव का कोप हुआ! प्लासी का ऐसा वार्षिकोत्सव मनाया गया!

यह प्रातः दस का समय था। श्रीमंत नाना उस दिन उस समय अपने दीवानखाने में अकेले ही चक्कर लगा रहे थे, ऐसा कहते हैं। भागीरथी के तीर पर श्री हरदेव की अध्यक्षता में मनुष्य प्राणियों की उन दो भिन्न जातियों में सौ साल के हिसाब का मिलान हो रहा था तब श्रीमंत नाना दीवानखाने में विचलित मन थे, इसमें आश्चर्य क्या था? ऐसे क्षण इतिहास के एक-एक अध्याय के अंतिम अक्षर होते हैं। एक-एक युग की वह समालोचना होती है। ऐसे क्षण का कर्तव्य जिसकी ओर आया था वह नाना उस समय दीवानखाने में चक्कर लगाते समय उनके मन में जो विचार आ रहे हों वह करें! परंतु उन्हें विचार करने को बहुत समय नहीं मिला। क्योंकि उसी समय एक घुड़सवार दौड़ता आया और उसने—सत्तीचौरा घाट पर सिपाही अंग्रेजों को पूरी तरह काट रहे हैं—यह समाचार दिया। यह समाचार सुनते ही नाना ने उसको वापस लौटाया और उसके साथ सख्त आदेश दिया—''गोरे

पुरुषों को काटें, पर गोरी औरतों, बच्चों को हाथ न लगाएँ।''[1] नाना के आदेश के दूसरे भाग का नील के आदेशों में अभाव ही मिलता है—यह जाते-जाते कहना ही होगा।

नाना का आदेश जब सत्तीचौरे पर पहुँचा उस समय सिपाहियों के शिकार का खेल पूरे रंग पर था। नौकाओं के कड़कड़ाकर गिरते ढेर में गोरे जल रहे थे तो कितने ही तैरकर पार निकल जाने के प्रयास में थे। उनके पीछे शिकारी कुत्तों से आपे से बाहर क्रोध से गुर्राते सिपाही भी तैरने लगे। दाँत में तलवारें पकड़ और हाथ में पिस्तौलें लेकर पानी में सिपाहियों ने भयंकर शिकार का खेल किया। जनरल व्हीलर पहले झटके में ही मारा गया। हेंडरसन मारा गया। पर कितने मार डाले गए इसकी सूची देने की अपेक्षा ऐसे स्थान पर कौन नहीं मारा गया इसीकी सूची देना अच्छा! नाना का संदेश आते ही सारी मार-काट बंद हो गई और करीब १२५ महिला, बच्चे जीवित बाहर निकाले गए। उन्हें सबदा कोठी की ओर कैद करके ले जाया गया और शेष रहे सारे यूरोपियन पुरुषों को एक कतार में खड़ा कर उनका शिरच्छेद करने का आदेश उन्हें पढ़कर सुनाया गया। उसमें से एक ने प्रार्थना के लिए समय माँगा, वह दिया गया। उन सबने प्रार्थना की और वह पूरी होते ही सिपाहियों की तलवारों ने उनके सिर सटासट उड़ा दिए। उन चालीस में से एक नौका भाग गई और उस नौका में रास्ते के गाँवों के हमले से बचे दो-चार अंग्रेज यदि रह गए तो वह दुर्विजय सिंह नामक जमींदार की करुणा से। इस जमींदार ने उन नंगे, मरते साहबों को घी-रोटी खिलाकर एक माह मेहमानी करके इलाहाबाद भिजवा दिया।

सारांश यह कि कानपुर में ७ जून को जो एक हजार अंग्रेज जीवित थे उनमें से चार पुरुष और एक सौ पच्चीस स्त्री-बच्चे ही ३० जून को जीवित थे। उनमें से ये एक सौ पच्चीस स्त्री, बच्चे नाना की कैद में थे और चार पुरुष अधमरे दुर्विजय सिंह के दीवानखाने में दवा-दारू करवा रहे थे। पर यह सूची अभी अंतिम नहीं हुई है, इसमें भी अभी जोड़-घटाव होना है। यह जोड़-घटाव होने तक अंग्रेज स्त्रियों और बच्चों को नाना ने कैद में डालने के बाद उनकी व्यवस्था कैसे क्या रखी गई थी, यह भी संक्षेप में कहने लायक है। इन स्त्रियों पर जबरदस्ती की गई, रास्ते में उनके स्तन काटे गए और स्वयं नाना ने उनपर बलात्कार करने का प्रयास किया

---

१. फोरेस्ट स्टेट पेपर्स तथा के एवं मैलसन कृत—'म्युटिनी' के खंड २, पृष्ठ २५८ पर भी यह अंकित है कि ''लगभग सभी इतिहासकारों ने एकमत से यह स्वीकार किया है कि नाना साहब को समाचार प्राप्त होते ही उन्होंने यह आदेश दे दिया था।''

आदि बेशर्मी के आरोप एवं तथाकथित 'सत्य जानकारियाँ' बड़े-बड़े उन अंग्रेजी लोगों ने प्रकाशित न की होतीं और ये अति निंदनीय और झूठे बयान जानबूझकर देनेवालों को सालोसाल सत्य प्रमाण माननेवाली अंग्रेजी राष्ट्र की दृष्टि अंधी और दूषित न होती तो इन बातों के कहने की कोई आवश्यकता नहीं थी। अंग्रेजों के इन सब आरोपों की छानबीन करने के लिए नियुक्त कमीशन की रिपोर्ट में ये सारे बयान पूरे-के-पूरे झूठे हैं, यह स्पष्ट लिखा ही है।[१] फिर भी इतने से यह हकीकत समाप्त नहीं होती। उन स्त्रियों को नाना ने मार-काट से बचाकर—नील, रेनाल्ड, हैवलॉक इन सबको लज्जित किया। इतना ही नहीं अपितु उन स्त्रियों को कैद में रखकर उनको अमानुषिक यंत्रणाएँ भी नहीं दी गईं। इतना ही नहीं अंग्रेजों ने हिंदुस्थान में या ऑस्ट्रिया ने इटली में या स्पेन ने मूरिश लोगों को या ग्रीक ने तुर्की लोगों को ऐसी ही परिस्थिति में जितनी कठोरता से सताया है उसकी शतांश कठोरता भी अपने व्यक्ति, राष्ट्र या धर्म संबंधी कृतघ्न शत्रु जाति को उस सन् १८५७ के उग्र प्रलय में नहीं दिखाई गई! यह अंग्रेजी इतिहास से प्रमाणित है। कानपुर हत्याकांड की इस पहली गड़बड़ी में कुछ घुड़सवारों ने चार अंग्रेज और कुछ धर्मांतरित स्त्रियों को भगाया था। नाना साहब को यह समाचार मिलते ही उन्होंने उन सवारों को पकड़वाकर उनकी भर्त्सना की और भगाई हुई औरतों को छोड़ देने के आदेश दिए।[२] कैदी स्त्रियों और बच्चों को रोटी और मांस बीच-बीच में दिया जाता था।[३] किसी भी तरह के कष्टकारी श्रम का काम बलपूर्वक कैदियों पर नहीं लादा जाता। बच्चों को दूध मिलता था। उनकी निगरानी के लिए बेगम नाम की एक महिला नियुक्त थी। कैद में हैजा और पेचिश शुरू हो जाने पर कैदियों को शुद्ध हवा मिले इसलिए रोज तीन समय खुले में लाया जाता।[४] फिर भी फिरंगियों के प्रति लोगों में कैसा भयंकर क्षोभ था यह दरसाने के लिए यहाँ एक कहानी प्रस्तुत कर रहा हूँ। कैदखाने की दीवार पर से एक ब्राह्मण ने झाँककर देखा कि आज तक जो स्त्रियाँ पालकी के सिवाय एक कदम भी उठाती नहीं थीं वे स्वयं के कपड़े धो

---

१. म्योर का प्रतिवेदन तथा विल्सन का प्रतिवेदन; के और मैलसन कृत—'इंडियन म्युटिनी', खंड २, पृष्ठ २६७।

२. ट्रेवेलियन कृत—'कानपुर', पृष्ठ २९९।

३. 'नैरेटिव्स', पृष्ठ ११३।

४. नील ने स्वयं अपने प्रतिवेदन में लिखा है—"प्रारंभ में बंदियों को ठीक भोजन नहीं मिलता था; किंतु बाद में उन्हें अच्छा भोजन दिया गया और उनकी सेवा के लिए नौकर भी नियुक्त कर दिए गए।"

रही हैं। ब्राह्मण को उनपर दया आ गई और उसने पड़ोसी से कहा—"उनके कपड़े धोबी को क्यों नहीं दिए जाते?" उस ब्राह्मण द्वारा बिना बात दिखाई गई इस मानवता के प्रति घृणा से उस पड़ोसी ने ब्राह्मण को एक चाँटा मारा। कैद की कुछ ही स्त्रियों से चक्की पिसवाई जाती और उसके बदले में उनको एक रोटी का आटा दिया जाता। स्वयं जीवित रहने के लिए कितने कष्ट उठाने पड़ते हैं—इसका पाठ उन्हें मिला। ऐसी कैद का अंत क्या हुआ और उसके लिए क्या कारण घटित हुआ इसका खुलासा यथा अवसर होने तक इन महिलाओं और बच्चों को उस कैद में ही छोड़कर अधिक महत्त्व की बातों को देखें।

२८ जून को कानपुर के अंग्रेजी शासन का पूर्ण निर्मूलन हो जाने के बाद कोई ५ बजे श्री नाना ने एक विशाल दरबार आयोजित किया। उस राजदरबार के सम्मानार्थ उस समय उपस्थित सारे लश्कर की भी परेड बुलाई गई। पैदल सेना की छह पूरी रेजिमेंट और घुड़सवारों की दो रेजिमेंट उस समारोह में उपस्थित थीं। इसके अतिरिक्त गाँव-गाँव से इस स्वदेशीय युद्ध के लिए आई हुई स्वयंसेवकों की टोलियाँ भी अपने-अपने निशान लेकर खड़ी थीं। जिसके पराक्रम से कानपुर जीता जा सका था उस मुट्ठी भर परंतु शौर्ययुक्त तोपखाने का मान इस दिन यथार्थ में प्रथम रखा हुआ था। बाला साहब सेना में पहले से ही प्रिय होने से उनके आते ही उनको 'खड़ी तालीम' दी गई। प्रथमतः दिल्ली के बादशाह के नाम १०१ तोपें दागी गईं। सन् १८५७ में हिंदू मुसलमानों ने कितने आदर से और बंधुत्व भाव से एक-दूसरे से अंत तक व्यवहार किया—यह यहाँ ध्यान में रखने लायक है। बाद में श्रीमंत नाना साहब की सवारी मैदान में आई, यह देखते ही सबने महाराज की जय-जयकार की और उन्हें भी इक्कीस तोपों की सलामी दी गई। लड़ाई के इक्कीस दिनों के लिए ये इक्कीस तोपें थीं—ऐसा अनेक कहते हैं। उस सम्मान के लिए महाराज ने उस विशाल सेना का आभार माना और वे बोले—"यह आज की विजय आप सबकी है, इसलिए इसमें आप सबका भी समान सम्मान है..."[१] बाद में इस संयुक्त धर्मयुद्ध की उस विजय के लिए नाना ने एक लाख रुपया उस लश्कर को पुरस्कार देने का आदेश दिया है, यह घोषित होते ही इक्कीस तोपों की और सलामी हुई। बाद में नाना के भतीजे राव साहब और बाला साहब प्रत्येक को १६-१७ तोपों की सलामी दी गई। ब्रिगेडियर जवाला प्रसाद और सेनापति तात्या टोपे, को भी ११-११ तोपों का सम्मान मिला। इस तरह उस दिन के सूर्यनारायण को स्वातंत्र्य समर में विजयी तोपों के धमाके सुनाकर सारी सेना को अपने शिविर

१. ट्रेवेलियन कृत—'कानपुर', पृष्ठ २९३।

में भेज दिया गया।

लश्कर की यह परेड हो जाने के बाद, श्रीमंत नाना साहब श्रीमंत बाला साहब के साथ ब्रह्मावर्त के उस इतिहास प्रसिद्ध राजभवन की ओर चले। १ जुलाई राज्यारोहण का दिन निश्चित किया गया था। उस दिन उस भवन की क्या शोभा होगी! पेशवाओं का वह पुरातन सिंहासन समारोहपूर्वक, सुमंत्रित कर दरबार में लाया गया। श्रीमंत नाना साहब के मस्तिष्क पर राजतिलक लगाया गया और हजारों नागरिकों और तोपों के धमाकों-जयघोषों में श्रीमंत नाना साहब पेशवा एक स्वतंत्र और स्वकष्टार्जित, स्वदेश सम्मत और स्वधर्म प्रतिपालक सिंहासन पर चढ़ गए। उस दिन कानपुर से हजारों लोगों ने नाना को नजराने और उपहार भेजे थे।[१] हिंदू लोग खुला कहने लगे—'आज से अब राजा रामचंद्र की विजय होगी।'[२] स्वधर्म और स्वराज्य की मंगल सुगंध बहुत दिनों बाद बह रही है। मराठों की जिस गद्दी को रायगढ़ से अंग्रेजों ने धकेला था, वह यही अंग्रेजी रक्त और मांस से ब्रह्मावर्त में पुनरभूत हुई है।

आज उसके समृद्ध वृक्ष हो उसमें स्वराज्य का फल लगा देखकर नाना को क्या लगा होगा?

पर नाना की बालसखी छबीली उधर क्या कर ही है? नाना को घोड़े पर बैठते देख जो घोड़े पर बैठती थी, नाना हाथी पर बैठें तो वह भी हाथी पर बैठे बिना न रहती थी, वह कानपुर में नाना के स्वातंत्र्य तिलक से विभूषित सिंहासन पर विराजमान होने के पश्चात् झाँसी में स्वकीय सिंहासनारोहण किए बिना—भूमि पर थोड़े ही बैठेगी। स्वतंत्रता के रण पट पर सिंहासन का भयानक दाँव लगाने के लिए नाना साहब ने जिस दिन अपना पासा कानपुर में फेंका उसी दिन रानी ने भी अपना पासा झाँसी में फेंका। इसीका नाम है साथी-गुइयाँ! ४ जून को इधर कानपुर में स्वातंत्र्य घोषणा की भयानक गड़गड़ाहट होने लगी तभी उधर झाँसी की चपला भी समर आकाश में कड़कने लगी।

झाँसी में सन् १८५७ के मई माह में नेटिव पैदल सेना की १२वीं रेजिमेंट, १४वीं घुड़सवार और एक तोपखाना—इतनी सेना रखी हुई थी और इस सेना का मुख्य अधिकारी कैप्टन डनलप था। मई माह के प्रारंभ में उस सेना में कुछ गुप्त योजना चलने का उड़ता समाचार अंग्रेज अधिकारियों के कानों में आने लगा। झाँसी के मुख्य कमिश्नर स्कीन और डिप्टी कमिश्नर गार्डन के हाथ में सिपाहियों के कुछ

---

१. ट्रेवेलियन कृत—'कानपुर', पृष्ठ २९४।

२. सर कोलिन कृत—'नेटिव'।

पत्र लग जाने से यह स्पष्ट दिखने लगा कि रानी के किसी ब्राह्मण नौकर लक्ष्मणराव ने १२वीं रेजिमेंट से संपर्क साधा हुआ है और सिपाही विद्रोह कर अपने अधिकारियों को गारद करें इसके लिए उसके लगातार प्रयास चल रहे हैं।[१] यह ब्राह्मण—लक्ष्मणराव पांडे—बाद में स्वतंत्र झाँसी का दीवान बना। झाँसी के धनवान ठाकुर लोगों में एक तरह की खलबली मची है और वे अंग्रेजी राज उलटने की चर्चा कर रहे हैं—पर यह बात कोई बहुत महत्त्व की नहीं है, क्योंकि ये ठाकुर कभी किसी सरकार के राजनिष्ठ रहे ही नहीं।

फिर भी झाँसी की सेना राजनिष्ठ रहेगी यह अंग्रेजों का दृढ़ विचार था। सेना की राजनिष्ठा के साथ ही रानी की राजनिष्ठा के संबंध में भी कुछ संशय करने का कोई कारण नहीं था। क्योंकि अभी कुछ समय पूर्व ही उसने समय आने पर अंग्रेजों की यथासंभव सहायता करना कबूल किया है, इतना ही नहीं अपितु वह सहायता कर सकें इसलिए अपने पास की सेना बढ़ाने की अनुमति उसने माँगी है। ऐसी स्थिति में झाँसी विद्रोह की ज्वाला से निर्भय है। मई माह की ३१ तारीख को भी वरिष्ठ अधिकारियों को झाँसी के अंग्रेज ऐसी रिपोर्ट करें तो उसमें क्या हर्ज है?

तारीख १ जून को झाँसी में कुछ अंग्रेज अधिकारियों के बँगलों को आग लगी। यह आग जून के पहले हफ्ते को इतना संदेश देकर निकल गई कि जिस दिन उधर कानपुर उठा उसी दिन ४ जून को झाँसी भी विद्रोह कर उठी। सिपाहियों की एक टोली ने अपने हवलदार के इशारे पर अकस्मात् चढ़ाई कर स्टार फोर्ट को उसमें स्थित बारूदखाने और शस्त्रागार सहित हथिया लिया। कैप्टन डनलप ने घुड़सवारों और शेष बचे हुए पैदल और तोपखाने को परेड पर बुलाकर घटना की जानकारी दी तो सारे नेटिव सिपाहियों ने राजनिष्ठा और कंपनी की जय-जयकार कर कहा कि हम कंपनी के लिए जान देने में भी नहीं हिचकेंगे। राजनिष्ठा का ऐसा प्रदर्शन इधर चल रहा था तो उधर अंग्रेजों ने अपने बाल-बच्चे किले में पहुँचाकर उस किले को लड़ाने की तैयारी शुरू कर दी और सहायता के लिए नौगाँव अंग्रेजी छावनी को तथा अन्य स्थानों पर भी तत्काल पत्र भेजे। ये पत्र डालने डनलप साहब डाकघर की ओर जाने लगे तो उन्हें परेड के मैदान पर १२वीं पलटन के सिपाहियों ने गोली से मार डाला। एनसाइन टेलर भी मारा गया। तब सारे अंग्रेज डर के मारे किले की ओर चले गए। उस किले में अंग्रेजों ने सुरक्षा के लिए तोपें निशाने पर लगाकर बारूद की व्यवस्था की हुई थी और उनका यह निश्चय था कि बाहर से सहायता आने तक एक हफ्ते तक किला बड़ी सहजता से लड़ाया जा सकता है। सिपाहियों ने, छावनी

---

१. चार्ल्स बाल, खंड १, पृष्ठ २७१।

में भेज दिया गया।

लश्कर की यह परेड हो जाने के बाद, श्रीमंत नाना साहब श्रीमंत बाला साहब के साथ ब्रह्मावर्त के उस इतिहास प्रसिद्ध राजभवन की ओर चले। १ जुलाई राज्यारोहण का दिन निश्चित किया गया था। उस दिन उस भवन की क्या शोभा होगी! पेशवाओं का वह पुरातन सिंहासन समारोहपूर्वक, सुमंत्रित कर दरबार में लाया गया। श्रीमंत नाना साहब के मस्तिष्क पर राजतिलक लगाया गया और हजारों नागरिकों और तोपों के धमाकों-जयघोषों में श्रीमंत नाना साहब पेशवा एक स्वतंत्र और स्वकष्टार्जित, स्वदेश सम्मत और स्वधर्म प्रतिपालक सिंहासन पर चढ़ गए। उस दिन कानपुर से हजारों लोगों ने नाना को नजराने और उपहार भेजे थे।[१] हिंदू लोग खुला कहने लगे—'आज से अब राजा रामचंद्र की विजय होगी।'[२] स्वधर्म और स्वराज्य की मंगल सुगंध बहुत दिनों बाद बह रही है। मराठों की जिस गद्दी को रायगढ़ से अंग्रेजों ने धकेला था, वह यही अंग्रेजी रक्त और मांस से ब्रह्मावर्त में पुनरभूत हुई है।

आज उसके समृद्ध वृक्ष हो उसमें स्वराज्य का फल लगा देखकर नाना को क्या लगा होगा?

पर नाना की बालसखी छबीली उधर क्या कर ही है? नाना को घोड़े पर बैठते देख जो घोड़े पर बैठती थी, नाना हाथी पर बैठें तो वह भी हाथी पर बैठे बिना न रहती थी, वह कानपुर में नाना के स्वातंत्र्य तिलक से विभूषित सिंहासन पर विराजमान होने के पश्चात् झाँसी में स्वकीय सिंहासनारोहण किए बिना—भूमि पर थोड़े ही बैठेगी। स्वतंत्रता के रण पट पर सिंहासन का भयानक दाँव लगाने के लिए नाना साहब ने जिस दिन अपना पासा कानपुर में फेंका उसी दिन रानी ने भी अपना पासा झाँसी में फेंका। इसीका नाम है साथी-गुइयाँ! ४ जून को इधर कानपुर में स्वातंत्र्य घोषणा की भयानक गड़गड़ाहट होने लगी तभी उधर झाँसी की चपला भी समर आकाश में कड़कने लगी।

झाँसी में सन् १८५७ के मई माह में नेटिव पैदल सेना की १२वीं रेजिमेंट, १४वीं घुड़सवार और एक तोपखाना—इतनी सेना रखी हुई थी और इस सेना का मुख्य अधिकारी कैप्टन डनलप था। मई माह के प्रारंभ में उस सेना में कुछ गुप्त योजना चलने का उड़ता समाचार अंग्रेज अधिकारियों के कानों में आने लगा। झाँसी के मुख्य कमिश्नर स्कीन और डिप्टी कमिश्नर गार्डन के हाथ में सिपाहियों के कुछ

---

१. ट्रेवेलियन कृत—'कानपुर', पृष्ठ २९४।

२. सर कोलिन कृत—'नेटिव'।

पत्र लग जाने से यह स्पष्ट दिखने लगा कि रानी के किसी ब्राह्मण नौकर लक्ष्मणराव ने १२वीं रेजिमेंट से संपर्क साधा हुआ है और सिपाही विद्रोह कर अपने अधिकारियों को गारद करें इसके लिए उसके लगातार प्रयास चल रहे हैं।[१] यह ब्राह्मण—लक्ष्मणराव पांडे—बाद में स्वतंत्र झाँसी का दीवान बना। झाँसी के धनवान ठाकुर लोगों में एक तरह की खलबली मची है और वे अंग्रेजी राज उलटने की चर्चा कर रहे हैं—पर यह बात कोई बहुत महत्त्व की नहीं है, क्योंकि ये ठाकुर कभी किसी सरकार के राजनिष्ठ रहे ही नहीं।

फिर भी झाँसी की सेना राजनिष्ठ रहेगी यह अंग्रेजों का दृढ़ विचार था। सेना की राजनिष्ठा के साथ ही रानी की राजनिष्ठा के संबंध में भी कुछ संशय करने का कोई कारण नहीं था। क्योंकि अभी कुछ समय पूर्व ही उसने समय आने पर अंग्रेजों की यथासंभव सहायता करना कबूल किया है, इतना ही नहीं अपितु वह सहायता कर सकें इसलिए अपने पास की सेना बढ़ाने की अनुमति उसने माँगी है। ऐसी स्थिति में झाँसी विद्रोह की ज्वाला से निर्भय है। मई माह की ३१ तारीख को भी वरिष्ठ अधिकारियों को झाँसी के अंग्रेज ऐसी रिपोर्ट करें तो उसमें क्या हर्ज है?

तारीख १ जून को झाँसी में कुछ अंग्रेज अधिकारियों के बँगलों को आग लगी। यह आग जून के पहले हफ्ते को इतना संदेश देकर निकल गई कि जिस दिन उधर कानपुर उठा उसी दिन ४ जून को झाँसी भी विद्रोह कर उठी। सिपाहियों की एक टोली ने अपने हवलदार के इशारे पर अकस्मात् चढ़ाई कर स्टार फोर्ट को उसमें स्थित बारूदखाने और शस्त्रागार सहित हथिया लिया। कैप्टन डनलप ने घुड़सवारों और शेष बचे हुए पैदल और तोपखाने को परेड पर बुलाकर घटना की जानकारी दी तो सारे नेटिव सिपाहियों ने राजनिष्ठा और कंपनी की जय-जयकार कर कहा कि हम कंपनी के लिए जान देने में भी नहीं हिचकेंगे। राजनिष्ठा का ऐसा प्रदर्शन इधर चल रहा था तो उधर अंग्रेजों ने अपने बाल-बच्चे किले में पहुँचाकर उस किले को लड़ाने की तैयारी शुरू कर दी और सहायता के लिए नौगाँव अंग्रेजी छावनी को तथा अन्य स्थानों पर भी तत्काल पत्र भेजे। ये पत्र डालने डनलप साहब डाकघर की ओर जाने लगे तो उन्हें परेड के मैदान पर १२वीं पलटन के सिपाहियों ने गोली से मार डाला। एनसाइन टेलर भी मारा गया। तब सारे अंग्रेज डर के मारे किले की ओर चले गए। उस किले में अंग्रेजों ने सुरक्षा के लिए तोपें निशाने पर लगाकर बारूद की व्यवस्था की हुई थी और उनका यह निश्चय था कि बाहर से सहायता आने तक एक हफ्ते तक किला बड़ी सहजता से लड़ाया जा सकता है। सिपाहियों ने, छावनी

---

१. चार्ल्स बाल, खंड १, पृष्ठ २७१।

में जो यूरोपियन मिले, उन्हें मारकर फिर किले पर चढ़ाई की। अंग्रेजों ने रानी की सहायता प्राप्त करने के, स्कॉट और पर्सेल बंधु जैसे तीन आदमी भेजे थे। उन्हें रास्ते में ही पकड़कर मार डाला गया। ७ जून को विद्रोहियों ने किले पर जोरदार आक्रमण किया। उनके पास अच्छी तोपें न होने से किला जीतना बहुत कठिन होने लगा। फिर भी उनका संख्याबल अधिक होने से वे वैसे ही आगे बढ़ते रहे। किले में अंग्रेजों के साथ कुछ विश्वासपात्र नेटिव भी घुसे हुए थे। उनमें से एक, किले के दरवाजे को बंद करने के लिए बनी दीवार चुपचाप गिराने लगा। लेफ्टिनेंट पावस ने यह देखते ही उस सेवक को गोली मारी, तभी दूसरे सेवक ने लेफ्टिनेंट पावस को तलवार से काट डाला। लेफ्टिनेंट गर्गेस ने उस सेवक का काम तमाम किया। अंग्रेजों ने अपने को छिपाकर तोपों और बंदूकों का हमला चालू रखा था। कमिश्नर गार्डन ऐसे ही चोरी से बंदूकें चला रहा था तो उसके चेहरे से परिचित एक विद्रोही ने सीधे तीर चलाकर उसे मार डाला। गार्डन साहब के मरते ही किले के अंग्रेजों का धीरज टूटने लगा और बाहर विद्रोहियों का उत्साह बढ़ने लगा। अंग्रेजों की गोलीबारी की परवाह न करते हुए घुड़सवारों का रिसालदार काले खान और झाँसी का तहसीलदार अहमद हुसैन—इन दो बहादुर योद्धाओं ने विद्रोहियों का झंडा किले की दीवार तक जा भिड़ाया और अब विद्रोही सेना किले में पल-दो पल में घुसेगी ऐसा रंग दिखने लगा। तब अंग्रेजों ने किले पर संधि का झंडा लगाया और लड़ाई बंद हो गई। दूसरे दिन विजयी विद्रोहियों के प्रतिनिधि झाँसी के प्रसिद्ध हकीम साले मोहम्मद से अंग्रेजों ने बातचीत शुरू की और जीवनदान माँगा। यह शर्त साले मोहम्मद ने कुरान पर हाथ रखकर स्वीकार की और अंग्रेजों ने तुरंत किले के दरवाजे खोल दिए। अंग्रेजों को शस्त्र नीचे रखने के आदेश हुए। उन्होंने शस्त्र नीचे रखे और वे हतभागी गोरे लोग बाहर आने लगे और सिपाही उन्हें देखते ही 'मारो फिरंगी को' कहते हुए उनपर टूट पड़े। ८ जून को अंग्रेज पुरुषों के हाथ बाँधकर उनका एक जंगी जुलूस शहर में से निकाला गया। उस जुलूस में ही झाँसी का मुख्य कमिश्नर स्कीन अधोमुख चल रहा था। जोगन बाग के पास आते ही रिसालदार साहब ने आदेश दिया—''एक-एक गोरा काटा जाय।'' झाँसी के कैदखाने के मुसलमान दारोगा ने स्कीन साहब का सिर कलम किया और तत्काल ही पुरुष, महिला, बच्चे मिलाकर साठ गोरे सिर गेंद की तरह उछलकर भूमि पर गिरे। महिलाओं ने छोटे बच्चे गोद में लिये थे और बड़े बच्चे उनसे चिपककर खड़े थे। वे औरतें, उनकी गोद के छोटे बच्चे और सटकर खड़े बड़े बच्चे भी गोरे रंग अपराध के कारण काले रंग की तलवार से सटाक काटे गए। एक क्षण में रक्त की तेज धार बहने लगी। झाँसी के घनीभूत अन्याय का ऐसा द्रवीकरण हुआ।

झाँसी के गुस्सैल जबड़े में पचहत्तर अंग्रेज पुरुषों, बारह महिलाओं और तेईस बच्चों की विद्रोहियों ने बलि ली। ४ जून को झाँसी ने विद्रोह किया और तारीख ८ जून को अंग्रेजी राज्यसत्ता का झाँसी से अंत हो गया। और अंग्रेजों की ओर से अपने को वारिस कहनेवाला कोई न बचने से विद्रोही सिपाहियों ने रानी साहब लक्ष्मीबाई को झाँसी के स्वातंत्र्य सिंहासन पर प्रतिष्ठित किया और वीर लक्ष्मी रानी के नाम से नारा लगाया—"खल्क खुदा का, मुल्क बादशाह का और शासन रानी लक्ष्मीबाई का!"[१]

□

१. झाँसी की रानी रणलक्ष्मी के चरित्र पर एक ग्रंथ मराठी में श्री पारसनीस ने लिखा है। उस विद्वान् ग्रंथकार ने सैकड़ों सबूतों से प्रस्तुत कर यह दिखाया है कि अंग्रेजों के इस हत्याकांड को उस युवा रानी ने रत्ती भर भी नहीं भड़काया था। श्री पारसनीस का ग्रंथ मराठी पाठकों के अच्छे परिचय का ग्रंथ है और उसका अन्य भाषाओं में भी अनुवाद हुआ है और इसीलिए हमने उसे यहाँ उद्धृत किया है।

प्रकरण–९

अयोध्या का रण

अयोध्या का राज डलहौजी द्वारा अधिग्रहण किए जाने के बाद से उस प्रदेश की प्रजा की दुर्दशा बढ़ती ही जा रही थी। अयोध्या की स्वतंत्रता नष्ट हो जाने के बाद नवाब के राज्य में अंग्रेज अधिकारियों की नियुक्ति होने के कारण बड़े-बड़े पद-सम्मान से सारे स्वदेशी लोगों को पदच्युत होना पड़ा था, नवाब की सेना समाप्त कर दी गई, उसके सरदार दरिद्रता में धकेल दिए गए, उसके सरदार और मंत्री वैभव विहीन होकर उपजीविका की कनिष्ठ सीढ़ी पर पहुँच गए। जिस गुलामी के कारण यह दुर्दशा उत्पन्न हुई थी उससे सबके मन में उसके प्रति भारी द्वेष बढ़ने लगा। राजधानी और राजदरबार में ही केवल दासता के ये पाश कसने लगे थे ऐसा नहीं था, उस सारे प्रदेश में बड़े-बड़े जमींदारों और राजाओं के पीढ़ी-दर-पीढ़ी जो अधिकार, जागीरें, इनाम आदि चले आ रहे थे वे सब अंग्रेजों ने छीन लिये—इस कारण उन सब बड़े-बड़े राजाओं और जागीरदारों को अत्यंत कनिष्ठ स्वराज्य और अति श्रेष्ठ गुलामी में पहला कितना श्रेयस्कर, सम्मानपूर्ण और अभिनंदनीय होता है यह पहचान हो गई थी। लगान बढ़ जाने से किसान नाराज हो गए। अंग्रेजी लश्कर के हिंदुस्थानी सिपाही, जो अधिकांश अयोध्या के ही थे उनके मन में भी मातृभूमि की इस दुर्दशा और दासता से व्यापक असंतोष बढ़ने लगा। युवा वाजिद अलीशाह से अंग्रेजों ने कैसा घोर विश्वासघात किया था, इसे स्मरण करते हुए हर कोई अपनी तलवार पर हाथ धरे अपने ओंठ चबाने लगा था।

अयोध्या के बड़े-बड़े जमींदार शूरता, उदारता और कृतज्ञता आदि गुणों से भरपूर राजपूत वंशों में उत्पन्न हुए थे। अंग्रेजों ने उनके राजा पर जो अत्याचार किए थे उसके कारण उनमें बहुत गुस्सा उत्पन्न हो गया था। अयोध्या अधिग्रहण करने के बाद अंग्रेजों ने अपने अधीन कार्य करने के लिए जब उनसे कहा तब उन स्वतंत्रता

प्रेमी लोगों में से सैकड़ों उग्र पुरुषों ने अंग्रेजों को कहा—"हमने स्वराज्य का अन्न खाया है, अतः गुलामी के अन्न को छूना भी हराम है।"

अयोध्या का राज्य अधिग्रहण करने के बाद उस राज्य के सर्वाधिकारी पद पर सर हेनरी लॉरेंस को नियुक्त किया गया। हेनरी लॉरेंस जॉन लॉरेंस का बड़ा भाई था, जिसने अपने जोश और कूटनीति से पंजाब में विद्रोह के बीज अंकुरित होने के पहले ही नष्ट कर दिए थे। पंजाब के चीफ कमिश्नर ने जैसे पंजाब को बचाया वैसे ही अयोध्या के चीफ कमिश्नर ने भी अयोध्या को बचाने के उपाय बहुत पहले से करना प्रारंभ कर दिए थे। सन् १८५७ की चोट से हिंदुस्थान में ब्रिटिश शासन बचाने का श्रेय यदि किसीको देना हो तो इन लॉरेंस बंधुओं को देना होगा। सर हेनरी लॉरेंस ने अयोध्या में पैर रखते ही वहाँ की परिस्थिति का सही-सही अनुमान लगाया और हिंदुस्थान में किसी भी अंग्रेज के ध्यान में आने के पूर्व ही उसने विद्रोह होने की आशंका प्रदर्शित की। अयोध्या की मुख्य राजधानी लखनऊ होने से सर हेनरी लॉरेंस वहीं रहता था। उसने असंतुष्ट जमींदारों को मीठा बोलकर शांत करने का प्रयास प्रारंभ किया। लखनऊ में दरबार आयोजित कर उसमें मान, सम्मान, इनाम आदि देकर जनता में पनप रही स्वराज्य की अनुभूति को भुलाने के लिए काफी प्रयास किए। जनता को शांत करने के अपने प्रयासों के साथ ही संकट के समय असावधान रहे, ऐसा नासमझ नहीं होने से उसने लोगों के विद्रोह से अपने को बचाने के लिए अलग-अलग योजनाएँ भी प्रारंभ कर दीं।

सर हेनरी लॉरेंस का शासन यद्यपि उसके पूर्ववर्ती अंग्रेज अधिकारियों के शासन से अच्छा था फिर भी अयोध्या के लोगों को अब अंग्रेजों के अच्छे शासन से बुरे शासन जैसी ही घृणा हो गई थी। स्वराज्य स्थापित कर उसपर वाजिद अलीशाह को फिर से बैठाए जाने से कम में उनकी महत्त्वाकांक्षा शांत होनेवाली नहीं थी। अंग्रेजी राज्यसत्ता की जंजीरों को तोड़कर सारा हिंदुस्थान फिर से एक बार स्वतंत्र करने के सिवाय उन्हें और कुछ भी सूझ नहीं रहा था। उनका धर्म कल श्रेष्ठ पद पर आसीन हो चुका था। कल तक वह धर्म राजधर्म की प्रतिष्ठा पा चुका था। परंतु आज वह हीन सेवाधर्म हो गया था। यह उनकी मुख्य पीड़ा थी और उसका समाधान अच्छे शासन से नहीं विदेशी शासन की समाप्ति से ही हो सकता था। मानसिंह जैसे प्रबल हिंदू राजा और सिकंदर शाह जैसे मुसलमानों के अधिकारी दोनों ही धर्म के देशभक्त नेताओं ने स्वतंत्रता के लिए अपना सबकुछ समर्पित करने का निश्चय किया था। हजारों मौलवी और पंडित इस जिहाद का गुप्त और खुला उपदेश करते हुए सारी अयोध्या में घूमने लगे। लश्कर, पुलिस, जमींदार और सारी जनता अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ाई करने को शपथबद्ध करने का प्रचंड षड्यंत्र खड़ा

किया गया जिससे इधर-उधर लोकक्षोभ की अग्नि प्रज्वलित होने लगी। इस अग्नि की चिनगारियाँ बीच में ही गलती से कैसे उड़ीं यह पहले कहा है। खुद मौलवी सिकंदर शाह को राजद्रोह के अपराध के कारण पहले फाँसी और बाद में कारावास का दंड दिया गया और ७वीं रेजिमेंट को नि:शस्त्र किया गया। सर हेनरी लॉरेंस ने लश्कर को यथासंभव नियंत्रण में रखने के लिए १२ मई को एक बड़ा दरबार आयोजित किया। उसमें स्वयं उसने हिंदुस्थानी भाषा में एक कौशलपूर्ण व्याख्यान दिया। राजनिष्ठा का महत्त्व बतलाया। महाराजा रणजीतसिंह द्वारा किए गए मुसलिम धर्म के अपमानों और औरंगजेब द्वारा किए हिंदू धर्म के अपमानों का स्पष्ट प्रतिपादन करने के बाद अंग्रेज सरकार ने इस परस्पर द्वेष से हिंदू-मुसलमानों को कैसे बचाया—यह बात विस्तार से कही और बाद में जिस किसी सिपाही ने ७वीं रेजिमेंट की नि:शस्त्रीकरण विधि में उत्तम राजनिष्ठा प्रदर्शित की थी उन्हें तलवारें, शाल, साफे आदि पुरस्कार स्वयं लॉरेंस ने अपने हाथ से दिए। लेकिन कितना विरोधाभास! इन पुरस्कार प्राप्त राजनिष्ठों को ही कुछ समय बाद विद्रोह के षड्यंत्र में सम्मिलित सिद्ध होने पर फाँसी दी गई।

राजनिष्ठा का यह दरबार १२ मई को हुआ और १३ मई को खबर आई कि मेरठ शहर ने विद्रोह किया और १४ मई को समाचार आया—दिल्ली पर विद्रोहियों का कब्जा हो गया है और वहाँ स्वतंत्रता की घोषणा हो गई है।

ये समाचार आते ही सर हेनरी लॉरेंस ने लखनऊ शहर के पास के मच्छी भवन और रेजीडेंसी—ये दो स्थान चुनकर उन्हें अंग्रेजों के रहने योग्य बनाना प्रारंभ किया। अंग्रेजों की सारी महिलाएँ, बच्चे वहाँ ले जाए गए और गैर लश्करी अधिकारी, बाबू, व्यापारी आदि सभी वयस्क पुरुषों को लश्करी कवायद, अनुशासन और शस्त्र आदि का प्रशिक्षण देकर तैयार किया गया। मेरठ की ओर बगावत हो जाने के बाद वहाँ के असैनिक अधिकारियों आदि को भी तत्काल ऐसा ही फौजी प्रशिक्षण देकर, कोई दस दिन में युद्ध के लिए तैयार किया गया था। सर हेनरी लॉरेंस को ही पूरे प्रदेश का मुख्य फौजी अधिकारी बनाया गया। अयोध्या का प्रदेश नेपाल से लगा होने के कारण लॉरेंस का प्रयास नेपाल के राजा जंग बहादुर को अपनी सहायता के लिए सेना लेकर बुलाने का चल रहा था।

इन सारी व्यवस्थाओं के चालू रहते सर लॉरेंस को रोज यह पक्का समाचार मिलता कि आज विद्रोह होगा। ऐसा समाचार मिलते ही लॉरेंस विशेष बंदोबस्त करने लगता। पर दूसरा दिन उदय हो जाने के बाद भी विद्रोह न होता—ऐसा बार-बार होता रहा। ३० मई को लॉरेंस को किसी अधिकारी ने समाचार दिया कि आज रात ९ बजे विद्रोह होगा।

३० मई का सूर्यास्त हो गया। हेनरी लॉरेंस अपने साथियों सहित भोजन करने बैठा था तभी रात नौ बजे की तोप की आवाज हुई। जिसने इस बार विद्रोह होने का पक्का समाचार दिया था वह पहले की तरह ही गलत हुआ, इसलिए लॉरेंस ने उसकी ओर झुककर कहा—"तुम्हारे मित्र समय पालन में पक्के नहीं हैं।"

"समय पालन में पक्के नहीं हैं!" यह वाक्य हेनरी लॉरेंस कह भी न पाया कि ७१वीं पैदल पलटन द्वारा छोड़ी गई बंदूकों की आवाज उसके कानों में आने लगी। इस रेजिमेंट के पहले से बनाए गए कार्यक्रम के अनुसार ९ बजे की तोप छूटते ही उसकी अलग-अलग टोलियाँ यूरोपियनों के बँगलों पर टूट पड़ीं। ७१वीं रेजिमेंट के मेस हाउस को आग लगाकर उन्होंने यूरोपियनों पर बंदूकों से गोलियों की झड़ी लगानी शुरू की। इस रेजिमेंट का लेफ्टिनेंट ग्रांट भागा जा रहा था तो किसीने उसे अपनी खाट के नीचे छिपाया। परंतु किसी दूसरे के यह समाचार देते ही उसे खाट के नीचे से खींचकर सिपाहियों ने गारद किया। लेफ्टिनेंट हार्डिंग कुछ घुड़सवारों के साथ रास्ता रोकने आया तो उसे भी तलवार ने साफ कर दिया। पूरा कैंटोंमेंट सुलग गया। ब्रिगेडियर हर्डस्कोम भी मारा गया। रात भर अंग्रेजी झंडे को थामे रहे नेटिव और गोरे सोल्जर विद्रोह को रोके रहे। सुबह अर्थात् ३१ मई को हेनरी लॉरेंस ने विद्रोहियों पर अपने मातहत यूरोपियन और अभी भी राजनिष्ठ बनी हुई नेटिव सेना को लेकर हमला किया। परंतु रास्ते में ही उसके साथ की ६वीं घुडसवार रेजिमेंट ने विद्रोह किया इसलिए सर हेनरी उन सब सिपाहियों को वहीं छोड़कर लौट गया। लखनऊ में यूरोपियनों की ३२वीं रेजिमेंट पूरी गोरी होते हुए और गोरे तोपखाने का सहयोग होते हुए भी ३१ मई की शाम के पहले नेटिवों की ७१वीं पैदल रेजिमेंट, ४८वीं पैदल रेजिमेंट, ७वीं घुड़सवार रेजिमेंट और अधिकतर ईर्रेग्यूलर सेना ने विद्रोह का झंडा गाड़ दिया।

लखनऊ से ५१ मील दूर अयोध्या की वायव्य दिशा का मुख्य शहर सीतापुर है। इस शहर में सन् १८५७ में ४१वीं पैदल, ९वीं, १०वीं ईर्रेग्यूलर पैदल पलटन ऐसी तीन नेटिव रेजिमेंट थीं। वहाँ उसका कमिश्नर और अन्य बड़े-बड़े यूरोपियन अधिकारी भी रहते थे। २७ मई को अंग्रेजों की एक बस्ती में आग लगा दी गई थी। परंतु यह आग विद्रोह की अग्रिम सूचना है यह अनुमान अभी तक यूरोपियनों को न होने से उन्होंने उस आग को भुला दिया। और क्या कहें स्वयं सिपाहियों ने ही उसे बुझाने में अथक श्रम किया था। इस अग्रिम सूचना ने दो काम किए। एक यह कि षड्यंत्रकारियों को समय हो जाने की सूचना और दूसरा अंग्रेज अधिकारियों के भोलेपन की जाँच। जून की दूसरी तारीख को एक नई घटना हुई। सिपाहियों को दी गई नमक की बोरियों को उन्होंने यह कहकर नहीं लिया कि उसमें हड्डियों का चूरा

है। इतना ही नहीं उन्हें तत्काल गंगा में डाल दिया जाए ऐसी जिद भी की। अंग्रेजों ने इसीलिए वे बोरियाँ नदी में फेंक भी दीं। अब और भी मजा आ गया, उसी दिन दोपहर के समय यूरोपियन लोगों के बगीचों में एकाएक सिपाही घुस गए और चाहे जिस पेड़ पर चढ़कर आनंद से फल खाने लगे। अंग्रेज अधिकारी चिल्लाते रहे, पर सिपाहियों का फलाहार किसी तरह भी रोका न जा सका।

इस तरह भयंकर फलाहार करने के बाद उसे हजम करने के लिए उतना ही भयंकर व्यायाम शुरू हो गया। ३ जून को सिपाहियों की एक टोली ने खजाने पर हमला कर उसे कब्जे में ले लिया और बाकी के सिपाही कमिश्नर के बँगले की ओर बढ़े। रास्ते में कर्नल बर्च और लेफ्टिनेंट ग्रोव्स मिले तो उन्हें मार डाला गया। एक इर्रेग्यूलर ने भी अपने अंग्रेज अधिकारी काट डाले और सारे-के-सारे सिपाही— 'यूरोपियन शासन खत्म हुआ' ऐसा चिल्लाते-चिल्लाते गोरे लोगों पर टूट पड़े। एक नदी के रास्ते में कमिश्नर अपनी पत्नी को लेकर भागने लगा। उसे उसकी पत्नी और लड़के को लेकर नदी पार जाने से पहले ही मार डाला गया। थॉर्नहिल और उसकी पत्नी भी गोली लगने से मर गए। सिपाहियों के गुस्से ने कुल चौबीस पुरुष, महिला, बच्चों की बलि ली। शेष कुछ लोग रामकोट के जमींदार की शरण में चले गए और आठ-आठ, दस-दस माह तक सुरक्षित रखकर लखनऊ पहुँचाए गए। सीतापुर के सारे सिपाही फिर फर्रुखाबाद की ओर चले गए। वहाँ के यूरोपियनों ने जिस किले का आश्रय लिया था वह किला बहुत प्रयास से जीतने के बाद उन्होंने सारे यूरोपियनों को काट डाला। नवाब तफुज्जुर हुसैन खान को अंग्रेजों द्वारा अधिग्रहण की गई गद्दी पर फिर से बैठाया गया। इस नवाब ने भी अपने प्रदेश में मिले हर यूरोपियन को पकड़वाकर मार डाला। इस तरह फर्रुखाबाद प्रदेश में १ जुलाई को एक भी अंग्रेज शेष नहीं रहा।

सीतापुर के उत्तर में ४४ मील पर बसे मलान शहर में जो अंग्रेज अधिकारी थे उन्हें सिपाहियों और नागरिकों के षड्यंत्र तथा सीतापुर का समाचार मिलते ही वे घोड़ों पर बैठकर भाग गए और वह जिला बिना रक्त की एक बूँद बहाए स्वतंत्र हो गया।

तीसरा जिला महम्मदी है। वहाँ के यूरोपियनों ने अपनी महिलाएँ मिटौली के राजा के यहाँ भेजीं तो उस राजा ने उनसे कहा कि तुम्हें मेरे जंगल में छिपकर रहना पड़ेगा। आपकी खुली सुरक्षा करने की क्षमता मुझमें नहीं है। क्योंकि पूरे अवध के सिपाहियों ने विद्रोह करने की शपथ ली हुई है। उस राजा के पास अपनी महिलाएँ पहुँचाने के बाद महम्मदी के अंग्रेज अधिकारियों ने वहाँ के किले में शरण ली। इसी दिन—जैसाकि पहले कहा गया है—रुहेलखंड के शाहजहाँपुर से भागते

हुए अंग्रेज महम्मदी पहुँच गए। पर महम्मदी में क्षण की भी सुरक्षा न होने से वहाँ के अधिकारियों ने सीतापुर को संदेश भेजा कि वे इन अनाथ अंग्रेजों को सीतापुर ले जाएँ। सीतापुर में तब तक विद्रोह नहीं हुआ था इसलिए वहाँ से सिपाहियों की एक टोली गाड़ियों के साथ उन अनाथ अंग्रेजों को लेने के लिए पहुँची। परंतु सीतापुर के ये सिपाही महम्मदी में विद्रोह के बीच आए थे। उन्होंने सारे अंग्रेजों को गाड़ियों में भरा, सीतापुर के आधे रास्ते तक सुरक्षित लाए और वहाँ उन्हें ग़ाड़ियों से उतारकर मार डाला। इसमें सात-आठ महिलाएँ, चार बच्चे, आठ लेफ्टिनेंट, चार कैप्टन और कुछ अन्य पुरुष थे। इधर महम्मदी में बचे हुए अंग्रेज अधिकारी तत्काल भाग गए और इस तरह उस पूरे जिले में जून की चौथी तारीख को ब्रिटिश राज्यसत्ता का कोई चिह्न शेष न रहा।

अवध प्रांत के सीतापुर से लगा हुआ जिला है बहराइच। यहाँ का कमिश्नर विंगफील्ड था और उसके अधिकार में चार शहर सिकोरा, मालापुर, गोंडा और बहराइच थे। इनमें से सिकोरा में नेटिवों की दो पैदल रेजिमेंट और एक तोपखाना था। वहाँ विद्रोह होने के संकेत दिखते ही अंगेज स्त्री-बच्चों को लखनऊ भेज दिया गया। ९ जून की प्रातः अंग्रेजों में से बहुत से अधिकारी घोड़े पर बैठकर स्वयं ही बलरामपुर के राजा के यहाँ चले गए। केवल तोपखाने का अधिकारी बोन्हम अपने अधीनस्थ सिपाहियों पर पूरा भरोसा कर डटा रहा। परंतु शाम को उसे सिपाहियों ने साफ-साफ कहा कि "यद्यपि हम आपको तनिक भी क्षति नहीं पहुँचाएँगे फिर भी हमने अंग्रेजी गुलामी छोड़ दी है और हम अपने देशबंधुओं पर कभी भी गोलियाँ नहीं चलाएँगे।" यह सुनते ही हारकर वह अधिकारी भी स्थान छोड़कर निकल गया। उसे सिपाहियों ने यह भी बता दिया कि सुरक्षित राह कौन सी है और वह सुरक्षित लखनऊ पहुँच गया। सिकोरा स्वतंत्र होने की सूचना गोंडा में आते ही वह शहर भी विद्रोह कर उठा। यह देखते ही स्वयं कमिश्नर विंगफील्ड के साथ सारे अंग्रेज लोग बलरामपुर के राजा के पास भाग गए। इस राजा ने कोई पच्चीस अंग्रेज शरणार्थियों को शरण दी और उन्हें उचित अवसर पर ब्रिटिश छावनी में पहुँचा दिया।

सिकोरा और गोंडा स्वतंत्र हो जाने का समाचार बहराइच में पहुँचते ही वहाँ स्थित अंग्रेज अधिकारी विद्रोह होने की राह न देख उस मुख्य शहर को छोड़कर १० जून को ही लखनऊ की ओर भाग खड़े हुए। पर इस समय सारे अयोध्या प्रांत में विद्रोहियों की चौकियाँ स्थान-स्थान पर बन जाने के कारण उन्होंने नेटिव लोगों के स्वाँग धरे और एक नाव में बैठकर घाघरा नदी पार करने लगे। पहले उनकी ओर किसीका ध्यान नहीं गया पर आधी नदी पार होते-होते 'फिरंगी-फिरंगी' की

आवाजें आने लगीं। मल्लाहों ने नौकाएँ छोड़ दीं और वे अंग्रेज अधिकारी मार डाले गए। इन अधिकारियों के साथ ही उस बहराइच प्रांत से ब्रिटिश सत्ता समाप्त हो गई। मालापुर में अभी तक लश्करी छावनी नहीं थी फिर भी वह जिला छोड़कर भाग जाने के सिवाय अंग्रेजों को कोई गति नहीं रही—इतना लोकक्षोभ वहाँ था। वे जब भाग रहे थे तब एक राजा ने उन्हें जितना बना उतना संरक्षण दिया। परंतु जल्द ही विद्रोहियों की तलवार या वनवास के कष्टों ने उनकी बलि ली।

अयोध्या प्रांत के पूर्व भाग का मुख्य शहर फैजाबाद था और उसका कमिश्नर गोल्डवे भी वहीं रहता था। फैजाबाद विभाग में सुलतानपुर, सलोनी और फैजाबाद तीन जिले आते थे। फैजाबाद शहर में इस समय २२वीं पैदल और ६वीं इर्रेग्यूलर पैदल रेजिमेंट, कुछ घुड़सवार और तोपखाना था। कर्नल लेनाक्स इन सबका सेनापति था। फैजाबाद विभाग में जुल्म बहुत बढ़ गया था। सर हेनरी स्वयं लिखता है—''तालुकेदारों से भी क्रूरता का व्यवहार किया गया है। फैजाबाद प्रांत में उनके आधे गाँव छीन लिये गए हैं और कहीं-कहीं तो पूरे ही छीने गए हैं।'' ऐसे अत्याचारों का प्रतिशोध जल्द ही लिया जाएगा, यह डर फैजाबाद के अंग्रेजी अधिकारियों को मेरठ का समाचार सुनने के बाद लगने लगा और उस संकट से कैसे बचा जाए, इस चिंता ने उन्हें बेचैन कर दिया। अपने बाल-बच्चे लखनऊ की ओर भेजें तो लखनऊ के रास्तों पर विद्रोहियों की पक्की नाकाबंदी होने से उधर जाना कठिन था और फैजाबाद शहर में दो-दो हाथ करने की तैयारी की जाए तो वहाँ पूरी सेना नेटिव थी। ऐसी विकट विवशता में फँसे फैजाबाद के अंग्रेज अधिकारी अंत में राजा मानसिंह की शरण गए। अयोध्या प्रांत के सारे हिंदू लोगों का राजा मानसिंह माना हुआ नेता था। नवाब के राज्य में भी हिंदुओं की कहीं किरकिरी न हो इसलिए मानसिंह की तलवार म्यान के बाहर ही रहती थी। सन् १८५७ के मई माह में इस राजा को किसी वसूली प्रकरण में कारावास में डाल रखा था। परंतु अब मेरठ के विद्रोह के कारण अंग्रेजों की कमर टूट सी जाने से उन्होंने राजा मानसिंह को मनाने को उसे कैदखाने से मुक्त कर दिया। उसने अंग्रेज स्त्रियों और बच्चों को अपने किले में आश्रय देने की बात बड़ी कठिनाई से मानी। फिर भी उन्हें कहा—''मैं आप लोगों को आश्रय दे रहा हूँ यह बात लोगों को पसंद नहीं आएगी, इतना ही नहीं इसके लिए वे मुझपर भी प्रहार करने से नहीं चूकेंगे।'' ७ जून को मानसिंह के यहाँ अंग्रेज अधिकारियों के परिवार आश्रय के लिये गए और उसके शाहगंज किले में सुरक्षित रहने लगे।

अंग्रेज लोग अपनी सुरक्षा की ऐसी तैयारी कर रहे थे तभी फैजाबाद में आग लपटों में बदल गई। फैजाबाद में जो अनेक तालुकेदार थे उनमें से एक का नाम

मौलवी मोहम्मद शाह था। यह नाम इतिहास में अजर-अमर होने को था। यह नाम देशभक्तों, देशवीरों की माला में गूँथा जानेवाला था। इस नाम ने अपने तालुके की तालुकदारी ही नहीं अपने देश की देशदारी करने का कंकण भी अपने हाथ में बाँधा था। देश के दरवाजे पर पहरा देने के लिए रतजगा किया था और उस दरवाजे से देश में घुसना चाहनेवाली विदेशी सत्ता को रोकने के लिए अब उसने हाथ में तलवार थामी थी। अयोध्या का राज अंग्रेजों ने जब से अधिग्रहण किया तब से तालुकेदार अहमदशाह ने अपना सर्वस्व स्वदेश और स्वधर्म को अर्पण किया और वह मौलवी स्वयं हिंदुस्थान भर राज्य क्रांति का उपदेश देते हुए पर्यटन करने निकला। यह राजनीतिक संन्यासी जिस-जिस प्रदेश में अपनी चारणरज डालता गया वहाँ-वहाँ लोकशक्ति में कुछ विलक्षण चेतना का संचार होता गया। क्रांति पक्ष के बड़े-बड़े नेताओं से वह स्वयं मिला। अयोध्या के राजपरिवार में उसकी सलाह के बिना पत्ता भी नहीं हिलता था। उसने आगरा में गुप्त मंडली की स्थापना की। उसने लखनऊ में ब्रिटिश सता को उखाड़ फेंकने का खुला उपदेश दिया। अयोध्या प्रदेश के जनपदों की उसपर बड़ी श्रद्धा उत्पन्न हो गई थी। शरीर, मन, वाणी एवं बुद्धि से स्वदेश की स्वतंत्रता के उपदेश और गुप्त संगठनों के जाल बुनने का अश्रांत श्रम करने के बाद उसने लेखनी पकड़ी और राज्य क्रांतिकारक लेख लिखकर उन लेखों को वह सारे अयोध्या प्रांत में फैलाने लगा। एक हाथ में तलवार और एक हाथ में लेखनी! ऐसे लोकोत्तर पुरुष के तेज से स्वराज्य की ज्वाला भड़कने लगी है—यह देखकर अंग्रेजों ने उसे पकड़ने का आदेश जारी किया। परंतु अयोध्या की पुलिस ने उस लोकनाथ को नहीं पकड़ा। तब सेना भेजकर उसे पकड़ा गया। राजद्रोह का आरोप लगाकर उसकी छानबीन की गई और उसे फाँसी का दंड देकर फैजाबाद के कारावास में रखा गया।

मौलवी की और अंग्रेजी सत्ता की एक-दूसरे को फाँसी पर चढ़ाने की जंगी प्रतियोगिता शुरू हो गई। मौलवी अंग्रेजी सत्ता को फाँसी देने की तैयारी कर रहे थे तो अंग्रेजी सत्ता मौलवी को फाँसी चढ़ाने का स्थान बनाने की जल्दी कर रही थी। परंतु इस जल्दी में उन्होंने मौलवी को फैजाबाद कैद में रखकर अपने लिए ही फाँसी के खंभे खड़े किए; क्योंकि मौलवी को कैद में रखने से क्रांति की बारूद से ठसाठस भरी गुप्त सुरंग पर मानो चिनगारी पड़ी। वह शहर वहाँ के लश्कर के साथ 'हर-हर महादेव' की घोषणा के साथ विद्रोह कर उठा। सिपाहियों को काबू में रखने के लिए अधिकारी परेड पर गए तो सिपाहियों ने उन्हें साफ कहा कि अब हम स्वदेशी अधिकारियों के अधीन हैं और हमारा नेता सूबेदार दिलीप सिंह है। सूबेदार दिलीप सिंह ने सारे अधिकारियों के घर पर पहरा बैठा दिया और उन्हें बारह कदमों

से अधिक इधर-उधर हिलने पर कड़ी रोक लगा दी और फिर नागरिकों और सिपाहियों ने उस लोकनाथ के चरणों से पुनीत हुए कारागृह की ओर दौड़ लगाई। कारागृह का फाटक कड़कड़ाहट की ध्वनि से खुला और मौलवी अहमदशाह टुकड़े-टुकड़े हुई शृंखलाओं को फेंककर जय-जयकार से आकर मिले। मौलवी का पुनर्जन्म हुआ था। उन्हें अंग्रेज सत्ता फाँसी पर चढ़ाने वाली थी, उन्होंने अंत में उसे ही फाँसी पर चढ़ा दिया था। उन्होंने अपनी मुक्ति होते ही नेतृत्व स्वीकार किया और अंग्रेजों की दी हुई फाँसी का प्रतिशोध लेने के लिए पहला काम यह किया कि पहरे में बंद मुख्य अंग्रेज अधिकारी लेनाक्स को संदेश भेजा कि मेरे कारावास की अवधि में मुझे हुक्का भिजवाने के लिए मैं आपका आभारी हूँ।[१] वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि। लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति॥

फाँसी का दंड जिन्होंने दिया उसने हुक्का दिया इसलिए आभार व्यक्त करते हुए मोहम्मद शाह मौलवी ने अंग्रेज अधिकारियों के सुरक्षार्थ, फैजाबाद शहर में विद्रोह होते ही दूसरे स्थानों पर जो लूटमार होती थी वह न हो, इसलिए सिपाहियों की टोलियाँ भेजकर नाकेबंदी कर दी। सार्वजनिक भवन और बारूदखानों पर पहरा बैठाया गया। १५वीं रेजिमेंट के सिपाहियों ने एक युद्ध समिति बनाकर यह तय किया कि अंग्रेज अधिकारियों को मार डाला जाए, परंतु पहले दिए हुए वचन के अनुसार ऐसा करना ठीक नहीं, यह बड़े अधिकारियों ने तय कर अंग्रेजों को जीवित छोड़ दिया। उन्हें सूचित किया गया—"आपमें से जिनकी इच्छा हो वे अपनी निजी संपत्ति ले जाएँ, पर सार्वजनिक संपत्ति में से सुतली का टुकड़ा भी आपको नहीं ले जाने दिया जाएगा, क्योंकि वह अब अयोध्या के वजीर अलीशाह की सम्पत्ति है।"[२] इसके बाद विद्रोहियों ने अंग्रेजों को नौकाएँ दिलवाईं, उन्हें पैसा दिया और फिर सिपाहियों से विदा लेकर वे सारे अधिकारी नौकाओं में बैठ घाघरा नदी से चले गए। ९ जून को प्रात: फैजाबाद स्वतंत्र हो गया और कंपनी का राज वहाँ समाप्त करके वजीर अलीशाह का राज शुरू हो जाने की डोंड़ी पीटी गई।

जिन चार नौकाओं में बैठकर अंग्रेज जा रहे थे उनपर १७वीं रेजिमेंट की नजर पड़ी। उस रेजिमेंट को फैजाबाद से सिपाहियों ने पत्र भेजा था कि वहाँ से जा रहे फिरंगियों को मार डालें। उसीके अनुसार उन नौकाओं पर हमला हुआ। फैजाबाद का मुख्य कमिश्नर गोल्डवे मारा गया। लेफ्टिनेंट थॉमस, रिचे मेल, एडवर्ड्स, कैरी

---

१. चार्ल्स बॉल, खंड दो, पृष्ठ ३९४।

२. "Might take with them all private property but no public property, as that all belongs to the king of Oudh."—Charles Ball, Vol. II, Page 394.

आदि सारे अंग्रेज मौत के घाट उतारे गए। महोबा गाँव में जो थे उन्हें भी वहाँ की पुलिस ने मार डाला। एक नौका बच गई उसका साहब भूसे में अंत तक छिपा रहा इसलिए और मल्लाहों की कृपा से अंग्रेजी पलटन में सुरक्षित पहुँच गया। अपने घर में छिपे अंग्रेजों के स्त्री-बच्चों की कैसे रक्षा करें यह चिंता राजा मानसिंह को थी। तभी बहुत से अंग्रेज पुरुष भी वहाँ आश्रय के लिए आ गए। मानसिंह उस समय अयोध्या में था। उसने लिख भेजा कि मैंने विद्रोहियों को यह समझा दिया है कि यदि अंग्रेज स्त्री-बच्चों को रखने की अनुमति आप देंगे तो अंग्रेज पुरुषों को मैं आश्रय नहीं दूँगा। इस शर्त का पालन मानसिंह करता है या नहीं दूसरे दिन इसकी जाँच करने की बात भी तय हुई। तब उसके किले में छिपे अंग्रेज पुरुष अपने स्त्रियों-बच्चों को साथ लिये घाघरा पार जाने को निकले। रास्ते में अनेक संकटों से जूझते हुए जो बचे वे गोपालपुर के राजा के यहाँ पहुँचे। उन २९ अंग्रेजों को बहुत सम्मान के साथ रखकर उस राजा ने उन्हें अंग्रेजी ठिकाने पर पहुँचा दिया। इस सन् १८५७ के साल में जो अंग्रेज मरते-मरते बचे उनमें से अधिकतर लोगों ने अपने हजारों पृष्ठों के विवरण लिखकर रखे हैं। वे सारे उपदेशपरक हैं और वह अपने राष्ट्र की उदात्त मनोवृत्ति के जीवंत स्मारक हैं। अयोध्या में इतना द्वेष व्याप्त होते हुए भी विद्रोहियों की ओर से लड़ रहे राजाओं के घर शरण में आए अंग्रेज मजे में थे। ऐसे हजारों उदाहरण घटित हुए हैं। बुशर लिखता है—''आज मैं अकेला जीवित बचा हूँ। भागते-भागते एक गाँव में मैं पहुँचा, उसमें घुसते ही जो पहला आदमी मिला वह ब्राह्मण था। मैंने पीने को पानी माँगा। मेरी दुर्दशा देख उसे दया आ गई और उसने कहा इस गाँव में सभी ब्राह्मण हैं, तुझे कोई मारेगा नहीं··· बुलीसिंह पीछा करते आया। मैं एक गली में भागा—वहाँ मुझे एक बुढ़िया मिली। उसने झोंपड़ी की ओर अँगुली की। मैं वहाँ गया और वहाँ लगे भुसे के ढेर में छिप गया। कुछ ही देर में बुलीसिंह के लोग वहाँ आए और तलवार के सिरे इधर-उधर घुसेड़ने लगे। जल्दी ही मैं उन्हें मिल गया। उन्होंने मुझे बाल पकड़कर खींचते हुए बाहर फेंक दिया। गाँव के लोगों ने फिरंगियों पर गालियों की बौछार शुरू की। फिर बुलीसिंह मुझे वहाँ से निकाल दूसरी ओर ले चला। हर गाँव में मैं घुटने टेक शरणागत भाव दिखलाता और मृत्यु टल जाती। इस तरह मैं बुलीसिंह के बाड़े में पहुँचा। वहाँ से मुझे बहुत दिनों बाद अंग्रेजों की ओर पहुँचा दिया गया। कर्नल मेनाक्स लिखता है—''जब हम भाग रहे थे तब हमें नाजिम हुसैन खान के आदमियों ने पकड़ लिया। उसमें से एक पिस्तौल निकाल दाँत भींचता बोला—'फिरंगियों को चुटकी बजाते गारद करने मेरे हाथ फड़फड़ा रहे हैं। परंतु क्या करूँ?' वे हमें उस नाजिम के पास ले गए। वह दरबार में मसनद से टिका बैठा था। उसने हमें कहा कि

आप आराम फरमाओ और थोड़ा शरबत पियो। डरो नहीं। हमें रहने को कौन सा स्थान दिया जाए? यह प्रश्न उपस्थित हुआ तो एक गुस्सैल नौकर बोला—'घोड़ों का तबेला कुछ बुरा नहीं है।' उसकी इस बात पर नाजिम क्रोधित हुआ। परंतु इतने में दूसरे ने कहा—'इतना झंझट ही क्यों उठाएँ, मैं इन फिरंगी कुत्तों को मार ही डालता हूँ।' इसपर नाजिम ने डपटकर सबको चुप किया और हमें अभय वचन दिया। विद्रोहियों के डर से हम जनानखाने के पास छिपे रहे। हमें उत्तम अन्न, वस्त्र और आराम मिलता रहा। बाद में हम सबको नेटिवों के वेश में नाजिम ने अंग्रेजी छावनी में पहुँचा दिया।''

फैजाबाद शहर से अंग्रेज अधिकारियों के भागते ही उस प्रांत के अन्य जिलों ने भी विद्रोह का झंडा खड़ा किया। सुलतानपुर में उसी दिन अर्थात् ९ जून को ही विद्रोह हुआ। तीसरे जिला स्थान सलोनी में १० जून को विद्रोह प्रारंभ हुआ। वहाँ के भागते हुए अधिकारियों में से कुछ के प्राण रुस्तमशाह नामक सरदार ने और कुछ के राजा हनुमंत सिंह ने बचाए। अंग्रेज लोगों के शरणागत होने पर केवल उन्हें जीवनदान देकर ही यह अयोध्या के शूर और उदार राजे रुके नहीं बल्कि उन्होंने उनकी यथायोग्य आवभगत भी की। वास्तव में उन प्रत्येक राजा और जमींदारों की अंग्रेजों ने बहुत हानि की थी और उनका अपमान भी किया था। उनका देव राज नाम शेष हो गया था और उनके धर्म को नष्ट किया। ये बातें जमींदार और राजे भूल गए थे, ऐसा भी नहीं। अपने-अपने अनुयायियों को लेकर उन्होंने खुला रण किया और अंग्रेजों को हिंदुस्थान से भगा देने के पहले आराम नहीं करना है, उन्होंने ऐसी प्रतिज्ञा की। परंतु इस वीरोचित स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ ही वीरोचित उदारता दिखाने में भी उन्होंने कमी नहीं की। लोकसमाज बिना रुके गुस्से में काटता चल रहा था तब भी उन्होंने अंग्रेज महिला-बच्चों को सम्मान देकर अपूर्व दयाशीलता प्रदर्शित की। उनको जिन अंग्रेज अधिकारियों ने अभी हाल में ही प्रताड़ित किया था उन्हें भी कितनी बार शरण और जीवनदान दिया है। यही अधिकारी फिर भविष्य में उनसे लड़ने आ सकते हैं इसलिए उनको छोड़ना उचित नहीं, सारी जनता की ऐसी पक्की समझ होते हुए भी उन्होंने वह उदारता प्रदर्शित की। हिंदुस्थान के सिवाय यह वीरता और यह उदारता—ऐसी प्रचंड राज्य क्रांतिकारी और लोकक्षोभक अवधि में अन्य कितने देशों में देखने को मिलेगी?

अयोध्या की यह उदारता हतबलता का परिचायक नहीं थी। मई की ३१ तारीख से जून का पहला हफ्ता समाप्त होते-न-होते सारा अयोध्या प्रांत एक धड़ाके से विद्रोह कर उठा। उस अयोध्या प्रदेश के अनेक जमींदार राजा अंग्रेजी सत्ता के अधीन थे। वे हजारों सिपाही, पैदल, घुड़सवार, तोपखाना, सरकारी और अन्य

विभागों के सारे नौकर, किसान, व्यापारी एवं विद्यार्थी, हिंदू या मुसलमान, हाथ में हाथ थामे एक ही भूमि के दास्य विमोचन हेतु तलवार खींचकर उठ खड़े हुए। निजी वैर, धर्म भेद, जाति भेद, मान-सम्मान, सारे स्वदेश के लिए विलीन हो गए। एक पवित्र ध्येय के लिए न्याययुद्ध में कूद रहे हैं प्रत्येक को ऐसा जोश चढ़ा था। दस दिन के अंदर अयोध्या प्रांत में वाजिद अलीशाह का शासन लोकशक्ति ने स्वयं प्रेरणा से प्रस्थापित किया। अयोध्या के लोगों के कल्याण के लिए मैंने वाजिद अलीशाह को सिंहासन से भूमि पर गिराया ऐसा डलहौजी ने जो कारण दिया था यह उसका कितना करारा उत्तर था। जून के पहले हफ्ते के अंत में ऐसा एक भी गाँव शेष न रहा जहाँ डलहौजी को करारा उत्तर देने के लिए ब्रिटिश झंडे को फाड़कर टुकड़े नहीं किए गए।

इस पूरी परिस्थिति का सूक्ष्म चित्र देते हुए प्रसिद्ध इतिहास संशोधक फॉरेस्ट अपनी प्रस्तावना में लिखता है—"इस तरह दस दिन में अंग्रेजी शासन किसी स्वप्न की तरह था या नहीं था—ऐसा हो गया। उसका लेशमात्र भी न रहा। लश्कर ने विद्रोह किया, जनता ने जुआ उतार फेंका। परंतु इसमें बदला या क्रूरता कहीं भी नहीं थी। उन बहादुर और क्रोधित लोगों ने कुछ अपवाद छोड़कर राजपक्ष के शरणागत लोगों के साथ बहुत दयालुता से व्यवहार किया। जिन्होंने अपने शासनकाल में मदांध होकर अयोध्या के इन्हीं सरदारों को बहुत गहरे घाव किए थे आज उन्हीं सत्ताधारियों के पदच्युत होने पर उन सरदारों ने उनसे वीरोचित सम्मान का व्यवहार किया।"[१] अयोध्या के इस वीरोदार्य से यदि बड़े-बड़े अनुभवी और मँजे हुए अंग्रेज अधिकारी जीवित न छूटते तो अयोध्या को फिर से जीतने के लिए अंग्रेजों के नौसिखिया लोग कितने काम आते?

जून की १०वीं तारीख तक अयोध्या प्रांत के स्वतंत्र होते ही उस जिले में स्थान-स्थान पर स्थित सारे लड़ाके लोग और लश्कर के सिपाही लखनऊ की ओर बढ़ चले। लखनऊ शहर में अंग्रेजों का धुरंधर अधिकारी हेनरी लॉरेंस मृत्यु की ओर बढ़ रही ब्रिटिश सत्ता में चैतन्य भरने का प्रयास लगन से कर रहा था। सारा प्रदेश हाथ से निकल गया तब भी राजधानी पर उसने अपना नियंत्रण ढीला नहीं होने दिया था। उसे विद्रोह की गंध बहुत दूर से बहुत पहले ही आ जाने के कारण उसने राजधानी के मच्छी भवन और रेसीडेंसी—ये दो स्थान हर तरह से मजबूत कर लश्करी शक्ति से पूर्ण कर लिये थे यह पहले ही कहा है। लखनऊ की नेटिव सेना ३१ मई को विद्रोह कर निकल जाने के बाद सिख लोगों की एक उत्तम रेजिमेंट

---

१. फॉरेस्ट कृत—'भूमिका', खंड २, पृष्ठ ३७।

तैयार की और पक्के राजनिष्ठ नेटिव लोगों को लेकर एक और रेजिमेंट बनाई। इसके अतिरिक्त नेटिव लश्कर के जो-जो भाग अभी तक राजनिष्ठ बचे हुए थे वे सारे १२ जून तक विद्रोह कर निकल गए। इस विद्रोह से सर हेनरी को एक तरह का संतोष ही हुआ। क्योंकि इससे उसके शिविर में यूरोपियन सेना की रेजिमेंट, यूरोपियन तोपखाना और मँजे हुए राजनिष्ठ सिख और हिंदुस्थानी रेजिमेंट—ऐसा चुना हुआ और विश्वासपात्र लश्कर शेष रह गया था। सर हेनरी अब लड़ाई के लिए हर तरह से तैयार हो गया था।

लखनऊ के आसपास अयोध्या प्रांत के विद्रोही सिपाही और लड़ाकू लोग इकट्ठा होते जा रहे थे। उनकी और अंग्रेजों की भिड़ंत होने से पहले वे एक अलग ही दाँव की राह देख रहे थे। उधर कानपुर का घेरा पूरी रंगत पर होने से लखनऊ के अंग्रेज या आसपास के विद्रोही कोई भी कानपुर का अंतिम समाचार आने तक एक-दूसरे का सामना नहीं कर रहे थे। कानपुर की जय या पराजय पर हर पक्ष की भावी आशा या निराशा टिकी हुई थी। ''यदि कानपुर टिका रहा तो लखनऊ घेरा जाएगा या नहीं, यह शंका ही थी।'' सर हेनरी ने लॉर्ड केनिंग को आशंकित मन से यह १३ जून को सूचित किया था। २८ जून को लखनऊ समाचार मिला कि कानपुर में एक भी अंग्रेज जीवित नहीं बचा। विजय से उत्साहित होकर विद्रोही अंग्रेजों पर हमला करते चिनहट तक आ पहुँचे।

कानपुर में अंग्रेजों की इस भारी पराजय से अंग्रेजी सत्ता जड़ से डगमगाने लगी थी। इस पराजय का किसी भी तरह बदला लिये बिना न सिर्फ लखनऊ की रेसीडेंसी अपितु कलकत्ता के फोर्ट विलियम का जीवन भी सुरक्षित रहना कठिन है यह जानकर सर हेनरी लॉरेंस ने कानपुर का अपमान विद्रोहियों के रक्त से धो डालने का निश्चय किया। २९ जून को प्रात: ही अंग्रेजी सेना लोहा पुल के पास एकत्र हुई। कोई ४०० अंग्रेज सोल्जर, ४०० नेटिव राजनिष्ठ सिपाही और दस तोपों की चुनी हुई सेना लेकर सर हेनरी लखनऊ से निकला। चलते-चलते काफी आगे आ गया तो भी शत्रु दिखाई न दिया। परंतु अंत में शत्रु का सामना दिखने लगा। विद्रोहियों का सामना दिखते ही अपने दाएँ हाथ की ओर एक महत्त्व का गाँव जीत लेने का सर हेनरी ने नेटिव लश्कर को आदेश दिया। उसने हमला किया और वह मौके का गाँव इसमाइलगंज अंग्रेज सोल्जर ने अपने कब्जे में लिया। विद्रोहियों की तोपों पर भी अंग्रेजी तोपखाने के नेटिव और अंग्रेजी अधिकारियों ने इतने जोर की गोलाबारी की कि वे जल्द ही बंद पड़ने लगीं। चिनहट की लड़ाई मानो अंग्रेजों ने जीती। इतने में उस बाएँ बाजू के गाँव में छिपते-छिपते आकर विद्रोहियों ने प्रवेश कर लिया है यह समाचार उड़ा और अंग्रेज सोल्जरों पर एक बार फिर इतने जोर का

हमला हुआ कि उन्हें उस गाँव से भगाकर विद्रोहियों ने उसपर अपना कब्जा कर लिया और वहाँ से अंग्रेजों पर पीछे और मध्य पर बड़े वेग का हमला किया। अंग्रेज सोल्जर जैसे-जैसे हटते वैसे-वैसे विद्रोही उन्हें दबाते जाते। अंग्रेजी सेना उखड़ने लगी और अब खड़े रहे तो सारे मारे जाएँगे यह देखते ही सर हेनरी ने लौट जाने का बिगुल बजाया। लौटते हुए भी अंग्रेजों का उस दिन बुरा हाल होने लगा। क्योंकि चिनहट की जीत के बाद भी न रुकते विद्रोहियों ने अब अंग्रेजों के पीछे लड़ते हुए चलने का उपक्रम किया। अंग्रेजों की ओर से तोपखाने पर जो नेटिव थे अब वे लड़ने में टालमटोल करने लगे। परंतु शेष नेटिव घुड़सवार और पैदल सेना ने स्वयं अंग्रेजी सोल्जरों से भी अधिक शूरता से पिछाड़ी की रक्षा की। थोड़ी ही देर में पीछे हटना छोड़ भागना प्रारंभ हो गया। अंग्रेजी सेना हताश होकर अपने अपमान के साथ लखनऊ की ओर भाग खड़ी हुई। चार सौ सोल्जरों में से डेढ़ सौ सोल्जर उस दिन खेत रहे। नेटिव राजनिष्ठों की तो कोई गिनती नहीं। दो तोपें और एक बड़ी हाविट्जर अंग्रेजों ने मैदान में ही छोड़ दी। कानपुर का बदला भी उन्हें रणांगण में छोड़ना पड़ा। इस तरह मार खाते-खाते सर हेनरी लॉरेंस लखनऊ की रेसीडेंसी में घुस रहा था तब भी शत्रु उसके पीछे ही था। रेसीडेंसी की सुरक्षा के लिए रखी गई तोपों की सुरक्षा में जब अंग्रेजी राजनिष्ठ सिख-नेटिवों सहित आ गया तब चिनहट की लड़ाई समाप्त हुई।

परंतु उसका परिणाम अभी भी समाप्त नहीं हुआ था। अब रेसीडेंसी और मच्छी भवन इन दोनों स्थानों पर विद्रोहियों के शह दिए जाने से सर हेनरी ने मच्छी भवन भी छोड़ देने का निश्चय किया। उसमें संग्रह किए गए भरपूर गोला-बारूद के साथ वहाँ का शस्त्रागार आग लगाकर जला दिया गया। सारे अंग्रेज अब रेसीडेंसी में ही आ गए। रेसीडेंसी में सर हेनरी ने बहुत बढ़िया तैयारी, रसद, शस्त्रास्त्र, गोला-बारूद संग्रह कर रखा था। उस स्थान में अब करीब एक हजार यूरोपियन और आठ सौ नेटिव सिपाही थे जो बाहर इकट्ठा हो रहे विद्रोहियों का प्रतिकार करने के लिए सुसज्ज थे। चिनहट की लड़ाई हारने के बाद मच्छी भवन हाथ से छूटते ही अंग्रेजी योद्धाओं ने रेसीडेंसी पर लड़ने के लिए वहाँ उत्साह से जमाव किया है यह देखते ही विद्रोहियों ने उसे ही घेरना आरंभ किया।

इस तरह अयोध्या प्रांत से अंग्रेजी सत्ता भागते-भागते अंत में इस छोटी सी रेसीडेंसी में बंद कर दी गई थी।[१] शहर में अयोध्या के वाजिद अलीशाह के नाम से

---

१. रेड पैम्फलेट के सुप्रसिद्ध लेखक ने लिखा है—"संपूर्ण अवध प्रांत हमारे विरुद्ध हथियार लेकर खड़ा हो गया था। स्थायी सेना के सैनिक मात्र ही नहीं, भूतपूर्व शासक के साठ हजार सिपाही,

उसकी बेगम राज्य चलाने लगी। लखनऊ के घेराव में अंग्रेजों से लड़ने के लिए अनेक शूर नेता अपने-अपने अनुयायियों के साथ उधर आने लगे। जिन्होंने अंग्रेजों को शरणागत और अनाथ अवस्था में भागते हुए जीवनदान दिया था वे सारे जमींदार, जागीरदार और राजा इस समय अपनी उदारता झटककर स्वदेश की मुक्ति के लिए लखनऊ की ओर आने लगे। राजा मानसिंह, अन्य सरदार और अहमदशाह के साथ सारे मुसलमान सरदार हाथों में हाथ थामे अंग्रेजी झंडे पर टूट पड़े। राजा हनुमंत सिंह शरण आए हुए अंग्रेजों को विद्रोहियों से बचाने में जितना बढ़-चढ़ कर प्रयास कर रहा था उतनी ही प्रमुखता से अब स्वदेश मुक्ति के लिए विद्रोहियों के साथ कंधा भिड़ाकर लड़ने लगा।

□

जमींदार तथा उनके सिपाही और दो सौ पचास दुर्ग, जिनमें से अनेक बड़ी-बड़ी तोपों से सुरक्षित थे, हमारे विरुद्ध हो गए थे। ईस्ट इंडिया कंपनी के राज्य की तुलना जनसाधारण ने अपने पुराने शासकों के शासन के साथ की और लगभग सर्वसम्मति से ही उन्होंने अपने पुराने शासकों के पक्ष में अपना मत व्यक्त किया। जिन लोगों को सेना से पैंशन प्रदान कर दी गई थी, ऐसे सेवा-निवृत्त सैनिक प्रकट रूप से ही हमारी भर्त्सना करते हुए विद्रोह में सम्मिलित हो गए हैं।''

प्रकरण–१०

संकलन

दिल्ली, कानपुर, लखनऊ, बरेली आदि मृतप्राय: हुए राजसिंहासनों में फिर से स्वतंत्रता के पवन का संचार करनेवाले इस अद्‌भुत क्रांति विस्फोट का कुछ एक अंशों में जीवित रहीं अन्य रियासतों पर क्या और कितना प्रभाव हुआ?

सन् १८५७ के वर्ष में लोक-मन को यह ज्ञात हो चुका था कि अपने देश पर जब तक विदेशी शासन है तब तक विलुप्त हुई रियासतें जितनी मृतवत् हैं उतनी ही बची हुई रियासतें भी मृतवत् हैं। इस पवित्रतम और महत्तम ध्येय से चैतन्य हुआ हिंदुस्थानी जन-सागर किसी विशेष रंक या राजा के लिए नहीं उफना था। व्यक्ति—रंक या राजा—जीए या मरे, देश या राज्य न मरे, मरने नहीं देना है। गुलामी के काल पाश को तोड़कर देश में स्वतंत्रता स्थापित करो, फिर उस लोक हेतु की प्राप्ति के लिए चाहे जितनी झोंपड़ियाँ और सिंहासनों की राख के ढेर पर से चलना पड़े, ऐसे लोक पद का रण-घंटा घनघनाया! एक राजा—जो देश को स्वतंत्रता दिलाए वह! अन्य सारे राजा—जो हो बात बराबर!

इसलिए ग्वालियर, इंदौर, राजपूताना, भरतपुर आदि अपना प्राण बचाए जी रही रियासतों के लोकमन को संपूर्ण स्वतंत्र प्रदेश की तरह ही क्रांति समर की चेतना हुई थी। अपना राजा और अपनी रियासत बनी है तो फिर दूसरों के लिए संकट क्यों लिया जाए, यह अमंगल विचार किसीको छू नहीं सका। पराया? एक माता के एक पुत्र को दूसरा पुत्र पराया? सन् १८५७ है। अब सारी भारत माता एक—पराएपन की सीमा उसकी सीमा के बाहर।

तो ग्वालियर के सिंधिया, अब आप हमें अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ने का आदेश दें। केवल आदेश नहीं आप हमारे नेता बनें। रणांगण में स्वदेश और स्वधर्म के मंत्र की गर्जना करें और महादजी का अपूर्ण हेतु पूर्ण करने रण-मैदान की ओर

ससैन्य चलें। सारा देश एक जयाजी के शब्द पर अवलंबित है। आप युद्ध करें तो आगरा धराशायी हो जाए, दिल्ली खुल जाए, दक्षिण घन-गर्जना करता उठे, शत्रु देश पार हो! देश स्वतंत्र हो जाए और आप उसके स्वतंत्रतादाता। द्विदश करोड़ लोगों का जीना एक जीभ के हिलने पर अवलंबित है। ऐसा अवसर विश्व में कभी आया नहीं था।

पर सिंधिया की जीभ पहले तो बिलकुल हिली ही नहीं और जब हिली तब 'युद्ध' कहने की जगह उसने 'मित्रता' कहा। सिंधिया की मित्रता देश के लिए नहीं, अंग्रेजों को बचाने के लिए यह देखते हुए कि सिंधिया युद्ध नहीं चाहते तो भी हम युद्ध करेंगे, देश माता को मुक्त करने तू नहीं चल रहा तो तेरे बिना, तेरे विरुद्ध हम दौड़ेंगे और उसे मुक्त करेंगे। आज १४ जून, रविवार है। आज तक हमने सिंधिया की राह देखी। आज रविवार को केवल सूर्यनारायण की राह देखेंगे। सूर्यास्त होते ही हर-हर महादेव! उस गाड़ी में बैठा कौन जा रहा है? कूपलैंड, मेम साहब! खबरदार किसीने उसे सलाम किया तो! गोरे को सलाम? आज जून की १४ तारीख को? इस गोरे को ही क्या आगे स्वयं ब्रिगेडियर साहब आ रहा है, परंतु कोई भी सिर या हाथ न हिलाए। ब्रिगेडियर? किसने बनाया इसे ब्रिगेडियर? प्रासाद शिखरस्थोऽपि काको न गरूडायते, अत: अपनी टोली उस ब्रिगेडियर की छाती पर से छाती तानकर चलाओ![१] और ग्वालियर कांटिंजेंट के सिपाही बिग्रेडियर को सलाम न करते आगे निकल गए। हृदय गुहा में जाग्रत हुए आर्यत्व का सिंह अब आभिजात्य के ऐसे खेल खेलने लगा। फिर भी शाम तक कोई गड़बड़ी न करे। शाम हुई और एक बँगले को आग लगी। लो अब आ गया गड़बड़ी करने का सही समय! अरे तोपखाने, तू विद्रोह कर, पैदलो चलो—एक हाथ में जलती मशाल की लपटें और दूसरे हाथ में चमचमाती तलवार लेकर दौड़ो भूत जैसे चिल्लाते, दस दिशाओं को। जो-जो रास्ते में दिखाई दे—उसका रंग देखो, काला हो तो प्रेम से मिलो, गोरा हो तो चलाओ तलवार गले पर! मारो फिरंगी को। क्या घर में छिप गया? लगाओ घर में आग। घर जलते ही आएगा बाहर चटपट। देखो कौन है? गोरा? काटो उसका सिर! ये कौन—गोरी! "मत मारो, मत मारो!" जा दिया प्राणदान हम मेमसाब को नहीं मारेंगे। उस भयानक भूत का नाच चल रहा है जोर-जोर से। ग्वालियर के सिंधिया के राजमहल में भी कोई गोरा बचा न रहे। सारे गोरों को सिंधिया के राज्य के बाहर आगरा भगा दिया। गोरी महिलाओं को इकट्ठी कर कैद कर लिया। पर उनसे कुछ भी बात न की जाय यह ठीक नहीं है। धूप से

---

१. श्रीमती कूपलैंड द्वारा लिखित—'नैरेटिव्स'।

तिलमिलाती यह औरत सामने है। उससे बात करना चालू करें, आओ। एक नौकर इसीलिए उससे पूछता है—"क्यों मेम साहब, तुम्हें यहाँ की धूप कितनी अच्छी लगती है? अब तो खूब जलन हो रही है न? तुम अपने ठंडे देश में रही होतीं तो इस देश की धूप में क्यों जलना पड़ता?" इस महिला को आँखें मटकाते हुए व्यंग्य भरा, Devilish उपदेश देकर अब दूसरी महिला! देखें उसे यह क्या कहती है? "क्या आपको आगरा भेजें? आगरा? आगरे में तो तुम्हारे सारे गोरे पुरुष मारे गए। और अब आगरा दिल्ली के बादशाह के अधीन है। जाएँगी उधर?" और वे खिलखिलाते हँसने लगे। सिंधिया को एक बेजान गुड़िया जैसा बनाकर ग्वालियर की कांटिंजेंट सेना ने विद्रोह किया। अंग्रेजों का रक्त तबीयत से बहाया। गोरी महिलाओं, गोरे झंडे और गोरी सत्ता को ग्वालियर रियासत के बाहर भगाकर, ग्वालियर रियासत पूर्ण स्वतंत्र करके वे सिंधिया को आदेश देने लगे कि अब हिंदुस्थान देश स्वतंत्र करने के लिए, कानपुर और दिल्ली की ओर सेना सहित तू हमारा सेनापति बनकर निकल।"[१] सिंधिया ने उन्हें आज निकलता हूँ, कल निकलूँगा ऐसी गपों में उलझाकर और कुछ दिन चुप रखा। तात्या टोपे गुप्त रूप से ग्वालियर आया और उसके द्वारा इस भुलावे से सिंधिया की फौज को निकालने तक सिंधिया की सेना ऐसी ही निश्चल रही इसीलिए अभी आगरा के अंग्रेजों की जान में जान है। क्योंकि आगरा के वायव्य प्रदेश का मुख्य लेफ्टिनेंट गवर्नर सर कोलविन हर पल मृत्यु के आगमन की राह देखते काँपता खड़ा हुआ था। मेरठ के विद्रोह से प्रभावित सिपाहियों को उसने राजनिष्ठा पर एक व्याख्यान दिया था और माफीनामे की घोषणा भी की थी। माफीनामा! उससे माफी माँगने आगे आनेवाला, ऐसा एक भी गरीब सिपाही उसे नहीं मिला। इतना ही नहीं उसके माफीनामे के उत्तर में उन्होंने ५ जुलाई को आगरा पर हमला किया। नसीराबाद और नीमच की विद्रोही रेजिमेंट आगरा पर आक्रमण करने गई है तो करौली और भरतपुर रियासतों की

---

१. "उसके (शिंदे) के लिए अपने खोए हुए राज्य को पुनः प्राप्त कर लेने का यही सुअवसर था। वह यदि विद्रोहियों का प्रस्ताव मान लेता तो अंग्रेजों से प्रतिकार ले सकता था। यदि वह विद्रोहियों का नेतृत्व स्वीकार कर अपने सिद्धहस्त सैनिकों के साथ चल पड़ता तो हमारे (अंग्रेजों) के लिए इसका परिणाम नितांत ही भयावह होता। इसके कम-से-कम बीस हजार सैनिक थे, जिनमें से आधे के लगभग ने अंग्रेजों से पूर्ण सैनिक शिक्षा प्राप्त की थी। वे हमारे (अंग्रेजों) के कच्चे मोरचों पर टूट पड़ते। आगरा और लखनऊ से हम सर्वदा के लिए हाथ धो बैठते। प्रयाग के दुर्ग में ही हेवलॉक बंद हो जाता और या तो वह किला घेरा जाता अथवा उसे अलग छोड़ते हुए विद्रोही काशी होकर कलकत्ता पहुँच जाते।"
—रेड पैम्फलेट, पृष्ठ १९४

सेनाएँ उनपर भेज दो। उन रियासतों द्वारा भेजी गई सेना ने अंग्रेजों से कहा— "हमारी रियासत का आदेश है इसलिए आपके विरुद्ध विद्रोह नहीं किया, लेकिन हम अपने स्वदेश बंधुओं पर हथियार बिलकुल नहीं उठाएँगे।" कोटा की कांटिंजेंट सेना ने तो विद्रोह किया ही। यह धोखा हुआ। नेटिव रियासत राजनिष्ठ पर उनका लोकमत और सेना—सब स्वदेश बंधुओं पर हथियार उठाने को तैयार नहीं। तब शेष बची गोरी सेना के साथ ब्रिगेडियर पॉलवल आगरे पर चढ़े आ रहे विद्रोहियों से लड़ने चल पड़ा। सिसीआ में दोनों पक्ष दिन भर एक-दूसरे से भिड़े रहे। अंत में विद्रोहियों की मार के आगे टिके रहना अंग्रजों को कठिन हो गया और अंग्रेजी सेना पीछे लौट पड़ी। यह देखते ही विजयानंद से उत्साहित विद्रोही उन्हें पीठ पर मारते-कूटते आगे बढ़े। आगरा में वह पराभूत अंग्रेजी सेना घुसते ही और उनके पीछे विद्रोहियों की विजय ध्वनि सुनकर आगरा को, जो अवसर वह चाहता था, मिल गया। यह ६ जुलाई का दिन था। आगरा विद्रोह कर उठा और उसकी अगुवाई का जिम्मा पुलिस ने लिया। ये सारे पुलिसवाले पहले ही गुप्त रूप से तैयार थे। उनका, नागरिकों का, धर्मनिष्ठ हिंदुओं और मुसलमानों का एक विशाल जुलूस निकला। शहर कोतवाल और पुलिस अधिकारी उस जुलूस के आगे-आगे चले, उन्होंने स्वधर्म और स्वराज्य की जय-जयकार करते हुए घोषणा की कि फिरंगी राज्य समाप्त हो गया है और दिल्ली का बादशाह हमारा राजा हो गया है।

इस तरह आगरा स्वतंत्र होते ही अंग्रेजों के साथ पराजय और अपमान से क्षुब्ध, चिंताग्रस्त सर कोलविन किले में जाकर बैठ गया। उसे अब एक ही डर था कि शिंदे क्या करता है? शिंदे विद्रोहियों से मिल गया, केवल इतने समाचार भर से वह प्रचंड किला विद्रोहियों के हाथ लग जाता। परंतु सिंधिया विरुद्ध नहीं है—यह उसके द्वारा भेजे जानेवाले पत्रों और रसद से स्पष्ट होते ही आगरे के अंग्रेजी झंडे में जान आ गई। परंतु उस झंडे के भार से कोलविन ९ सितंबर, १८५७ को मर गया और अंग्रेजी राज्यसत्ता को दुःखी छोड़ गया।

ग्वालियर में हुई लोकपद की इस क्रांतिचेतना का इंदौर में भी ऐसा ही भयानक विस्फोट हुआ। इंदौर के पास स्थित महू छावनी की सारी सेना और इंदौर की राज्यसत्ता का गुप्त व्यवहार निरंतर चालू था और विद्रोह का विचार भी इसीसे बना। १ जुलाई को इंदौर दरबार के एक मुसलमान सरदार सादत खान ने रेसीडेंसी के फिरंगियों पर टूट पड़ने का सेना को आदेश दिया। महाराज की मुझे यही आज्ञा है ऐसा भी उसने कहा। पर इस कथन की जिसे कोई आवश्यकता नहीं थी, उस इंदौरी सेना ने विद्रोह का झंडा तत्काल खड़ा किया और रेसीडेंसी पर तोपों के साथ हमला कर दिया। रेसीडेंसी की नेटिव सेना! ने अंग्रेजों की ओर से स्वदेश बंधुओं पर

गोली चलाने से मना कर दिया। अंग्रेज बलहीन हो गए। उन्होंने चुपचाप अपनी गठरी बाँधी और इंदौर से जान बचाकर भाग खड़े हुए। उनकी प्राणरक्षा की जिम्मेदारी उनकी नेटिव सेना ने ली हुई थी और इस तरह अंत तक उन्होंने उनकी सुरक्षा की। महाराज होलकर अंग्रेजों के अनुकूल थे या प्रतिकूल? यह सिद्ध करने का प्रयास अंग्रेज ग्रंथकार बहुत करते हैं, परंतु सन् १८५७ की स्थिति और सन् १८५७ का इतिहास थोड़ी गहराई से देखनेवाले को यह तुरंत समझ में आ जाएगा कि अधिकतर नेटिव रियासतों ने उस क्रांति में ऐसा संशय का व्यवहार जान-बूझकर किया था। मनुष्य के हृदय में प्राकृतिक रूप से बैठी स्वतंत्रता की इच्छा उनमें मनुष्यता के साथ ही थी। अत: उन्होंने क्रांति की विजय होने पर भी अपना हित सुरक्षित रहे, इसलिए पूरी तरह अंग्रेजों का साथ नहीं दिया और परिणाम उलटा हो जाए तो भी हित बना रहे इसलिए पूरी तरह क्रांति का भी साथ न देने का दाँव चलाया था। लोग और सेना अपनी रेसीडेंसी से अंग्रेजों को भगा देना चाहते हैं तो उन्हें वैसा करने दिया जाए, जिससे राज्य स्वतंत्र हो जाए, परंतु इधर अंग्रेजों से मित्रता की बातचीत चालू रहे, जिससे उनकी जीत हो तो भी जो था वह तो न जाए। कच्छ, ग्वालियर, इंदौर, बुंदेला, राजपूताना आदि अधिकतर रियासतों का यह व्यवहार दिखाई देता है। इस स्वार्थी व्यवहार से ही क्रांति का नाश हुआ। उन्होंने 'स्वतंत्रता या मृत्यु'—ऐसी करारी गर्जना की होती तो स्वतंत्रता मिलती ही। स्वतंत्रता और स्वार्थ ऐसी आधी कच्ची, उदात्तानुदात्त, ऊपर-नीचे लुकाछुपी करने से सारा शुभत्व विफल हुआ और अशुभ का दर्शन हुआ। स्वदेश से उन्होंने पटियाला आदि रियासतों जैसा द्रोह नहीं किया—परंतु यह अप्रत्यक्ष द्रोह किया कि केवल स्वतंत्रता के शुभ अस्तित्व की आशा में स्वार्थ का अशुभ भाव मन में रखा। इसीलिए वह सिपाहियों का विद्रोह विफल और देश पराजित हुआ।

राज आचरण की इस शुभ-अशुभता ने या अशुभ-शुभता ने लोक आचरण को स्पर्श नहीं किया और इस लोकवर्तन के तेजस्वी आघात से ही पेशावर से कलकत्ता तक रक्त की बरसात हुई। प्रचंड आग जली, ज्वालामुखी की भयंकर ध्वनि के कारण अंग्रेजी सत्ता-मंदिर गिरकर ध्वस्त हो गया।[1]

---

१. जहाँ भी भारतीय नरेशों ने क्रांति में योगदान देने में संकोच किया, उनकी प्रजा पर से उनका नियंत्रण हट गया। प्रजा अपने राजा का जुआ भी उतारकर फेंक देने को संकल्पबद्ध हो गई। प्रजा की इस विचित्र मानसिक दशा को देखकर ही मैलसन ने कहा था—''ग्वालियर और इंदौर के समान ही यहाँ भी यह परिलक्षित हुआ कि जब पूरब के लोगों को धर्मभावना पूर्णत: उभार दी जाती है तो उनका स्वामी उनका राजा भी, जिसे वे पिता तुल्य ही नहीं प्रभु का अंश भी मानते हैं,

परंतु यह ऐसा प्रलयी धक्का होगा इसकी कलकत्ता और इंग्लैंड को कैसी अपूर्ण कल्पना थी। मेरठ के समाचार से पहले सरकार के विचार से हिंदुस्थान में पूर्ण शांति का राज था। यह छोड़ें, मेरठ में विस्फोट के बाद दिल्ली में नए साम्राज्य की घोषणा हुई, इस विस्फोट का अर्थ कलकत्ता की समझ में नहीं आया था। मेरठ के १० मई के विस्फोट से ३१ मई के सार्वजनिक विस्फोट तक विद्रोह की लहर कहीं चली ही नहीं यह देखकर हिंदुस्थान में कहीं भी गड़बड़ी नहीं है, यही कल्पना कलकत्ता के सिर में मजबूती से बनी रही। २५ मई को होम सेक्रेटरी ने खुले रूप में घोषित किया—''कलकत्ता से ६०० मील की दूरी तक हर स्थान पर पूरी शांति है। बीच में लगा क्षण भर का विरल संकट अब नष्ट हो गया है और 'थोड़े ही दिनों' में सब ओर शांति और निर्भयता होगी ऐसी आशा है।''

ये थोड़े दिन भी बीत गए, ३१ मई आ गई। इधर-उधर शांति और निर्भयता दिखने लगी। लखनऊ की रेसीडेंसी के चारों ओर कानपुर के मैदान में, झाँसी के झोकन बाग में, इलाहाबाद के बाजार में, बनारस के घाट पर, सब ओर शांति और निर्भयता। तारयंत्र के राई-राई से टुकड़े, रेलगाड़ियाँ, लोहे की पटरियाँ और रेल के पुल टूटे-फूटे धूल में मिले हुए, हर नदी में यूरोपियनों के शव बहते हुए, रास्ते-रास्ते में रक्त के ताल-तलैया सब ओर शांति और निर्भयता।

तब कलकत्ता का मोहभंग हुआ। १२ जून को सारे यूरोपियन नागरिकों ने स्वयंसेवकों की टोलियाँ बनाना चालू किया। यूरोपियन दुकानदार, बाबू, लेखक असैनिक अधिकारी आदि सारे गोरों को लश्कर में भरती कर उनको कवायद सिखाना शुरू किया गया। तीन हफ्ते के अंदर नूतन शिक्षित स्वयंसेवकों की एक ब्रिगेड तैयार हो गई। घुड़सवार, पैदल और तोपखाना आदि की सहायता और शक्ति से कलकत्ता शहर की सुरक्षा करने की पूरी शक्ति आ जाने से उन्हें वह काम दिया गया और वहाँ के लश्करी यूरोपियन सोल्जरों को बाहर विद्रोह के स्थानों पर भेजने की सुविधा सरकार को मिली।

तारीख १३ जून को लॉर्ड केनिंग ने स्वयं विधान परिषद् जाकर नेटिव पत्रकारों के विरुद्ध एक बहुत कठोर और भयानक विधेयक पारित करा लिया। क्योंकि विद्रोह शुरू होते ही बंगाल के नेटिव पत्र खुलेआम विद्रोहियों की सहानुभूति

वह भी उन्हें उनकी श्रद्धा के विरुद्ध झुका पाने में सफल नहीं हो पाता। जयपुर तथा जोधपुर नरेश की सेनाओं ने अपने देश-बांधवों के विरुद्ध संघर्ष करने से स्पष्ट शब्दों में इनकार कर दिया था। वे अपने राजाओं के आदेश पर भी ऐसा करने को तैयार नहीं हुए।''

मैलसन कृत—'इंडियन म्युटिनी', खंड ३, पृष्ठ १७२

में उत्साहवर्धक लेख लिखने लग गए थे।

तारीख १४ जून, रविवार के दिन कलकत्ता में शांति और निर्भयता का वास्तविक महोत्सव मनाया गया। उस दिन का वर्णन अंग्रेजी लेखक ही करें। ''जहाँ-तहाँ भय, दहशत, आपाधापी और भागम-भाग। बहुत विचित्र समाचार! सबको यह विश्वास हो गया कि बैरकपुर के सिपाही कलकत्ता पर आक्रमण करने आ रहे हैं। रास्ते के सारे गाँववाले विद्रोहियों से मिल रहे हैं, अयोध्या का नवाब और उसके अनुयायी गार्डन रीच के बगीचों में चाकू चलाते घूम रहे हैं। जो मुख्य अधिकारी थे वे ही सबसे अधिक घबराए हुए थे, सरकार के सेक्रेटरी कौंसिल के सदस्यों की ओर भाग रहे हैं, पिस्तौल भर रहे हैं। हर दरवाजे के पीछे कबाड़ खड़ा कर रहे हैं। कौंसिल के सदस्य परिवार के साथ घरबार छोड़कर भाग रहे हैं। जहाजों पर चढ़कर जान बचा रहे हैं। उनसे निचले दरजे के अधिकारी भी वरिष्ठ जनों की राह पकड़कर अपनी-अपनी मूल्यवान चीजें इकट्ठा कर किले में घुसकर तोपों के आश्रय में शरण पाने की भिक्षा माँगने लगे। गोरे लोग घोड़ों, गाड़ियों, पालकियों, हर तरह और प्रकार के वाहनों में भर-भरकर जान बचाने के लिए इधर-उधर भाग रहे थे। शहर के बाहर का हर ईसाई घर खुला पड़ा था। आधा दर्जन निश्चयी धर्मांध रहे होते तो शहर का तीन चौथाई भाग जलाकर राख कर देते।''[१]

अंग्रेज सरकार की राजधानी में केवल एक बाजारू गप से इतनी 'शांति और निर्भयता' व्याप्त हो गई। उस शांति-निर्भयता के उत्पादक बैरकपुर के सिपाहियों और कलकत्ता में रह रहे अयोध्या के नवाब के वजीर अली नक्की खान का उच्चाटन करने के लिए सरकार ने कमर कसी। १४ जून की रात को बैरकपुर के सिपाही विद्रोह करेंगे—यह समाचार उन्हींमें से एक के द्वारा मिलने पर १४ जून को विद्रोह होने के पूर्व ही उनको तोपखाने के सामने लाकर निःशस्त्र किया गया और १५ जून को अयोध्या के नवाब और उसके वजीर को तत्काल जाकर 'राष्य की सुरक्षा' के लिए पकड़ा गया। उनके जनानखाने से लेकर सारी जगहों की छानबीन की गई, पर उसमें कुछ भी सबूत नहीं मिला। फिर भी नवाब और उसके वजीर को कलकत्ता के किले में कैद कर दिया गया। इस तरह कलकत्ता शहर में जमा हो रहा बारूद का भंडार चिनगारी पड़ने से पहले ही खाली कर दिया गया।

बंगाल प्रदेश भर सिपाहियों में क्रांति रचना की गुप्त तैयारी करनेवाला और कलकत्ता के एक निरुपद्रवी बाग में बैठकर अयोध्या के राजसिंहासन को पुनः स्थापित करने के लिए इस विद्रोह का भयानक जाल बुननेवाले वजीर नक्की खान

---

१. रेड पैम्फलेट, पृष्ठ १०५।

के किले में कैद होते ही बंगाल प्रांत की क्रांति का मानो सिर ही कट गया। किले में बंद होकर विद्रोहियों को गाली देनेवाले अंग्रेजों को वजीर ने एक बार साफ-साफ ही सुनाया—''हिंदुस्थान में रचा गया यह भयानक विद्रोह मेरी दृष्टि से न्यायिक है, अयोध्या की स्वतंत्रता छीनने का यह जैसे-को-तैसा प्रतिशोध है। न्याय का राजमार्ग छोड़कर तुम धोखे और स्वार्थ के कँटीले रास्ते पर जान-बूझकर घुसे हो तो लहू-लुहान होने लगो तो इसमें आश्चर्य क्या है? प्रतिशोध के बीज बोए—तब तुम हँस रहे थे, अब उसकी फसल पक गई है—तो उसका दोष लोगों पर क्यों डालते हो?''[१]

यदि कलकत्ता को सन् १८५७ के इस अति उग्र विद्रोह की ऐसी अधूरी, धुँधली और अस्पष्ट कल्पना थी तो कलकत्ता से आनेवाली डाक रिपोर्ट पर पूरी तरह अवलंबित इंग्लैंड देश की कल्पना पहले कितनी अज्ञानजनक सुरक्षा में सोई होगी और बाद में एकाएक ज्ञात होने पर कैसे भूतबाधाग्रस्त बौराई सी हो गई होगी, इसकी सहज कल्पना की जा सकती है। पार्लियामेंट में बैरकपुर, रामपुर, दमदम आदि से विद्रोह के समाचार आने के बाद हिंदुस्थान की ओर सबकी आँखें लग गई थीं। परंतु मध्यांतर में कुछ भी महत्त्वपूर्ण समाचार ज्ञात न होने से फिर से सबको सुरक्षित लगने लगा। तारीख ११ जून को पार्लियामेंट में हाउस ऑफ कॉमंस में कुछ सदस्यों के पूछे प्रश्नों पर प्रेसीडेंट बोर्ड ऑफ कॉमर्स के प्रमुख अधिकारी ने कहा—''बंगाल में हाल में घटित असंतोष से लोगों को घबराने का अब कोई कारण नहीं रह गया है। क्योंकि अपने आदरणीय और अभिजात मित्र लॉर्ड केनिंग द्वारा दरसाई गई तत्परता, कड़ाई और तुरत-फुरत कार्यवाही से सेना में देखे गए असंतोष के बीज पूरी तरह नष्ट हो गए हैं (Have been completely put an end to)। ये वाक्य पार्लियामेंट ने ११ जून को सुने। ११ जून! इसी समय हिंदुस्थान में घुड़सवारों की ११ रेजिमेंट, तोपखाने की ५ फील्ड बैटरियाँ, पैदल सेना के कम-से-कम पचास रेजिमेंट और करीब सारे सेपर्स और माइनर्स ने खुला विद्रोह किया हुआ था। पूरी अयोध्या विद्रोहियों के हाथ में थी। कानपुर और लखनऊ दोनों शहर घिरे हुए थे। सरकार के खजाने से एक करोड़ रुपए से अधिक की राशि विद्रोहियों के हाथ लग गई थी। जिस क्षण पार्लियामेंट में लॉर्ड केनिंग द्वारा दरसाई तत्परता, कड़ाई, और तुरत-फुरत कार्यवाही से सेना में देखे गए असंतोष के बीज "Have been completely put an end to !" आगे फिर जल्दी ही उन विषैले बीजों की अकल्पित बाढ़ ने इंग्लैंड की मध्य रात्रि में भी नींद हराम कर दी। फिर भी कानपुर का अधूरा समाचार आते ही अत्यंत दुःखी, भयग्रस्त एवं संक्षुब्ध अंग्रेजी

१. रेड पैम्फलेट, पृष्ठ १०६।

जनता ने पार्लियामेंट में जब प्रश्न पूछे कि क्या कानपुर का समाचार सच है? तब अर्ल ग्रैनविल नामक सरदार ने उत्तर दिया कि सेना प्रमुख सर पैट्रिक ग्रांट ने मुझे पत्र भेजा है कि कानपुर की मार-काट का वह समाचार पूरी तरह असत्य है केवल Vile fabrication है। एक सिपाही ने वह गप पहले बाजार में उड़ाई और उसकी उस नीचता का विस्फोट हो गया है। इस भयंकर अफवाह के लिए उसे फाँसी पर भी चढ़ा दिया गया।[१] पार्लियामेंट सभा के हाउस ऑफ लॉर्ड्स में भी कानपुर के कत्लेआम की बात नर रक्त की मसि से नर मांस पत्र पर घिनौने अक्षरों से खोदने में पूरा एक माह उलट गया। हाउस ऑफ लॉर्ड्स की सभा में इस अफवाह को उसके उस काल्पनिक उत्पादक सिपाही के साथ ही फाँसी पर चढ़ाकर अंग्रेजी कूटनीतिज्ञ थोड़े आराम से साँस ले पाए थे कि इंग्लैंड के किनारे पर वह वास्तविकता आकर लग गई और सारा इंग्लैंड देश दुःख, गुस्से, अभिमान-भंग से बेहोश, पागल होकर पैर पटक-पटककर नाचने लगा। उसका वह पैर पटकना अभी तक चालू है। विद्रोह में विद्रोहियों के किए कत्लेआम ने मनुष्य जाति के निर्मल यश पर पक्की आसुरी कालिमा चढ़ा दी, यह उनका गुस्से में कहना—उनके लिखे इतिहास की पंक्ति-पंक्ति से वे चीखें आज तक जोर-जोर से सुनाई दे रही हैं। और उन चीखों के अखंड हल्ले-गुल्ले से विश्व के कान के परदे हमेशा के लिए फट गए। सन् १८५७ का नाम लेते ही उनके शरीर पर भय से काँटे और मुँह पर लज्जा की छाया आ जाती है। विद्रोहियों के नाम का उल्लेख उनके शत्रुओं को ही नहीं, पगले अनजानों को ही नहीं—जिसके लिए उन विद्रोहियों ने रक्त बहाया, उन अपनों को भी त्याज्य लगता है, निंद्य लगता है, पापकारक लगता है। उनके शत्रु उन्हें राक्षस, पिशाच, रक्तप्रिय, नरक के कीड़े कहते हैं। उनके अनजाने उन्हें अमानुष, जंगली, अघोरी कहते हैं और जिन्हें देशबंधु अपना कहने से भी कतराते हैं! ऐसा भयानक हल्ला जहाँ-तहाँ आज तक चल रहा है। और आगे सत्य का स्वर सुनने की श्रवण क्षमता ही न रहे, इसके लिए विश्व की श्रमण क्षमता के कान इस अखंड हल्ले-गुल्ले से फोड़ दिए गए हैं। विद्रोही राक्षस हैं, बाल हत्यारे हैं, रक्तप्रिय हैं, नरक कृमि हैं, अमानुष हैं—खबरदार, विश्व यदि दूसरा कुछ सुने तो!

क्योंकि? क्योंकि विद्रोहियों ने स्वदेश के लिए और स्वधर्म के लिए हम अंग्रेजों के विरुद्ध शस्त्र उठाया और 'प्रतिशोध-प्रतिशोध' की गर्जना करते हुए हमारा कत्लेआम किया।

कत्लेआम भयंकर पाप है। मनुष्य जाति अंतिम सौंदर्य ईश्वर के अवतार

---

१. चार्ल्स बॉल, खंड १।

द्वारा, देवदूतों द्वारा और धर्मगुरुओं द्वारा प्रवर्तित अति उच्च भविष्य जब वर्तमान होकर जिस समय न्यायावस्था में जा पहुँचेगा, जब सत्य के पहले 'अ' निषेध-प्रत्यय कभी नहीं लगाया जाएगा और जब एक गाल पर मारने पर दूसरा गाल आगे कर, ऐसे यीशू के शांतिबोध को, पहले गाल पर मारनेवाला कोई न बचने के कारण, असंभवता आ जाएगी, उस आदर्श दैवी युग में यदि किसीने विद्रोह किया, यदि किसीने रक्त बिंदु गिराया और यदि किसीने प्रतिशोध शब्द का उच्चारण किया तो तत्काल उस कृति के कारण और उस उच्चारण से वह पापी अधमत्व को प्राप्त होगा। क्योंकि जहाँ-तहाँ सत्य का राज्य हर हृदय में समाया होने पर 'विद्रोह' पाप ही होगा। इधर-उधर अहिंसा की समता हर हृदय में दृष्टिगोचर हो रही हो तो रक्त बिंदु गिराना पाप ही होगा और इधर-उधर न्याय के चंद्र प्रकाश में हृदय में शीतलता व्याप्त होने पर 'प्रतिशोध' शब्द का उच्चारण पाप ही होगा। ऐसे अबाधित न्यायकाल में ऐसा अन्यायमूलक उच्चारण, सुनते ही किसी तरह की जाँच किए बिना उस उच्चारण से ही उस कार्य को अधमत्व का दंड देना पूरी तरह अदूषणीय है।

परंतु वह दैवी युग जब तक आया नहीं है, जब तक उस परम मंगल साध्य का अस्तित्व केवल किसी सत्कवि की प्रतिभा और ईश्वर प्रेषितों के भविष्य में ही विद्यमान है, और जब तक वह न्यायकभाजन अवस्था प्राप्ति संभव करने के लिए उसकी विरोधी अन्यायमूलक प्रवृत्ति का निर्मूलन करने में मानवी मन लगा हुआ है तब तक विप्लव, विद्रोह, रक्तपात और प्रतिशोध आदि शब्द केवल अधमता के अधिकारी नहीं होंगे। राज्य शब्द जब तक न्यायमूलक दोनों सत्ताओं के लिए मान्य है तब तक तद्‌विरोधक विप्लव, विद्रोह शब्द भी जैसे अन्यायमूलक वैसे ही न्यायमूलक भी हो सकेगा और तब तक विप्लव, रक्तपात और प्रतिशोध आदि के कथानकों और कथानायकों के—दंड के पूर्व तत्काल विवरणात्मक जाँच होनी ही चाहिए। विप्लव, रक्तपात और प्रतिशोध के कृत्य जैसे स्वयमेव अन्याय स्वरूप हैं वैसे ही वह कभी-कभी न्याय के संवर्धन के लिए प्रकृति द्वारा उत्पन्न न्यायिक शस्त्र भी हैं। और जब इन भयंकर साधनों से न्यायमूर्ति—'शत्रुरुधिरदग्धपाणिमुख विकट प्रकट भैरवी'—ऐसी हो जानी है तब-तब उस भयंकरता का दोष उस न्यायमूर्ति का न होकर जिस मदमत्त के कारण वह क्रूर अवसर आया है उस प्रबल अन्याय पर ही वह आरोपित होता है, इसलिए फाँसी का दंड देनेवाला न्यायाधीश रक्तपात का उत्तरदायी न होकर फाँसी पर जानेवाला अन्याय ही उस पाप का उत्तरदायी होता है। इसीलिए ब्रूटस का खंजर पवित्र है। इसीलिए शिवाजी के बघनखे पुण्यपावन हैं। इसीलिए इटली की राज्य क्रांति का रक्तपात यशोधवल है। इसलिए चार्ल्स प्रथम का खून वध है। इसीलिए विलियम टेल का तीर प्रेम है। और उन सब कृत्यों की

भयंकरता का अघोर पाप—उसके अधिकारी अन्याय के सिर पर वज्राघात जैसा पड़नेवाला है।

और यदि विद्रोह, रक्तपात और प्रतिशोध का डर नहीं होता तो आज अत्याचार और अन्याय के अप्रतिहत भयंकर तांडव से यह वसुंधरा थर्राती रहती। जल्दी या देर से, परंतु ऐसे क्षणिक विजयी अन्याय का प्रतिशोध न्यायी प्रकृति लेगी ही, इस चिंता से यदि अत्याचारी की नींद सुरक्षित होती तो अकुतो भयता से आज सब ओर चोरी-चारी का खुला राज होता। पर हर हिरण्यकशिपु को नरसिंह का प्रतिशोध, हर दु:शासन को भीमसेन का प्रतिशोध और हर मदमलिन गंडस्थान को हरिनखों का प्रतिशोध अपनी रक्त भरी और विकरालता से लपलपाती जीभ से डराता रहता है। इसीलिए अन्याय प्रवृत्ति का उच्चाटन होने की थोड़ी-बहुत आशा हृदय में उत्पन्न होती है। इस तरह का प्रतिशोध अन्याय का निसर्गोद्‌भूत शासन होता है और इसलिए उसकी क्रूरता का, अमानवीयता का पाप अन्याय प्रवर्तकों पर ही उलटकर लगता है।

और ऐसे प्रतिशोध की भयानक ज्वाला सन् १८५७ में हिंदुस्थान के हृदय में भड़क उठी थी, उनके सिंहासन फूटे हुए, उनके मुकुट टूटे हुए, उनका देश छीना हुआ, उनका धर्म कुचला हुआ, उनकी जागीरें जब्त, इनाम छीने हुए, कानून लतियाए हुए, वचन भंग, अपमान, मानभंग, जीवन में विफलता का पहाड़, निवेदन व्यर्थ, अर्जियाँ व्यर्थ, रोना बेकार, चिल्लाना व्यर्थ। तब प्रकृति की प्रतिक्रिया शुरू हुई और जहाँ-तहाँ 'प्रतिशोध, बदला', ऐसी कानाफूसी होने लगी। ऊपर वर्णित एक-एक घटना प्रतिशोध को जन्म देती है, पर यहाँ तो ऐसी अनंत घटनाएँ घटित हुई थीं। इतने पर भी विद्रोह न होता तो हिंदुस्थान मरा हुआ है, ऐसा ही कहा जाता। इसलिए यह प्रतिशोध अन्याय की अपरिहार्य प्रतिक्रिया है तो फिर एक बार सारा देश उबल उठे और किसी एक स्थान पर जनसमूह कत्लेआम कर दें—यह आश्चर्य नहीं, आश्चर्य तो यह है कि हर स्थान पर ऐसा कत्लेआम क्यों नहीं हुआ। क्योंकि जहाँ कत्लेआम हुआ और जिन्होंने वह किया उनका संतप्त तर्कशास्त्र सहज ही उद्‌घोष कर उठा—शठे शाठ्यम् समाचरेत्! काली नदी की लड़ाई में पकड़े गए सिपाहियों को फाँसी पर चढ़ाने के पहले अंग्रेजों ने पूछा, "तुमने हमारे महिलाओं-बच्चों को क्यों मारा?" तब उन्होंने तत्काल प्रत्युत्तर दिया, "साहब, साँपों को मारकर कोई उनके बच्चों को जिंदा रखता है क्या?" कानपुर में सिपाही कहते, आग बुझाना और चिनगारियाँ रखना, या साँप मारना और उसके बच्चे पालना, यह समझदारी नहीं।

साहब साँप को मारकर कोई उसके बच्चे जीवित रखता है क्या? काली नदी के सिपाहियों द्वारा पूछे गए इस अखंड प्रश्न का उत्तर साहब लोग कैसे दे सकते हैं? और ये गँवारू शंका केवल हिंदुस्थान की जनता या कुछ अंग्रेजी लेखकों

की कल्पना की तरह केवल एशियाटिक लोगों के ही मन में उत्पन्न नहीं हुई। जहाँ-जहाँ अन्याय की परमावधि होती है और राष्ट्र-के-राष्ट्र सुलग उठते हैं, जहाँ-जहाँ राष्ट्रीय युद्ध लड़े जाते हैं वहाँ-वहाँ राष्ट्रीय अन्याय का प्रतिशोध राष्ट्रीय वध से ही लिया जाता है। जब स्पेनवासियों ने मूर लोगों से अपनी स्वतंत्रता वापस छीन ली तब मूर लोगों की क्या दशा हुई? स्पेनिश लोग तो एशियाटिक नहीं थे या हिंदी भी नहीं थे। फिर उनके देश में कोई पाँच-पाँच सौ वर्ष से रह रहे उन मूर मुसलिमों के स्त्री-पुरुष-बच्चों सहित अनाथ परिवारों पर उन्होंने केवल एक विशिष्ट धर्म-जाति के अपराध के लिए भयंकर कत्लेआम क्यों किया? ग्रीस देश ने १८२१ में कोई इक्कीस हजार तुर्की किसानों के पुरुष-महिला-बच्चों सहित अति अघोर कत्ल क्यों किए? यूरोप में जिस गुप्त संस्था को पवित्र माना जाता है उसी हिटेरिया ने उस कत्लेआम के समर्थन में कहा कि ग्रीस देश में तुर्कों की संख्या कम है और वे हमसे कभी भी वैर न छोड़नेवाले हैं, अत: उन सबको मार डालना ही अंतिम उपाय "A necessary measure of wise policy" (सयानी नीति का आवश्यक उपाय) है। यही उन्होंने कहा है या नहीं। साँप को मारनेवाला कोई उसके बच्चे जीवित नहीं रखता। यही सीधा-साधा उत्तर उनके मन की प्राकृतिक दयाशीलता को जलाकर भस्म करता है। और उस भयंकर ज्वलन का संपूर्ण दोष उस विषैले साँप के कालकूट विष की ओर ही होना चाहिए। अन्यथा विष देश के विरुद्ध ऐसा भयानक प्रतिशोध मानव स्वभाव में नहीं बैठता और निर्दय शासन को विषैले साँप का डर न हो तो उसकी वह कालकूट जीभ आज इतने बिलों में भी जीवित न रहती। सारांश यह कि अन्याय के अतिरेक के कारण मानवी मन में प्रतिशोध की प्रतिक्रिया जब-जब अपरिहार्य वेग से उफनने लगती है तब-तब पृथ्वी पर सभी राष्ट्रों में कत्लेआम, प्रतिशोध और रक्तपात आदि अमानुषिक कार्य पक्की तरह शुरू होते ही हैं यह इतिहास का साक्ष्य सुन लें तो सन् १८५७ में हिंदुस्थान के चार-पाँच स्थानों पर जो ऐसे क्रूर कर्म घटित हुए इसपर आश्चर्य होने की जगह, जिसपर वास्तव में आश्चर्य होना चाहिए वह बात यह है कि यह क्रूरतापूर्ण मारकाट इतने अल्प प्रमाण में केवल चार-पाँच स्थानों पर ही घटित हुई, उसकी जगह सारे स्थानों पर इससे अधिक प्रबल रीति से इस प्रतिशोध की अघोरता ने हुड़दंग क्यों नहीं मचाया? उपर्युक्त ग्रीस एवं स्पेन देश के न्यायिक गुस्से के उदाहरण रहने दें, पर हिंदुस्थान तब अत्याचार की ज्वाला से जला हुआ था और सरेआम मारकाट को जिस एक परिस्थिति में न्याय दंड का स्वरूप मिल जाता है उस दुर्जन पीड़ाग्रस्तता की हिंदुस्थान पर असह्य मार पड़ी थी। परंतु क्रॉमवेल जब आयरलैंड में सेना लेकर घुसा और जब वहाँ के लोगों के यथार्थ देशाभिमान से वह अधिक ही क्रुद्ध हो गया

और वहाँ के लड़ाकुओं पर ही नहीं, अशरण गरीबों पर उसकी तलवार सरसराती पड़ी, जब उस अभागे देश में रक्त की नदी तेजी से बहने लगी और जब उस रक्त में क्रॉमवेल की तलवार से कटी अनेक निरीह महिलाएँ अपने गोद के बच्चों सहित तैरने लगीं, तब आयरलैंड जीतने का मूल हेतु पापकारी होते हुए भी उस क्रॉमवेल ने, अपने स्वधर्मियों पर जितना क्रूरतर प्रतिशोध लिया और क्रूरतम रक्तपात किया उतना भी हिंदुस्थान ने सन् १८५७ में उन परधर्मी, परवर्णीयों का रक्तपात नहीं किया। अंग्रेज महिलाओं को बचाने के लिए नाना साहब, दिल्ली के बादशाह, अयोध्या की बेगम ने अंत तक प्रयास किया। परंतु कानपुर में नाना द्वारा दिए गए जीवनदान का ऋण अंग्रेज महिलाओं ने किस तरह चुकाया? विश्वासघात करके। जब-जब अंग्रेज अधिकारियों को सिपाहियों ने विद्रोह होते ही जीवनदान दिया तब-तब उन अधिकारियों ने उस उपकार के बदले विश्वासघात ही किया। उन्होंने नए आए अंग्रेज अधिकारियों को प्रदेश की विस्तृत जानकारी दी, उनका सेनापति पद स्वीकार किया और जो हाथ सिपाहियों ने जीवित छोड़ दिया उसी हाथ में तलवार पकड़कर उस प्राणदाता की ही गरदन काटी। फिर भी अतर्क्य आश्चर्य यह कि ऐसे विश्वासघात में भी स्वभाव से शांत भारतीय लोगों ने अपनी शांति उस प्रलयकाल में भी डिगने नहीं दी। कितने अंग्रेज भगोड़ों के प्राण खेत मजदूरों ने बचाए? कितनी ही महिलाओं को अपने कपड़े देकर ग्रामीण महिलाओं ने उनके प्राण बचाए। कितने ही गोरे अधिकारी भागने की शक्ति समाप्त होने से सड़कों पर बेहोश पड़े मिले और पास से गुजरते ब्राह्मण ने दूध पिलाकर उन्हें होश में लाया। फॉरेस्ट ने माना है कि अयोध्या ने—जिस अयोध्या के कलेजे में अंग्रेजों ने अपने अत्याचार की छुरी घृणास्पद रीति से घोंपी थी, उस अयोध्या ने—अंग्रेजों द्वारा अपने पर हुए अत्याचार भूलकर उनके पलायन में अतुल्य उदारता दरसाई। विद्रोहियों के घोषणापत्र में उनके नेताओं ने अपने संतप्त अनुयायियों को कहा था कि स्थान-स्थान पर—स्त्री एवं बाल हत्या से अपने पवित्र काम में हानि होगी। नीमच, नसीराबाद के विद्रोहियों के द्वारा प्राणदान दिए जाने के बाद भाग रहे गोरों को देखकर रास्ते के ग्रामीण जब चिल्लाने लगे—मारो फिरंगी को—तब वहाँ के एक परिवार ने आगे बढ़कर कहा कि उन्होंने अभी-अभी हमारे साथ भोजन किया है, यद्यपि वे कट्टर शत्रु हैं, तब भी उनको कैसे मारा जा सकता है।[१] जिसके सामान्य ग्रामीणों में भी ऐसी उदात्त वीरता व्याप्त है वह शांत हिंदुस्थान सन् १८५७ जैसी कितनी ही क्रूर मारकाट करे उससे उसकी धवल नीति को तिल मात्र भी लघुता नहीं

---

१. चार्ल्स बाल कृत—'इंडियन म्युटिनी', भाग १।

आती, उलटे कत्ल हुए अन्याय के दुष्ट अत्याचारों के घिनौनेपन में पर्वत तुल्य वृद्धि हो जाती है तथा ऐसे ही अवसरों पर मैकाले का वह प्रसिद्ध वाक्य यथार्थ हो जाता है—"The more violent the outrage, the assured we feel that a revolution was necessary." (अत्याचार जितना भयानक उतनी ही उसकी प्रतिक्रिया भी अटल।)

और सत्य का यह यथार्थ स्वर सुनने की क्षमता विश्व के कानों में न बचे इसके लिए हिंदुस्थान के लोगों की क्रूरता का हल्ला-गुल्ला अगर कोई दस दिशाओं में करे तो उन अंग्रेज लोगों को ऐसा हल्ला करने का अधिकार देवदूतों ने भी स्वीकर नहीं किया फिर मनुष्य जाति को वह कैसे मिलेगा? परंतु उस मनुष्य जाति में यदि किसीको यह अधिकार रत्ती मात्र भी न मिलना हो तो वह जाति अंग्रेज ही है। हिंदुस्थान ने सैकड़ों निरपराधियों को मार डाला, यह कौन इंग्लैंड कहेगा? नील को जन्म देनेवाला और नील की स्तुति करनेवाला इंग्लैंड? जिस अयोध्या ने उसे प्राणदान दिया उस अयोध्या के गाँव-के-गाँव महिला-बच्चों सहित जलाकर राख करनेवाला इंग्लैंड? फाँसी भी कम है इसलिए स्वदेश के लिए लड़नेवाले पांड्य सैनिकों को वास्तव में जला देनेवाला इंग्लैंड? फाँसी को या जीवित जलाने को भी जिस भय से जिन्होंने बड़े प्रेम से स्वीकार किया होता, ऐसा धर्मछल करने के लिए उन गरीब हिंदू ग्रामीणों को पकड़कर फाँसी का दंड देकर उन्हें बैनेटों से छेदनेवाला और मरने के पहले उनके मुँह में गाय का रक्तरंजित मांस तलवार से ठूँसनेवाला इंग्लैंड? फर्रुखाबाद के नवाब के वंशज को फाँसी पर चढ़ाने के पहले वह मुसलमान था इसलिए उसके सारे शरीर को सूअर की चरबी लगाकर और फिर उसे सूअर के चमड़े में लपेटकर, भंगी से चाबुक से पिटवाकर, फिर फाँसी देनेवाला और यह सारा कृत्य स्वयं कमांडर-इन-चीफ सर कोलिंस की आँखों के सामने करानेवाला इंग्लैंड? हड्सन को वीर कहनेवाला, आउट्रम की स्तुति करनेवाला और ये सब कृत्य विद्रोहियों का समुचित प्रतिशोध है, यह मानकर उसकी प्रशंसा करनेवाला इंग्लैंड? कानपुर की दीवारों पर वाहियात नीचतापूर्ण बातें स्वयं के हाथों से लिखकर—ये मरी हुई महिलाओं की लिखी हैं, ऐसा मूलभूत छिछोरपना करनेवाला इंग्लैंड? यथार्थ प्रतिशोध…! किसका? सौ वर्षों तक चक्की में पीसी गई देशमाता के लिए संतप्त हुए पांड्य पक्ष का या उस अन्याय के कोल्हू पर निगरानी करनेवाले आंग्ल पक्ष का? किसका यथार्थ प्रतिशोध?

अन्याय के ऐसे भयानक बारूदखाने के सिवाय इस शम प्रधान हिंदुस्थान का यह भयंकर विस्फोट शांत न हुआ होता। उस अन्याय ने उनके हृदय को जलाकर रख दिया। हिंदू और मुसलमान अपनी अज्ञानजन्य शत्रुता भूलकर देशमाता के स्तन

के रस से एकरस हो गए। जितना भारतीय उतना एक विलक्षण चेतना की हवा से तांडव करने लगा। व्यक्तिगत स्वार्थ, सुख, जीवन की तुच्छ आशा प्राय: नष्ट हो गई और एक उदात्त ध्येय में सारा हिंदुस्थान अपूर्व एकता में बँध गया। देश-सेवा के लिए इस भयानक स्थिति से पत्थर भी पिघलने लगा।

कैसा भयंकर विस्फोट! और कितने अकस्मात् तड़ित वेग से! एक क्षण में यह शांत दिखनेवाला ज्वालामुखी दिग्गजों के कान के परदे फट जाए ऐसे कड़कड़ाहट से तड़क-फूटकर दुभंग, शतभंग, सहस्रभंग हो गया। शत्रु जहाँ पैर रखे वहाँ उसका भस्म। एक अंग्रेजी इतिहासकार लिखता है—''जिनकी जान पर हमारी सुरक्षा टिकी हुई थी वे सरकारी नौकर ही एक ही समय पर नागों की तरह टूटने लगे। विश्वासघात किए हुए सरकारी नौकरों की सूची तैयार करूँ तो विद्रोह कर रहे विस्तृत प्रदेश के सभी सरकारी नौकरों के नाम-पते मुझे देने पड़ेंगे। अपवाद हैं ही नहीं।'' उन सरकारी नौकरों में अत्यंत प्रमुख काजी उदल, कुजल, उत्तर-पश्चिम प्रदेश का मुख्य अधिकारी, आगरा का प्रिसिंपल सदर अमीन, आगरा का ही मुंसिफ, वहाँ का कोतवाल, दिल्ली का प्रिंसिपल सदर अमीन, कानपुर का प्रिंसिपल सदर अमीन, कानपुर का डिप्टी कलेक्टर, फतेहपुर का डिप्टी कलेक्टर, जिसने रॉबर्ट टक्कर को मारा, फतेहपुर के अन्य सारे अधिकारी, इलाहाबाद का मुंसिफ, उसी प्रदेश का और एक मुंसिफ, बरेली का प्रिंसिपल सदर अमीन, आजमगढ़ का डिप्टी कलेक्टर, वहाँ J का प्रिंसिपल सदर अमीन, G का प्रिंसिपल सदर अमीन और यह सूची बहुत ही अधूरी केवल नमूने के लिए दी है—[१]

ऐसा प्रलय विस्फोट कड़कड़ाया, पुलिस विद्रोह कर उठी, सिपाही बंद कर उठे। गाँववाले विद्रोह कर उठे। अंग्रेजों से ईमानदारी का अर्थ धर्मद्रोह और देशद्रोह है, ऐसी एक मिनट में धर्म की व्याख्या हो गई। जो कोई भी अंग्रेजों के यहाँ रहेगा उसका तत्काल जाति बहिष्कार होने लगा। उसकी पंगत में कोई बैठेगा नहीं—उससे विवाह कोई करेगा नहीं। उसके यहाँ पूजा के लिए ब्राह्मण नहीं आएगा। सबसे बड़ी और सबसे अपमानजनक गाली हो गई—'फिरंगियों का नौकर।'

एक अंग्रेजी लेखक कहता है—''सरकारी कर्मचारियों में हम यदि विद्रोहियों की सूची तैयार करने लग जाएँ तो संभवत: विद्रोही प्रदेशों के सभी कर्मचारियों के नाम इसमें सम्मिलित करने पड़ेंगे। उनमें अपवाद रूप ही किसीका नाम इस सूची से पृथक् रह पाएगा।''

ऐसी परिस्थिति होने से, ऊपर से बिलकुल शांत दिखनेवाला ज्वालामुखी

---

१. रेवरेंड कैनेडी की डायरी, पृष्ठ ४३।

इतना प्रज्वलित हो गया था कि किसी भी क्षण उसका विस्फोट हो सकता था। क्रांतिदूत आकाश मार्ग से जाकर जल्द ही प्रारंभ होनेवाले उस समारोह में उपस्थित रहने का निमंत्रण हर एक को दे रहे थे। उस आक्रमण को स्वीकार कर वह पवित्र ध्येय साध्य करने दस दिशाओं का युद्ध देवता तुरंत निकला। रणवाद्य, युद्धघोष, समर गर्जना आदि आवश्यक सारे साधन यथोचित स्थान पर सजाकर मंडप तैयार कर लिया गया है। ज्वालामुखी के पार्श्व में अत्याचारों का कहर निर्भयता से उबल रहा है। परंतु क्रांति का क्षण जैसे-जैसे पास आ रहा है ऊपर हरित दिखनेवाले पर्वतों के अंतर में अत्याचार का कहर आ गिरा और उसीके साथ ज्वालामुखी का विस्फोट हो गया। हाँ, अब होशियार! क्रांति का विस्तार हो गया है। क्रांति की ज्वालाएँ बाहर फैलने लगी हैं, रक्त का रिसाव होने लगा है, कान के परदे फाड़नेवाली चीत्कार, तलवारों की खनखनाहट, भूत बेसुध होकर नाच रहे हैं, योद्धा वीर गर्जना कर रहे हैं। ऊपर से हरित और ठंडा दिखनेवाला ज्वालामुखी पर्वत दो-फाड़ हो गया, उसके सैकड़ों टुकड़े हो गए और हजारों जगह पर सुलगकर भड़क उठा है, सारी पृथ्वी पर आग और तलवार की खनखनाहट व्याप्त हो गई।

काठियावाड़ के किसी भाग में 'विठरू' नामक चमत्कारिक जलप्रवाह है। उसका पृष्ठ भाग कड़े भूभाग जैसा लगता है। पर इसकी जानकारी न रखनेवाले मनुष्य सहज विश्वास से उसपर पैर रखते हैं। और वह ऊपर से कड़ा दिखता पृष्ठ भाग थोड़ा सा हिलते ही वह मनुष्य उसपर अधिक दृढ़ता से खड़े होने का प्रयास करता है। ऐसा करते ही वह पृष्ठ भाग झुकने लगता है और वह अजनबी गहरे पानी में डूब जाता है। विठरू की तरह ही यह क्रांति प्रवाह सारे हिंदुस्थान में व्याप्त हो गया है। ऊपर से दिखता काला रंग देखकर, अत्याचारी को ऐसा लगा कि कुछ भी टुर-टुर या शिकायत न करते हुए अन्याय सहता यह हमेशा का सरल पृष्ठ है इसलिए अत्याचारी ने अपना कदम उसपर बिना हिचक रखा, तभी वह काला पृष्ठ भाग हिलने लगा! तब अत्याचारी अन्याय ने गर्व से उस भू पृष्ठ पर और जोर से पैर रखा। और अब ध्यान से देखें। वह भू पृष्ठ झुक गया और उसके नीचे लहरों-पर-लहरें उठने लगीं, रक्त के झाग का असीम सागर उछलकर ऊपर आने लगा। अत्याचारी अन्याय उसमें डूब गया। अत्याचारी अन्याय, तू कहीं भी पैर रख, कड़ा पृष्ठ भाग तुझे मिलेगा ही नहीं। अब अंतकाल में तुम्हें समझ में आएगा कि—ऊपर से काले दिखते भू पृष्ठ के नीचे रक्त के—लाल-लाल रक्त के, प्रवाह होते हैं और उस कान के परदे फाड़नेवाले ज्वालामुखी के प्रस्फोट की वह प्रचंड ध्वनि अब तो सुन।

□

भाग–३

अग्नि कल्लोल

प्रकरण–१

दिल्ली लड़ती है

११ मई को अपनी स्वतंत्रता घोषित करने के बाद दिल्ली शहर उस प्रचंड लड़ाई की तैयारी करने और मची हुई अंधाधुंधी को अनुशासित करने में लगा रहा। दिल्ली के परंपरागत तख्त पर मुगल बादशाह को बैठाकर क्रांतिकारियों ने जो एक शक्ति केंद्र तैयार किया, वह इतना शक्तिशाली था कि उसके नाम के प्रभाव से स्वतंत्रता संग्राम स्थिर हो गया। परंतु पुराने मुगलों का यह तख्तारोहण पुरानी मुगल सत्ता फिर से स्थापित करने के लिए या पुरानी जंगली परंपरा चालू करने के लिए भी नहीं था। हिंदुस्थान के बादशाह के पद पर बूढ़े बहादुरशाह को बैठाना—संकुचित अर्थ में परंपरागत तख्त पर मुगल सत्ता स्थापित करना लग सकता था, पर विशाल अर्थ में और सत्यार्थ में देखें तो वैसा नहीं था। पुरानी मुगल सत्ता इस देश के लोगों ने स्वयं नहीं चुनी थी। हिंदुस्थान पर विजय भावना और आक्रामक वृत्ति से एवं स्वाभिमानशून्य देशद्रोही कार्यवाहियों के कारण वह मुगल सत्ता हमपर जबरन लादी गई थी। आज कोई ऐसे बल से बहादुरशाह को बादशाही पर नहीं बैठाया गया था। नहीं! वैसा करना तो असंभव था, क्योंकि वैसे सिंहासन तो जीतने पड़ते हैं। वे स्वागत योग्य नहीं माने जाते। वैसा करना आत्मघाती होता। क्योंकि वैसा करने का अर्थ था गत तीन–चार शताब्दियों तक हिंदू शहीदों, हुतात्माओं ने अपनी स्वतंत्रता के लिए जो खून बहाया था वह व्यर्थ गया, ऐसा माना जाता। अरबस्तान की जंगली टोलियों ने इसलाम को स्वीकार करते ही आक्रमण वृत्ति से पूर्व और पश्चिम में आक्रमण करके प्रदेश को पादाक्रांत किया था। कहीं उनका प्रतिकार हुआ ही नहीं, इस कारण देश के बाद देश, एक मानव जाति के बाद दूसरी मानव जाति को जबरन मुसलमान बनाते इसलामी सत्ता दौड़ती चली। इस अविरोध आँधी का पहले–पहल किसी भी तरह का समझौता न करते महान् पराक्रम और निर्भयतापूर्ण निश्चय से

किसीने विरोध किया हो तो वह भारत ने ही किया था। अन्य राष्ट्रों के इतिहास में ऐसा विरोध अपवाद में ही दिखता है। यह युद्ध पाँच शताब्दियों से अधिक चलता रहा था। इन विदेशी आक्रमणकारियों से स्वयं के जन्मसिद्ध अधिकार के लिए हिंदुओं ने पाँच शताब्दियों से अधिक समय संरक्षणात्मक युद्ध चालू रखा था। पृथ्वीराज की मृत्यु से लेकर औरंगजेब की मृत्यु तक समझौतों और संधियों की परवाह न करते हुए युद्ध के बाद युद्ध चला और असंख्य वर्ष चले इस दीप्तिमंत द्वंद्व में भारत के पश्चिम घाट में सह्याद्रि में एक नई शक्ति का उदय हुआ, अपनी जाति की मान रक्षा के लिए जिन हजारों हिंदुओं ने बलिदान किया उस सम्मान की परिपूर्णता करने का कंकण उस नई हिंदू सत्ता ने अपने हाथ में बाँधा। पुणे से एक हिदू वीर भाऊसाहब पेशवा समर्थ सेना के साथ आक्रमण करते निकला और उसने दिल्ली के तख्त—सिंहासन—पर कब्जा किया और हिंदू संस्कृति पर लगा गुलामी का कलंक धो डाला। हिंदुस्थान गुलामी उतारकर और पराजय पोंछकर फिर से स्वतंत्र हुआ। हिंदू भूमि के हिंदू ही फिर से मालिक हुए—धनी हुए।

इसलिए बिलकुल सच्चे भाव से कहें तो हम यह कहते हैं कि हिंदुस्थान के तख्त पर, सिंहासन पर बहादुरशाह को जो बैठाया गया वह पुरानी मुगल सत्ता की पुनर्स्थापना नहीं थी। परंतु दीर्घकाल तक इस देश के हिंदू-मुसलमानों के बीच जो युद्ध चल रहा था वह युद्ध समाप्ति की घोषणा का प्रतीक, जुल्म, अत्याचार समाप्त होने की निशानी था। इसी देश की मिट्टी में जनमे देश बंधुओं को अपना राजा कौन हो यह चुनने की स्वतंत्रता आदि के प्रतीक रूप में वह राज्यारोहण था। क्योंकि हिंदू और मुसलमान दोनों ही जातियों, नागरिकों और सेना ने एकमत होकर बहादुरशाह को इस समय बादशाही तख्त पर आरूढ़ किया था, और स्वतंत्रता समर का नेतृत्व भी उसीको दिया था, इसलिए ११ मई को दिल्ली के सिंहासन पर बहादुरशाह ने जो आरोहण किया था वह प्राचीन मुगल परंपरा के अकबर या औरंगजेब की तरह का आरोहण नहीं था। क्योंकि वह मुगलिया तख्त वीर मराठे बहादुरों ने घन की चोटों से कभी का छिन्न-विछिन्न कर दिया था। परंतु विदेशी आक्रमणकर्ताओं से स्वतंत्रता युद्ध चलाने के लिए लोगों ने उसको राजा चुना था। इसलिए हिंदू-मुसलमान जनता ने वास्तविक समझ से, पूरे मन और निष्ठा से ११ मई, १८५७ के दिन अपनी मातृभूमि के बादशाही पद पर बहादुर शाह की मानवंदना करने सब आगे आएँ—ऐसी घोषणा की।

इस घोषणा के अनुसार पास और दूर के स्थानों से, अनेक रियासतों से, अनेक सैनिक टोलियों से और हिंदुस्थान के प्रमुख शहरों-नगरों से दिल्ली के राजा के लिए नजराने (उपहार) आने लगे। पंजाब में अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह करनेवाली

नेटिव सिपाहियों की पलटनें तथा अयोध्या, नीमच, रुहेलखंड और दूसरी जगह के विद्रोही अपने-अपने झंडे और निशान लिये दिल्ली की ओर चलने लगे और क्रांति के नेता बहादुरशाह के प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त करने लगे। अनेक सैनिक टोलियों ने दिल्ली की ओर आते समय रास्ते में जो अंग्रेजी खजाने लूटे थे, वह संपत्ति उन्होंने बादशाह के खजाने में ईमानदारी से जमा की। इतनी सालंकृत सिद्धता होते ही सारे हिंदुस्थान देश के नाम एक घोषणापत्र—जाहिरनामा—प्रसारित किया गया और उसमें स्पष्टता से घोषित किया गया—''अब विदेशियों के साम्राज्य और फिरंगियों की राज्यसत्ता का अंत हो चुका है और सारा देश अब स्वतंत्र और परदासता से मुक्त हो गया है। प्रारंभ में ही इतनी सफल हुई यह क्रांति पूरी करने के लिए हर एक इस क्रांतियुद्ध में अपना एक ईश्वरीय कर्तव्य मानकर, झूठे (व्यक्ति संबंधी) अभिमान भूलकर, दैवी प्रेरणा से सहभागी हो, ऐसा आह्वान लोगों का किया गया। उसमें कहा गया है कि हर व्यक्ति यह ध्यान में रखे कि अपना यह विद्रोह केवल स्वधर्म रक्षा के लिए ही है, दूसरा कोई भी लालच इसके पीछे नहीं है। जिस-जिसको परमेश्वर से निश्चय एवं इच्छाशक्ति का वरदान मिला है, वे सब ही ऐहिक लाभ और क्षणभंगुर देह की आशा छोड़कर अपने प्राचीन धर्म का रक्षण करने के लिए हमसे सहयोग करें। सार्वजनिक हित के लिए लोग अपने स्वार्थ को तिलांजलि देने की ठान लें तो अपनी इस पवित्र भूमि पर एक भी अंग्रेज मनुष्य रह न पाए। हर एक यह ध्यान में रखे कि अपने जीवन की डोर टूटे बिना कोई भी मरता नहीं और जब काल की कृपा हो जाए तब कोई भी अपने प्राण बचा नहीं सकता। शीतला की बीमारी और अनेक रोगों में आदमी मरते रहते हैं, पर स्वधर्म युद्ध में प्राण अर्पण करनेवाला शहीद हो जाता है, हुतात्मा होता है और इसीलिए हिंदुस्थान की पवित्र भूमि से हर एक फिरंगी को भगा देना या उसे मार डालना हर एक स्त्री-पुरुष का पवित्र कर्तव्य है। ऐहिक लाभ की कोई भी आशा न रखते हुए जो धार्मिक कर्तव्य भावना से प्रेरित हैं, वे हमसे आकर मिलें।''

उपर्युक्त उद्धरण समय-समय पर अयोध्या और दिल्ली से समान अर्थ के जो जाहिरनामे (घोषणापत्र) प्रसारित हुए थे, उनमें से ही लिये गए हैं। एक जाहिरनामा स्वयं दिल्ली के बादशाह ने प्रकाशित किया था और उसकी प्रसिद्धि सारे हिंदुस्थान भर में व्यापक रूप से हुई थी। देश के सुदूर दक्षिण सिरे तक उसकी प्रतियाँ हाथोहाथ बाजार और सेना में भी पहुँच गई थीं। उसमें कहा गया था—''हे हिंदू और मुसलमान भाइयो! अपने पवित्र धार्मिक कर्तव्य की पूर्ति करने के लिए हमने जनता से हाथ मिलाया है। इस समय कोई डरपोकपना दिखाए या ढोंगी अंग्रेजों के झूठे आश्वासनों पर विश्वास करे, उसके मुँह पर कुछ ही समय बाद कालिख पोती

जाएगी और इंग्लैंड का स्वामित्व स्वीकार कर उससे मित्रता जोड़नेवाले लखनऊ के नवाब को जैसा दंड मिला वैसा ही उसको मिलेगा। इसलिए इसके बाद सारे हिंदू और मुसलमान—अंग्रेजों से चल रहे इस झगड़े में इकट्ठे आकर, अपने किसी भी आदरणीय नेता की नीति पर चलने को तैयार हो जाएँ। इस तरह देश में शांति और सुव्यवस्था स्थापित करने में हमारी सहायता करें। गरीब लोगों को संतुष्ट रखने के लिए प्रयास करें और उनको अधिक अधिकार और प्रतिष्ठा प्राप्त करने का अवसर उपलब्ध कराएँ। जिस-जिसको संभव हो वह इस घोषणापत्र की प्रतियाँ बनाकर गाँव के मुख्य स्थानों पर चिपकाएँ। ऐसा करते समय उचित युक्ति का उपयोग करें और पकड़े न जाने की दक्षता रखें और उसका प्रचार होते-न-होते अपनी तलवारें निकाल फिरंगियों पर प्रहार करें।''

अंग्रेजी सत्ता के विरुद्ध स्वतंत्रता युद्ध घोषित करने के कुछ ही समय बाद वह युद्ध चालू रखने के लिए दिल्ली के क्रांतिकारियों ने शस्त्र और गोला-बारूद का उत्पादन करना प्रारंभ कर दिया। तोपें, बंदूकें और छोटे हथियार बनाने के लिए एक बड़ा कारखाना चालू किया गया और इस शस्त्र उत्पादन पर देखरेख के लिए कुछ फ्रेंच लोगों को नौकरी पर रखा। गोला-बारूद रखने के लिए दो-तीन गोदाम बनाए गए और रात-दिन काम चालू रखकर कामगारों से भरपूर गोला-बारूद निर्माण करने की व्यवस्था की गई। सारे देश में कानून से गौ वध बंदी लागू की गई और एक बार जब कुछ सिरफिरे मुसलमानों ने हिंदुओं का अपमान करने के लिए उनके विरुद्ध जेहाद की घोषणा की तब उस बूढ़े बादशाह ने अपने लवाजमे के साथ हाथी पर बैठकर सारे शहर से एक विशाल जुलूस निकालकर यह घोषित कर प्रकट किया कि अपना यह जेहाद केवल विदेशी फिरंगियों के लिए है, हिंदुओं के विरुद्ध नहीं है। जो कोई भी गाय की हत्या करता पाया जाएगा उसे तोप से उड़ा दिया जाएगा या उसके हाथ काट दिए जाएँगे। अलग-अलग रेजिमेंटों—टोलियों को भिन्न-भिन्न राजपुत्रों के नाम दिए गए। अंग्रेजों के विरुद्ध क्रांतिकारियों के साथ लड़ाई में कुछ यूरोपियनों ने भी सहयोग दिया।

बुंदेल की सराय की लड़ाई के बाद अंग्रेजी सेना को आगे की सैनिक कार्यवाही करने के लिए बहुत उचित स्थान मिल गए थे। दिल्ली की चारदीवारी के एक छोर तक आकर भिड़ी और यमुना नदी के आगे चार मील तक दूर फैली हुई टेकरियों की एक शृंखला थी—अंग्रेज जिसे ऋद्धस्रद्दृ कहते हैं—उन टेकरियों की प्राकृतिक ऊँचाई युद्ध की दृष्टि से बहुत लाभदायक थी। पास-पड़ोस के समतल प्रदेश की अपेक्षा टेकरियों की ऊँचाई पचास-साठ फुट होने से वहाँ से तोपों की निरंतर और प्रभावी मार करने के लिए उस स्थान का अच्छा उपयोग हो सकता था।

तथा इन टेकरियों के प्रदेश से लगी हुई यमुना की चौड़ी नहर थी जिसमें इस वर्ष जोरदार वर्षा होने से जून माह में भी अच्छा पानी था। वह नहर पीछे की ओर होने से अंग्रेजों के शत्रुओं की ओर से भी उस नहर को कोई धोखा नहीं होना था। केवल सामने से, दिल्ली की ओर से क्रांतिकारियों के जैसे हमले होते थे वैसे ही पीछे की ओर से, पंजाब की ओर से, यदि हमले हुए होते तो अंग्रेजों की शामत आ जाती। अंग्रेजों के सौभाग्य से पंजाब ने उनकी ओर से ही लड़ने की ठानी। नाभा, जींद और पटियाला के राजाओं द्वारा पंजाब के राजमार्गों की सुरक्षा किए जाने से अंग्रेजों को धान्य, आदमी एवं गोला-बारूद की पूर्ति बिना धोखे के हो सकी। इस सारी घटना के इस तरह बन जाने से, हिंदुस्थान के अभाग्य से अंग्रेजों को अति अनुकूल परिस्थिति प्राप्त हुई। दिल्ली पर मार की जा सके ऐसी ऊँचाई, शत्रु की मार से अंग्रेजी डेरा सुरक्षित रहे ऐसा समतल प्रदेश, शत्रु के जासूसों को भी प्रवेश नहीं मिल पाए ऐसी चारदीवारी, पास में ही ताजा और भरपूर पानी, पंजाब की ओर से आ रहे मार्ग—और वे मार्ग निष्ठावान रियासती सैनिकों द्वारा अपनी गाँठ का खाकर सुरक्षित रहे और खुले, ऐसी सारी अनुकूल परिस्थिति के कारण ब्रिटिश कमांडर बर्नार्ड और उसके अधीनस्थ अधिकारियों का आत्मविश्वास बढ़ा और वे गर्व से कहने लगे—''अब दिल्ली जीतने के लिए एक दिन भी नहीं लगेगा!'' और फिर जिस दिल्ली को जीतना एक दिन का भी काम नहीं है उसके लिए दो दिन क्यों रुका जाए? अभी इसी क्षण उस पापी और देशद्रोही शहर को चारों ओर से आक्रमण करके धूल में मिला देने का आदेश अंग्रेजी सिपाहियों को क्यों न दिया जाए? पंजाब अपनी सेना की रीढ़ की हड्डी है और वह स्वामीनिष्ठा से सहयोग को तत्पर है तब दिल्ली जीतने के लिए लंबी देर तक घेरा डालकर बैठने का दुर्बलों जैसा रास्ता क्यों अपनाया जाए? उस नादान शहर पर सीधे हमला करके एक ही धमाके में उसे जमींदोज कर डालना अधिक बुद्धिमानी है। अपनी सेना के दो भाग करें—एक भाग लाहौर दरवाजे पर हमला करे और दूसरा भाग काबुल दरवाजे को नष्ट करे और शेष सब एक ही समय में दिल्ली में घुसकर रास्ते के सारे स्थान एक के बाद एक जीतते रास्ते में कहीं भी विश्राम न करते सीधे राजमहल पर हमला करें।

बिल्वर फोर्स, ग्रेट हेड एवं हड्सन जैसे वीराग्रणी साहस और धड़ाके की लड़ाई करने के लिए बहुत आतुर थे और उन्होंने हमले को विजयी करने का दायित्त्व लिया हुआ था। फिर राह किसकी देखी जाए? इस तरह १२ जून को जनरल बर्नार्ड ने हमला करने का गुप्त आदेश दिया। कौन सैनिकों को इकट्ठा करेगा, सेनाएँ कहाँ से और कैसे बढ़ेंगी, दायाँ-बायाँ नेतृत्व किस-किसके पास होगा? ऐसी सारी योजना पहले ही बन गई। हमले की सारी योजना इस तरह

निश्चित की गई और भोर दो बजे से अंग्रेजी सेना पहले से नियोजित परेड मैदान पर इकट्ठी होने लगी। कल रात को बादशाह के राजमहल में ही सोना है यह विश्वास होने के कारण आज रात नींद न हो पाने का दु:ख करते बैठनेवाले वे मूर्ख थोड़े ही थे? निश्चय से असंभव, पर अंग्रेजों के दुर्भाग्य से ऐन मौके पर उनकी सेना का कुछ भाग लापता हुआ दिखाई दिया। ऐसी धोखादायक स्थिति में दिल्ली पर हमला करना उतावलापन होगा—ऐसा ब्रिगेडियर ग्रेव्ज को लगा और अन्य कुछ अधिकारियों ने भी ऐसा ही सुझाया कि ऐसी उतावली हिंदुस्थान की सारी ब्रिटिश हुकूमत के लिए मारक सिद्ध होगी। अत: सीधे हमले और तुरंत विजय के जो स्वप्न ब्रिटिश सेना को आ रहे थे वे दिल्ली के राजमहल में सच न होकर उस रात अपने डेरे के बिछौने में ही समाप्त हुए।

दूसरे दिन प्रात: बिल्वर फोर्स और ग्रेट हेड ने अगले हमले की योजना बनाकर सेनापति बर्नार्ड के विचार के लिए उसके पास भेजी। सेनापति बर्नार्ड की पहचान क्रिमियन युद्ध के एक नामवर योद्धा के रूप में थी। पर इस अवसर पर वह बहुत धीमा और दब्बू सा लग रहा था। १४ जून को उसने युद्ध परिषद् (वार काउंसिल) की बैठक बुलाकर अपने अधिकारियों से आक्रमण के विषय पर चर्चा की। आक्रमण की योजना का जोरदार भाषा में ग्रेट हेड ने समर्थन किया, तब भी अन्य अधिकारियों को विजय का विश्वास नहीं होता था, इसलिए उन्होंने यह प्रतिपादन किया कि इसमें प्रत्यक्ष पराभव जितनी ही शक्ति की और प्रतिष्ठा की हानि होने वाली है। दूसरा यह कि सीधे हमला कर दिल्ली जीत भी ली तो भी उसकी रक्षा कैसे करें?

रास्ते-रास्ते और घर-घर में छिपे विद्रोहियों की ओर से चलती गोलीबारी में से कितने सोल्जर बचे रहेंगे? इस संबंध में अपना पक्का विचार बर्नार्ड भी कह नहीं पा रहा था। इस सारी चर्चा के बाद हमले के संबंध में भिन्न मत होने में ही इस युद्ध परिषद् का एकमत हुआ। और इस तरह १२ जून को रात में आए स्वप्न की तरह १५ जून को भी आक्रमण की योजना त्यागकर तात्त्विक मत पक्का पकड़कर उसके दिवा स्वप्न भी हवा हो गए। १६ जून को युद्ध परिषद् की बैठक हुई। पर मत भिन्नता और मन का धीरज कम होने में ही उसका अंत हुआ।

अंग्रेज अधिकारी एक तरफ जब जोरदार और सीधे हमले की योजना बना रहे थे उसी समय दूसरी ओर दिल्ली में नए तरुण रक्त, नए खजाने, संपत्ति और नए उत्साह की बाढ़ आ रही थी और क्रांतिकारियों ने आज तक की बचाव की रणनीति छोड़कर अवसर के अनुरूप आक्रमण की नीति स्वीकार कर बीच-बीच में अंग्रेजी सेना पर छापे डाले और कभी-कभी उसमें सफल भी रहे। सारे हिंदुस्तान में जिन

सिपाहियों ने अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह किया था उन सिपाहियों द्वारा अपने साथ लाए हुए खजाने, शस्त्रास्त्र, गोला-बारूद की दिल्ली में निरंतर आवक हो रही थी। इस कारण क्रांतिकारियों को युद्ध सामग्री या सिपाहियों की कमी नहीं थी। ऐसी स्थिति में उन्होंने आक्रमण की नीति अपनाई और अंग्रेजी सेना को एक कदम भी आगे नहीं बढ़ने दिया। बीच में ही एकाध साहसी आक्रमण शत्रु पर करना, शत्रु का कुछ रक्त बहाना और स्वयं की विशेष हानि न होने देकर शहर में लौट आना, क्रांतिकारियों की ऐसी शत्रु को सताने की नीति होने से अंग्रेजी सेना पर उन्होंने अपनी दहशत बैठा दी और उन्हें आक्रामक नीति छोड़ने को बाध्य किया।

१२ जून को कुछ क्रांतिकारी शहर से बाहर निकले, झाड़ियों, झुरमुटों और गड्ढे आदि के सहारे-सहारे अंग्रेजों की अगाड़ी को पार कर पचास गज से भी अधिक अंदर चले गए और अंग्रेजों को आहट होने के पहले ही उन्होंने उनपर हल्ला किया। अंग्रेजी तोपखाने के बहुत लोग गारद हो गए और सिपाहियों को अचूक गोली लगने से नॉक्स मारा गया। उसी समय क्रांतिकारियों की दूसरी टोली ने अंग्रेजों की पिछाड़ी पर भी हमला किया। पर वहाँ उन्हें बड़े प्रतिकार का सामना करना पड़ा। बाड़ा हिंदूराव और अंग्रेजी सेना की दाईं बगल पर भी सिपाहियों ने बड़े जोर का हमला किया। जिनकी राजनिष्ठा पर अंग्रेजों को पूर्ण विश्वास था ऐसी एक नेटिव पैदल टुकड़ी शत्रु पर हमला करने गई। परंतु उन्होंने विश्वासघात किया, यह स्पष्ट होते ही हमने उनपर गोलीबारी चालू की, पर वे बहुत तीव्रता से गोलीबारी से सुरक्षित निकल गए…[१] उस स्थान पर नियुक्त मेजर रीड कहता है—''मानो वे सिपाही शत्रु पर हमला करने जा रहे हैं, ऐसा लगता था, पर शत्रु से भिड़ते ही वे उनके साथ ही चलने लगे—यह देखते ही मैं डर गया। मैंने उनपर तोपें दागने का आदेश दिया पर उतनी देर में वे विश्वासघाती इतने दूर चले गए कि उनमें से कोई पाँच-छह सिपाही ही मारे गए होंगे। ऐसा मुझे लगता है।'' इस आक्रमण के बाद विद्रोही शत्रु पर हमला करने के लिए शहर के बाहर जा रहे हैं, ऐसा हर दिन दीखने लगा और हमला निपटाकर वे शहर में लौट रहे हैं यह हर शाम दिखता था। सिपाहियों का जो-जो दल विद्रोहियों से मिलने दिल्ली में प्रवेश करता वह दल तुरंत दूसरे दिन शत्रु पर हमला करने बाहर जाता। १३ जून को बाड़ा हिंदूराव पर फिर से हमला किया गया। तारीख १२ को विद्रोहियों से जो सेना आकर मिली थी उसीने यह हमला किया था। मेजर रीड लिखता है—

''ग्रैंड ट्रंक मार्ग से वे सिपाही सीधे टुकड़ियों का संचालन करते आ रहे थे।

---

१. के कृत—'इंडियन म्युटिनी', पृष्ठ ४११।

उस पलटन का नेता सरदार बहादुर था। अपनी बाईं बगल की ओर मुड़ने का उनका हेतु होने से अपने लोगों को पीछे रहने को कहकर वह स्वयं आगे हो गया। उस दिन वे सिपाही जान की परवाह न करते हुए लड़ रहे थे। परंतु सरदार बहादुर उसके अर्दली लालसिंह के हाथों मारा गया। उसके सीने पर की हिंदुस्थानी सेना की निशानी की पट्‌टी निकालकर उसने मेरी पत्नी के पास भेज दी। १७ जून को भारतीय सेना ने ईदगाह भवन पर तोपों का मोरचा जमाना चालू किया। क्योंकि वहाँ से अंग्रेजों की रिज पर—सामने पर—जोरदार गोलाबारी हो सकती थी। यह सब देखते ही मेजर रीड और हेनरी टोंब्स ने विद्रोहियों पर दो तरफ से हमला बोल दिया। और प्रतिकार हो ही नहीं सकता ऐसी शक्ति से उन्हें घेरने का प्रयास किया। पर ईदगाह भवन में बंद वे मुट्‌ठी भर विद्रोही—शरणागत नहीं हुए। जब उनके पास का गोला-बारूद समाप्त हो गया तब उन्होंने बंदूकें फेंककर अपनी तलवारें निकालीं और अपने अंग्रेज शत्रु पर प्राणपण से टूट पड़े। अपना अंतिम सैनिक अपने-अपने स्थान पर लड़ाई लड़ते मरने तक उन्होंने इदगाह भवन में शत्रु को प्रवेश नहीं करने दिया।''

१८ जून को नसीराबाद के विद्रोही सिपाही दिल्ली पहुँच गए और अपने साथ लाया हुआ खजाना उन्होंने शाही प्रतिनिधि को दे दिया। उनके प्रतिनिधियों का बादशाह ने अपने राजमहल में स्वागत किया और उनका यथायोग्य आदर एवं मान-मर्तबा रखा। भरे दरबार में उस पलटन के सिपाहियों के प्रतिनिधि ने २० जून को अंग्रेजी सेना पर हमला करने की शपथ ली। २० जून को प्रात: शत्रु पर हमला करने जाने के लिए विद्रोही सेना शहर के दरवाजे से बाहर निकली, यह देखा गया। अंग्रेजों की छावनी के पिछाड़ी के बाजू पर हल्ला करने के हेतु से सिपाही सब्जी मंडी से छिपते-छिपते चले और अंग्रेज कुछ सोचें इसके पहले ही उनपर अचानक गोलियों की बौछार शुरू की और अंग्रेजों पर जोरदार हमला किया। स्कॉट, मनी, टोंब्स और अन्य अंग्रेज अधिकारियों ने तोपों की जोरदार मार करके यह हमला रोकने का प्रयास किया। पर भारतीय सेना इतनी लगन से हमला कर रही थी कि उसका प्रतिकार करना कठिन हो गया। नसीराबाद की पलटन का किया हुआ हमला इतना प्रभावी और भयानक था कि बहादुर टोंब्स भी रुआँसा होकर चिल्लाया—''दौड़ो, डॉली दौड़ो—अन्यथा मेरी तोपों पर शत्रुओं का कब्जा हो गया समझो।'' पंजाबी नेटिव सिपाहियों के साथ डॉली दौड़कर भी आया। परंतु विद्रोहियों की ओर से छोड़ी गई एक गोली से उसके कंधे को चोट लगने से उसे पीछे घूमना पड़ा। शाम हो गई थी और सैनिकों की जीत स्पष्ट दिख रही थी। उन्होंने फिर हमला किया और अंग्रेजी सेना की तोपें हथिया लीं। नौवीं भाला सेना टुकड़ी (लांसर) और

पंजाबी टुकड़ी बार-बार आगे घुसने का प्रयास करती और पराभूत होकर पीछे हट जाती। रात हो गई तब भी लड़ाई का रंग भीषण ही बना रहा। अंग्रेजों ने भी बहुत पराक्रम किया, पर वे अपनी तोपें बचाने से अधिक कुछ नहीं कर पाए। लॉर्ड रॉबर्ट्स लिखता है—''विद्रोहियों के कारण हममें भगदड़ मची—(The mutineers routed us), होप ग्रांट का घोड़ा मर गया। वह स्वयं भी बहुत घायल हो गया। उसके बाजू में ही एक राजनिष्ठ मुसलमान घुड़सवार खड़ा न होता तो वह उसी समय मर जाता। मध्य रात तक ऐसे झपट्टे चालू रहे। सिपाहियों के हमलों को रोकना असंभव हो जाने से अंत में अंग्रेज युद्ध क्षेत्र से पीछे हट गए और अंग्रेजी छावनी की पिछाड़ी का एक प्रमुख स्थान विद्रोहियों के हाथ लग गया।''

उस रात अंग्रेज कमांडर को चिंता के कारण नींद आना संभव नहीं था। क्रांतिकारियों द्वारा जोर लगाकर जीता हुआ स्थान यदि उनके कब्जे में बना रहता तो अंग्रेजों की पंजाब की ओर से आवाजाही टूट जाती। यह संकट टालने के लिए उस विजयी स्वदेशी सेना का प्रतिकार करने अंग्रेजों ने बड़ी भोर से ही तैयारी की। गोला-बारूद और सेना की अधिक सहायता प्राप्त करने वे सिपाही शहर लौट रहे थे इसलिए अंग्रेज हाथ से निकला अपना स्थान फिर प्राप्त कर सके। इस लड़ाई की विजय और सिपाहियों की टक्कर के समाचार से दिल्लीवासियों का उत्साह बढ़ गया और उस उत्साह में उन्होंने किले पर लंबी मार की तोप भी चढ़ाकर उससे अंग्रेजी सेना पर गोलों की भरमार कर दी। दिल्ली की सेना ने इस प्रभावी आक्रामक नीति के कारण ब्रिटिश सेना के आक्रमण को रोक दिया और अपने संरक्षण की चिंता ही उन्हें सताती रही। अपने कब्जे के मुकाम कैसे सुरक्षित रखें इस चिंता में डूबे अंग्रेजों को पंजाब से नई कुमुक मिले बिना एक कदम भी आगे बढ़ना असंभव हो गया और ऐसी बाधा को बढ़ाने के लिए २३ जून, १८५७ का दिन उदय हुआ।

२३ जून, १८५७—प्लासी की लड़ाई के सौ वर्ष पूरे करनेवाला दिन। सौ वर्ष पूर्व ठीक इसी दिन रणनीति के जुए में प्लासी के रणक्षेत्र पर हिंदुस्थान का पासा उलटा पड़ा था। नए-नए अपमान, नई-नई मानहानि में बढ़ोतरी होते-होते सौ वर्ष पूरे हो गए। इस सौ वर्ष में जमा हुए अपमान का प्रतिशोध लेने, राष्ट्र का अपमान धो सकने और राष्ट्र की होनेवाली दुर्गति रक्तपात से पोंछ डालने योग्य भयानक प्रतिशोध अंग्रेजों से लेने की प्रबल लालसा से दिल्ली शहर के सभी सिपाहियों की आँखें आग बरसाने लगीं। हवा की हर लहर से, सूर्य की प्रत्येक किरण से, तोप के धूम-धड़ाके से और तलवार की खनखनाहट से प्लासी का प्रतिशोध, प्लासी का बदला—ऐसी एक ही ध्वनि घनघोर होकर बाहर आ रही थी। प्लासी के दुःखदायी रणक्षेत्र का यह शत सांवत्सरिक (शत वर्षीय) दिन उदय होते ही क्रांतिकारियों की

टुकड़ियाँ शहर के लाहौर दरवाजे से बाहर निकलने लगीं।

अंग्रेजों को भी जिस भयानक संकट का सामना पड़ना है इसकी पूरी-पूरी जानकारी थी, इसलिए वे रात से ही युद्ध की तैयारी में लगे हुए थे और उन्होंने अपनी सैनिक व्यूह रचना पूरी कर रखी थी। इतना ही नहीं, इस भयानक संकट की जानकारी उन्हें पूर्व में ही हो जाने से उन्होंने कुछ दिन पूर्व ही पंजाब सरकार से सेना की कुमुक मँगा ली थी और उनके भाग्य से भोर ही वह कुमुक आ गई थी। पंजाब से नई सेना आने के समाचार के साथ ही अंग्रेजों के मन में आत्मविश्वास जागा। अंग्रेजों को सेना की नई कुमुक मिली इस समाचार से या अंग्रेजों ने पिछाड़ी का एक पुल उड़ा दिया इस समाचार से क्रांतिकारियों के उत्साह पर कुछ भी प्रभाव न पड़ा। सब्जी मंडी से वे सीधे आगे बढ़े और अंग्रेजों पर बंदूकों की गोलियों की मार करने लगे। अंग्रेज पैदल सेना ने हमले-पर-हमले किए, पर जैसे वे आगे बढ़ आते वैसे ही क्रांतिकारी भी हर बार पीछे धकेल देते। किले की दीवार का तोपखाना भी अपना काम सही कर रहा था। हिंदूराव बाड़े की भी क्रांतिकारी यथायोग्य सेवा कर रहे थे। दोपहर १२ बजे लड़ाई पूरे रंग में आ गई। पंजाबी टुकड़ियों, गुरखा पलटन और अंग्रेजों की गोरी सेना पर क्रांतिकारियों ने एक के बाद एक हमले किए। मेजर रीड कहता है—"मेरे सारे स्थानों पर विद्रोहियों ने बड़ी दृढ़ता से लड़ाई लड़ी, इससे अधिक पराक्रम से कोई लड़ नहीं सकता। रायफलधारी सिपाहियों पर, मार्गदर्शकों पर और खास मेरे पास के आदमियों पर उन्होंने बार-बार हमले किए और एक बार तो मुझे ऐसा लगा कि आज हम हार गए।"

प्रत्यक्ष रणक्षेत्र पर लड़ते एक वीर अंग्रेज अधिकारी द्वारा ऐसे शब्दों में लिखना क्रांतिकारियों के हमले कितने प्रखर होंगे इसका प्रमाण था। उसमें भी अग्नि जैसा प्रज्वलित और शक्तिशाली, फैले हुए घटकों को केंद्रित कर सके, ऐसा प्रबल नेता क्रांतिकारियों को मिला नहीं था। स्वदेश को फिर से स्वतंत्र करने की दुर्दम्य इच्छा और प्लासी के अपमान का गुस्सा—इन दो समान बंधनों से वे क्रांतिकारी एकत्रित हुए थे। भारतीय सेना के हाथों अंग्रेजों का तोपखाना पड़ जाने का भ्रम निर्मित हो गया था और अंत में अपनी सेना को उत्साह देनेवाला मुख्य अधिकारी कर्नल वेल्शमन भी मारा गया। पूरे दिन अंग्रेजी छावनी का हर आदमी दृढ़ता से लड़ता रहा और थकता रहा और अब वह खड़ा नहीं रह सकता ऐसा लगने लगा। ऐसा है तब भी अंग्रेज सेनापति को आशा छोड़ देने का कोई कारण नहीं। क्योंकि उसी प्रात: वहाँ आकर पहुँची ताजादम स्वामीनिष्ठ पंजाबी टुकड़ी उसे लड़ने के लिए कब अवसर मिलता है इसके लिए बड़ी उत्सुक या उतावली है। उसको तुरंत हमला करने का आदेश दिया गया और इन ताजे तगड़े सिपाहियों के

नए हमले से सारे दिन अविरत लड़ते क्रांतिकारियों को असमान लड़ाई लड़ना अनिवार्य हो गया। फिर भी उस विषम स्थिति में भी रात होने तक क्रांतिकारी निरंतर लड़ते ही रहे और बाद में हम ही जीते हैं ऐसा कहते दोनों ही पक्ष की सेनाएँ रण-मैदान से अपनी-अपनी छावनी को लौट पड़ीं। इस प्रकार कहने लायक किसीका भी पराभव न होकर वह प्लासी का शताब्दी दिन पूरा हुआ और दोनों ही पक्ष की सेनाएँ अपनी-अपनी शूरता और धीरज की प्रशंसा करते अपने तल पर लौट पड़ीं।

जैसे-जैसे दिन हो रहे थे वैसे-वैसे नए सैनिक पथक दोनों पक्षों को मिलते गए। पंजाब से निरंतर सैनिक भरती होते जाने से इस समय अंग्रेजों की ओर सैनिकों की संख्या सात हजार से अधिक हो गई थी। दूसरी ओर रुहेलखंड में विद्रोह कर उठे सिपाहियों की पलटन बख्तर खान के नेतृतव में दिल्ली में आ गई थी। लॉर्ड रॉबर्ट्स कहता है—"रुहेलखंड की विद्रोही सेना नौका पुल पारकर कलकत्ता दरवाजे से शहर में प्रवेश करने लगी। हाथों में बड़े-बड़े झंडे और पताकाएँ फहराते, युद्ध घोषणा करते हुए और बड़े ही अनुशासन में संचालन करते शहर में प्रवेश कर रहे हजारों सिपाही हमें अपनी छावनी की टोही टेकरी से दिख रहे थे।" दिल्ली के भिन्न-भिन्न जातियों और धर्मों के, पहले कभी एक-दूसरे का मुँह न देखे हुए और केवल संयोग से और क्षोभ की आँधी के कारण एक जगह पर आए हजारों सिपाही एकत्र रह ही नहीं सकते थे। शहर की लूटमार और आपाधापी रोकने बादशाह और उसके सलाहकार मंत्रीगण यद्यपि लगातार प्रयत्न कर रहे थे और उपदेश भी कर रहे थे तब भी हर दिन सिपाहियों की लूटमार, आपाधापी और दंगल मचाने के समाचार आ ही रहे थे। क्रांतिकारियों में ऐसा होना स्वाभाविक होता है। ऐसी परिस्थिति में इन असंख्य और भिन्न-भिन्न सैनिकी पथकों को संगठित कर एकरूपता निर्माण कर सके ऐसे किसी नेता की आवश्यकता होती है।

इस समय क्रांति काल में सहजता से प्रकट होनेवाली लोगों की दुष्ट प्रवृत्तियों और वाममार्गी मनोवृत्तियों में यद्यपि भयानक उफान आया हुआ था फिर भी ऐसी स्थिति में दिल्ली शहर ने अंग्रेजी सेना पर लगातार हमले कर उनमें अपने लिए भय निर्माण कर उन्हें अपने काबू में रखा था। परकीय शत्रु को देश के बाहर भगा देने की जो अति उत्कट इच्छा सैनिकों और सामान्य नागरिकों में निर्मित हुई थी उसके बल पर ये हमले हो रहे थे। परंतु अंतिम विजय प्राप्त करना हो तो केवल प्रबल इच्छाशक्ति से काम नहीं होता, उसके लिए संगठित और विधिवत् प्रयास और कर्तव्यनिष्ठ नेतृत्व की आवश्यकता होती है। इसलिए अपनी सेना सहित और अपार संपत्ति सहित रुहेलखंड का शूर बख्तर खान दिल्ली पहुँचा अर्थात् उसे ईश्वर ने भेजा ऐसा लगने लगा। बख्तर खान जब दिल्ली आया उस समय दिल्ली के लोगों

की मन:स्थिति कैसी थी इसका वर्णन उसी समय दिल्ली में ही रहते एक सज्जन ने अपनी दैनंदिनी (डायरी) में लिखा है। उस दैनंदिनी का एक उद्धरण उस काल की दिल्ली का केवल दर्शन ही नहीं कराता बल्कि वह लोगों की कुल विचारधारा और घटनाओं पर भी प्रकाश डालता है—

''रुहेलखंड की विद्रोही सिपाही टुकड़ियाँ जल्दी ही आने वाली हैं इस अपेक्षा में यमुना का पुल ठीक कर लिया गया। रुहेलखंड की सेना दूर थी तब से ही बादशाह उसकी ओर दूरबीन से देख रहा था। तारीख २ जुलाई को प्रात: नवाब अहमद कुली खान अपने सरदारों और नागरिकों के साथ रुहेलखंड की सेना का स्वागत करने सामने गया। उस समय हकीम अहसनुल्ला खान, सेनापति सनद खान, इब्राहिम अली खान, गुलाम कुली खान और अन्य नामवर नेता भी उपस्थित थे। रुहेलखंड की सेना के सेनापति मोहम्मद बख्तर खान ने बादशाह को अपनी सेवाएँ स्वीकार कर लेने का निवेदन किया। बादशाह को उसकी क्या इच्छा है यह कहने का बख्तर खान ने जब आग्रह किया तब बादशाह ने कहा—'लोगों को पूरी सुरक्षा मिले, उनकी जान और माल की हिफाजत हो और अंग्रेज शत्रु को नष्ट करने का कार्य सफलता से पार पड़े, यह मेरी तीव्र इच्छा है।' उसपर सेनापति ने कहा कि आपकी इच्छा हो तो क्रांतिकारी सेना के सरसेनापति के पद पर मैं काम करने को तैयार हूँ। उस समय बादशाह ने बड़े प्यार से सेनापति का हाथ दबाया। वैसे ही भिन्न-भिन्न पलटनों के प्रमुखों को इकट्ठा बुलाकर पूछा गया कि—सारी सेना के सेनापति पद पर बख्तर खान का चयन करने को वे तैयार हैं क्या? सब लोगों ने 'हाँ, हाँ' कहा। और सरसेनापति के आदेशों का पालन करने की लश्करी और सैनिकी शपथ भी सबने ली।

''यह शपथ विधि पूरी हो जाने पर बादशाह ने फिर से बख्तर खान से निजी भेंट की। सारे शहर में डोंड़ी पीटी गई कि सरदार बख्तर खान को सरसेनापति के पद पर नियुक्त किया गया है। तलवार, एक पदक और सेनापति का पद उन्हें अर्पण कर उनका सम्मान किया गया। राजपुत्र मिर्जामुगल को उसपर सेनापति पद दिया गया। उसने बादशाह को सूचित किया कि—'शहर में लूटपाट या रक्तपात करते हुए प्रत्यक्ष राजपुत्र भी दिखाई दिया तो तत्काल उसके कान-नाक काटने में मैं आगे-पीछे नहीं देखूँगा।' बादशाह ने उत्तर दिया—'आपको सारे अधिकार दे दिए गए हैं, जरा भी ढील न देते हुए आपको जो उचित लगे वह करो।' शहर कोतवाल को डाँटा गया कि उसकी ढिलाई के कारण यदि गाँव में लूटपाट या दंगा हुआ तो उसे भी फाँसी दे दी जाएगी। बख्तर खान ने कहा कि वह अपने साथ चार पैदल टुकड़ियाँ, सात सौ घुड़सवार, घोड़ों पर चढ़ी छह तोपें, तीन जमीनी तोपें आदि लश्करी सामग्री

लाया है। उसके साथ के सिपाहियों को छह माह का वेतन पहले ही दे दिया गया है और अभी उसके पास चार लाख रुपयों की नगदी होने से सिपाहियों के वेतन या पैसों की आवश्यकता के लिए बादशाह चिंता न करे—ऐसा भी बख्तर खान ने कहा। इतना ही नहीं जो कुछ पैसा लड़ाई में उसके हाथ आएगा वह भी बादशाह के खजाने में तुरंत भरा जाएगा। उसके बाद बादशाह ने चार हजार रुपए मूल्य की मेवा-मिठाई सारी सेना में बाँटी। आगरा के सिपाही, नसीराबाद और जालंधर की पलटनें इन सबपर सरसेनापति बख्तर खान का अधिकार था। शहर के हर आदमी को शस्त्र धारण करना पड़ेगा ऐसा पहला आदेश उसने सरसेनापति के नाते से जारी किया। हर गृहस्थ और दुकानदार भी शस्त्र रखे। जिसके पास शस्त्र न होगा वह वरिष्ठ थाने में जाकर पूछताछ करे तो उसे तत्काल शस्त्र दिया जाएगा। पर कोई भी बिना हथियार न रहे। कोई सिपाही लूटपाट करता दिखे तो तुरंत उसका हाथ काट दिया जाएगा। बख्तर खान शस्त्रागार में गया और उसने निरीक्षण कर शस्त्रों और गोला-बारूद निर्माण को गति दी। रात आठ बजे सरसेनापति राजमहल गया। बादशाह ने बेगम जीनत महल, हकीम अहसनुल्ला खान और अहमद कुली खान के साथ राज्य के हालचाल पर चर्चा की। ३ जुलाई के दिन सामान्य परेड के संचालन के समय कोई बीस हजार सिपाही उपस्थित थे।[१]''

बख्तर खान के आगमन के कारण दिल्ली के क्रांतिकारी पक्ष को जब उसने कुछ संगठनात्मक रूप देना प्रारंभ किया—उसी समय दूसरी ओर अंग्रेजी पक्ष को भी पंजाब और अन्य हिस्सों से भी उत्साही और साहसी नई कुमुक मिल रही थी। पंजाब से हाल ही में पहुँचे ब्रिगेडियर जनरल चेंबरलेन की शूरता, उत्साह और कल्पनाशक्ति में बराबरी कर सकें ऐसे बहुत ही कम आदमी अंग्रेज सरकार के पास थे। प्रख्यात लश्करी इंजीनियर बेअर्ड स्मिथ भी उनसे आ मिला। सिखों से कुछ ही समय पूर्व हुई लड़ाई में जिन्होंने नाम कमाया था ऐसे सारे सिपाही जॉन लॉरेंस ने दिल्ली में अंग्रेजों की सहायता के लिए भेज दिए थे। सेनापति बर्नार्ड ने पहले कई बार दिल्ली पर हमला करने की बात सोची थी, पर उसे पूरा नहीं किया गया था। अब नई कुमुक मिल जाने से उसने दिल्ली पर सीधे और साहसी आक्रमण करने का निश्चय किया। पहले जैसी ही इस हमले की सारी योजना बनाई गई और तारीख ३ जुलाई को हमले की तैयारी के साथ अंग्रेजी सेना कूच कर गई। पर क्या? किसीने यह समाचार दिया कि सरसेनापति बख्तर खान ने अंग्रेजों के दिल्ली पर चढ़ाई करने का श्रम बचा दिया! क्योंकि वह स्वयं ही उनपर हमला करने आ रहा

---

१. मेटकॉफ कृत—'नेटिव नैरेटिव्स', पृष्ठ ६०।

है। तारीख ४ जुलाई को बख्तर खान फिर चढ़ आया और उसने अंग्रेजों को अलीपुर तक पीछे ढकेला।

दिल्ली गए, दिल्ली शहर पर केवल नजर फेंकी, दृष्टि पड़ी कि उसे सहज ही हमने जीता, ऐसी गर्वोक्तियाँ दिल्ली को घेरने के पहले जो अंग्रेज करते थे वे अंग्रेज पंजाब से नई प्रबल पलटनें आने के बाद भी पूरे एक माह में एक कदम भी आगे नहीं बढ़ा पाए। यह देखकर भावना प्रधान सेनापति बर्नार्ड को अति दुःख और शर्म लगती। अंग्रेज दिल्ली जीतने को जितने आतुर थे उससे भी अधिक उनका आत्मविश्वास उसे सहज ही जीतने का था। वह ऐसा आत्मविश्वास था कि बंबई, कलकत्ता और मद्रास तक दिल्ली जीत लेने का समाचार फैल गया। और जब अंग्रेजों को बार-बार यह दिखाई दिया कि ये समाचार निराधार हैं तब सारे हिंदुस्थान के लोग एक-दूसरे से पूछने लगे—"दिल्ली में अंग्रेजी सेना कर क्या रही है?" यही चिंता और शर्म बर्नार्ड के मन में बस गई थी और पहले की इस अंधकारमय परिस्थिति से कुछ भिन्न हो सकेगा उस समय ऐसा उसे नहीं लगता था। उलटे भावी समय का विचार करते हुए उसे वह अधिक अँधियारा ही लगता। सिपाहियों के लगातार होनेवाले हमलों के कारण उसे रत्ती भर विश्राम नहीं मिलता था। इतना ही नहीं, क्रांतिकारियों की उस राजधानी पर सीधा और साहसी हमला करने की उसकी महत्त्वाकांक्षा उगते हर नए दिन धुलती जा रही है, उसे ऐसा दिखता था। अंत में शरीर से थका, मानसिक चिंता से ग्रस्त और निराशा में डूबा हुआ अंग्रेज सेनापति बर्नार्ड ५ जुलाई को हैजे की महामारी की बलि चढ़ गया। इस समाचार से अंग्रेजी छावनी की सेना पर जैसे दुःख का पहाड़ ही टूट पड़ा। दिल्ली में प्रवेश करने का प्रयास करनेवाला यह दूसरा अंग्रेज सेनापति दिल्ली में तो नहीं कब्र में प्रवेश करने में सफल हुआ। उसके बाद सेनापति रीड ने सेना के अधिकार सूत्र अपने हाथ लिये और वह अंग्रेजी सेना का तीसरा सेनापति हो गया।

अंग्रेजी छावनी में हमला करने की जब योजनाएँ बन रही थीं, दिल्ली के नागरिक तब प्रत्यक्ष कृति कर रहे थे। स्थानाभाव के कारण उन सबका वर्णन यहाँ नहीं कर सकते। ऐसा होते हुए भी ९ जुलाई और फिर से १४ जुलाई के दिन जिस दृढ़ता से क्रांतिकारी लड़े और अंग्रेजों की तरह ही क्रांतिकारियों ने शूरता का कमाल दिखाया—वे अवसर महत्त्वपूर्ण और स्फूर्तिदायक होने से उन्हें छोड़ा नहीं जा सकता। पहले दिन अंग्रेजी घुड़सवार को हराकर उन्हें भगा दिया गया। अंग्रेजी तोपखाना बंद कर दिया गया। एक शूर सिपाही ने हिल और उसका घोड़ा दोनों को ही मार गिराया। हिल ने मरते-मरते अपनी तलवार निकाली तभी तीन सिपाही उसपर झपट पड़े। हिल ने दो बार गोली दागने का असफल प्रयास किया। एक

सिपाही अपनी तलवार निकालने में सफल हुआ। दोनों की लड़ाई शुरू हुई, दोनों नीचे गिरे। हिल भूमि पर सीधा गिरा और उसके सीने पर एक पैर रखकर हाथ में तलवार लिये एक सिपाही खड़ा था। मेजर टोंब्स ने तीस फीट दूर से यह दृश्य देखा और उसने निशाना साधकर सिपाही पर गोली चलाई और उसे मार डाला। मेजर टोंब्स ने हिल को भूमि पर से उठाया और वह उसे हिलाने लगा था उसी समय दूसरा सिपाही हिल की पिस्तौल हाथ में लेकर उसपर हमला करने चला आ रहा है यह देखकर वह आश्चर्यचकित हो गया। उस सिपाही ने दो-तीन अंग्रेजों से अकेले ही लड़ते हुए एक को तलवार से घायल कर दिया, दूसरे को मार डाला और तीसरे की तलवार से वह स्वयं ही बलि हो गया। टोंब्स और हिल को उनके द्वारा दिखाई गई शूरता के लिए विक्टोरिया क्रॉस दिए गए और सर जॉन 'के' कहता है कि उस बहादुर सिपाही को भी 'बहादुर शाह' क्रॉस मिलना चाहिए था। उस स्वतंत्रता संग्राम में शहीद हुए, हुतात्मा हुए कितने ही वीर 'बहादुर शाह चक्र' पाने के अधिकारी थे। पर शूर, स्वार्थ त्यागी सिपाहियों को बहादुरशाह चक्र नहीं मिलते थे, तब भी उससे अधिक गौरवपूर्ण शहीद होने का, हुतात्मा होने का कर्तव्य चक्र प्रत्यक्ष मृत्यु देवता की ओर से मिलने का सौभाग्य उन्हें मिलता है, यह बात सत्य थी! उस दिन अंग्रेजी सिपाहियों का अपमान भरा पराभव हुआ, पर इसका प्रतिशोध क्रांतिकारियों से ले न सकने के कारण वे शूर अंग्रेज अपनी छावनी में लौट गए और वह प्रतिशोध अपनी सेवा कर रहे निरपराध भिश्तियों और अन्य भारतीय लोगों को मार उनके टुकड़े-टुकड़े करके रक्त कुंड में डाल लिया।[1]

सच में देखा जाए तो इन्हीं भिश्तियों और अन्य भारतीय लोगों ने अंग्रेजी सेना को उसकी उत्तम सेवा-चाकरी कर लड़ने की स्थिति में बनाए रखा था। पर १४ जुलाई के आक्रमण में इससे भी बुरी स्थिति हुई। क्योंकि इसी दिन शूर चेंबरलेन को एक सिपाही ने गोली चलाकर मार डाला। चेंबरलेन की मृत्यु के कारण हुई राष्ट्रीय हानि एवं दुःख का वर्णन अंग्रेज इतिहासकार निम्न शब्दों में करते हैं—''हमारे पक्ष का श्रेष्ठ योद्धा, कीर्ति से पहला और सम्मान में प्रथम! चेंबरलेन का शव जिस दिन हमारे शिविर में फिर से लाया गया वह हमारे इतिहास

---

१. ''बताया जाता है कि सामने शत्रुओं के न होने पर कतिपय गोरे सिपाहियों ने उन निरीह, निरपराध कर्मचारियों और नौकरों तथा अन्य लोगों की ही हत्याएँ कर डालीं, जो ईसाई श्मशान के समीप भयभीत होकर एकत्रित हो रहे थे। कितनी भी निष्ठा कोई प्रदर्शित करे, उसका जी भरकर ढिंढोरा पीटे, कष्ट उठाए, पूरब की मैली वरदी पहने प्रत्येक व्यक्ति से गोरे जो द्वेष रखते हैं, वह तो कदापि कम नहीं होगा।'' —के एवं मैलसन कृत—'इंडियन म्युटिनी', खंड २, पृष्ठ ४३८

का एक अति दुःखदायी दिन था।''

इस तरह १५ जुलाई बीत गई फिर भी दिल्ली के प्रासाद-शिखर अपने मस्तकों पर सूर्य किरण से चमचमाते ध्वज, पताका, झंडियाँ खड़े कर विश्व को चिल्लाकर कह रहे थे कि दिल्ली शहर अब स्वतंत्रता का निवास स्थान हो गया है और आँख के सामने मृत्यु स्पष्ट दिखाई दे रही थी इसलिए स्वयं रीड ने इस्तीफा दिया, अधिकार त्याग किया और हिमालय की टेकरियों में जाकर वहाँ रहने लगा। अंग्रेजी सेना का यह तीसरा सेनापति था। दो को भूमि में गाड़ा गया और तीसरे ने अपना अधिकार छोड़कर अपने प्राण बचाए। इतना हुआ तब भी दिल्ली अजित ही बनी रही। क्वाटर मास्टर जनरल बेचर एवं अॅडज्यूटंट जनरल चेंबरलेन अपने शिविर में ही पड़े मृत्यु के पल गिन रहे थे तब भी दिल्ली जीत न सके। इतना ही नहीं क्रांतिकारियों की ओर से होनेवाले निरंतर और त्रासदायक हमलों से कैसे बचा जाए, यह प्रश्न अंग्रेजों को सता रहा था। क्योंकि क्रांतिकारियों की संख्या इस समय बीस हजार तक हो गई थी। क्रांतिकारियों द्वारा किए जानेवाले हर हमले में उनका काफी मनुष्यबल खर्च हो जाता था फिर भी उसका अंग्रेजों को कोई लाभ नहीं था। पर उनके मुट्ठी भर सैनिक मर जाने से अंग्रेजों का संख्याबल घटता जा रहा था। इसलिए अंग्रेजों ने अब सुरक्षात्मक नीति अपनाई। आक्रमण में होनेवाली मृत्यु से क्रांतिकारियों की शक्ति विशेष दुर्बल नहीं होती थी और उनके आक्रमणों में भी बाधा नहीं आती थी, उलटे वे अधिक निश्चयी और निर्भय होकर अभिमानपूर्वक कहने लगे कि 'अंग्रेजों की विजय का मूल्य पराभव जितना ही है।' सारे हिंदुस्थान में फैले हुए अंग्रेज भी टीका करने लगे, शिकायतें करने लगे और स्पष्टता से लिखने लगे—''घेरा डालनेवाले ही घेरे में फँस गए हैं।'' और ऐसी स्थिति में जब तीसरा सेनापति निवृत्त हुआ तब ग्रेट हेड, चेंबरलेन और रॉटन जैसे रणवीरों को दिल्ली पर हमला करने की आशा छोड़ देनी पड़ी। प्रत्यक्ष मुख्यालय में, मुख्य छावनी में ही दिल्ली का घेरा उठा लेने की भाषा और चर्चा चलने लगी। जब तीसरे सेनापति रीड ने त्यागपत्र दिया और उसके स्थान पर चौथा सेनापति ब्रिगेडियर जनरल विल्सन आया, तब दिल्ली में अंग्रेजों की ऐसी करुणास्पद स्थिति हो गई थी।

□

प्रकरण–२

हैवलॉक

जब सिख सिपाहियों ने इलाहाबाद का किला क्रांतिकारियों को न सौंपकर अंग्रेजों को दे दिया तभी से अंग्रेजों ने उसे अपनी कार्यवाही का मुख्य शिविर बनाया। उत्तर हिंदुस्थान की मुलुकी और लश्करी कार्यवाहियाँ कलकत्ता जैसे दूरस्थ केंद्र से करनी पड़ती थीं और उसमें धोखा था, जो इस नए केंद्र के कारण नहीं रहा। विद्रोह का शमन होने तक राजधानी इलाहाबाद में ही रखने का निर्णय लॉर्ड केनिंग ने किया और कुछ ही दिनों में वह स्वयं इलाहाबाद रहने के लिए चला आया। परंतु तभी कानपुर के अंग्रेजों की भागम-भाग के समाचार और उनके द्वारा सहायता के लिए मचाई गई चिल्ल-पों सुनाई देने लगी, इसलिए जनरल नील ने इलाहाबाद की सुरक्षा के लिए थोड़ी सी सेना रखकर शेष सारी सेना को मेजर रेनॉल्ड के नेतृत्व में कानपुर का घेरा तोड़ने के लिए भेज दिया। यह सेना रास्ते के गाँवों में मन मरजी आग लगाते बढ़ी। उस समय कानपुर की अंग्रेजी सेना के सेनापति पद पर नील के स्थान पर हैवलॉक की नियुक्ति हुई। वह जून के अंत में इलाहाबाद आया। वह सैनिक कार्यवाहियों में पारंगत और अनुभवी अधिकारी था। अंग्रेजों के सौभाग्य से इधर विद्रोह के प्रत्यक्ष फूट पड़ने के समय अंग्रेजों का ईरान से चल रहा युद्ध समाप्त हो गया और उस अभियान में लगी सारी यूरोपियन सेना हैवलॉक जैसे सेनानी सहित हिंदुस्थान में ऐन आपात स्थिति में आ पहुँची। हैवलॉक के इलाहाबाद में मुख्य अधिकारी होकर आ जाने से उसके अधीन काम करना पड़ेगा यह देखकर नील के मन में यद्यपि बड़ा मत्सर जागा फिर भी उसने सार्वजनिक कर्तव्य में मत्सर या खेद के कारण कोई ढिलाई नहीं आने दी। हैवलॉक के साथ जानेवाली सेना की उसने स्वयं की सेना जैसी ही उत्तम व्यवस्था की। उसे दाने-चारे की सहायता की और हैवलॉक के आते ही अपना चार्ज उसको बिना किसी विवाद के सौंप दिया।

इस सेना के कानपुर के अंग्रेजों की सहायता के लिए जाने की तैयारी होने पर हैवलॉक बड़े उत्साह से उधर जाने को था कि उसे समाचार मिला कि कानपुर में सर हो व्हीलर ने पराजित होकर विद्रोहियों के सामने समर्पण कर दिया और उसके सहित अंग्रेज पुरुषों का गंगा किनारे भयानक कत्ल हो गया।

जीवित अवस्था में जिसे सुरक्षा प्रदान करना असंभव हुआ अब उसकी मृत्यु का निष्ठुर प्रतिशोध लेना ही होगा, ऐसी प्रबल इच्छा से हैवलॉक इलाहाबाद से कानपुर की ओर तेजी से निकला। उसके साथ चुने हुए एक हजार यूरोपियन पैदल, सौ-डेढ़ सौ सिख, यूरोपियन घुड़सवारों की छोटी सी एक टुकड़ी और छह तोपें—इतनी सेना क्रोधित हो जान की बाजी लगाने निकली थी, नए अधिकारियों और सिपाहियों को उस प्रदेश की जानकारी देने के लिए, लड़ाई में स्वयं लड़ने के लिए और लड़ाई के बाद क्रूर प्रतिशोध लेने के लिए। विद्रोही सिपाहियों की रेजिमेंट में से या विद्रोही नागरिकों द्वारा दया भाव से जान-बूझकर जीवित छोड़े या लापरवाही से जीवित छूटे हुए कितने ही लश्करी और मुलुकी अधिकारी उस सेना के साथ चल रहे थे। जो अकेले-अकेले हाथ पड़ते तो एक शब्द के साथ ही विद्रोहियों द्वारा जला दिए जाते, वे ही अंग्रेज लोग आज फिर से इकट्‌ठे होते ही, उनके कारण गाँव-के-गाँव राख होने लगे।

रीड के अधीन एक टुकड़ी फतेह की ओर आ रही है यह समाचार कानपुर पहुँचते ही नाना साहब ने विद्रोहियों में से बहुत सी सेना उधर भेज दी। ज्वाला प्रसाद, टीकासिंह और इलाहाबाद के मौलवी के नेतृत्व में रीड के मुट्‌ठी भर अंग्रेजों को पहले ही प्रहार में चित्त करके विजयश्री के साथ तुरंत ही कानपुर लौट आएँगे इस उत्साह से निकली विद्रोहियों की सेना फतेहगढ़ के पास आ पहुँची। उसी समय अचानक रीड की टुकड़ी से हैवलॉक की सेना आ मिली। और इस सम्मिलित अंग्रेजी सेना ने विद्रोहियों की सेना आ गई—यह सुनते ही अपनी तोपों को बत्ती दी। यह लड़ाई १२ जुलाई को हुई। रीड की टुकड़ी को बात-की-बात में नष्ट कर देंगे इस विश्वास से विद्रोहियों द्वारा अंग्रेजी सेना पर हमला करते ही मुट्‌ठी भर लोगों के स्थान पर तोपखाने के साथ सर्वांगपूर्ण हैवलॉक की गोरी सेना रणांगन में कूद आई। यह धोखा एकाएक सामने आ जाने से विद्रोहियों में दहशत बैठ गई और वे अपनी तोपें रणांगन में छोड़कर भागने लगे। उनका पीछा करना संभव न होने से उन्हें छोड़ अंग्रेजी सेना फतेहपुर शहर में घुस गई। इस फतेहपुर शहर ने जब विद्रोह किया था तब वहाँ की अगुवाई अंग्रेज सरकार के नौकर, डिप्टी मजिस्ट्रेट के पद पर आसीन हिकमतुल्ला नामक एक मुसलमान ने की थी। और इस शहर में यूरोपियन अधिकारियों का रक्त भी विद्रोही नागरिकों की तलवारों ने पिया था। उस रक्तप्रिय

शहर पर अब प्रतिशोध की तलवार आ पड़ी। विद्रोह होने पर लोगों को न मारते हुए छोड़ दिया गया। उस शहर का पूर्व मजिस्ट्रेट शेररे उस विजयी सेना के साथ आया था और बहुत दिन से रुकी हुई अपनी मजिस्ट्रेटी चलाने को वह अब उत्सुक था। इसलिए पहले लश्कर को शहर लूटने का आदेश दिया गया और जब उस शहर में लूटने के लिए कुछ भी शेष नहीं रहा तब उस शहर को आग लगा देने का दूसरा आदेश हुआ। परंतु इस आदेश के पालन का सम्मान केवल सिख सिपाहियों को ही दिए जाने के कारण गोरी सेना के फतेहपुर से निकलते ही सिखों ने, उन्हें सौंपी गई खास कार्यवाही संपन्न करते हुए उस शहर को आग लगा दी और फिर वे मुख्य सेना से जाकर मिल गए।

फतेहपुर शहर को जब अंग्रेजी सेना जीवित जला रही थी तब उसकी ज्वालाओं की लपटें फैलते-फैलते जल्दी ही कानपुर को गरमी देने लगीं। मेजर रीड की टुकड़ी को मारने के लिए अपनी सेना टूटी तभी मेजर हैवलॉक की सेना ने अकस्मात् हमला कर उन्हें भगा दिया। फतेहपुर शहर में अंग्रेजी सेना ने प्रवेश किया और वहाँ की संपत्ति लूटकर आदमियों को आग में भस्म कर डाला। ये समाचार नाना के दरबार में आते ही वहाँ क्रोध, निराशा और आवेश की लहरें उठीं और उससे वह दरबार खौलने लगा। कानपुर पर आक्रमण करने आ रहे अंग्रेजों को पांडु नदी पर ही रोक लेने के लिए नाना साहब के अधीन एक सेना भेजने को नाना का दरबार उठता है तो अंग्रेजों की ओर गए हुए कुछ दगाबाज जासूस पकड़े जाने का समाचार आया। इन दगाबाज जासूसों की जाँच में यह सिद्ध हो गया कि उनमें से कुछ को नाना की कैद में रह रही गोरी महिलाओं ने इलाहाबाद के अंग्रेजों को विश्वासघाती पत्र लिखे हैं।[१] सिपाहियों के कत्लेआम से जिनका अबला कहकर नाना ने बचाव किया उनकी इन गुप्त कार्यवाहियों का डंका पिट जाने पर इन कुटिल गोरी स्त्रियों का क्या किया जाए, यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित हुआ। फतेहगढ़ अंग्रेजों ने जलाया वैसे ही यह बीबीगढ़ भी हम क्यों न जलाएँ? उस दिन की खास

---

१. ''फतेहपुर में क्रांतिकारी सेना की पराजय के उपरांत कतिपय प्रसिद्ध गुप्तचरों को नाना साहब के समक्ष उपस्थित किया गया। बंदीगृह में पड़ी कतिपय असहाय महिलाओं द्वारा सुदूर स्थानों को लिखे पत्रों के कतिपय इन गुप्तचरों के पास होने का आरोप लगाया था। उन पत्रों में कतिपय महाराजाओं तथा नगर के 'बाबू' लोगों का हाथ होने की आशंका व्यक्त की गई थी। तभी यह निश्चय किया गया कि उन गुप्तचरों तथा उन कतिपय अंग्रेज पुरुषों तथा महिलाओं का भी वध कर दिया जाए, जिन्हें प्राणदान दे दिया गया था।''

'नैरेटिव्स ऑफ दि रिवॉल्ट', पृष्ठ ११६

बैठक में टीकासिंह ने कहा—''ये महिलाएँ कानपुर के बीबीगढ़ में ऐसे ही रहीं तो अपनी पराजय होने पर कानपुर शहर को अंग्रेज राख तो करेंगे ही, पर उनके कथन के आधार पर हजारों लोग अंग्रेजों के द्वेष की बलि चढ़ेंगे इसलिए मेरे विचार से कानपुर से अंग्रेज भिड़ें इसके पूर्व यहाँ की आंतरिक जानकारी देने एक भी गोरी चमड़ी शेष न रहे।''[१]

बीबीगढ़ में जो महिलाएँ थीं उनमें से कितनी ही कानपुर में दस-दस वर्ष से रह रही थीं। अंग्रेजों के विरुद्ध जो लड़े उनमें से बहुतेरे नागरिकों को वे नाम-पते सहित जानती थीं। अत: उनके अस्तित्व का विष भरा पात्र भंग न किया तो वह कानपुर के जीवन को हानि किए बिना चूकेगा नहीं, ऐसा इस सभा में सबका विचार बना। उस कैदखाने को बीबीगढ़ कहा जाता था, पर उसमें नाना के आदेश से बचे हुए कुछ पुरुष भी थे। उन सबको उनके विश्वासघाती पत्र ले जानेवाले जासूसों सहित मार डाला जाए ऐसा सर्वसम्मत निश्चय कर उस घोर रात की यह घोरतम सभा विसर्जित हुई। दूसरे दिन उन जासूसों और कैद में पड़े गोरे पुरुषों को बाहर खींचा गया। एक कतार में वे खड़े रहे और स्वयं नाना साहब के सामने पहले उन जासूसों के सिर सटासट उड़ाए गए और बाद में कैद के गोरे पुरुषों को आगे लाकर गोली से मार डाला गया। नाना साहब के वहाँ से उठते ही उन गोरे लोगों के शवों के पास आकर लोग मजाक करने लगे—''देखो यह मद्रास का गवर्नर, यह बंबई का, यह बंगाल का…''

ऐसा मजाक इधर चल रहा था और उधर बीबीगढ़ के पहरेदार सिपाहियों को अंदर घुसकर कत्ल करने का आदेश हुआ। पहरेदार ऐसा कत्लेआम करने का साहस न जुटा सके। तब ऐसे सिपाहियों से अधिक योग्यता का आदमी चाहिए यह देखकर उस बीबीगढ़ की मुख्य अधिकारी बेगम साहब ने कानपुर शहर की खटीक बस्ती में वह आदेश भिजवाया। थोड़ी देर में हाथों में नंगी तलवारें और तेज छुरियाँ लेकर खटिक लोग उस बीबीगढ़ में शाम के समय अंदर घुसे और काफी रात गए बाहर आए। उनके उस घुसने और निकलने के बीच गोरे रक्त का लाल-लाल समुद्र फैल गया। बीबीगढ़ में घुसते ही उन्होंने हाथ की तलावार और छुरियों से कोई डेढ़ सौ गोरी महिलाएँ और गोरे बच्चे काट डाले। उस जगह पर रक्त की तलैया भर गई और उस रक्त में नरमांस के टुकड़े तैरने लगे। अंदर जाते समय वे खटिक जमीन पर से चलते गए और बाहर निकलते समय उन्हें रक्त जल का प्रवास करना पड़ा। रात

१. Forrest's Introduction में फॉरेस्ट कहता है—''आगे साक्ष्य न मिले इसलिए कत्लेआम का आग्रह—पहला प्रस्ताव टीकासिंह ने किया।''

को बीबीगढ़ में अधमरों की चिल्लाहट, मरणोन्मुखों के आर्तनाद सुनाई दे रहे थे। भोर होते ही बीबीगढ़ से उन अभागे प्राणियों को खींच-खींचकर बाहर निकाला और पास के एक कुएँ में डाल देने का कार्य प्रारंभ हुआ। शवों के ढेर का कुछ भार हलका होते ही एक-दो बच्चे ऊपर आ गए और कुएँ के किनारे भागने लगे। लेकिन धक्का लगकर वे भी मरे हुओं पर गिर गए। उन मरों पर मरे हुए और उनपर फिर मरे हुए। आज तक आदमी कुएँ का पानी पीता था परंतु आज कुएँ ने आदमी का रक्त पीना चालू किया। फतेहगढ़ में जलते हुओं का आर्तनाद अंग्रेज आकाश में फेंक रहे थे तभी बीबीगढ़ में रक्त से सनी गोरी चीखें पांडे पाताल में फेंक रहे थे। मनुष्य प्राणी की इन दो भिन्न जातियों में सौ वर्ष से जमा रकम का हिसाब इस तरह चुकता होने लगा।[१] कानपुर का कुआँ, इसे भरने का जो-जो प्रयास हुआ वह विफल हुआ। बंगाल की खाड़ी भी कालप्रवाह में भर जाएगी पर यह कानपुर का कुआँ कभी नहीं भरेगा।

इसी समय पांडु नदी पर पहुँची नाना की सेना का पराभव करते हैवलॉक आगे घुसता गया। नाना की सेना के सेनापति बाला साहब पेशवा के कंधे में गोली लगने से उनके वापस कानपुर आते ही नाना ने तुरंत एक युद्ध सभा बुलाई। लड़ाई न करके कानपुर छोड़ें या कानपुर छोड़ने के पूर्व मैदान में एक जोरदार टक्कर देकर देखें। इन दो मुद्दों पर युद्ध सभा में बहुत चर्चा होकर अंत में दूसरे रास्ते का अनुसरण करना तय हुआ। १६ जुलाई को अंग्रेजी सेना कानपुर के पास आने लगी। कानपुर के कुएँ की कथा उन्हें अभी तक ज्ञात न होने से यद्यपि व्हीलर ला का किला हाथ से निकल गया तब भी बीबीगढ़ को विद्रोहियों के कब्जे से छुड़ा लेने की जिद उन्हें धूप, श्रम और लड़ाई में भी एक क्षण विश्राम नहीं लेने दे रही थी। कानपुर शहर के शिखर दिखते ही हैवलॉक को इष्ट समय आने का उत्साह चढ़ने लगा। उसने पांडे की सेना की बारीक जाँच शुरू की। कानपुर के रण पर इतनी उत्तम रीति से व्यूह रचकर खड़ी सेना को देखकर रण-मैदान पर पूरा जीवन गुजार

---

१. ''क्रूरता की पराकाष्ठा, अवर्णनीय लज्जा आदि विशेषणों से इस पाशविक हत्याकांड का वर्णन किया गया है; किंतु ये सब तो विभ्रांत कल्पना शक्ति की मनगढ़ंत बातें ही हैं जिनपर बिना किसी प्रकार का ध्यान दिए ही विश्वास कर लिया गया। (परिणामों की तनिक भी चिंता न की गई) बिना विचारे ही उनका प्रसार और प्रचार किया गया। किसीका अंगच्छेद न हुआ, किसीका अपमान नहीं हुआ। यह साक्षी दी है, क्योंकि उन्होंने जून और जुलाई मास में हुई हत्याओं से संबद्ध प्रत्येक बात का खोजपूर्ण अवलोकन किया था।''

—के एवं मैलसन कृत—'इंडियन म्युटिनी', खंड २, पृष्ठ २८१

देनेवाले उस योद्धा को ऐसा लगने लगा कि विद्रोहियों में अपेक्षा से अधिक लश्करी चतुराई भरी हुई है। उसने अपने अधिकारी इकट्ठा किए और उन्हें हाथ की तलवार के छोर से धूल पर लश्करी आक्रमण का अपना नक्शा खींचकर बताया। विद्रोहियों पर सामने से आक्रमण करने के स्थान पर बाईं ओर पहले हमला करना चाहिए यह हैवलॉक अपनी सेना को समझा रहा था तभी विद्रोहियों की व्यूहबद्ध सेना में एक सफेद घोड़े पर सवार होकर श्रीमंत नाना साहब आ मिले। सिपाहियों को उत्साहित करते इस छोर से उस छोर तक नाना साहब घोड़ा दौड़ाते अंग्रेजों की छावनी से स्पष्ट दिख रहे थे।

दोपहर के समय अंग्रेजों का नाना के बाएँ बाजू पर हमला हुआ—इस अकस्मात् और अनपेक्षित स्थान पर हुए अंग्रेजों के जोरदार हमले को रोकने के लिए विद्रोहियों की तोपें गरजने लगीं। अंग्रेजी तोपखाना आने में विलंब हो जाने के कारण विद्रोहियों का जोर बढ़ गया। परंतु विद्रोहियों की बढ़त देखकर क्रोधित हैवलॉक जब फिर से एक बार चढ़ाई करने लगा—अंग्रेजी हायलैंडर्स मुँह घुमाकर सीधे तोपों पर दौड़ गए और जब एक कदम भी पीछे न रहते मृत्यु या विजय, ऐसा पक्का निश्चय कर अंग्रेजी सेना बिजली सी टूट पड़ी, तब उस एकीकृत, अनुशासित और अनपेक्षित मार को सहन करने में पूर्णत: असमर्थ हुई विद्रोहियों की सेना बाएँ बाजू की तोपें छोड़ भाग खड़ी हुई। बायाँ बाजू इस तरह पिटते ही अंग्रेजों के पैदलों ने विद्रोहियों के दाएँ बाजू को भी पराभूत कर दिया। अंग्रेजी सेना विजयी हुई यह देखते ही विद्रोही कानपुर के रास्ते पीछे हटने लगे। परंतु अब निराशा का अवसाद भरा होने के कारण फिर से एक बार नाना ने उन्हें इकट्ठा किया और आरक्षित रखी तोपों की सहायता से फिर से युद्ध करने का प्रयास किया। इस समय नाना ने उत्साहित करने और स्वयं अगुवाई कर साहस लाने की पराकाष्ठा की, फिर भी हताश हुए सिपाही और विजय से उन्मत्त अंग्रेजी सोल्जर इन दोनों के मध्य का अंतर पाटना बहुत कठिन था। अंग्रेजों ने एक हमला और किया और निराशा से भरी टक्कर विफल हो गई और कानपुर के रण-मैदान पर विजयश्री फेंककर विद्रोही ब्रह्मावर्त की ओर भाग खड़े हुए।[१]

१७ जुलाई को प्रात: हैवलॉक की विजयी सेना कानपुर शहर में प्रवेश करने लगी। अस्तगत होती अंग्रेजी आबरू को फिर से जीवन देनेवाली यह सफलता की

---

१. रेड पैम्फ्लेट का प्रसिद्ध लेखक कहता है—''ऐसी कानपुर की लड़ाई हुई—विद्रोहियों ने अच्छी टक्कर दी। तलवार से तलवार भिड़ गई फिर भी उनमें से बहुत हटे नहीं, तोपें ढंग से सँभालीं और उनकी गोलंदाजी भी निशाने पर थी।''

पहली लहर कानपुर में लानेवाले हैवलॉक और उसकी सेना का हिंदुस्थान और इंग्लैंड में जहाँ-जहाँ भी गोरे रहते थे वहाँ-वहाँ धन्यवाद शुरू हो गया। इंग्लैंड के रास्तों के हर मोड़ पर, दुकानों की पटरियों पर, शराबखाने की दीवारों पर इधर-उधर हैवलॉक का नाम खुदा हुआ था।

कानपुर शहर को लूटने का आदेश मिलते ही हजारों अंग्रेजी सोल्जर, अधिकारी और सिख सिपाही उस शहर पर गिद्धों जैसे टूट पड़े। बीबीगढ़ में अंग्रेजी महिलाओं का रक्त जमा देखकर उसे धोने के लिए हैवलॉक ने शहर के उन ब्राह्मणों को पकड़कर बुलाया जिनपर विद्रोह में सम्मिलित होने का शक था। उन्हें फाँसी का दंड देकर फाँसी पर लटकाने के पहले वह जमा हुआ रक्त जीभ से चाटने और फिर वह हिस्सा हाथ से झाड़ू लेकर धोने को बाध्य किया गया। जिन्हें एक क्षण के बाद मार डालना है उनको यह अप्रतिम दंड देने का कारण देते हुए अंग्रेज अधिकारी कहते हैं—''फिरंगी रक्त का स्पर्श करना और वह भंगी के झाड़ू से धोना यह बात उच्च जाति के हिंदुओं को धर्मभ्रष्ट करनेवाली है यह मुझे मालूम है। इतना ही नहीं, यह ज्ञात है इसीलिए मैं उनसे यह करा रहा हूँ। अपने स्वधर्म में मरने का अल्प संतोष भी उन्हें न रहे इसलिए उनकी धर्मभावनाओं को जान-बूझकर पैरों तले रौंद, फिर उन्हें फाँसी पर चढ़ाने के अतिरिक्त वास्तविक प्रतिशोध नहीं लिया जा सकता।'' अंग्रेज लोगों की हुई आमहत्या में विद्रोहियों ने उनके धर्म संबंधी अत्याचार नहीं किए। इतना ही नहीं, जब-जब मरने के पहले अंग्रेजों ने बाइबिल पढ़ने की अनुमति माँगी तब-तब वह उन्हें दी गई। परंतु दिल्ली और कानपुर में मरनेवालों को स्वधर्म में मरने का संतोष भी अंग्रेजों ने नहीं दिया।

फिर भी ऐसी दुर्दशा में भी जिन्होंने मृत्यु को सिद्धांतनिष्ठा के साथ धैर्य से मुसकराते हुए स्वीकारा, ऐसे धीर जनों ने कानपुर की फाँसी को कुछ कम अलंकृत किया था, ऐसा नहीं। चार्ल्स बॉल लिखता है—''जनरल हैवलॉक ने सर हो व्हीलर की मृत्यु का भयानक प्रतिशोध लेना प्रारंभ किया। नेटिव की टोलियों-पर-टोलियाँ फाँसी पर चढ़ने लगीं। इन विद्रोहियों में से कुछ ने मृत्यु के समय जो मानसिक अचलता और धैर्य का प्रदर्शन किया वह किसी सिद्धांतप्रियता के लिए आत्मयज्ञ करनेवालों के लिए भूषणभूत होनेवाला था। कानपुर के स्वदेशी मजिस्ट्रेटों में से जिन्होंने विद्रोह में नाना की विपुल सहायता की थी और जो फिरंगियों का कट्टर द्वेषी था ऐसे एक मजिस्ट्रेट की जाँच चलने और उसे अधम, नीच जनोचित मृत्यु का दंड दिए जाने पर वह इतना निश्चिंत दिख रहा था मानो वह मृत्युदंड उसे न दिया जाकर दूसरे ही किसीको दिया जा रहा है। प्रशांत स्थिरता से उठ उसने जज की ओर पीठ फेरी और अपने लिए खड़ी की गई फाँसी की ओर वह दृढ़ पदन्यास से

चलकर गया। जल्लाद लोग फाँसी की अंतिम तैयारी कर रहे थे, रत्ती भर भी कंपित हुए बिना निश्चल मुद्रा से वह जल्लादों के काम को सहज देख रहा था और जरा भी विचलित हुए बिना जैसे योगी समाधि में जाते हैं वैसे ही वह संतोष के साथ फाँसी में घुसा। उसकी धर्मनिष्ठता से उसे मृत्यु का डर नहीं रह गया था। फिरंगियों के दुष्टतापूर्ण संसर्ग से छूटकर परलोक का ध्रुव सुख देनेवाला रास्ता ही मृत्यु है—यह जिसके धर्म की निष्ठा थी उसे मृत्यु का डर कैसे स्पर्श करे।''[१]

कानपुर शहर में अंग्रेजी सेना ऐसा स्वच्छंद प्रतिशोध ले रही थी—मुट्ठी भर अंग्रेज सेना और राजनिष्ठ सिख सिपाहियों ने इलाहाबाद से चलने के बाद व्यवस्था, अनुशासन, संगठन और संकल्प से भरी लश्करी शूरता प्रदर्शित की थी, उसकी यथार्थ स्तुति कर अपनी सेना को उत्साहित करने के लिए हैवलॉक ने निम्न लश्करी आदेश जारी किया—''सोल्जर्स, तुम्हारे सेनापति को तुम्हारे व्यवहार से संतोष हुआ है। निष्ठा और संकल्प में कुशल ऐसी दूसरी सेना उसने नहीं देखी है। ७ और १६ तारीखों के बीच जुलाई के तीखे सूरज की परवाह किए बिना तुमने एक सौ बीस मील आक्रमण किया और चार लड़ाइयाँ जीतीं।'' पर हाथ में लिया काम पूरा किए बिना झूठा संतोष मानकर चुप बैठनेवाला जनरल हैवलॉक नहीं था। समाप्ति के सिवाय समापन नहीं, यह उसकी टेक थी। उसने उपर्युक्त प्रोत्साहन देकर आगे कहा—''तुम्हारे लोग लखनऊ में संकटग्रस्त हैं। आगरे में घेरा लगा है। विद्रोही क्रांति के हाथों में दिल्ली अभी भी फँसी है। तुम्हें सफलता पानी है तो तुम्हें स्वार्थ त्याग ही करना पड़ेगा। तीन नगर सँभालने हैं, दो बंधन मुक्त करने हैं। यह सब कार्य निश्चित ही पूरे करोगे इसका तुम्हारे सेनापति को पूर्ण विश्वास है। केवल तुम उतने ही उत्साह से उसकी सहायता करो और तुम्हारी बहादुरी जितना ही तुम्हारा अनुशासन भी दृढ़ बना रहे।''

हैवलॉक के पीछे-पीछे जनरल नील भी इलाहाबाद की सुरक्षा के लिए आवश्यक अंग्रेजी सेना रखकर शेष सेना के साथ कानपुर पहुँच गया। समान अधिकारवाले ये दो अधिकारी एक स्थान पर आते ही दोनों को ही सारी सेना अपने अधिकार में हो, ऐसी महत्त्वाकांक्षा उत्पन्न होने के कारण पहले ही बहुत अधिक अनुशासनहीन हुई अंग्रेजी सेना में और अधिक अनुशासनहीनता होने की आशंका है, यह देखकर हैवलॉक ने नील को साफ-साफ कहा—''जनरल नील, अब हम दोनों एक-दूसरे को साफ पहचान लें तो ठीक होगा। जब तक मैं यहाँ हूँ पूरा शासन मेरे अधीन रहेगा, तुम कोई भी आदेश जारी नहीं करोगे।'' इस सार्वजनिक कार्य में

---

१. चार्ल्स बाल कृत—'इंडियन म्युटिनी', खंड १, पृष्ठ ३८८।

व्यक्ति विषयक मत्सर न हो इसलिए कानपुर को नील ने सँभाला और लखनऊ को मुक्त करने के लिए सेना लेकर हैवलॉक अयोध्या की ओर कूच कर गया। नील ने कानपुर की सुरक्षा के लिए एक नई युक्ति अपनाई और वह यह कि वहाँ के महारों की एक सेना तैयार कर उसके अधीन सारा शहर कर दिया। नगर की उच्च जातियों के विरुद्ध अतिशूद्रों को प्रोत्साहित करने की यह युक्ति उत्तम सिद्ध हुई। मुसलमान और हिंदुओं में फूट नहीं डाली जा सकी तब जाति भेद का नया भूत खड़ा किया गया और वह सफल भी रहा।

हिंदू धर्म और हिंदू राज्य के लिए फिर एक बार जूझना होगा

कानपुर में पराजित हो जाने के बाद नाना साहब पेशवा ब्रह्मावर्त से खजाना, शस्त्रास्त्र और सेना लेकर गंगा पार हो गए। सन् १८५७ के स्वतंत्रता संग्राम में वे क्रांतिवीर केवल स्वधर्म और स्वराज्य के लिए ही कैसे लड़ रहे थे यह सिद्ध करने के लिए उसी समय उस प्रदेश में उस काल के युद्ध जिन्होंने अपनी आँखों से देखे, वसई महाराष्ट्र के उन्हीं वेदशास्त्र संपन्न विष्णुभट गोडसे ने अपने यात्रावृत्त की एक पुस्तक 'माझा प्रवास' अथवा 'सन् १८५७ के विद्रोह की कथा' उसी समय लिखी। वह यात्रा वर्णन चि.वि. वैद्य ने प्रकाशित की। उस पुस्तक में श्री गोडसे भटजी ने कानपुर छोड़ते समय का वर्णन बड़ी ही मार्मिक भाषा में किया है—''अँधियारा हो जाने के बाद नौकाएँ सज्जित कर उनमें उपर्युक्त सामान भरने के बाद बाला साहब आदि को विदाई देने के लिए जो हजारों नागरिक गंगा तीर पर जमा थे उन सबको नौका चलने के पहले नम्रता से नमस्कार कर किंचित् भावविह्वल होकर श्रीमंत बाला साहब ने कहा कि कानपुर में जब हम हारे उस समय तात्या टोपे, जलका रामभाऊ और लालपुरी गोसानी आदि हमारे सरदार कहाँ गए हमें यह ज्ञात नहीं। पर वे शूर हैं, अत: उनकी हमें चिंता नहीं है। आपको छोड़कर जाना अवश्य हमारे लिए कठिन हो रहा है, पर उपाय नहीं। हिंदू धर्म के लिए और हिंदू राज्य के लिए फिर से एक बार प्रयास करने होंगे। इस हेतु यह संकट जो ईश्वर ने हमारे कारण आप पर लादा है उसके लिए कृपा कर हमें क्षमा करें।''[१]

गंगा पार जाने के बाद पहला मुकाम फतेहगढ़ में था। अंग्रेजी सेना ने ब्रह्मावर्त का राजमहल धूल में मिलाया और वह अयोध्या की ओर चल दी। नाना के आगे की हलचल की कोई सूचना न मिलने से हैवलॉक लखनऊ की ओर बढ़ा।

---

१. माझा प्रवास, विष्णु भट गोडसे, पृष्ठ ३७।

जून माह के अंत में सारा अयोध्या प्रदेश विद्रोह का एक जीवित छत्ता बन गया था इसलिए उस प्रदेश से रास्ता निकालते हुए लखनऊ पहुँचना और वहाँ का घेरा उठाकर सर हेनरी लॉरेंस को मुक्त करना और यह कार्य बहुत दुष्कर होते हुए भी, विजय के पहले आवेश में कानपुर से गंगा नदी उतरकर लखनऊ जीतना—हैवलॉक और उसकी सेना को बहुत सुलभ लग रहा था। दिल्ली गए—माने दिल्ली जीती, यह धारणा जैसे पंजाब से दिल्ली पहुँची, अंग्रेजी सेना के सेनानियों को भ्रमित किए थी वैसी ही गंगा उतरना माने लखनऊ जीतना, यह धारणा इलाहाबाद से आ रहे हैवलॉक को उत्साहित करने लगी। कानपुर से लखनऊ शहर कोई बहुत दूर नहीं था यह बात सच थी, परंतु यह भी सच था कि इलाहाबाद से कानपुर आते समय हैवलॉक ने जो लगन और उत्साह प्रदर्शित किया वह यों तो दुष्कर कार्य कर डालने की स्फूर्ति देनेवाला था, परंतु अयोध्या में जहाँ विद्रोह की ज्वाला न सुलगी हुई हो ऐसा एक कदम भर स्थान इस समय शेष नहीं था। हिंदुस्थान में जहाँ पुरबिया सिपाहियों ने विद्रोह प्रारंभ किया, उन पुरबियों का अयोध्या पालना होने से वहाँ के गाँव-गाँव में, झोंपड़े-झोंपड़े में उन पुरबियों के माँ-बाप, बच्चे-बच्ची, नाते-संबंधी, दोस्त-यार सारे राज्य क्रांति की अनिवार्य चेतना से सुलगे हुए थे। फिर भी विजय से अभिभूत आंग्ल सेनानी को यह स्थिति डरा नहीं सकी। उलटे उसका उत्साह इतना बढ़ गया कि मैं देखते ही लखनऊ जीत लूँगा और फिर दिल्ली जाऊँगा और दिल्ली भी जीतकर फिर आगरा मुक्त करूँगा—ऐसी हिम्मत से हैवलॉक लगभग दो हजार अंग्रेजी सैनिक एवं दस तोपों सहित २५ जुलाई को गंगा पार हो गया। कानपुर में जनरल नील है और हैवलॉक लखनऊ जा रहा है। इस तरह की स्थिति जुलाई के अंतिम दिनों अंग्रेजी सेना की थी।

□

प्रकरण–३

बिहार

वायव्य प्रांत, इलाहाबाद, आगरा की भूमि पर जो स्वतंत्रता की हवा भरी थी उसके संचार से बिहार और उसकी राजधानी पटना शहर अछूता नहीं रहा था। पटना के साथ ही बिहार के गया, आरा, छपरा, मोतिहारी और मुजफ्फरपुर मुख्य शहर थे और इनकी सुरक्षा के लिए रखा गया लश्कर पटना के पास दानापुर छावनी में रहता था। ७वीं, ८वीं और ४०वीं नेटिव पैदल रेजिमेंट और नेटिव सेना को नियंत्रण में रखने के लिए मेजर जनरल लॉइड के अधीन नेटिव घुड़सवारों की १२वीं रेजिमेंट भी पास के शहर में ही थी।

पटना शहर मुसलमान धर्म की बहावी नामक कट्टर जाति का इतिहास-प्रसिद्ध केंद्र था। उस शहर को सन् १८५७ की हवा लगे बिना नहीं रहेगी, ऐसा वहाँ के अंग्रेज कमिश्नर टेलर को पूरा विश्वास होने से वह उस जाति के नेताओं पर निरंतर आँख गड़ाए हुए था। अंग्रेजी शासन बहुत बुरा लगने से पटना शहर ने अंग्रेजी राज पलट देने के लिए गुप्त समिति बनाई हुई थी। इस गुप्त समिति में बड़े-बड़े श्रीमान, व्यापारी, कोठीवाले, जमींदार आदि लोग सम्मिलित थे जिसके फलस्वरूप राज्य क्रांति का कार्य सिद्ध करने के लिए उस समिति के पास द्रव्य निधि भी भरपूर इकट्ठी हो गई थी। बड़े-बड़े मौलवी उस समिति के प्रमुख थे और उनके प्रयासों को धर्म की पवित्रता और गंभीरता प्राप्त हो गई थी। लखनऊ की क्रांति समिति और दानापुर आदि शहर में रह रहे सिपाहियों की आवाजाही और पत्राचार भी शुरू थे। पटना शहर की पुलिस से पुस्तक विक्रेता तक पूरा शहर इसकी उत्सुकता से राह देख रहा था कि स्वराज्य प्राप्ति के लिए अंग्रेजी सत्ता पर पहला वार कब पड़ता है!

उपर्युक्त गुप्त समिति का मुख्यालय पटना में था और वहाँ के दूरस्थ कोने-कोने तक क्रांतिकारी समिति का जाल बिछा हुआ था। शहर के प्रख्यात मौलवी उस

समिति के नेता थे और उनके राज्य क्रांतिकारी उपदेशों और प्रयासों को धार्मिक ओज, पवित्रता और गंभीरता प्राप्त होने के कारण लोक पद स्वीकार करनेवाले लोगों को फिरंगी नाम हलाहल विष की तरह जलाने लगा। सरहद जैसे दूर के प्रदेशों में भी अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए धन भेजा जा सके इतना जबरदस्त धननिधि संग्रह हो गया था।[१] इस क्रांति षड्यंत्र में पुलिस के लोग भी सम्मिलित थे जिससे रात्रि की गुप्त बैठकें सुरक्षित हो जाती थीं। ठीक समय पर अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ने को तैयार सैकड़ों लोगों को अपने सदस्यों के अलग-अलग नाम पर नौकर रखकर उस गुप्त लश्कर का वेतन क्रांति समिति से दिया जाता। पुलिस से लेकर पुस्तक विक्रेता तक पटना शहर में अंग्रेजों के प्रति द्वेष और स्वराज्य की चेतना से अंदर-ही-अंदर सुलगती ज्वालाएँ उस विस्तृत प्रदेश में दस दिशाओं को गुप्त चेतना देते दौड़ने लगीं। बड़े-बड़े जमींदारों से और उस भाग के जिले के प्रमुख शहरों से पटना की क्रांति समिति ने यातायात शुरू कर उस भाग में संरक्षण के लिए रखे नेटिव लश्कर की छावनियाँ अपने षड्यंत्र में पूरी तरह सम्मिलित कर लीं। उस प्रदेश के दानापुर के सिपाहियों की छावनी रात के अँधियारे में पेड़ों के नीचे अपनी गुप्त सभाएँ करने लगी। अंग्रेजी टोली अपनी निगरानी के लिए आई तो उसे अँधियारे में ही नष्ट कर डालने का कार्य भी प्रारंभ हो गया। पटना प्रांत की अलग-अलग लोक शक्तियों के इस रीति से क्रांति के लिए उत्सुक होते ही लखनऊ, दिल्ली और अन्य शहरों की क्रांति समितियों से गुप्त मंत्रणा होने लगी।

ऐसी यह राज्य क्रांति, आंग्लद्रोह और असंतोष की भयानक सुरंग अपने उदर में संग्रहीत विस्फोटकों के सुलग जाने से कब फूटेगी, इसकी मंत्रणा होते-करते पटना शहर के अंग्रेज कमिश्नर टेलर के कानों में मेरठ का समाचार आया। इस समाचार के साथ ही दानापुर के सिपाहियों में मच रही खलबली का समाचार भी उसे मिला। वह कमिश्नर धूर्त था। सारा हिंदुस्थान राजद्रोही हो गया था तब भी सिख लोग अभी तक असल राजनिष्ठ थे इसलिए रैटरे के अधीनस्थ दो सौ सिख सिपाही पटना शहर की सुरक्षा के लिए टेलर ने तत्काल बुलाए और वे उस बुलावे

---

१. ''सर विलियम हंटर ने यह सिद्ध किया है कि सन् १८५७ की क्रांति से भी पाँच वर्ष पूर्व ही पटना में एक महान् विध्वंसक संगठन विद्यमान था, जो सीमा प्रांत के कट्टर शिविर को धन और जन दोनों की ही उपलब्धि करा रहा था। यह संगठन वहाबियों का था। इस संगठन के एक प्रमुख वहाबी नेता को टेलर ने बंदी भी बनाया था। तदुपरांत इसपर राजद्रोह का अभियोग चलाया गया था और इसे राजद्रोह के अपराध में आजन्म कारावास का दंड देकर कालापानी भेज दिया गया था।''

के अनुसार पटना की ओर आने के लिए निकले। पर रास्ते पर पूरे प्रदेश भर में रात-दिन उनकी 'छिः-थूः' शुरू हो गई। स्वदेश के प्रति नमकहरामी करने का आरोप उनपर लगने लगा। रास्ते के गाँव उन्हें व्यंग्य से पूछते—''तुम असल सिख हो या धर्मच्युत फिरंगी हो?'' गुप्त और खुला उपदेश उन्हें दिया जाता कि 'समय आने पर स्वदेश की ओर से लड़ना।' इस तरह सारे प्रदेश की गाली-गलौज सिर पर लेते-लेते ये राजनिष्ठ सिख सिपाही जब पटना शहर में घुसने लगे तब लोकद्वेष की ज्वालाएँ रास्ते-रास्ते में उन्हें जलाने लगीं। उन्हें देखते ही उस अभिमानी शहर का हर नागरिक उनकी छाया तक अपने शरीर पर न पड़ने देता। और तो और उस स्वतंत्रता प्रेमी नगर के मुख्य सिख उपाध्याय ने भी अपने सिख मंदिर में उन स्वधर्मद्रोही अनुयायियों को आने से साफ मना कर दिया। विदेशी सत्ता को प्रणाम करनेवाले प्राणी सिर पर बड़े केश रख लें तब भी वे गुरु गोविंदसिंह के सिख धर्म के सच्चे भक्त नहीं होते—ऐसा विश्वास उस सिख गुरु का भी हो गया था। ऐसी ही धारणा मुसलमान मौलवी की और हिंदू धर्माचार्यों की हिंदू समाज के संबंध में हो गई थी। इससे स्वधर्म एवं स्वराज्य—इन दो सिद्धांतों का कितनी यथार्थता से एकमत हो गया था इसका पटना शहर उत्कृष्ट उदाहरण है।[१]

सिख सेना के पटना शहर में आते ही टेलर ने विद्रोह की चिनगारी कुचल डालने को कमर कसी। तिरहुत जिले के पुलिस जमादार वारिस अली के संबंध में वहाँ के अधिकारियों को आशंका होने से उसके घर पर छापा मार उसे पकड़ लाया गया। यह अंग्रेजी पुलिस का जमादार गया के अली करीम नामक क्रांति के नेता को पत्र लिख रहा था। उसके घर मिले क्रांति के पत्राचार के कारण उसे जल्द ही मृत्यु दंड देकर जब फाँसी स्थल पर लाया गया तब वह एकाएक लोगों की ओर देखकर चिल्लाया—''स्वराज्य का कोई सच्चा भक्त हो तो मुझे मुक्त करो!'' उसका यह निवेदन स्वराज्य भक्त के कान में जाने के पूर्व ही उसकी निर्जीव देह फाँसी पर लटक रही थी।

इस वारिस अली के पत्र में मिले सबूत पर उपरोक्त नेता अली करीम को भी पकड़ने का आदेश जारी कर उस काम पर एक यूरोपियन टोली भेजी गई। मि. लुई के सामने दिखते-न-दिखते अली करीम अपने हाथी पर चढ़ा, वह आगे और लुई पीछे, ऐसी जंगी दौड़ शुरू हुई। परंतु जल्दी ही दौड़ देखने जमा दर्शकों ने अपने

---

१. ''ज्यों ही सिख सैनिकों ने गुरुद्वारे में पग धरा त्यों ही एक पागल फकीर सड़क पर दौड़ता हुआ आया और मुट्ठियाँ बाँधकर उन्हें देशद्रोही, विश्वासघाती आदि अपशब्दों से संबोधित करने लगा।''

—टेलर कृत—'पटना क्राइसेस'

दर्शकीय अधिकारों का उल्लंघन करके पक्षपात करना शुरू किया। आसपास के गाँववालों ने यह देखते ही कि अपने स्वदेश बंधु पर यह फिरंगी आदमी टूटा पड़ रहा है उसे त्रास देना शुरू किया। उसकी राह बदल दी और उसका टट्टू भी कोई भगा ले गया। श्रम और निराशा से ग्रस्त वह अंग्रेज अधिकारी अपने नेटिव सहायकों को चतुर करीम का पीछा करने का काम सौंपकर दूसरे दिन हाथ हिलाता लौट आया। उसका नेटिव सहायक भी फिरंगियों का कट्टर द्वेषी था, अत: उसने करीम को छोड़ दिया और अपने गोरे मलिक के पास इतना सा मुँह लिये लौट गया।

पटना शहर में जब यह पकड़ा-धकड़ी चल रही थी तब पटना शहर के कितने ही नेताओं के नाम टेलर को अलग-अलग रास्ते से ज्ञात हो गए और उसने उनपर भी आकस्मिक छापा डालने का निश्चय किया। क्रांति पक्ष के प्रमुख नेताओं के घरों में क्रांतिकारियों की बैठकें रात्रि में होने के कारण तथा गोपनीयता के कारण सदस्यों के नामों की सूची या कार्यक्रमों का साधार साक्ष्य यद्यपि टेलर के पास नहीं था, फिर भी शहर के तीन बड़े मौलवियों की कारगुजारियों के संबंध में कोई भी आशंका न होने से उन्हें पहले बंद करना टेलर को आवश्यक लगा, पर यदि उन्हें खुले रूप में पकड़ा जाए तो दंगा वहीं से प्रारंभ हो जाएगा, इस डर से उस अंग्रेज अधिकारी ने दूसरी ही युक्ति निकाली। एक दिन उस शहर के चुने हुए लोगों को राज्य व्यवस्था के संबंध में योग्य सलाह देने के लिए टेलर साहब के घर ससम्मान बुलाया गया। उसके अनुसार सारे लोग टेलर के बँगले पर आते ही सिखों की तलवारों के साथ टेलर वहाँ आया और कुछ चर्चा के बाद आमंत्रित मेहमानों को विदा भी कर दिया गया; परंतु वे तीन मौलवी जाने लगे तो उन्हें टेलर ने रोक लिया और मुसकराते हुए सूचित किया कि 'वर्तमान नाजुक परिस्थिति में आपको स्वतंत्र रहने देना राज्य के लिए हानिकारक होने से आपको कैद किया जा रहा है। इस षड्यंत्र के बारे में 'के' नामक इतिहासकार कहता है—''पर कोई भी सत्यवादी मनुष्य यह जान लेगा कि अंग्रेजों द्वारा किए जाने से जो कृत्य षड्यंत्र हो सकता है वही कृत्य यदि कोई मुसलमान अंग्रेजों के विरुद्ध करे तो उसे कुछ और नाम दिया जाता। प्रेम से कुछ सज्जनों को बुलाना, ब्रिटिश सरकार के मेहमान के रूप में उन्हें आमंत्रित करना और उनके विश्वासपूर्वक घर आने के बाद उन्हें कैद करना लगभग विश्वासघात नहीं, यह प्रत्यक्ष विश्वासघात है। उन मौलवियों ने जरा भी प्रतिकार करने का प्रयास किया होता तो उन्हें मार दिया जाता।'' फिर भी राज्य के लिए हितकारी होने के बहाने उस कृत्य की भी सब ओर प्रशंसा ही हुई और टेलर की युक्ति की सारे अंग्रेजों ने प्रशंसा की।

राज्य क्रांति के नेताओं को इस तरह रक्त की एक बूँद भी बहाए बिना

पकड़ते ही टेलर ने नागरिकों को नि:शस्त्र करने और रात के नौ बजे के बाद घर से बाहर न निकलने का आदेश जारी किया, ताकि इस आकस्मिक आघात से चकित पटना शहर को उसकी चोटें असह्य होने और धीरज समाप्त होने के पूर्व ही चुप किया जा सके। इस आदेश से क्रांति पक्ष की रातों की गुप्त बैठकें असंभव हो गईं। शस्त्र संचय भी बंद हो गया। इस समय तक पटना की क्रांति समिति विद्रोह के लिए दानापुर के सिपाहियों से संकेत मिलने के लिए रुकी थी। परंतु उसके पूर्व ही ये प्राणघाती हमले शुरू हो जाने के कारण ऐसी योजना उसके नेताओं की बनी कि अब नीचे कुचले जाने की अपेक्षा साहस से विद्रोह ही किया जाए। जुलाई की तीन तारीख को पटना शहर के पीर अली नामक नेता के घर की ओर मुसलमान जाने लगे। थोड़ी ही देर में उस घर से एक के बाद दूसरा हरा झंडा लिये बाहर निकला और 'दीन-दीन' गर्जना हो उठी। कोई दो सौ जेहादी लोगों ने उन हरे झंडों के साथ जाकर एक चर्च पर हमला किया। इतने में एक लायल नामक गोरा कुछ सिखों के साथ आता दिखा जिसे पीर अली ने गोली से मार गिराया और फिर उस गोरे रक्त की पहली बलि गिरते ही शेष मुसलमानों ने उस गोरे पर इतने वार किए कि उसका चेहरा पहचानना भी कठिन हो गया। परंतु जब रैटरे ने अपने सिखों के साथ चढ़ाई की, जब उन राजनिष्ठ सिखों ने स्वदेश बंधुओं पर जोरदार हमला किया, अपने हिंदुस्थान के पेट में सिखों ने जब अपनी तलवारें घुसेड़ीं और जब सिखों के शरीर भारत माता के रक्त से लाल होकर शोभित हुए तब उस जोरदार मार के सामने उन मुट्ठी भर क्रांतिकारियों की भीड़ बिखरकर इधर-उधर हो गई। अंग्रेजों ने दंगाकारी लोगों के नेताओं को तुरंत कैद किया, उसमें लायल को मारनेवाला पीर अली भी था।

पीर अली लखनऊ का मूल निवासी था और कुछ समय से पटना में पुस्तक बेचने का कार्य कर रहा था। बेची जानेवाली पुस्तकों को पढ़ते-पढ़ते उसे देश की स्वतंत्रता की चाह हो गई। उसमें स्वधर्म प्रतिष्ठापन की महत्त्वाकांक्षा जागी। उसके मन को परतंत्रता का घाव और पैरों में पड़ी गुलामी की बेड़ियाँ असह्य होने लगीं। दिल्ली और लखनऊ शहर की क्रांति समितियों से आवाजाही बढ़ाकर वह अंग्रेजों के राज्य के संबंध में अपने हृदय में चुभते लज्जा के काँटे दूसरों के हृदयों में भी रोपने लगा। वह व्यवसाय से पुस्तक विक्रेता था परंतु पटना की क्रांति समिति में उसका प्रभाव इतना बढ़ा कि समिति के श्रीमान लोगों के द्रव्य सहयोग से उसके अधीन अनेक सशस्त्र नौकर रखे गए और उन्हें आदेश मिलते ही अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध युद्ध करने की शपथ दिलाई गई। पटना के अंग्रेज अधिकारियों द्वारा अत्याचार प्रारंभ करते ही पीर अली के तेज स्वभाव के लिए चुप रहना कठिन हो गया। वह

व्यवहार से बड़ा कर्मठ, स्वाभिमानी और शूर था। उससे स्वदेश की दुर्दशा देखी नहीं गई इसलिए उसीके बयान के अनुसार—"अपक्व स्थिति में ही विद्रोह किया।" फाँसी का दंड दिए जाने पर जिसके हाथों में भारी-भारी हथकड़ियाँ हैं, शरीर पर हुए घावों से जिसके वस्त्र रक्त से सने हैं और मरण की भयानकता को अपनी मुद्रा के वीर हास्य से जो धिक्कार रहा है, ऐसा पीर अली फाँसी के फंदे के सामने खड़ा है। अपने प्रिय पुत्र का नाम लेते उसका कंठ भर आया। इतने में अंग्रेज अधिकारियों ने पूछा—"पीर अली, तू दूसरों के नाम बताए तो तुझे जीवनदान मिलने की संभावना है।" शांत दृष्टि से उन अंग्रेजों की ओर घूमकर वह बड़े धैर्य से बोला—"जीवन में कुछ अवसर ऐसे होते हैं जब अपनी रक्षा करना इष्ट होता है, पर कुछ ऐसे होते हैं कि जिस क्षण प्राणों की आहुति देना ही इष्टतर होता है। यह क्षण जीवन के उस अवसर का है जो चिरंजीवी होने का उत्तम साधन है तत्काल मृत्यु।" फिर अंग्रेजों द्वारा किए जानेवाले अन्याय, अत्याचारों की बिना डरे निंदा करते हुए वह लोक उपकार के लिए आत्मार्पण करनेवाला शहीद बोला—"मुझे आप फाँसी पर चढ़ाएँगे, मेरे जैसे अन्य लोगों को फाँसी पर चढ़ाएँगे, पर आप हमारे ध्येय को फाँसी पर नहीं चढ़ा सकते। मैं मरा तो मेरे रक्त से हजारों नए कार्यकर्ता उत्पन्न होंगे और आपके शासन का उच्छेद करेंगे।"[१]

ऐसी भविष्यवाणी कर यह देशवीर अपने अस्तित्व से स्वदेश पर जरा भी लज्जा की छाया न डालते हुए अपनी मृत्यु से स्वदेश के देशवीर मंडल की तेजोमय सूची में प्रतिष्ठा पा गया।

'मेरे रक्त से हजारों नवीन कार्यकर्ता उत्पन्न होंगे' ऐसा उस शहीद का जो अंतिम वर्णोच्चार था वह असत्य होनेवाला नहीं था, वह असत्य हुआ भी नहीं। उसके वध का समाचार सुनते ही अति राजनिष्ठ गिनी जानेवाली दानापुर की नेटिव सेना २५ जुलाई को विद्रोह कर उठी। दानापुर का यूरोपियन तोपखाना और गोरी रेजिमेंट होते हुए भी तीन नेटिव रेजिमेंटों ने अपने शस्त्रास्त्र और कंपनी के यूनीफॉर्म तिरस्कार से फेंककर शोण नदी की ओर प्रस्थान किया। उस स्थान का मुख्य अधिकारी मेजर जनरल लॉइड भयग्रस्त और बूढ़ा था इसलिए उन सिपाहियों का

---

१. कमिश्नर टेलर ने स्वयं कहा है कि "पीरअली स्वयं एक साहसी और दृढ़ संकल्पवाला व्यक्ति था। यद्यपि उसका रूप बेढंगा था और उसके चेहरे से ही क्रूरता और कठोरता झलकती थी; किंतु इसपर भी वह शांत और संयमी था। उसकी बोलचाल और व्यवहार में शालीनता थी। इस प्रकार के लोग अपनी अजेय निष्ठा के कारण खतरनाक शत्रु सिद्ध होते हैं। किंतु अपनी कठोर आन के कारण वे किसी सीमा तक प्रशंसा के भी पात्र होते हैं।" —के, खंड ३, पृष्ठ ८६

तुरंत पीछा करने की उसकी हिम्मत न हुई।

यद्यपि अंग्रेज मेजर जनरल अपने बुढ़ापे के कारण ऐसा पंगु हो गया था तब भी जिस दिशा को वे नेटिव रेजिमेंट जा रही थीं उस दिशा में जिसकी तलवार और भुजदंडों में अभी भी तरुणाई का तेज हिलोरें मार रहा है—ऐसा एक अप्रतिम वृद्ध युवा अपने बुढ़ापे की परवाह न करते हुए जगदीशपुर के राजमहल में मूँछों पर ताव देते खड़ा था और उसीके ध्वज की ओर ये सिपाही दौड़े जा रहे थे।

अंग्रेजों के शासन का जुआ उतार फेंकने के बाद जिस एक कमी के कारण आज तक स्वतंत्रता के सिपाहियों और लोगों के सारे परिश्रम विफल हो रहे थे, वह धुरंधरत्व की न्यूनता इस शाहाबाद जिले में जगदीशपुर के महल ने शेष नहीं रहने दी थी और इसीलिए उस जगदीशपुर के हिंदू राजा के ध्वज की ओर शोण नदी उतरकर ये सिपाही दौड़ते जा रहे थे। क्योंकि स्वराज्य संग्राम के लिए सुयोग्य एक नेता उन सैनिकों को अंत में जगदीशपुर में ही मिलनेवाला था। राजपूत वंश की खान से ही जिस स्वतंत्रताप्रिय नेता का जन्म हुआ उसका नाम कुँवरसिंह था। शाहाबाद तहसील की विस्तीर्ण भूमि का स्वामित्व इस कुँवरसिंह के उदार चरित्र वंश में सुप्रतिष्ठित हुआ था और उस राजवंश पर वहाँ के जनसमूह की निसर्ग स्फुरित प्रीति थी। बड़े-बड़े बादशाहों के तूफान हिंदुस्थान की राजनीति के समुद्र में उठे और इस प्रदेश के ऊपर से भी घन गर्जना करते जा-आ रहे थे तब भी परम कारुणिक राजपूत राजछत्र के नीचे वह प्रदेश स्वराज सुख का और स्वातंत्र्य चैतन्य का अखंडित लाभ लेता रहा था। राजनीति में क्रांति की ऋतु बदलते हुए उसकी गरमी-सर्दी-वर्षा के असह्य आघात अपने सिर पर लिये कुँवरसिंह के उस स्थिर वंशवृक्ष ने अपनी छाया तले के प्रजा रूपी पंछियों को स्वराज्य के वसंत में पाला-पोसा था और उस प्रजा की उस राज्य और उस राजवंश पर अकृत्रिम श्रद्धा थी। और उस राज्य की अपनी प्रजा पर वत्सलता की कोई सीमा नहीं थी। पर पराधीनता का हलाहल हृदय में नहीं, उसके हृदय भाव को यह स्वराज्य—राजनिष्ठा का योग शूल की तरह चुभने लगा। उसने अपने तरकस की भीषण आँधी से एक प्रबल मत्सर दामिनी बाहर निकाली और इस राजवंश पर उसका निष्ठुर आघात भीषण ध्वनि के साथ आकर गिरा। स्वराज्य छत्र टूटकर वह देश नंगे सिर हो गया—स्वराज्य के विरह से वह राज्य-वृक्ष जलकर राख हो गया, उसकी छाया के नीचे के पंछी अंगारों में फड़फड़ाने लगे। और स्वदेश की यह कठिन अवस्था देखकर मन में उत्पन्न हुई क्रोधाग्नि के कारण वह वृद्ध कुँवरसिंह अपने जगदीशपुर के महल में मूँछों पर ताव देता खड़ा था।

वृद्ध युवा—हाँ, वह वृद्ध युवा था। क्योंकि आज तक अस्सी शरद ऋतु देह

पर से उतर गई थीं परंतु उसकी आत्मा का तेज अभी भी जीवित अंगार सा दहकता है। अब तक लगभग अस्सी ग्रीष्म ऋतु अपनी प्रखर धूप से चमचमा चुकी थीं तब भी उसकी भुजलता अभी युवा ही बनी हुई है। अस्सी वर्ष का कुँवरसिंह—अस्सी वर्ष का कुमार! और उसमें भी सिंह! उसके देश का अंग्रेजों द्वारा किया हुआ अपहरण उसे कैसे मान्य हो? अयोध्या का राज्य डलहौजी ने गटका और फिर जब सारा भारत समतल करने के लिए अंग्रेजी तलवार भारत भूमि की टेकरियों को खोदते चली तब ही कुँवरसिंह के देश को अंग्रेजी तलवार ने घायल किया था। अपने स्वदेश और अपने स्वराज्य का अघोर एवं अन्यायी अपहार करनेवाली उस अंग्रेजी तलवार के टुकड़े करूँगा, ऐसी गर्जना कुँवरसिंह ने की और वह श्रीमंत नाना साहब से बोलने-चालने लगा था। भयंकर चाल और भयंकर बोल! हर-हर महादेव का बोल! अफजल खान वध के पोवाड़ा की चाल!

और उस चाल पर यह भीषण रणगीत चालू था। कुँवरसिंह के मन में राज्य क्रांति के विचार घूम रहे हैं। स्वदेश की स्वतंत्रता के लिए उसने सारे हिंदुस्थान के क्रांति केंद्रों से संपर्क बनाया हुआ है। उस पटना विभाग के हजारों सिपाही गुप्त रूप से उससे मिल गए हैं। ऐसे अलग-अलग समाचार पटना के कमिश्नर टेलर को ज्ञात हुई यह बात फिर भी टेलर को असंभव लगती थी कि यह अस्सी वर्ष का वृद्ध राजा चिंता की ओर जाना छोड़ स्वतंत्रता की चिंता करे। फिर भी टेलर ने कुँवरसिंह को सूचित किया कि आप बहुत वृद्ध हैं, आपका स्वास्थ्य भी ठीक नहीं है, अतः आपके शेष जीवन का सान्निध्य लाभ मुझे मिल सके ऐसी मेरी प्रबल इच्छा होने से आप पटना में मेरे मेहमान रहें तो मैं आपका आभारी हूँगा। यह आमंत्रण अस्वीकृत नहीं होगा ऐसी आशा करता हूँ—टेलर, अफजल खान ने शिवाजी को ऐसे ही मिलने का निमंत्रण दिया था। उस चतुर राजपूत ने तब ही यह जाना कि पटना के चीफ कमिश्नर का यह प्रेम निमंत्रण माने कैदखाने का दरवाजा किसी भी प्रतिकार के बिना खोल देना था। इसलिए उसने भी उत्तर भेजा—"आभारी हूँ। मेरा स्वास्थ्य जैसा आप लिखते हैं वैसे—मैं सचमुच बहुत अस्वस्थ हूँ और इसीलिए अभी पटना नहीं आ सकता। मैं स्वस्थ होते ही तुरंत वहाँ आता हूँ।" कुँवरसिंह! तुम सचमुच अस्वस्थ हो और रणांगन में रक्त प्राशन कर थोड़ा स्वस्थ होते ही तुम तुरंत पटना जाओगे यह भी सच है! पर क्यों? यह प्रश्न अलग है।

इतने में 'अस्वस्थता' सुधारने को जो औषाधि चाहिए थी वही लेकर दानापुर के विद्रोही सिपाही जगदीशपुर आ पहुँचे। फिर अब ठहरना किसके लिए? तेरी देशमाता की शपथ है, तेरे स्वधर्म की शपथ है, तेरे मानभंग की शपथ है, कुँवरसिंह म्यान फेंक दे और स्वतंत्रता के लिए तलवार खींच! तू हमारा राजा, तू

हमारा नेता, तू हमारा सेनानी है। राजपूत वंश के शिरभूषण, तेरी यह उदात्त चरित्र देह! 'यह शय्या पर नहीं रणभूमि पर ही गिरने के योग्य है।' स्वराज्य के लिए उतावले वे सैनिक सिपाही चिल्लाने लगे—यही कुँवरसिंह के कुलोपाध्याय शुचिव्रत ब्राह्मण उपदेश करने लगे।[१] ऐसा ही उसकी तैयार तलवार भी कहने लगी। पटना शहर हाथी पर बैठकर जाना भी जिसे अस्वस्थता के कारण असंभव, वह अस्सी वर्ष का राजपूत कुँवरसिंह तड़ाक से उठा और रुग्ण शय्या पर से वह जो उठा तो एकदम रणक्षेत्र में ही जाकर रुका।

शाहाबाद जिले के मुख्यालय 'आरा' शहर में जगदीशपुर से निकले सिपाही दौड़ते गए और उन्होंने वहाँ का अंग्रेजी खजाना, झंडा, कारावास, कार्यालय सबमें उत्पात किया और एक छोटे से परकोटे की ओर मुँह मोड़ा। विद्रोह हो जाए तो स्व संरक्षण कर सकें इसके लिए उस शहर के धूर्त अंग्रेजों ने उस परकोटे में गोला-बारूद, शस्त्र, अन्न, वस्त्र आदि सामग्री रखी हुई थी। केवल उस शहर के मुट्ठी भर अंग्रेजों को सहायता देने के लिए पटना से पचास सिखों की एक टुकड़ी भी आई हुई थी। ऐसी तैयारी से सिखों सहित पचहत्तर लोग उस गढ़ी में व्यवस्था से रह रहे थे। उस गढ़ी को विद्रोही सैनिकों ने घेर लिया।

उस छोटी गढ़ी में ये पच्चीस अंग्रेज और पचास सिख बड़ी ही मजबूती से अपना संरक्षण कर रहे थे, तब बाहर के सैकड़ों सिपाही उस गढ़ी पर एकदम हमला करना छोड़ इधर-उधर से शत्रु को घेरने में लगे हुए थे। कदाचित् ऐसा भी रहा होगा कि गढ़ी तो कब्जे में है ही उसपर समय गँवाने और मनुष्य हानि करने की अपेक्षा आसपास के क्षेत्र और अन्य अंग्रेजी स्थानों का बंदोबस्त करना विद्रोहियों को अधिक लाभदायी लगा होगा। कुछ इस कारण और कुछ गढ़ी के लोगों की तेज गोलीबारी से सिपाहियों ने उस गढ़ी पर प्रत्यक्ष हमला न कर तोपें चढ़ाकर गोले बरसाने चालू किए। एक-दो बार गुप्त सुरंग खोदकर परकोटे के नीचे बारूद भी लगाई गई। अंदर के लोगों को थोड़े ही दिनों में पानी की बूँद भी मिलना कठिन हो गया। पर अपने गोरे अन्नदाता के ऐसे हाल होते देखकर सिख लोग चुप बैठनेवाले नामर्द नहीं थे। उन्होंने चौबीस घंटे में उस गढ़ी में नया कुआँ खोदा। और इस कुएँ का काम चलते वे राक्षसों जैसे लड़ते भी रहे। गढ़ी में से जो लड़ रहे हैं वे केवल यूरोपियन नहीं, उनमें अधिकतर सिख हैं यह बात जब खुली तब विद्रोहियों को बहुत खेद हुआ। क्योंकि यह लड़ाई अंग्रेजों के विरुद्ध हिंदुस्थानियों की न होकर

---

१. ''ब्राह्मणों ने भी कुँवरसिंह को विप्लव और विद्रोह के लिए प्रोत्साहित किया।''

—'ऑफिसियल डिस्पैच'

गुरु गोविंदसिंह और कुँवरसिंह के बीच हो गई। जो अंग्रेजों की ओर से इतनी विलक्षण शूरता से पर ऐसे नीच देशद्रोह से लड़ रहे हैं उन सिखों को अपनी तरफ करने के लिए रोज शाम को विद्रोहियों के दूत एक खंभे की आड़ में खड़े हो जोर-जोर से उपदेश करते—'ऐ सिखो, तुम फिरंगियों की ओर से लड़कर किस नरक में जाना चाहते हो? जिन्होंने अपना राज डुबाया, जो अपनी देशमाता पर जबरदस्ती करना चाह रहे हैं, जिन्होंने अपना धर्म अनाथ कर दिया है, उनकी ओर से लड़कर तुम किस नरक का साधन कर रहे हो?' परंतु विद्रोहियों के स्वधर्म, स्वदेश, स्वहित, और स्वतंत्रता आदि की हर शपथ से अंग्रेजों का पक्ष छोड़ने के लिए किए गए आनेवाले निवेदनों तथा तुमने यह देशद्रोह न छोड़ा तो हम तुम्हें मार डालने से भी नहीं चूकेंगे—उनकी ऐसी धमकियों का सिखों पर तिल भर असर नहीं हुआ। उलटे अपनों द्वारा किए गए निवेदनों के उत्तर में वे गोलियाँ चलाते और यह देखकर शाबाश! शाबाश!! कहते हुए यूरोपियन उनकी पीठ ठोंकते। ऐसी स्थिति में उस घेरे को तीन दिन हो गए। तीसरे दिन अर्थात् जुलाई २९ की रात उस गढ़ी की वह छोटी अंग्रेजी सेना दूर से आनेवाली तोपों की गड़गड़ाहट से उछल पड़ी। आनंद से उनके चेहरे प्रमुदित हो उठे। इन विद्रोहियों का नाश कर यह घेरा तोड़ने अंग्रेजी सेना तो नहीं चली आ रही?

हाँ, वह अंग्रेजी सेना ही घेरा तोड़ने के लिए अंत में चली आ रही है। दानापुर में जो गोरी रेजिमेंट थी उसमें से दो सौ गोरे लड़ाके और सौ काले लड़ाके—यह सेना कैप्टन डनबार जैसे साहसी योद्धा के अधीन इकट्ठी होकर आरा में पड़ा घेरा तोड़ने शोण नदी के किनारे आ गई। इस अंग्रेजी सेना के चेहरे पर जो उत्साह और विजय की निश्चिंतता दिख रही थी वैसी कभी भी दिखाई न दी होगी। उन्हें विदा करने आए आंग्ल नर-नारियों ने हँसते-मुसकराते उनसे विदा ली। शोण नदी में नावें चलने लगीं और शाम सात बजे आरा शहर के तीर को उस सेना ने स्पर्श किया। शुक्ल पक्ष का मनोहर शशि बिंब उस भूमि की विजयी सेना के विजयोत्साह का हिस्सेदार बनने के लिए आकाश से उनके साथ चलने लगा। कैप्टन डनबार, इस सफेद चाँदनी में अपनी सेना का व्यूह समय पर उत्तम रच ले! क्योंकि आगे चाँदनी होगी या कालिमा इसका कोई भरोसा नहीं? इस व्यूह में हमेशा की तरह ये राजनिष्ठ सिख ही अगली पंक्तियों में खड़े किए जाएँ। अपनी बहादुरी का सचमुच यह सम्मान ही है—ऐसा मानकर वे पहली पंक्तियों में खड़े रहने को तैयार ही हैं। आरा के घने जंगल में ले जानेवाला वह काला पथ प्रदर्शक कहाँ है? उसे आगे करो और चलो। विजयी सैनिको, रणांगन के लिए उत्सुक अपनी तलवारें इस चाँदनी में चमकाते आगे बढ़ो। पेड़ के बाद पेड़ चला, जमीन के पीछे जमीन छूटने लगी। और

यह आरा शहर का पुल भी आ गया। पर यह क्या? शत्रु कहाँ है? अभी तो एक भी पांडे अपनी प्यासी तलवार को तो छोड़ो दीर्घ दृष्टि बंदूक को भी दीख रहा, यह कैसे हुआ? भाग गए डरपोक! डनबार आ रहा है, केवल यही सुनकर वे सारे नामर्द लोग भाग गए। सिकंदर का भी उसके शत्रु पर इतना आतंक न रहा होगा। हे चंद्रमा! रण-समर की आशा में तू इतनी देर ठंडी हवा में सिहरता खड़ा रहा, पर इन डरपोक विद्रोहियों का पलायन चातुर्य तो तूने देखा ही है। तो अब अधिक निराश न होकर तू सुख शय्या करने के लिए अपने विश्व मंदिर पर रात का परदा गिराकर शय्यागृह में लौट जा। चंद्रमा लौट गया, पर डनबार तू मत लौटना। चंद्रमा को जाना-बूझा शशलांच्छन! पर तेरी सफलता को सिंह भी लांछन लगाने की हिम्मत न कर सके इसलिए तू मत लौटना! अब यह अमराई आ गई है और डरपोक पांडे अब उनके हाथ आने की कोई संभावना नहीं है। पर ये आवाज कैसी! अमराई के पत्ते तो खड़खड़ नहीं कर रहे?

सूँऽ सूँऽ सूँऽ! अरे बाप रे! सावधान! अंग्रेज सैनिको, सावधान! गोलियों की बरसात, चारों ओर से झड़ी लग गई। अमराई का हर वृक्ष अपने अनंत शाखा रूपी हाथों में बंदूकें लेकर उस अंग्रेजी सेना पर टूट पड़ा। आया···कुँवरसिंह आया। अस्सी वर्ष का योद्धा और तू एकदम जवान। चलो देखें, कौन हटता है। अंग्रेजी सेना ने लड़ने में पूरा जोर लगाया, पर लड़े किससे? शत्रु पक्ष का एक भी सिपाही दिखे नहीं। उस घनी अमराई में; मध्यरात के उस घने अँधियारे में उस ऊँचे-नीचे प्रदेश के घूम-घुमाव में छिपकर बैठा कुंवरसिंह की सेना का एक आदमी भी अंग्रेजी सेना को नहीं दिखता था। आकाश के तारे और जमीन के वृक्ष, इसके सिवाय कुछ दिखे नहीं और इन दोनों पर गोलियाँ चलाकर उन्हें जीतना संभव न हो। वायु देवता ने कुपित होकर अपने झंझावात से लाल-लाल गोलियाँ की आँधी फुफकारते हुए चलाई हो, ऐसे इस अंग्रेजी सेना पर किसी अदेहधारी देवता की मार पड़ने लगी। बाईं ओर से मार, दाईं ओर से मार, पीछे से मार!

अंग्रेज़ों की वरदी सफेद रंग की होने से वह कुंवरसिंह को दिखाई देती थी। परंतु कुँवरसिंह के लोग काले, उनकी वरदी काली और रात काली! सारे काले वस्त्रों के एक दिल हो जाने से उस 'काल' देह के आगे अंग्रेजों के सफेद पैर कैसे टिक सकेंगे। अंग्रेजों के सफेद और सिखों के काले—दोनों पैर रणक्षेत्र से भाग खड़े हुए। उनका कमांडर डनबार पहले झटके में ही मारा गया था। अपने प्राण बचा भागते वह अंग्रेजी सेना एक गाँव में आ पड़ी, वहाँ कुछ देर छिपकर बैठने का प्रयास कर भोर होते ही, उस घनघोर रात में रणक्षेत्र में मरे हुए ही नहीं, अपने घायल बंधुओं को वहीं छोड़ अपने कमांडर का शव भी वैसे ही छोड़कर वे भूखे, प्यासे,

रक्तरंजित, शर्म से काले पड़े अंग्रेज सैनिक प्राण की आशा में शोण नदी की ओर दौड़ने लगे।

परंतु कुँवरसिंह के आगे दौड़ना भी कोई सीधी बात नहीं थी। हर कदम पर उनका रक्त टपकता। कोई जंगली सूअर शिकारी का भाला घोंपे जाने पर शरीर से रक्त की अविरल धार बहते, शक्ति क्षय से बार-बार इधर-उधर गिरते, किसी पिघले मेघ जैसा लाल शोणित बिखेरता दौड़ता जाए—वैसे ही अंग्रेजी सेना शोण नदी तक दौड़ती आई। पर यहाँ तो विनाश की पराकाष्ठा हो गई। नौकाएँ न मिलें, जो मिलीं वे रेत में धँस गईं, जो रेत में नहीं धँसीं उन्हें पांडे लोगों ने जला दिया। एक-दो नौकाएँ शेष रहीं। आरा का घेरा तोड़कर वहाँ के बहादुर लोगों सहित विजय गीत गाती अपनी सेना लौटी होगी, इसलिए दानापुर के अंग्रेज नर-नारी नदी किनारे पहुँचे तो उन्हें नौकाओं से एक भी उत्तेजक हँसी सुनाई न दे। झंडा नहीं, बैंड नहीं, कोई ऊपर सिर उठाए नहीं, सबका सीना धड़धड़ाने लगा। मेरा पुत्र, मेरा भाई, मेरा बाप, मेरा पति—कल ही आकर हँसते-मुसकराते लड़ाई पर गया और आज हे भगवान्, कृपा कर! अमंगल टाल। यह निवेदन परमेश्वर के घर पहुँचने के पहले ही अपयश लिये वह अंग्रेज सेना दानापुर के घाट पर आकर लगी। और तुरंत ही वह भयानक समाचार इधर-उधर फैला कि चार सौ पंद्रह में से कोई पचास लोग ही कुँवरसिंह की मार से बचकर जीवित लौटे हैं। एक अंग्रेज लेखक लिखता है—''उस समय का महिलाओं द्वारा किया गया विलाप जिसने सुना होगा वह उसे आजीवन भूल नहीं सकता। कुछ जनी कर्कश ध्वनि से चीखती छाती चीरने लगीं, कुछ फूट-फूटकर रोने और अपने बाल नोचने लगीं। उनके उस शोक आवेग में उन्हें जनरल लॉइड दिखाई दे जाता तो इस नाश के मूल उत्पादक को वे जीवित फाड़ डालतीं—इसमें शंका नहीं थी।''

परंतु इन अंग्रेज महिलाओं के रोदन स्वर से दानापुर का आकाश जब इधर फट रहा था तब उनके दुःखों का बदला लेने के लिए मेजर आयर उधर आरा की ओर जा रहा था। उसे उपर्युक्त पराजय का समाचार अभी मिला नहीं था फिर भी आरा में अंग्रेजी सेना घिरी हुई है यह सुनते ही वह उधर दौड़ पड़ा। २९ और ३० जुलाई को डनबार की सेना को नेस्तनाबूद कर कुँवरसिंह के सिपाही जो वापस लौटे तो आयर की सेना के उधर आने का समाचार उस वृद्ध सेनानी को मिला। क्षण का भी विश्राम न लेकर उसने अपनी सेना इकट्ठी की। मेजर आयर जिधर से आ रहा था उस रास्ते के हर अवरोध का लाभ लेते हुए उसने लड़ाई जारी रखी और अंत में २ अगस्त को बीबीगंज गाँव के पास लड़ाई की टक्कर ली। सामने की एक झाड़ी की ओर ये दोनों सेनाएँ उसे अपने कब्जे में लेने के लिए दौड़ रही थीं। उस वृद्ध

और युवा की भयंकर स्पर्धा में वृद्ध कुँवरसिंह ही उस झाड़ी पर पहले कब्जा करने में सफल रहा। और वहाँ आते ही उसने आयर पर जोरदार मार चालू की। आयर के पास तीन उत्तम तोपें थीं और उनके सहारे से वह आगे बढ़ रहा था। कुँवरसिंह के सिपाही उसपर तीन बार टूटे। तीनों ही बार उन अग्नि वर्षी तोपों के मुँह तक उनके हल्ले पहुँचे, पर अंग्रेज तोपों की मार अखंड चलती रही। इसी समय कैप्टन हेस्टिंग नामक अंग्रेजी योद्धा आयर के पास हाँफते हुए आया और बोला—"आयर, अपनी पैदल सेना हट रही है। विजय अपने हाथ से निकल रही है।" यह उग्र स्थिति और आधा घंटा बनी रहती तो कुँवरसिंह वह लड़ाई जीत जाता! अब कुछ भी करें तो भी विजय हाथ से जा रही है तो क्यों न एक बार साहस की परीक्षा कर ली जाए? ऐसा कहते आयर ने अंग्रेजी सेना को आदेश दिया—बैनेट लेकर भिड़ जाए। तुरंत अंग्रेजी सेना बैनेट साधकर विद्रोहियों पर तीर की तरह टूट पड़ी। तोपों के मुँह पर भी जो सिपाही टूटने में डगमगाते नहीं थे वे विद्रोही सिपाही अंग्रेजों के बैनेट के हमले के आगे खड़े रहने का जाने क्यों कभी साहस नहीं करते थे और यहाँ भी वे हिम्मत हार गए। आयर उन्हें उस झाड़ी में से बाहर निकाल आगे घुसा और आरा की गढ़ी की ओर बढ़ गया। वहाँ बंद अंग्रेजी सेना को उसने मुक्त किया और इस तरह आरा शहर फिर से अंग्रेजों के हाथ आ गया।

आरा शहर का घेरा कोई आठ दिन ही चला था। उन आठ दिनों में यह घेरा सँभालते जगदीशपुर के उस शूर राजपूत को दो लड़ाइयाँ लड़नी पड़ीं। उसके मन की हिम्मत, साहस एवं शूरता का यद्यपि पारावार नहीं था तब भी उसके बाजारू अनुयायियों में जोड़-तोड़ और साहस की कमी के कारण आयर से पराजित होते ही, कुँवरसिंह जगदीशपुर की ओर निकल गया। अंग्रेजों को आरा की सेना और अन्य नई कुमुक मिलने से वह सेना फूलती जा रही है यह ज्ञात होने पर कुँवरसिंह ने जगदीशपुर के पास यथासंभव लोगों को इकट्ठा करना चालू किया। अंग्रेजी सेना को कुँवरसिंह के कर्तव्य की थोड़ी सी पहचान हो जाने से, कदाचित् वह फिर से आरा पर आक्रमण करेगा ऐसा अनुमान लगाकर आयर जगदीशपुर की ओर बढ़ गया। आरा के घेरा टूट जाने पर जिनका उत्साह भंग हुआ है ऐसे अनुयायियों के साथ अंग्रेजों जैसे अनुशासित, एक दिलवाले और विजय से सबल हुए शत्रु से राजधानी के एक शहर के पास खुली लड़ाई लड़कर सारी हानि न करके छापामार लड़ाई करने के विचार से अंग्रेजी सेना से दो अच्छी भिड़ंत हो जाने पर कुँवरसिंह जगदीशपुर के बाहर निकला और १४ अगस्त को आयर कुँवरसिंह के महल में तंबू गाड़कर बैठा।

इस तरह जगदीशपुर यद्यपि अंग्रेजों के कब्जे में आ गया, उन्होंने जगदीशपुर

के राजमहल, हिंदू मंदिरों और भवनों का नाश किया तो भी उस महल का राजा, उन मंदिरों का देवता, उन भवनों का मालिक, योद्धा कुँवरसिंह इस लड़ाई के पहले जितना अजित था उतना ही लड़ाई के बाद भी अजित ही था। राजधानी जाते ही अन्य राजा हार जाते हों, पर इस जगदीशपुर के महल की बात वैसी नहीं थी। जहाँ वह, वहाँ उसका जगदीशपुर—ऐसी उसकी प्रतिज्ञा होने से उसे पकड़े बिना केवल जगदीशपुर पकड़कर बैठना व्यर्थ था। उसने घर खोया, पर रणांगन ही उसका घर हो गया।

□

प्रकरण–४

दिल्ली हारी

अंग्रेजी सेना के तीसरे मुख्य कमांडर द्वारा दिल्ली शहर न जीत सकने से निराश होकर त्यागपत्र देने के बाद ब्रिगेडियर विल्सन ने जब मुख्य कमांडर का चार्ज लिया तब विद्रोहियों के आक्रमणों से पगलाई अंग्रेजी सेना के अधिकारियों में दिल्ली का घेरा छोड़कर पीछे लौट जाने का हताश विचार चलने लगा था। घेरा उठाने का वह विचार यदि पक्का हो गया होता तो सन् १८५७ का इतिहास कैसा बदला होता यह सही-सही कहना यद्यपि कठिन है, तथापि विद्रोहियों के हजारों हमलों से अंग्रेजों की जितनी हानि होनेवाली नहीं थी उतनी अंग्रेज पीछे हटकर अपने हाथ से कर लेते, इतना साफ-साफ दिखाई देता है। दिल्ली को घेरने से, शत्रु का शहर कब्जे में कर लेने से अधिक जो दूसरा सैनिक लाभ अंग्रेजों को सहज प्राप्त हो रहा था वह यह कि इससे विद्रोहियों का सैन्य सागर दिल्ली जैसे शहर में बंद हो गया था, ऐसा न होता तो वह सारे खुले प्रदेश में फैल गया होता और वह छोटी-छोटी टोलियों में चारों ओर से जूझते रहते तो ऐसे इस छापामार युद्ध से विद्रोहियों को अंग्रेजों पर चारों ओर से कड़े हमले करना और उनकी मुट्ठी भर सेना की मारपीट करना सुलभ हो गया होता। परंतु दिल्ली को घेरे रखकर यह विस्तार पाकर होनेवाला रणक्रंदन समाप्तप्राय हो गया। अंग्रेजों को असह्य कष्ट न देकर सारे विद्रोही एक शहर में जमा होकर स्वत: ही नियंत्रण में आ गए थे। ऐसी स्थिति में दिल्ली का घेरा उठा देने का अर्थ था—इस सेना सागर को सारे प्रदेश पर धींगामुश्ती करने को अपने हाथों बाँध फोड़कर खुला छोड़ना। दिल्ली जीत लेने के बाद भी वे सिपाही इधर-उधर फैलनेवाले थे ही। परंतु असफलता से उनका उत्साह भंग करके दिल्ली से भगा देना और हमने अंग्रेजों को घेरा उठाने को बाध्य किया—ऐसी जीत से प्रस्फुरित होकर अपने ऊपर चढ़ा लेने में बहुत भारी अंतर था। अंग्रेज कमांडरों

के ध्यान में यह अंतर होते हुए भी हताशा, निरुत्साह और विद्रोहियों द्वारा की हुई नाकेबंदी से जब दिल्ली का घेरा उठाकर वह अंग्रेजी साम्राज्य का सारा भविष्य उसके व्यवहार पर टिका हुआ था ऐसे समय में दिल्ली के अंग्रेजी शिविर में बेअर्ड स्मिथ जैसा साहसी अधिकारी भी था, यह उनका सौभाग्य ही था। जब अन्य सारे अंग्रेज अधिकारी भाग जाने के विचार में थे तब उसने सबको निश्चय से कहा— ''दिल्ली पर से अपनी पकड़ रत्ती भर भी ढीली करना इष्ट नहीं है। निष्ठुर कालपाश की तरह उसके कंठ में पड़ा अपना यह पाश अभेद्य और अटल रहना चाहिए। दिल्ली का घेरा हमने उठाया तो पंजाब भी हाथ से चला जाएगा, हिंदुस्थान हाथ से जाएगा, साम्राज्य हाथ से जाएगा।''

बेअर्ड स्मिथ के इस करारे उपदेश से उत्साहित होकर दिल्ली जीतने के पहले लौटना नहीं—ऐसा दृढ़ निश्चय जब अंग्रेजी कमांडर ब्रिगेडियर विल्सन कर रहा था तब भी विद्रोहियों ने अंग्रेजों की पिटाई करते रहने का अपना काम बिलकुल ढीला नहीं पड़ने दिया था। अंग्रेजों के दाएँ या बाएँ बाजू पर हमला करके जितनों को मार सकें उतने लोगों को मार लेते, जैसे ही अंग्रेज उनको मारने के लिए उठते विद्रोही इतनी तेजी से पीछे हटते कि उनका पीछा करने की अपरिहार्य इच्छा अंग्रेजों के मन में उठती और इस तरह अंग्रेजी सेना को परकोटे के पास लाते ही तोपों की भयंकर मार शुरू हो जाती। इस नई युक्ति से विद्रोहियों ने अंग्रेजों को इतनी बार अचूक ढंग से फँसाया और उनकी इतनी हानि की कि कुछ भी हो जाए तो भी सिपाहियों का पीछा न किया जाए ऐसा विशेष आदेश अंग्रेज कमांडर को देना पड़ा। विद्रोहियों की इस नई युक्ति से अंग्रेजी सेना जैसे-जैसे समाप्त होने लगी वैसे-वैसे उनका कमांडर पंजाब से आनेवाली नई सीजट्रेन की ओर चातक की तरह आँखें गड़ाए देखने लगा। दिल्ली के दक्षिण में अंग्रेजी सेना की क्या स्थिति है? कलकत्ता से निकली अंग्रेज सेना कहाँ तक आ गई? लखनऊ, कानपुर, बनारस आदि शहरों का क्या हाल है आदि समाचार, उत्तर भारत के आवाजाही के सारे रास्ते, तार, रेल, डाक नष्ट कर देना दिल्ली में कैद अंग्रेजी सेना को ज्ञात नहीं थे। सर हो व्हीलर का सिर कानपुर में उसके धड़ से अलग हुए एक माह बीत जाने पर दिल्ली के कैंप में अंग्रेजों को विश्वसनीय समाचार मिला कि सर हो व्हीलर गोरी सेना के साथ अपनी सहायता को दौड़ता आ रहा है। कलकत्ता की ओर से आनेवाली सहायता की निराशा हो जाने से दिल्ली के अंग्रेजों का सारा बोझ पंजाब पर पड़ा था और आज तक गोरी और काली सेना की नई-नई कुमुक भेजकर जॉन लॉरेंस ने वह बोझा यथासंभव सँभाला भी था। फिर भी दिल्ली से माँगी गई सीजट्रेन और कुमुक की नई माँग का अनादर न करते हुए जॉन लॉरेंस ने कोई दो हजार चुनी हुई सेना

निकल्सन के नेतृत्व में भेज दी थी। इस सेना के आने का समाचार अंग्रेज़ी छावनी में फैलते ही सैनिकों की मुद्रा में आनंद, उत्साह और द्वेष का तेज झलकने लगा। उस तेज में दो हजार सैनिक आने का हिस्सा उतना नहीं था, उस निकल्सन के आने से वह तेज विशेष झलकने लगा था। निकल्सन जैसे एक नेता का अर्थ हजारों सैनिकों का केवल शौयार्क था। हतोत्साहित अंग्रेजी सेना का हर जवान कहने लगा—''निकल्सन आया है, अब विजय में शंका नहीं!''

सुयोग्य कर्णधार मिल जाने से अंग्रेजी सेना के लिए विजय जितनी आशंका रहित होती गई उतनी ही दिल्ली के लिए पराजय सुनिश्चित होती गई। क्योंकि उनकी मुख्य कमी सुयोग्य कर्णधार की ही थी। विद्रोहियों ने जिसे नव सिंहासन पर बैठाया था वह बादशाह शांतिकाल में दयाशीलता में कितना ही चरित्रवान हो, परंतु युद्धकाल में अत्यावश्यक रणपटुता और नेतृत्व में असमर्थ और पूरी तरह अनभ्यस्त था। रणपटु सैनिकों की दिल्ली में कमी थी ऐसा नहीं। अंग्रेजों से हुई विकट लड़ाई में उन्होंने आंग्ल सेना को भी लज्जित किया था। अंग्रेजों की अधीनता में ही जिनके शस्त्राभ्यास और अनुशासन की शिक्षा पूरी हुई थी, जिन्होंने तलवार से ही अंग्रेजों के लिए अफगानिस्तान तक साम्राज्य की सीमा बढ़ाई थी ऐसे कोई पचास हजार सिपाही उस दिल्ली की चारदीवारी के अंदर से उन अभिमानी अंग्रेजों को एक जगह बाँधकर आज तक चिढ़ा रहे थे। परंतु उन पचास हजार सिरों को एकीकृत करनेवाला एक सिर फिर भी दिल्ली को चाहिए था। इन इतने भिन्न-भिन्न मणियों की स्वतंत्रता की उत्सुकता एक धागे में पिरोई गई थी। परंतु अंतिम सूत्रमणि का बंधन न मिलने से यह बंधरहित माला एक झटके में आज तक छितर नहीं गई यही एक आश्चर्य था। स्वतंत्रता की हवा से ये रेत कण एक बादल में मिल गए थे, पर हवा से उत्पन्न बादल जैसा ही बिखराव उनमें बना हुआ था। ऐसी स्थिति में उन्हें एक कर्णधार चाहिए था।

उन्होंने जिसे मुखिया माना था वह वृद्ध बादशाह भी किसी एक कर्णधार के लिए उन हजारों सिपाहियों जितना ही उतावला था। उसने बख्तर खान को सारे अधिकार देकर देखे। फिर उसने तीन जनरल नियुक्त कर उनके हाथों में नेतृत्व देकर देखा। फिर दिल्ली के तीन नागरिक और सिपाहियों के तीन प्रतिनिधि ऐसे छह लोगों का प्रतिनिधिमंडल सारी कार्यवाही संगठित रीति और एकमत से करे यह निश्चित किया, पर वह प्रतिनिधिमंडल भी जब निष्फल हो गया तब उस उदार और देशाभिमानी बादशाह ने अपने कारण यदि राज्य क्रांति का नाश हो रहा हो और अपने कारण कर्ता लोग अंग्रेजों की ओर जा रहे हों तो अपना शासन भी छोड़ देने को मैं तैयार हूँ इसकी घोषणा की। हिंदुस्थान अंग्रेजों के अधीन रहने की अपेक्षा,

हिंदुस्थान में विदेशियों का भ्रमण चालू रहने की अपेक्षा तथा हिंदुस्थान किसी तरह की राजनीतिक गुलामी में सड़ते रहने की अपेक्षा, स्वदेश को स्वतंत्रता प्राप्त करा देनेवाला कोई भी स्वदेशी अधिपति आगे आए तो मुझे सौ गुना अधिक आनंद होगा, ऐसा उस वृद्ध मुगल ने सबको सूचित किया और अपने हस्ताक्षरों से जयपुर, अलवर, जोधपुर, बीकानेर आदि प्रमुख राज्यों को पत्र लिखे कि "अंग्रेजों की बेड़ियों के टुकड़े देखना और किसी भी तरह हिंदुस्थान स्वतंत्र हो यह मेरी तीव्र इच्छा है। परंतु इस आपात स्थिति में जो सारे देश को नेतृत्व देने में समर्थ हो, राष्ट्रीय शक्ति को ज़ो संगठित कर सके और जिसमें सारा राष्ट्र एकमत हो सके, ऐसा कोई एक धुरंधर कर्णधार सामने आए बिना यह राज्य क्रांति सफल होनेवाली नहीं। हिंदुस्थान को अंग्रेजों की गुलामी से स्वतंत्र कर उसपर मेरा ही अधिराज्य स्थापित हो यह मेरी व्यक्ति विषयक महत्त्वाकांक्षा शेष नहीं है। स्वदेश की स्वतंत्रता के कार्य में तलवार से सज्जित होकर अंग्रेजों को सीमा पार करने के लिए आप सब राजा तैयार हों तो हिंदुस्थान के राजमंडल द्वारा स्थापित किसी भी राजमंडल का आधिपत्य स्वीकार कर अपने साम्राज्य अधिपति के अधिकार मैं स्वयं उसके हाथ में देने को खुशी से तैयार हूँ।"[१]

यह पत्र मुसलमान धर्म का समर्थक दिल्ली का बादशाह हिंदुस्थान के हिंदूधर्मीय राजाओं को भेज रहा है। सन् १८५७ के साल में स्वतंत्रता, स्वराज्य, स्वदेश और स्वधर्म आदि उदात्त शब्दों का कितना यथार्थ बोध हिंदुस्थान के लोगों को हुआ था यह उपर्युक्त अद्‌भुत पत्र से स्पष्ट होता है। हिंदू और मुसलमानों की धर्मभिन्नता स्वदेश की एकता में इतनी विलीन हुई देखकर चार्ल्स बॉल कहता है—"ऐसा अनपेक्षित, आश्चर्यकारी और विलक्षण परिवर्तन विश्व इतिहास में कदाचित् ही मिलेगा।"

परंतु यह विलक्षण परिवर्तन हिंदुस्थान देश के एक सीमित प्रदेश में ही पूरी तरह घटित होने से उसका तात्कालिक परिणाम सफल नहीं हो सका। दिल्ली की दीवार के सामने गुलामी और देश-स्वतंत्रता की लड़ाई शुरू थी, यह एक अर्थ में और प्रमुखता से यद्यपि सच है फिर भी दूसरी ओर आनुषंगिक दिशा से देखा जाए तो वहाँ अपने पर बलाबल की वास्तविक लड़ाई शुरू ही नहीं हुई थी, ऐसा दिखेगा। 'दिल्ली का घेरा' नाम की प्रसिद्ध पुस्तक का लेखक कहता है—"हमारे शिविर में एक यूरोपियन के पीछे दस नेटिव थे। जितने यूरोपियन तोपखाने पर होते उससे चौगुने नेटिव लोग और घोड़े के पीछे दो नेटिव घुड़सवार थे। नेटिवों की

१. मेटकॉफ कृत—'टू नेटिव नैरेटिव्स', पृष्ठ २२६।

भरती के सिवाय एक कदम भी आगे रखना संभव नहीं।'' देश के एक भाग की चेतना देश के दूसरे भाग की अचेतनता ने मार गिराई। ऐसी स्थिति में विद्रोहियों ने अगस्त समाप्त होने तक भी अंग्रेजों को अपने पर मार करने का अवसर न देते हुए, अभी तक अघातक पद्धति का अवलंबन करके वे अंग्रेजी शिविरों पर अखंड उत्साह से हमले कर ही रहे थे, यह उनके ध्येयवाद की कोई सामान्य पहचान नहीं थी।

तोपखाने ने सारी अंग्रेजी सेना पर ऐसी मार करनी चालू की कि सर कोलिन को स्थान छोड़कर सेना की भी बहुत सी हलचल और अंग्रेजी तोपों से बहुत देर गोलाबारी बंद रखनी पड़ी। क्रांतिकारियों का इस साहस से किया हुआ रण-आह्वान आज तक चुपचाप सुनने का सर कोलिन को जो अवसर आया वह इस ५वीं तारीख के बाद आनेवाला नहीं था। क्योंकि अब उसने अपनी सेना की उत्तम एकबद्धता कर मार्ग की सारी बाधाएँ दूर कर ली थीं और इसलिए दिनोदिन अंग्रेजी कमांडर-इन-चीफ के तंबू पर प्रत्यक्ष गोलाबारी का गुल्ली-डंडा खेलते बैठे दृढ़, साहसी और उद्दाम विद्रोहियों से ६ तारीख को स्वयं आगे बढ़कर युद्ध करने का निश्चय उसने किया। इस समय विद्रोहियों की ओर कोई आठ-दस हजार सैनिक शिक्षा प्राप्त सिपाही थे और उनके बाएँ बाजू में स्वयं नाना साहब, दाईं ओर ग्वालियर की सेना और उस सब पर तात्या टोपे सेनापति थे। अंग्रेजों के पास कुल गोरी और काली मिलाकर पाँच हजार पैदल, छह सौ घुड़सवार, पैंतीस तोपें, ऐसे कोई छह हजार लोगों की सेना सज्ज थी। चार्ल्स बॉल कहता है—''पचहत्तर हजार सेना थी और उन सब पर स्वयं कमांडर-इन-चीफ सर कोलिन सेनापति था।''

ऐसी इस तत्त्वनिष्ठा को कर्तव्य का बल देनेवाला कोई कर्णधार विद्रोहियों की ओर आने की बजाय अंग्रेजी छावनी में ही निकल्सन के आने से वह लाभ मिलने पर दिल्ली में निराशा की छाया पड़ने लगी। नीमच और बरेली की सेना एक-दूसरे के सिर निराशा का खपरा फोड़ने लगी और वेतन मिलने के बाद भी बदमाश सिपाही फिर-फिर वेतन का तगादा कर वह न मिलने पर शहर के श्रीमान लोगों पर अत्याचार करने की धौंस देने लगे। तब बख्तर खान ने बादशाह की इच्छा से सारे नेता, सारी सेना एवं चुने हुए नागरिकों को बुलाकर प्रश्न किया—''लड़ाई चालू रखना है या बंद करनी है?'' आकाश फट जाए, इतने जोर की गर्जना कर सबने उत्तर दिया—''लड़ाई, लड़ाई, लड़ाई!'' दिल्ली का यह अटल निश्चय देखकर फिर से सब ओर जोश दिखा और बरेली और नीमच की सेना को साथ लेकर अंग्रेजों के सीजट्रेन पर हमला करने के लिए विद्रोहियों की सेना नजफगढ़ तक पहुँची। बरेली ब्रिगेड ने जहाँ डेरा डाला, नीमच की सेना वहाँ डेरा न डालकर

शत्रु पर एक साथ आक्रमण न करते हुए और बख्तर खान का आदेश न मानते हुए पास के एक गाँव में जाकर उतरी। अंग्रेजों को यह समाचार मिलते ही उनका ताजादम सेनापति निकल्सन चुनी हुई एवं भरपूर सेना के साथ बहुत तेजी से नजफगढ़ की ओर चल पड़ा और बख्तर खान का आदेश न मानकर एक तरफ पड़ाव डाले हुई नीमच ब्रिगेड पर उसने अकस्मात् छापा मारा। विद्रोही असावधान, अकेले और अव्यवस्थित थे तो अक्रमणकर्ता सावधान, सनायक, व्यवस्थित—निकल्सन के सेनापतित्व में। फिर क्रांतिकारियों की दुर्दशा की सीमा शेष नहीं रही। बेशक वे लड़े बड़ी बहादुरी से, शत्रु भी स्तुति करें इतनी शूरता से लड़े। पर वह शूरता निष्फल। बुंदेल की सराय की लड़ाई के बाद विद्रोहियों की ऐसी पराजय नहीं हुई थी। नीमच की पूरी ब्रिगेड उस दिन नष्ट हो गई। स्वयं के द्वारा जिसे अधिकार सौंप गए थे उसके आदेश का पालन न करके अहंभाव से किए गए आचरण का ऐसा फल मिला। बिना आदेश के शूरता भी वीरता के अभाव जैसी ही निष्फल रहती है।

२५ अगस्त को मिली इस विजय से अंग्रेजी छावनी में आज तक छाए निराशा के बादल बिलकुल छँट गए। जून माह से यही सच्ची विजय उनको मिली थी। अब हर कोई दिल्ली पर हमला करने को व्याकुल हो गया। कमांडर विल्सन ने बेअर्ड स्मिथ को अंतिम आक्रमण का नक्शा तैयार करने का आदेश दिया। जिस बेअर्ड ने निराशा से भरे अंग्रेजों को दिल्ली से वापस लौटने से रोका था उसीने वह नक्शा भी तैयार किया। पंजाब से आनेवाली सीजट्रेन आक्रमण के लिए आवश्यक अप्रतिम युद्ध सामग्री लेकर अंग्रेजी छावनी में सुरक्षित पहुँच गई। जिस शहर ने अंग्रेजों की उत्कृष्ट सेना को, सेनापतित्व को और समरपटुत्व को तीन माह तक रणांगन में परेशान किया हुआ था उस दिल्ली को धूल में मिलाकर आज तक सहे कष्ट को सफलता में बदलने का समय निश्चित ही पास आया हुआ है—ऐसा उत्साहवर्धक संदेश भी अंग्रेजी सेना के कमांडर ने लश्कर में प्रचारित किया।

पंजाब की नई सहायता आने के बाद अब अंग्रेजों की कुल सेना साढ़े तीन हजार यूरोपियन, पाँच हजार नेटिव सिख, पंजाबी आदि सिपाही और ढाई हजार कश्मीरी सेना मिलाकर कोई ग्यारह हजार लोगों के अतिरिक्त अपने सैकड़ों सिपाही लेकर स्वयं जींद रियासत का राजा दिल्ली विजय के मुहूर्त पर अंग्रेजों से आकर मिल गया था। सितंबर के पूर्वार्ध में अंग्रेजी कमांडर ने विघातक पद्धति से आक्रमण कर नई-नई बैटरियों का निर्माण प्रारंभ किया है, यह देखकर दिल्ली के विद्रोहियों में भय निर्माण हुआ और चारदीवारी के बाहर अंग्रेज मानो एक व्यक्ति हो ऐसे अनुशासनबद्ध होकर बढ़ते जाते थे। जबकि चारदीवारी के अंदर अवज्ञा और

अनुशासनहीन व्यवहार वृद्धि पा रहा था। अंग्रेजों की ओर जो नेटिव थे वे तोपों की मार में बैटरी निर्माण के कार्य में इतनी दृढ़ता से लगे रहते कि फॉरेस्ट लिखता है—''नेटिव लोगों में कूट-कूटकर समाए निश्चलता के शौर्य का उन्होंने कमाल दिखाया। एक के बाद एक आदमी मरता जा रहा था—मृतक के लिए एक क्षण वे ठहरते, एक-दो आँसू बहाते, शवों की पंक्ति में वह शव रखते और फिर से उस मृत्यु स्थान पर काम करने लगते।'' अंग्रेजों के अधीन नेटिव ऐसा अचल अनुशासन बरतते और दिल्ली शहर के नेटिव एक-दूसरे पर काम ढकेल रहे थे। इस भिन्नता से बहुत सीखना आवश्यक है। अधिकारियों का उचित सम्मान और आदेश के शब्दों के प्रति आदर, यह अनुशासन का मुख्य बीज है। पर दिल्ली में इस बीज को सब जगह पैरों के नीचे कुचला जा रहा था। अधिकतर दोष असमर्थ अधिकारियों को और शेष स्वच्छंद आचरण करते अनुयायियों को; और अब उनमें निराशा, निरुत्साह का जोर!

दिल्ली के बाहर बढ़ता जा रहा दबाव और दिल्ली के अंदर अस्त होता जा रहा यह उत्साह—इन दोनों का ही अंत करने के लिए सितंबर की चौदह तारीख उदय हुई। अंग्रेजी सेना के चार विभाग कर उसमें से पहले तीन विभाग निकल्सन के अधीन काश्मीरी दरवाजे से घुसने के लिए भेजे गए और काबुल दरवाजे से घुसने के लिए चौथा भाग मेजर रीड के अधीन अंग्रेजों की दाईं ओर खड़ा हो गया। इन दो स्थानों पर चारदीवारी में छेद करने का काम प्रारंभ हुआ। सूर्योदय होते ही अंग्रेजों की दीवार फोड़नेवाली तोपें एकदम बंद हो गईं। अंग्रेजों के शिविर में एक क्षण भर अंतिम समय की निःशब्दता! और तुरंत ही निकल्सन के साथ वह शिविर किसी जीवित दीवार की तरह एकाएक आगे दौड़ चला। उसके पहले नंबर के कॉलम ने कश्मीर बेस्टन के पास दीवार में जो छेद बनाया था उधर हमला किया। इसमें से गोलियों की बौछार शुरू हो गई। खंदक में अंग्रेजों के शव धड़ाधड़ गिरते हुए कुछ दीवार से आ लगे। दीवार को सीढ़ी लगी। सीढ़ी पर चढ़ा कि गिरा ऐसी प्रचंड मार में अंग्रेजी सेना फिर-फिर दीवार पर चढ़ने लगी। अंग्रेजी सेना दीवार के छेद से अंदर घुसी। दीवार का वह हिस्सा जीत लिया गया—विजय का घंटा बजा।

इस कश्मीर बेस्टन जैसे ही वॉटर बेस्टन के छेद से भी भयानक मारकाट करते मरते-मरते एवं मारते-मारते अंग्रेजों के दूसरे नंबर के कॉलम ने वह छेद जीत दीवार के अंदर प्रवेश किया।

तीसरे नंबर का कॉलम कश्मीरी दरवाजे की ओर जा रहा था। लेफ्टिनेंट होम और सालकेल्ड के वह दरवाजा बारूद लगाकर उड़ा देने के लिए उस दरवाजे के सामने आते ही दीवार के ऊपर से, खिड़कियों के ऊपर से गोलियों की बरसात होने लगी। कश्मीरी दरवाजे के सामने खंदक पर बना पुल गिराया हुआ था। केवल एक

बल्ली बची हुई दिख रही है। ठीक है, उसीपर से चलो। सार्जेंट मरा। वह महादूत भी गिरा पर आगे बढ़ो, होम आगे चला। होम ने आगे जाकर हाथ का बारूद अंत में दरवाजे में रख ही दिया। तो फिर आग लगानेवाली दूसरी टोली बल्ली पर से घुसने लगी। लेफ्टिनेंट सालकेल्ड गोली लगकर गिर पड़ा, कारपोरल तू आगे घुस—तुझे भी गोली लगी? पर कुछ परवाह नहीं। मरते-मरते शूरों ने चिनगारी तो डाल ही दी। धड़ाड़, धड़ाड़, धड़ाड़! कश्मीरी दरवाजा खुलने की राह देखते अंग्रेजी सेनापति को उस भयानक युद्ध की मारामारी के घन गर्जन में वह आवाज साफ सुनाई नहीं दी। फिर वह आगे बढ़े या न बढ़े? पर क्यों न बढ़े? यद्यपि विजय का घंटा मुझे सुनाई नहीं पड़ा परंतु वे आगे बढ़े अंग्रेजी वीर? वे असफल हुए होंगे यह असंभव! अब बहुत समय हो गया है, अत: हम आगे तो बढ़ ही लें। ऐसे प्रबल आत्मविश्वास से कैंपवेल ने हमले के आदेश दिए। खंदक तक वे पहुँचे। उन्होंने खंदक में पड़े अपने विजयी मरणोन्मुखों को देखा और मारते दौड़ते वे कश्मीरी दरवाजे के टूटे हिस्से से दिल्ली में कूद पड़े। वहीं उन्हें अपने-अपने काम सफलता से पूरे कर दिल्ली में घुसे हुए वे पहले दो कॉलम भी मिले। निकल्सन के अधीनस्थ ये तीनों भाग युद्धभूमि के अपने-अपने काम रंगभूमि के पात्रों जैसी व्यवस्था से करके सेना का चौथा कॉलम कहाँ है—यह एक-दूसरे से पूछने लगे।

अंग्रेजी सेना का चौथा भाग मेजर रीड के नेतृत्व में काबुल दरवाजे से हल्ला करने के लिए अंग्रेजों के दाएँ बाजू से निकला था। सब्जी मंडी तक वह चलकर आया तो उन्हें रोकने, दिल्ली से बाहर निकले सिपाहियों से उनकी मुठभेड़ हुई। पहले हमले में ही मेजर रीड के नीचे गिर जाने से अंग्रेजी सेना में किंचित् दबाव के कारण आदेश के लिए भ्रम उत्पन्न हुआ और विद्रोहियों का उत्साह चढ़ा और अंग्रेज भागता है क्या? ऐसा रंग दिखने लगा। पर होप ग्रांट अचूक रीति से अपने घुड़सवारों के साथ वहाँ दौड़ता आ पहुँचा और फिर से अंग्रेजी पक्ष का अटल रण शुरू हो गया। अंग्रेजों ने तोपों से जोरदार मार चालू की तब भी किशनगंज के बाग से, घर-घर से विद्रोहियों की गोलियाँ सूँ-सूँ करते रक्त की वर्षा कर रही थीं। अंग्रेजी घोड़ों को आगे बढ़ाना कठिन हो गया। तोपें विद्रोही छीन लेंगे इस डर से पीछे जाना भी संभव न रहा। वे अंग्रेज घुड़सवार वहीं खड़े-खड़े मरने के लिए जम गए। एक आदमी भी नीचे गिरने के अतिरिक्त मृत्यु से डरकर इधर-उधर नहीं हिला। अंग्रेजों की ओर के नेटिव घुड़सवारों की इस अपूर्व शूरता और आज्ञापालन के इस अपूर्व मेल के लिए उसका कमांडर होव ग्रांट कहता है—''नेटिव घुड़सवार अटल रहे, उनकी सिपाहीगिरी पर आश्चर्य है! मैं उन्हें प्रोत्साहित करने लगा तो वे बोले—'चिंता नहीं, इस स्थान पर हम आप जितनी देर कहें

उतनी देर तक खड़े रहेंगे'।''

अंग्रेजों की ओर से लड़ते नेटिव की शूरता को मात करनेवाला शौर्य स्वतंत्रता के पक्ष में सम्मिलित नेटिव ने प्रकट किया था। जिद से भरे वे विद्रोही इंच-इंच भूमि को लड़ते-लड़ते अब ईदगाह पर तेज मारामारी करने लगे। फिर गुस्से से भरकर हमले-पर-हमला। ईदगाह पर कब्जा करना चाह रही अंग्रेजी सेना डगमगाने लगी—फिर चढ़ाई करो; अंग्रेजी सेना हटी—फिर करो हमला—ईदगाह से मार खाते-खाते अंग्रेजी फौज ऊपर वर्णित बहादुर घुड़सवारों और अंग्रेजी तोपों के आश्रय में आ गई—फिर भी हमला करो। अब यहीं तक रहने दो। यह स्थान छोड़कर यह अंग्रेजी सेना लौटने लगी है। शाबाश विद्रोहियों! भली लड़ाई की। यदि तुममें से सबने ऐसा ही किया होता तो!

इस चौथे भाग का जब ऐसा मनोभंग हो रहा था तब अंग्रेजों के शहर में घुसे तीन भाग कश्मीरी दरवाजे के पास थोड़ी देर ठहर फिर शहर पर कब्जा करने कूद चले। कैंपवेल, जोन्स और योद्धा निकल्सन ये तीन प्रमुख सेनापति अपनी निडर सेना को—'चलो, मर्दो चलो' इस युद्ध गीत से आह्वान करते हुए काबुल दरवाजे की ओर लड़ते हुए निकले। जो भी तोप के रास्ते में मिले उसे कब्जाते, जो भी टेकरी दिखे उसपर अंग्रेजी झंडा फहराते और मारकाट करते-करते ब्रिटिश सेना बर्नबेस्टन स्थान तक आ पहुँची। परंतु यहाँ से अब खाली तोपें, बेजान टेकरियों और शूरशून्य रणक्षेत्र के स्थान पर 'दीन बोलो दीन' की भयानक चिंघाड़ सुनाई दी और विद्रोहियों के गोलों का हमला हुआ। भयंकर रक्तपात होने लगा, मृत्यु का नाच शुरू हो गया, विजय से उन्मत्त अंग्रेजी सेना हतोत्साहित होकर पीछे हटी। सामने से यह पीछे हटना देखकर वह हठी वीर निकल्सन बाघ सा झपटा। शूरवीरों को जग में कुछ भी असाध्य नहीं, यह जिसका संकल्प था, वह निकल्सन बर्नबेस्टन पर हुए अपमान से चिढकर फिर उस गली में घुसने लगा तो वहाँ फिर घमासान मच गया। इस दो सौ गज लंबी गली में उस दिन जो मारकाट हुई वह पानीपत जैसे रण का एक संक्षिप्त संस्करण ही थी। जो अंग्रेज आगे पैर बढ़ाता उसे स्वतंत्रतार्थी जेहादी समर में गिरा ही देंगे, यह बात पक्की थी। छप्पर से, खिड़की से, दरवाजे से, चबूतरे से वह स्वातंत्र्याभिमानी हठी गली अपने हजारों बंदूकों से गोलियों की ज्वाला उगलने लगी और उस हठी निकल्सन को भी पीछे धकेलने लगी। शूर मेजर जेकब को भी उसने दाँतों नीचे चबा डाला। वीर निकल्सन, अब तुम ही आगे बढ़ो। तुझे छोड़कर अंग्रेजी सेना के सारे सेनापति इस गली ने नष्ट किए हैं। आया, हे स्वातंत्र्याभिमानी गली, वीरता की गुफा, आ गया स्वयं निकल्सन तुझपर दौड़ा। अब वास्तविक परीक्षा है। निकल्सन उस गली पर और गली निकल्सन पर। भयंकर युद्ध हुआ।

तभी अंग्रेजी सेना में बिजली गिरने जैसा हाहाकार मच गया। निकल्सन? निकल्सन? अब कैसा निकल्सन? किसी शूर सिपाही ने उस अंग्रेज महारथी को अचूक निशाने से भूमि पर घायल कर गिरा दिया। एक हाहाकार मच उठा। हटो, हटो! अंग्रेज सेना कहने लगी और छाँटो-काटो—ये कोलाहल उस गली में उठा। जिसके नख निकल्सन के रक्त से भर गए थे वह भयंकर गली। जिसकी लंबाई के हर इंच पर किसी-न-किसी अंग्रेज की कब्र होगी।

उस वीर्यवान गली से दूसरी बार भाग चली उस अंग्रेजी सेना का भाग किसी तरह काबुल दरवाजे तक पहुँचते-न-पहुँचते, उस जामा मसजिद के पास आते ही उसमें बैठे जेहादियों की रण गर्जना सुनाई दी। उनका कमांडर कैंपवेल घायल हो गया और सेना के उस भाग ने पीछे हटने का बिगुल बजाया।

दिल्ली पर हमले का पहला दिन समाप्त हुआ। हिंदुस्थान में ऐसा भयंकर दिन अंग्रेजी शासन में कभी उदय नहीं हुआ था। उनके चार भागों में से तीन भागों के प्रमुख कमांडर घायल हुए। छियासठ अधिकारी समरांगण में गिरे, एक हजार एक सौ चार लोग मरे। शाम को इस विलक्षण मृत्यु संख्या से क्या प्राप्त किया, यह देखने पर जनरल विल्सन को ज्ञात हुआ—दिल्ली के परकोटे का एक चौथाई भाग हाथ में है। भय, चिंता, और निराशा से पागल हुआ वह अंग्रेज कमांडर बोला—''दिल्ली छोड़कर तत्काल पीछे हट जाना चाहिए। सारा शहर अभी अविजित ही बना हुआ है। मेरे अधीनस्थ शूर लोगों की एक गली ने रक्षा की और जो मुट्ठी भर लोग अभी भी जीवित हैं उन्हें हजारों विद्रोही हर घर से आगे आने को बड़ी शान से बुला रहे हैं। ऐसी स्थिति में सारे-के-सारे लोग मर जाएँ या पीछे लौटने का अपयश स्वीकार करें।'' अंग्रेजों का मुख्य कमांडर जनरल विल्सन बोला—''इसलिए अब पीछे लौटना चाहिए।''

पीछे लौटना चाहिए? मृत्यु की ओर बढ़ते निकल्सन को अस्पताल में यह समाचार मिलते ही वह वीर बोला—''पीछे लौटना? उस पीछे हटनेवाले विल्सन को गोली मारने की शक्ति ईश्वर कृपा से मुझमें अभी भी शेष है।'' इस मरते वीर की तरह ही सारे जीवित अंग्रेजों ने भी यही कहा और १४ सितंबर की रात कब्जा किए भाग को सँभाले अंग्रेजी सेना अटल बनी रही।

जनरल विल्सन के पीछे लौटने के विचार को अंग्रेज योद्धाओं ने जितना अस्वीकार कर दिया उससे भी अधिक विद्रोहियों के शिविर में चल रही हलचल ने विल्सन के भय की व्यर्थता प्रकट करना चालू कर दी। दिल्ली में अधिक देर न लड़ते हुए हम बाहर के प्रदेशों में युद्ध करने निकल पड़ें यह एक पक्ष का विचार बना और दूसरे पक्ष का दृढ़ विचार था कि मृत्यु पर्यंत दिल्ली समर्पण न करें।

अंग्रेजों में कितने ही मतांतर हों तब भी बहुमत का सम्मान अंत में भिन्नता को एक वाक्य कर लेने का जो अमूल्य सद्‌गुण था इधर क्रांतिकारी सिपाहियों की अंधेर नगरी में उसका अभाव होने से उपर्युक्त दोनों पक्ष एक दिशा में न जाकर अलग-अलग रास्तों पर निकल पड़े। कुछ सिपाही दिल्ली छोड़कर बाहर निकले। कुछ अंत तक दिल्ली की भूमि से एक भी पैर पीछे न हटने का निश्चय कर रणांगन में अचल बने रहे। १५ सितंबर से २४ सितंबर तक दिल्ली में इसी पक्ष ने युद्ध किया और वह भी इतने निश्चय, शौर्य और दृढ़ता से कि मसजिद और राजमहल में जब अंग्रेजी सेना घुस रही थी तब उस सारी सेना के सामने एक-एक रखवाला ही बंदूक हाथ में लिये खड़ा मिला। अंग्रेज पास आते ही वह धैर्य से बंदूक तानता, बिलकुल निशाने पर आते ही शत्रु पर गोली चलाता और स्वदेश के लिए यह जीवित अवस्था की अंतिम सेवा कर मृत्यु की सेवा में हाजिर हो जाता। अंग्रेजी इतिहासकार लिखते हैं—''जिस समय महल में अंग्रेज सेना घुसने लगी उस समय वहाँ कुछ जेहादी लोग खड़े हुए दिखाई दिए। वे पंक्ति में भी नहीं थे, क्योंकि पंक्ति बनाते इतनी उनकी संख्या ही नहीं थी। तथापि जिस शत्रु से आज तीन माह तक बड़ी दृढ़ता से उन्होंने संघर्ष किया उन फिरंगियों से उनकी शत्रुता जीवन के अंतिम क्षण तक भी ढीली नहीं पड़ी थी, यह सिद्ध करने के लिए वे सिपाही विजय की रत्ती भर परवाह किए बिना अद्‌भुत कर्मी लोग हमें चिढ़ाते अचल खड़े रहे थे।''

अंग्रेजों के हाथ में दिल्ली का तीन चौथाई भाग चला जाने के बाद कमांडर-इन-चीफ बख्तर खान दिल्ली के बादशाह से मिले और बोले—''दिल्ली तो अपने हाथ से चली गई है, परंतु इससे विजय की सारी संभावना अपने हाथ से निकल गई, ऐसा नहीं है। बंद स्थान से लड़ाई लड़ने की अपेक्षा खुले प्रदेश से शत्रु को परेशान करने का दाँव अभी भी निश्चित विजयी होनेवाला है। अपनी सेना के उन लोगों को लेकर जो स्वतंत्रता युद्ध में मरते दम तक तलवार उठाए रखने को तैयार हैं, ऐसे योद्धाओं को चुनकर मैं उनके साथ दिल्ली में लड़ाई करता हुआ दूसरी जगह निकल जा रहा हूँ। शत्रु की शरण जाने की अपेक्षा लड़ाई करते हुए बाहर निकल जाना ही हमें इष्ट लगता है। ऐसे समय आप भी हमारे साथ चलें और अपने झंडे के नीचे हम स्वराज्य के लिए ऐसे ही लड़ते रहें।'' बाबर, हुमायूँ या अकबर के तेज का शतांश भी यदि इस वृद्ध मुगल में होता तो उसने यह वीरतापूर्ण निमंत्रण मानकर उस साहसी बख्तर खान के साथ दिल्ली से कूच किया होता। पर बुढ़ापे से बलहीन, राजविलास से मतिमंद और पराजय से भयभीत हुए उस बादशाह ने अंतिम समय तक अपनी अनिश्चितता और चंचलता बनाए रखी। अंतिम दिन वह हुमायूँ की कब्र में छिपकर बैठा और बख्तर खान का निमंत्रण अस्वीकार कर इलाही बख्श मिर्जा के

उपदेश के अनुसार अंग्रेजों की शरण जाने लगा। इलाही बख्श असल दगाबाज था। उसने यह समाचार अंग्रेजों को दिया। अंग्रेजों ने तत्काल कैप्टन हड्सन को उधर भेजा। जीवनदान का वचन लेकर बादशाह ने समर्पण किया। उसे महल तक लाकर कैद में डाल दिया गया। फिर दगाबाज कुत्ते इलाही बख्श और मुंशी रजब अली दौड़े आए और बोले—''अभी राजकुँवर हुमायूँ के मकबरे में ही छिपे बैठे हैं।'' फिर हड्सन दौड़ा गया। राजपुत्रों ने समर्पण किया और उन्हें वह गाड़ी में बैठाकर दिल्ली की ओर ले चला। शहर में पैर रखते ही हड्सन राजपुत्रों की गाड़ी के पास दौड़कर पहुँचा और चिल्लाकर बोला—''अंग्रेजों की महिलाओं, बच्चों का वध करनेवालों को मृत्यु दंड ही दिया जाना चाहिए।'' काँपते हुए वे गाड़ी से नीचे खींचे गए, उनके शरीर के सारे वस्त्र उतार लिये गए और हड्सन ने उन शरणागत राजपुत्रों की ओर से अपना मुँह फेरा और तीन गोलियों से उसने उन तीनों राजपुत्रों को मार डाला। तैमूर के वंशवृक्ष की यह अंतिम पत्तियाँ हड्सन ने तोड़ डालीं। परंतु उसकी क्रूरता का समाधान इन शरणागत शहजादों को केवल गोलियों से भूनकर नहीं हुआ। मृत्यु तक तो जंगली आदमी भी बदला लेते हैं। फिर सभ्य आदमी में और उनमें अंतर ही क्या रहा? इसलिए उन राजपुत्रों के शवों को उठाकर दिल्ली की कोतवाली की ओर फेंका गया। गिद्धों को उन तैमूर के वंशजों की बढ़िया दावत देने के बाद उन सड़े शवों को खींचकर नदी में फेंक दिया गया। अकबर के वंशजों को दफनाने के लिए कोई भी न रहा? हे कालचक्र, तेरे कैसे-कैसे खेल हैं! अब सिखों को सचमुच लगने लगा कि उनके ग्रंथ में लिखा भविष्य सच हुआ। पर वह किस अर्थ में? किस तरह? क्या फलित देकर?

फिर दिल्ली में भयानक कत्ल और लूट चालू हुई। उसका वर्णन सुनकर लॉर्ड एल्फिस्टन जॉन लॉरेंस को लिखता है—''दिल्ली का घेरा समाप्त हो जाने पर अपनी सेना ने दिल्ली का जो हाल किया वह हृदयद्रावक है। शत्रु और मित्र का भेद न करते हुए सरेआम बदला लिया जा रहा है। लूट में तो हमने नादिरशाह को भी मात दे दी।''[१] जनरल आउट्रम कहता है—''दिल्ली जला दो।''

यूरोपियन और नेटिव सिपाहियों सहित दिल्ली के घेरे में लगी अंग्रेजों की सेना दस हजार तक हो गई थी और उनमें से मृत्यु मुख में पड़े और घायल पड़े कोई चार हजार लोग इस युद्ध में काम आए। क्रिमियन वार जैसे प्रचंड युद्ध में भी जन हानि का इतना विशाल अनुपात नहीं दिखता।[२] विद्रोहियों की ओर जो जन हानि हुई

---

१. 'लाइफ ऑफ लारेंस', खंड २, पृष्ठ २६२।

२. 'लाइफ ऑफ लारेंस', खंड २ की फॉरेस्ट द्वारा लिखित प्रस्तावना।

होगी उसका विश्वसनीय आँकड़ा निकालना—अंग्रेजी ग्रंथों से—असंभव है। फिर भी कम-से-कम पाँच से छह हजार तक उनकी जन हानि हुई ही होगी।[१]

इस तरह यह इतिहास प्रसिद्ध नगर स्वदेश, स्वतंत्रता और स्वधर्म रक्षा की दिव्य चेतना से संचारित होकर कोई एक सौ चौंतीस दिन तक अंग्रेजों जैसे सबल शत्रु की समर कुशलता को धिक्कारता हुआ रात-दिन संघर्षरत रहा। कुल मिलाकर यह अटल संघर्ष तत्त्वनिष्ठा को शोभा देनेवाला था। अपनी दीवार पर गढ़ा फिरंगी निशान फेंककर अपने निशान की घोषणा जिस दिन की गई, गुलामी का मायाजाल फाड़कर स्वतंत्रता प्राप्ति के साहसी अभियान पर जिस दिन दिल्ली बढ़ी, सारे हिंदुस्थान के नाम से स्वधर्म प्रतिष्ठा का राष्ट्रीय ध्वज गाड़कर उस विस्तीर्ण देश की एकता की संवेदना का दिल्ली ने जिस दिन प्रथमोच्चार किया, उस दिन से बहादुरशाह के राजमहल में अंग्रेजी तलवार ने, अंतिम स्वदेशी रक्त बिंदु गिरने तक इस शहर ने स्वदेश स्वतंत्रता के जेहाद को अलंकृत करे—ऐसे वीरताप्रचुर, स्वार्थ निवृत्तिमय और उदारचरित्र कृत्य कुछ कम नहीं किए। नेता न होते, संगठन न होते, अंग्रेजों जैसा करते हुए शत्रु का सामना करते, और विशेषकर असल फिरंगी तलवारों की तुलना में अपने ही कम-असल देशजों की तलवारें अपने प्राण लेने के लिए दिल्ली पर टूट पड़तीं—पहली बाधा से अनाथता, दूसरी से बिखराव, तीसरी से असह्यता और चौथी से उत्पन्न होती उद्विग्नता—इन सारे संकटों की परवाह न करते हुए रणभूमि पर देशवीरों और धर्मवीरों की भाँति अचल, मृत्यु का वरण करते हुए लोग दिल्ली के घेरे का इतिहास निष्फल नहीं होने देंगे। उनके हाथों घटित दोष और सत्कृत्य दोनों ही भावी पीढ़ी के अभिमान के ही पात्र होंगे। इसलिए लज्जास्पद नहीं, उन दोषों और सत्कृत्यों की पंक्ति में एक अद्‌भुत तत्त्वनिष्ठा का तेज, स्वधर्माभिमान का तेज, स्वदेश स्वतंत्रता का तेज, झिलमिलाता होने से वे दोनों ही कृत्य नैतिक उदाहरण के मूर्त व्याख्यान हैं।

हे दिल्ली नगरी, तू गिरी उसमें कोई लज्जा नहीं! क्योंकि तू स्वराज्य के लिए, स्वधर्म के लिए, स्वदेश के लिए लड़ी थी! अत: 'दंतछेदो हि नगानां श्लाध्यो गिरिविदारणे!'—पर्वत से जूझते हुए चूर्ण हुआ दाँत ही गजश्रेष्ठ के लिए होता है!



---

१. रॉटन जैसा ग्रंथकार भी कहता है—''विद्रोहियों के हताहतों की संख्या सदैव ही अगणित बताई जाती थी।'' —पृष्ठ १९५

प्रकरण–५

लखनऊ

अव्यवस्थित राज्य पद्धति से प्रजा का संरक्षण करने के लिए अयोध्या के घरों में कोने-कोने तक घुसी बैठी अंग्रेजी सत्ता को जून माह में क्रांतिकारियों ने मार-पीटकर अयोध्या की एक छोटी सी रेसीडेंसी में धकेलकर बंद कर दिया था। वहाँ उसको सर हेनरी लॉरेंस ने धीरज देना प्रारंभ किया। चिनहट की लड़ाई में हारकर जब सर हेनरी ने रेसीडेंसी में कदम रखा और वहाँ अयोध्या पर अधिराज्य पाने के प्रश्न पर फिर से विचार करना प्रारंभ किया तब उसके साथ उस रेसीडेंसी में कोई एक हजार यूरोपियन और आठ सौ नेटिव लोग थे। इन लश्करी लोगों के साथ ही जो अन्य गोरे और काले ईसाई भी आए थे उनकी कुल संख्या तीन हजार तक थी। चिनहट की पराजय के बाद यह सेना जब पहली बार रेसीडेंसी में बंद हुई तब उस तेजी से और अकस्मात् आए हुए संकट में रेसीडेंसी का स्थान, दीवारें, कोट ये सब बहुत कमजोर स्थिति में थे। अंग्रेजों की इस असहायता का तभी लाभ उठाकर उनपर जोर का हमला कर उस रेसीडेंसी को जीत लेने का अच्छा अवसर विद्रोहियों के लिए आया था। पर इस अवसर का लाभ लेने के लिए आवश्यक एकता सिपाहियों में बिलकुल नहीं थी, अत: लखनऊ में बंद हो जाने के बाद कोई दो हफ्ते अपने चारों ओर कोट आदि का संरक्षण की दृष्टि से उत्तम प्रबंध करने में अंग्रेज व्यस्त रहे।

विद्रोहियों की सेना को चिनहट में जिस दिन विजय मिली उसी दिन अयोध्या में अंग्रेजी राज्यसत्ता समाप्त होकर विद्रोह को राज्य क्रांति का स्वरूप प्राप्त हो गया। सिपाहियों, राजाओं और नागरिकों ने प्रथम लखनऊ की खाली गद्दी पर स्व सम्मत सत्ता की प्रस्थापना करना प्रारंभ किया। चिनहट की लड़ाई के बाद पहले हफ्ते में इधर-उधर मची अराजकता-अंधाधुंधी समाप्त किए बिना युद्ध कार्य के

लिए आगे कोई प्रयास नहीं कर पाने के कारण उस हफ्ते में अंग्रेजों को अपने कोट का बंदोबस्त—मजबूती से करने की छूट देकर भी विद्रोही पहले लखनऊ की राज्य रचना के कार्य में लगे। लखनऊ के भूतपूर्व नवाब वाजिद अलीशाह कादर को ही लखनऊ की गद्दी पर सर्वसम्मति से बैठाया गया। बर्जिस कादर अल्प वय का होने के कारण अयोध्या राज्य के सारे अधिकार राजमाता बेगम हजरत महल को सौंप दिए गए। दिल्ली के राजमहल का बादशाह बहुत बूढ़ा होने के कारण उसके नाम से शासन के सारे कार्य बेगम जीनत महल ही चलाती थी तो लखनऊ के राजमहल में भी वहाँ का नवाब अल्प वय का होने के कारण वहाँ का राजप्रतिनिधित्व बेगम हजरत महल की कर्मठता पर ही अवलंबित था। यह अयोध्या की बेगम यद्यपि सन् १८५७ की दूसरी लक्ष्मीबाई नहीं थी, फिर भी पराकाष्ठा की कर्तव्यवती, स्वतंत्रता के रस में सराबोर और साहस-संकल्पा थी इसमें कोई शंका नहीं। उसके दरबार के मैमूब खान आदि सरदारों के नेताओं को और अयोध्या प्रदेश के भिन्न-भिन्न स्थानों से लखनऊ की ओर स्वतंत्रता संग्राम के लिए दौड़ते आए कर्मठ लोगों को मान्य भिन्न-भिन्न पुरुषों को बेगम हजरत महल ने न्याय, वसूली, लश्कर, पुलिस आदि विभागों में अधिकारी नियुक्त कर दिया। हर दिन राजनीति के भिन्न-भिन्न पहलुओं पर चर्चा करने के लिए दरबार भरता और वहाँ स्वयं बेगम साहिबा अपने अल्प वय नवाब के नाम से राजकाज करती थीं। अयोध्या प्रांत स्वतंत्र होकर अंग्रेजी सत्ता का वहाँ लवलेश भी शेष नहीं है, यह समाचार बेगम के हस्ताक्षर-मुहर के साथ भेज दिया गया। आसपास के सारे जमींदार, मांडलीक, राजाओं को लखनऊ आ जाने के लिए पत्र भेजे गए। भिन्न-भिन्न अधिकारियों की नियुक्तियाँ, राज्यव्यवस्था के सर्वांगों की व्यवस्था, हर दिन भरते दरबार आदि से ऐसा सब ओर दिखने लगा कि अयोध्या का विद्रोहत्व समाप्त हो गया है और उसे राजनीतिक संगठनत्व प्राप्त हो गया है।

पर केवल दिखने लग गया है—क्योंकि ये अधिकारी और यह अव्यवस्था और ये दरबार तत्काल नियुक्त करने में जितनी शस्त्रशुद्धता विद्रोहियों ने दिखाई उतनी उन्होंने उपर्युक्त नियुक्तियों के आज्ञापालन में बिलकुल नहीं दिखाई थी। राज्य क्रांति में सामान्यतः यही दोष घटित होता है और इस कारण राज्य क्रांति के आरंभ में ही उसके नाश के बीज पड़ जाते हैं। जिसका राज्य उलटना है उसके कानूनों को तलवार से चीर डालना ही राज्य क्रांति है! पर एक बार विदेशियों के कानूनों को तलवार से चीरने की आदत लग जाने पर फिर उस नशे में चाहे जिस भी कानून को अपनी इच्छा के अनुसार लतियाने की आदत लग जाती है। दुष्टतापूर्ण कानूनों को नष्ट करने का चस्का लगी तलवार कानून का ही नाश करने लगती है।

विदेशी शासन का नि:पात करने निकले वीर अंत में शासन का ही नाश करने लगते हैं। विदेशी राज्य के बंधन काट देने के रण-मद में उन्हें राजबंधन ही अस्वीकार हो जाते हैं और इस तरह राज्य क्रांति का अंत अराजकता में, सद्‌गुणों का अंत दुर्गुणों में हो जाता है और हितकर प्रयासों के परिणाम अहितकारी होने लगते हैं। अराजकता—पराजय जितनी ही और बंधन रहितता दुष्ट बंधनों जैसी ही व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के नाश का कारण होनेवाली होती है—इस समाज सत्य का विस्मरण जिस किसी क्रांति में हुआ उस क्रांति का उसके क्रांति तत्त्व के कारण ही विनाश हुआ है। किसी रोग का परिहार करने के लिए मद्य सेवन की आदत जैसे जाती नहीं, वैसे ही दुष्टतापूर्ण बंधन से मुक्ति के लिए पिया जानेवाला बंधनोच्छेद का मद्य दुष्टता चली जाने के बाद भी व्यसनी लोगों को अंधाधुंध और बेसुध किए रहती है। जो राज्य क्रांति अन्याय और अत्याचार का उच्छेद करनेवाली है वही राज्य क्रांति पवित्र है। परंतु एक अन्याय और अत्याचार का उच्छेदन कर उसके स्थान पर जिस क्षण राज्य क्रांति एक दूसरे अन्याय एवं अत्याचार का बीजारोपण करने लगती है उसी क्षण वह राज्य क्रांति अपवित्र होने लगती है और अपवित्रता के सहभागी विनाश के बीज उसका जल्द ही प्राण हरण करते हैं।

इसलिए परतंत्रता के रोग का नाश करने के लिए जिन्हें राज्य क्रांति का मद्य पीना है उन्हें उस मद्य का व्यसन न लग जाए—वे ऐसी दक्षता हमेशा रखें। विदेशी सत्ता को धिक्कारते हुए ही स्वकीय सत्ता का सम्मान करने की दृढ़ शिक्षा देते जाएँ, दुष्टतापूर्ण बंधन का उच्छेद करते हुए निरंकुशता का चस्का न लगे, ऐसी सजगता रखें। परराज्य का एवं परनिर्मित अधिकार का नि:पात करते समय स्वराज्य एवं स्व निर्मित अधिकार को अति पूजनीय-वंदनीय मानते जाएँ। पर सत्ता का उच्छेद होते ही स्वदेशीय समाज में अराजकता के नाशकारी प्रभाव न पड़ें इसलिए तत्काल बहुमत से जो राज्यघटना निर्माण हो उसे सब लोग वंदनीय मानें। उस राज्यघटना की ओर से जो अधिकारी नियुक्त किए जाएँ उनके आदेशों को सिर नवाकर मानना चाहिए। उनके आदशों के अनुसार व्यवहार करना चाहिए। व्यक्ति की झक भूलकर समष्टि के सिद्धांत से तन्मय रहना चाहिए और इस बहुमत से निर्मित स्वराज्य घटना में यदि कुछ परिवर्तन करना अपनी विवेक बुद्धि को न्यायपूर्ण लगता हो तो उसे बहुमत नियम के अनुसार वैद्य मार्ग से ही घटित किया जाना चाहिए। सारांश यह कि बाहर विदेशियों का तख्ता पलटना, परंतु अंदर निर्माण करना; बाहर तलवार, पर अंदर विधि-कानून।

राज्य क्रांति की सफलता और सिद्धि के लिए अति आवश्यक राज्य व्यवस्था के उपर्युक्त सिद्धांत का सन् १८५७ के पूर्वार्ध में बहुत अच्छी तरह पालन किया

गया। विद्रोह होते ही यथासंभव वेग से दिल्ली, लखनऊ, कानपुर आदि शहरों में व्यवस्था से राज्य प्रबंध के कर्तव्य करने की ओर ध्यान दिया गया। व्यक्ति विषयक अन्याय के अपहरण की इच्छा से इन सब प्रमुख शहरों में कोई भी नकली व्यक्ति अंतिम क्षण तक सामने नहीं आया। निर्विवाद सिद्ध राजपुरुषों को ही वंश परंपरागत रूप से लोकसम्मत सिंहासन पर बैठाया गया था। इन सब राजपुरुषों ने इस क्रांति का बेजा फायदा लेकर अपने पूर्वार्जित अधिकार बढ़ाने के लिए कोई स्वार्थ नहीं दरसाया था। इतना ही नहीं, उसके विपरीत अपने कारण देश की स्वतंत्रता के उस महान् समर को अपयश से बचाने हेतु जहाँ संभव हुआ वे अपने पहले के अधिकार छोड़ देने के लिए भी तैयार हो गए, इसके लिखित साक्ष्य प्रकाशित हैं।

यहाँ तक राज्य व्यवस्था का पूर्वार्ध सराहनीय उदात्तता से सन् १८५७ ने पूरा किया। परंतु राज्य व्यवस्था में अत्यंत प्रमुख भाग सैन्य शक्ति संपन्न लोगों का होने के कारण पर राज्य बंधन तोड़ते ही उन्हें किसी तरह के बंधन स्वीकार्य न हुए और राज्य क्रांति की इस भीड़ में उनका सारा अनुशासन बिगड़ गया। इस कारण स्वराज्य चेतना की पहली पवित्र लहर में स्वयं ही नियुक्त किए अधिकारियों के सामने वे स्वयं अपमान, अवज्ञा और उपहास भी करने लगे तथा राज्य क्रांति का अंत अराजकता में होने लगा। ऐसी स्थिति में उनके स्वार्थ से दूषित हुई सिद्धांतनिष्ठा को अपने व्यक्तिनिष्ठा के ऐश्वर्य से शुद्ध करके अपने पराक्रम के दिव्यत्व से उनका मनोहरण करके जो उन्हें फिर से स्वराज्य व्यवस्था के अनुशासन पर ला बैठाए ऐसे विलक्षण नेता भी कुछ दिव्य अपवाद छोड़कर—इन अधिकारियों में उत्पन्न नहीं हुए। इस कारण बहुत से स्थानों पर क्रांति पक्ष के शिविर में संगठित सेना की जगह व्यर्थ लोग ही अधिक भरे हुए होते थे। ये जो फालतू लोग थे और उन्होंने ही इस क्रांतियुद्ध को अपजयी बनाया। क्रांतिकारियों में जो शूर, स्वार्थत्यागी स्वातंत्र्य समर में कदम रखने लायक पवित्र चरित्र थे उन्होंने यह युद्ध तीन वर्ष तक लड़ा।

लखनऊ की छावनी में इस दूसरे उच्च वर्ग की अपेक्षा पहले वर्ग अर्थात् फालतू लोगों की ही भरती अधिक होने से बेगम हजरत महल के दरबार से नियुक्त भिन्न-भिन्न अधिकारियों के आदेश कभी भी नहीं माने जाते थे और सिपाही लोग बेमुरव्वत, अत्याचारी, अनुशासनहीन और स्वच्छंद व्यवहार करते थे। इस पहले वर्ग की संख्या यद्यपि बड़ी थी फिर भी दूसरे वर्ग के जो थोड़े लोग उनमें थे उनके शूरत्व और उदात्त विचारों के प्राकृतिक तेज से उन्हींका प्रभाव सिपाहियों पर अधिक होता था और ऐसे दृढ़ निश्चयी लोगों के आग्रह के अनुसार २० जुलाई को रेसीडेंसी में बंद अंग्रेजों पर पहला भारी हमला करने की योजना बनी। २० जुलाई को प्रातःकाल अंग्रेजों पर दागी जा रही विद्रोहियों की तोपें पूरी तरह बंद हो गईं। सुबह ८ के

आसपास अंग्रेजी रेसीडेंसी के पास विद्रोहियों द्वारा लगाई बारूद धमाके से फूटते ही विद्रोहियों की सेना हमला करने के लिए जोर से उछली। उसी समय उनकी तोपों की जोरदार मार भी शुरू हो गई। रेडन, इन्नेस के घरों पर, अंग्रेजों की कानपुर बैटरी पर भिन्न-भिन्न दिशाओं से विद्रोहियों की सेना अंग्रेजों पर टूट पड़ी। उस सेना के जिस भाग ने कानपुर बैटरी पर हमला किया था उसके सैनिकों ने अंग्रेजी तोपों पर निडर होकर हमला किया। 'चलो बहादुर चलो! चलो बहादुर चलो!' ऐसी गर्जना करते वे फिर-फिर उन तोपों पर चढ़ जाते। जिनके हाथों में उनका स्वराज्य ध्वज फहरा रहा था उनके वीर्यवर नायक ने स्वयं वह झंडा ऊँचा उठाकर दौड़ते हुए उस तोपखाने की खंदक में छलाँग लगा दी और दूसरों को—'चलो, आगे बढ़ो' का आह्वान करता वह खंदक लाँघकर अंग्रेजी तोप पर अपना क्रांतिध्वज गाड़ने लगा। परंतु इस विलक्षण साहसी पुरुष को अंग्रेजों की गोली ने तत्काल चित कर दिया। ऐसे समय उस एक शव के पीछे हजारों को आगे बढ़ाना छोड़कर और जिस हेतु वह धर्मवीर गिरा उस रिपु रक्त भाजन की मृत्यु को सार्थक न करते हुए उसे मरता देख विद्रोही आगे बढ़ने की बजाय पीछे हटने लगे। फिर भी शाबाश सीढ़ीवालो! इन बाजारू लोगों की तरह पीछे न भागते हुए तुम आगे बढ़ रहे हो। लगाओ उन सीढ़ियों को खंदक में! फिरंगी गोलियों की वर्षा में चढ़ो फटाफट उन सीढ़ियों पर—पहला सीढ़ी पर चढ़ा—गिरा! चलो, दूसरा आगे बढ़ो! पर दूसरा कौन आगे बढ़ेगा? यही तो अंग्रेजी सेना और विद्रोहियों में भेद है। अंग्रेज मृतक का रक्त उसके अनुयायी यूँ ही नहीं बह जाने देते। एक गिरा, दस आगे। यह उनकी रीत—एक गिरा तो दस पीछे यह हमारी रीत। पीछे आनेवाले कहीं भी पड़ें पर आगे जानेवालो, तुम निश्चित ही स्वर्ग में जाओगे। स्वराज्य का झंडा डरपोक लोगों की जीवित मृत्यु से गंदा न हो इसलिए उसे हाथ में लेकर जिन्होंने शत्रु की आग उगलती तोपों पर उसे लगाना आरंभ किया ऐसे दिव्य भीमकर्मियो, तुम्हारे रक्त से वह झंडा हमेशा शुद्ध, सतेज और पवित्रता के साथ दमकता रहे। सचमुच ऐसी ही रक्त रंजित भुजाओं में स्वतंत्रता का झंडा खिलता है। जिनके पास रक्तरंजित होनेवाली कलाइयाँ न हों उनके हाथ ऐसे स्वतंत्रता के ध्वज को स्पर्श कर विजय के बदले उस ध्वज को लांछित अवश्य कर देते हैं।

यह पहला हमला लौट आने पर अंग्रेजी सेना से विद्रोही रोजाना छोटी-छोटी भिड़ंत करते रहे। उन्होंने रेसीडेंसी के घरों को बारूद लगाकर उड़ा देने का प्रयास बहुत दृढ़ता से चलाया हुआ था। ऊपर से तोपों की मार और नीचे से बारूद की ज्वाला विस्फोट। अपने पैर के नीचे की भूमि कब जबड़ा खोलकर गटक लेगी इसका अंग्रेजों को कोई विश्वास न था। ब्रिगेडियर इन्नेस के अनुसार—''विद्रोहियों

ने कुल मिलाकर छत्तीस बार बारूद लगाया था। विद्रोहियों की तोपें भी अखंड मार करती रहीं। आसपास छिपी जगहों से सिपाहियों की बंदूकों से छूटती अचूक गोलियाँ, अंग्रेजों की ओर से आती जवाबी गोलियाँ, एक-दूसरे के शिविरों से गुप्त जानकारी लाने के लिए रात के अँधियारे में निकली टोलियों की प्राणघाती कुश्तियाँ, परकोटे के अंदर और बाहर कान में बातें करते लोगों की करतूतें, दूसरी ओर छिपे बैठे दूसरे पक्ष ने बातें सुनी यह समझते ही अपमान होता। अंग्रेजों के झंडे पर गोला फेंक उसे गिराकर होता विद्रोहियों का मनोरंजन तो रात होते ही फिर से नया झंडा रेसीडेंसी पर फहराने की अंग्रेजी जिद, युद्ध के इस भीषण उपहास से लखनऊ की रणभूमि कभी-कभी जोरों से हँसती भी थी।''

पर अंग्रेजों की ओर के नेटिव सिपाहियों ने जो शूरता दिखाई उसे देखकर रणांगन के भूत-पिशाच जितने हँसे उतना बीभत्स हास्य रस कभी भी उत्पन्न न हुआ होगा। हर दिन रात को विद्रोहियों के दूत सिखों या अन्य नेटिव लोगों के अधीन परकोटे की ओर, छिपते हुए जाते और उनसे पूछते कि तुम स्वदेश से नमकहरामी कर फिरंगियों की तलवार को माँ के पेट में क्यों ठूँस रहे हो? विद्रोहियों की ओर से यह प्रश्न कभी अधिक ही गंभीरता से पूछा जाता तो बीच में ही थोड़ा मजा कर लेने के लिए तटबंदी के राजनिष्ठ नेटिव कहते—'किंचित् पास आओ तो कह सकें!' और वे पास जाते तो किसी छिपाए हुए गोरे साहब को वे आगे कर देते। ऐसा दगा देखकर विद्रोही लज्जित होकर निकल जाते। विद्रोहियों के जो अचूक और अविश्रांत बंदूकबाज थे उन सबमें अयोध्या के भूतपूर्व नवाब का एक अफ्रीकन खोजा अंग्रेजों की रेसीडेंसी में बहुत खलबली मचाए हुए था। उसे अंग्रेज 'ओथेलो' कहते थे। चार्ल्स बॉल लिखता है—''जोहांस के घर पर बैठकर यह अफ्रीकी खोजा दिन-रात गोलियाँ दागता रहता था। उसके अचूक निशाने और प्राणहारी गोलियों से यूरोपियन लोग चटापट मरते थे। विद्रोहियों की ओर से किसी भी अन्य व्यक्ति की तुलना में इस खोजा ने अधिक यूरोपियनों के प्राण लिये।''

सर हेनरी लॉरेंस के मारे जाने पर अयोध्या के चीफ कमिश्नर का चार्ज जिसने लिया उस मेजर बॅक्स को विद्रोहियों की गोली ने मार डाला। अंग्रेजों का यह दूसरा चीफ कमिश्नर लखनऊ के घेरे में मारा गया। परंतु 'घेरे' जैसी अनिश्चित भयंकरता में भी उनकी सेना की आधारभूत नियमबद्धता और अनुशासनबद्ध रचना के कारण किसी सोल्जर का मरना या अधिकारी का मरना व्यवस्था की दृष्टि से एक जैसा ही रहता। इस दूसरे कमिश्नर के मरते ही सारे अधिकारों का चार्ज ब्रिगेडियर इंग्लिस ने ले लिया और घेरे का कार्य उसी तरह चालू रहा। अब तक हुई हानि, मृत्यु संख्या, कर्मठ लोगों के देहांत, अन्न की कमी और शत्रु की व्यूह रचना से

अंग्रेज यद्यपि निराश नहीं हुए थे फिर भी हताश होते जा रहे थे।

इसी समय कानुपर से अंगद लौट आया। यह अंगद नामक नेटिव नौकर पहले अंग्रेजी सेना में नौकर था और अब पेंशनभोगी था। लखनऊ का घेरा पड़ने के बाद बाहर का कोई भी समाचार लाना किसी भी गोरे दूत को संभव नहीं था। उनकी गोरी चमड़ी, भूरे बाल या उनकी कंजी आँखें उन्हें सिपाही की तलवार से जीवित वापस नहीं जाने देते थे। इसलिए इस आंग्ल दूत कर्म पर किसीकाले आदमी की नियुक्ति आवश्यक होने से बहुत से राजनिष्ठ काले लोग अंग्रेजों ने अब तक लखनऊ के बाहरी प्रदेश में भेजे थे। परंतु उन सबमें से अकेला अंगद ही जीवित लौट आया। विद्रोहियों के डर से वह कोई चिट्ठी-पत्री साथ नहीं लाया था फिर भी 'अंग्रेजी सेना कानपुर से लखनऊ की सहायता के लिए निकली है'—यह प्रत्यक्ष देखा हुआ समाचार उसने कमांडर इंग्लिस को सुनाया। इस समाचार से आनंदित हुए अंग्रेजों ने अंगद से कहा—"तू फिर से लौट जा और हैवलॉक का लिखित उत्तर लेकर आ।" तारीख २२ को लखनऊ छोड़कर वह अंगद २५ की रात ११ बजे फिर लौट आया। उसके साथ हैवलॉक का पत्र था—"किसी भी कठिनाई से निपटने के लिए आवश्यक सबल सेना के साथ हैवलॉक आ रहा है, पाँच-छह दिन में लखनऊ मुक्त हो जाएगा।" अपनी मुक्ति के लिए आनेवाले उस शूर हैवलॉक को लखनऊ की पूरी जानकारी मिले इसलिए लश्करी नक्शे हाथ में देकर अंग्रेजों ने अंगद को कहा—"तू फिर से हैवलॉक के पास जा।" वह विलक्षण दूत फिर से हैवलॉक के पास गया और उसने सारे लश्करी नक्शे उसे दिए। अब हैवलॉक की विजयी सेना के ध्वज लखनऊ के श्मशान पर से आते ही होंगे। अंग्रेज उन्हें तकने लगे। दूर उन्हें तोपों की गोलीबारी की आवाज का आभास भी होने लगा। उन्हें लगा ये हैवलॉक की तोपें तो नहीं!

इस आशा में तोपों की आवाजें जब अंग्रेज ध्यान देकर सुनने लगे तो उनके ध्यान में आया कि आज शत्रु दूसरा आक्रमण बढ़ाता चला आ रहा है। कानपुर बैटरी, जोहांस हाउस, बेराम कोठी आदि स्थानों पर विद्रोही मार करने लगे। उस दिन विद्रोहियों की बारूदी सुरंग ने बढ़िया धमाका किया। पूरी रेजिमेंट कवायद करती अंदर चली जाए इतना बड़ा रास्ता परकोटे में बन गया। परंतु यहाँ से अंदर जानेवाली रेजिमेंट कहाँ है? अंग्रेजों की सेना ने शत्रु की दीवार में ऐसा रास्ता बनाया होता तो उन्होंने आधे घंटे में उस रेसीडेंसी को खंडहर बना दिया होता। दोपहर दो बजे तक विद्रोहियों में से कुछ जुझारू वीरों ने जोरों से लड़ाई की। अंग्रेजों की ओर के नेटिवों ने शौर्य, अनुशासन एवं मरणतुच्छता का कमाल दिखाया। यह कैसी किस्मत खराब है। देशद्रोहियों में ऐसी शूरता और देशभक्ति के पक्ष में भीरुता हो

यह कितना बड़ा दुर्भाग्य! दौड़ो, कोई तो आगे बढ़ो, इस दुर्भाग्य का कंठच्छेद करने दौड़ो! दिन के पाँच बजे हैं और आक्रमण लगभग विफल हो गया है। तथापि तत्कालीन विजय के लिए नहीं तो भी सर्वकालीन सफलता के लिए दौड़ो, कोई तो दौड़ो! कैप्टन सैडर्स—अब सँभालो—इस ध्येयनिष्ठों की दौड़ को। और यह क्रोधित यमों की टोली सीधे चली आ रही है। अंग्रेजों की गोलियों की परवाह न करते वह सीधी बढ़ रही है—वह उनकी दीवार से टकराकर उसे अपने सीने की टक्कर मार रही है—अंग्रेजों ने बंदूकें फेंककर इस आमने-सामने की लड़ाई में बैनेट ले ली—जय स्वतंत्रता! वाह रे वीर! उसने अपने हाथ से परकोटे के ऊपर से मार करनेवाली अंग्रेजी बैनेट को दबाकर छीन लिया। वाह रे वीर! अंत में शत्रु की गोली से गिर गया! स्वदेश की जितनी बच सके उतनी लाज बचाने को समरांगन में शत्रु पक्ष भी दाँतों तले अँगुली दबाए ऐसी शूरता दिखाकर शहादत के रक्त तीर्थ में रक्त समाधि ले गया। वह गिरा, दूसरा गिरा, तीसरा भी गिरा, जोरदार लड़ाई हुई। बैनेटों को अपने हाथों से झपटकर छीन लेनेवाले और मृत्यु तक बेसुध लड़ते उन वीरों के रमणीय चित्र अंग्रेजी इतिहासकारों ने कौतुक से लिखे, ऐसी लड़ाई हुई।[१]

तारीख १८ को विद्रोहियों ने अंग्रेजों पर और एक आक्रमण किया। इस दिन भी पहले बारूदी सुरंग से रास्ता बनाया और बारूद की आवाज के साथ ही विद्रोही टूट पड़े। मैलसन लिखता है—"शत्रुओं ने यह रास्ता बनाते ही अत्यंत आवेश से उसका लाभ लेना प्रारंभ किया। उनमें के एक अति शूर अधिकारी ने उस भगदड़ के हिस्से में तुरंत छलाँग लगा दी और अपनी तलवार घुमाते हुए अपने अनुयायियों को 'चलो-चलो' कहकर आह्वान करने लगा। उसके आह्वान का कोई उत्तर दे उसके पूर्व ही एक गोली ने उसे नीचे गिरा दिया। परंतु उसी समय उसकी जगह दूसरा कूद पड़ा। उसे भी गोली ने नीचे गिराया। उस टुकड़ी का नेता भी गोली से गिरा। यह देखते ही बाकी के सिपाही दुबककर पीछे खिसके।" उपर्युक्त तीन वीरों का विदेशी व्यक्ति द्वारा वर्णित शौर्य दिल्ली में निकल्सन की ओर के साहस के मुकाबले का था। पर अनुयायियों के डरपोकपन से ऐसी शूरता विफल हो जाए और तीन सैनिक गिरने पर अधिक उन्माद से आगे घुसना छोड़कर हजारों लोग पीछे लौट पड़े—इस लज्जास्पद बात का गहरा तात्पर्य है।

यद्यपि वे बार-बार लौटाए गए तब भी बार-बार होनेवाले आक्रमण और हर दिन पड़नेवाली विद्रोहियों की तोपों और बंदूकों की अखंड मार के कारण अब अंग्रेजों को, अपने राजनिष्ठ नेटिवों की भारी सहायता होते हुए भी टिके रहना

---

१. चार्ल्स बाल, खंड २।

असहनीय होता जा रहा था। इतने में अंगद फिर लखनऊ आ गया। पीछे दिए वचन के अनुसार हैवलॉक कितना पास आ गया है यह अत्यंत उत्सुकता से अंग्रेज कमांडर जब उसे पूछने लगा तो अंगद ने हैवलॉक का पत्र दिया। ''और कोई पच्चीस दिन मैं लखनऊ की ओर नहीं आ सकता!'' आशा के बाद आई निराशा जैसा विष इस विश्व में कुछ भी नहीं है। आजकल में हैवलॉक आएगा इस उत्सुकता का यह दुर्भागी उत्तर। मरते रोगी, अशक्त औरतें ही नहीं लड़ाके सोल्जर और अधिकार प्राप्त कमांडर इन सबको भी बहुत खेद, उदासीनता और भय हुआ। घिरी हुई सारी आंग्ल सेना पर मृत्यु की छाया पड़ने लगी। अन्न महँगा हो गया और सबको आधे पेट रहने का आदेश हुआ। लखनऊ की मुक्ति के महान् कार्य में भी हैवलॉक जैसे योद्धा को यह विलंब क्यों करना पड़ रहा है।

लखनऊ में बंद अपने देश बंधुओं को मुक्त करने में क्षण का भी विलंब न लगे इसलिए २९ जुलाई को ही हैवलॉक कानपुर छोड़कर गंगा पार हो गया। उसके साथ डेढ़ हजार लोग और तेरह तोपें थीं और इस सेना के साथ 'मैं पाँच-छह दिन में तुम्हें मुक्त कर दूँगा ऐसा उसने लखनऊ को आश्वस्ति भरा पत्र भी भेजा था।' परंतु गंगा नदी उतरकर अयोध्या में पैर रखते ही हैवलॉक की यह काल्पनिक सुलभता ओस की तरह पिघलने लगी। अयोध्या के रास्ते का हर इंच विद्रोह कर उठा था। हर जमींदार पाँच-छह सौ लोगों को इकट्ठा कर स्वदेश की स्वतंत्रता के लिए लड़ने को तत्पर। हर गाँव विद्रोहियों के झंडे की गढ़ी बना। ऐसी भयानक स्थिति देखकर हैवलॉक मन से उद्विग्न तो हो गया पर वह निराश नहीं हुआ। उसने वैसे ही आगे कूच किया। उन्नाव के पास विद्रोहियों ने उसे पहली टक्कर दी। टक्कर देकर वे आगे दौड़ गए। उन्नाव की लड़ाई लड़कर थके सैनिकों को हैवलॉक ने केवल भोजनावकाश दिया। भोजन निपटते ही फिर आगे कूच। फिर से आगे दौड़ गए। हैवलॉक की तलवार ने तारीख २९ को एक दिन में दो लड़ाइयाँ लड़ी और दोनों जीतीं।

परंतु यह जीत है क्या? इस एक दिन में उसकी मुट्ठी भर सेना का छठवाँ भाग समाप्त हुआ और विद्रोहियों का इस विजय से तिनका भी नहीं टूटा! अधिक क्या—परंतु लड़ाई शुरू होते ही मारधाड़ करके वे जो भाग जाते थे सचमुच अपनी पराजय के कारण या कम खर्च में अंग्रेजी सेना की नाक में दम करने की सुलभ युक्ति के कारण, यह भी शंका ही है। और उसीमें दानापुर के सिपाहियों के विद्रोह का समाचार आ गया! यह भयानक परिस्थिति देखकर स्तंभित हैवलॉक तारीख ३० को आगे जाना छोड़कर पीछे लौट गया।

हैवलॉक की सेना ने कानुपर छोड़ दिया है यह सुनते ही नाना साहब पेशवा

ने फिर कानपुर में भीड़ जुटाई। हैवलॉक के कानुपर से गंगा उतरकर अयोध्या में घुसते ही नाना अयोध्या से गंगा उतर कानपुर में घुस रहे थे। कहीं नाना के इस लश्करी दाँव में न फँस जाएँ, इस डर से हैवलॉक मंगलबड़ में ४ अगस्त तक बँधा पड़ा रहा। पाँच-छह दिन में लखनऊ जाकर क्रांतिकारियों को गोमती का पानी पिलाने की जगह अब उसे नाना ही गंगा तीर पर पानी पिला रहा था। इतने में विद्रोही फिर से बशीरगंज दौड़ आए। तब उनके इस उद्दाम व्यवहार से चिढ़कर हैवलॉक जान की चिंता किए बिना और आई हुई नई कुमुक लेकर लखनऊ की ओर चला। उसने बशीरगंज में विद्रोहियों से कुश्ती लड़ी, जहाँ से उसने उन्हें भगा दिया। फिर यह जय या पराजय, यह प्रश्न फिर सामने था। क्योंकि इस कुश्ती में हैवलॉक के तीन सौ लोग मारे गए। ऐसी हड्डी नरम हुई कि लखनऊ की ओर आगे न बढ़ते हुए अंग्रेजी सेना पीछे गंगा की ओर हटती गई। उस दिन शाम को उसके साथ निकले डेढ़ हजार में से केवल साढ़े आठ सौ लोग ही बाकी रहे।

हैवलॉक ५ अगस्त को पीछे हटकर फिर से मंगलबड़ लौटा—यह सुनते ही विद्रोही फिर से बशीरगंज को कब्जे में लेकर बैठ गए। विद्रोहियों की इस सेना में अधिकतर सभ्य जमींदार लोग ही थे। ''कल की लड़ाई में मरे अधिकतर जमींदार ही थे।''[१] अपनी स्वतंत्रता और अपने स्वराज्य के लिए मुलायम बिस्तर को छोड़कर इन जमींदारों ने कंटकाकीर्ण रणक्षेत्र का आश्रय लिया था। उनके इस साहस को देख अंग्रेजी इतिहासकार इन्नेस कहता है—''कम-से-कम अयोध्या के लोगों के प्रयासों को तो स्वातंत्र्य समर का ही स्वरूप प्राप्त हो गया था।'' हैवलॉक के चारों ओर विद्रोहियों की सेना के क्षितिज जैसे दाँव-पेच चल रहे थे। ज्यों-ज्यों कोई आगे जाए क्षितिज पीछे और पीछे हटता जाता है, पर वह पीछे हट गया यह मानकर कोई अपनी जगह लौटे तो क्षितिज भी अपनी जगह लौटता दिखाई देता है। हैवलॉक के मंगलबड़ से पीछे हटते ही विद्रोही बशीरगंज में आ जाते। ११ अगस्त को तीसरी बार बशीरगंज पर हमला किया। तीसरी बार बशीरगंज जीता, तीसरी बार विद्रोही भाग गए, पर फिर हैवलॉक मन से पूछने लगा—'यह जय है या पराजय?'

वह न केवल जय थी और न केवल पराजय ही थी—वह तो पराजय की विजय या विजय की पराजय थी। और इसीलिए हैवलॉक आगे न जाकर फिर मंगलबड़ को लौट आया। इस बीच नाना का पेच पूरे रंग पर आता जा रहा था। सागर के विद्रोही, ग्वालियर के विद्रोही और अन्य स्वयंसेवक लोगों की टोलियाँ आदि सेना के साथ नाना बिठुर पर आक्रमण कर कानपुर के आसपास लड़ाई का

---

१. के एवं मैलसन कृत—'इंडियन म्युटिनी', खंड ३, पृष्ठ ३४०।

आतंक फैलाने लगे। उनपर हमला करने की शक्ति कानपुर में जमे जनरल नील में न होने से उसने यह आवश्यक बात हैवलॉक को सूचित की। अब लखनऊ की ओर जाने का नाम भी लेना असंभव था। इसलिए १२ अगस्त को हैवलॉक गंगा उतरकर कानपुर लौट आया। अंग्रेजी सेना के पीछे हट जाने के समाचार का बिगुल जब अयोध्या ने सुना तो मानो इधर-उधर स्वदेश मुक्ति की जय दुंदुभि गरज रही है—ऐसा हर्ष ध्वनि से जयनाद होने लगा। अयोध्या के दरवाजे में घुसना चाहती परवशता को इस तरह गंगा पार भगाकर धारातीर्थ में रक्त समाधि लिये विश्वसनीय जमींदारो, तुमने स्वदेश की जमीन की अच्छी जमींदारी की। इन्नेस लिखता है—
''इस पीछे लौटने का निश्चित परिणाम दिखा। अयोध्या से फिरंगी शासन समाप्त होने की यह अंग्रेजों की दी हुई स्वीकृति है—ऐसा कहते हुए वहाँ के तालुकेदारों ने लखनऊ दरबार की प्रस्थापित राज्यसत्ता का अधिकार मान्य किया। उनके आदेश वे मानने लगे। आज तक की निरकुंशता समाप्त होने लगी और लखनऊ की माँग के अनुसार भिन्न-भिन्न राजे अपनी सेनाएँ उधर युद्धभूमि की ओर भेजने लगे।''[१]

पर विद्रोहियों को मिली यह विजय प्रत्यक्ष विजय नहीं, अप्रत्यक्ष विजय थी। हैवलॉक द्वारा लड़ी गई चार-पाँच लड़ाइयों में वह प्रत्यक्ष पराजित होकर यदि कानपुर लौटा होता तो उसकी नाकेबंदी कर भगा देने से विद्रोहियों में जो उत्साह आया उससे अधिक दृढ़तर आत्मविश्वास उसकी सेना में और धैर्यच्युति का प्रभाव अंग्रेजी सेना में उत्पन्न हुआ होता। यद्यपि वह कानपुर में पीछे हटने को बाध्य हुआ परंतु उस अपमान का कारण शौर्य का अभाव नहीं सैन्याभाव है, यह समझ में आ जाने से अंग्रेजी सेना की आशा विफल हुई; लेकिन आत्मनिष्ठा, जोश और दृढ़ता उस अप्रत्यक्ष पराजय से कम नहीं हुए थे, इसलिए गोरी सेना की नई कुमुक आते ही—लखनऊ को मुक्त करने मैं जल्दी ही फिर निकलूँगा—इस हिम्मत से हैवलॉक कानपुर में जमा। इस समय नील और हैवलॉक में व्यक्तिगत मत्सर से कितना वैर हो गया था, वह हैवलॉक के नील को लिखे निम्न पत्र से स्पष्ट दिख जाता है—
''इस तरह का व्यवहार आगे सहन नहीं किया जाएगा। आप मुझे निंदा, धौंस और उपदेश से भरे पत्र लिखते हैं, परंतु इनमें से एक भी बात कोई मेरे अधीनस्थ अधिकारी मुझे कहे यह सहन करनेवाला आदमी मैं नहीं! आप यह समझकर रखें! यदि सार्वजनिक हित को कोई बाधा न पहुँचती तो मैं आपको कैद करने से नहीं चूकता। अभी आपको केवल आगाह कर रहा हूँ, फिर से ऐसा बड़प्पन नहीं चलेगा।'' इस पत्र का एक वाक्य अंग्रेजों की रग-रग में समाए राष्ट्रकर्तव्य का

१. इन्नेस कृत—'सेपॉइज रिवॉल्ट', पृष्ठ १७४।

अत्युत्तम द्योतक है। गुस्से से उबलते हुए भी हैवलॉक कहता है—"लोकहित में कोई बाधा न पहुँचती तो मैंने अपने अपमान का प्रतिशोध तत्काल लिया होता।" नील तथा हैवलॉक—दोनों रणपटु योद्धाओं ने ऐन संकट के समय उत्पन्न हुए आपसी झगड़े से शत्रु के ध्यान में आ जाए या उसे लाभ मिले ऐसी एक भी घटिया कृति नहीं की। इतना ही नहीं अपितु लश्करी संबंधों के अनुसार पूरे अनुशासन में रहकर एक-दूसरे की सहायता भी की थी। हाथी समान व्यक्ति के मदमलिन मस्तक पर राष्ट्रीयता का यह तीक्ष्ण अंकुश जहाँ गड़ा रहता है उसी समाज में श्री, धी, धृति, कीर्ति, स्वतंत्रता वास करती है।

कानपुर शहर में आते ही हैवलॉक को पहला समाचार यह ज्ञात हुआ कि नाना साहब की सेना ने ब्रह्मावर्त शहर पर फिर से कब्जा कर लिया है। कानपुर शहर की अंग्रेजी सेना के कंधे से कंधा भिड़ाकर विद्रोहियों द्वारा दी गई यह भयंकर शह देखते ही हैवलॉक सेना सहित उधर दौड़ पड़ा। उस दिन ब्रह्मावर्त में हुई लड़ाई में विद्रोहियों की ४२वीं रेजिमेंट ने अंग्रेजी सेना के लड़ते-लड़ते बीस गज तक आते ही बैनेट लेकर लड़ना प्रारंभ किया। आज तक अंग्रेज लोग विद्रोहियों को डराने के लिए बैनेट को अंतिम साधन समझते थे। पर आज उन शूर स्वतंत्रता सेनानियों ने स्वयं ही फिरंगियों पर बैनेट चलाकर घमासान मचा दिया। इसी समय विद्रोहियों के घुड़सवारों ने अंग्रेजों की पिछाड़ी पर टूटकर उनकी रसद मार दी। इस तरह पीछे और आगे से अंग्रेजी सेना को विद्रोहियों ने मारा। अंग्रेजी कमांडर की समझ में भी यह आया कि दिन-ब-दिन विद्रोहियों का समर साहस बढ़ता ही जा रहा है। परंतु इस साहस और शौर्य को अंग्रेजों जैसे मजबूत संगठन की सहायता न होने से ब्रह्मावर्त की लड़ाई में इस सारे पराक्रम के बाद भी पराजय लेकर पीछे हटना पड़ा। १७ अगस्त को विद्रोहियों को पराजित कर हैवलॉक पीछे कानपुर लौटा तो उसे यह ध्यान में आया कि नाना ने पूरी सेना ब्रह्मावर्त में नहीं रखी और उसकी सेना यमुना के तट पर काल्पी में भी तैयार है। इस तरह काल्पी में दबाव, ब्रह्मावर्त से दबाव, अयोध्या से दबाव, गंगा के इस तीर पर दबाव, उस तरी पर दबाव, ऐसा चारों और से दबा हुआ वह 'विजयी' हैवलॉक कलकत्ता को लिखता है—"भयानक पेच पड़ा हुआ है। नई कुमुक नहीं आई तो कानपुर छोड़कर इलाहाबाद तक पीछे लौटने की बारी अंग्रेजी सेना को जल्द ही आए बिना नहीं रहेगी।" इस पत्र के उत्तर में नई कुमुक भेजी जाएगी और फिर आज तक सही हुई जय-पराजय की भरपाई लखनऊ का रक्त पीकर कर डालेंगे, ऐसी भावी आशा से हैवलॉक कलकत्ता के पत्र की प्रतीक्षा कर रहा था तो उसे आदेश आया कि—लखनऊ जानेवाली अंग्रेजी सेना का अधिकार तुमसे छीनकर उसे जेम्स आउट्रम नामक योद्धा को दिया गया है! अंग्रेजी

अनुशासन कितना कठोर होता है! विजय हुई परंतु कानपुर विजय में किंचित् देर हुई इसलिए नील जैसे योद्धा को हटाकर हैवलॉक नियुक्त किया गया। विजय प्राप्त हो जाने पर भी लखनऊ की ओर जाने में उसे अनिवार्य देरी हुई, इसलिए हैवलॉक जैसे योद्धा को भी हटाकर सर जेम्स आउट्रम को सेनापति बनाया गया। यह समाचार आते ही हैवलॉक को बहुत बुरा लगा। जिस वैभव के लिए उसने जी-जान से परिश्रम किया था उस लखनऊ मुक्ति का वैभव ऐन समय पर दूसरे के हाथ पड़ेगा। इस अपमान से उसे बहुत उदासी हुई—फिर भी मैलसन लिखता है—"मनोभंग से उपजे उद्वेग ने मन को कितना ही निराश किया तो भी कर्तव्य निर्वाह में अणुमात्र भी कसर न करने का गुण अंग्रेजी राष्ट्र का भूषण है। अंग्रेजी मन के सारे विकार कर्तव्य बुद्धि के अधीन होते हैं। अन्याय-उपेक्षा को भोगते हुए अंग्रेजी मन चाहे जितना व्याकुल होता हो फिर भी उसका राष्ट्र उसकी शक्तियों को हमेशा नियंत्रित करता रहता है। अपने राष्ट्र की उत्तम सेवा किस तरह करें इस संबंध में उसका व्यक्तिगत मत कुछ भी क्यों न हो, परंतु जब सरकार का या उस राष्ट्र का मत उसके मत से भिन्न हो तो अपना निजी मत एक तरफ रख देशसत्ता के आदेश की जैसी भी विजय हो उधर ही अंग्रेज दिन-रात लगा रहता है। नील ने ऐसा ही उदात्त व्यवहार किया और अब हैवलॉक ने भी ऐसा ही उदात्त वर्तन किया। उसके सिर से भावी विजय का मुकुट छीन लिया गया तब भी दूसरे को श्रेय देनेवाली विजय के लिए वह पहले जैसा ही दिन-रात परिश्रम करने में जुट गया!"[१]

जिस विजय का सेहरा दूसरे के सिर बँधना है उस विजय के लिए केवल राष्ट्रीय कर्तव्य जान दिन-रात प्रयास करने में हैवलॉक लगा था तब ही दिनांक १५ सितंबर को सर जेम्स आउट्रम के हाथ नेतृत्व में आते ही उसने जो पहला आदेश जारी किया वह यह था—"जिस वीर पुरुष ने लखनऊ मुक्त करने के लिए आज तक अप्रतिम शौर्य प्रकट किया है उस पुरुष को ही उसे मुक्त करने का सौभाग्य मिलना न्याय है, इसलिए अपने सेनापतित्व के सारे अधिकार जनरल हैवलॉक को सौंपकर लखनऊ मुक्त होने तक मैं स्वयंसेवक सिपाही बना रहूँगा।" कमांडर का यह पहला 'आदेश' देखते ही उस अंग्रेजी सेना को कितनी नैतिक शिक्षा मिली होगी। व्यक्ति राष्ट्र में कैसे विलीन हो जाते हैं? पहले आदेश से ही अपना मुख्य सेनापतित्व हैवलॉक को देने से आउट्रम ने जो अद्वितीय उदारता, स्वार्थ विमुखता और राष्ट्रहितपरता दिखाई वह देखते ही तीनों जगत् से 'वीरवर, साधु, साधु' के उद्गार फूट पड़े होंगे।

---

१. मैलसन कृत—'इंडियन म्युटिनी', खंड २, पृष्ठ ३४६।

इस वीर साधुत्व की नैतिक शिक्षा से प्रस्फुरित हुआ और नई ताजा दम अंग्रेजी सेना, कलकत्ता से आए आयर, आउट्रम, कूपर—ऐसे-ऐसे योद्धाओं की सहायता से द्विगुणित उत्साह से भरी वह कानपुर की अंग्रेजी सेना 'पाँच-छह दिन में लखनऊ मुक्त करने के लिए' सितंबर की २० तारीख को लखनऊ की मुक्ति के लिए फिर से गंगा उतरने लगी। २५ जुलाई का उतावले हैवलॉक को पाँच दिन में लखनऊ की ओर बढ़ना तो छोड़ो अयोध्या में पैर जमाए रखना भी कठिन हो जाने से कानपुर लौट जानेवाला, १२ अगस्त का बदकिस्मत हैवलॉक, और अब २० सितंबर का यह दृढ़ निश्चयी वीर आशा से भरा-पूरा हैवलॉक! हैवलॉक के इन चित्रों में कितना अंतर था। उसके पास अब ढाई हजार से अधिक निडर वीर गोरी सेना तथा सिखों सहित कुल सेना सवा तीन हजार से अधिक थी। चुने हुए घुड़सवार, उत्तम तोपखाना, और नील, आयर, आउट्रम जैसे लश्करी अधिकारी अब उसके साथ थे। अब वह अयोध्या के विद्रोहियों की बाधाओं को क्यों महत्त्व दे? स्वदेश को फिरंगी स्पर्श से अदूषित रखने जो भी जमींदार रण में आया वह मारा गया। अपने जीवित रहते अपनी मातृभूमि पर विदेशी घोड़े दौड़ते देखकर जिस किसी मानधनी गाँव ने भीषण लड़ाई की वह राख हो गया। जो भी रास्ता, जो भी खेत, जो भी नदी अपनी स्वतंत्रता के लिए रण में जूझी, उसपर अयोध्या के वीर पुत्रों का रक्त मूसलाधार बरसा। ऐसी यह बलवती अंग्रेजी सेना उस अयोध्या में घुसने लगी। लड़ाई के बाद लड़ाई करते और विद्रोहियों को आगे-आगे दौड़ाते सितंबर की २३ तारीख को हैवलॉक आलमबाग में आ पहुँचा। सारे दिन आलमबाग में विद्रोहियों से लड़ाई होती रही। उनकी पाँच तोपें अंग्रेजों ने छीन लीं। विद्रोहियों ने उनमें से एक तोप फिर छीन ली। दोनों ओर की सेना ने रण-मैदान पर ही रात गुजारने का निश्चय किया। पर अंग्रेजी सेना के कीचड़ और दलदल भरे मैदान में रात का विश्राम आरंभ करते ही विद्रोहियों ने विश्राम करना छोड़ फिर मारामारी शुरू कर दी। उस रात बरसात भी आकाश से लगातार हो रही थी और वीरों के सिर जमीन पर से ऊपर उछल रहे थे। ऐसी स्थिति में भी उस अंग्रेजी सेना के उत्साह की लहरें इस बरसात की लहरों से अधिक जोर की गर्जना कर रही थीं। क्योंकि उसी रात दिल्ली जीत लेने की विद्युत् वार्त्ता आई थी। अंत में वह २५ तारीख का निर्णायक दिन उदित हुआ। लखनऊ शहर की मध्य बस्ती के रास्ते छोड़कर बाजू के एक रास्ते से हैवलॉक की सेना रेसीडेंसी की ओर निकली है, यह ज्ञात होते ही विद्रोहियों की ओर से तोपों की जबरदस्त मार चालू हो गई। आलमबाग से शत्रु की इस मार को सहन करते अंग्रेज बड़ी दृढ़ता से बढ़ते हुए चारबाग के पुल तक आकर भिड़ गए। इस पुल को पार करते ही लखनऊ में प्रवेश होने से उस महत्त्वपूर्ण नाके पर दोनों

पक्षों में घमासान होने लगी। मॉड द्वारा पुल के विद्रोहियों पर तोप-गोलों की मार आधे घंटे से चालू रखने पर भी वह पुल न तो खाली हो रहा था और न उसपर की तोपें ही बंद हो रही थीं। इतना ही नहीं अंग्रेजों के इक्कीस जवान यलो हाउस पर और कितने ही इस पुल के सामने पहले ही ढेर हो गए थे। सारी अंग्रेजी सेना इस एक पुल की धौंस में वहीं खड़ी रहे क्या? पास ही खड़े हैवलॉक के युवा पुत्र से मॉड ने कहा—''युवा वीर, इसका कोई तो तोड़ निकालो!'' यह सुनते ही वह युवा हैवलॉक नील के पास आया और बोला—तोप की मार की विद्रोही परवाह नहीं कर रहे तो उस पुल पर हमला करने का आदेश दें। पर आउट्रम से पूछे बिना मैं ऐसा आदेश नहीं दे सकता, यह जनरल नील कहने लगा। ऐसे में क्या किया जाए? तरुण हैवलॉक को उस प्रश्न का उत्तर तत्काल मिल गया। उसने अपना घोड़ा बढ़ाया। जहाँ मुख्य कमांडर हैवलॉक खड़ा था, उस दिशा की ओर उसने घोड़ा दौड़ाया और मानो वह मुख्य कमांडर से मिला हो—ऐसा बहाना बना वह नील के पास आया। नील को झुककर सलाम करते हुए उस युवा हैवलॉक ने कहा—''सर, पुल पर हमला करने का निश्चय हुआ है।'' यह सुनते ही जनरल नील ने आक्रमण का आदेश दिया। पच्चीस अंग्रेजों की पहली टुकड़ी लेकर स्वयं तरुण हैवलॉक पुल की ओर उबल पड़ा। भयानक घमासान का समय! उन पच्चीस लोगों में से एक दो मिनटों में ही कौन जीवित बचा? और तू तरुण हैवलॉक, तू बच-बच! एक शूर निडर स्वातंत्र्य वीर उस पुल पर कूद रहा है और उसके हाथ की वह बंदूक सीधे तुझपर ही निशाना साध रही है। यह शूर सिपाही तरुण हैवलॉक से दस गज पर आकर खड़ा हो गया और अंग्रेजी योद्धाओं के सीने के सामने अटल खड़े रहकर उसने हैवलॉक पर गोली चलाई—आधे इंच का अंतर! हैवलॉक के सिर में घुसने की जगह वह उसकी टोपी में घुसकर रह गई। फिर भी साहसी सिपाही अनेक आंग्ल बंदूकें उसपर तनी होते हुए भी पीछे हटना छोड़ वहीं अटल खड़ा होकर गोली भरने लगा। वाह रे बहादुर! अंत में ऐसे वीरोचित स्वतंत्रता समर में हैवलॉक की गोली से मारते-मारते मरा। पल-दो पल बाद ही अंग्रेजी सेना-सागर धड़धड़ाता उस पुल को ही कंपित कर गया। विद्रोही पीछे हटते और अंग्रेज आगे बढ़ते निकले। पुल हारा। लखनऊ का पहला रास्ता साफ हुआ। दूसरा हुआ, तीसरा हुआ, अंग्रेजी सेना चली आगे घुसते, दो-चार कदम चली कि फिर तलवार, बंदूकों-पर-बंदूकें छूटने लगीं। रक्त की तलैया भर जाती तो फिर वह जीवित लड़ाई आगे बढ़ती। संध्या हो गई तो उसकी भयंकर गति में असंख्य ठोकरें लगने लगीं—इसलिए आउट्रम कहता है आज की रात यहीं बिताएँ। पर नहीं, नहीं। रुकने का नाम भी निकालना उस शूर हैवलॉक को कैसे पसंद आएगा? उधर रेसीडेंसी में

महीनों से मृत्यु की कराल दाढ़ में दबोचे पड़े उनके देश बंधुओं को और एक रात माने एक युग जैसी है। इसलिए हैवलॉक आगे बढ़ा। नील आगे बढ़ा। पूर्व का रास्ता भूलकर अंग्रेजी सेना विद्रोहियों की अधिकाधिक मार में आती जा रही थी फिर भी नील आगे चला। खास बाजार के जंगी फाटक में घुसते ही उसके ध्यान में आया कि अंग्रेजी तोपें थोड़ी पीछे रह गई हैं। अत: घोड़े को रोककर वह आंग्ल वीर गरदन घुमाकर पीछे देखने लगा। यही अवसर! यही अवसर! स्वदेश का बदला लेने का यही अवसर। फाटक पर चढ़े कृतांत, तेरे प्राण चले जाएँ कोई बात नहीं, पर अवसर पकड़ना ही चाहिए। पल-विपल का अवकाश केवल और फाटक पर बैठे एक सिपाही ने अचूक निशाना साधा और उस जनरल नील की गरदन में उसकी गोली किसी गुस्सैल नागिन जैसे लहराती आ घुसी। गिर गया, अंग्रेजी सेना का कलेजा फटा। ऐसा शूर, ऐसा धृति संपन्न और ऐसा मर्द, ऐसी निडर छाती का और ऐसा जल्लाद, मनुष्य जाति के दुर्भाग्य या सद्‌भाग्य से दूसरा पुरुष मिलना बहुत कठिन है।

पर अंग्रेजी सेना एवं शौर्य की यही विशेषता है कि उनका सतत प्रयत्न किसी एक व्यक्ति पर, चाहे फिर वह व्यक्ति कोई अद्वितीय नील हो, उसपर अवलंबित नहीं रहता। नील गिरा तो भी तिनके भर भ्रमित न होकर अंग्रेजी सेना रेसीडेंसी की ओर दौड़ती चली। जिस खास बाजार के फाटक में नील की गरदन टूटकर गिरी उस खास बाजार में गोरे रक्त की ताल-तलैयाँ भर गईं, फिर भी अंग्रेजी सेना वैसे ही लड़ते चली। उस बाजार से रास्ता हो जाते ही उन्हें रेसीडेंसी से अति आनंद की जय गर्जना सुनाई देने लगी। उन्होंने भी जय गर्जना की। मृत्यु के जबड़े में हाथ डालकर हैवलॉक ने अपने स्वदेश बंधुओं को बाहर निकाला। उस अवसर का वर्णन वहाँ स्थित कैप्टन विल्सन की लेखनी ने किया है—''रास्ते में कदम-कदम पर उनके आदमी मरते हुए भी गोरी सेना शहर से अपनी ओर आती देखते ही, रेसीडेंसी के लोगों का सारा भय, सारी आशंकाएँ छिप गईं और उसकी जगह जय गर्जनाओं और आनंद की तालियों की सामने से आ रहे वीरों पर वर्षा होने लगी। अस्पताल से रोगी घिसटते बाहर आए और अपनी मुक्ति के लिए सामने से लड़ती आ रही अपनी शूर सेना को विजय स्वागत से बुलाने लगे। जल्दी ही हमारी सेना हमें आकर मिली। वह अवसर अवर्णनीय है। जिन्होंने अपने पति मर गए हैं, यह सुना था—वे विधवाएँ आकस्मिक पति लाभ से सधवा होने लगीं और जिन्हें अपने प्रियजनों से मिलने को आज चार माह प्राण धारण किए हुए थे, उन्हें पहली बार ज्ञात हुआ कि अब उनसे प्रियजनों के फिर मिलने की आशा नहीं है।''

लखनऊ की रेसीडेंसी में आज तक सत्तासी दिन रात-दिन लड़ते इस

अंग्रेजी सेना के २५ सितंबर तक कोई सात सौ लोग मारे गए थे। घायल और स्वस्थ ऐसे कोई पाँच सौ यूरोपियन और चार सौ नेटिव जीवित थे। इन लोगों की मुक्ति के लिए निकले हैवलॉक की सेना के रेसीडेंसी तक पहुँचते सात सौ बाईस आदमी खेत रहे। इतने शूर लोगों का रक्त दिया तब लखनऊ को जीता जा सका।

परंतु दुष्ट निराशा, तू फिर भी अजीत की अजीत ही है। हैवलॉक ने शत्रु का कितना भी पीछा किया हो पर तू उसका पीछा नहीं छोड़ रही। क्योंकि इतनी विजय, इतना रक्तपात, इतनी मारधाड़ कर लखनऊ की रेसीडेंसी में घुसते हुए उसे लगा कि आखिर मैंने विद्रोहियों के घेरे से आंग्ल सत्ता को मुक्त तो किया। परंतु अब उसका भ्रम टूट रहा है और गंगा किनारे जैसे उसने अपने आपसे पूछा था वैसे ही वह लखनऊ की रेसीडेंसी में जाने के बा़द भी पूछ रहा है—'मैं जो रेसीडेंसी में लाया—वह सहायता थी या मुक्ति?'

हैवलॉक के आने पर रेसीडेंसी का घेरा समाप्त होने के स्थान पर रेसीडेंसी के साथ हैवलॉक को भी विद्रोहियों ने घेर लिया। और इसीलिए हर कोई पूछने लगा—'हैवलॉक जो लाया—वह सहायता थी या मुक्ति?'[१]

वास्तव में वह केवल सहायता थी। हैवलॉक और आउट्रम इन दो विख्यात आंग्ल योद्धाओं ने अनेक लड़ाइयाँ लड़ लखनऊ के अंग्रेज लोगों को, पांडे लोगों की पकड़ से छुड़ाने के लिए जो सेना लाई थी वह उन्हें मुक्त नहीं करा सकी, उलटे उस सेना के साथ सेनापति भी घेरे में अटककर रह गए। हैवलॉक की अंग्रेजी सेना रेसीडेंसी में घुसते ही पांडे की सेना लखनऊ छोड़कर चली जाएगी ऐसी जो आशा अंग्रेजों को थी वह पूरी तरह निष्फल हो गई। यह कुछ देर बाद सारे हिंदुस्थान को ज्ञात हो गया। लखनऊ छोड़ देने या अंग्रेजों से समझौते की बातचीत करना छोड़ रणांगन में दृढ़ता से सुलगते क्रांतिवीरों ने हैवलॉक के रेसीडेंसी में घुसते ही फिर पहले जैसे ही रेसीडेंसी को घेर लिया। रेसीडेंसी में घुसते समय अंग्रेजी सेना का जो भाग आलमबाग में रखा गया था उसे अपनी सेना के मुख्य भाग से मिलने का

---

१. ''इस अध्याय की समाप्ति से पहले, घेरे के परिणामों का संक्षिप्त उल्लेख किया जाना सामान्यतः अपेक्षित है। सर्वप्रथम इस बात पर ध्यान दिया जाना अभीष्ट है कि हमारी कमजोर और अपूर्ण प्रतिरक्षा व्यवस्थाओं के कारण साहसी शत्रुओं द्वारा चारों ओर से घेर लिये जाने से हमारे लिए अपनी रक्षा कर पाना पूर्णतः असंभव था, जब उन्होंने आक्रमण किया तो उनमें उस साहस का अभाव था जिसके बल पर कोई संकल्पबद्ध होकर खतरों का सामना करता है। इस बात में कोई संदेह नहीं कि उनमें वीर और साहसी व्यक्ति भी थे, किंतु ऐसे वीर अधिक नहीं थे। अधिकांशतः 'कायर जन' ही थे।''
—गब्बिन कृत—'म्युटिनियर्स इन अवध', पृष्ठ ३४८

अवसर भी न देते हुए, कल शाम हुए भयानक रक्तपात से रास्ते में आई पहले प्रवाह की बाढ़ उतरी नहीं कि तभी स्वयं की पराजय और शत्रु को प्राप्त विजय से उत्पन्न उत्साहभंगता को निरामय स्थान पर फेंककर स्वतंत्रता के लिए उत्सुक लखनऊ शहर ने अंग्रेजी सत्ता को फिर एक बार कैद कर दिया।

स्वतंत्रता संग्राम के पांडे लोगों के इस दृढ़ निश्चयी व्यवहार से केवल लखनऊ की अंग्रेज सेना ही कैंची में नहीं फँसी वरन् कलकत्ता से अलीगढ़ तक सारे प्रदेश में अंग्रेजी सेना पर जंगी दबाव पड़ने लगा। हैवलॉक के नेतृत्व में अंग्रेजों की सारी-की-सारी सेना लखनऊ पर आक्रमण के लिए भेज दी गई थी और जब उस सेना की सहायता से लखनऊ में बंद अंग्रेजी सेना मुक्त होने के बदले वहाँ अटककर रह गई तब नीचे के सारे प्रदेश में अंग्रेजी सत्ता लूली पड़ने लगी। इसी समय दिल्ली जीते जाने के कारण यद्यपि वहाँ की कुछ सेना खाली हो गई थी, परंतु वह दिल्ली के आसपास के प्रदेश में शांति स्थापित करने के काम में लगी हुई थी। ऐसी स्थिति में लखनऊ की रेसीडेंसी और आलमबाग में फिर से एक बार बंद कर दी गई अंग्रेजी सेना को उनके पक्के शत्रुओं से लड़कर उन्हें मुक्त करके अंग्रेजी सत्ता पर पड़ा दबाव कम करने का कार्य ही सबसे प्रमुख था। इस हेतु अंग्रेजी कमांडर-इन-चीफ क्या परिश्रम कर रहे हैं—यह पहले देखना चाहिए।

१३ अगस्त को अंग्रेजों का नया कमांडर-इन-चीफ सर कोलिन कैंपवेल कलकत्ता आ पहुँचा था। उस तारीख से २६ अक्तूबर तक वह आंग्ल सेनापति हिंदुस्थान देश को विद्रोहियों के हाथों से फिर जीत लेने को, शीघ्र ही शुरू होनेवाली मुहिम की जंगी तैयारी कर रहा था। मद्रास, सीलोन और चीन जानेवाली अंग्रेजी सेना जैसे-जैसे कलकत्ता में उतरने लगी वैसे-वैसे उसका यथोचित विभाजन करने, कासिम बाजार की शस्त्रशाला में नई तोपें ढालने और शस्त्रास्त्र, रसद, रणवस्त्र, सैन्य-वाहन आदि की सब ओर से यथासंभव उत्तम व्यवस्था में वह दो माह लगाकर, अगली मुहिम की तैयारी में लगा ही था कि उसपर कोलिन को हैवलॉक और आउट्रम के अपने ही जाल में बंद हो जाने का समाचार मिला। तब उस 'पतितम् पतितम् पुनरुत्पतितम्' ऐसे लखनऊ शहर का झगड़ा मुझे ही निपटाना चाहिए, इस निश्चय से उसने २७ अक्तूबर को स्वयं कूच किया।

इसी समय कर्नल पॉवेल और कैप्टन विलियम पवील की अधीनता में नेवल ब्रिगेड नामक एक समुद्री सेना तैयार कर उसने जलमार्ग से इलाहाबाद की ओर भेज दी थी। कलकत्ता से इलाहाबाद, कानपुर तक जो राजमार्ग फैले हुए थे उन रास्तों के आजू-बाजू विद्रोहियों की छोटी-छोटी टोलियाँ अंग्रेजी सेना को बहुत त्रास दे रही थीं। वे टोलियाँ इकट्ठी हो जातीं तो उनसे लड़ाई लड़ना अंग्रेजों को

संभव था, पर कुँवरसिंह के प्रशिक्षण में तैयार पांडे लोगों की सेना अंग्रेजी सेना के चारों ओर मँडराते हुए लड़ाई के अवसर टालती हुई अपने अस्तित्व की सूचना अचानक आक्रमण के सिवाय अंग्रेजों को किसी भी अन्य प्रकार से न देते हुए उस पूरे प्रांत में छापामार पद्धति का हुड़दंग मचाए थी। उन लोगों से निपटना आसान नहीं था। ऐसी ही एक विद्रोही टुकड़ी को काजवा नदी से भगा देने के प्रयास में उस समुद्री सेना का नायक पॉवेल मारा गया। पॉवेल जैसे आंग्ल वीर का उष्ण रक्त जिस दिन पांडे लोगों की तलवार पी रही थी उसी दिन कमांडर-इन-चीफ कानपुर आ पहुँचा। विद्रोही टोलियों ने रास्ते कैसे रोक रखे थे उसका भयंकर अनुभव कानपुर पहुँचने के पहले स्वयं कमांडर-इन-चीफ को हो गया था।

कोलिन एक गाड़ी से इलाहाबाद से कानपुर जा रहा था। अंग्रेजों को वाहनों की यद्यपि बहुत कठिनाई हो रही थी और उनका कमांडर-इन-चीफ एक मामूली गाड़ी में बैठकर कानपुर की ओर जा रहा था कि उसी समय उस रास्ते से जानेवाली विद्रोहियों की एक टुकड़ी हाथी पर बैठ शान से जा रही थी। उनके पास पच्चीस घुड़सवार भी तैनात थे। सर कोलिन के साथ सेना आदि कुछ भी नहीं थी। उसका गाड़ीवान घाटी के पास आया तो बाजू के रास्ते से विद्रोहियों की टोली उसी छोर पर आकर उसे मिली। उस गाड़ी में क्या माल भरा है, यह पांडे लोगों को पता न लगने से यद्यपि उनका ध्यान उसपर नहीं गया, परंतु उस गाड़ी के माल के प्राण सूख गए। हिंदुस्थान फिर से जीतने के लिए कानपुर की ओर जानेवाला कमांडर-इन-चीफ अपने सामने उन दैत्य विद्रोहियों को अचानक भैरव की तरह प्रकट होते देख आगे का रास्ता छोड़कर पीछे के रास्ते भाग खड़ा हुआ। एक क्षण की देरी होती तो शिकार हाथ लग जाता। या फिर वह गाड़ीवाला केवल अँगुली का निर्देश उन विद्रोहियों को कर देता तो जो हजारों वीरों के रण कौशल से भी बलि न चढ़ता वह अंग्रेजों का कमांडर-इन-चीफ तत्काल कैद कराने का सौभाग्य उस गाड़ीवान को मिलने वाला था! एक क्षण का अंतर था—नहीं तो सर कोलिन—अंग्रेजों का कमांडर-इन-चीफ—को विद्रोही कैद कर लेते और अपने स्वदेशी कमांडर नाना या कुँवरसिंह के सामने या एकदम यम के सामने प्रस्तुत कर देते।

इस अनिष्ट से छूटते ही सर कोलिन नवंबर की तीसरी तारीख को कानपुर आ पहुँचा। उसके पहले ही ब्रिगेडियर ग्रेट के अधीन सेना एकत्रित कर ली गई थी। दिल्ली के आसपास के प्रदेश के विद्रोहियों का सफाया करते-करते दिल्ली के घेरे से खाली हुई सेना के साथ ग्रेट हेड नीचे उतरकर वहीं आ गया था। दिल्ली गिर जाने के बाद उसके आसपास के प्रदेश में शांति स्थापित करते इस ग्रेट हेड ने इलाहाबाद के नील का गर्व परिहार करने में जो शूरता दिखाई थी वह अप्रतिम और

अनुपमेय है। विद्रोह होने के बाद से नवंबर माह तक वह प्रदेश विद्रोहियों के ही कब्जे में था। पर इस प्रदेश के वासियों को उन्होंने इतना कम त्रास दिया था कि स्वयं अंग्रेज कमांडर-इन-चीफ अपनी पुस्तक में लिखता है—''लोग निश्चिंत और पूर्णत: निरापद रूप में अपना कृषि कार्य करते थे। क्रांतिकारियों ने कहीं भी जनता को आवश्यकता से अधिक कष्ट नहीं दिया। इतना ही नहीं, उन्होंने संपूर्ण प्रांत में बलात् तो कहीं भी कुछ नहीं किया।''[१]

केवल अपनी सेना के लिए आवश्यक रसद प्राप्त करने से अधिक अत्याचार विद्रोहियों ने नहीं किया था। क्रांतियुद्ध के भयंकर प्रलय में भी हर वर्ष की तरह ही खेती विस्तार से की गई थी और भूमि फसल से भरी थी। जो स्वदेश के स्वयंसेवकों को शोभा दे ऐसे ही व्यवहार से पांडे लोगों ने अपने प्रदेश की रक्षा की थी, पर गुलामी के संचालकों की तरह स्वतंत्रता के लिए प्रेरित उस देश को कुचलने को निकले अंग्रेजों ने उसे बेचिराग कर डाला! और वह सब शांति के लिए, गाँव-के-गाँव जलाते हुए, जो भी तगड़ा जवान मिला उसे फाँसी पर चढ़ाते हुए, आकाशवासी पंछियों से भी अधिक बेरहमी से ग्रामवासियों को मारते हुए, ग्रेट हेड की सेना दिल्ली से कानपुर आ पहुँची। तब उसे, समुद्री सेना को और अन्य बड़ी सेनाओं को इकट्ठा कर ब्रिगेडियर ग्रेट गंगा नदी उतरने लगा। हे गंगामाई, लखनऊ को मुक्त करने के लिए तेरे किनारे आई अंग्रेजी सेना की गिनती तूने की है? और हे मानिनी अयोध्या, तू इस अंग्रेज सेना से डरकर अँधियारे कमरे में बंद अंग्रेज सत्ता को मुक्त कर रही है या नहीं!

ब्रिगेडियर ग्रेट के अधीन पाँच हजार गोरी सेना थी, उसके साथ ही सैकड़ों ऊँट और लखनऊ की सेना के लिए काफी रसद भी ली हुई थी। ग्रेट की इस सेना के आलमबाग तक मारधाड़ करते पहुँच जाने की बात समझते ही सर कोलिन कानपुर की ओर से गंगा नदी उतरा। पीछे अपनी पीठ सुरक्षित रहे इसलिए उसने चुनी हुई यूरोपीय और सिख सेना तोपों के साथ कानपुर में रखी थी और उसका अधिकारी यूरोप खंड के अनेक युद्धों के नामवर जनरल विंडहम को बनाया। गंगा पार करके ९ नवंबर को कोलिन आलमबाग पहुँचकर अपनी सेना से मिला। आलमबाग की सेना का बारीकी से निरीक्षण कर उसके अलग-अलग भागों को एक अभेद्य व्यूह रचना में पिरोकर तारीख १४ को लखनऊ शहर पर अंग्रेजी सेना को भयानक हमला करने का आदेश दिया गया। लखनऊ की रेसीडेंसी में समाचार पहुँचाने और संग्राम की कूटनीति तय करने के लिए कन्हेनाव नामक एक साहसी

---

१. कोलिन्स कृत—'नैरेटिव ऑफ दि इंडियन म्युटिनी', पृष्ठ १५९।

अंग्रेज ने अपना मुँह काला कर, शरीर पर नेटिव कपड़े पहन, एक नेटिव को साथ लेकर विद्रोहियों के पहरे के बावजूद रात के समय जाकर कोलिन और आउट्रम के संदेश एक-दूसरे को पहले ही दे दिए थे। लखनऊ की रेसीडेंसी और आलमबाग की गोरी छावनी में हर किसीको १४ नवंबर कब उदय होता है, इसका इंतजार था। अपनी सेना के साथ हैवलॉक और आउट्रम शत्रु को बाहर की ओर दबाते रेसीडेंसी से निकलेंगे और बाहर की ओर से सर कोलिन रेसीडेंसी की ओर दबाते ले जाएँगे। इस समय अंग्रेजी सेना में उनके अधिकतर नामवर योद्धा और सेनापति जमा हो गए थे। हैवलॉक, आउट्रम, समुद्री सेना का पील, ग्रेट हेड, दिल्ली का हड्सन, ब्रिगेडियर होप ग्रांट, आयर, स्वयं कमांडर-इन-चीफ सर कोलिन कैंपवेल। ताजा दम यूरोपीय हायलैंडर्स, घेरे के कालमुख से भी बाहर कूदने में बहुत निडर, किसी भी साहस के गले मिलने के लिए आतुर आउट्रम के यूरोपियन, राजनिष्ठ पंजाबी जवान और उन पंजाबियों से अधिक राजनिष्ठ दिल्ली में मातृभूति के रक्त से सनी तलवारें धारण करनेवाले सिख।

ऐसी यह अंग्रेजी सेना १४ नवंबर को लखनऊ शहर की ओर चली। वह सारा दिन विद्रोहियों और अंग्रेजों की छीनाझपटी में गया और शाम के समय अंग्रेजी सेना दिलखुश बाग तक शहर जीतती चली गई। वहाँ रात गुजारने की इच्छा से सर कोलिन ने डेरा डाला। उस रात भी विद्रोहियों के छुटपुट हमले बीच-बीच में चालू ही थे तब भी अंग्रेजी सेना ने उसकी परवाह न करते हुए वहीं रात गुजारी। दूसरे दिन कोलिन ने अपनी सेना को फिर एक बार रचा और तारीख १६ को लखनऊ पर जंगी हमला करने का आदेश दिया। आदेश पाते ही अंग्रेजी सेना उछलकर सिकंदर बाग पर टूट पड़ी। शहर के इस भाग तक अंग्रेजी सेना को विद्रोहियों ने कोई उल्लेखनीय बाधा खड़ी नहीं की। परंतु इस सिकंदर बाग पर कोई ऐसा वीर नियुक्त था कि जिसने उस बाग में युद्ध का भयंकर खेल रचा। ईवर्ट के अधीन हायलैंडर्स और पॉल के अधीन सिख एक कर्कश चीत्कार कर जब उस सिकंदर बाग पर टूटे तब अंग्रेजी सेना के आगे कोई टिक नहीं पाएगा ऐसा लगा। सिखों का सरदार गोकुलसिंह अपनी तलवार ऊँची उठाए कहीं हायलैंडर्स अपने सिख अनुयायियों से आगे न चले जाएँ—इसलिए पूरा दम लगाए रहा। अभागा लखनऊ! उसके शरीर का रक्त कौन अधिक पीता है, इस निष्ठुर प्रतियोगिता से सिखों और हायलैंडरों की तलवारें सपासप वार कर रही थीं। परंतु सिकंदर बाग की पत्थर की मजबूत दीवारें किसी भी तरह हिल-डुल नहीं रही थीं। और वे दीवारें हिलने लगीं तो भी उस बाग के वीरवर नहीं हिल रहे थे। क्योंकि तट की कुछ शिलाएँ गिरते ही अंग्रेजी सेना तीर की तरह उस ओर चली—कौन आगे

बढ़ता है? हायलैंडर या सिख? दोनों ने ही जोरदार दौड़ लगाई है। पर अंत में उस स्थान से जो पहले अंदर घुसा वह सिख ही था। उसके उस देशद्रोही साहस को पुरस्कृत करने के लिए उसके सीने में एक गोली घुसी! वह गिरा और तुरंत यह कूपर उसमें घुस गया, उसके पीछे-पीछे एवर्ट गया, कैप्टन जॉन गया, फिर और हायलैंडर सैनिक तेजी से अंदर घुसते गए। अंदर के सिपाहियों को इस अंग्रेजी सेना को एकाएक अंदर देखकर आश्चर्य हुआ परंतु उस दिन उस सिकंदर बाग के पास लड़ने के लिए अड़ा योद्धा कोई सामान्य मनुष्य नहीं होगा। वह तो स्थान छोड़ने का नाम ही नहीं ले रहा था। विजय या मृत्यु! मृत्यु या जय! शाबाश वीर, शाबाश! स्वतंत्रता के लिए लड़ते वीर को यही गर्जना शोभा देती है। अंग्रेजी सेना का कूपर इस बाग की दीवार से घुसा है, इसलिए उसका काम तमाम करने के लिए उस बहादुर सिपाही की खटपट चालू है। लुधियाना से विद्रोह करके आए सिपाहियों के उस शूर नेटिव अधिकारी के सिवाय यह काम किसी अन्य से नहीं हो सकता। आया! कूपर को खोजते-खोजते वह कृतांत उसपर दौड़ पड़ा। खनखनाहट—सपासप—काट-छाँट कूपर को उसने और उसे कूपर ने एक ही समय काट डाला, दोनों ही खेत रहे। लैंप्सडेन अपने हाथ की तलवार घुमाते चिल्लाने लगा—"देख क्या रहे हो! स्कॉटलैंड की परीक्षा की घड़ी है, आगे बढ़ो!" कैसी उद्दाम भाषा! स्कॉटलैंड के सम्मान में! और हिंदुस्थान का कोई सम्मान ही नहीं है क्या? स्कॉटलैंड के सम्मान के लिए कोई गोरा आने से पहले ही हिंदुस्थान के सम्मान में एक काला वीर गुस्से से भरा आया। लैंप्सडेन के शव से रक्त बहने लगा। ऐसे स्थान-स्थान पर भयानक लड़ाई चल रही थी कि तभी दूसरी जगह से दरवाजा फोड़ वहाँ से भी अंग्रेजी सेना का सागर उस बाग में घुसने लगा। अब इस बाग को जीत की आशा नहीं रही। फिर ऐ सिकंदर बाग, चाहे विजय हाथ से निकल गई है फिर भी तू लड़ता ही रहेगा क्या? लड़-लड़, वैसे ही लड़! विजय जाए पर सम्मान न जाए, यश नहीं जाने देना। कर्तव्य मान रण-मैदान में कूद पड़! दरवाजे-दरवाजे, सीढ़ी-सीढ़ी पर खनखनाती तलवारें भिड़ी रहीं। रक्त की कीच चारों ओर मचती रही। मैलसन कहता है—"भयानक रक्तपात और घमासान मारधाड़ चली। निराशा के अतुल शौर्य से विद्रोही लड़ते रहे। अंग्रेजी सेना ने उस स्थान के अंदर का भाग भी कब्जा लिया। फिर भी लड़ाई का अंत न हो। हर कमरा, हर सीढ़ी, हर बुर्ज, हर कोना भारी जिद के साथ लड़ता रहा। 'शरण' शब्द का उच्चारण किसीने नहीं किया, किसीने सुना नहीं। जब वह सारा स्थान अंग्रेजों ने जीत लिया तब ध्यान में आया कि उस बाग में दो हजार शव विद्रोहियों के पड़े हुए हैं। उस बाग में उनकी जो सेना थी उसमें से केवल चार ही जन शायद

लड़ाई छोड़कर भागे होंगे। परंतु चार भी भागे या नहीं···यह संदेह ही है।''[१]

सिकंदर बाग में देश की स्वतंत्रता के लिए लड़ते-लड़ते मरनेवाले शहीदो, दो हजार वीरो, तुम्हारी उस पवित्र स्मृति में यह इतिहास अर्पित है। दो हजार गाजियों का रक्त! दो हजार देशवीरों का रक्त! उस रक्त पर यह कृतज्ञ इतिहास अर्पित है। देश के लिए लड़ मरे—तुम कौन थे? तुम्हारे नाम क्या थे? तुममें यह सिद्धांतनिष्ठा की ज्योति प्रकाशित थी तब उसे चैतन्य रखनेवाला कौन सा वीरवर नेता तुम्हें धारातीर्थ का संकल्प दे रहा था, यह कहने का महद्‌भाग्य, विश्व कल्याण के लिए उपकारक कर्मों में देह घिसनेवाले तुम संत-विभूतियों का नाम उच्चारण करने या लिखने का महद्‌भाग्य यद्यपि हमारे भाग्य में नहीं फिर भी तुम्हारी वीर्य स्मृति को यह कृतज्ञ इतिहास अर्पित हो। विजय गई, परंतु तुमने स्वकीय यश को भंग नहीं होने दिया। विजय गई, पर तुमने स्वयश को उष्ण रक्त के दो हजार फव्वारों के नीचे सुस्नात निर्मल रखा हुआ है? तुम्हारा रक्त—भूतकाल की तिलांजलि—आगामी वीरों की संजीवनी बने!

तुम्हें सफलता नहीं मिली, पर स्वतंत्रता के गाजियो, यह सिकंदर बाग का आत्मयज्ञ यदि सही मुहूर्त पर प्रारंभ किया गया होता तो तुम्हें विजय भी मिलती। अब तुम्हारे शत्रु की शक्ति कितनी बढ़ी हुई है। उनके हजारों नए योद्धा रण की ओर बढ़ रहे हैं। दिल्ली गिर जाने से तनाव कम हो गया है। विजय के कारण नैतिक बल बढ़ा हुआ है और पराजय से तुम्हारी मानसिक शक्तियाँ क्षीण हुई हैं। ऐसी रूखी और निर्बीज भूमि में दो हजार का रक्त भी नमी नहीं ला सकता। परंतु दो माह पहले यदि ये दो हजार रक्त मेघ देशवीरत्व की तैयारी से इस भूमि की ओर मुड़े होते तो, यदि लखनऊ में पहली सलामी होते ही अंग्रेजी सत्ता की दुर्बल रेसीडेंसी पर ऐसे ही मारेंगे या मरेंगे इस निश्चय से हमला करने हजारों लोग गए होते तो आधे घंटे के अंदर हिंदुस्थान के सिर पर तुम्हें जो चाहिए था वह स्वराज्य का मुकुट चमकने लग गया होता। मर गए पर मरने का मुहूर्त गलत था! समय गया—घटी कभी की डूब गई—एक रक्त बिंदु से उस समय विजय मिली होती अब रक्त के हौज भी उँडेले तो भी सुयश मिलेगा, पर विजय मिलना कठिन है! राज्य क्रांति जैसी भयंकर वेग की आँधी में एक क्षण की ढील हुई और बात गई। एक पैर पीछे लिया तो वह टूटा ही, एक क्षण को जान प्यारी हुई और हमेशा के लिए मृत्यु आई। क्रांति के दरबार की प्रथम सावधानी—यह कि—'बूँद से गई वह हौज से नहीं आती।'

---

१. मैलसन कृत—'म्युटिनी', खंड ४, पृष्ठ १३२।

रक्त के हौज सिकंदर बाग में जैसे भरे वैसे ही अन्य रणक्षेत्रों में भी भरे। दिलखुशबाग, आलमबाग, शहानजीफ सारे स्थान उस दिन और उस रात शत्रु के साथ जूझते रहे। भोर होते ही लखनऊ शहर के सारे घंटे घनघना उठे। नगाड़े बजे और फिर उस रक्त से नहाए शहर ने शत्रु से टक्कर लेना शुरू की। कल का शहानजीफ का झगड़ा और आज का मोतीमहल का झगड़ा। जैसे-को-तैसा होने लगा। परंतु अंग्रेजी झंडा ही सबल साबित हुआ और अंग्रेजी सेना रेसीडेंसी में बंद अपने देशबंधुओं को मुक्त करने में सफल हुई। तारीख १७, १८, १९ से २३ नवंबर तक लखनऊ में लड़ाई-पर-लड़ाई-लड़ते अंत में वह घिरी हुई और घेरा तोड़ने आई अंग्रेजी सेना एक-दूसरे को मिली। जिस रेसीडेंसी पर आज तक मृत्यु की छाया थी उस रेसीडेंसी में अब विजय का हास्य खिल उठा। परंतु इस आंग्ल विजय को विद्रोही अभी भी महत्त्व नहीं दे रहे थे। ये दोनों अंग्रेजी सेना इकट्ठी हो गईं और रक्त के प्रत्यक्ष समुद्र में वह शहर तैरने लगा, तब भी वहाँ के क्रांतिवीर समर्पण करने या भाग जाने को तैयार नहीं थे। उनकी इस दृढ़ता और धैर्य के कारण लड़ाई फिर से कब शुरू हो जाए, यह बिलकुल अनिश्चित था। इसलिए पिछली रात की मारामारी में छिटकी अंग्रेजी सेना को फिर से एक बार व्यवस्थित करने का कार्य सर कोलिन ने प्रारंभ किया। उसने रेसीडेंसी छोड़कर दिलखुशबाग में सारी सेना इकट्ठी की। आगे की लड़ाई के लिए आवश्यक संगठन बनाया और कब्जाए आलमबाग में आउट्रम के अधीन उस विस्तीर्ण मारकाट में शेष रही कोई चार हजार सेना और पच्चीस तोपें रख दीं और इस विजय के लिए उसने अपनी सेना की शूरता, अनुशासन और आदेश पालन की यथार्थ स्तुति की। उस स्तुति शूरता में बड़ा हिस्सा जनरल हैवलॉक का था।

परंतु जब तक अंग्रेजी सेना वह विजयानंद मनाए, तभी उस विजयानंद का मुख्य हिस्सेदार हैवलॉक यकायक मर गया। लखनऊ के रण-मैदान में अति तनाव, चिंता और निराशा से पस्त हुआ ऐन विजय रंग में यह बहादुर हैवलॉक मर गया। तारीख २४ को अंग्रेजी विजय में इस मृत्यु ने यह विष घोल दिया। फिर भी हैवलॉक के बाद उसके पुत्र और पत्नी को सरदारी का सम्मान देकर इंग्लैंड कृतज्ञ हुआ। परंतु वह समय मरे हुए के शोक में डूबने का नहीं, उसकी अधूरी आशा पूरी करने का था। लखनऊ विजय के लिए हैवलॉक मरा, इसलिए उसकी मृत्यु के बाद उसकी वास्तविक सेवा करना अर्थात् लखनऊ शहर जीतना था।

परंतु लखनऊ जीतने निकलने से पहले इधर कानपुर में ये तोपों के आकस्मिक धमाके क्यों शुरू हो गए हैं? होंगे किसीके लिए? यूरोप के युद्ध का प्रख्यात वीर विंडहम जब तक कानपुर में है तब तक वहाँ की तोपों के धमाकों से सर कोलिन

के सीने की धड़कन बढ़ने का कोई कारण नहीं। विंडहम जैसा अंग्रेज योद्धा होने पर उसका सामना कौन विद्रोही कर सकेगा? परंतु सर कोलिन जैसा विंडहम कानपुर में है वैसा ही तात्या टोपे भी वहाँ आया है! यह समाचार है।

तात्या टोपे कानपुर में ही है? सर कोलिन को तोपों के उन धमाकों का भयंकर अर्थ ध्यान में आया और वह लखनऊ आउट्रम के हवाले कर अति वेग से, स्वयं यह जानने दौड़ा कि कानपुर में तात्या टोपे क्या गड़बड़ कर रहा है।

□

प्रकरण–६

तात्या टोपे

कानपुर में अपनी सेना की हार के बाद श्रीमंत नाना साहब पेशवा और तात्या टोपे दोनों रात बारह बजे के आसपास ब्रह्मावर्त में आ गए। वहाँ रात गुजारकर दूसरे दिन सुबह उनके छोटे भाई बाला साहब, भतीजे राव साहब और तात्या टोपे आदि लोग राजवंश की महिलाओं के साथ नौकाओं में बैठकर गंगा पार उतर गए और लखनऊ प्रांत के फतेहपुर शहर आ पहुँचे। वहाँ नाना का परम स्नेही चौधरी भोपाल सिंह था, उसने उन सब लोगों का सादर सत्कार किया और अपने यहाँ सबको रख लिया। कानपुर की लड़ाई में बीच में तितर-बितर हुई सेना की फिर से व्यवस्था करने में नाना लगे थे। थोड़े ही दिनों में विद्रोह कर उठी ४२वीं रेजिमेंट नाना के निशान के नीचे लड़ने का संकल्प कर शिवराजपुर तक आ गई और वहाँ से उसने सर्वसम्मति से श्रीमंत नाना को उसे ले जाने को कोई अधिकारी आदमी भेजने का निवेदन किया। इस निवेदन के अनुसार श्रीमंत नाना ने तात्या टोपे को शिवराजपुर की ओर उस रेजिमेंट को लाने का अधिकार देकर भेजा और आदेश के अनुसार तात्या उस रेजिमेंट को नाना के निशान के नीचे ले आए। तात्या को यह शिवराजपुर की सेना मिलते ही उसने हैवलॉक की पीठ पर, पूर्व कथन के अनुसार, दाँव-पेच प्रारंभ किए और उस आंग्ल वीर को अयोध्या से खींचकर वापस कानुपर ले आया। हैवलॉक कानपुर में आकर देखता है तो यह विचित्र मराठा ब्रह्मावर्त के बाड़े में राजा बना बैठा है। अत: आंग्ल सेना को फिर से ब्रह्मावर्त पर जोर का आक्रमण करना आवश्यक हो गया। इस लड़ाई में पराजय होते ही गंगा नदी उतरकर तात्या सेना के साथ फतेहपुर आकर नाना से मिल गया। थोड़े ही दिनों में ग्वालियर की सेना में विद्रोह कराने की योजना नाना के दरबार में बनने लगी। इस काम पर तात्या के सिवाय किसकी नियुक्ति इष्टतर थी? इस विलक्षण बुद्धि ने आज पूरी-

की-पूरी रेजिमेंट चुपचाप पोली करके विद्रोह के साहसी कर्म में लगा दी थी। वह कूटकर्मी मराठा ही ग्वालियर की सेना में विद्रोह कराने जाए। तात्या टोपे तुरंत गुप्त रीति से ग्वालियर गए और वहाँ से अपने साथ ग्वालियर सेना की मुरार छावनी की काटिंजेंट, पैदल, घुड़सवार, तोपखाना लेकर तुरंत काल्पी वापस लौटे। यह सुनते ही नाना ने काल्पी की इस सारी सेना की व्यवस्था करने का अधिकार देकर बाला साहब को उधर भेज दिया। काल्पी शहर विद्रोहियों के लिए लश्करी दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण था। कानपुर और काल्पी के बीच यमुना का प्रवाह होने से अंग्रेजी सेना से रक्षा करनेवाली वह प्राकृतिक खंदक ही थी इसलिए काल्पी शहर में अपना डेरा बनाए रखकर वहाँ की सुरक्षा के लिए कुछ सेना छोड़ शेष सेना के साथ तात्या टोपे कानपुर की अंग्रेजी सेना को शह देने का विचार करने लगे।

सर कोलिन जब अंग्रेजी सेना के साथ लखनऊ को मुक्त कराने कानपुर से चला तब उसने कानपुर की सुरक्षा के लिए यूरोप की लड़ाइयों में ख्यातिप्राप्त जनरल विंडहम को सेना के साथ वहाँ रखा था। उस यूरोपियन सेना को नई कुमुक आने के पहले और लखनऊ की ओर जारी झगड़ा समाप्त होने के पूर्व कानपुर शहर पर संभव हुआ तो एक बार चढ़ाई कर देखें—यह नाना का विचार बना और उस कार्य के लिए तात्या टोपे के साथ ग्वालियर से आई सेना भी भेजी गई। इस सेना का मुख्य सेनापति तात्या टोपे को ही बनाया गया। इस तरह कल तक नाना के दरबार का जो ब्राह्मण मुंशी था वह तात्या टोपे आज एक सेना का मुख्य सेनापति हो गया। और यूरोप के रणांगन में सैनिक अनुभव लेते हुए जिसका जीवन गया उस जनरल विंडहम पर वह हमला करने जा रहा है। और उसके साधन क्या हैं? अभी हाल में विद्रोह करके आसपास के बजारू लोगों के साथ आए हुए असंगठित लश्करी सिपाही संस्थापित विजयी आंग्ल सेना के सामने खड़े हैं। यह असमान लड़ाई कैसे होती है—स्वतंत्रता की चेतना, दूसरे सारे लाभ विपक्ष की ओर होते हुए भी कैसे लड़ती है! अर्थात् साधन आदि के अभाव में भी इतना लड़ती है तो जब उसके साथ अनुशासन, संगठन आदि के लाभ जुड़ जाएँ तो कितना लड़ सकती है—यह इसकी जीवंत शिक्षा मिल जाने जैसा होगा।

ग्वालियर की विद्रोही काटिंजेंट सेना के साथ तात्या टोपे ९ नवंबर को काल्पी पहुँच गए। कानपुर से काल्पी छियालीस मील दूर है। वहाँ से कानपुर की अंग्रेजी सेना की पूरी जानकारी लेकर तात्या ने काल्पी छोड़ यमुना नदी उतरकर दोआब में प्रवेश किया। जालौन में सारा खजाना और काठ-कबाड़ रखकर उसकी सुरक्षा के लिए तीन हजार सैनिक, बीस तोपें छोड़ यमुना उतरते ही वे तुरंत कानपुर पर हमला करने नहीं गए। लखनऊ में विद्रोहियों से सर कोलिन का झगड़ा शुरू

होने और यह ज्ञात हो जाने पर कि सर कोलिन वहाँ पूरी तरह फँस गया है—तात्या कानपुर के आसपास मँडराते रहे। लखनऊ में सर कोलिन अब कुछ दिन विद्रोहियों से उलझा रहेगा यह ढंग दिखते ही तात्या शिवराजपुर तक चढ़ आए। रास्ते में सैनिक महत्त्व के स्थानों पर उन्होंने सेना के थाने बनाए। नवंबर की १९ तारीख को इतनी व्यवस्था करके तात्या ने अंग्रेजी रसद का मुख्य रास्ता बंद कर दिया। तात्या के इन दाँव-पेचों का अर्थ विंडहम की नजर में आए बिना न रहा। उसने कलकत्ता से आ रही गोरी सेना के प्रवाह को कानपुर में ही रोके रखा। कार्थ्यू के अधीन सेना देकर उसे काल्पी के पास रखा और तात्या सर कोलिन की पीठ पर मार करने जाता है या कानपुर आता है इसकी राह देखता रहा।

परंतु विंडहम बैठकर राह देखनेवाला योद्धा नहीं था। उसका बहादुर स्वभाव उसे युद्ध हेतु निरंतर आगे ढकेल रहा था। अंग्रेजों की हिंदुस्थान ही नहीं पूरे एशिया की सेना के विषय में जो एक सैनिक धारणा थी उसके मन पर उसकी छाप भी थी। यह धारणा कि 'एशियाटिक लोगों को हराने की उत्तम युक्ति है उनपर सीधे हमला कर देना। कोई चाहे जितना सशक्त हो, परंतु किंचित् भी पैर पीछे लिया या देर की तो एशियाटिक लोग गर्व से फूल जाते हैं। किंतु कितना भी अशक्त हो पर पीछे न हटते हुए तेजी से उनपर टूट पड़े तो एशियाटिक लोगों की आँखें चुँधिया जाती हैं और वे घबराकर इधर-उधर भागने लगते हैं।' इस सैन्य धारणा का उपयोग आज तक अंग्रेजों ने कितनी ही बार किया और अधिकतर वे सफल रहे। और चूँकि एशियाटिक लोगों से लड़ते हुए वास्तविक बल से अधिक उसके दिखावे में सफलता की संभावना अधिक रहती है इसलिए युद्ध में गोरी मुट्ठी भर सेना हो तो भी वह सीधे तीर की तरह एशियाटिक लोगों पर हमला करती रहे और उनका आक्रमण होने के पहले ही आप उनपर आक्रमण कर हमारी शक्ति अधिक है, ऐसे उनको डराते रहें। यह आंग्ल युद्ध शस्त्र का एक प्रयोगसिद्ध नियम ही बन गया था। जो भी अंग्रेजी सोल्जर यहाँ आता वह यह नियम कंठस्थ करता और जो अंग्रेजी इतिहासकार ग्रंथ लिखता वह इस नियम का सिद्धांत बार-बार लिखता था। ऐसी शिक्षा पाया जनरल विंडहम तात्या टोपे की हलचलों को मन माफिक चलने देकर, राह देखता बैठनेवाला नहीं था। उसने कानपुर शहर से निकल काल्पी के बाजू की नहर के पुल तक हमला किया।

अंग्रेजी सेना की गतिविधि देखकर विद्रोहियों की सेना ने भी हलचल प्रारंभ की। उनकी सेना अकबरपुर से सुखंडी आ गई और सुखंडी से २५ नवंबर को पांडु नदी तक आकर भिड़ गई। अपने इतने पास यह साहसी शत्रु आ जाने की सूचना मिलने से विंडहम की सेना में लड़ाई की तैयारी शुरू हो गई और एशियाटिक लोगों

को हराने की रामबाण युक्ति तारीख २६ को अपनाने की योजना बनी। विद्रोहियों पर स्वयं होकर ही सीधे आक्रमण कर पहले उनका सामना पीटा जाए और फिर ऐसे ही अकेले-अकेले पकड़ अन्य हिस्सों को भी नष्ट कर दिया जाए, यह संकल्प कर विंडहम तारीख २६ को प्रातः ही शत्रु पर पिल पड़ा। विद्रोही एक घनी झाड़ी में खड़े थे। उन्होंने अंग्रेजी सेना पर तोपों की मार शुरू की। बहुत देर तक मारामारी चलने के बाद अंग्रेजों ने तीन तोपें जीत लीं। विंडहम कहने लगा, मेरे सीधे हमले से एशियाटिक लोग और एक बार पराजित हुए और गोरी सेना फिर एक बार विजयी हुई। गोरी सेना भी विजय घोषणा करने लगी। पर हे विजयी सेना! यह क्या विजयी होते हुए भी तू पीछे-पीछे क्यों हटती जा रही है? या फिर आज तक युद्ध में पीछे हटने को ही तू विजय कहती रही है? कैसी विजय और कैसा रण? विंडहम की गोरी सेना तात्या टोपे के घुड़सवारों के दबाव में कानपुर तक पीछे हट गई। उसकी पीठ पर चढ़े जा रहे घुड़सवार न लड़ाई कर रहे थे न पीछा छोड़ रहे थे। मराठों की सेना की तरह ही वे शत्रु के चारों ओर मँडराते उन्हें पीछे धकेलते और आप आगे घुसते सीधे कानपुर शहर के दरवाजे तक आ धमके। विद्रोहियों को डराने के लिए विंडहम के इस सीधे हमले से हमेशा की तरह न डरते ये एशियाटिक लोग उलटे उसे ही धमकाते आगे गए। मैलसन कहता है—"परंतु विद्रोहियों का नेता तात्या टोपे कोई पागल आदमी नहीं था। जनरल विंडहम ने जो आघात किया उससे डरने की बात तो दूर उलटे अंग्रेज सेनानी का मर्म उस चतुर मराठे की नजर में आया। विंडहम की आंतरिक स्थिति किसी खुली पुस्तक की तरह तात्या टोपे ने पढ़ ली और असल सेनानी की मूल चतुराई से उस स्थिति का पूरा लाभ लेने का निश्चय किया।"[१]

दिन भर की लड़ाई के बाद विंडहम को चौबीस घंटे की भी फुरसत न देकर अपनी सेना को तात्या ने उस रात दूसरे दिन प्रातः ही आक्रमण के लिए तैयार रहने का आदेश दिया। परंतु शिओली और शिवराजपुर की सेना आकर उसके अंग्रेजों के दाएँ बाजू पर तोपों से गोलीबारी करने के पूर्व आगे न बढ़ते हुए गोलीबारी होते ही अंग्रेजों पर तेजी से टूट पड़ना है, ऐसी उसकी योजना थी। इधर विंडहम ने भी अपनी सेना को प्रातः ही सशस्त्र खड़ा किया, पर प्रातः ९ बजे तक खड़े रहने के बाद भी विद्रोहियों के आने का समाचार या उनकी गतिविधि ज्ञात नहीं हुई, तब अंग्रेजी सेना कलेवा करने अपने-अपने तंबू में चली गई। कोई ११ बजे अंग्रेजी सेना को फिर सशस्त्र होने का आदेश मिला। जनरल विंडहम को सेनापति तात्या टोपे के हेतु का पता नहीं चल पा रहा था। सारी अंग्रेजी सेना में अनिश्चितता का

---

१. मैलसन कृत—'इंडियन म्युटिनी', खंड ४, पृष्ठ १६७।

वातावरण था।

इसी समय निश्चितता का भयानक राज शुरू करने के लिए तात्या टोपे की सेना की ओर से अंग्रेजों के दाएँ बाजू पर तोप का एक लाल गोला आकर गिरा। वह गोला गिरने के साथ ही सामने से भी गोलीबारी चालू हो गई। तुरंत विंडहम ने छह तोपों के साथ कार्थ्यू को ब्रह्मावर्त के रास्ते शहर के उस भाग की सुरक्षा करने भेजा। विद्रोहियों की तोपों और अंग्रेजों के बीच के भाग की तोपों की भयंकर लड़ाई शुरू हुई। उसमें अंग्रेजी गोलंदाज जल्दी ही हारने लगे। तात्या ने अपनी सेना का अर्धवृत्त व्यूह बनाकर उसमें अंग्रेजी सेना को सामने और दोनों बाजू से घेरने की योजना बनाई थी। विंडहम ने तात्या के अर्धवृत्त को तोड़ने का बहुत प्रयास किया। पर तात्या की तोपों ने अंग्रेजों को आगे कदम रखना असंभव कर दिया। आगे कदम बढ़ाना तो दूर अब मूल जगह पर भी अटल रहना असंभव देख अंग्रेज रण से पीछे हटने लगे। अंग्रेजों का बायाँ बाजू अपनी तोपें छोड़कर भी पीछे हटा। यह देखते ही उनके दाएँ बाजू की सेना ने जोर लगाकर तोपों की रक्षा की। परंतु अब तो अंग्रेजी सेना के पैर रण से उखड़ गए। वे जैसे-जैसे पीछे हटते दिखे वैसे-वैसे विद्रोहियों का अर्धवृत्त उन्हें पीछे हटाता गया। शाम को छह बजे इस जंगी धकेला-धकेली में अंग्रेजी सेना पूरी तरह हार गई और उसका सेनापति जनरल विंडहम अपनी सेना के साथ अस्त-व्यस्त रीति से भागा। उसके हजारों तंबू, छोलदारियाँ, बैल, रसद और पोशाक विद्रोहियों के हाथ लगे। इस तरह उस जवाँमर्द मराठे की तलवार को इस दूसरी विजय का मुकुट पहनाया गया। कल की लड़ाई में उसकी अप्रत्यक्ष जीत थी, पर आज तो उसकी प्रत्यक्ष परिपूर्ण विजय हुई। उसने अंग्रेजों के एक उत्तम सेनापति को दिन भर चले भयंकर रण में पराभूत ही नहीं किया, उसका पीछा भी किया। तंबुओं, छोलों के साथ उसकी छावनी गिराई और कानपुर शहर से उसे खदेड़कर उस शहर को जीता। यदि इस सेनापति जैसी ही उसकी सेना भी कर्तव्यनिष्ठ और संगठित होती तो अंग्रेजी इतिहासकार भी कहते हैं कि इस मराठे ने उस दिन जनरल विंडहम की सारी सेना काट डाली होती। इतना बढ़िया दाँव तात्या टोपे ने जनरल विंडहम पर लगाया था।

और तात्या के इस दाँव की गूँज सर कोलिन को लखनऊ में सुनाई दी। जिस समय तात्या कानपुर आया तब उसे यह आशा थी कि कोलिन को कम-से-कम एक माह, लखनऊ उलझाए रहेगा और तब तक विंडहम के अकेलेपन का सहज ही लाभ लिया जा सकेगा। परंतु उसका यह दाँव उसकी ओर से इतना विजयी हुआ—तभी उसको समाचार मिला कि लखनऊ का काम शीघ्र निपटाकर—वहाँ विद्रोहियों की अधिक बाधा न होने से सर कोलिन भी कानपुर पर आक्रमण करता आ रहा है।

अब गंगा के दोनों बाजुओं से अंग्रेजी सेना तात्या पर चढ़ आई थी। लखनऊ में विद्रोहियों के ढीलेपन से अंग्रेजों के कमांडर-इन-चीफ से स्वयं कुश्ती लड़ने का बोझा क्रांतिवीरों के इस सेनानी पर आ पड़ा। फिर भी वह मराठा तारीख २७ की रात भर रणक्षेत्र में सावधान और अटल खड़ा रहा।

उस रात एक बार जनरल विंडहम के मन में आया कि विद्रोहियों पर रात-ही-रात में छापा मारकर दिन में हुई हार को जीत में बदल लें। परंतु इस कल्पना को मूर्त रूप देने को आवश्यक धैर्य अंग्रेजी सेना में न होने से अब रात की बात छोड़ प्रात: शत्रु को हाथ दिखाने की मजबूत तैयारी विंडहम करने लगा। कल की पराजय की सारी गलतियाँ ठीक कर उसने तारीख २८ को विद्रोहियों पर फिर से यथासंभव चढ़ाई करने या कम-से-कम उनकी चढ़ाई न होने देने का निश्चय कर प्रात: से ही लड़ाई चालू की। अंग्रेजों के दाएँ और बाएँ बाजू पर विद्रोहियों की तोपें और सेना मार करने लगी। कल की तरह आज भी अंग्रेजों को विद्रोहियों ने और विद्रोहियों को अंग्रेजों ने दोपहर १२ बजे तक जहाँ-का-तहाँ दबाकर रखा। परंतु कल अंग्रेज जैसे पीछे हटे थे वैसा आज न हटकर वे रण में आगे पैर बढ़ाकर शत्रु पर टूट पड़े। एशियाटिक लोगों पर सीधे हमला किया तो फिर विजय में शंका क्यों हो?

विजय में कोई शंका नहीं पर यह दाईं ओर हाहाकार कौन कर रहा है? ब्रिगेडियर विल्सन मरा। कैप्टन माक्री मरा। कैप्टन मार्फी, मेजर स्टर्लिन, लेफ्टिनेंट केन, लेफ्टिनेंट रिबन को भी काट मारा। एशियाटिकों में भी कोई तात्या टोपे होता ही है। उस तात्या ने और उसकी सेना ने शाम तक मारामारी कर आगे बढ़ आई अंग्रेजी सेना को उसके कमांडर के साथ पीछे भगाकर इस तीसरे दिन भी यह तीसरी विजय प्राप्त की। कल से अधिक आज अंग्रेजी सेना की हिम्मत पस्त हुई। उसके दोनों भागों को ही रणांगन से भगा दिया। कल आधा शहर लिया था तो आज तात्याने सारा कानपुर कब्जा लिया और इस तरह इस जवाँमर्द मराठे की तलवार पर यह तीसरी विजय का मुकुट दमकने लगा।[१] अंग्रेजी सेना पीछे भाग रही थी तभी

---

१. इस पराजय का नितांत ही रोचक वर्णन एक अंग्रेज अधिकारी ने इन शब्दों में किया है—
''आपको आज के संघर्ष का विवरण पढ़कर आश्चर्य होगा, क्योंकि आपको विदित होगा कि अपने सम्मान चिह्नों, महान् उपाधियों और नितांत प्रसिद्ध शौर्य से मंडित गोरे सैनिकों को पराजय मिली और घृणित एवं तुच्छ भारतीयों ने उनके तंबू और सामग्री ही नहीं, प्रतिष्ठा का भी अपहरण कर लिया था। अब हमारे शत्रुओं को हमें पराजित फिरंगी कहने का अधिकार प्राप्त हो गया। हमारे सैनिक अपने उलट दिए गए तंबुओं, फटे और जीर्ण-शीर्ण वस्त्रों तथा सामग्री और भागते हुए ऊँटों, हाथियों, अश्वों तथा नौकरों सहित भाग निकले। यह संपूर्ण घटना ही नितांत लज्जाजनक और विषादपूर्ण है।''
—चार्ल्स बाल कृत—'इंडियन म्युटिनी', खंड २, पृष्ठ १९०

अंग्रेजों का कमांडर-इन-चीफ सर कोलिन उसकी छावनी में उपस्थित हो गया। उसने अपनी आँखों से अंग्रेजी सेना की हुई गत देखी थी। उसने अपनी आँखों से विद्रोहियों की विजयी सेना कानपुर शहर में घुसते देखी, उसने अपने कान से विद्रोहियों के रणसिंघे और रणताशे और जयनाद कड़कड़ाते सुने। कानपुर की ओर तात्या टोपे क्या गड़बड़ कर रहा है यह उसके ध्यान में अच्छी तरह आया।

सर कोलिन के अंग्रेजों की छावनी में आ पहुँचने की बात जानते ही, जिसका डर था वही हो गया, यह तात्या ने समझ लिया। लखनऊ का जोर ढीला पड़ने से सर कोलिन ससैन्य अयोध्या की ओर से कानपुर दौड़ आया। यह अप्रिय सत्य सामने आते ही धीरज न खोकर तात्या ने अयोध्या की ओर का पुल तोड़कर अंग्रेजी सेना को गंगा नदी उतरना असंभव बनाने उस पुल पर तोपों की मार शुरू की। पर विद्रोहियों की इन तोपों का रुख समझकर सर कोलिन ने अंग्रेजी तोपों की उलटी मार चालू की और उसकी छाया में ३० नवंबर तक सारी अंग्रेजी सेना अयोध्या से कानपुर शहर के पास आ बैठी। फिर भी क्रांतिकारी कानपुर छोड़कर जाने को तैयार नहीं हुए। उन्होंने उस शहर के पास ही अंग्रेजों के कमांडर-इन-चीफ से दो-दो हाथ करने का मन बनाया। क्योंकि—"They had, as their leader, a man of very great national abilities."[१] इस कर्मठ सेनानी ने, अपना बायाँ बाजू कानपुर और गंगा के बीच—अड़चनवाली जगह में, अपना मध्य कानपुर शहर में और अपना दायाँ बाजू गंगा नहर पर फैला रखा था। उसकी सेना में लश्करी शिक्षण प्राप्त करीब दस हजार सिपाही थे। उसने दिसंबर की पहली तारीख को अंग्रेजी सेना के कमांडर-इन-चीफ को चैन से नहीं बैठने दिया। दूसरे दिन तो उसीके तंबू पर विद्रोहियों ने यकायक गोलीबारी शुरू कर दी। ४ तारीख को उन्होंने कुछ ज्वालाग्रही नौकाएँ अयोध्या के पुल को जलाने के लिए गंगा के प्रवाह में छोड़ दीं। तारीख ५ को उनके तोपखाने ने अंग्रेजों की सारी सेना पर ऐसी गोलीबारी की कि सर कोलिन को अपना डेरा छोड़कर सेना की हलचल और अपना तोपखाना बहुत देर तक बंद करना पड़ा। विद्रोहियों की इस ढीठता से दी गई रण चुनौतियों को आज तक चुप होकर सुनने की बारी जो सर कोलिन पर आई थी वह ५ तारीख के बाद आनी नहीं थी। क्योंकि अब उसने अपनी सेना की उत्तम एकबद्धता कर रास्ते की सारी बाधाएँ दूर कर दी थीं औ इसीलिए प्रत्यक्ष अंग्रेजी कमांडर-इन-चीफ के तंबू पर रोज-रोज गोलीबारी की गेंद का खेल खेलनेवाले जिद्दी, ढीठ और उद्दाम विद्रोहियों से तारीख ६ को आगे बढ़कर लड़ाई लड़ने का उसने

---

१. मैलसन, खंड २, पृष्ठ १८४।

निश्चय किया। इस समय विद्रोहियों के पास कोई नौ-दस हजार सैनिक शिक्षा प्राप्त सिपाही थे और उनके बाएँ बाजू में स्वयं नाना साहब, दाईं ओर ग्वालियर की सेना और उन सब पर तात्या टोपे सेनापति थे। अंग्रेजों के पास काली, गोरी कुल पाँच हजार पैदल, छह सौ घुड़सवार और पैंतीस तोपें—ऐसे सब मिलाकर छह हजार लोगों की सज्जित सेना थी। चार्ल्स बाल कहता है—"संख्या पचहत्तर हजार थी और उन सबपर स्वयं कमांडर-इन-चीफ सर कोलिन सेनापति था।"

सर कोलिन ने, विद्रोहियों के दाईं बाजू असुरक्षित जगह पड़ी हुई है, यह देखकर ६ दिसंबर को प्रातः ९ बजे लड़ाई शुरू की। दाईं ओर मुख्य हमला किया जाना है यह बात छिपाने के लिए पहले बाएँ बाजू पर अंग्रेजी तोपें गोला फेंकने लगीं। और इस कारण विद्राहियों का ध्यान भी उधर ही गया। ग्रेट हेड ने विद्रोहियों के मध्य पर भी एक नकली हमला किया। इस तरह उधर गोलीबारी की भयानक उठापटक में वे धरती दहला रहे थे तभी दाईं ओर छिपाते-छिपाते अंग्रेजों ने विद्रोहियों पर वास्तविक हमला बहुत जोर से किया। जो सिख और गोरे लोग तीर की तरह चलते आ रहे थे उनपर ग्वालियर की सेना ने तोपों से भयानक गोलाबारी की। उसी तरह पांडे लोगों की सेना भी बंदूकों से आंग्ल सेना पर आग बरसाने लगी। सिख लोगों के डबल मार्च से दौड़ते ही विद्रोहियों और उनकी आधे-एक घंटे तक विकट कुश्ती हुई। इतने में पील के लोग तोपें लेकर वहाँ आ गए तो विद्रोहियों का दायाँ बाजू हटने लगा। एक बार उसके हटना शुरू करते ही अंग्रेजी सेना को जो जोश आया—मत पूछो! उन्होंने जल्दी ही बाहर की सेना को तितर-बितर कर दिया। उनकी तोपें पकड़ लीं और उनकी सारी छावनी पर भी कब्जा कर लिया। विद्रोहियों के दाएँ बाजू पर ऐसी परिपूर्ण विजय सर कोलिन को प्राप्त हुई। परंतु उसकी इच्छा इतने से शांत होनेवाली नहीं थी। उसके मन में दाएँ बाजू की ओर काल्पी का रास्ता रोककर तात्या को ससैन्य शरण लाने का विचार था, इसलिए उसने ब्रह्मावर्त के रास्ते पर मैंसफील्ड को तत्काल भेज दिया। इस दिन एशियाटिक लोगों के संबंध में पश्चिम का सैनिक सिद्धांत उसके विधि और निषेधात्मक दोनों ही स्वरूपों में वहाँ प्रकट हुआ। विद्रोहियों के मध्य पर ग्रेट हेड ने जो हल्ला किया था वह इतना कमजोर था कि यदि विद्रोहियों ने उसपर सचमुच जोर का आघात किया होता तो उसकी हवा निकल गई होती और वह दिन निकल गया होता। पर अंग्रेज सीधे हल्ला बोलते आए तो विद्रोही धौंस में आ गए। अघातक पद्धति से हल्ला करते और जोश का दिखावा करते ही एशियाटिक लोग कच्चे पड़ गए, यह सिद्धांत मध्य में अवश्य सफल हुआ पर इधर बाएँ बाजू में उसका निषेध पक्ष भी सामने आया। क्योंकि मैंसफील्ड के पास काफी सेना होते हुए भी वह विद्रोहियों के

बाएँ बाजू पर आघात कर टूट पड़ने की बजाय दाँव-पेच लगाते छिपता-छिपाता रहा, उसे देखते ही विद्रोहियों के सिर जोर होकर उसपर टूट पड़े। और मैंसफील्ड की स्थिर पद्धति से सर कोलिन की इच्छा अधूरी रही। क्योंकि तात्या के ससैन्य शरण आने की संभावना घट गई। वह मराठा सेनापति—तात्या टोपे मैंसफील्ड को डाँटते-डपटते अंग्रेजी जाल तोड़कर अपनी तोपों और सेना के साथ पार निकल गया। तात्या को पकड़ना चाहते थे ? सर कोलिन, इस मराठी शेर को पकड़ने में तुझे अभी कई खूनी जाल बिछाने होंगे। यद्यपि इस दिन तात्या टोपे तोपों सहित निकल गया था फिर भी होप ग्रांट् ने हमला किया। ९ दिसंबर को शिवराजपुर के पास तात्या की सेना से उसकी एक भागती भिड़ंत हुई। और उसमें से भी तात्या और सेना भाग गए फिर भी विद्रोहियों की अधिकतर तोगें अंग्रेजों के हाथ लगीं। इस तरह सर कोलिन ने तारीख ६ से ९ तक इन चार दिनों में विंडहम की पराजय का प्रतिशोध लिया। विद्रोहियों की बत्तीस तोपें जप्त कीं और विद्रोहियों की साँकल तोड़कर कुछ को काल्पी की ओर और कुछ को अयोध्या की ओर भगा दिया। इस कठिन विजय के बाद कुछ सरल विजय भी वह क्यों न प्राप्त करे। इसलिए वह ब्रह्मावर्त दौड़ गया। वहाँ का राजमहल उसने खंडहर बना दिया, वहाँ की संपत्ति को लूटा और फिर उस विजय पर झंडा लगाने को ब्रह्मावर्त के विशाल मंदिर तोड़-फोड़कर ध्वस्त कर दिए।

ब्रह्मावर्त के इसी महल में सन् १८५७ के स्वतंत्रता संग्राम का गर्भ संभव हुआ था और ब्रह्मावर्त के इन मंदिरों ने ही इस स्वतंत्रता गर्भ पर आशीर्वचन बरसाए थे। इसी ब्रह्मावर्त में भारतभूमि के देदीप्यमान वीर रत्न नाना, तात्या, बाला साहब, झाँसी की 'छबीली' शिशु से युवा हुए थे। रामगढ़ से धकेला गया मराठों का राज जिस दिन यहाँ अंग्रेजों के रक्त की कीचड़ से पुनः प्रादुर्भूत हुआ, उस दिन इस महल ने और इन देवालयों ने दीपोत्सव किया था।

परंतु आज इस दीपोत्सव की आग से ही वे भस्मीभूत हो गए हैं। लेकिन इतिहास उनकी उस पवित्र भस्म पर एक अश्रु भी मत गिराना ! स्वतंत्रता के तेजस्वी गर्भ को जन्म देते समय उस उदात्त प्रसव वेदना से जो राज मंदिर और देव मंदिर मरते हैं उनकी मृत्यु गुलामों के झुंड पैदा करनेवाले राज मंदिरों और देव मंदिरों के अस्तित्व से हजार गुना अधिक चैतन्यकारी है ! चिंता की अग्नि के उपयोग में आने की अपेक्षा यज्ञ की हवि के उपयोग में लिये जानेवाला कष्ट हजार गुना अधिक चैतन्यदायी होता है।

□

प्रकरण–७

लखनऊ का पतन

तात्या टोपे ने कानपुर की ओर जो भयंकर गड़बड़ मचाई थी उसको इस तरह बाँध देने के बाद सर कोलिन ने विद्रोही प्रदेश को फिर से जीत लेने के लिए कमर कसी। दिल्ली जीत लेने के बाद सीटन अलीगढ़ तक के निचले प्रदेश में शांति स्थापित करता आया था, इसलिए कानपुर से ऊपर अलीगढ़ तक के प्रदेश में शांति स्थापित करने बालपोल को काल्पी के रास्ते भेजा गया। बालपोल कानपुर से ऊपर चढ़ते और सीटन अलीगढ़ से नीचे उतरते हुए मैनपुरी में मिले और ऐसा नक्शा अंग्रेजी सेना के लिए बना कि दोआब का यमुना किनारा पूरी तरह पुनर्जित हो और यमुना तीर से इसके सेना जाते-आते दोआब के गंगा किनारे पर स्वयं सर कोलिन फतेहगढ़ तक चढ़ता चले। इस नक्शे के अनुसार दोआब के विद्रोही हटते-हटते फतेहगढ़ के पास इकट्ठा होने लगेंगे, यह स्पष्ट ही था और इस प्रकार अंत में बालपोल, सीटन और कोलिन अपने-अपने अभियान पूरे कर फतेहगढ़ में मिलेंगे, यह सहज ही होनेवाला था। सन् १८५८ के इस आगामी वर्ष में सामान्य रूप से यह कार्य पूरा करने की अंग्रेजी योजना थी।

इस नक्शे के अनुसार बालपोल तोपखाने सहित सर्वांगपूर्ण गोरी सेना लेकर कानपुर से १७ दिसंबर को काल्पी के रास्ते ऊपर चला। रास्ते में विद्रोहियों की बिखरी सेना से छोटी-छोटी लड़ाइयाँ लड़ते विद्रोहियों को आश्रय देनेवाले गाँवों पर अंग्रेजी रीति से कहर बरपाते और उस प्रदेश को फिर से पूरी तरह ब्रिटिश सत्ता के अधीन लाते हुए वह इटावा शहर तक चलता आया—यहाँ से भी वैसे ही आगे बढ़ गया होता, पर इटावा शहर के सारे विद्रोही वहाँ से चले जाने के बाद भी उसे वहीं पर सेना के साथ ठहरना पड़ा। क्या कारण था? अंग्रेजों की ये बलवान सेना एकदम ठहरकर रह जाए, ऐसा क्यों है? विद्रोहियों के हजारों पैदल तो चलकर नहीं आ

गए? या पांडे लोगों की सेना के चपल घुड़सवारों की टोलियाँ अंग्रेजों पर कहीं हमला तो नहीं कर रहीं। या उनकी गड़गड़ाहट करती तोपें कहीं अंग्रेजों पर जलते अंगारों की वर्षा तो नहीं कर रहीं!

इटावा के पास ऐसा कुछ भी नहीं हो रहा था। पैदल या हजारों घुड़सवारों की टोलियाँ या तोपखाने के अंगार—इनमें से कुछ भी इटावा के पास अंग्रेजों को रोके रखने के लिए इटावा के पास नहीं था। केवल तीस-चालीस भारतीय योद्धा उस पार के एक छोटे भवन में खड़े हैं। उस भवन पर छप्पर है और उसकी दीवारों में गोलीबारी के लिए छेद हैं। इस छोटे से भवन में खड़े लोगों के हाथों में एक-एक मस्केट है और हृदय में एक-एक जलती ज्योति लिये इन तीस-चालीस लोगों ने ही इटावा के दरवाजे में इस अंग्रेजी चतुरंग सेना को रोका हुआ है। उन्होंने इस अंग्रेजी तोपखाने के साथ इटावा तक चली आई अंग्रेजी सेना से रणांगन में 'युद्धं देहि' की माँग प्रस्तुत की है। इटावा के दरवाजे में पैर रखनेवाले को 'युद्धं देहि' की दस्तूरी देनी पड़ती है। 'युद्धं देहि'—प्राणों की चिंता छोड़ भाग जाने के रास्ते खुले होते हुए भी इस भवन में दृढ़ता से खड़े रहकर अंग्रेजों को कहने लगे—'युद्धं देहि'। अब इस बित्ता भर भवन में बैठे इन मुट्ठी भर लोगों से अंग्रेजी घुड़सवार, पैदल, तोपखाना युद्ध भी क्या करे? और थोड़ी राह देखें जिससे यह पागलपन की माँग छोड़कर ये सिरफिरे होश में आएँ और अभी भी पलायन की खुली राह पकड़ें। परंतु कितनी ही राह देखी फिर भी उनका पागलपन सही नहीं हो रहा था। ठीक है—करो युद्ध। केवल उन्हें एक बार तोपखाना दिखाना ही काफी है। यही उनसे युद्ध करके उन्हें पराजित करना हो जाएगा। इसलिए अंग्रेजी सेना ने अपना जबड़ा दिखाकर उन सिरफिरों को डराना चाहा। डर, डर किसे? जिसने एक बार दिव्य स्वतंत्रता के लिए स्वतंत्रता-लक्ष्मी के चैतन्य से सम्मोहित होकर मृत्यु से ही प्रेम किया, मृत्यु का भय छोड़ा, मृत्यु के लिए जो उतावला हो गया—उसे इस विश्व में कौन डरा सकता है? जो जय के लिए लड़ता है वह डरता है, जो कीर्ति के लिए लड़ता है वह डरता है, पर जो मृत्यु के लिए ही लड़ता है उसे कौन डराएगा? शहीद को कौन रोक सकता है। पृथ्वी के सारे अंगारे और आकाश की सारी बिजलियाँ एक साथ आकर उसपर गिरें तो भी जो अपनी प्रिय वस्तु प्राप्त करने के लिए अति तीव्र गति से दौड़ रहा है उसका क्या बिगड़ेगा? जिसने केवल 'मृत्यु' की आशा पकड़ी उसे विश्व में निराशा कैसे शेष रहे? प्रिया की ओर प्रियतम जिस तरह दौड़ता जाता है वैसे वे मृत्यु के लिए दौड़े जाते हैं—ऐसे इन इटावा के देशवीरों को भय कैसा? और वह दिखाए कौन?

और इसलिए उन्होंने पलायन के खुले मार्ग छोड़ दिए। उन्होंने विजय की

कल्पना भी नहीं की। अंग्रेजों की चतुरंग सेना को धिक्कारते हुए ये मुट्ठी भर लोग उस भवन से 'युद्धं देहि' की गर्जना करने लगे। दिल्ली से जो डरी नहीं, कानपुर के रण से डरकर जो रुकी नहीं—वह अंग्रेजी सेना इस बित्ता भर भवन के पास मानो ठोकर खाकर रुक गई।

मैलसन लिखता है—"संख्या से मुट्ठी भर, केवल मस्कट ही पास में, परंतु निराशा के अवसान से अधिक युद्ध का उत्साह उनमें भरा हुआ था। अपने ध्येय के लिए आत्मार्पण करने को वे मृत्यु की लालसा कर रहे थे। बालपोल ने उस स्थान का निरीक्षण किया। कोई सेना वहाँ रुकी रहे ऐसा उसमें कुछ भी नहीं था। उसे हमला कर जीतना बहुत आसान था। परंतु उनपर हमला करने का अर्थ कितने ही मनुष्यों की बल्कि देनी पड़ेगी। इसलिए युक्तियाँ खोजी जा रही थीं। उन सबमें विफलता दिखने पर चारा सुलगाकर उन्हें अंदर ही जला डालने की बात भी सोची गई। परंतु बेकार। उन दीवारों के छेदों में से उन पक्के योद्धाओं ने हमला करनेवालों पर ऐसी निरंतर अचूक मार की कि तीन घंटे तक अंग्रेज उस भवन को स्पर्श न कर सका। अंत में वह स्थान सुरंग लगाकर उड़ा देने का निर्णय किया गया। इंजीनियर लोगों ने सुरंग खोदी और उसे बत्ती दे दी। सुरंग से वह पूरा भवन आकाश में उछला और फिर नीचे गिरा—उसके उछलने और गिरने में उन देशवीरों को वह शहादत का सम्मान मिल गया। जिसकी उन्हें अति उत्कट अभिलाषा थी, वे सारे उसी स्थान पर मर गए।"

उस दिन से कैसे मरा जाए? इस विषय पर इटावा की यह पवित्र समाधि दिन-रात भयंकर मूक व्याख्यान देती रहती है। इटावा! शूर इटावा!! थर्मापिल के पहाड़ में, इटली के ब्रेशा के किले में, नीदरलैंड के ही रूटर के शरीर में तुझसे अधिक तेजोमय क्या होगा? इटावा! शूर इटावा!!

इटावा से बालपोल आ रहा है, और सीटन भी अलीगढ़, कासगंज, मैनपुरी आदि स्थानों पर विद्रोहियों की फुटकर सेना को पीटते नीचे उतर रहा था। इन दोनों सेनाओं की भेंट ३ जनवरी, १८५८ को मैनपुरी में हुई। पहले के कार्यक्रम के अनुसार दोआब का यमुना किनारा अंग्रेजी सेना ने दिल्ली, मेरठ से लेकर इलाहाबाद तक वापस जीत लिया। इधर गंगा किनारे से चढ़ते हुए फतेहगढ़ के नवाब को दंडित कर और दोआब के विद्रोहियों का वह अंतिम आश्रय तोड़-फोड़कर दोआब का सारा प्रदेश शत्रु विहीन करने कानपुर से सर कोलिन भी फतेहगढ़ की ओर बढ़ रहा था। ऐसे दोनों ओर से ऊपर बढ़ रही अंग्रेजी सेना ने अलीगढ़, इटावा, मैनपुरी आदि स्थानों से सारे-के-सारे विद्रोहियों को भगाकर फतेहगढ़ में बंद कर दिया। फतेहगढ़ में फर्रुखाबाद के नवाब ने अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया था, यह

पहले कहा ही गया है। उस नवाब की सेना से अंग्रेजी कमांडर-इन-चीफ की बहुत बार छीना-झपटी हुई। फतेहगढ़ में दिल्ली और कानपुर से पराजित सिपाहियों की संख्या ही अधिक होने से वे लड़ाई शुरू होते ही मृत्यु के डर से भाग जाते। परंतु वह मृत्यु क्या इस अपमान से टलनेवाली थी? सो भी नहीं। वे भागते और अंग्रेज उनका पीछा करते। कभी छह सौ, कभी सात सौ, कभी-कभी हजार तक लोगों को काट डालते। यह इन भगोड़ों का मरना और वह उस इटावा का मरना! जमीन-आसमान का अंतर!

फतेहगढ़ में नाना का एक सच्चा मददगार नादिर खान था, उसे फाँसी पर लटकाने सबके सामने से ले जाया गया। फाँसी पर चढ़ते हुए उसने लोगों को अंतिम उपदेश में कहा—''तुम सभी देशवासियो, अपनी तलवारें म्यान से निकालकर अंग्रेजों की सत्ता को निर्मूल कर देने के लिए आगे बढ़ो।'' इस पराभव का परिणाम फर्रुखाबाद के नवाब को जल्दी ही भुगतना पड़ा। उसकी राजधानी, किले, युद्ध सामग्री सब अंग्रेजों के हाथ लगी और बचे-खुचे विद्रोही उसके साथ रुहेलखंड में गंगा पार भगा दिए गए। ४ जनवरी को जब सर कोलिन फतेहगढ़ में विजयी होकर घुसा उस समय सारा दोआब और बनारस से ऊपर मेरठ तक सारा भूप्रदेश पूरी तरह अंग्रेजी सेना के अधीन हो गया था।

तब यह प्रश्न खड़ा हो गया कि दोआब की विजय के बाद अंग्रेजी सेना का कार्यक्रम क्या हो? दोआब के विद्रोह की ज्वालाएँ ठंडी हो जाने से अन्य प्रदेशों के विद्रोह अपने आप ही शांत हो जाएँगे, यह अंग्रेज सरकार को कुछ समय पहले तक जो आशा थी वह अब पूर्ण रूप से विफल हो गई थी। दिल्ली गिरते ही आठ दिन के अंदर विद्रोह राख हो जाएगा—ऐसी भविष्यवाणी बड़े-बड़े राजकारण कुशल लोगों ने की थी। परंतु वास्तव में दिल्ली पतन से विद्रोह राख तो नहीं हुआ, भविष्य कथन की राख हो गई। क्योंकि दिल्ली में रुका पड़ा सेना समूह उस शहर के गिरते ही किसी उन्मत्त मेघ जैसा गरजते हुए चारों ओर फैल गया—बख्तर खान के अधीन रोहिला सेना, वीरसिंह के नेतृत्व में नीमच की सेना और अपने-अपने सूबेदारों के नेतृत्व में अन्य हारी हुई सेनाएँ अंग्रेजों की शरण जाना छोड़ दिल्ली गिरते ही अपमान के क्रोध में आगबबूला होकर दिल्ली में चूका बदला कहीं दूसरी ओर लेने निकल पड़ीं।[१]

---

१. एक बार दिल्ली में ऐसी अफवाह फैली कि श्रीमंत नाना स्वयं दिल्ली पर हमला करके बादशाह को मुक्त कर ले जाने वाले हैं। यह समाचार सुनते ही दिल्ली के अंग्रेज अधिकारियों ने बादशाह की कैद के मुख्य अधिकारियों को कड़े आदेश दिए कि—''सचमुच नाना की ऐसी कोई गड़बड़ शुरू हो जाए तो वे बादशाह को गोली मार दें।'' —चार्ल्स बाल, खंड २, पृष्ठ ९४

विद्रोहियों को अब हारने की चिंता नहीं थी। विजय की आशा का पहला जोश ठंडा पड़ गया था। अब उनके सीने में निश्चय की परिपक्वता आ गई थी। चाहे कुछ भी हो अंग्रेजों से लड़ते रहने के सिवाय कोई दूसरा विचार उन्होंने अपने पास नहीं आने दिया। या तो फिरंगी मरें या स्वयं मरें। इन दो में से जब तक एक पूरी तरह समाप्त नहीं होता तब तक शस्त्र नीचे नहीं रखने का उनका स्वाभिमानी निश्चय हो गया था। वे आपस में लड़ रहे थे। उनमें से कुछ लोभ वश अनियंत्रित व्यवहार कर रहे थे। कोई-कोई मृत्यु के भय से कभी-कभी भाग रहे थे। पर अंग्रेजों से लड़ाई छोड़ने को उनमें से कोई भी तैयार नहीं था। और या तो फिरंगी या वे स्वयं—किसी एक का पूरा नाश होने तक तलवार नहीं रखने का संकल्प हर विद्रोही के भिंचे हुए दाँत और तनी हुई भृकुटी पर लिखा हुआ यदि स्पष्टता से दिखाई देता था तो वह दोआब की पराजय के बाद। इस समय लड़ाई में पकड़कर फाँसी चढ़ाते हुए अंग्रेज अधिकारियों द्वारा उन विद्रोही सिपाहियों से इस युद्ध के विषय में किए गए प्रश्नों के उत्तर में उन्होंने कहा—"फिरंगियों को मारना ही धर्माज्ञा है! और इसका अंत? सारे फिरंगियों का नाश और सारे सिपाहियों का नाश! आगे जो प्रभु की इच्छा।"[१]

दिल्ली हार जाने से विद्रोहियों की स्वतंत्रता की चेतना घटने की जगह अधिकाधिक सुलगती गई और दिल्ली का प्रतिशोध लेने वे लखनऊ और बरेली—इन शहरों की ओर लड़ते निकले। क्योंकि दोआब जीतने के बाद रुहेलखंड और अयोध्या, ये दो प्रदेश अभी भी विद्रोहियों के कब्जे में थे और वहाँ उनके राजसिंहासन क्रियाशील थे। इसलिए अंग्रेजी सेना का मुख्य प्रश्न इन दोनों प्रदेशों को जीतने का था। इस प्रश्न का उत्तर सर कोलिन ने यह दिया कि पहले रुहेलखंड जीता जाए और फिर लखनऊ का समाचार लिया जाए। लॉर्ड केनिंग का आग्रह यह था कि पहले लखनऊ का बड़ा केंद्र ध्वस्त किया जाए जिससे विद्रोहियों के दूसरे छोटे-छोटे शहर अपने आप शरण में आ जाएँगे। लॉर्ड केनिंग के आदेशों के अनुसार चलना बाध्य होने के कारण कमांडर-इन-चीफ सर कोलिन ने पहले लखनऊ पतन करने का निश्चय पक्का किया। फतेहगढ़ में सीटन एवं बालपोल और कोलिन की पिछली योजनानुसार इकट्ठी हुई सेना की संख्या कुल दस-ग्यारह हजार तक थी। दोआब में मुख्य स्थानों पर संरक्षण के लिए थोड़ी-थोड़ी अंग्रेजी सेना रखकर और आगरा से आई नई कुमुक के साथ सर कोलिन कानपुर से आई हुई विशाल सेना लेकर लखनऊ की ओर चल पड़ा।

---

१. चार्ल्स बाल कृत—'इंडियन म्युटिनी', खंड २, पृष्ठ २४२।

इस समय की अंग्रेजी सेना का वर्णन अंग्रेजी ग्रंथकार इस तरह करते हैं— ''उन्नाव और बुन्नी के बीच विशाल रेतीले मैदान में उस समय जो अंग्रेजी सेना उतरी थी वैसी अंग्रेजी सेना हिंदुस्थान के मैदान में पहले कदाचित् ही जमा हुई होगी। इंजीनियर, तोपखाना, घोड़े, पैदल, रसद की गाड़ियाँ, सेवक लोग यह अपूर्व अंग्रेजी सेना सर्वांग सज्जित थी। उसमें सत्रह बटालियन पैदल थीं जिनमें पंद्रह गोरी थीं। अट्ठाईस स्क्वाड्रन घुड़सवारों की थी जिनमें चार गोरी रेजिमेंट थीं। चौवन हलकी तोपें और अस्सी भारी तोपें थीं।'' उन्मत्त अयोध्या को पदनत करने के लिए फरवरी की २३ तारीख को कानपुर छोड़कर अपनी इस सबल सेना के साथ सर कोलिन कैंपवेल फिर से एक बार गंगा उतरने लगा।

अयोध्या को पदनत करने के लिए, हे गंगा! यह कितनी आंग्ल सेना तुम्हारे किनारे उतरी है? और हे मानिनी अयोध्या, अब इस सेना से डरकर तू पदनत होने वाली है या नहीं?

सर कोलिन रास्ते के हिंदू मंदिरों को बारूद से उड़ाते हुए आगे आ रहा है इसकी पूरी जानकारी अयोध्या शहर को थी। परंतु अपने को पदनत करने के लिए अंग्रेजी सेना गंगा पार हो रही है यह उस मानिनी अयोध्या को विशेष बुरा नहीं लग रहा था। उसे जो दुःख था, जिस दिशा की ओर देखकर वह जार-जार आँसू बहाने लगी थी और पराजय की मृत्यु की छाया उसके अभिमानी चेहरे पर जिधर से पड़ रही थी, वहाँ से कोई अंग्रेजी सेना नहीं चली आ रही थी, वहाँ से तो जंगबहादुर की नेपाली सेना आक्रमण करती आ रही थी। अंग्रेजी सेना को अपने पर आक्रमण के लिए आते देख दुःखी हो—अयोध्या ऐसी कायर होती तो उसने रण-मैदान में यह भैरव रूप धारण ही न किया होता। अंग्रेजी सत्ता को केश पकड़कर पीटते हुए जिस दिन अयोध्या ने अपने घर से भगाया उसी दिन उसे साफ मालूम था कि उस अंग्रेजी सत्ता के समर्थन में कोई और अंग्रेजी सेना उसपर आक्रमण करेगी। और उस आगामी रण के लिए वह अपनी हजार भुजाओं से सशस्त्र होकर रण में उतरी थी। परंतु अयोध्या को जो अब तक ज्ञात नहीं था वह यह कि जंगबहादुर की नेपाली सेना भी उसपर आक्रमण करेगी। उसे यह ज्ञात था कि मेरे शत्रु अंग्रेज मुझपर तलवार चलाएँगे, परंतु उसे यह ज्ञात नहीं था कि उसके मित्र, उसके सहोदर भी उसपर कुल्हाड़ी से वार करेंगे। वह अंग्रेजों से कुश्ती लड़ने को तो तैयार थी, परंतु हिंदुस्थान के एक स्वकीय से भी हिंदुस्थान की स्वतंत्रता के लिए जूझना पड़ेगा, यह उसे ज्ञात नहीं था। इस उदाहरण का आविष्करण करने के लिए जब जंगबहादुर अपनी नेपाली सेना सहित उसपर आक्रमण करने आया तब ऐन समय पर विश्वासघात के कारण स्वजन परित्यक्त अयोध्या जंगबहादुर की ओर देख देखकर जार-जार

आँसू बहाने लगी।

क्योंकि दोआब की विशाल अंग्रेजी सेना इकट्‌ठी कर उसके साथ जब सर कोलिन गंगा पार करके लखनऊ की ओर चलने लगा, उसी समय पूर्व दिशा से अपनी नेपाली सेना सहित जंगबहादुर भी अंग्रेजी सेना की सहायता के लिए उधर आ रहा था। अंग्रेज उसके मित्र और हिंदुस्थानी शत्रु! कारतूसों को गाय की चरबी लगानेवाले उसके मित्र और उस चरबी को मुँह लगाने से मना करनेवाले हिंदुस्थानी उसके शत्रु! ऐसा यह अद्वितीय कुलकलंकी जंगबहादुर हिंदुस्थान में युद्ध प्रारंभ हो गया है यह सुनते ही अंग्रेजों से मिल गया था। सन् १८५७ के थोड़े ही पहले वह विलायत गया था और अंग्रेजी ग्रंथकार कहते हैं कि 'उसने इंग्लैंड का वैभव देखा इसलिए वह विद्रोह में सम्मिलित होने से डरा।' इंग्लैंड का वैभव क्या वास्तव में इतना भारी था? इंग्लैंड का वैभव जैसे जंगबहादुर ने प्रत्यक्ष देखा था वैसे ही नाना के अजीमुल्ला और सातारा के रंगो बापूजी ने भी देखा था। परंतु उस वैभव का उनपर क्या परिणाम हुआ और कैसे वे उस वैभव के हर चिह्न के पीछे क्रांतियुद्ध के लिए नई शपथ लेते गए, यह इतिहास कह ही रहा है। अत: इंग्लैंड के वैभव में नया कुछ नहीं था। जो विशेष था वह देखनेवाले के दृष्टिकोण में था। वह आंग्ल वैभव देखकर उनका देशाभिमान चेत गया और उन्होंने सोचा कि मेरी मातृभूमि भी स्वतंत्रता के तिलक से मंडित हो जाए तो क्या बहार होगी। देशद्रोही को बेचैनी हुई कि यदि मैं इस वैभव की गुलामी अपनी माँ पर लाद दूँ तो मुझे दो टुकड़े अधिक मिलेंगे।

दो टुकड़े स्वयं को अधिक मिलें इसलिए अपनी मातृभूमि को गुलाम बनाने तैयार खड़े जंगबहादुर ने अपनी नेपाली सेना अंग्रेजों को सौंप दी।

काठमांडू से तीन हजार गोरखा लोग अयोध्या के पूर्वी भाग—आजमगढ़ और जौनपुर में अगस्त १८५७ से आकर रुके हुए थे। उनसे लड़ने को विद्रोहियों का नेता गोरखपुर का मोहम्मद हुसैन तलवार लिये खड़ा था। इस समय दोआब की लड़ाई के कारण अंग्रेजी सेना की बड़ी खींचातानी हो गई थी और इस कारण बेणीमाधव, मोहम्मद हुसैन, राजा इरादत खान आदि योद्धाओं ने बनारस के आसपास का, अयोध्या के पूर्व की ओर का प्रांत पूरी तरह कब्जे में ले लिया था। उस प्रांत में अंग्रेजी सेना के अन्य स्थानों से खाली होने के पहले ही नेपाली सेना ने बड़ी वीरता से विद्रोहियों को अयोध्या की ओर धकेल दिया था। कुछ दिन बाद जंगबहादुर से अंग्रेज सरकार का निश्चित करार हो गया और उस प्रदेश में तीन सेनाएँ तैयार की गईं। २३ दिसंबर को स्वयं जंगबहादुर नेपाल से चलकर अंग्रेजों से आ मिला। कुल मिलाकर नौ हजार गोरखा लोगों की चुनी हुई सेना उसके साथ थी। उस सेना ने

अंग्रेजों के फ्रैंक रोक्राफ्ट की सेना के साथ बनारस के उत्तर और अयोध्या के पूर्व का सारा प्रांत जीतने में सफलता प्राप्त की। अंग्रेजों और गोरखों की इस सबल और संगठित सेना लड़ाई के बाद लड़ाई कर उस प्रांत के विद्रोहियों को पीछे-पीछे हटाती हुई फरवरी की २५ तारीख को अयोध्या में आ घुसी।

घाघरा नदी पार कर अंबरपुर में यह अंग्रेजी और नेपाली सेना आ पहुँची। उस रास्ते में एक मजबूत किला ऐसे महत्त्वपूर्ण स्थान पर घनी झाड़ियों में खड़ा था कि उसे विद्रोहियों से जीते बिना अंग्रेजी सेना आगे जा ही नहीं सकती थी। इसलिए नेपाली सेना ने उसपर आक्रमण किया। किला लड़ने लगा। उस सर्वांगपूर्ण सेना से वह किला लड़ने लगा और उस किले को इस तरह लड़ानेवाले क्रांतिवीरों की संख्या कितनी थी? चौंतीस! चौंतीस लोग स्वतंत्रता की स्फूर्ति में मस्त होकर अपने देश के शत्रुओं से वह किला लड़ा रहे थे। नेपाली सेना ने जबरदस्त आक्रमण किया तो उन चौंतीस देशवीरों ने उसका जबरदस्त सामना किया। क्योंकि चौंतीस लोग शत्रु के हजारों सैनिकों से युद्ध करें—ऐसा दिव्य समर इस जड़ पृथ्वी पर किसी भी काल में होना नहीं है। ''उन चौंतीसों ने देश की इज्जत और धर्म की रक्षा के लिए वह किला ऐसी वीरता से लड़ाया कि शत्रु के सात योद्धा मर गए और बयालीस घायल हो गए। ऐसा किला लड़ाया कि उन चौंतीस में से तैंतीस मर गए तब भी वह किला लड़ता ही रहा। और जब वह चौंतीसवाँ अपने स्थान से न हटकर धारातीर्थ में गिर गया तब ही वे शत्रु उस किले में जा सके।[१]'' जैसी दिल्ली नहीं लड़ी, जैसा लखनऊ नहीं लड़ा ऐसा वह अंबरपुर का किला लड़ा।

अंबरपुर का किला जीतने के बाद गोरखों और अंग्रेजों की संयुक्त सेना वहाँ के प्रदेश जीतते हुए आगे बढ़ी। उसीके पीछे-पीछे जनरल फ्रैंक भी सुलतानपुर के नाजिम मेहँदी हुसैन और उनके कमांडर बंदा हुसैन से बदायूँ और सुलतानपुर आदि स्थानों पर लड़ाइयाँ लड़ता ऊपर चढ़ रहा था। अयोध्या के पूर्व भाग के इस प्रदेश में विद्रोहियों ने आज तक जो शासन सँभाला था उसे उपरोक्त जनरल फ्रैंक द्वारा हथिया लेने पर उसे फिर से प्राप्त करने लखनऊ की पूर्व रियासत के तोपखाने के प्रसिद्ध अधिकारी मिर्जा गफूर बेग को लखनऊ दरबार ने भेजा। उसकी सेना के सुलतानपुर की जंगी लड़ाई में २३ फरवरी को पराजित हो जाने के बाद जनरल फ्रैंक पूरी तरह सफल हो गया।

पर सर कोलिन से मिलने के पूर्व देदार के किले पर उसने घेरा डाला। उस किले के वीर लोगों द्वारा तोपें छिन जाने के बाद भी शत्रु से लड़ाई जारी रखने से

---

१. मैलसन कृत—'इंडियन म्युटिनी', खंड ४, पृष्ठ २२७।

अंग्रेजी सेना को लेकर फ्रैंक को पीछे हटना पड़ा। वास्तव में देखा जाए तो फ्रैंक ने इतनी लड़ाइयाँ जीती थीं कि एक आकस्मिक और छोटी पराजय से उसकी कुछ भी हानि होनेवाली नहीं थी। फिर भी उस समय अंग्रेजी अनुशासन और जवाबदारी इतनी कड़ी थी कि फ्रैंक की अनेक जीतों के बाद भी उसकी एक हार का समाचार मिलते ही सर कोलिन ने महत्त्वपूर्ण पदोन्नति के लिए लिखा उसका नाम काट दिया।

इस तरह लखनऊ शहर पर आक्रमण करने बढ़ रही अलग-अलग सेनाएँ एक-दूसरे के एकदम पास आने लगीं। कानपुर से निकली सर कोलिन की प्रचंड सेना उधर पश्चिम से बढ़ रही थी तो फ्रैंक और जंगबहादुर की सेना पूर्व की ओर से ऊपर चढ़ रही थी। ११ मार्च के पहले ये सारी सेनाएँ इकट्ठा हो गईं और उस पापी शहर की गरदन काटने के लिए उनकी तलवारें उतावली हो गई थीं। पापी! नहीं! नहीं! केवल अभागा लखनऊ—उसके गले पर ये अपनों और परायों की तलवारें सपासप चलने को उतावली हैं तो फिर उसके प्रतिकार के लिए भी कुछ व्यवस्था हो रही है या नहीं? कानपुर की ओर तात्या क्या गड़बड़ कर रहा है यह देखने सर कोलिन जब पिछले नवंबर में गया था तब से इस मार्च तक इस लखनऊ की सुरक्षा और उसके शत्रु के विनाश के लिए उसके निरंतर प्रयास चल रहे थे। आज तक कितनी ही बार नाना साहब की कानपुर में बार-बार हार और अखंड समर ने उसका अप्रत्यक्ष संरक्षण किया था। अंग्रेजी सेना लखनऊ की ओर बदला लेने के लिए गंगा पार होने लगती कि नाना कानपुर की ओर उसपर दबाव बनाकर उसे फिर दोआब में खींच लेते। ऐसा उत्तम पेच नाना ने डाला था फिर भी लखनऊ उसका वैसा लाभ नहीं ले पाया जैसा लेना चाहिए था।

लखनऊ में शान से लहराते स्वतंत्रता के झंडे की रक्षा के लिए राजा से रंक तक हर कोई हथेली पर जान लिये लड़ रहा था। उसमें कितने ही जमींदार और राजा भी थे। लखनऊ के जमींदार केवल अंग्रेजों द्वारा लादी गई लगान पद्धति से असंतुष्ट होकर नहीं उठे थे; वे तो स्वदेश को पापी फिरंगियों के स्पर्श से ही क्रोधित थे। यह केवल मेरा विचार हो ऐसा नहीं है, यह विचार उस समय के गवर्नर जनरल केनिंग का भी था जो निम्न उद्धरण से सहज ज्ञात हो जाएगा।

''अयोध्या के राजा और जमींदार केवल अपनी नई लगान पद्धति से दुःखी हुए हैं ऐसा कदाचित् आपको लगेगा। परंतु मेरी दृष्टि से इसमें दूसरी भी एक बात विचार करने के योग्य है। चंदा, वैजा और गोंडा के राजा ने जो कड़वा वैर हमसे पाला है वैसा वैर हमारे किसी भी दूसरे अधीन या मांडलीक ने न पाला होगा। चंदा के राजा का एक भी गाँव हमने नहीं लिया। बल्कि हमने उसका लगान भी कम

किया था। वैजा के राजा के प्रति भी हमने बहुत उदारता बरती थी। गोंडा के राजा के चार सौ गाँवों में से केवल तीन हमने लिये और उसके बदले में दस हजार रुपए लगान कम किया था।

"राज्यकर्ताओं में परिवर्तन हो जाने से जितना किसीका न हुआ होगा उतना लाभ नौपारा के युवा राजा का हुआ। अंग्रेजी शासन चालू होते ही हमने उसे एक हजार गाँव दिए और सारे उत्तराधिकारियों को दूर कर उसकी माँ को हमने उसका अभिभावक नियुक्त किया। परंतु बिलकुल आरंभ से उसकी सेना लखनऊ में हमसे लड़ रही है। दुरा के राजा का भी इस सत्ता संक्रमण से लाभ हुआ था, परंतु उसके सैनिकों ने कैप्टन हुसे पर हमला करके, उसकी पत्नी को पकड़कर लखनऊ के कारागार में भेज दिया।

"तालुकेदार अशरफ बख्श खान, जिसे पहले के राजा ने बहुत त्रास दिया था उसे हमने उसकी मालगुजारी का पूरा स्वामित्व दे दिया। पर पहले सा ही वह हमसे गहरा वैर करने लगा। इससे और दूसरे अनेक उदाहरणों से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि जो राजा और जमींदार हमारे विरुद्ध हुए हैं वे हमारे शासन के कारण व्यक्तिगत हानि से बिलकुल नहीं हैं।"[१]

इसीलिए अंग्रेजी इतिहासकार होम्स ने ईमानदारी से स्वीकार किया है कि "जिन राजाओं और जमींदारों ने इस स्वतंत्रता संग्राम का प्रारंभ कर उसे लड़ा वे लोग व्यक्तिगत स्वार्थ की अपेक्षा उदात्त ध्येय से प्रेरित हो गए थे। ऐसे कितने ही राजा और जागीरदार थे, जिन्हें सचमुच बुरा लगने के लिए कोई विशेष दुःख का कारण नहीं था, पर वे भी हमारी राज्यसत्ता के कानून के विरुद्ध फड़फड़ा रहे थे। हमारी राजपद्धति ही उन्हें इस चुभने वाले सत्य की स्मृति दिलाती रहती थी कि हम हारे हुए राष्ट्र हैं।"[२]

पर इन सबमें प्रमुख वह फैजाबाद का देशभक्त, वीरपुरुष अहमदशाह मौलवी कहाँ है? क्रांतियुद्ध की जलती ज्योति हाथ में लेकर जब वह सारे हिंदुस्थान में आग लगाए जा रहा था तब लखनऊ के अंग्रेज अधिकारियों ने पकड़कर उसे फाँसी का दंड दिया था, उस दंड पर कार्यवाही होने के पूर्व उसे फैजाबाद के कारावास में ले जाया गया और इस विदेशी कारावास की कोठरी में से उठाकर उसे सन् १८५७ की आँधी ने स्वराज्य सिंहासन की सीढ़ी पर खड़ा कर दिया। वह देशवीर अहमदशाह मौलवी अपने देश की स्वतंत्रता और अपने धर्म की स्थापना के

---

१. सर जेम्स आउट्रम के पत्र का लॉर्ड केनिंग द्वारा दिया गया उत्तर।

२. होम्स लिखित—'सेपॉय वार'।

लिए रण-मैदान में रँग गया था। जैसा वह समरांगन में शस्त्रयोद्धा था वैसा ही सभांगन में वाक्योद्धा भी था। सभांगन में अपने वाक् शौर्य से वह हजारों देशबंधुओं को मंत्रबद्ध करता और रणांगन में हजारों देशबंधुओं के साथ शस्त्रयुद्ध से शत्रुओं को पाशबद्ध करता था। आलमबाग में चार हजार सेना और तोपों के साथ आउट्रम बैठा था और तात्या टोपे के पेच के कारण सर कोलिन कानपुर में बँधा हुआ था तब लखनऊ इस अवसर पर क्यों न अपने शत्रु को रण से भगा देने के लिए जोर का प्रयास करे, इसलिए मौलवी ने अपने लोगों को उत्तेजित, संगठित और एकीकृत करने के लिए रात-दिन प्रयास किए। अयोध्या की बेगम दरबार में मुख्य राजसत्ताधारी होने से उसके कर्तृत्व से उस लखनऊ शहर में इकट्ठा हजारों भिन्न-भिन्न राजा-महाराजाओं का एकीभवन और संगठित होना जब स्पष्टतया कठिन दिखने लगा, जब अंग्रेजों की मुट्ठी भर सेना को जोरदार हमला कर नष्ट करने के अनंत शुभ प्रसंग लखनऊ की आंतरिक अराजकता और ढील के कारण व्यर्थ गए और जब दिल्ली गिर जाने, कानपुर हारने और फतेहगढ़ हाथ से जाने से उन प्रदेशों के हजारों क्रांतिवीर लखनऊ में आकर अधिक उत्तेजित होने की जगह पहले की अराजकता में अधिक उद्धतता को जोड़ने लगे और अब जबकि विजय से फूले और अगणित सैनिकों से हजार गुना सबल बने अंग्रेजों का अंतिम अनिवार्य हमला निकट आ गया है, हर क्षण ऐसी अति आशंका दिखने लगी, तब इस देशाभिमानी मौलवी ने लखनऊ के दरबार में अपने वाक् तेज से, अपनी बेझिझक करारी टीका से, अपने अप्रतिम कर्तव्य बल से कितने ही अपनों के हृदय जाग्रत कर दिए।

अभी भी एक दिल और अप्रतिहत बल से प्रयास करें तो अंग्रेजों को रणक्षेत्र में पीटना संभव है, यह उसने लखनऊ की राजसभा में आवेश से प्रतिपादित किया; परंतु उसके उस तेज से उत्तेजित न होकर उस राजसभा के कर्तृत्वशून्य और दीपक से डरे लोग और अधिक जलने लगे और कुछ ही दिनों में उस मौलवी को उन्होंने कारागृह में बंद कर दिया। परंतु बेगम से अधिक इस मौलवी का प्रभाव सिपाहियों पर था और उसमें भी दिल्ली की ओर से आई सेना का तो इस मौलवी पर बहुत विश्वास था, इसलिए उसे कारा से तुरंत मुक्त करने के लिए उन्होंने जोर लगाया और उसके कारण मौलवी फिर कारामुक्त हुआ। मुक्त होते ही उसका राजदरबार में पूर्ण प्रभाव हुआ और यह आपस के भेदभाव से झगड़ते रहने का अति नाशकारी व्यसन तोड़कर दरवाजे पर थपकी देते बैठे शत्रु का खात्मा करने सब लोग युद्ध के लिए तैयार हो जाएँ—यह आवेश उसने फिर से सेना में उत्पन्न किया।

केवल आवेश उत्पन्न कर ही यह योद्धा खाली बैठा नहीं रहा, उसने समय-समय पर सिपाहियों को रण-मैदान में जाने को प्रवृत्त किया और जब-जब आलमबाग

के अंग्रेजों पर हिंदुस्थानियों ने आक्रमण किया तब-तब सबसे आगे मौलवी की दिव्य मूर्ति झलकती थी। २२ दिसंबर को उसने आलमबाग के अंग्रेजों को धोखे में रख उनकी सेना को पूरी तरह बाँधने की एक उत्कृष्ट व्यूह रचना की थी। स्वयं अपनी सेना के साथ अंग्रेजों को भुलावा देकर कानपुर के रास्ते पर बढ़ लिया और उसने दूसरे सैनिकों से कहा कि हमारे अंग्रेजों की पिछाड़ी पहुँचते ही वे सामने से मार लगाएँ। यह बेजोड़ चाल थी। पर 'दूसरे'! यहीं तो सबकुछ बाधक है। उस एक आत्मा के तेज को प्रत्युसाह देना तो दूर, कम-से-कम उसका आवश्यक अनुगमन करने का अनुशासन भी दूसरों में नहीं दिखा। हर कोई अपने को सयाना समझता! और रणक्षेत्र में पहली गोली चलते ही सब सामना करना छोड़कर उस ओर पीठ फेरनेवाले। अन्यों के ऐसे भय और अव्यवस्था के कारण मौलवी के स्वयं का काम उत्तम रीति से करने पर भी उस दिन विद्रोही रणांगन में पराजित हुए।

फिर भी उनके हतोत्साह को उत्साह का तेज देने के लिए मौलवी और उसके जैसे ही अन्य तेजस्वी नेता अतिशय प्रयास करते रहे। १५ जनवरी को विद्रोहियों को समाचार मिला कि आलमबाग की अंग्रेजी सेना को मदद और रसद पहुँचाने के लिए कानपुर से कुछ अंग्रेज लोग आ रहे हैं। यह वार्त्ता समझते ही वह रसद छीनने के लिए विद्रोहियों में बातचीत चली। बातचीत! पर कोई रास्ता न निकले और न कोई योजना बने। अंत में उन विद्रोहियों के अनिश्चय से चिढ़कर उस अभिजात मौलवी ने सबके सामने शपथ ली कि 'मैं स्वयं यह रसद छीनकर अंग्रेजी शिविर से लखनऊ में प्रवेश करूँगा।' ऐसी घोर प्रतिज्ञा कर यह साहसी अपने लोगों के साथ कानपुर के रास्ते पर लुके-छिपे बढ़ गया। परंतु इस हमले का समाचार आउट्रम को पहले ही नेटिव दूत से मिल जाने पर उसने मौलवी की सेना पर उलटा हमला करने को अंग्रेजी सेना भेज दी। इस परस्पर हमले का जल्दी ही सामना हुआ। मौलवी ने उस दिन अपने अनुयायियों को वीरश्री चढ़ाने के लिए स्वयं भयंकर युद्ध किया। वह जैसे राजनीति में चमकता था वैसे ही रणनीति में भी चमकने लगा। बेसुध लड़ते-लड़ते इस वीरपुरुष को एक गोली हाथ में लगी और वह नीचे गिरा। इस मौलवी को पकड़ने के लिए अंग्रेजों में स्पर्धा लगी थी फिर भी विद्रोही उसे डोली में डालकर बड़ी चतुराई से लखनऊ ले आए।

मौलवी के घायल हो जाने का समाचार सुनते ही एक विद्रोही हनुमान नामक शूर ब्राह्मण नेता ने एक दिन का भी विश्राम न लेकर १७ को अंग्रेजों पर हमला किया। प्रात: दस बजे से संध्या तक यह शूर पुरुष रणांगन में लड़ता रहा। पर अंत में उसके अत्यंत घायल होकर गिरते ही विद्रोही रण छोड़कर भागने लगे। इधर दरबार में इस हार के कारण आपसी शत्रुता सिर चढ़ गई। कुकर्मी सिपाहियों ने

लड़ने के पहले ही पैसा माँगा, अग्रिम वेतन मिलने पर भी फिर से वेतन लिये बिना वे लड़ना नहीं चाहते थे। पर ऐसे अंधेर में उस तेजस्वी और कर्तृत्ववान बेगम ने राजव्यवस्था का अनुशासन उत्तम बनाए रखा था और यही उसके असामान्य मनोधैर्य का प्रमाण था।[१] पराजय की एक के बाद एक कड़ी जुड़ती जा रही थी तभी बेगम का अर्थमंत्री राजा बालकृष्ण सिंह मर गया। परंतु ऐसी असंख्य आपत्तियों से वह परास्त नहीं हुई। क्योंकि जिसे अंग्रेज का दरवाजे पर खड़ा रहना भी मृत्यु से अधिक लज्जाजनक लगता था वह फिर रण-मैदान में कूद पड़ता और इस कूदने में उसकी कूद भी सबके आगे रहती—ऐसा वीरपुत्र और कोई न होकर मौलवी अहमदशाह ही था। रणांगन में हुआ असह्य घाव अच्छा होते-न-होते उसने ५ फरवरी को फिर सारी सेना लेकर रण की ओर दौड़ लगाई। मौलवी का सारा श्रम व्यर्थ होकर उस दिन भी विद्रोहियों का फिर से पराभव हो गया। फिर भी मौलवी ने लड़ाई जारी रखी। इस वीर की शूरता से चकित होकर इतिहासकार होम्स अपनी पुस्तक में लिखता है—"यद्यपि बहुसंख्या में विद्रोही डरपोक और हिम्मत हारनेवाले थे फिर भी उनका नेता अपनी निष्ठा से और कर्तृत्व से उदात्त ध्येय का पीछा करनेवाला और सेना का नेतृत्व स्वीकारने योग्य था। यह नेता अर्थात् अहमदुल्ला—फैजाबाद का मौलवी।"[२]

---

१. सर डब्ल्यू रसेल ने इस बेगम के संबंध में कहा—"सिपाही सेना का प्रचंड भाग लखनऊ में ही है, ऐसा समझा जाता है; किंतु वे उस वीरता सहित नहीं लड़ेंगे जिस वीरता सहित अवध के रक्षक संग्राम करेंगे, जिन्होंने अपने युवा सम्राट् ब्रिजिश कादिर के हितों को अक्षुण्ण रखने के लिए अपने प्रमुखों का अनुगमन किया है। और इनके संबंध में निश्चित रूप से ही यह कहा जा सकता है कि वे देशभक्ति के युद्ध में लिप्त हैं, जिसे वे अपने देश और सम्राट् के लिए लड़ रहे हैं। रेजीडेंसी के घेरे में भी सिपाहियों ने खुलकर रणभूमि में ऐसा युद्ध कभी नहीं किया जैसी निर्भीकता सहित जमींदारों और उनके प्रजाजनों ने किया। बेगम ने तो अपनी महान् शक्ति और योग्यता का जो परिचय दिया है, उसने संपूर्ण अवध को ही अपने पुत्र के पक्ष में उठाकर खड़ा कर दिया और सरदार तथा सामंत भी उसके प्रति पूर्णत: निष्ठावान थे। हम तो उनके पुत्र के वैध अधिकारी होने में अविश्वास व्यक्त कर सकते हैं; किंतु जमींदार जो वास्तव में इस प्रश्न पर सही निर्णायक कहे जा सकते हैं, वे निस्संकोच ही ब्रिजिश कादिर को उत्तराधिकारी स्वीकार करते थे। सरकार इन लोगों से विद्रोहियों जैसा व्यवहार करेगी अथवा संभावित शत्रुओं के समान। बेगम ने हमारे विरुद्ध अखंड युद्ध की घोषणा की है। इन रानियों और बेगमों के शक्तिपूरित चरित्र से ऐसा प्रतीत होता है कि इन्हें अपने रनिवासों और हरमों में प्रचुर मानसिक शक्ति प्राप्त होती थी और वे किसी भी स्थिति में योग्य पग उठाने में समर्थ थीं।"
—'रसेल की डायरी', पृष्ठ २७५

२. होम्स कृत—'सेपॉय वार'।

६०वीं रेजिमेंट के एक सूबेदार ने आठ दिन में अंग्रेजों को भगा देने की प्रतिज्ञा की और उसने भी फिर से हमले किए। एक दिन स्वयं बेगम साहिबा भी सेना के साथ बाहर निकलीं। परंतु उस अभागे लखनऊ को विजय नहीं मिली। विजय मिले तो कैसे? विजय पुरुषार्थी की दास है। वह पुरुषार्थ विद्रोहियों ने लखनऊ के युद्ध में दिखाया होता तो विजय दूर नहीं थी।

पहले लिखे अनुसार अंत में सर कोलिन आलमबाग की अंग्रेजी सेना से आकर मिला। लखनऊ शहर को परास्त करने आज एक वर्ष से अंग्रेजी सत्ता प्रयासरत थी। तथापि उसके अनेक आक्रमणों की परवाह न कर यह शहर आज तक स्वराज्य के झंडे तले दृढ़ता से खड़ा था। परंतु अब उसे परास्त किए बिना अंग्रेजी सेना वापस नहीं लौटेगी। इस समरांगन में अब या तो अंग्रेजी सत्ता परास्त होगी य. भारतीय सत्ता। ऐसी अंतिम वेला आ गई है। अंग्रेजी सत्ता ने जैसे अपनी सारी शक्ति इस समय एकत्रित की थी वैसे ही विद्रोहियों की भी सारी शक्ति एकत्रित हुई थी। जगह-जगह से स्वतंत्रता भक्त लखनऊ के ध्वज की ओर आ रहे थे। चार्ल्स बाल ने 'इंडियन म्युटिनी', खंड २ के पृष्ठ २४१ पर लिखा है—''मधुमक्खियों के समान प्रदेश भर से हजारों आवारा लोगों और स्वयंसेवकों के झुंड-के-झुंड सशस्त्र होकर फिरंगियों से होनेवाले अंतिम संघर्ष में भाग लेने तथा मरने के लिए अपने सेनापति के पास एकत्रित हो रहे थे।'' उन्होंने लखनऊ शहर के घर-घर में गोलीबारी करने को छेद बनाकर रखे थे। गोमती की बड़ी-बड़ी नहरें खोदकर शहर के पूर्वी भाग में मजबूती लाई, दिलखुश बाग से केसर बाग के राजमहल तक संरक्षण के लिए बड़ी-बड़ी दीवारें बाँधीं! उस शहर में अयोध्या और अन्य प्रदेशों के विद्रोही मिलकर कोई अस्सी हजार योद्धा सशस्त्र तैयार थे। सारांश यह कि उस शहर के उत्तर में छोड़कर सब दिशाओं से जंगी लश्करी तैयारी की हुई थी।

इसीलिए सर कोलिन ने इस उत्तर दिशा की ओर से ही विद्रोहियों पर पहले-पहल हमला किया। पहले हैवलॉक, आउट्रम और स्वयं कोलिन कोई भी इस दिशा से न आया इस कारण और उसी दिशा में गोमती नदी बहने से विद्रोहियों की ऐसी कल्पना थी कि शहर की उत्तर दिशा में कोई विशेष प्रबंध आवश्यक नहीं है। परंतु सर कोलिन ने आउट्रम को उसी दिशा की ओर भेजकर जब विद्रोहियों के मर्म स्थान पर एकाएक हमला किया तब उनकी पहले की सारी योजना ढहने लगी। सर कोलिन के अधीन अब कुल तीस हजार तैयार सेना थी।[१] अतः उसने दिलखुश बाग में अपना डेरा लगा विद्रोहियों से शहर का पूर्वी भाग जीत लिया। ६ मार्च को

---

१. 'नैरेटिव ऑफ दि म्युटिनी', पृष्ठ ४०८।

अंग्रेजी सेना ने लखनऊ पर उत्तर और पूर्व की ओर से घेरा कसना शुरू किया। सर कोलिन की व्यूह रचना ऐसी थी कि विद्रोहियों के चारों ओर से पूरी नाकेबंदी करते हुए उन्हें लखनऊ से भागना असंभव कर दे। ६ से १५ मार्च तक तो लखनऊ अपने शत्रु से दिन-रात जूझता रहा। अंग्रेजी सेना दिलखुश बाग से कदम रसूल, शाहनजीफ, बेगम कोठी आदि स्थान पर कब्जा करते आगे बढ़ती रही। तारीख १० को अंग्रेजी योद्धा हड्सन को विद्रोहियों ने मार गिराया। इस हड्सन ने ही दिल्ली के आत्मसमर्पित राजपुत्रों की गोली मारकर हत्या की थी। लखनऊ ने उस पापी अधम को मारकर दिल्ली का बदला लिया। तारीख १४ को लखनऊ के राजमहल में अंग्रेजी सेना घुसी। इस संपूर्ण सफलता का वर्णन करते मैलसन लिखता है—"इस यश की उपलब्धि का मुख्य कारण सिख सैनिक तथा १०वीं पलटन ही थी।"[१]

पर सर कोलिन के मन पर केसर बाग की इस सफलता का आनंद उछल रहा था तभी आउट्रम की ओर से प्राप्त समाचार से निराशा हुई। क्योंकि लखनऊ शहर की यद्यपि हार हुई फिर भी हजारों विद्रोही अपने युवा राजपुत्र और उस अकुंठित बेगम के साथ अंग्रेजों के प्रतिशोध को विफल करते हुए लड़ते-लड़ते बाहर निकल गए।

लखनऊ शहर में रक्त की मूसलाधार बरसात में और राजमहल सहित सभी स्थानों पर विजयी अंग्रेजी विशाल सेना को चीरते हुए स्वयं राजमाता और राजा अपनी सेना के साथ लखनऊ के बाहर निकल गए; पर वह अहमदशाह मौलवी कहाँ है?

उसकी वीर महिमा को शत-शत प्रणाम! वह अभिमानी मौलवी इसलिए अद्वितीय साहस से अपने मुट्ठी भर अनुयायियों के साथ फिर से शहर में प्रवेश कर रहा है, क्योंकि फिरंगी लखनऊ को परास्त करें—यह बात उस शूर के हृदय में कालकूट विष जैसा घाव करने लगा। प्राणों की चिंता छोड़, अपमान से क्रोधित, देशभक्ति से दीवाना वह मौलवी शहर के मध्य में घुसकर शहादतगंज के एक छोटे से हिस्से में युद्ध करने लगा। रोम शहर में घुसकर शत्रु की सेना द्वारा उसे पादाक्रांत करने के बाद भी जैसे मेजिनी उस शहर से अकेला ही चिपका रहा वैसे ही यह मौलवी लखनऊ से सारे विद्रोहियों के चले जाने के बाद भी अकेला ही दीवाना हुआ जूझता रहा। आंग्ल सेना सर्पिणी द्वारा सटके हुए लखनऊ को बाहर खींचने के लिए उसके मुँह में अपना हाथ डालने लगा। मैलसन लिखता है—"विद्रोहियों का जिद्दी नेता मौलवी फिर से लखनऊ लौटा। शहादतगंज के एक बंद भवन में केवल

---

१. के एवं मैलसन कृत—'इंडियन म्युटिनी', खंड ४, पृष्ठ २७०।

दो तोपें लेकर वह अंग्रेजों का भारी प्रतिकार करता हुआ वहीं जमा रहा। उसे यहाँ से भगाने के लिए जिसने २१ मार्च को पहले ही दिन बेगम कोठी जीत ली थी उस न्यू गार्ड को कुछ सेना के साथ भेजा गया। न्यू गार्ड के साथ ९३वीं हायलैंडर पलटन और चौथी पंजाब रायफल के सैनिक थे। परंतु विद्रोहियों ने आज अपूर्व शौर्य प्रदर्शित किया—उन्होंने बड़े धीरज से अपना संरक्षण किया और हमारी ओर के अनेक सैनिकों को मारकर और अनेक को घायल करके ही वे बाहर आए।''[१]

लखनऊ शहर का यह अंतिम युद्ध था। थोड़ी देर में युद्ध की वीरता का नशा उतरते ही उसकी दृष्टि में आया कि जिस झंडे के लिए मैं यह युद्ध कर रहा हूँ वह राजध्वज अब लखनऊ पर है ही नहीं और वह मेरी तलवार की प्रतीक्षा करता उधर वनवास में खड़ा है।

विद्रोहियों ने अंग्रेज कैदियों के जो हाल किए और अंग्रेजों ने विद्रोहियों के जो हाल किए, उसके नमूने के लिए दो-चार चित्र यहाँ दिए जा रहे हैं। लखनऊ की कारा में कुछ अंग्रेज स्त्रियाँ और अंग्रेज अधिकारी थे। लखनऊ ने उनके प्राण न लेकर छह माह से कैद में रखा था। परंतु जब अंग्रेजी सेना सर कोलिन के पहले आक्रमण के समय राह चलते नागरिकों को काटने घुसी तब उससे संतप्त हुए सिपाही केसर बाग के राजमहल में जाकर जोर से माँग करने लगे कि अंग्रेज कैदी अभी-के-अभी हमें सौंपे जाएँ। कोई उपाय न रहने से के.आर. सर माउंट स्टुअर्ट आदि पाँच-छह गोरे नेताओं को सिपाहियों को सौंपते ही उन्होंने गोली मारकर उन्हें मार डाला। परंतु तुरंत सिपाही गोरी महिलाओं को भी मार डालने की जिद करने लगे। तब ''बेगम ने नारी जाति के नाम पर ऐसा करने से स्पष्टतः मना कर दिया। उन्होंने सभी अंग्रेज महिलाओं को अपने जनानखाने में लाकर उनकी प्राण रक्षा भी की।''[२] बेगम ने गोरी महिलाओं को उन्हें सौंपने से साफ मना किया और उनका स्वयं राजस्त्रियों के निवास में पोषण किया। अब अंग्रेज लखनऊ शहर के नागरिकों पर कैसे जुलम ढा रहे थे यह भी उनके प्रसिद्ध लेखकों से उगलवा लें। विद्रोही और अयोध्या के सभी लोग विद्रोही थे—पाँच वर्ष से अस्सी वर्ष तक के सभी सशस्त्र लोगों को मार डाला गया—हाथ में आए विद्रोहियों में से सैकड़ों घायल लोगों को धड़ाधड़ गोली मारकर मार डालना, गाँवों को आग लगाकर भस्म करना आदि बातें तो नित्य चल रही थीं। परंतु इससे भी अधिक दानवी प्रक्रिया के उदाहरण—जो अन्यत्र ज्ञात न होने के कारण छिपे रह गए हैं, वे लखनऊ में एक विख्यात लेखक

---

१. के एवं मैलसन कृत—'इंडियन म्युटिनी', खंड ४, पृष्ठ २८६।

२. चार्ल्स बाल कृत—'इंडियन म्युटिनी', खंड २, पृष्ठ ९४।

डॉक्टर रसेल की दृष्टि में पड़ी। उनमें से एक का वह वर्णन करता है—"अभी भी कुछ सिपाही जीवित थे और उन सबका वध दयाभाव से कर दिया गया। परंतु उनमें से एक को घर के बाहर तप्त बालू पर खींचकर लाया गया। वहाँ उसे अंग्रेजी सिपाहियों ने संगीनों से छेदकर दबाकर रखा था। शेष सोल्जर उसे जलाने के लिए लकड़ी बीनने चले गए थे और जब सारी तैयारी हो गई तब उस सिपाही को सुलगी चिता पर जीवित ही भूना गया। यह कृत्य करनेवाले सारे अंग्रेज लोग ही थे और उनके अनेक अधिकारी यह सब देखते वहीं खड़े हुए थे। फिर भी कोई बीच-बचाव करने नहीं आया; परंतु जब वह अभागा आधा कच्चा जला—चिता से फड़फड़ाता बाहर आया तब यह आसुरी कर्म परमोच्च बिंदु पर पहुँचा। विलक्षण रूप से छटपटाते हुए जब वह चिता से बाहर कूदा तब जलते मांस के लोथड़े उसकी खुली हड्डियों से लटक रहे थे और वह पकड़े जाने के पहले ऐसी अवस्था में भी कुछ दूर दौड़ गया। परंतु उसे फिर पकड़ा गया और संगीनों से कोंचकर फिर चिता पर ढकेला गया और उसके अधजले अवशेष पूरे जलाए गए।"

शहर में ऐसा कत्लेआम चल रहा था तब एक कश्मीरी लड़का एक अंधे बूढ़े को साथ लेकर वहाँ के एक अंग्रेज अधिकारी के पास आया और उसे भूमि पर लेटकर नमस्कार करते हुए जीवनदान की भीख माँगने लगा। उस अधिकारी ने पिस्तौल निकाली और उस अभागे शरणागत के सिर पर चला दी। उसने फिर घोड़ा दबाया—फिर पिस्तौल चलाई—फिर गोली चूक गई। पुनः घोड़ा दबाया—उस गोली ने उस लड़के को मारने से फिर एक बार नकार दिया—"चौथी बार यह वीर यशस्वी हुआ और उसके पैरों के पास भू लुंठित होता हुआ वह बालक दम तोड़ गया।"[१]

दिल्ली गिरी, लखनऊ भी गिरा, पर क्रांतियुद्ध का जोर कम नहीं हुआ। यह अनपेक्षित स्थिति देखते हुए भी यह क्रांति सिपाहियों ने ही की थी और उसके पीछे असंतोष के एक-दो कारण ही थे—यह मानकर हम बड़ी चूक कर रहे हैं—अंग्रेजों को यह विश्वास हो गया। यह कोई बंड (विद्रोह) नहीं था, वह तो स्वतंत्रता के लिए ठना एक युद्ध था। यह एक-दो असंतोषों से उपजा विद्रोह नहीं था, इसकी तली में अनंत दुःखों को जन्म देनेवाली राजनीतिक परतंत्रता ही थी। इस क्रांति के मूल में क्षुद्र व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं था, स्वतंत्रता की पवित्र ज्योति, स्वधर्म और स्वराज्य की उदात्त ध्येय भावना ही यहाँ सुलग रही थी, केवल सिपाही, अपना निजी स्वार्थ साधने के लिए इस स्वतंत्रता के पवित्र ध्येय से समरस थे ऐसा नहीं! वरन् सभी

---

१. रसेल की डायरी, पृष्ठ ३४८।

सफेदपोश जनता, शहर की तरह ही गाँव की जनता भी इस क्रांति में प्रमुखता से सहभागी हो गई थी। यदि ऐसा न होता तो यह शक्ति, यह कृतनिश्चय, यह साहस और निस्स्वार्थ भाव भूल से भी दिखाई नहीं देता। क्योंकि इसी समय लॉर्ड केनिंग ने 'जो कोई विद्रोह में शामिल होगा उसकी सारी संपत्ति और उत्पादन जब्त किए जाएँगे और जो शरण आएँगे उन्हें क्षमा किया जाएगा' ऐसा घोषणापत्र जारी किया था। फिर भी क्रांतिकारियों ने शस्त्र नीचे नहीं रखे। लखनऊ हार गया, पर अयोध्या ने युद्ध जारी ही रखा। डॉ. डफ इस प्रचंड क्रांति के संबंध में लिखता है—"यदि यह केवल सिपाहियों का विद्रोह होता तो बहुसंख्य जनता की सहानुभूति और सहायता उन्हें न होती तो उनपर हमें जो पहले दो-चार प्रचंड विजय प्राप्त हुईं उसी में हम उनका कचमूर निकाल दिए होते; परंतु कचमूर निकालना तो दूर रहा उलटे वे अधिक ही चैतन्य दिखाई देने लगे और विद्रोह का फैलाव पहले से अधिक हो गया। और वह अधिक उग्र स्वरूप भी धारण कर रहा है। यह सीधा-सादा सिपाहियों का विद्रोह न होकर एक क्रांतिकारी विद्रोह ही था—यह दिखाई देता है और इसीलिए उसे पूरी तरह शांत करने में हमें सफलता कम ही मिली और आगे भी वह शीघ्र शांत होगा ऐसा नहीं लगता। इस तरह यह विद्रोह दीर्घकालिक और उद्देश्यपूर्ण क्रांति था जिसमें हिंदू-मुसलमान नामक विसंगत जोड़ी कंधे से कंधा लगाए मित्र बनकर लड़ने खड़ी हो गई थी। जिसको बढ़ाने और फैलाने में अयोध्या की पूरी जनता लगी हुई थी और जिसे प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रीति से पड़ोस के सभी प्रदेशों की सक्रिय सहानुभूति मिली हुई थी। वह विद्रोह विद्रोही सिपाहियों पर प्राप्त दो-चार शुद्ध एवं अभूतपूर्व जीतों से दबा देना संभव नहीं था।

"एकदम प्रारंभ से इस 'विद्रोह' को सेना के बाहर फैली विस्तृत जनशक्ति ने अंग्रेजों के प्रभुत्व के विरुद्ध एवं उनकी राज्यसत्ता के विरुद्ध क्रांतिकारी विद्रोह का स्वरूप ही प्राप्त हो गया था। हमारी वास्तविक लड़ाई पूरी तरह विद्रोही सिपाहियों के साथ ही थी यह पूरी तरह झूठ है। हमारे शत्रु केवल सिपाही होते तो देश में शांति स्थापित करने में चुटकी बजाने से अधिक का समय नहीं लगता।

"शत्रु को पूरी तरह तितर-बितर कर उनकी तोपें अपने कब्जे में लिये बिना हमने शत्रु को एक भी लड़ाई में नहीं छोड़ा, पर बार-बार लगातार और कई बार पिटने के बाद भी ये लोग फिर ताजा होकर नई लड़ाई के लिए तैयार दिखाई देते थे। एक प्रांत पर कब्जा कर अंग्रेजी सेना वहाँ शांति व्यवस्था बनाती तो दूसरे प्रदेश में तभी विद्रोह की आँधी चलती। महत्त्व के स्थानों को जोड़नेवाला कोई राजमार्ग खोला जाता तो तुरंत उसकी नाकेबंदी कर वहाँ का यातायात तोड़ दिया जाता। एक विभाग से विद्रोहियों को जैसे ही भगाया जाता वैसे ही दुगुनी-तिगुनी संख्या में वे

दूसरे किसी विभाग में खड़े दिखाई देते। हमारी सेना उनकी सेना पर झपटकर आक्रमण करती हुई आगे बढ़ती जाती तो विद्रोहियों की टुकड़ियाँ पिछला सारा प्रदेश अपने कब्जे में ले लेतीं।''[१]

डॉ. डफ द्वारा लिखे गए वास्तविक सत्य की पहचान अंग्रेजों को बहुत अंत में हुई। परंतु पांडे लोगों में से हर एक को बिलकुल प्रारंभ से इसकी पूरी अनुभूति थी। अपने राजा और अपने देश के लिए उन्होंने समरांगन में प्राण दिए। वे ये बातें स्पष्ट बोलते थे, पर उनकी स्त्रियों ने भी वास्तव में उतना ही कठोर निश्चय प्रकट किया था। जब शूरवीर अंग्रेजों ने लखनऊ के जनानखाने पर हमला किया तब उन्हें अंत:पुर में कुछ स्त्रियाँ मिलीं। दरवाजा तोड़कर अंदर घुसने पर अंग्रेज सोल्जरों ने यहाँ भी गोलियाँ दागीं जिससे कुछ स्त्रियाँ मर गईं। जो बचीं उन्हें कैद में रखा गया। लखनऊ को जला डाला गया। वह सब देखकर अब विद्रोही तुरत शरण में आ जाएँगे इस कल्पना से अंग्रेज खुश हुए। अपने देशबंधुओं के इस आनंदोन्माद में सहभागी अंग्रेज जेलर उन रानियों को खिजाने के लिए पूछता—''विद्रोह पूरी तरह विफल हो गया है ऐसा तुम्हें नहीं लगता?'' उस समय उन कृतनिश्चयी बेगमों ने स्पष्ट कहा—''इसे कुचलना तो बहुत दूर की बात है, अंततोगत्वा पराजय तुम्हारी ही होगी।''[२]

□

---

१. डॉ. डफ कृत—'इंडियन रिबेलियन', पृष्ठ २४१-४३।

२. 'नैरेटिव ऑफ दि इंडियन म्युटिनी', पृष्ठ ३००; रसेल की डायरी, पृष्ठ ४००।

प्रकरण–८

कुँवरसिंह और अमरसिंह

जगदीशपुर की घाटी से होअर की शिकारी टोली द्वारा भगाए जाने के बाद राजमहल का सिंह वृद्धयुवा कुमार अब अपनी स्वतंत्रता पर घात करनेवाले के कंठ पर कब प्रबल हमला कर सके, इस अवसर की ताक में पश्चिम बिहार के वनों में छिपते-छिपाते चक्कर काट रहा था। उसकी अयाल गुस्से से खड़ी थी, उसके पंजे बदला लेने के लिए फैले हुए और उसके नेत्र शत्रु की गरदन पर झपट पड़ने के योग्य अवसर की ताक में थे। जैसे अपनी कोठरी में घूमता सिंह हो वैसे ही वह सिंह उन झाड़ियों में इस सिरे से उस सिरे तक चक्कर काट रहा था।

उस सिंह के साथ उसके अन्य शावक भी थे। उसके भाई अमरसिंह, नि:स्वनसिंह, जवानसिंह। ये लोग भी अपने-अपने अनुयायियों के साथ वहाँ आए थे। और तो और उसकी प्रिया सिंहनी भी युद्ध वेश में उस राज्य में अपने वनराज के साथ रिपुरक्त पान करने को सज्जित थी।

शाहाबाद जिले में उसकी वंश परंपरागत भूमि विदेशियों के कब्जे में थी, उसकी सेना थोड़ी सी थी—एक हजार दो सौ सिपाही और अधिकारी और कोई चार सौ अशिक्षित नौकर उसके पास थे। उसके जगदीशपुर के राजमहल में विदेशी शत्रु का अमंगल डेरा पड़ा हुआ था। उसके देवालयों और देवमूर्तियों को उन्मुक्त म्लेच्छों ने चकनाचूर कर दिया था। इस सब अपमान से वह चिढ़ गया था फिर भी कुँवरसिंह केवल गुस्से के अधीन नहीं हुआ था। उसने जनहानि न होने दिया और जिस दिन जगदीशपुर छोड़ा उसी दिन केवल मनोविकारों का दास न होकर और आवेश में विजय अवसर न चूकते हुए एक नई पद्धति का युद्ध लड़ने की योजना बनाई थी। वह जगदीशपुर पर यकायक हमला करने नहीं गया था और शाहाबाद प्रदेश में भी उस दृष्टि से नहीं रुका रहा। उस प्रदेश पर और राजधानी

पर अंग्रेजों का मजबूत बंदोबस्त था यह उसे ज्ञात था। इसलिए उसने राजधानी हारने की बिलकुल चिंता नहीं की। उसे जो चिंता थी वह यह कि राजधानी हारे या जीते, मेरे स्वातंत्र्य युद्ध का जरतारी ध्वज अटल लहराता रहना चाहिए। उसकी नई पद्धति स्वतंत्रता संग्राम की अनन्य संजीवनी है। उस युद्ध पद्धति का नाम 'छापामार युद्ध' है।

इसलिए अपने अपमान के क्षोभ से अंग्रेजों की सबल सेना पर दीप-पतंग-त्वरा से न झपटते हुए कुँवरसिंह उस पश्चिम बिहार के वन में शोण नदी के किनारे-किनारे अंग्रजों के दुर्बल स्थान टटोलता, छिपा हुआ था। लखनऊ के नि:पात के लिए आजमगढ़ की ओर से अधिकतर नेपाली और अंग्रेजी सेना अयोध्या की ओर चल पड़ी है यह सूचना उसे मिली। उसकी तीव्र नाक को इस शिकार की गंध आते ही जगदीशपुर का सिंह हमला करने उस वन से बाहर निकला। क्रोध और मनोविकार के क्षणिक समाधान के अधीन होनेवाले दुर्बल लोगों की तरह विजय की संभावना कम होते हुए भी एक राजधानी के चारों ओर ही घूमते रहनेवाला वह आदमी नहीं था, वह तो सिद्धांत की अंतिम विजय जिधर दिखे उधर ही समर करनेवाला छापामार वीर था। लखनऊ की ओर सारी अंग्रेजी सेना जा रही थी, पर अंग्रेजों की आँखें जगदीशपुर की ओर होने से कुँवरसिंह ने अभी उस ओर जाने की योजना नहीं बनाई। पूर्व अयोध्या में जहाँ अंग्रेजी मजबूती बिलकुल ढीली पड़ी थी उसने उधर झपट्टा मारने की योजना बनाई। अयोध्या में घुसते ही वहाँ के अनेक विद्रोहियों को इकट्ठा कर आजमगढ़ पर हल्ला करें और वहाँ विजय मिलते ही श्री काशी क्षेत्र पर या इलाहाबाद पर भी हमला करें और इस तरह जैसे-को-तैसा बनकर जगदीशपुर का बदला लिया जाए—ऐसा दाँव सोचकर कुँवरसिंह पूर्व अयोध्या की ओर निकला। सन् १८५८ की १८ मार्च को बेतवा के विद्रोही उससे आकर मिले और उस संयुक्त सेना ने अत्तोलिया के किले के पास अपना शिविर लगाया।

आजमगढ़ अत्तोलिया से पच्चीस मील दूर था। कुँवरसिंह की सेना इतनी पास आ गई है यह समझते ही कोई तीन सौ पैदल और घुड़सवार, दो तोपें—इतनी अंग्रेजी सेना लेकर मिलमन अत्तोलिया की ओर बढ़ा। २२ मार्च को प्रात:काल की सूर्य किरण रण-मैदान को स्पर्श भी न कर पाई थी कि मिलमन और क्रांतिकारी सेना की आँखें मिलीं। एकाएक बढ़ आई अंग्रेजी सेना को देखकर झिझके विद्रोहियों को क्षण भर का भी अवसर न देकर मिलमन ने लड़ाई प्रारंभ कर दी। विद्रोही लड़ने लगे पर वे विद्रोही अंग्रेजों से कितने लड़ पाते? उनकी तुरंत पराजय हुई। कुँवरसिंह ने इतने तामझाम से हमला किया था, उसकी इस अंग्रेजी सेना ने कैसी फजीहत की। सारी रात चलकर आए होते हुए भी, विद्रोहियों से इतने जोर से लड़नेवाली अंग्रेज

सेना और उसके सेनानी सचमुच शाबाशी पाने योग्य हैं। तुम अपना सुबह का कलेवा गाढ़े पसीने की कमाई से नहीं, गाढ़े रक्त की कमाई से कर रहे हो इसलिए सारे अंग्रेज सैनिको, अपने सेनानी के साथ उस अमराई में शांति से बैठकर उस बाल सूर्य की किरणों और विजय के आनंद में अपना कलेवा ग्रहण करो। शस्त्र एक तरफ रखे गए, कलेवा तैयार हुआ, भूख के समय कौर मुँह तक गया—प्यास मिटाने गिलास ओंठों तक गया।

उतने में—हा! हा! यह क्या? ओंठों से लगता गिलास छूट गया, मुँह का कौर मुँह में रहा। कलेवा के पात्र तड़ातड़ टूटे। शस्त्र सपासप बाहर आए—अरे कुँवरसिंह तो नहीं आया? हाँ, हाँ, मदमस्त आंग्ल गज के गंडस्थल पर हमला करके कोसिला से ब्रिटिश सेना को जो पीछे हटाना प्रारंभ किया तो सीधे आजमगढ़ तक कुँवरसिंह ने उस अभागे मिलमन को दौड़ाया। आजमगढ़ में पहुँचने के बाद मिलमन की जान में जान आई। उसके आवश्यक संदेश के कारण कोई तीन सौ पच्चीस लोगों की नई कुमुक बनारस और गाजीपुर से भेजी गई और इस सारी सेना के सेनापति पद पर कर्नल डेम्स की नियुक्ति हुई। अब आजमगढ़ जैसी मजबूत जगह, दोगुनी बढ़ी हुई अंग्रेजी सेना और कर्नल डेम्स जैसा ताजा दम सेनापति तब पिछली मामूली पराजय का प्रतिशोध लेने की बात क्यों न सोची जाए?

इसलिए कर्नल डेम्स २७ मार्च को आजमगढ़ छोड़कर कुँवरसिंह को मजा चखाने निकला। बाहर निकलते ही वह जीत भी गया और कुँवरसिंह पर ऐसी जीत पाते ही उस भयानक नाटक का ही एक भयानक प्रयोग शुरू हो गया। कुँवरसिंह ने इन नए सोल्जरों और नए सेनापति को एक ऐसा थप्पड़ लगाया कि कर्नल डेम्स मैदान छोड़ सीधे आजमगढ़ की ओर भागा और शहर की दीवारों के पीछे जाकर छिप गया। उसकी सेना में से कोई कुँवरसिंह पर आक्रमण के लिए बाहर मुँह निकालने को भी तैयार नहीं था।

अंग्रेजों की यह पराजय सुनकर इलाहाबाद में बैठे अंग्रेजी गवर्नर का चेहरा चिंता से काला हो गया। "इस चढ़ाई के समय गवर्नर जनरल केनिंग इलाहाबाद में ही था। केनिंग कुँवरसिंह की युद्ध-क्षमता, धैर्य, बहादुरी आदि सभी गुणों से परिचित था। अत: आनेवाले संवाद का रूप उसके सामने स्पष्ट था।"[१]

हर नए दिन उसके पास नई सेना इकट्ठी होती जा रही थी। लखनऊ में हारकर भागे हुए सिपाही भी अब उसके झंडे की ओर दौड़ते चले आ रहे थे और जिसमें इस हारी और असंगठित सेना को भी सफलता दिलानेवाली छापामार

---

१. मैलसन कृत—'इंडियन म्युटिनी', खंड ४, पृष्ठ ३२१।

कुशलता वास कर रही थी, वह जगदीशपुर का राणा शीघ्र ही आजमगढ़ को ताला लगाकर बीच के इक्यासी मील की यात्रा कर और बनारस शहर पर अचानक हमला करके इलाहाबाद में गवर्नर जनरल और लखनऊ में कमांडर-इन-चीफ दोनों की ही कलकत्ता से जुड़ी डोर काटने से चूकेगा नहीं, यह तुरंत लॉर्ड केनिंग की समझ में आ गया। विद्रोह के प्रारंभ में सिख लोगों की राजनिष्ठा के कारण बनारस और इलाहाबाद शहर अंग्रेजों के हाथ में आ जाने से वे स्वतंत्रता का मुँह बाँधकर हिंदुस्थान का गला दबा सके थे; अंग्रेजों के हाथ आया अवसर कहीं अब कुँवरसिंह छीन तो नहीं लेगा, इस चिंता से लॉर्ड केनिंग ने तत्काल आदेश दिया कि इस विद्रोही पर स्वयं लॉर्ड मार्ककेर ही आक्रमण करें।

क्रीमिया युद्ध में ख्यातिप्राप्त और हिंदुस्थान का पूरा अनुभवी यह लॉर्ड मार्ककेर कोई चार सौ योद्धाओं और तोपों के साथ कूच करता आजमगढ़ से आठ मील दूर आकर ठहरा। कुछ विश्राम कर ६ अप्रैल को भोर ही उसने सावधानी से आगे कदम बढ़ाया। सुबह छह बजे उसे समाचार मिला कि पास ही कुँवरसिंह की सेना उसकी ताक में है। लॉर्ड मार्ककेर ने 'ताक' की उसको कोई जानकारी नहीं है ऐसा स्वाँग कर सेना को सज्जित करके कुछ आगे बढ़ाया और तुरंत ही कुँवरसिंह के दाएँ बाजू पर हल्ला किया। तभी कुँवरसिंह का बायाँ बाजू गोलियों की बौछार कर उठा। वह वृद्ध युवा एक सफेद घोड़े पर बैठकर अपनी सेना में भीष्माचार्य की तरह चमक रहा था। अंतर इतना ही था कि तब भीष्माचार्य दुर्योधन की ओर से लड़ रहे थे और अब यह वृद्ध युवा धर्मराज की ओर से लड़ रहा था। वह स्वातंत्र्यधर्म हेतु, देशधर्म हेतु लड़ रहा था। उसकी सेना चार हजार के लगभग थी। परंतु उसमें संख्या के अनुपात में बल नहीं है यह वह जानता था और इसलिए आज सारा भार उसके अपने अकेले के पुरुषार्थ पर टिका हुआ है यह देखकर वह शुभ्र अश्वारूढ़ अस्सी वर्ष का सेनापति अपनी सेना के साथ लड़ने में अपने को झोंके हुए था।

वह मार्ककेर के इधर-उधर अपनी सेना फैलाते ले गया। मार्ककेर की तोपें उसपर जबरी मार कर रही थीं और उन्हें उत्तर देने के लिए उसके पास तोपें न होते हुए भी उसने मार्ककेर की पिछाड़ी अपनी सेना जमा कर ली। अंग्रेज सेनापति की आफत हो गई और उसने अपनी तोपें थोड़ी पीछे ले लीं। यह देखते ही विद्रोही जोर का जयनाद करते हुए आगे बढ़ने लगे। कुँवरसिंह ने बीच में ही अवसर खोजकर अंग्रेजों की पिछाड़ी को कस दिया। अंग्रेजी हाथी पागल होकर इधर-उधर दौड़ने लगे। उसके महावत हाथी के गले से लिपट-लिपटकर अपनी जान बचाते भागने लगे और उसके नौकर जल्दी से रण छोड़कर भाग गए। फिर भी मार्ककेर ने धीरज नहीं छोड़ा। उसने सामने की विद्रोहियों की टोलियाँ विभाजित कर और वहाँ के

घरों पर कब्जा कर सामने का बाजू जीत लिया। लेकिन कुँवरसिंह ने भी अंग्रेजों की पिछाड़ी मारकर जीत ली।

अब यह विचित्र लड़ाई बराबर उलटी की पलटी हो गई। क्योंकि प्रारंभ में कुँवरसिंह के सामने अंग्रेजों का मुँह था। लड़ते-लड़ते अब कुँवरसिंह उनके पीछे हो गया जिससे कुँवरसिंह के मुँह की ओर अंग्रेजों की पीठ हो गई। कुँवरसिंह ने उसकी पीठ को आग लगा दी। अपनी पिछाड़ी की रसद में विद्रोहियों द्वारा लगाई आग देखकर लॉर्ड मार्ककेर ने यद्यपि धैर्य नहीं छोड़ा तथापि रणांगन छोड़ने का निश्चय किया। पूरी विजय प्राप्त नहीं हो रही थी तब भी मार्ककेर रण छोड़ लड़ते-लड़ते निकला और अपनी तोपों की सहायता से रात में उस शहर में आ गया।

कुँवरसिंह के इस रण तांडव के संबंध में प्रख्यात इतिहास लेखक मैलसन कहता है—"उसकी मुहिम का नक्शा प्रशंसनीय था, परंतु उस नक्शे के अनुसार व्यवहार करने में उसने काफी गलतियाँ की थीं। मिलमन जब उसके हाथ आ गया तब उसका पिछला रास्ता रोकना छोड़ कुँवरसिंह ने उसके मुँह पर मारा। उसका पीछा कर उसे आजमगढ़ में बंद करने पर कुछ सेना आजमगढ़ में रखकर शेष लोगों के साथ कुँवरसिंह यदि बनारस पर तत्काल आ जाता तो लॉर्ड मार्ककेर से इससे भी जबरी लड़ाई वह लड़ लेता। वास्तविकता देखें तो वे सारे अवसर उस कुँवरसिंह जैसे योग्य पुरुष के ध्यान में आए बिना न रहे होंगे, परंतु वह परिस्थिति से बँधा हुआ था। जिस-जिस छोटे नायक ने अपने लोग उसके झंडे के अधीन लड़ने के लिए भेजे थे उसमें से हर एक की अपनी-अपनी बुद्धि थी—ऐसे अनेक बुद्धिमानों की बेलगाम बहसों का निर्णय मिश्रित जोड़-तोड़ में ही करना होता है..."

लॉर्ड मार्ककेर आजमगढ़ में घुसकर वहाँ की अंग्रेजी सेना में मिल गया तब भी कुँवरसिंह का आजमगढ़ पर कसाव कम नहीं हुआ। वह सारा शहर विद्रोहियों के ही नियंत्रण में था और उसके आसपास के क्षेत्र में उनकी निगरानी भी थी। अपनी सेना का वास्तविक बल कितना है यह तत्काल जानने की कला भी सेनानी को अवश्य होनी चाहिए और इस कला में यदि कोई सेनानी अति चतुरता दिखाता हो तो वह कुँवरसिंह था। उसने शत्रु का बल जैसे तौला हुआ था उसी अचूकता से उसने अपनी सेना के गुण-दुर्गुण भी माप रखे थे। अत: अंग्रेजों के परकोटे पर हमला करने के चक्कर में वह पड़ा ही नहीं। अंग्रेजी परकोटे या अंग्रेजी बैनेटों पर आक्रमण करना छोड़ कोई भी दुष्कर कृत्य करने में सिपाही आगे रहते हैं, कुँवरसिंह यह लखनऊ के उदाहरण से जान गया था। इसलिए आजमगढ़ शहर को नियंत्रण में रखकर और वहाँ के अंग्रेजों को मुँह बाहर निकलना असंभव बना वह अपने मन में एक दूसरा ही साहसी दाँव बनाने लगा। सन् १८५७ में रण-मैदान में उतरे हजारों

योद्धाओं में हमेशा दो वर्ग दिखाई देते थे। एक स्वतंत्रता के तेज के दिव्य उत्साह को शोभा दे ऐसा ही रण, सीने से सीना टकरा जाए तब भी अटल समर करनेवाले और दूसरे अनुशासनहीन, हौसला छोड़ देनेवाले। कुँवर ने अपनी सेना में से पहले क्रम के प्राण पर प्राण देनेवाले ऐसे कड़े लोग चुनकर उनका एक विशेष पथक बनाया। सन् १८५७ में अन्य किसी भी सेनानी द्वारा प्रयोग नहीं की हुई युक्ति सिद्ध करते ही कुँवरसिंह ने ऊपर बताई अपनी साहसी योजना को प्रत्यक्ष रूप देने को कमर कसी और आजमगढ़ के पास की नदी पर अपनी यह चुनी हुई सैनिक टुकड़ी खड़ी कर दी।

इस पुल के सामने से सर ल्यूगार्ड नामक एक जनरल सबल अंग्रेजी सेना के साथ आजमगढ़ पर चढ़ा चला आ रहा था। इस जनरल को लगा कि आजमगढ़ का कब्जा न छोड़ना पड़े इसी हेतु से कुँवरसिंह की सेना उस पुल पर मुझे रोके खड़ी है। ''अंग्रेज जनरल ही नहीं, उसके निकट के लोगों को भी उस षड्यंत्रकारी राजपूत के मन में क्या दाँव चल रहा है यह समझ में नहीं आ रहा था।''[१] वह दाँव था अंग्रेजों को वहीं उलझाकर अपनी सेना के साथ तुरत जगदीशपुर चले जाना। यह युक्ति युद्ध कौशल और युद्ध धैर्य का उत्कर्ष थी। आजमगढ़ से गाजीपुर पहुँचकर वहाँ से गंगा नदी का पाट सेना सहित उतरकर जगदीशपुर जीतना और वह भी पीछे ल्यूगार्ड की अंग्रेजी सेना और आगे आरा की अंग्रेजी सेना—इन दोनों को चकमा देकर! इस साहसी योजना को सिद्ध करने के लिए उस पुल पर उस राजपूत ने अपने अति उत्तम लोग रखे थे। उस सेना को उस पुल पर ल्यूगार्ड को इतनी देर तक ठहराना था कि आजमगढ़ के सात-आठ हजार क्रांतिकारी सैनिक उस शहर का चक्कर काटकर वह शहर पीछे छोड़, सीधे गाजीपुर के रास्ते पर सकुशल लग सकें। गंगा उतरकर एक बार जगदीशपुर के वन में जगदीशपुर का सिंह घुस जाए तो रणक्रीड़ा की नई पहल, नवराज्य का नया प्रारंभ हो जाए।

यह सारा साहसी प्रयास सिद्ध होना, इस तानू नदी के पुल पर के हे सैनिको, पूरी तरह तुम्हारी शूरता पर अवलंबित है! कुँवरसिंह की सारी सेना आजमगढ़ छोड़कर शत्रु के निशाने से पूरी तरह बाहर निकलने तक तुम इस पुल पर सर ल्यूगार्ड को पैर मत रखने देना। इस अटल समर के लिए तुम ही योग्य हो इसलिए हजारों योद्धाओं में से तुम्हारे उस नायक ने तुम्हारा चुनाव किया है। उसके विश्वास को तुम्हारी शूरता सत्पात्रता दिलवाए। एक विचार, एक संकल्प, एक प्रतिज्ञा है कि आजमगढ़ के हजारों बंधु पार निकल गए होने का संकेत मिलने के पूर्व यह पुल

---

१. मैलसन, खंड ४, पृष्ठ ३३०।

छोड़ना नहीं है। अंग्रेजों जैसी सबल सेना तोपों के साथ आगे भिड़ी हुई है तब भी पुल छोड़ना नहीं है। सारे-के-सारे मर जाने तक पुल छोड़ना नहीं है। कुँवर लड़ते-लड़ते मर जाएँ फिर भी पुल नहीं छोड़ना...''पुनर्जन्म लेकर फिर लड़ना!'' श्री शिवराज किले तक पहुँचने के पूर्व बाजी देशपांडे पावन घाटी में जैसे लड़ा वैसे स्वदेश की अतुल पांडेगिरी स्वराज्य की इस बाजी के लिए आज इस पुल को भी पावन करो। अफजल खान की सेना ने जैसे उस इतिहास प्रसिद्ध घाटी के मुट्ठी भर मराठों पर हमले के बाद हमले किए वैसे ही इस पुल के ऊपर कुँवरसिंह की छोटी सी सेना पर ब्रिटिश सेनानी ल्यूगार्ड भी हमले-पर-हमले करता रहा। पर उस पुल पर उसका पाँव न टिक पाता। मानो हमले की हर गेंद पांडे पक्ष द्वारा रोकी जाने पर उतने ही वेग से वापस लौट जाती हो। आजमगढ़ के सारे विद्रोही गाजीपुर के रास्ते पर निकल चुकने का संकेत आने तक वह स्वदेशाभिमानी पुल ऐसे अप्रतिहत बल से लड़ता रहा। मैलसन लिखता है—''रण में धैर्य रखनेवाले वीरों के समान उन वीरों ने नावों के इस पुल की रक्षा बड़े उत्साह से की और उनके साथ सुरक्षित स्थान में पहुँचने के लंबे समय तक का प्रतिकार कर हट गए।''[१]

जगदीशपुर का मालिक अपनी सेना के साथ आजमगढ़ से सकुशल पार हो गया है। पांडे सेना ने अपने आप ही अकस्मात् पुल छोड़ दिया है यह देखते ही ल्यूगार्ड उसपर घुसने लगा। तब उसके ध्यान में आया कि कुँवरसिंह या उसकी सेना भी किसी जादूगर की निर्मिति जैसी आजमगढ़ से क्षण में गायब हो चुकी है। निराश हुए उस अंग्रेज सेनानी ने घोड़े पर के तोपखाने सहित घुड़सवारों को कुँवरसिंह का पीछा करने भेज दिया। बारह मील तक अंग्रेजी घोड़े दौड़े फिर भी कुँवरसिंह नहीं दिखा और जब वह दिखा तब भागनेवाले कौन और पीछा करनेवाले कौन? यह रण-मैदान में जान पाना कठिन हो गया। अंग्रेजी सेना को देखते ही विद्रोही सिटपिटाए नहीं बल्कि विद्रोहियों को देखकर अंग्रेजी सेना ही सिटपिटा गई। कुँवरसिंह की सेना ठाठ से खड़ी होकर, अपनी तलवारें निकाल, बंदूकों से निशाना साध, गुस्से से आगबबूला होते और तिरस्कार से गालियाँ देते बुलाने लगे—''आ जा फिरंगी, आ आगे! हो जाएँ दो-दो हाथ!'' और फिरंगी के आगे आते ही विद्रोहियों ने ऐसे दो हाथ किए कि अंग्रेजों के कितने ही योद्धा और अधिकारी रणभूमि पर मर गए। विद्रोहियों के सिपाही अचल-अभंग रहे। अंग्रेजों को अपना बचाव करना कठिन हो गया और कुँवरसिंह अपनी सेना के साथ गंगा के अधिक ही निकट आ गया।

---

१. मैलसन, खंड ४, पृष्ठ ३३०।

अंग्रेजों द्वारा पीछा किए जाने का यह दरिद्री समाचार उनके शवों के साथ आजमगढ़ पहुँचते ही वहाँ से पाँच-दस तोपों के साथ नई अंग्रेजी सेना लेकर डग्लस उस पीछा करनेवाली टुकड़ी से जा मिला। इस डग्लस ने कुछ ही समय पूर्व आजमगढ़ में कुँवर की तलवार का पानी चखा था। कुँवर के उस थप्पड़ को न भूला यह अंग्रेज सेनानी बड़ी सावधानी से उसका पीछा करते नघई गाँव तक आया। वहाँ कुँवरसिंह उसकी राह देखता खड़ा ही था। अंग्रेजी सेना दिखते ही अपनी शूरतम सेना की टुकड़ी सिंह कुमार ने उनसे भिड़ने आगे बढ़ाई और आदेश दिया कि शत्रु का बहादुरी से सामना करो। तुरंत शेष सेना के दो भाग कर उन्हें कुमार ने अलग-अलग रास्ते से आगे कूच करने भेज दिया। वे उधर जा रहे हैं तब तक अंग्रेजों से उन मुट्ठी भर वीरों ने घमासान चलाए रखी, शत्रु की भयानक तोपों का जवाब ऐसा कोई उत्तम साधन पास न होने से उनके साथी चटपट मरते रहे, पर वे तिल भर भी नहीं डिगे। न उनकी पंक्तियाँ ढीली हुईं, न उनका अनुशासन बिगड़ा और न ही एक भी कदम बिना युद्ध कौशल के रण में अटका। चार मील तक यह भयंकर लड़ाई चलती रही। अंत में अंग्रेजी सेना थक गई है, यह उसके लड़खड़ाते कदमों से दिखाई देते ही अलग-अलग रास्ते से चल रहे सेना के दो विभाग तुरंत इकट्ठा हो गए और अपनी पूरी सेना सहित कुँवरसिंह गंगा पाट के अधिक ही पास आ गया।

उस अप्रैल की १७ तारीख को यह थकी हुई अंग्रेजी सेना अथुसिरवा गाँव में सो गई। भोर होने पर जब डग्लस आगे बढ़ा तो उसने देखा विद्रोही उससे सत्रह मील आगे हैं। अतः वह सारा दिन अंग्रेजी घोड़े और तोपखाना विद्रोहियों की खोज में दौड़ाता रहा। पर अंग्रेजी पैदल बहुत पीछे पड़ता रहा। तब कुँवरसिंह से चार मील पहले अंग्रेजी सेना एक नींद लेने लग गई। कुँवर के जासूस शत्रु की बात उड़ाने में अति कुशल थे। उन्होंने अंग्रेजों के सो जाने का समाचार तत्काल कुँवर को दिया और कुँवर उठा—उसने शत्रु की नींद का लाभ लेने का निश्चय किया। वह अस्सी वर्ष का वृद्ध राजपूत अपनी सारी सेना के साथ उस आधी रात के अँधेरे में तुरंत निकला और सिकंदरपुर आ गया। घाघरा नहीं उतरा, गाजीपुर प्रदेश में घुसा और सीधे मनोहर शहर तक दौड़कर आया और अपनी थकी हुई, पस्त हुई भूखी सेना को कुछ विश्राम देने थोड़ा ठहर गया। कुँवर की सेना अब बहुत ही थक गई थी। मनोहर गाँव का स्थान बहुत मजबूत न होते हुए भी उन्हें विश्राम के लिए ठहरना ही पड़ा। इस गाँव में विद्रोही आगे जाना असंभव होने से ठहरे हुए हैं यह सुनते ही डग्लस दौड़ने लगा और २० अप्रैल को मनोहर गाँव आ पहुँचा। उस दिन उन थके हुए विद्रोहियों का जोर कम पड़ा और अंग्रेजी सेना ने उन्हें पराजित कर

उनकी गाड़ियाँ-रसद छीन लीं। परंतु वह वृद्ध युवा या उसका धीरज नहीं हारा। पराजय का चिह्न दिखते ही—पहले से ही सोचा-समझा आदेश जारी हुआ। कुँवर की सेना पलक झपकते ही छोटी-छोटी टुकड़ियों में बँटकर रणक्षेत्र से तत्काल एक निश्चित समय पर निश्चित स्थान पर एकत्र होने हेतु अदृश्य हो गई। अंग्रेजी सेना इस संबंध में कुछ भी जान न सकी। और अपनी विजय निष्फल देख वहीं ठहर गई तथा कुँवरसिंह अपनी सेना के साथ गंगा पाट के बहुत नजदीक हो गया।

वह गंगा के पाट के अधिकाधिक पास आ गया। भयानक स्पर्धा जीतकर गंगा पाट से भिड़ भी गया! पीछे अंग्रेजी सेना दौड़ती आ रही थी; परंतु उसका सामना करने की शक्ति या समय अब शेष नहीं था, इसलिए उस चतुर वृद्ध ने एक अलग ही युक्ति भिड़ाई। उसने यह अफवाह फैला दी कि नौका न मिलने से कुँवरसिंह की सेना हाथियों से बाल्टिला के पास गंगा पार होने वाली है। यह समाचार अंग्रेजी जासूसों द्वारा पकड़कर डग्लस को सूचित करते ही वह प्रसन्नतापूर्वक अपने जासूसों पर गर्व करने लगा। अब कुँवरसिंह कहाँ जाएगा? उसका यह गुप्त समाचार मिल जाने से मैं उसे उसके हाथी सहित नष्ट कर दूँगा। इसलिए अंग्रेजी सेना बाल्टिला के पास जाकर उस भारी हाथी की राह देखती रही। ओ शूर वीर, मजे से छिपकर बैठो! तुम्हारी इस स्वनिर्मित कैद में तुम अटके पड़े हो और कुँवरसिंह का हाथी अब फिर आएगा इसलिए तब तक नींद निकाल रहे हो, इसी समय सात मील दूर कुँवरसिंह गंगा उतरकर जा रहा था। हाथियों से गंगा पार करने के समाचार से बाल्टिला की ओर उन्हें भेजकर कुँवर ने उतनी नौकाएँ तुरंत इकट्ठा कीं और रात-ही-रात में उसकी सेना मेयो घाट से श्री गंगा के जलाशय में प्रवेश कर गई। अंग्रेजों को उनके साथ किया गया धोखा ध्यान में आते ही वे भोर के समय सैदोपुर घाट पर गुस्से से भरे टूट पड़े और उन्होंने पांडे लोगों की एक नौका भी डुबो दी—पर वह अंतिम नौका थी। सारी सेना कुमार ने पहले ही गंगा पार उतार दी थी और क्षण-दो क्षण में अपनी सेना को सुरक्षित नदी पार हुआ देखकर वह भी पार हो गया होता; परंतु हाय! हाय! एक क्षण ने कितना घात किया? भारत भूमि का वह सौभाग्य तिलक, वीरांगन का वो अभिमान, स्वतंत्रता की वह तलवार—राणा कुँवरसिंह! गंगा पाट में बीचोबीच पहुँच गया तब शत्रु की एक गोली आई और उसके हाथ में घुस गई। यह देखते ही उस भीष्म ने क्या किया? अश्रु बहाने लगा क्या? रक्त का बहाव रोकने के लिए किसीसे सहायता माँगने लगा क्या? क्या उसका आसन उस तीव्र वेदना से किंचित् भी विचलित हुआ? नहीं-नहीं, ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। हाथ पर मक्खी बैठे उतना भी कंपित नहीं हुआ। उसने एक बार उस गोली की ओर तिरस्कार से देखा और कुँवरसिंह को मैंने एक क्षण भी अस्वस्थ किया उस फिरंगी

गोली को यह अभिमान भी न हो—ऐसा उसे लगा। उसने दूसरे हाथ से अपनी तलवार खींच ली और फिरंगी गोली से भ्रष्ट हुआ हाथ कुहनी से छाँट दिया और वह काटा हुआ टुकड़ा गंगा को अर्पण करते हुए कुँवरसिंह ने गंभीर गर्जना की—हे माता, हे गंगा, बालक का यह शेषोपहार स्वीकार कर![१] भागीरथी को हे माता, हे माता कहनेवाले सैकड़ों पृथजन आज तक जनमे और जनमेंगे, पर कुमारपाल तेरे कारण वह देवी जाह्नवी पुत्रवती हुई है!

'नक्षत्रतारागृहसंकुलापि, ज्योतिष्मती चंद्रमसैव रात्रिः!'

इस लोकोत्तर पुरुष द्वारा यह अलौकिक उपहार अपनी त्रिलोक विख्यात मातृगंगा को अर्पित करते ही उसकी शीतल फुहारों ने उसका देह सिंचन किया और इस मातृप्रेम से उत्साहित वह वीरवर अपनी सेना के साथ गंगा पार हो गया। उसका पीछा करती अंग्रेजी सेना हताश होकर गंगा के इस ओर ही कुँवरसिंह का नाम लेना छोड़कर बैठी हुई थी। तब वैर भाव से रहित हुआ वह सिंह कुमार शाहाबाद प्रांत के अपने जन्मसिद्ध जंगल में फिर एक बार घुसने लगा। २२ अप्रैल को उसने जगदीशपुर में भी प्रवेश किया और इस तरह जिस राजमंदिर से उसे कोई आठ माह पूर्व अंग्रेजों ने निकाल दिया था उसी जगदीशपुर के राजमहल में उसका अपना राजा फिर एक बार विराजने लगा। कुँवरसिंह के गंगा उतरकर आते ही उसका समान वीर बंधु अमरसिंह हजारों सशस्त्र ग्रामीणों के साथ उसे आकर मिल गया। इन लोगों को और गंगा उतरकर आए शूर सिपाहियों को कुँवरसिंह ने जगदीशपुर के चारों ओर के जंगल में निशाने-निशाने पर नियुक्त किया और छापामार युद्ध से विजयश्री पाया हुआ वह वीर रणपुरुष रण के लिए सज्जित होकर फिर से रण में उतरा।

और फिर युद्ध शुरू हुआ। कुँवरसिंह इतनी तेजी से जगदीशपुर में आ घुसा था कि पास में ही आरा की अंग्रेजी सेना को उसके आगमन की सूचना नहीं मिली। तब जगदीशपुर के राजमहल में कुँवरसिंह फिर से आ धमका है यह सुनकर आरा का अंग्रेज सेनानी ली ग्रांड गुस्से से आगबबूला हो गया। पूर्व अयोध्या से अंग्रेजी सेना को थप्पड़ मारते-मारते यह कुँवर गंगा उतर आया और खुद मेरे सीने पर से चलकर जगदीशपुर में राज्य करने लगा। पूरे आठ माह नहीं हुए जब होअर इसी जंगल में कुँवर को नरम करने घुसा था। वैसे ही आज मैं भी घुसूँगा और इस सारे अपमान का बदला लेकर वैसी ही विजय भी प्राप्त करूँगा। यह निश्चय कर वह ताजा दम अंग्रेज सेनानी चार सौ सैनिक और दो भयंकर तोपें लेकर २३ अप्रैल को जगदीशपुर पर टूट पड़ा। अब इस युद्ध में कुँवर कैसे टिका रहे? वह आज तक

---

१. 'आर्यकीर्ति' बाइ रजनीनाथ गुप्त ऑफ बंगाल।

लगातार लड़ते-लड़ते खड़ा हुआ है, उसकी सेना को कितने ही दिन भरपेट खाने को और घड़ी भर सोने को समय नहीं मिला! कल ही वह इस महायात्रा के बाद जगदीशपुर के राजमहल में आया—उसे और उसकी सेना को एक दिन की भी फुरसत नहीं मिली—उसकी सेना भी इस समय अंग्रेजों की रिपोर्ट के अनुसार—''उसकी सेना बेतरतीब बिखरी हुई, शस्त्र, अस्त्र, तोपें आदि युद्ध सामग्री से अपूर्ण पंगु सी बन गई थी।'' उनके पास एक भी बंदूक नहीं, उनके हताश लोगों की संख्या खींच-तानकर डेढ़ हजार, उनके पास टूटे-मुड़े शस्त्र, उनमें शिक्षित सिपाही नहीं के बराबर और स्वयं उस वृद्ध सेनानी का हाथ कल ही कटा था। पांडे लोगों की ऐसी सेना पर तोपों के साथ, ताजा दम उत्तम शिक्षित आंग्ल सेना के साथ ली ग्रांड का आक्रमण। इस असमान लड़ाई में विजय अंग्रेजों की होगी यह निश्चित था! वह अंग्रेज बहादुर जगदीशपुर की घनी झाड़ियों में घुस गया। इन झाड़ियों की लंबाई डेढ़ मील ही थी। झाड़ी में घुसते ही कुँवर के लोगों पर अंग्रेजी सेना गुर्राते हुए गोले छोड़ने लगी। कुँवर के पास तो तोपें थीं ही नहीं, पर ऐसा होते हुए भी कुँवर की सेना अंग्रेजी सेना की तोपों की खिल्ली उड़ाते हुए उसे घेरकर बाँधना चाहती थी। फिर अब, छोड़ें अंतिम बाण! अंग्रेजी सेना ने जोरदार हमला करने का निश्चय किया। वे कालदूत की तरह कुँवर पर टूट पड़े, कुँवर की सेना झाड़ियों में से उनका सामना करने लगी। अरे! अंग्रेजी सेना की हिम्मत एकदम टूट गई, पीछे लौटने का बिगुल बज उठा। कुमार ने अंग्रेजी सेना को ऐसी जगह और इस रीति से फाँस लिया था कि वहाँ खड़ा रहना या वहाँ से भागना ये दोनों ही समान रूप से घातक थे। इधर कुँवरसिंह के आदेश से उसके राजमहल का सारा महत्त्वपूर्ण सामान दूसरी जगह भेज दिया गया था। वैसे ही सरकारी कागज आदि न जलाकर उसने सिपाहियों को कहा कि अंग्रेजों को यहाँ से भगा देने के बाद वास्तविक वसूली और न्याय करने के लिए ये कागज अवश्य रखे जाने चाहिए। लोगों का उसके प्रति इतना आदर था कि उसके सामने कोई धूम्रपान करने की हिम्मत नहीं करता था।[१]

२३ अप्रैल को अंग्रेजी सेना को ऐसी धोबी पछाड़ देकर उस वृद्ध युवा राणा कुँवरसिंह ने अपने जगदीशपुर के राजमहल में विजयश्री के साथ प्रवेश किया।

यह उसका अंतिम प्रवेश था, क्योंकि विश्व की रंगभूमि पर अब कुँवरसिंह फिर से प्रकट नहीं होगा। उसके हाथ में गंगा पार में जो भयानक घाव हुआ था वह बहुत बढ़ जाने के कारण वह राजपूत कुलकीर्ति राणा कुँवरसिंह इस विजय के तीसरे दिन २६ अप्रैल को अपने पूर्वजों द्वारा अर्जित राजमहल में स्वतंत्रता के झंडे

---

१. 'आर्यकीर्ति' बाइ रजनीनाथ गुप्त ऑफ बंगाल।

के नीचे चिन्मय रूप में लीन हो गया। जब उसका जन्म हुआ था तब उसकी भूमि स्वतंत्र थी और उसका प्राणोत्सरण भी स्वतंत्रता के झंडे के नीचे हुआ। जिस दिन वह मरा उस दिन जगदीशपुर के रजबाड़े पर अंग्रेजों का निशान नहीं उसके स्वदेश एवं स्वधर्म का स्वातंत्र्य ध्वज ही फहरा रहा था। राजपूत के लिए इससे अधिक पुण्यतर मृत्यु कौन सी हो सकती है!

उसने अपने अपमान का प्रतिशोध लिया। उसने अंग्रेजी सेना जैसे प्रबल शत्रु के रणांगन में अत्यल्प साधनों से अनेक बार दाँत खट्टे किए थे। उसने स्वधर्म से धर्मद्रोह या स्वदेश से देशद्रोह नहीं किया। उसने अपनी भूमि की दास्य शृंखला तोड़कर उसे स्वतंत्र किया और युद्ध में आज अस्सी वर्ष के उस वृद्ध कुमार सिंह का विजयश्री ने अलौकिक आलिंगन किया हुआ है, तो हे सिंहकुमार, यही वह मुहूर्त है और यही वह वेला, हे धर्मपक्षीय भीष्माचार्य, यही उत्तरायण है—इसलिए तू अपने वीर तन का त्याग कर! और वह भी रोग से नहीं, युद्ध के घावों से! जैसा तेरा जीवन लोकोत्तर वैसी ही तेरी मृत्यु भी! इसीलिए वह कुमारसिंह उस दिन मरा। राजपूत के लिए इससे अधिक पुण्यतर मृत्यु कौन सी हो सकती है!

श्री कुमार सिंह की भूमिका किसी वीर काव्य के नायक स्थान पर शोभित हो सकती है। सन् १८५७ के क्रांतियुद्ध में यदि कोई सब प्रकार से योग्य नेता था तो वह कुँवरसिंह ही था। युद्ध कला में उसकी बराबरी कर सके, ऐसा कोई नहीं था। स्वातंत्र्य युद्ध में कूट युद्ध का कितना महत्त्व होता है यह सबसे पहले कुमार ने पहचाना और शिवाजी के कूट युद्ध की सही-सही नकल कैसे की जाए, उसी अकेले ने सिद्ध किया। तात्या टोपे और कुँवरसिंह के युद्ध चातुर्य की तुलना करें तो कुँवर की कूट पद्धति ही अधिक बेतोड़ थी ऐसा दिखाई देता है। तात्या ने कूट युद्ध की काट करने में अधिक चतुराई प्रकट की। परंतु कुँवर ने निषेध जैसी ही विधि रूप में भी कूट युद्ध की पूर्णता सिद्ध कर दी। तात्या ने सैनिकों का नाश नहीं होने दिया; परंतु कुमार ने तो उसके अतिरिक्त शत्रु सेना का यथाअवसर नाश भी किया। कूट युद्ध में पूर्ण विजय पाने के लिए यह सावधानी रखनी होती है कि बड़े शत्रु के आगे से भागते समय उस पराजय से अपनी सेना हताश या भयग्रस्त न हो। जान-बूझकर स्वीकारी हुई पराजय से उनकी आत्मनिष्ठा दुर्बल न हो और लड़ाई की बार-बार टाला-टूली से लड़ाई के संबंध में उनके मन में कोई स्थायी भय न समा जाए—इसके लिए छापामार युद्ध का सेनानी हमेशा सतर्क रहे। लड़ाई टालना अलग बात है और लड़ाई लड़ते हुए भीरुता के कारण पराजित होकर पीछे हटना अलग बात। अर्थात् कूट युद्ध में भीरुता के कारण पराजित होकर कभी पीछे नहीं हटना चाहिए। लड़ाई लड़नी ही पड़े तो ऐसी लड़ें कि शत्रु के मन में अपनी शूरता का

भयंकर भय उत्पन्न हो जाए और अपनी सेना आत्मनिष्ठा की स्फूर्ति से भर जाए। सेनानी की मुख्य खूबी यही होनी चाहिए कि अधिक हानि की आशंका की स्थिति में वह सामना टालता जाए। पर जब सामना हो ही जाए तो ऐसी शूरता प्रदर्शित करे कि जैसी बाजी प्रभु ने पावन घाटी में या कुमार ने तानू नदी के पुल पर दिखाई। सारांश यह कि लाभ में न हो तो लड़ाई टाले, लाभकारी हो तो लड़ाई लड़े, परंतु कभी भी रण में भय या अनुशासनहीनता से अपनी बदनामी न करवाए। शूरता से ऐसी लड़ाई लड़े कि रण में पराजय हो तो भी विश्व में सत्कीर्ति बढ़े। इससे शत्रु डर जाता है, अपनी सेना में अनीति नहीं बढ़ती, अनुशासन नहीं छूटता, उत्साह बढ़ने लगता है, शूरता का उत्कर्ष होता है, विजय पक्की होती है। शत्रु ने हमें शूरता से जीता है, ऐसा कभी न होने देना ही कूट युद्ध की कुंजी है।

तात्या टोपे ने छापामार युद्ध के विधिरूप का अवलंबन अधिक बार नहीं किया था। जब वे नर्मदा उतरे और जब कुँवरसिंह गंगा उतरे तब दोनों के युद्ध कौशल में क्या अंतर था यह स्पष्ट दिखता है। तात्या टोपे की सेना को डर के कारण बार-बार पराजय स्वीकार करनी पड़ी। परंतु कुँवर ने पीछे हटते हुए भी, शत्रु अपनी शूरता की डींग हाँके, ऐसी स्थिति नहीं बनने दी और जब-जब अवसर मिला तब-तब शत्रु को ऐसा झापड़ लगाया कि रण में उसकी सेना में अधिक आत्मनिष्ठा और वीर स्फूर्ति बनी रहती। तात्या अधिकतर अपनी इच्छा के अनुसार चल नहीं पाते होंगे और इसलिए उनको जो चाहिए था उस परिस्थिति में वे उतना नहीं कर पाते थे; पर कुँवरसिंह ने छापामार युद्ध लड़ते हुए शिवभूप की तरह ही सेना में कातरता और अनीति नहीं घुसने दी और लड़ाई टालना और लड़ाई करना—इस विधि-निषेध से वक्र युद्ध के दोनों ही अंगों का खेल करने में अप्रतिम युद्ध कौशल दिखाया। इसीलिए वह अंग्रेजी सेना के सीने पर तांडव करते-करते पवित्र विजयानंद में, अपने राजभवन में, स्वतंत्रता के झंडे तले और देवदूतों के पंखों के नीचे पुण्य पावन मृत्यु प्राप्त कर सके।

सन् १८५८ की २६ अप्रैल को इस दिव्य पुरुष के देवलोक जाते ही उसके सिद्धांतों का, उसके ध्येय का, उसकी सेना का और उसके ध्वज का सारा भार अपने सिर लेकर कुँवरसिंह का कनिष्ठ बंधु अमरसिंह गद्दी पर बैठा। कुँवरसिंह का यह कनिष्ठ बंधु अमरसिंह, एक ही सिंहनी की गर्भगुहा से संभव हुए थे, वे दो केसरी किशोर अपने प्रखर नखों की तीक्ष्णता में परस्पर तुल्य थे। भाई की मृत्यु के कारण इस लड़ाई में जरा भी ढील न देकर पूरे चार दिन भी विश्राम न करते हुए, यह रणपंडित राणा अमरसिंह भी आरा शहर का दरवाजा ठोकने लगा। ली ग्रांड की पराजय सुनकर पीछे गंगा किनारे ही खड़ा ल्यूगार्ड, ब्रिगेडियर डग्लस दोनों अपनी-

अपनी सेना के साथ अमरसिंह पर ३ मई को चढ़ आए। भिहिया, हंतमपुरा, दलितपुरा में विद्रोहियों पर हर दो-तीन दिन बाद अंग्रेज गोलीबारी करते। जगदीशपुर भी अंग्रेजों ने अपने कब्जे में ले लिया। उस सबल सेना के पंजे से छूटने तथा पराभव टालने को अमरसिंह ने एक अप्रतिम युक्ति खोज ली थी। उसने रणक्षेत्र में अपनी सेना की छोटी-छोटी टोलियाँ बनाईं और पराजय का रंग दिखते ही वे टोलियाँ शीघ्र ही इधर-उधर हो जातीं। उस प्रदेश के इंच-इंच की जानकारी उन्हें होने से नियत समय पर सारी टोलियाँ नियत स्थान पर इकट्ठा होतीं और फिर से अंग्रेजों की छाती पर या पीठ पर नाचने लगतीं। ऐसी अदृश्य सेना से अंग्रेज कैसे लड़ें? हर विजय पर वे सोचते अब विद्रोही पूरी तरह बिखर गए, पर दूसरे दिन देखते तो वह सेना कल जितनी थी फिर उतनी ही सामने खड़ी है। २७ मई से तो उनकी सेना अंग्रेजों को बिलकुल दिखती ही नहीं थी। किसी भूत-प्रेत की तरह उस सारे प्रदेश में अंग्रेजी सत्ता के कण-कण को पछाड़ते हुए भी अमरसिंह उन्हें प्रत्यक्ष कहीं नहीं दिख रहा था। एक टोली राजपुर होती तो दूसरी दमरान, तो तीसरी कर्मनाशा पर बने रेल कारखाने धूल में मिला देती। जंगल के इस छोर से अमरसिंह को निकालें तो वह जंगल का दूसरा छोर जीत लेता, जंगल के उस छोर की ओर अंग्रेजी सेना दौड़ती तो इस छोर पर अमरसिंह फिर राज्य करने लगता। शाहाबाद प्रदेश के समस्त लोकसमूह की सहानुभूति और सहकार मिलते रहने से अमरसिंह के साथ रण का खेल खेलते हुए ल्यूगार्ड और उसकी विशाल सेना की हड्डियाँ नरम पड़ गईं। १५ जून को वह निराश, हताश अंग्रेज सेनापति इस्तीफा देकर इंग्लैंड चला गया और उसकी थकी हुई सेना आराम करने छावनी में चली गई।

यह देखते ही सारी छोटी-छोटी टोलियाँ एकत्र हो गईं और जगदीशपुर का राणा अमरसिंह और उसकी सेना रण-मैदान में फिर से प्रकट हो गई। उस विजय आवेश से भरी उस सेना ने गया में कैद सारे विद्रोहियों को वहाँ की अंग्रेजी पुलिस से मुक्त कराया और इस तरह गया शहर स्वतंत्र हो गया और आरा की अंग्रेजी सेना को युक्ति से शहर के बाहर बुलवाकर उसपर अमरसिंह का झंडा लगा दिया। इस तरह हर ओर अमरसिंह का कहर बरपा और जुलाई में उसने फिर एक बार जगदीशपुर में प्रवेश किया। जुलाई बीती, अगस्त बीता, सितंबर बीता फिर भी जगदीशपुर में स्वतंत्रता का झंडा हर दिन की सूर्यकिरण में फहराता ही रहा। ब्रिगेडियर डग्लस जैसा अंग्रेज सेनानी और सात हजार अंग्रेजी सेना उस छोटे से राणा पर दाँत भींचकर टूटते रहे, उसका सिर काटने या उसकी योजना भंग करने, अनेक देशद्रोही भी उसकी सेना में धन का लालच देकर भेजे गए। जंगल में नए रास्ते बनाए गए, नाके-नाके पर अंग्रेजी सेना की पक्की कतार बाँधी गई। परंतु कुछ

भी करें जगदीशपुर का राणा परेशान नहीं हो पाया। उसके अनंत दाँव-घातों की सारी कथाएँ यहाँ स्थानाभाव के कारण नहीं दी जा सकतीं। इतना कहना काफी है कि स्वतंत्रता के पुण्य रण में वह रणसिंह राणा अमरसिंह आमरण ऐसे ही पूर्ण साहस से समरांगन में भिड़ा रहा।

अंत में उसे जगदीशपुर में ही कैद करके गाड़ देने के उद्‌देश्य से अलग-अलग सात अंग्रेजी सेनाएँ जगदीशपुर के सारे रास्ते बंद करती हुई चढ़ आईं। प्रदेश भर से सारे विद्रोहियों को इस जाल से भगाते-भगाते १७ अक्तूबर को वह कालपाश जगदीशपुर की सीमा से जा भिड़ा। हाय-हाय! अब इस कालपाश में वह स्वतंत्रता प्रेमी सिंह पकड़ा जाएगा! नियत समय पर ये सातों बलशाली सेनाएँ अचानक जगदीशपुर को घेर लें ऐसा कड़ा आदेश जारी हुआ और उस आदेश के अनुसार चारों ओर से बंद उस जगदीशपुर के पिंजड़े पर ये अलग-अलग आंग्ल सेना निश्चित घड़ी पर आ चढ़ी। और उस पिंजड़े के अमरसिंह पर कठोर वार हुआ। पर शाबाश रे अमरसिंह, शाबाश! इस कठोर वार को पिंजड़ा मिला, पर सिंह वहाँ नहीं मिला तो नहीं मिला!

क्योंकि छह सेनाएँ छह रास्तों से अचूक आ गईं फिर भी सातवीं सेना आने में पाँच घंटे की देर हो गई और इस विलंब का कुशाग्र अमरसिंह सुशीघ्र लाभ लेकर उसी रास्ते से और उन्हीं पाँच घंटों में सेना के साथ फरार हो गया। इन सात डोरियों के जाल की सातवीं डोरी टूटते ही सिंह मुसकराता हुआ बाहर निकला और भक्ष्यार्थ लगाया गया वह जाल उसीके नखों में फँसकर पूरी तरह फट गया।

अत: अब ऐसे जाल बुनते बैठने की बात भूलकर अंग्रेजों ने चुने हुए घुड़सवारों की एक टोली तैयार की और वह टोली विद्रोहियों का लगातार पीछा करे यह आदेश दिया। यह अखंड पीछा अमरसिंह की पीठ को लगते ही उसे तनिक भी विश्राम असंभव हो गया। साथ ही अंग्रेजों के पास अब एन्फील्ड रायफल जैसी नई बंदूकें आ गई थीं, उनकी मार लंबी थी और उनके सामने विद्रोहियों की मस्कट बंदूकें अच्छा काम नहीं कर सकती थीं। १९ अक्तूबर को अंग्रेजों ने एक गाँव में पहले क्रांतिकारियों को पीछे से घेरा और उनमें से तीन सौ लोग काट डाले। शेष बचे एक सौ लोग एक गाँव खेड़े में लड़ते बाहर के खेत में पागल बाघों जैसे घुस गए। परंतु उनको भी अंग्रेजों की नई कुमुक ने घेर लिया और तलवारों से उन्हें भी काट डाला। केवल तीन असामी पास के गन्ने के खेत में छिपे थे इसलिए बचे। और इन तीन लोगों में ही रणकुशल अमरसिंह भी था। यहाँ से बचकर अमरसिंह की सेना कैमूर पर्वतों में घुस गई। उसके पीछे-पीछे अंग्रेजी सेना भी घुसी। इसलिए उस पर्वत के हर टीले और हर शिखर पर लड़ाई करते-करते पांडे लोगों की उस

स्वातंत्र्य पूतना (पलटन) ने दिसंबर के अंत में रण में रक्त समाधि पाई। इस तरह बिहार प्रदेश के स्वतंत्रता समर की बहार उजड़ गई। फिर भी राणा अमरसिंह शत्रु के हाथ नहीं लगा। राणा अमरसिंह तो क्या, उसकी अंतिम वृत्तांत वार्त्ता भी शत्रु के हाथ अभी तक नहीं आई। अंतिम वृत्तांत किसीको भी पता न चलने देकर सदेह स्वर्गगमन की अनुमति कभी भूलोक के मनुष्यों को यदि स्वर्गलोक के देव, गंधर्व देते होंगे तो उस सम्मान के योग्य इस मर्त्य विश्व में केवल अमरसिंह ही था, यह निर्विवाद है।

□

प्रकरण–९

मौलवी अहमदशाह

लखनऊ की पराजय के बाद अयोध्या एवं रुहेलखंड के विद्रोहियों का अब कोई सबल मुख्य केंद्र नहीं रहा था। दोआब और बिहार में अंग्रेजों की पुनर्विजय की लहर सामने आते बाँध-बँधानों को धक्के-पर-धक्का देती बड़े वेग से आगे बढने लगी. इस कारण वहाँ भी पांडे पक्षीय नेताओं को आश्रय नहीं मिलने वाला था। ऐसी स्थिति में उन्हें विद्रोह के प्रारंभ में जो युद्ध पद्धति नहीं सूझी, वह सहज सूझ गई और उसका अवलंबन कर उन्होंने अंग्रेजों से यह तुमुल युद्ध जारी रखने का निश्चय किया; अंतर इतना ही था कि विद्रोह के प्रथम आवेश में यदि यह रास्ता चुना होता तो उसके सफल होने की संभावना बहुत अधिक थी। परंतु आज पराजय से दुर्बल होकर उस रास्ते पर कदम बढ़ाने से अंतिम सफलता तक पहुँचना बहुत दुष्कर हो गया था। तथापि दुष्कर हो, सुकर हो, म्यान से बाहर खींची तलवार समर्पण करके नीचे नहीं रखनी है, इस संकल्प से अयोध्या के विद्रोही नेताओं ने लखनऊ गिरते ही कूटयुद्ध पद्धति स्वीकार करके रुहेलखंड के विद्रोहियों की अलग-अलग टोलियों को निम्न प्रख्यात आदेश जारी किया—

''फिरंगियों की संगठित सेना से आमने-सामने लड़ने का प्रयास न करें। क्योंकि व्यवस्था, अनुशासन और कवायद में वे सेनाएँ आपसे श्रेष्ठ हैं और उनके पास बड़ी-बड़ी तोपें हैं। इसलिए उनसे खुले मैदान की लड़ाई न लड़कर छापे मारकर उनके आवागमन को रोकते रहें। नदी के सारे घाट दबाए रहें, उनका आवागमन तोड़ दें। उनकी रसद और डाक लूट लें। उनके थानों पर हमले करें और उनके शिविर के चारों ओर अखंड चक्कर लगाते रहें। फिरंगियों को विश्राम नहीं मिलना चाहिए।''[१]

---

१. डॉ. रसेल की डायरी, पृष्ठ २७६।

इस स्फूर्तिदायक और गुरिल्ला युद्ध लेख को प्रत्यक्ष में उतारने के लिए मौलवी अहमदशाह कोई उनतीस मील दूर अंग्रेजों की लखनऊ की सेना पर नजर गड़ाए बारी के पास ससैन्य बैठा था और दूसरी ओर बेगम हजरत महल भी छह हजार लोगों के साथ बिरौली के पास डटी हुई थी। इन दोनों सेनाओं को पीटने के लिए होप ग्रांट तीन हजार सैनिकों और प्रबल तोपखाने के साथ लखनऊ से पहले बिरौली की ओर चला। दूसरे दिन उसका जहाँ शिविर लगा था वहाँ एक परम साहस की बात प्रकट हुई। अंग्रेजी सेना अपने ऊपर हमला करने आ रही है—यह सुनते ही उस सेना की पूरी जानकारी प्राप्त करने मौलवी ने अपने जासूस भेजे। उस रात इन जासूसों की टोली अंग्रेजी छावनी में बिना संकोच जब घुसने लगी तो अंग्रेजी पहरेवालों ने पूछा—"कौन जा रहा है?" "हम १२वीं पलटन के लोग हैं"—यह उत्तर उन्होंने सुना। यह उत्तर पूरी तरह सत्य था। क्योंकि ये सारे जासूस १२वीं रेजिमेंट के ही थे। परंतु यह १२वीं पलटन तो वह थी जिसने गत जुलाई में विद्रोह करके अपने गोरे अधिकारी का कत्ल कर दिया था। यह उस अंग्रेजी पहरेवाले को क्या मालूम? उनका बिना संकोच घुसना, निश्चल उत्तर देना, संकोचहीनता और सावधानी देखकर वह पहरेदार 'ऑल वेल' कहकर चुप बैठ गया और यह टोली अंग्रेजी कैंप में शांति से घुस गई। वहाँ जो जासूसी करनी थी वह सब करके ये मौलवी के जासूस बाहर निकल आए और इस तरह मृत्यु के मुँह के दाँत गिनकर ये दूत अपने मौलवी के पास लौट गए।

जासूसों से प्राप्त सूक्ष्म समाचार सुनते ही उस युद्ध विशारद नेता ने अपनी योजना तुरंत बना ली। उसने अपनी सेना के साथ चार मील हटकर एक छोटा सा गाँव कब्जे में लिया। उस गाँव के सामने एक नदी थी और उसका किनारा ऊँचा और Honey Combed था। वह स्थान बहुत मजबूत था। मौलवी की चाल थी कि उस गाँव में वह अपनी पैदल सेना के साथ छिपा बैठा रहे और उसी समय उसके घुड़सवार एक दूर के मार्ग से जाकर अंग्रेजों के बाजू पर हमला करने को तैयार रहें। मौलवी को यह भलीभाँति ज्ञात था कि अंग्रेजी सेना कल भोर में असावधान स्थिति में वहीं आएगी। विद्रोही उस गाँव में न होकर बारी में हैं, इस विश्वास से निस्संकोच आनेवाला यह शिकार बंदूक की मार में आते ही, मौलवी सामने से मारे और उसके शुरू होते ही घुड़सवार अंग्रेजों के बाजू पर टूट पड़ें। मैलसन कहता है—"मौलवी की यह योजना बड़ी चतुरतापूर्ण थी। उसकी व्यूह रचना के ज्ञान का आभास इसीसे हो जाता है।"

इस शत्रु को भी चकित कर डालनेवाली यह उत्तम चाल सफल हो इसके लिए दो बातें आवश्यक थीं। पहली यह कि अंग्रेजों को उस गाँव तक आने के पूर्व

अपनी सेना उन्हें न दिखे—इस प्रकार छिपाकर रखना; और दूसरा गाँव से गोलीबारी शुरू होने के पूर्व तक बगल में छिपे घुड़सवारों का शांत बैठे रहना। मौलवी ने अपने कार्य बड़ी तत्परता से पूरे किए। रात-ही-रात पैदलों के संग वह गाँव उसने चुपचाप ले लिया। अपने घुड़सवार उसने तत्काल इष्ट मार्ग से बगल की ओर रवाना किए और उस गाँव में अपनी सेना का अस्तित्व इतनी उत्कृष्ट रीति से छिपाए रखा कि सुबह अंग्रेजी सेना असावधान, धीरे-धीरे वहाँ आ गई। घंटे-आधे घंटे की देर थी कि पांडे सेना की विजय निश्चित थी।

परंतु उस आधे घंटे में ही मौलवी का बनाया हुआ यह उत्कृष्ट जाल घुड़सवारों ने बिगाड़ दिया। अंग्रेजी सेना के उस जाल के पास पहुँचते ही नियत किए अनुसार घुड़सवारों ने उनकी पीठ पर उत्तम स्थान भी घेर लिया। वहाँ से असावधान छह हजार अंग्रेजी सैनिकों पर हमला करना बहुत सुलभ हो गया था, परंतु इतने में घुड़सवारों के अधिकारी अंग्रेजों की दो असुरक्षित तोपें देखकर लालच में आ गए और मौलवी का आदेश भूलकर उनपर आक्रमण कर बैठे। तुरंत ही तोपें उनके हाथ में आ गईं। पर क्षण भर बाद वे तोपें ही नहीं बल्कि मौलवी का सारा जाल अंग्रेजों ने छीन लिया। क्योंकि यह पीछे की भीड़ देखते ही वे पूरी तरह सावधान हो गए और सामने का गड्ढा भी उन्हें दिखाई दे गया। थोड़ी सी हाथापाई होते ही अपने घुड़सवारों की लापरवाही से नष्ट हुआ जाल फेंककर मौलवी एक और अवसर खोजने आगे निकल गया।

१५ अप्रैल के आसपास होप ग्रांट बारी और बिरटौली से लखनऊ के विद्रोहियों को ऊपर धकेलते हुए उधर रुइया किले के पास अयोध्या और अंग्रेजों की एक भिड़ंत हो रही थी। पीछे दोआब में विद्रोह को नष्ट करने कानपुर में जैसे अंग्रेजी सेना चारों ओर से विद्रोहियों को एक साथ दबाती फतेहगढ़ की ओर गई थी वैसे ही अब विद्रोहियों को अयोध्या से समाप्त करने का कार्यक्रम कमांडर-इन-चीफ ने लखनऊ में आयोजित किया।[१] अयोध्या के पूर्व भाग और बिहार प्रांत में ल्यूगार्ड (जिसका उल्लेख पूर्व में भी आया है) और डग्लस को भेजा, बारी-बिरौली से सर होप ग्रांट और बालपोल गंगा किनारे से ऊपर गया। इनकी और कमांडर-इन-चीफ की शेष सेना की योजना ऐसी थी कि अयोध्या से ऊपर-ही-

---

१. On the first of April 1858 there were 96000 British solidiers in India besides a large body of reliable native troops, raised in haste some of whom had already shown that they were capable of doing good service–a very different state of affairs from the one which prevailed six months before. —Roberts, Vol. I

ऊपर विद्रोहियों को रुहेलखंड में चापा जाए और वहीं उनसे अंतिम मारामारी की जाए। इस कार्यक्रम के अनुसार ९ अप्रैल को बालपोल सर्वांगपूर्ण सबल सेना ले, लखनऊ से निकलकर गंगा किनारे से ऊपर चला। १५ अप्रैल को वह लखनऊ के उत्तर में इक्यावन मील पर स्थित रुइया के किले तक पहुँचा।

यह किला बहुत बड़ा नहीं था और उसका मालिक नरपतसिंह भी एक छोटा जमींदार था। फिर भी स्वतंत्रता का यह महायज्ञ शुरू हो जाने के बाद से नरपतसिंह ने उसीकी स्थंडिल पर अपना सर्वस्व अर्पण किया था। आज उसपर एक जाज्वल्य तोपखाने के साथ प्रचंड अंग्रेजी सेना ने हमला किया है। उसके पास किले में सौ-डेढ़ सौ लोग भी नहीं थे। फिर किला खाली कर विद्रोही बिना शर्त समर्पण करेंगे ही, अंग्रेजों को यह विश्वास होने लगा। पर उस दिन प्रात: नरपतसिंह की कैद से एक यूरोपियन छूटकर आया। उसने अंग्रेजों को बताया कि नरपतसिंह कहता है—''किला खाली करेंगे पर रण में चार हाथ कर लेने के बाद।''

रण में? यह विद्रोही नरपत हमें रण में हाथ दिखाएगा? और फिर किला खाली करेगा? बालपोल ने कहा—''उसे उसके किले सहित उसी जगह पर गाड़ डालें, चलो!'' सदैव की भाँति अंग्रेजी सेना ने खबर फैलाई कि किले में दो-तीन सौ नहीं पंद्रह सौ लोग हैं! नरपत को हम अवश्य मसल देंगे, जबकि उसकी सेना हमसे बहुत भारी है। यह समाचार फैलाने के पहले उसे जीतने में गौरव ही क्या? इसलिए बालपोल ने भी कहा—''ठीक है, नरपत पंद्रह सौ सैनिक होने के कारण ही ऐसे उद्धत बोल बोल रहा होगा। किले में कैद रहे यूरोपियन ने जो प्रत्यक्ष देखा कि डेढ़ सौ लोग हैं वह केवल ठोकी होगी। किले पर सेना चलने लगी और वह भी किले के किसी दुर्बल गिरे हुए भाग की ओर नहीं, सामने की मजबूत दीवार पर। किले के सामने की झाड़ी से यह अंग्रेजी सेना घुसती देखकर नरपत के मजबूत योद्धा गोलियाँ चलाने लगे। अंग्रेज खंदक से भिड़ते ही मारामारी बहुत हुई। काफे के एक सौ बीस लोगों में से छियालीस लोग वहीं-के-वहीं मारे गए। काफे पीछे हटा। उधर ग्रूव को भी विद्रोहियों ने उसकी जगह पर ही मरने के लिए बाँधे रखा। किले के मजबूत पार्श्व से आता यह अकल्पित संकट देखनेवाला योद्धा बालपोल अपनी तोपें लेकर खंडहर बाजू की ओर गया। और उसने तोपें इतनी कुशलता से चलवाईं कि अंग्रेजी सेना का इस ओर से दागा हुआ गोला किले को लाँघकर दूसरी ओर अंग्रेजी सेना के ऊपर जाकर गिरता। केवल शत्रु से लड़नेवाले सेनानी बहुत हुए और होंगे, पर शत्रु और स्वयं से समान वीरता से लड़नेवाला सव्यसाची वीर बालपोल के सिवाय दूसरा नहीं मिलना। बालपोल का समर चातुर्य देखकर घबराया अंग्रेज योद्धा होप उस रण क्षेत्र में अंग्रेजी पक्ष सँवारने आया तो

वह भी मारा गया। विद्रोहियों की मार से ग्रूव भी पीछे हटने लगा। इधर-उधर त्राहिमान। बुरी तरह भ्रम में पड़ी अंग्रेजी सेना उन ढाई सौ विद्रोहियों के धिक्कार के साथ रण छोड़कर चली गई।

होप जैसा योद्धा बलि चढ़ गया यह सुनकर इधर-उधर हाहाकार मच गया। लॉर्ड केनिंग, सर कोलिन, सारा इग्लैंड शोक विह्वल हो गया। हजारों अंग्रेज लोग मरे होते तो भी इतना दु:खी न होता, जितना उस लोकप्रिय होप की मृत्यु से इंग्लैंड देश दु:खी हो गया।

अंग्रेजी सेना की पूर्ण पराजय और होप की मृत्यु! उस बहादुर नरपतसिंह ने अपनी कही सच करके दिखाई। रण में शत्रु को हाथ दिखाऊँगा। अपने ढाई सौ अनुयायियों के साथ उसने वह किला तुरंत छोड़ दिया।

अपनी इन अलग-अलग अंग्रेजी सेनाओं से अयोध्या के सारे विद्रोहियों को रुहेलखंड में दबोचते ले जाने पर अपनी ये अलग-अलग सेना इकट्ठी करके कमांडर-इन-चीफ सर कोलिन रुहेलखंड की ओर चला। अयोध्या से भगाए गए विद्रोही नेता शाहजहाँपुर में इकट्ठा हो गए थे। वहीं नाना साहब थे, वहीं मौलवी अहमदशाह भी थे। इस जोड़ी को पकड़ने के लिए सर कोलिन ने आज तक कितनी ही बार दीर्घ प्रयास किए थे, परंतु वे दोनों ही अभी तक अजित-के-अजित बने रहे। अत: वे रुहेलखंड में शाहजहाँपुर में इकट्ठा हैं यह समझते ही सर कोलिन ने बहुत परिश्रम से उस शहर को घेरने का प्रयास किया और वे दोनों प्रथित पुरुष बस हाथ में आ ही गए हैं, ऐसा समझकर वह ३० अप्रैल को शाहजहाँपुर से आ तो भिड़ा, पर उन दोनों पंछियों के उड़ जाने के बाद। सर कोलिन का मन विषाद से भर गया। उसने चारों दिशाओं से चार सेनाएँ शाहजहाँपुर और बरेली भेजी थीं और उसे विश्वास था कि उसके जाल से एक भी विद्रोही छूटेगा नहीं। परंतु वस्तुस्थिति यह थी कि अति प्रबल विद्रोही उस जाल से निकलकर पार हो गया और वह भी स्वयं कमांडर-इन-चीफ की डोरी को झटका देकर।

मौलवी और नाना तो भाग ही गए, परंतु अब बरेली का दाँव भी असफल न हो जाए इसलिए शाहजहाँपुर में चार तोपों के साथ एक अंग्रेजी सेना रखकर उदास कमांडर-इन-चीफ बरेली के लिए चला और ४ मई को एक दिन के अंतर पर आकर उतरा। बरेली में खानबहादुर खान अभी तक राज्य कर रहे थे। दिल्ली और लखनऊ हार जाने पर निराधार हुए विद्रोहियों के नेता इसी स्वतंत्र राजधानी में आकर रह रहे थे। दिल्ली के राजवंश का रणकुशल राजपुत्र मिर्जा फीरोजशाह, श्रीमंत नाना साहब, मौलवी अहमदशाह, राजा तेजसिंह और अन्य कितने ही नेता खानबहादुर खान के अभी तक स्वतंत्र इस राज्य में घुसे होने से बरेली शहर पर

अंग्रेजों की बड़ी आँख थी। पर खानबहादुर खान और तत्पक्षीय नेताओं का उस शहर में यूँ ही दृढ़ता से लड़ते रहने की अपेक्षा एक-दो हाथ होते ही छोड़कर पहले की गई प्रख्यात घोषणा के अनुसार प्रदेश में धींगामुश्ती करने का विचार निश्चित था। अंग्रेजी सेना एक दिन की दूरी पर आते ही बरेली में अपने को बंद करने के अंग्रेजी प्रयास विफल करने के लिए शहर छोड़ने की तैयारी करके उन्होंने बाहर जाने का रास्ता रोके रखा। परंतु फिरंगी शत्रु को एक तगड़ा झापड़ लगाने के पूर्व और अपना रण कर्तव्य कुछ तो भी पूरा किए बिना बाहर निकलने को वह तेजस्वी रक्त तैयार नहीं था। इसलिए ४ मई को वे अंग्रेजों का सामना करने रण में उतरे।

इस रणभूमि में जो अंग्रेजी सेना थी वह अभूतपूर्व थी, प्रबल थी, उनका भयंकर बड़ा तोपखाना, उनकी उत्कृष्ट घुड़सेना, उनकी अनुशासित पैदल सेना और इस बहुसंख्य तीक्ष्ण सेना पर स्वयं सर कोलिन का सेनापतित्व! इस सेना पर खानबहादुर की तोपों का कोई प्रभाव नहीं हुआ, वे बरेली पर बिना रुके चढ़ते चले आए। ५ मई को तोपें छोड़कर विद्रोहियों ने तलवार निकाली। विजय की कोई आशा न होते हुए भी या यूँ कहें वैसी आशा नहीं थी तभी तो रण-मैदान से वापस न लौटकर हँसते-हँसते मृत्यु का आलिंगन करनेवाले भयंकर गाजी की यह तलवार थी। किसी भी धर्म युद्ध में शत्रु का प्राण लेना या लेते हुए मरना माने स्वर्ग के दरवाजे धड़ाधड़ खुलवाना होता है, यह जिसकी दृढ़मूल अनिवार्य श्रद्धा है, यह उन धर्मवीरों की तलवार थी। वही तलवार खींच ये गाजी लोग अकस्मात् अंग्रेजी सेना पर टूट पड़े। दाढ़ी के बाल बढ़े हुए, हरे साफे सिर पर बँधे, कमरबंध कसा हुआ, अँगुली में चाँदी की चपटी मुद्रा और उसपर कुरान के धर्म वाक्य खुदे हुए, ऐसे भव्याकृति वीर दाहिनी ओर तीर की तरह घुसे और अंग्रेजी सेना पर टूट पड़े। अपनी ढाल साधे, और तलवारें सूर्यप्रकाश में चमकाते 'दीन-दीन' की गर्जना के साथ नाचते वे शत्रु पर टूटे। उनके टूटते ही अंग्रेजी सेना झटके से पीछे हट गई। ४२वें हायलैंडर्स आगे आए। उनपर यह वज्राघात गिरा। उन्होंने तेजी से फिरंगियों को काटना शुरू किया। उनके कुछ लोग आगे घुसे और अंग्रेज पीछे चले गए। गाजियों की टोली में से एक भी पीछे नहीं लौटा। मारते, छाँटते, काटते उनमें से हर एक जहाँ लड़ा वहीं कटा। एक अवश्य काटे जाने के पहले रण में गिर गया, क्यों? रुको, एक क्षण पूछो, नहीं—यह देखो, उधर से अंग्रेजी कमांडर-इन-चीफ एकदम पास आ गया। उसे देखते ही यह मरने का नाटक करके सोया आदमी शेर की भाँति झपटकर उछला। पर पास के एक तैयार सिख ने उसकी गरदन तत्काल अलग कर दी।

विश्व इतिहास में अप्रतिम साहस, ध्येय-निष्ठा, शहादत और मृत्युंजयता के जितने भी उदाहरण होंगे उनमें से कोई भी उदाहरण बरेली के इस स्वातंत्र्य समर के

गाजियों में से भी नहीं होगा।

दूसरे दिन सर कोलिन का जाल तोड़-ताड़ खानबहादुर खान सेना सहित बरेली से बाहर निकले और ७ मई को अंग्रेजों ने बरेली पर कब्जा कर लिया।

खानबहादुर खान ने रण चपलता में अपने दाँव-पेच विफल कर दिए, इससे उदास होकर कमांडर-इन-चीफ बरेली में प्रवेश कर ही रहा था तभी उसके और सारी अंग्रेजी सेना के बीच एकाएक मौलवी! मौलवी! ऐसी आश्चर्यजनक कानाफूसी प्रारंभ हो गई।

हाँ, आश्चर्यचकित करनेवाला ही एक दाँव उधर शाहजहाँपुर की ओर मौलवी ने डाला था। सर कोलिन को पूरी तरह छकाकर मौलवी और नाना साहब जो सटके वे केवल लड़ाई टालने के लिए ही नहीं सटके थे। शाहजहाँपुर से निकलने के पूर्व—नाना के आदेश से वहाँ के सारे सरकारी भवन गिरा दिए गए थे। अपने जाने के बाद वहाँ अंग्रेजी सेना आएगी और सेना की एक छोटी टुकड़ी वहाँ रखकर सर कोलिन बरेली जाएगा, यह समझकर उस कुशाग्र मौलवी ने शाहजहाँपुर छोड़ा था। अंग्रेजी सेना बरेली में कितनी देर रहेगी यह पक्का जानकर मौलवी ने ऐसा जाल रचा कि सर कोलिन के जाते ही—शाहजहाँपुर में उतरना वहाँ के मुट्ठी भर अंग्रेजों को मटियामेट कर बरेली का बदला ले लेना है। मौलवी ने दूरदृष्टि से जो सोचा वैसे ही शाहजहाँपुर में छोटी सी सेना रह गई और सारे भवन तोड़ दिए जाने के कारण उन्हें मैदान में ही उतरना पड़ा।

इस तरह सारी योजना बनती चली गई। २ मई को वह थोड़ी सी अंग्रेजी सेना भी शाहजहाँपुर छोड़कर जानेवाली है—यह ज्ञात होते ही दिन-रात मंजिलें तय करते हुए मौलवी अहमदशाह दौड़ने लगा और उसका असावधान शिकार एकदम उसके पंजे के पास आ गया। परंतु उस मध्यरात्रि में ही हमला न करते हुए मौलवी की सेना किसीकी मूर्खता के कारण, किंचित् समय पूर्व चार मील दूर खड़ी हो गई। इतने भर से सारी योजना बिगड़ गई! क्योंकि 'Native spies employed by the British were on the alert and one of these flew with the intelligence of his dangerous vicinity to colonel Hale of Shahajahanpur.' उस नेटिव पिशाच के वह समाचार अंग्रेजों को बताते ही उनकी वह छोटी सेना जेल के मजबूत भवन में घुस गई। मौलवी योजनानुसार वहाँ पहुँचा। उसने सारा शहर कब्जे में लिया, किला लिया और युद्ध की यथान्याय पद्धति के अनुसार शहर के श्रीमंत लोगों पर रसद कर लगाया। मैलसन लिखता है—''मौलवी ने वही बरताव किया जो यूरोप की युद्ध-नीति में किया जाता है।'' और तुरंत आठ तोपें मँगाकर उसने जेल में छिपी अंग्रेजी सेना पर गोलीबारी शुरू कर दी।

यह खबर ७ मई को बरेली पहुँचते ही सर कोलिन की खुशी सातवें आसमान पर पहुँची। पहले मौलवी जब उसके हाथ से निकल भागा था तभी से वह मन-ही-मन बहुत खार खाए था। वह भूल सुधारने का अवसर अब मौलवी ने ही दे दिया। अपने आप शत्रु के जाल में घुसे इस शिकार पर झपट्टा मारने सर कोलिन निकला। इस समय उसने पूरा परीक्षण कर लिया कि जाल में कहीं भी सेंध न रह जाए! ११ मई से उस अकेले मौलवी और इस प्रचंड अंग्रेजी सेना की भयंकर लड़ाई आरंभ हो गई। यह समाचार सुनते ही उस लोकप्रिय मौलवी की सहायता के लिए विद्रोहियों के झुंड-के-झुंड दसों दिशाओं से आने लगे। अयोध्या की बेगम, मय्यन साहब मोहम्मदी का राजा, दिल्ली का मिर्जा फीरोजशाह, कानपुर के नाना साहब आदि सारे स्वतंत्रता सेनानियों की सेनाएँ १४ मई के पहले ही मौलवी के झंडे तले आ गईं। जिस शिकार को पकड़ने के लिए अंग्रेजों ने कोई छेद न छोड़ते हुए जो विशाल जाल बुना था, उस शिकार ने ही उसपर अपने भयानक पंजे फैलाकर चोट कर दी। छेद नहीं छोड़ा इसलिए वह जाल ही काट डाला और मौलवी फिर से अपनी सेना के साथ शाहजहाँपुर से लड़ते-लड़ते बाहर निकल गया। मौलवी के पकड़े जाने का सर कोलिन को इस समय इतना विश्वास था कि उसका नाश निश्चित मानकर उसने सेना में नियुक्तियाँ भी कर दी थीं। मौलवी उस जाल से छूटते ही गया किधर? तो अयोध्या में, जिसे भारी प्रयास से जीतकर शत्रुविहीन किया गया था। अंग्रेजों ने अयोध्या जीती तो मौलवी ने रुहेलखंड जीता; अंग्रेजों ने रुहेलखंड जीता तो मौलवी फिर अयोध्या में सेना सहित आ जमा!

इस तरह अपने देश के शत्रु से, अपने देश के सम्मान की रक्षा के लिए, अपने देशबंधुओं की ओर से, यह देशभक्त मौलवी झगड़ रहा था, तब उसे समाप्त करने का विकट काम कौन करेगा? जिसने सर कोलिन की तलवार को धिक्कार कर हताश कर दिया, उसे अब किसकी तलवार मार सकती है? अब क्या करें?

क्या करें? इतनी चिंता किसलिए? अरे पिछला इतिहास देखो, कितनी ही बार हिंदुस्थान के सौभाग्य को आग लगाना अंग्रेजों को संभव हुआ। फिर, तब जिन्होंने वह सौभाग्य जलाया, वे आज भी जलाएँगे! अंग्रेज धैर्य रखें, क्योंकि सर कोलिन की तलवार की धार भोथरी करनेवाली हिंदुस्थानी ढाल इस मौलवी की देह अंत में एक हिंदुस्थानी कुलघाती-कुलकलंकी ने फाड़-फूड़कर जला डाली।

अयोध्या में घुसने के बाद अंग्रेजों की विजय का जितना प्रतिरोध करना संभव हो, उतना करते हुए मौलवी के ध्यान में आया कि अयोध्या और रुहेलखंड के बीच पोवेन रियासत है, उसका राजा यदि अपने पक्ष में हो गया तो अंग्रेजों के विरुद्ध चल रहे संघर्ष को अधिक मदद मिलेगी। इसलिए उसने इस आशय का

संदेश पोवेन के राजा को भेजा। यह हाथ भर की रियासत का राजा शरीर से संडमुसंड, मति से जड़, सुख भोगी और अकर्मण्यता से मतिमंद हो गया था। रण का नाम सुनते ही उसके शरीर पर काँटे खड़े हो गए। फिर भी मौलवी से प्रत्यक्ष मिलने को हम तैयार हैं, यह उसने सूचित किया। फिर बेगम की राजमुद्रा लेकर उसका एक प्रतिनिधि पोवेन शहर की ओर चला। मौलवी ने अपने कुछ अनुयायियों के साथ पोवेन शहर की दीवार के पास आते ही देखा कि दीवार के दरवाजे बंद हैं और दीवार पर सशस्त्र लोग खड़े हैं तथा वह मोटा राजा जगन्नाथसिंह अपने भाई के साथ उनके बीच में खड़ा है। इस संशयपूर्ण दृश्य का अर्थ यद्यपि उसने समझ लिया फिर भी रण-मैदान में खेला हुआ वह वीर उस दृश्य से घबरानेवाला नहीं था। उसने दीवार के बाहर से ही उस राजा से बातचीत की। अपने ध्येय को पाने के लिए सर्वस्व राख होने तक तलवार नीचे नहीं रखूँगा, यह जिस पुरुष सूर्य की प्रतिज्ञा थी उसका वह तेजस्वी बयान उस दीवार पर खड़े उल्लू को बहुत भयानक लगना स्वाभाविक था। जब मौलवी ने देखा अब इस डरपोक को डराए बिना मेरा यह कथन सफल नहीं होगा तब उसने अपने महावत को आदेश दिया कि दीवार का द्वार तोड़ने के लिए हाथी को आगे बढ़ाया जाए। जिसपर वह बैठा था उसी विशाल हाथी का मस्तक उस प्राचीर के द्वार पर धड़ाधड़ टकराने लगा। और एक टक्कर कि उस दरवाजे का निश्चित ही चूरा हो जाएगा। उसी समय राजा के भाई ने बंदूक चलाई और उसकी गोली ने मौलवी अहमदशाह! मौलवी अहमदशाह को उस परकोटे पर खड़े एक हिंदुस्थानी कुलांगार ने गोली चलाकर मार डाला। तुरंत ही वे दोनों भाई परकोटे के बाहर आए और उन्होंने मौलवी का सिर गरदन से उतार लिया। उस सिर को एक रूमाल में बाँधा और वे तेरह मील दूर स्थित शाहजहाँपुर दौड़ते गए। अंग्रेज अधिकारी खाना खा रहा था तभी वह राजा अंदर घुसा। उसने अपने हाथ का रूमाल खोला और रक्त से सने मौलवी के सर को उसने अंग्रेज के पैरों के पास लुढ़का दिया। दूसरे दिन अंग्रेजों ने शहर कोतवाली पर वह सिर टाँग दिया और इस बहादुरी के लिए पोवेन के राजा को पचास हजार रुपया पुरस्कार दिया।

पोवेन के राजा! पोवेन के चांडाल! तेरे देशद्रोह से यदि सचमुच तन-बदन में आग लगती हो तो इस प्राणी की प्रतिमा हर घर में नरक कूप के दरवाजे टाँगी जाए।

मौलवी अहमदशाह ऊँचा, इकहरा, कसा हुआ, भारतभूमि के हाथ की किसी सतेज तलवार जैसा था। उसकी नाक सीधी, भौंहें कमान जैसी। उसके मरते ही अंग्रेजों ने कहा—''उत्तर भारत का ब्रिटिशों का भयंकर शत्रु समाप्त

हुआ।'' अंग्रेजों के इस भयानक शत्रु के संबंध में अंग्रेजी इतिहासकार मैलसन कहता है—''उसके सैन्य नेतृत्व और युद्ध चातुर्य के विद्रोह में अनेक उदाहरण घटित हुए हैं। उसके अंतिम समय के दाँव-पेच तो अप्रतिम थे। सर कोलिन को दो बार भग्नचातुर्य कर बिखेर देने का सम्मान उसके सिवाय अन्य किसीको भी प्राप्त होना असंभव था। इस तरह यह फैजाबाद का मौलवी अहमदशाह रण में चमका। अपने जन्मसिद्ध देश की अन्याय से छीनी हुई स्वतंत्रता वापस लेने जो पुरुष विद्रोही संगठन खड़ा कर युद्ध करता है वह यदि देशभक्त कहलाता है तो मौलवी अहमदशाह वास्तव में ऐसा ही देशभक्त था! खून से उसकी तलवार गंदी नहीं हुई, खून के लिए वह सहमत नहीं था। जिसने उसका स्वदेश छीना था उस उचक्के विदेशी से वह लड़ा। वीरोचित लड़ा। रणनीति से लड़ा। दृढ़ता से लड़ा और इसलिए उस लोकोत्तर मौलवी की स्मृति सारे राष्ट्र के रणवीरों और सत्यप्रियों के आदर की सत्पात्र हो गई थी।''[१]

□

---

१. ''मौलवी एक असाधारण व्यक्ति था। विद्रोह काल में उसके सैनिक नेतृत्व की योग्यता का परिचय कई प्रसंगों मे मिलता है।''सर कैंपवेल को दो बार रण में मुँह की खिलाने का साहस दूसरा कोई नहीं कर सकता।'' —मैलसन कृत—'इंडियन म्युटिनी', खंड ४, पृष्ठ ३८०

प्रकरण–१०

रानी लक्ष्मीबाई

जिन राजाओं ने अपने पीछे राज्य का कोई उत्तराधिकारी नहीं छोड़ा था, उनका राज्य ईस्ट इंडिया कंपनी में मिलाने की नीति लॉर्ड डलहौजी ने अपनाई। डलहौजी की इस अपहरण नीति के अंतर्गत गोद लेकर उत्तराधिकारी बनाने का अधिकार भी नहीं दिया गया था। यही बात झाँसी के लिए थी। झाँसी राज्य भी अंग्रेजों ने हथियाना चाहा। विधवा रानी लक्ष्मीबाई ने विरोध के स्वर में कड़कर कहा, ''क्या मैं झाँसी छोड़ूँ? नहीं छोड़ूँगी। किसीकी हिम्मत हो तो आजमा ले। मैं अपनी झाँसी नहीं दूँगी।''

झाँसी की लक्ष्मी के कंठ से स्वातंत्र्य-कौस्तुभमणि छीनने का साहस किसमें था? इस समय संपूर्ण दैत्य-दानव एकत्र होकर आएँ—साक्षात् मृत्युदेव यमराज भी लक्ष्मीबाई से युद्ध करके झाँसी लेना चाहें तो भी झाँसी उन्हें नहीं मिल सकती। जब तक लक्ष्मीबाई के अंदर रक्त की एक बूँद भी शेष रहेगी तब तक उसकी स्वातंत्र्य-कौस्तुभमणि उसके कंठ में ही शोभा पाएगी और उसकी धधकती ज्वाला में देशद्रोही, अंग्रेज नराधम जलकर भस्म होंगे। झाँसी, झाँसी का राजप्रासाद, जरीपटका (मराठी कपड़ा), राजसिंहासन, उसका सतीत्व आदि सब झाँसी की रानी लक्ष्मी के साथ स्वाधीन रहेंगे या स्वाधीनता की यज्ञाग्नि में भस्म हो जाएँगे।

अपनी बुलंद आवाज 'नहीं, मैं अपनी झाँसी नहीं दूँगी। जिसकी हिम्मत हो तो आजमा ले।' के साथ वीरांगना लक्ष्मीबाई अंग्रेजों से लोहा लेने को तत्पर हो गई। संपूर्ण बुंदेलखंड में आगामी क्रांति के लक्षण दिखाई देने लगे। सागर, नौगाँव, बाँदा, बानापुर, शाहगढ़ और कालपी में प्रतिशोध की भयंकर अग्नि प्रज्वलित होने लगी। अब तक झाँसी की स्वतंत्रता अक्षुण्ण रही। झाँसी की प्रजा शांत, सुखी और व्यवस्थित रही; किंतु डलहौजी ने स्वतंत्रता की उस मणि को अपहृत किया, पर

लक्ष्मी ने मणि को उससे छीन लिया और विजय गर्व से राज्य संचालन करती रही। कमलासना लक्ष्मी अब युद्ध देवी के रूप में शोभा पा रही थी। अब उसके युद्धोचित वेश से आँखें चौंधिया जाती थीं। नखशिख तक वह शस्त्रों, युद्धाभूषणों से सजी थी। इन दिनों रानी की दिनचर्या इस प्रकार बताई गई है—

"प्रात: पाँच बजे से जाकर इत्र से सुगंधित जल से स्नान करती थीं। उसके बाद वस्त्र धारण करती थीं। साधारण तथा सफेद चंदेरी साड़ी उन्हें पसंद थी। तदनंतर पूजा पर बैठ जातीं। विधवा होते हुए भी प्रायश्चित्ताघ्र्य देती, तुलसी वृंदावन में तुलसी की पूजा करतीं। उसके बाद पार्थिव पूजा होती। दरबारी संगीतज्ञ साम गायन करते। फिर कथावाचक कथा सुनाते। समाप्ति पर मांडलिक सरदार वंदना करते। दरबार के समय साढ़े सात सौ दरबारियों में जब कोई अनुपस्थित रहता तो दूसरे दिन अपनी तीव्र स्मरणशक्ति का परिचय देती हुई अनुपस्थित रहने का कारण पूछतीं। पूजा-पाठ के बाद प्रातराश (नाश्ता) करतीं। विशेष जल्दी का कार्य न होता तो नाश्ते के बाद एक घंटे आराम करतीं। उसके बाद भेंट में आए उपहार, चाँदी के थालों में रखे, रेशमी वस्त्रों से ढके उनके सामने पेश किए जाते। उनमें पसंद की वस्तुओं को स्वीकार करतीं, जो नौकरों में वितरण करने के लिए कोठीवालों को दी जातीं। अपराह्न तीन बजे पुरुष वेश में दरबार में जातीं। उस समय की वेशभूषा होती—पायजामा, गहरे नीले रंग का कोट, सिर पर टोपी और उसपर सुंदर सी पगड़ी बाँधतीं। बूटे का काम किया हुआ दुपट्टा पतली कमर में बाँधतीं, जिसमें रत्नजटित तलवार लटकती। इस वेश में वह साक्षात् गौरी मालूम देती थीं। पुरुष वेश के अतिरिक्त कभी-कभी स्त्री वेश के भी वस्त्र पहनती। विधवा होने के बाद सौभाग्य अलंकरण नथनी आदि वह धारण नहीं करती थीं। कलाई में हीरे की चूड़ियाँ, गले में मोतियों का हार और कनिष्ठका अँगुली में हीरे की अँगूठी रहती। बालों का जूड़ा बाँधतीं। सफेद साड़ी और सफेद कंचुकी पहनती। इस प्रकार दरबार में कभी पुरुष वेश, कभी स्त्री वेश में बैठतीं। दरबारी लोग उन्हें प्रत्यक्ष नहीं देख पाते थे। उनका कमरा अलग होता था, जिसका दरवाजा दरबार में खुलता था। सोने के बेलबूटों से सज्जित द्वार पर चिक पड़ी रहती थी। कमरे में मुलायम गद्दी पर, तकिए के सहारे बैठती थीं। द्वार पर सोने-चाँदी के आवरण में लिपटे दो दंड धारण किए दो वेत्रधारी खड़े रहते; दीवान लक्ष्मणराव उस कमरे के सम्मुख महत्त्वपूर्ण कागजों को लेकर खड़े रहते और उनके पास दरबार का आमात्य बैठता।

"रानी बुद्धिमान थीं। बात के मर्म को शीघ्र ही ताड़ लेतीं। उनके निर्णय स्पष्ट, संक्षिप्त और निश्चित रहते। कभी-कभी वे अपने हाथ से आज्ञाएँ लिखतीं।

न्याय के समय वे बहुत सावधान रहतीं। मुलकी तथा फौजदारी के निर्णय बड़ी योग्यता के साथ करतीं।

"बड़े भक्तिभाव से वे महालक्ष्मी के दर्शन करने जातीं। यह मंदिर एक तालाब के किनारे था। जिसमें सुंदर कमल खिले रहते। हर मंगलवार तथा शुक्रवार को मंदिर जातीं। एक बार मंदिर से लौटकर रानी दक्षिण दरवाजे से आ रही थीं। वहाँ हजारों भिखारी रास्ता रोककर खड़े थे। रानी ने मंत्री लक्ष्णराव पांडे से कारण जानना चाहा। मंत्री ने बताया कि ये लोग अत्यंत गरीब हैं। जाड़े से परेशान हैं। रानी साहिबा से मदद माँगते हैं। दयालु रानी बहुत दुःखी हुईं। आज्ञा दी गई। चौथे दिन एक-एक कुरता, टोपी और कंबल सभी भिखारी तथा गरीबों को इकट्ठा करके रानी ने अपने हाथ से बाँटा। ...नत्थे खाँ के साथ की लड़ाई में घायलों के घाव धोने के कार्य के लिए रानी हठ करतीं, अपने दुःख में रानी की ऐसी रुचि देखकर उनके घाव अच्छे हो जाते। उन्हें अपने कर्तव्य पालन का पूरा प्रतिदान रानी से मिल जाता और वे निहाल हो जाते। मंदिर जाते समय रानी की शोभा देखते ही बनती। कभी पालकी में तो कभी घोड़े पर बैठकर जातीं। पुरुष वेश में साफे का छोर पीठ पर लहराकर शोभा पाता था। उनके आगे राजध्वज मारू बाजे के साथ चलता था। इस ध्वज के पीछे दो सौ गोरे घुड़सवार रहते। रानी के आगे-पीछे सौ-सौ सवार चलते, कभी सारी सेना जुलूस में रानी के साथ होती। रानी के निकलते ही नगाड़ा और शहनाई बजने लगते।"[१]

अब स्वराज्य का नगाड़ा गंभीर घोष कर रहा था। ग्यारह महीने से गूँजनेवाले इस स्वातंत्र्य घोष से संपूर्ण बुंदेलखंड भर गया था। नगाड़े के इस नाद का साथ कालपी से तात्या टोपे की तोपें दे रही थीं। विंध्य से यमुना तक ब्रिटिश सत्ता का कोई चिह्न दिखाई नहीं दे रहा था। कोई उसका—अंग्रेजी राज का—नाम भी नहीं ले रहा था। अब तो ब्राह्मण, मौलवी, सरदार, जागीरदार, सैनिक, पुलिस, राजा, राव, साहूकार और देहाती सभी की एक ही माँग थी, एक ही चाह थी—स्वाधीनता प्राप्ति। इन सबको एक सूत्र में पिरोने का कार्य लक्ष्मीबाई ने किया। उनकी आवाज में वही दृढ़ता थी—'अपनी झाँसी मैं नहीं दूँगी...'

संसार के सामने दृढ़तापूर्वक कहा गया 'नहीं' शब्द बहुत कम आया है। भारत के उदारमना लोगों के मुँह से अब तक यही एक शब्द सुनाई देता आया है, 'मैं दूँगा।' किंतु लक्ष्मीबाई ने यह विलक्षण जयघोष किया...'मैं नहीं दूँगी।' काश, यह आवाज भारत के हर मुख से गूँजी होती!

---

१. दत्तात्रेय बलवंत पारसनी कृत—'रानी लक्ष्मीबाई का चरित्र', पृष्ठ १४७-१५१।

इसी समय सर ह्यू रोज पाँच हजार सैनिकों को लेकर विद्रोहियों को दबाने झाँसी की ओर चल पड़ा।

सन् १८५८ के प्रारंभ में हिमालय से विंध्य तक के समूचे प्रदेश को जीतने की सैनिक योजना पुन: बनाई। यह प्रदेश दो हिस्सों में बाँटा गया। प्रत्येक पर अधिकार करने के लिए सेना भेजी गई। सर कैंपबेल इलाहाबाद से गंगा-यमुना के उत्तर की ओर अपनी बड़ी सेना के साथ बढ़ा; दोआब जीता, गंगा पार कर लखनऊ को नष्ट-भ्रष्ट किया, बिहार के विद्रोह को दबाया, बनारस के आसपास तथा अवध के बागियों को हराया, सब क्रांतिकारियों को—रुहेलखंड में जहाँ अंतिम मुठभेड़ हुई—भगाया, उत्तर प्रदेश को क्रांतिकारियों से मुक्त किया। इन सब बातों का उल्लेख पिछले अध्यायों में आ चुका है। जहाँ कैंपबेल यमुना से उत्तर में हिमालय की ओर बढ़ रहा था, वहाँ यमुना से दक्षिण में विंध्य तक का प्रदेश जीतने ह्यू रोज आगे बढ़ा। सिखों, गोरखों तथा कुछ हिंदुस्तानी सैनिकों ने कैंपबेल की सहायता की। दक्षिण में ह्यू रोज को हैदराबाद, भोपाल आदि रियासतों की सहायता मिली। ह्यू रोज को विशेष रूप से, मद्रास, बंबई तथा हैदराबाद की पलटनों की सहायता मिली। हिंदुस्तानी सैनिकों का सहयोग भी ह्यू रोज को मिला था। सच तो यह है कि मात्र अपनी शक्ति से विजय पाना अंग्रेजों के लिए असंभव था। दक्षिणी भाग को जीतने के लिए हिंदी सेना को दो हिस्सों में बाँटा गया। एक भाग ब्रिगेडियर विटलॉक के अधीन रखा गया, जो जबलपुर से आगे बढ़कर मार्ग के सब प्रदेशों को जीतता हुआ ह्यू रोज से मिला। दूसरा भाग ह्यू रोज के ही अधीन था। योजना थी कि जब जबलपुर से विटलॉक चलेगा तभी वह मऊ से प्रस्थान करेगा और झाँसी तथा कालपी होकर आगे बढ़ेगा। योजना के अनुसार ६ जनवरी, १८५८ को ह्यू रोज मऊ से निकला। एक छोटी लड़ाई करके उसने रायगढ़ जीता। वहाँ से सागर गया। क्रांतिकारियों द्वारा बंदी बनाए गोरों को मुक्त किया और दक्षिण जाकर १० मार्च को बानापुर जीत लिया तथा चंदेरी का प्रसिद्ध किला भी जीत लिया। झाँसी से चौदह मील की दूरी पर २० मार्च को इस विजयी सेना ने डेरा डाला। इन मुठभेड़ों के कारण नर्मदा के उत्तर में देश भर में फैले क्रांतिकारी दस्तों की झाँसी में भीड़ थी। इसीलिए रोज क्रांतिकारियों के इस अड्डे को नष्ट-भ्रष्ट करने झाँसी की ओर चल पड़ा। इसी बीच लॉर्ड केनिंग तथा कैंपबेल ने उसे आज्ञा दी कि पहले वह चरखारी नरेश की सहायता करे, क्योंकि वह तात्या टोपे से घिरा था। लेकिन वह इस बात को मानता तो झाँसी को नष्ट करने का उसका इरादा ही नष्ट हो जाता। बड़ी द्विविधा में था। परिस्थिति विकट थी। झाँसी पर चढ़ाई करने में अंग्रेजी शासन का हित था। अत: इस हित को ही सर्वोपरि मान रॉबर्ट हैमिल्टन ने दोनों अधिकारियों की आज्ञा

के उल्लंघन का अपराध अपने ऊपर ले लिया और अंग्रेजी राज के हित को ध्यान में रखकर झाँसी पर चढ़ाई कर दी। किंतु झाँसी की भूमि में पैठते ही उसे बड़े कष्ट उठाने पड़े। रानी लक्ष्मीबाई ने अपनी आज्ञा से आसपास का क्षेत्र उजड़वा दिया था, ताकि शत्रु को रसद न प्राप्त हो सके। न छाया के लिए पेड़ रहे, न खेतों में एक भी भुट्टा रहा; यहाँ तक कि घास का एक तृण भी नहीं छोड़ा था। जिस प्रकार नीदरलैंड के विलियम ऑफ ऑरेंज ने स्पेनवाले शत्रु के हाथ में देश जाने की अपेक्षा सागर के पानी को अंदर लेना ज्यादा पसंद किया। झाँसी की रानी ने भी इसी नीति का अनुसरण किया।

रानी के स्वर में वही कठोरता, वही गर्जना है। बानापुर का राजा मर्दानसिंह क्रोध से उन्मत्त है, शाहगढ़ का राजा, जान हथेली पर लिये शूर ठाकुर, बुंदेलखंड के सरदार, देश की आजादी के लिए अड़े उनके अनुयायी—ये सभी प्रतिशोध की अग्नि में धधक रहे थे। राजध्वज 'जरीपटका' क्रोध की ज्वाला की तरह ऊपर उठ रहे हैं। इन सब शक्तियों का केंद्रीभूत रानी ही हैं। स्वराज्य की साक्षात् मूर्ति, जो दुर्गा की अवतार हैं।

उजाड़ भूमि में से भूख-प्यास का कष्ट उठाती हुई अंग्रेज सेना झाँसी की ओर बढ़ रही है। धिक्कार है शिंदे तथा टिहरी नरेश को, जिन्होंने 'अंग्रेज निष्ठा' के कारण इस लड़ाई में सारी सेना को घास, ईंधन और फल-मेवों से भरपूर सहायता की।[१] शिंदे और टिहरी नरेश अंग्रेजों की सहायता कर रहे हैं। विश्वासघात और देशद्रोह का बोलबाला है। अब तुम्हारी विजय के आसार नहीं दिखाई देते। तो फिर क्यों न अंग्रेजों की शरण में जाकर सर्वनाश से बचतीं? पर क्या झाँसी की रानी के मन में देशद्रोहियों, विश्वासघातियों के प्रबल जोर के कारण यह बात आएगी? क्या शरण लेने पर रानी ही क्या, महामंत्री लक्ष्मणराव, मोरोपंत, शूर ठाकुर, सरदार तथा सभी वीर बच जाएँगे। पर इनके स्वर-में-स्वर मिलाकर पूरी झाँसी का उत्तर था—

'जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु···संभावितस्य चाऽकीर्ति मरिणादतिरिच्यते' अर्थात् जो जन्म पाता है वह अवश्य मरता है, तो फिर व्यर्थ में कीर्ति को क्यों कलंकित किया जाए?

सो देश की आन-बान की रक्षा के लिए अंग्रेजों से लड़ना निश्चित रहा। झाँसी की सेना अपनी रानी के साथ युद्ध की तैयारी में निमग्न हो गई। उसकी सेना में वीरों की कमी नहीं थी, पर कुशल, शिक्षित सैनिक कम थे। अनुशासन का भी अभाव था। फिर भी रानी ने संपूर्ण सेना का नेतृत्व किया। वह हर बुर्ज पर, हर द्वार

---

१. मैलसन कृत—'इंडियन म्युटिनी', खंड ५, पृष्ठ ११०।

पर घूमती हुई नजर आती थीं। तोपों की कुरसियाँ बनने और उन्हें मोरचे पर लगाने की जगह वह स्वयं उपस्थित रहतीं। चतुर तोपचियों का चुनाव करने में वह संलग्न थीं। इधर-उधर घूमकर निराश हृदयों में उत्साह का संचार कर रही थीं। इधर झाँसी की जनता में भी पूरा उत्साह था। झाँसी के पंडित मंदिरों में स्वाधीनता के लिए प्रार्थनाएँ कर रहे थे। पुजारियों ने रण में जानेवाले सैनिकों को आशीर्वाद दिए और घायल होने पर उनकी शुश्रूषा भी की। झाँसी के कारीगर गोला-बारूद तथा युद्ध की अन्य सामग्री बनाने में व्यस्त रहते। झाँसी की जनता ने तोपों के काम में भरपूर सहयोग दिया। बंदूकें भरने का काम किया और तलवारों की धारें तेज कीं। वहाँ की स्त्रियों ने भी पूरा सहयोग दिया—गोला-बारूद पहुँचाई, तोपों की कुरसियाँ बनाईं और समय पर रसद भी पहुँचाई। स्वयं ह्यू रोज ने अपनी आँखों देखा बयान किया है—"स्त्रियाँ तोपखाने में गोला-बारूद पहुँचाने आदि कामों में व्यस्त दिखाई दीं।" इस प्रकार रात को नगर भर में युद्ध के नगाड़े बजने लगे और किले के बीच में मशालें जलती दिखाई दीं। पहरेदारों ने पूरी चौकसी बरती। २४ का सवेरा हुआ। अब क्या देर थी। 'घन-गर्ज' तोप ने अपना काम शुरू किया। उसकी गर्जना बड़ी भयंकर थी।

झाँसी के घेरे का आँखों देखा वर्णन दत्तात्रेय बलवंत पारसनी कृत 'रानी लक्ष्मीबाई का चरित्र', पृष्ठ १८७-१९३ के आधार पर इस प्रकार है—

"२५ तारीख से दोनों ओर से बराबर मुठभेड़ शुरू हुई। अंग्रेजी तोपें दिन-रात आग बरसा रही थीं। रात को किले के अंदर और शहर में गोले गिरने लगे। बड़ा भयंकर दृश्य था। पचास-साठ पौंड का गोला टेनिस की गेंद की तरह, किंतु अंगार सा दीख पड़ता था। दिन की धूप में ये अस्पष्ट दीखते थे, पर रात में खूब चमकते और रात को भयंकर बना देते थे। २६ तारीख की दोपहर को दक्षिणी द्वार की अपनी तोपें अंग्रेजों ने निकम्मी कर दी थीं। एक भी व्यक्ति वहाँ नहीं टिक पाता था। सब धैर्य खो बैठे थे। तब पश्चिमी द्वार के तोपची ने अपनी तोप का मुँह घुमाया और अंग्रेजों पर गोले फेंकने लगा। तीसरे गोले से अंग्रेजों का कुशल तोपची मारा गया और तोप भी बेकार हो गई। इससे रानी ने प्रसन्न होकर तोपची को चाँदी का कड़ा इनाम में दिया। उस बहादुर तोपची का नाम था—गुलाम गोश खान। नत्थेखाँ के साथ हुए युद्ध में भी उसने ऐसा ही काम किया था।

"पाँचवें-छठे दिन उसी तरह युद्ध हुआ। चार-पाँच घंटों तक रानी की तोपों ने अच्छा काम किया, अतः अंग्रेजों की तोपों की भारी हानि हुई। उनकी तोपें कुछ समय के लिए बंद हो गईं। लेकिन फिर अंग्रेजी तोपों की भीषण मार से रानी की तोपें बंद पड़ने लगीं। लोगों का दिल बैठने लगा। सातवें दिन सूर्यास्त के समय बाएँ

तरफ की तोप निकम्मी हुई। कोई वहाँ खड़ा नहीं हो सकता था। अंग्रेजों के गोलों से मुँडेर ढह पड़ी। किंतु रात में ही कंबलों में छिपाकर ग्यारह राज वहाँ लाए गए और सुबह होने से पहले मुँडेर का काम पूरा हो गया। अंग्रेज इस व्यवस्था को देखकर दाँतों तले अँगुली दबा गए। रानी की तोप ठीक काम कर रही है, इस बात से अंग्रेज बेखबर थे। उनको बहुत हानि उठानी पड़ी। उनकी तोपें लंबे अरसे तक बेकार रहीं।

"आठवें दिन सवेरे ही अंग्रेजों ने शंकर किले पर हमला किया। अंग्रेजों के पास आधुनिक दूरबीनें थीं। इनकी मदद से किले के जलाशय पर तोपों से आग बरसाने लगे। पानी लाने के लिए नियुक्त छह-सात कहारों में से चार मारे गए। शेष बरतन वहीं फेंक भाग गए। चार घंटे तक पानी न मिलने से बड़ा कष्ट हुआ। अब पश्चिमी तथा दक्षिणी द्वारों पर से गोलाबारी करके अंग्रेजी तोपों को बेकार कर दिया गया। उन तोपों के बेकार होने से ही पीने और नहाने का पानी मिल पाया। इमली कुंज में बारूद का कारखाना था। दो मन बारूद तैयार होते ही तहखाने में भेज दी जाती। उस कारखाने पर तोप का गोला पड़ा, तीस आदमी और आठ औरतें वहीं समाप्त हो गए। उस दिन घमासान लड़ाई हुई। तोपों और बंदूकों की कर्णभेदी आवाज कायरों के दिलों को फोड़े डाल रही थीं। तुरहियाँ और करताल जोरों से बज रहे थे। धूल और धुएँ ने आकाश ढक लिया था। बुर्जों के कई तोपची तथा सैनिक मारे गए। उनके स्थान पर नए आ गए। रानी स्वयं भाग-दौड़कर बहुत कार्य कर रही थीं। हर छोटी-बड़ी बात पर रानी का ध्यान था। तुरंत आज्ञा होती। झट से कच्चे स्थान की मरम्मत हो जाती। रानी के इस व्यवहार से सैनिकों का हौसला बढ़ता और वे जी-जान से लड़ते। इस कठोर प्रतिकार से अंग्रेज पर्याप्त शक्ति होने पर भी ३१ मार्च (सन् १८५८) तक किले में प्रवेश नहीं कर पाए।"

पग-पग पर संकटों का सामना था। युद्धकार्य में व्यस्त रानी लक्ष्मीबाई बड़ी उत्सुकता से एक दिशा की ओर उन्मुख होकर देख रही है। क्यों? रानी के होंठों पर मुसकराहट बिखर गई। मुसकान मुद्रा के साथ आदेश हुआ। मान वंदना में तोपें दागो। गंभीर गर्जन की आवाज में विजय के ढोल बजने लगे। रणोल्लास से आकाश गूँज उठा। बात यह थी कि झाँसी की सहायता के लिए तात्या टोपे सेना लेकर आ रहा है।

तात्या टोपे विडहम और कानपुर को पराजित कर तथा कैंपबेल से पराजित होकर, गंगा पार कर नाना साहब की छावनी में पहुँच गया। यहाँ से आगे चलकर कालपी के निकट यमुना को पार किया। पेशवा के स्वाधीनता युद्ध में चरखारी नरेश ने सहयोग देने से इनकार कर दिया। अत: उस देशद्रोही चरखारी नरेश पर आक्रमण

कर दिया। तात्या ने उसे हराकर उससे जुर्माना वसूल किया, चौबीस तोपें छीन लीं। फिर वह कालपी की ओर मुड़ा। वहाँ उसे लक्ष्मीबाई का पत्र मिला, जिसमें झाँसी पर पड़े अंग्रेजों के घेरे को तोड़ने की प्रार्थना थी। तात्या ने झाँसी के प्रधान मंत्री रावसाहब को पत्र भेजा और उनकी आज्ञा पाते ही अंग्रेजों की पिछाड़ी पर टूट पड़ा। इसी सहयोग से रानी के होंठों पर मुसकराहट दौड़ गई। बचपन में तात्या और लक्ष्मीबाई ब्रह्मावर्त के राजमहल में साथ-साथ खेला करते थे। और आज भी वे सजग होकर खेल रहे हैं—युद्धभूमि में। रानी झाँसी की घेराबंदी में आग की लपटों में खड़ी है और तात्या बाईस हजार सेना के साथ बेतवा के पास खड़ा है। बचपन के उनके खेल पर कौन ध्यान देता था। आज सारा विश्व उनके इस रण-खेल को देख रहा है।

इतनी बड़ी सेना को लेकर तात्या को आते देख अंग्रेज घबड़ा गए। उस समय थोड़े सैनिक होने से उन्हें बड़ा धोखा था, क्योंकि सामने से लक्ष्मीबाई सामना कर रही थी और पीछे से तात्या पिछाड़ी दाब रहा था। तात्या शेर अपने बाईस हजार पंजों से अंग्रेजों पर टूट रहा था। जैसे ही वह शेर झपटने को था कि उसके बाईस हजार पंजे लुंज-पुंज हो गए। बिना पंजों के शेर क्या करता? उसके सैनिकों ने बेतवा के किनारे कायरता का बड़ा लज्जास्पद प्रदर्शन किया। रानी का सामने से और तात्या का पीछे से अंग्रेजों को घेरना सचमुच सराहनीय कार्य था। अंग्रेजों को निराशा हो रही थी, फिर भी अंग्रेजों ने तात्या पर हमला किया, झाँसी पर तोपों से आग बरसाई और इस प्रकार क्रांतिकारियों के दोनों मोरचों को अंग्रेजों ने ठंडा कर दिया। शिवाजी या कुँवरसिंह के रणधीर योद्धाओं की तरह हमला होता तो यह निश्चय था कि यूनियन जैक तथा उसके अनुयायियों की लाशों पर गिद्धों को दावत मिलती। पर हाय री कायरता! कायर सैनिक आगे बढ़ने से हिचकिचाए। तोपों से एक गोला भी न चला। सेना और सेनापति बुरी तरह डरकर भाग गए। इस गड़बड़ से बहुत सी युद्ध सामग्री अंग्रेजों के हाथ लगी। तात्या की सभी तोपें रखी रह गईं और पंद्रह सौ सैनिक मारे गए—भागते हुए एक हजार पाँच सौ मरे। भागते हुए कायरों की मौत मरने की अपेक्षा हिम्मत से सामना करते हुए मरते तो उसकी सेना का सफाया निश्चित था और सच्ची वीरगति पाकर हुतात्मा बनकर यश के भागी बनते। फिर भी हम तुम पर यों तरस खाते हैं कि कैसे ही सही तुम लोग स्वतंत्रता के लिए ही मारे गए हो। परमात्मा तुम्हें क्षमा करे। वीर तात्या के कायर सैनिको! तुम्हारी मृत्यु से देशवासियों को इतना पाठ अवश्य मिलेगा कि जो जीने के लिए भागते हैं, वे मारे जाते हैं और जो मरने के लिए रण-मैदान में जूझते हैं, वे जीवित रहते हैं, अमर हो जाते हैं।

रानी लक्ष्मीबाई मृत्यु को चुनौती देती हुई जूझ रही थी। पर सरदारों, ठाकुरों और सिपाहियों ने एकाएक लाचारी दिखाई। नौ दिन और नौ रातें आग बरसाती हुई तोपों के सामने ये लोग खड़े रहे। इन्हें आशा थी कि तात्या टोपे की दैवी सहायता अचानक ही मिलेगी और जब वह आया तो इन्होंने आनंद के नारे लगाए। १ अप्रैल को तात्या की हार हुई। तब उनका आनंद ही नहीं, विजय की आशा ही मिट गई। जिस रसद को विश्वासघाती शत्रु के हाथ से हजारों सैनिकों का बलिदान देकर छीना था, वह अब अनायास ही गोरों के हाथ लग गई। तात्या की तोपें तथा गोला-बारूद अंग्रेजों के हाथ लगा। फिर भी निराशा क्यों? विजयी होकर शत्रु न जीने दे तो भी मृत्यु के बाद की अमर कीर्ति को वह तुमसे नहीं छीन सकता। हे वीरो! दृढ़ निश्चय करके वीरता की मूर्ति रानी के मुख से उसका स्वर सुनो—

''अब तक झाँसी पेशवा के बलबूते पर नहीं जूझ रही थी। आगे युद्ध जारी रखने के लिए भी उनके सहयोग की विशेष आवश्यकता नहीं है। अब तक तुमने आत्माभिमान, साहस, दृढ़ता एवं वीरता का सराहनीय परिचय दिया है। अब भी तुम उसी तरह काम लो। और मैं तुमसे आग्रह करती हूँ कि धैर्य और प्राणपण से लड़ो।

''हाँ, प्राणपण से लड़ो। मारू बजने दो। वीर गर्जन से आकाश गूँजने दो। बड़ी-बड़ी तोपों को धड़धड़ाने दो। ३ अप्रैल की प्रभात किरणें पृथ्वी पर आ चुकी हैं और अंग्रेजों का आखिरी हमला झाँसी पर हो चुका है। चारों ओर से उनका दबाव बढ़ गया है। इसलिए अब डटकर प्राणपण से लड़ो। देखो, युद्ध की देवी ने कैसी तलवार सँभाली है और वीरता की पराकाष्ठा दिखाने के लिए शत्रु की हरावल को विचलित कर रही है! रानी बिजली की तरह घूम रही है। किसीको सोने के कड़े, किसीको पोशाक बाँट रही है। किसीकी पीठ ठोकती है तो किसीको अपनी मुसकान से उत्साहित कर रही है। गुलाम गोशखाँ और कुँवर खुदाबख्श तोपों से आग बरसाओ। शत्रु मुख्य द्वार तोड़ रहा है, किलाबंदी तोड़ रहा है, आठ जगह नसैनियाँ लगाई गई हैं। हर-हर महादेव की गूँज के साथ किले से, बुर्जों से, हर घर से गोलियों की बौछार हुई। बाढ़ों का ताँता बँध गया। तोपें लाल गोले उगल रही हैं। आवाजें आती हैं—'फिरंगी को मारो'। यह देखो, क्या यह युद्ध देवता है या रणचंडी, काली माता स्वयं भीषण युद्ध कर रही हैं। लेफ्टिनेंट डिक और लेफ्टिनेंट मेयकल जोहान सीढ़ियाँ चढ़ रहे हैं और अपने आदमियों को चढ़ने के लिए ललकार रहे हैं। तोपों का धड़ाका हुआ। साहसी अंग्रेज काल के गाल में चले गए। और कोई है, उनके पीछे आनेवाला? लेफ्टिनेंट बोनस और लेफ्टिनेंट फॉक्स, तुम मरना चाहते हो? बड़ी कठिनाई से चढ़े हुए इन चार वीरों को गिरते देख नसैनियाँ भी काँपने लगीं। अंग्रेजों ने पीछे हटने का बिगुल बजाया। सेना पीछे भागी। हर

सिपाही चट्टान की ओट लेकर छिपते हुए भागा।''[१]

इस तरह प्रमुख द्वार पर डटकर प्रतिकार हुआ। उधर दक्षिण बुर्ज पर कोई कराह रहा है। मालूम पड़ता है, विश्वासघाती नीच ने मोरचा द्वार गँवाया होगा। यह सच है कि अंग्रेजों ने देशद्रोहियों के बल पर ही फतह पाई है और अंग्रेज बुर्ज पर चढ़कर फुरती से आगे बढ़ रहे हैं। उस दिन सबके मन में एकमात्र भाव था—'मारेंगे या मरेंगे।' अंग्रेजों ने शहर में मार-काट मचा दी। एक के पीछे एक मोरचे पर कब्जा करते गए। कत्ल, आगजनी और विध्वंस का बाजार गरम था। वे राजमहल तक पहुँचे। राजप्रासाद पर अधिकार कर हजारों रुपए लूटे गए। पहरेदारों को मार डाला गया। ईंट-से-ईंट बजा दी गई। आखिरकार झाँसी अंग्रेजों के हाथों में चली गई।

परकोटे पर खड़ी रानी ने एक बार झाँसी पर दृष्टि डाली। दक्षिण दरवाजे पर हुए भीषण कांड का दृश्य उसकी आँखों में तैर गया। शत्रु के स्पर्श से उसकी झाँसी अपवित्र हो गई। क्रोध से रानी पागल हो उठीं। आँखों से क्रोध की चिनगारियाँ छूट रही थीं। उसने अपनी तलवार सम्हाली। हजार-पंद्रह सौ सैनिक साथ लिये और किले को चल पड़ीं। अपने बच्चे को छेड़नेवाले पर भी शेरनी इतनी फुरती से नहीं झपटती जितनी तेजी से वह दक्षिण द्वार पर तैनात अंग्रेजों पर झपटी। तलवारों से तलवारें भिड़ गईं। दोनों दल थोड़ी देर के लिए एक-दूसरे में समा गए। खनाखन की मार बजी, बहुत से गोरे मारे गए। शेष शहर की ओर भागे और ओट में छिपकर शिकार खेलने लगे। फिरंगी के खून से उस महाकाली का क्रोध कुछ शांत हुआ। उसके ध्यान में आया कि किले से इतनी दूर अकेली का लड़ना महा मूर्खता थी। अब इस असाधारण साहसिक वीरता की प्रतिध्वनि शहर के हर रास्ते से मिलने लगी। हालाँकि सारा शहर, राजप्रासाद अंग्रेजों की तलवारों ने खून से रँग दिया था। राजप्रासाद की घुड़साल के पचास नौकरों ने घुड़साल छोड़ने से इनकार कर दिया। उनमें से हर वीर ने अपनी शक्ति भर अधिक-से-अधिक गोरों का सामना किया। उनके मर-मिटने पर ही घुड़साल शत्रु के हाथ लगी। अंग्रेजों ने अब तक शहर को खंडहर बना डाला था। उनके सामने जो भी आता—भले पाँच वर्ष का बालक हो या अस्सी साल का बूढ़ा—उनकी तलवार का शिकार हो जाता। नगर भर आग से जल उठा। घायलों, मरनेवालों की चीखों से आकाश गूँज उठा।

किले का परकोटा बहुत पक्का होने के कारण अंग्रेजों ने उसे तोड़ने का विचार दूसरे दिन का रखा। रानी परकोटे पर खड़ी करुणापूर्ण दृश्य को देख रही थीं। उसे अत्यंत दुःख हुआ। उसकी आँखें डबडबा आईं। रानी लक्ष्मीबाई रोईं।

---

१. सं. ग. देख लो कृत—'सेंट्रल इंडिया', पृष्ठ २५४।

उनकी सुंदर आँखें रोने से लाल हो गईं। उसकी झाँसी की यह दशा! एक बार फिर सिर ऊँचा करके देखा, झाँसी की किलाबंदी पर पराधीनता का दाग, फिरंगी का झंडा गाड़ा गया है। उन रोनेवाली आँखों में एक विलक्षण तेज चमक उठा। धन्य हैं वे आँखें, वह हृदय और वह धैर्य! इतने में बेतहाशा दौड़ता हुआ एक दूत आया और कहने लगा, ''रानी सरकार! किले के प्रमुख द्वार-रक्षक सरदार कुँवरसिंह, दोनों तोपचियों खुदाबख्श और गुलाम गोशखाँ को अंग्रेजों ने गोली से उड़ा दिया है।'' पहले से ही दुःखी हृदय पर यह कितना भयंकर आघात! संकट-पर-संकट आ रहे हैं। रानी का अब एक ही निश्चय है—स्वाधीनता की कौस्तुभमणि झाँसी की लक्ष्मी के गले से नहीं गिरनी चाहिए। उस दूत से, जो एक बूढ़ा सरदार था, रानी ने कहा, ''देखो, मैं इस किले में अपने हाथों बारूद के भंडार में आग लगाकर बाहर निकल जाना चाहती हूँ।'' अपने जरीपट के साथ स्वाधीनता के झंडे को लिये हुए या तो वह राजसिंहासन पर विराजमान होगी या फिर चिता पर। यह सुनकर उस बूढ़े सरदार ने शांति से कहा, ''सरकार, यहाँ रहना अब खतरनाक है। शत्रु की छावनी को चीरकर आपको आज रात किला छोड़कर चले जाना चाहिए। और पेशवा की सेना में पहुँचना चाहिए। और यदि मार्ग में ही मृत्यु मिल जाए तो समरांगण-तीर्थ की पवित्र धारा में गोता लगाकर स्वर्ग के खुले द्वार में प्रवेश हो सकता है।''

''मैं मैदान में लड़ते-लड़ते मरना अधिक पसंद करती हूँ।'' रानी का जवाब था, ''किंतु मैं स्त्री हूँ। मेरे शरीर की कहीं विडंबना हुई तो?''

यह सुनकर सब सरदारों ने एक स्वर से कहा, ''जब तक हममें से एक भी जीवित है तब तक आपके शरीर को छूनेवाले के टुकड़े-टुकड़े कर दिए जाएँगे।''

रात हुई। रानी ने अपनी प्रजा को बुलाकर अंतिम बार आशीर्वाद दिया। रानी का झाँसी छोड़ने का इरादा देख प्रजा की आँखें गीली हो गईं, शायद फिर न लौटें। रानी ने चुनिंदा घुड़सवारों को अपने साथ लिया। आभूषणों से सजाया हुआ एक हाथी उनके बीच रखा गया। 'हर-हर महादेव' के घोष के साथ वे किले से उतरने लगीं। पुरुष वेश बनाया था। फौलादी कवच ने शरीर की रक्षा की थी। कमरबंद में एक जमिया पड़ा था और एक पैनी तलवार लटक रही थी। अंचल में एक प्याला बँधा था, रेशमी धोती से पीठ पर उनका दत्तक पुत्र दामोदर बँधा हुआ था। सफेद घोड़े पर सवार रानी साक्षात् लक्ष्मी लगती थीं। उत्तरी दरवाजे के निकट पहुँचने पर देशद्रोही टिहरी नरेश के पहरेदार ने टोका, ''कौन है?'' ''टिहरी की सेना सर ह्यू रोज की सहायता के लिए कूच कर रही है।'' उत्तर मिला और प्रहरी ने जाने दिया। रानी आगे बढ़ीं। एक गोरे प्रहरी को भी इसी तरह टाला गया। रानी के अंग रक्षकों में एक दासी, एक बारगीर और दस-पंद्रह घुड़सवार थे। इस तरह यह सेना शत्रु की

छावनी के बीच से कालपी तक सुरक्षित पहुँच गई। किंतु रानी के अन्य घुड़सवारों को संदेह में अंग्रेजों ने रोका और वहीं ठन गई। मोरोपंत ताँबे घायल होने पर भी दतिया तक निकल गए; किंतु दतिया के देशद्रोही दीवान ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया और अंग्रेजों को सौंप दिया। अंग्रेजों ने उन्हें फाँसी के झूले पर झुला दिया।

लक्ष्मी ने घोड़े को एड़ लगाई, क्योंकि लेफ्टिनेंट बॉकर चुने हुए घुड़सवारों के साथ रानी को पकड़ने के लिए पीछा करता हुआ आ रहा है। हे रानी के अश्व! तुम्हारी पीठ पर जो पवित्र निधि है उसकी रक्षा के लिए पूरा बल लगाकर दौड़ो। देश के मानव भले ही देशद्रोही बनें, पर देश के पशु तुम तो ईमानदार ही रहोगे, तुम्हारे पशुत्व के आगे देशद्रोहियों के मनुष्यत्व पर हजार बार लानत है। और हे रजनी, तुम भी रानी और घुड़सवारों को छिपाने के लिए अपनी काली चादर फैला दो! और हे भारत के मार्ग, तुम उस घोड़े को कोई बाधा मत देना। और आकाश में चमकते तारागणो, शत्रु को प्रकाश मत दो। हाँ, इतना प्रकाश अवश्य दो कि कमल के समान कोमल रानी उत्साह के साथ अपने मार्ग पर अग्रसर हो सके। अब उषा का आगमन हुआ है और वीर रानी तुम वायु के पंखों पर रात भर उड़ी चली आ रही हो। सो अब मंडेर गाँव के पास कुछ विश्राम लो। वहाँ का लंबरदार तुम्हारे प्यारे दामोदर को खिलाएगा।

सुबह का नाश्ता करके रानी तुरंत कालपी की ओर चल पड़ी। लेकिन पीछे से गुबार उड़ रहे हैं। रानी घोड़े को तेज करो, दामोदर को सम्हालो और आगे बढ़ो। अपनी तलवार सम्हालो। बॉकर नजदीक आ चुका है।...तो नीच बॉकर, अपनी नीचता का पुरस्कार ले! तलवार उठी और बॉकर लड़खड़ाता हुआ घोड़े से गिर पड़ा। पीछा करनेवाले अंग्रेज और रानी के दस-पंद्रह घुड़सवारों में प्राणघातक मुठभेड़ हुई। उनमें से जो बचे वे लक्ष्मी की रक्षा के लिए आगे बढ़े। घायल बॉकर और उसके साथियों ने पीछा करने से मुँह मोड़ लिया। भारत माता की तलवार विजयी होकर चमकती हुई आगे बढ़ी। आकाश में सूर्य और धरती पर लक्ष्मी—दोनों आगे बढ़ रहे थे। दोपहर हुआ। रानी नहीं रुकी। साँझ हुई। सूर्यदेव थककर क्षितिज के पीछे जा छिपे। रानी नहीं थकी। वह बढ़ती गई। दौड़ते-दौड़ते रानी कालपी पहुँची। एक सौ दो मील का सफर, और वह भी बॉकर जैसे योद्धा के साथ जूझते हुए—पीठ पर एक बालक का बोझ लेकर रानी ने तय किया। वह घोड़ा कालपी तक रानी को सुरक्षित पहुँचाने के लिए ही प्राण धारण किए हुए था। अमूल्य रत्न को अपनी पीठ पर से उतारने के बाद वह लड़खड़ाया और स्वर्ग सिधार गया। छह आदमियों को उसकी अंतिम क्रिया में तुरंत लगाया गया। वह घोड़ा रानी को अत्यंत प्यारा था। जिस घोड़े ने इतनी ईमानदारी से अपने प्राण देकर भी अपने जिस

कर्तव्य का पालन किया उसकी स्मृति सदा के लिए प्यारी रहेगी।

रानी ने सवेरे तक आराम किया। सुबह रानी और रावसाहब पेशवा का हृदयवेधक साक्षात्कार हुआ। दोनों को अपने पूर्वजों का स्मरण हुआ, जिन्होंने असंभव को संभव बनाने के बड़े-बड़े काम किए। ऐसे महापुरुषों में जन्म लेने का सौभाग्य दोनों को प्राप्त था। उन्हें इस बात से प्रेरणा मिलती थी कि मराठों का झंडा अटक पर लहराने का कारण था—शिंदे, होलकर, गायकवाड, बुंदेले और पटवर्द्धन का स्वराज्य के लिए अपने प्राणों के उत्सर्ग के लिए कृतसंकल्प होना। जिसके लिए उनके पूर्वजों ने अपना खून बहाया था, उसी झंडे, उसी स्वराज्य के लिए शुरू हुए युद्ध को अंत तक निभाने के लिए दोनों ने प्रण किया। स्वदेश को भ्रष्ट करनेवालों से वह युद्ध लड़ा जा रहा था। पुनः लक्ष्मीबाई तथा तात्या टोपे ने घनघोर संग्राम की सिद्धता के लिए युद्ध शुरू किया।

इन दोनों को युद्ध में तत्पर छोड़, अब हम ब्रिगेडियर विटलॉक की गतिविधि पर सरसरी निगाह डालेंगे, जिसे हम कुछ पहले छोड़ चुके हैं। नर्मदा तथा गंगा-यमुना के प्रदेश को फिर से जीतने के लिए दो सेनाएँ चली थीं। उनमें एक ने ह्यू रोज के नेतृत्व में झाँसी को जीत लिया। झाँसी जीतने के बाद वहाँ अराजकता फैली। लूट के काम में तो नादिरशाह की बराबरी की गई। मंदिर-मूर्तियाँ तोड़ी गईं। भयंकर हत्याकांड हुआ। उसके बाद मुहिम जारी रखने के लिए यह सेना कालपी की ओर बढ़ने वाली थी। इसका अंतिम भाग पूरा करने का भार ब्रिगेडियर विटलॉक को सौंपा गया। विटलॉक १७ फरवरी को जबलपुर से चला। उसके साथ गोरी पलटन और मद्रासवाली काली पलटन, गोरा और काला रिसाला और उत्कृष्ट तोपखाना था। बड़ी शान के साथ उसने सागर में प्रवेश किया। अंग्रेजभक्त ओरछा नरेश उससे मिला। यहाँ से यह सेना बाँदा के नवाब को जीतने चली, जो उस प्रांत के मुख्य क्रांति-नेता थे। क्रांति की पहली लहर में झाँसी, सागर और अन्य स्थानों में क्रूर कत्ल हुए थे। वहाँ के गोरे जहाँ शरण मिली वहाँ जान बचाने भाग गए। बाँदा के नवाब ने उन्हें अपने राजमहल में सुरक्षित रखा था और उनकी अच्छी तरह देख-भाल की थी। किंतु साथ ही क्रांति के धमाके से थर्रानेवाली ब्रिटिश सत्ता के कंधावर को फेंक देने के काम में भी व्यस्त था। शुरू में ही उसने विदेशी सत्ता के सभी चिह्न मिटा दिए थे और स्वतंत्र नरेश की हैसियत से राज्य कर रहा था। जब उसने देखा कि अंग्रेजी सेना उसका राज्य छीनने आ रही है तो अपनी प्रजा से युद्ध के सहयोग के लिए अनुरोध किया। कई मुठभेड़ों के बाद हारकर नवाब अपनी सेना के साथ कालपी चल पड़ा। १९ अप्रैल को विजयी विटलॉक ने बाँदा में प्रवेश किया। अब किरवी के राव पर चढ़ाई होनेवाली थी। किरवी नरेश माधवराव की

अवस्था दस वर्ष की थी और अंग्रेज उसके रक्षक बने थे। बाजीराव पेशवा किरवी राव के निकट संबंधी थे। सन् १८२७ में अनंतराव—तत्कालीन किरवी-नरेश—ने काशी के मंदिरों में दान करने के लिए दो लाख रुपए जमा कर दिए थे। अनंतराव के मरते ही अंग्रेज सारी रकम हड़प कर गए। इससे कोई सबक न लेकर उनके पुत्र विनायकराव ने भी कई लाख रुपए रकम अंग्रेजों को सौंपने की मूर्खता की। वह रकम भी अंग्रेज हड़प गए। विनायकराव के मरने पर उनका दत्तक पुत्र माधवराव नाबालिग था। रियासत का प्रबंध अंग्रेजों के हाथ में था। प्रधान कर्मचारी रामचंद्रराव अंग्रेजों द्वारा नियुक्त था। इस दशा में किरवी रियासत में विद्रोह की आशा अंग्रेजों को नहीं थी। किंतु सन् १८५७ में इन राव उमरावों ने जो कुछ किया उससे इनकी प्रजा सहमत नहीं थी। प्रत्यक्ष-परोक्ष दोनों तरह से देश की सच्ची शक्ति—जनता—का बल सदियों से कुचला जाने के बाद भी अपना असर जमाने की भरसक चेष्टा कर रहा था। किरवी के जमींदार, धर्मगुरु, व्यापारी, यहाँ तक कि मामूली-से-मामूली आदमी भी स्वाधीनता के आदर्श से प्रभावित था। और दिल्ली के स्वतंत्र होने का समाचार सुनकर आनंद से उछल पड़े थे। दूसरे दिन लखनऊ स्वतंत्र घोषित हुआ। तीसरे दिन झाँसी द्वारा फिरंगी झंडे को उखाड़ फेंकने का समाचार मिला। इन आशाप्रद घटनाओं-समाचारों से उत्साहित होकर लोगों ने किरवी के स्वतंत्र होने की घोषणा की; और विदेशी कंधावर को राव की सम्मति तथा मंत्रियों के आज्ञा के बिना ही बाहर फेंक दिया। जब जनता द्वारा आजादी की घोषणा डंके की चोट से की जा रही थी तब किरवी के नौ या दस वर्ष के राजा ने अंग्रेजों के विरुद्ध कुछ भी न किया था, बल्कि उसने अंग्रेजी सेना को उस समय अपने राज्य में सस्वागत आने का निमंत्रण दिया। तब अंग्रेजी सेना बुंदेलखंड में लौट आई। निमंत्रण पाकर अंग्रेजी सेना किरवी राज्य में चुपचाप चली आई; किंतु नाबालिग राव को बंदी बनाने के अपवित्र उद्देश्य को लेकर उसकी राजधानी खंडहर करने, राजमहल को विध्वंस करने और पैशाचिक लूट, अग्निकांड आदि के द्वारा प्रतिशोध लेने।[१]

किरवी रियासत खालसा में मिलाई गई। विजित प्रदेश में 'शांति' स्थापना

---

१. सं. ४८ राव के किए गए इस अन्याय के विषय में मैलसन को मानना पड़ा है कि ''विटलॉक के सैनिकों पर एक भी गोली न चली, तो भी उसने निश्चय कर लिया था कि उस नाबालिग राव को बागी माना जाए। इस नीचता का कारण यह था कि गोरे सैनिकों को उनकी कठिन लड़ाइयों तथा चिलचिलाती धूप में कष्ट उठाने का पुरस्कार किरवी के खजाने में ही भरा पड़ा था। वहाँ के तहखाने आदि में अनमोल हीरे तथा जेवरात थे। इस संपत्ति के लालच में यह अन्याय किया गया।''
—के एवं मैलसन कृत—'इंडियन म्यूटिनी', खंड ५, पृष्ठ १४०-१४१

के लिए विटलॉक महोबा में छावनी डाल रहा था। दरअसल उसने अपनी मुहिम पूरी की थी। बुंदेलखंड का पूरबी भाग जीत लिया था। एक-दो छोटी जगहों में शांति कायम करने के लिए कुछ दस्ते भेजे थे। अब विटलॉक को यहीं छोड़ झाँसी की रानी के पवित्र चरणों का दर्शन करें।

अब रानी ने पेशवा की सेना के साथ कालपी से बयालीस मील दूर कंच गाँव को कूच किया। लेकिन ऐसा अनुमान है कि रानी की सूचना के अनुसार सेना की व्यूह-रचना रावसाहब ने नहीं की थी। ध्यान रहे, रावसाहब या तात्या टोपे के लिए पूरी तरह प्रबंध करना असंभव सा था। यद्यपि उनके साथ बाँदा का नवाब, शाहगढ़ नरेश, बानापुर के राजा, ये सब एक ही झंडे के नीचे इकट्ठे हुए थे; फिर भी एक विशाल सैनिक संगठन के अंतर्गत अनुशासित होकर नहीं आए थे। कोई ऐसा संगठन नहीं था जो एक स्वर से संचालित हो, एक सुनिश्चित विधान के अनुसार चले। प्रत्येक अपनी अलग योजना बनाता, इससे किसीकी योजना पर पूरा अमल न हो पाता था। दूसरी ओर शत्रु दल के नेताओं में कोई झगड़ा न था; उनका संगठन व्यवस्थित और अच्छी तरह अनुशासित था। सर ह्यू रोज के सेनानी नियुक्त होने से पहले अफवाहों और मतभेदों का बाजार गरम रहा। लेकिन एक बार जब उसकी नियुक्ति हुई कि उसका मत ही सबका मत था। वह जो भी आज्ञा देता वह ठीक मानी जाती, उसका पालन होता। किसी साधारण सेनानी की आज्ञा का भी, चाहे वह गलत ही हो, पालन एकता के साथ हो तो सफलता निश्चित ही है। इसके विपरीत यदि सैनिक अपनी सनक को महत्त्व दें, शासन में संगठन न हो, सुयोग्य सेनानी की विचारपूर्ण आज्ञा भी पराजय का कारण बनती है। यदि यह तथ्य गलत है तो कंच गाँव में जो पराजय हुई, वह कभी न होती।

झाँसी से सर ह्यू रोज के आते ही क्रांतिकारियों से कंच गाँव में मुठभेड़ हुई। दोपहर की कड़ी धूप गोरे सह नहीं सकते, यह जानकर क्रांतिकारियों के एक आज्ञापत्र में लिखा था, ''सबेरे दस बजे के पहले फिरंगी से कोई मुठभेड़ न करे, सदा ही दस के बाद लड़ाई हो।'' इस सूझबूझपूर्ण आज्ञा का उस दिन पालन हुआ। जैसाकि अन्य स्थानों में हुआ था, दस बजने के बाद जहाँ लड़ाई शुरू होती अंग्रेजों की छावनी में कुहराम मच जाता, आज ऐसा ही हुआ। इसपर भी कंच गाँव में क्रांतिकारियों की हार हुई और उन्हें कालपी की ओर हटना पड़ा। जिस सराहनीय ढंग से पीछे हटे, जिस संगठित ढंग से मोरचे छोड़ते गए, शत्रु ने इसकी अत्यंत प्रशंसा की है।[१] काश! यह असंगठन अनुशासनहीनता पराजय से पहले दूर कर दी

---

१. सं. ४९ ''फिर बागियों ने वह काम किया जिसकी प्रशंसा उनके शत्रुओं को भी करनी पड़ी। पीछे

जाती !'''इसके बाद क्रांतिकारी कालपी पहुँचे और पराजय का दोष एक-दूसरे पर मढ़ने लगे; पैदल सेना ने रिसाले को कोसा, रिसाले ने झाँसीवालों की निंदा की और सब मिलाकर तात्या टोपे की गलती बताई।

किंतु इस आपसी बखेड़े को देखने तात्या कालपी पहुँचा ही न था। वह तो जालवण के पास चरखी गाँव में अपने पिता से मिलने गया था। ध्यान रहे, रास्ते में ग्वालियर पड़ता है, उसके बाद वह और कहाँ जा सकता है ? हम आशा करते हैं कि पिता-पुत्र की भेंट अत्यंत प्रेमपूर्वक तथा आनंद से हो; और फिर इस महान् क्रांतिकारी नेता को अपनी योजनाओं के कार्यान्वयन में यश प्राप्त हो।

इस मनचाही यात्रा में तात्या के चले जाने के बाद रानी लक्ष्मीबाई पेशवा के शिविर में गई। कंच गाँव के पराभव से पेशवा को बड़ा दुःख हुआ। अपने ओजपूर्ण शब्दों से उनकी उदासी को दूर करते हुए तथा धीरज बँधाते हुए वीरांगना रानी ने कहा, ''आप यदि सेना को फिर से संगठित करें तो शत्रु उसपर कभी विजय नहीं पा सकता।'' रानी के शब्दों से बाँदा के नवाब को उत्साह प्राप्त हुआ। ओजपूर्ण शब्दों में रचे घोषणापत्र फिर से क्रांति-सेना में वितरित हुए। आज यमुना के किनारे भीड़ जमा हो रही थी। तलवारें और तोपें चमकती हैं; मातृभूमि की साधना में रत सिपाही यमुना मैया से आशीर्वाद माँग रहे हैं। इस तरह का मेला यमुना किनारे पहले कभी किसीने नहीं देखा होगा। सब ओर मातृभूमि और धर्म की जय-जयकार हो रही है—''जय यमुना मैया, तुम्हारा पवित्र जल हाथ में लेकर हम प्रतिज्ञा करते हैं कि फिरंगी नष्ट होगा। देश स्वतंत्र होगा। स्वधर्म की पुनः स्थापना होगी। माँ यमुना ! यह सब होगा, तभी हम जिंदा रहेंगे, नहीं तो रणभूमि में सदैव के लिए सो जाएँगे। कालिंदी माता, हम तीन बार प्रतिज्ञा करते हैं।''

तीन बार शपथ ग्रहण किए वीरो ! मैदान में बढ़ो। रण-लक्ष्मी तुम्हें उत्तर की

हटने का कार्यक्रम उन्होंने इस तरह पूरा किया कि उसका जोड़ पाना असंभव है। अंग्रेज अफसरों ने उन्हें जो पाठ अच्छी तरह पढ़ाए थे, उनको ठीक तरह ध्यान में रखा गया था। किसी प्रकार की जल्दबाजी, अव्यवस्था तनिक भी न थी, पीछे भागने का नाम नहीं। रण मैदान का संचालन आदि सबकुछ व्यवस्थित था। दो मील लंबी मुठभेड़ की हरावल होने पर भी किसी पर भी किसी जगह घबराहट नहीं थी। सैनिक गोली चलाते, फिर पीछे की पाती की ओर दौड़ते और अपनी बंदूकें भरते। फिर आगेवाले गोलियाँ चलाते और पीछे अपनी जगह पर हट जाते। पीछा करनेवाले यदि बहुत जोर करते तो वे डटकर खड़े हो जाते और घमासान लड़ाई पर मजबूर करते।''—मैलसन कृत—'इंडियन म्युटिनी', खंड ५, पृष्ठ १२४। (शत्रु द्वारा की गई इस प्रशंसा से 'पांडे' की सेना का श्रेष्ठत्व निखर पड़ता है।)

ओर बुला रही है। रावसाहब सारी सेना का नेतृत्व करेंगे। ह्यू रोज के नेतृत्व में चलनेवाली २५वीं पैदल पलटन को भगा दो। ये सब अहिंदी हैं—इन देशद्रोहियों को भगा दो। यह मेजर आर्क बढ़ा क्या? उसकी भी वही गत कर दो। कालपी के सामने के मैदान में हिलोरनेवाले हिस्से की सेना को सुरक्षित रखने पर हमारी स्थिति लगभग अजेय है। देखो, सेना मुख पीछे हट रहा है। वह बहुत अधिक आगे बढ़ गया था और पीछे से पूरी सहायता न मिलने पर उसे पीछे हटना पड़ा है। रानी लक्ष्मी तुम उनकी रक्षा के लिए दौड़ो। तलवार हाथ में लिये हुए अपनी सेना को बचाने बिजली की तरह वह दौड़ पड़ी। अंग्रेजों के दाएँ पार्श्व पर लाल गणवेशधारी सवारों के साथ टूट पड़ी। अंग्रेज एकदम ठंडे पड़े—हमला इतना जोरदार था! लाचार हो पीछे हटने लगे। इक्कीस साल की लड़की की बिजली-सी झपट, उसके घोड़े का वायुवेग से दौड़ना, दाएँ-बाएँ गाजर-मूली की तरह उसका अंग्रेजों को काटना; इन सबको देख, कौन होगा जो लड़ने को तत्पर न होगा? रानी ने अपने रणकौशल से सभी क्रांतिकारियों का उत्साह बढ़ाया। भीषण युद्ध शुरू हुआ। हल्की तोपों के गोरे तोपची एक-एक कर मारे गए। तब रानी ने अपने रिसाले के साथ आग उगलती हुई तोपों पर धावा बोल दिया। तोपची भागे। घोड़ों पर चलनेवाला तोपखाना तितर-बितर हो गया। क्रांतिवीर चारों ओर से आगे बढ़ने लगे। आज तक हाथ में न आनेवाले फिरंगी को मटियामेट करने का मौका मिलने से वे आनंदित हो उठे। उन सबके आगे रानी लक्ष्मी चल रही थी।

इस आकस्मिक धावे को देखकर ह्यू रोज चौंक पड़ा। वह अपने इमदादी ऊँटों को लेकर आगे बढ़ा; किसी तरह ऊँटों के कारण अंग्रेजों ने अपनी प्राणरक्षा की। एक अंग्रेज का कथन है, ''यदि पंद्रह मिनट और बीत जातीं तो क्रांतिकारियों ने हमारा सफाया कर दिया होता। इमदादी डेढ़ सौ ऊँटों ने ही उस दिन हमारा उद्धार किया। और उसी दिन से सचमुच मैं ऊँट को प्यार की नजर से देखने लगा।'' केवल ऊँटों के काफिले ने २२ मई को पेशवा की सेना को कालपी तक पीछे हटने को मजबूर किया। कुछ मुठभेड़ों के बाद २४ मई को ह्यू रोज कालपी में घुस पड़ा। तात्या टोपे तथा पेशवा रावसाहब द्वारा कालपी किले में एकत्र की गई युद्ध-सामग्री अनायास ही अंग्रेजों के हाथ लगी। साठ हजार रतल बारूद भूमि में गड़ी पाई गई। नई बंदूकें, अघावत ढंग से बने पीतल की तोपों के गोले, उन्हें बनाने के यंत्र, ढेरों सैनिक गणवेश, झंडे, मारू बाजे, फ्रांसीसी तुरहियाँ, यूरोप में बनी गरनाल तोपें तथा कई प्रकार के शस्त्रास्त्र आदि युद्धोपयोगी सामग्री अंग्रेजों के हाथ लगी।

अगर हाथ न लगे तो शूरवीर चिरस्मरणीय क्रांति नेता, क्योंकि कालपी का संपूर्ण पतन होने के पहले एक सप्ताह तक रावसाहब, बाँदा का नवाब, रानी लक्ष्मी

और अन्य नेता वहाँ से गायब होकर किसी अज्ञात स्थान को चले गए थे। निस्सहाय, नि:शस्त्र इन नेताओं को मारे-मारे फिरकर, भूखों भटककर या तो शत्रु के चंगुल में पकड़ा जाने या आत्महत्या करने के अतिरिक्त और कोई चारा न था।

इस तरह, यमुना के उत्तर काँठे का प्रदेश फिर से हड़पकर विजयी कैंपबेल हिमालय तक पहुँच गया। इधर ह्यू रोज और विटलॉक ने नर्मदा से प्रारंभ कर यमुना के दक्षिण काँठे के प्रदेश पर दखल किया। क्रांतिकारियों का पूरा सफाया करने पर अंग्रेजों को हक था कि वे अपना अभिनंदन करें। ह्यू रोज ने अपने सैनिकों का अभिनंदन इन शब्दों में किया है—"वीर सैनिको! तुमने एक हजार मील का प्रदेश रौंदकर शत्रु से सौ तोपें छीन ली हैं। नदियों को तैरकर, पहाड़-टीले लाँघकर, जंगलों, दर्रों, उपत्यकाओं में शत्रु का सफाया कर असीम प्रदेश जीतकर अपने देश की प्रतिष्ठा में चार चाँद लगाए हैं। वीर तो तुम हो ही, पर अनुशासन का पालन भी तुमने बड़ी तत्परता से किया है; क्योंकि बिना अनुशासन के साहसी वीरता का मूल्य नहीं होता। अत्यंत कठिन परिस्थितियों में, कठोर यंत्रणाओं में भी तुमने अपने अधिकारियों की आज्ञा का पालन ज्यों-का-त्यों किया है। आज्ञा भंग करने या उद्दंडता का तनिक भी परिचय नहीं दिया। यमुना से नर्मदा तक तुमने अपने अद्वितीय सैनिक अनुशासन से महान् विजय प्राप्त की है।"

वीर स्तुतिपूर्ण और प्रभावशाली वक्तव्य देकर ह्यू रोज स्वास्थ्य के कारण सैनिक सेवा से निवृत्त हुआ। उसकी विजयी सेना भी शत्रु की पूरी हार होने से छुटकारे की साँस लेकर आराम की अपेक्षा करने लगी।

लेकिन अंग्रेज सैनिको, अभी आराम की क्यों सोचते हो। अभी तो तात्या और लक्ष्मी जीवित हैं। और यदि स्वेच्छा से रण के लिए तैयार नहीं होंगे तो ग्वालियर की सेना युद्धभूमि में खदेड़ने के लिए कटिबद्ध है। कालपी से छिटककर सभी क्रांति नेता आगामी योजना बनाने के लिए गोपालपुर में जमा हो गए। वास्तव में इस समय विजय के कोई आसार नहीं थे। नर्मदा से यमुना तक और यमुना से हिमाचल तक सारा प्रदेश अंग्रेज फिर से जीत चुके थे। क्रांतिकारियों के पास सैन्यबल नहीं था, किले आदि भी नहीं थे; बराबर हार होते रहने से नई सेना का संगठन करना भी असंभव सा ही था। परंतु तात्या जीवित है, यही पर्याप्त है। रानी लक्ष्मी भी वहाँ थीं, तात्या गोपालपुर लौट आया था। लोगों में यह खबर उड़ी कि वह अपने पिता से मिल आया है। खबर झूठ हो या सच, पर इतिहास इसका कोई प्रमाण नहीं देता। अब ह्यू रोज ने अपना धूर्त दाँव कालपी में लगाया। तभी एकाएक तात्या को अपने पिता के दर्शन की सनक आ गई। और पितृदर्शन की यह धुन आगे चलकर युद्ध की विस्मृति कराने लगी और अपनी इस इच्छा पर काबू न रखते हुए

वह चरखी चला गया। इस सनक का रहस्य क्या हो सकता है? यही कि कालपी का पतन होने पर क्रांतिकारियों के हाथ में कोई-न-कोई सुरक्षित स्थान या किले का होना अत्यंत आवश्यक था। नई सेना मिल जाए, यह भी अच्छा था। इसी कारण क्रांति का अग्रदूत तात्या कालपी से छिटककर ग्वालियर में घुस पड़ा। अब क्रांति का वात्याचक्र घूमने लगा है। सेनाधिकारियों के शपथपूर्वक आश्वासन तात्या ने प्राप्त किए तथा दरबार के उत्तरदायी व्यक्ति, सरदार आदि लोगों से संबंध स्थापित कर क्रांति के लिए उसने एक स्वतंत्र सेना बना ली। अपनी शक्ति भर सबकुछ करने का आश्वासन लोगों ने उसको दिया, एक महीने में ही ग्वालियर की संपूर्ण सेना तात्या की मुट्‌ठी में थी। फिर ग्वालियर के मर्म स्थानों को जान लिया और शिंदे के सिंहासन के नीचे से सुरंग बनाकर तात्या टोपे रावसाहब के पास गोपालपुर में आया। अपने 'पिता के दर्शन' वह कर चुका था।

ग्वालियर की प्रजा को क्रांति कार्य की ओर कर लेने में सफल हो तात्या के आ पहुँचने के समाचार सुनकर रानी लक्ष्मी को बड़ा आनंद हुआ और उसने पेशवा से सीधे ग्वालियर पर चढ़ाई करने का आग्रह किया। २८ मई को क्रांतिकारी अमीनमहल पहुँचे। लंबरदार ने उन्हें रोकने की चेष्टा की। उत्तर मि़ला, ''तुम कौऩ हो रोकनेवाले? हम पेशवा हैं और स्वराज्य, स्वधर्म के लिए लड़ रहे हैं।''

श्रीमंत रावसाहब के इन शब्दों से कायर चुप हो गए और वहाँ के हजारों देशभक्तों ने क्रांतिवीरों का हृदय से स्वागत किया। तब पेशवा सीधे ग्वालियर राजधानी की दीवारों से आ टकराए। शिंदे को उन्होंने लिखा—''मात्र मित्रता की भावना से हम आपके पास आ रहे हैं। पुराने आपसी संबंधों का स्मरण करो। हम आपकी सहायता चाहते हैं। और उसी से हम दक्षिण पर चढ़ाई कर सकेंगे।'' किंतु कृतघ्न ग्वालियर नरेश ने पुराना नाता कब का तोड़ दिया था। यह तो उसे बताना होगा कि पुराना नाता कब का और क्या है—''शिंदे के पुरखे हमारे सेवक थे, मामूली सेवक; यही पुराना नाता। और इस समय शिंदे की सारी सेना हमारा साथ देने को उद्यत है। तात्या टोपे ने सेनाधिकारियों से मिलकर सब भेद जान लिया है।''

किंतु यह सब भूलकर शिंदे अपनी सेना और तोपों के साथ ग्वालियर के पास पेशवा की सेना पर चढ़ाई करने चला। श्रीमंत पेशवा ने सैन्यदल को आते देख यह जाना कि शिंदे पछताकर स्वदेश के झंडे की वंदना करके अगवानी कर रहा है। किंतु रानी लक्ष्मी ने स्पष्ट बता दिया कि ग्वालियर नरेश स्वदेश के झंडे को ठुकराने आ रहा है। रानी ने अपने तीन सौ सैनिकों के साथ शिंदे के तोपखाने पर धावा बोल दिया। थोड़े ही समय में जयाजीराव शिंदे और उसके अंगरक्षक 'भाले घाटी' वीर दीख पड़े। छेडी हुई नागिन से अधिक क्रोधातुर रानी लक्ष्मी उनपर टूट पड़ी। ''देख

महादजी शिंदे के शूर वंशज जयाजी! रनवास में पड़ी यही बाईस वर्ष की अबला तुम्हारी तलवार को ललकार रही है। अब संसार यह देखे कि देशभक्त महादजी का कितना अंश इस फिरंगी भक्त जयाजी में उतरा है। रानी के पहले हमले से ही उसके मुसाहब बगलें झाँकने लगे और 'भाले घाटी' भाग खड़े हुए। किंतु उसका विशाल तोपखाना अवश्य अपनी शक्ति दिखा देगा। ग्वालियर की सेना ने तात्या टोपे को देखा और अपनी शपथ का स्मरण कर पेशवा के विरुद्ध लड़ने से साफ इनकार कर दिया। मुख्य सेनाधिकारियों के साथ सारी सेना पेशवा के साथ हो गई। तोपखाना रखा रह गया। ग्वालियर के हर सैनिक ने स्वराज्य के झंडे को प्रणाम किया। इस प्रकार क्रांति नेता के जादुई स्पर्श से ग्वालियर नरेश का सिंहासन लड़खड़ाकर गिर पड़ा। और कायर जयाजी, उसका मंत्री दिनकर राव, दोनों केवल रणभूमि ही नहीं, ग्वालियर छोड़कर आगरा भाग गए।

ग्वालियर की प्रजा के आनंद का ठिकाना न रहा। श्रीमंत रावसाहब के सम्मान में सेना ने तोपें दागीं। शिंदे के कोषाध्यक्ष अमरचंद भाटिया ने शिंदे के खजाने का सबकुछ पेशवा के चरणों में अर्पित कर दिया। क्रांति कार्य में सहानुभूति दिखानेवाले इन देशभक्तों को बंदी बनाया गया था उन्हें जनता के जयघोष में मुक्त किया गया। अंग्रेजों का साथ देनेवाले सलाहकार पिट्ठू जयाजी के साथ भाग गए। लेकिन उनके घरों में इसलिए आग भी लगाई गई कि उनका नामोनिशान भी न रहे, उनकी संपत्ति भी जब्त कर ली गई। 'राजा और प्रजा का नाता एशियाई लोग बिलकुल समझ नहीं पाते।' इस घृणित व्यंग्य का ग्वालियर की प्रजा ने मुँहतोड़ जवाब देकर झूठ साबित कर दिया है, क्योंकि वह राजा क्या जो 'स्वदेश', 'स्वधर्म' का द्रोह करे? पेशवा के सिंहासन से बाजीराव (द्वितीय) को ठीक समय पर नीचे न खींचने के कारण ही तो सन् १८१८ में मातृभूमि का द्रोह करने के कलंक का टीका पूना के माथे लगा। ग्वालियर इस कलंक से बचा रहा, इसलिए सन् १८५७ की क्रांति आधुनिक भारत में नवांकुरित प्रजा की शक्ति के प्रथम उदाहरण के रूप में इतिहास में अंकित होगी। शिंदे यदि स्वदेश का साथ नहीं देता तो देश भी उसे सहारा नहीं देगा। तलवारें और तोपें, रिसाला तथा पैदल सेना, दरबार एवं सरदार, मंदिर और मूर्ति सबकुछ राष्ट्र के लिए है और अकेला शिंदे यदि राष्ट्र के लिए नहीं है तो उसे सिंहासन से घसीटकर फेंक दो। राजमहल से निकाल बाहर करो। राजसीमा से भी दूर भगा दो। अब 'राजा प्रकृति रंजनात्' (रघुवंश, सर्ग ४, श्लोक १२) अर्थात् राजा जनता के सुख के लिए है—इस रघुकुल रीति के अनुसार राजा वही बनेगा, जो प्रजा को सुखी करने के लिए ही राजपद स्वीकार करेगा।

३ जून का शुभ दिन निकम्मे होकर बिताना अच्छा नहीं। स्वराज्य को पवित्र

स्नान कराकर स्वदेश के सिंहासन पर बिठाना आवश्यक है। अतः फूलबाग में एक बड़ा समारोह किया गया। सरदार, राजनीतिज्ञ, सेनाधिकारी, जो भी क्रांति कार्य में पेशवा का साथ दे रहे थे, अपनी श्रेणी के अनुसार सभी विराजमान थे। तात्या के नेतृत्व में अरब, रुहेले, पठान, राजपूत, रंगड़, परदेसी हर प्रकार के वीर अपने-अपने सैनिक गणवेश में तलवार से सज्जित होकर आए थे। श्रीमंत पेशवा ने भी अपने शाही वस्त्र पहने थे; मस्तक पर सिरपेंच और कलगी-तुर्रा, कानों में मोती के कुंडल, गले में मोतियों तथा हीरों के हार थे। पेशवा के समस्त सम्मान-चिह्नों के साथ भालदार, चोपदारों की ललकारों के बीच श्रीमंत दरबार में पधारे। सबने उनकी वंदना की और आनंदाश्रुओं से डबडबाई आँखों के साथ पेशवा सिंहासन पर विराजमान हुए। फिर उन्होंने ओजपूर्ण शब्दों में धन्यवाद देकर रामराव गोविंद को प्रधान मंत्री नियुक्त किया। तात्या टोपे सेनापति बने और उन्हें रत्नजड़ित तलवार दी गई। अष्ट प्रधानों का चुनाव हुआ। सैनिकों को बीस लाख रुपए बाँटे गए''' (पारसनी कृत—'रानी लक्ष्मीबाई की जीवनी', पृष्ठ ३०९)

नाना साहब पेशवा के प्रतिनिधि रावसाहब ने इस तरह एक नया सिंहासन जमाकर, एक नई आशा, नया प्राण क्रांतिदल में प्रेरित किया और विश्रृंखलित क्रांतिकारियों को एक सूत्र में पिरोने के लिए एक नया केंद्र स्थापित किया। युद्ध की धूम के बीच ही इस प्रकार राज्यारोहण समारोह संपन्न करने और वंदनार्थ तोपों को दागने में तात्या का पागलपन नहीं था। संसार ने क्रांति को मृतप्राय: देखा था, जिसे इसी उपाय से तात्या ने निराशा के गर्त से उठाया था। संसार कुछ आनंद से, कुछ निराशा से चिल्लाया था—'क्रांति अब मर गई, उसमें कोई चेतना नहीं।' किंतु यह कैसा जादू है! तात्या ने गोपालपुर में मरी मिट्टी को उठाया, उसमें फूँक मारी और सारे संसार ने चकित होकर देखा कि उस मिट्टी में से एक सिंहासन ऊपर उठा, जिसके चरणों में लाखों रुपयों की झनझनाहट थी। हजारों तलवारें बढ़ रही हैं। तोपें वंदना कर रही हैं। एक नई सेना खड़ी हुई है। नई तोपें तैयार हैं, तात्या ने एक नया राज्य जीता है। पर तात्या ने अपने चमत्कार से चकित करने के लिए इतनी चेष्टा थोड़े ही की है? उसे पहले से ही मालूम था कि मराठा पेशवा के आसीन होने की तोप-गर्जना से दूर बिखरे हुए क्रांतिकारी संगठित होंगे। वह जानता था कि ग्वालियर में राष्ट्रीय झंडे को लहराता देखकर उनमें असीम उत्साह और साहस पैदा होगा। तात्या ने जो ताड़ लिया था, उसके अनुसार पांडे दल के शरीर में फिर से जान आ गई। जहाँ एक ओर तात्या के देशवासियों में उत्साह की लहर दौड़ी, वहाँ दूसरी ओर अंग्रेज सैनिकों का दिल बैठ गया। इसीलिए तात्या तथा अन्य क्रांति नेताओं ने राज्यारोहरण की धूम मचाई थी। उनकी यह चाल सफल हुई, क्योंकि तात्या की

तोपों की गर्जना से ह्यू रोज के सुस्ताने की योजना मिट्टी में मिल गई। जिस चतुरता और नीतिज्ञता का परिचय ग्वालियर पर कब्जा करने में तात्या और रानी लक्ष्मी ने दिया, उसके बारे में मैलसन लिखता है—"असंभव संभव कैसे बन गया, यह बताया गया है।...ह्यू रोज को यह भी मालूम हुआ कि अब और देर करने का परिणाम क्या होगा। क्रांतिकारियों के हाथ से यदि ग्वालियर शीघ्र न छीना गया तो क्या भयंकर परिणाम होंगे? इसकी कल्पना करना भी कठिन था। समय मिले तो ग्वालियर पर दखल करने से, जो असीम राजनीतिक व सैन्य शक्ति तात्या ने प्राप्त की थी—मानव शक्ति, धन, युद्ध-सामग्री के साधन उसे जो मिले थे, उसके बल पर कालपी में बिखरी सेना को एकत्र कर फिर से नई सेना खड़ी करेगा और भारत भर में मराठों का उत्थान होगा। अपने स्वाभाविक जीवट के बलबूते पर वह दक्षिण महाराष्ट्र में फिर से पेशवा का झंडा लहराने में समर्थ होगा। उस प्रदेश से हमारी अर्थात् अंग्रेजी सेना निकाली गई थी, और यदि मध्य भारत में तात्या को विशेष विजय मिल जाए तो वहाँ के लोग पुन: उस साधना में लग जाएँगे, इसी साधना को पूरा करने में उसके पूर्वजों ने अपनी शक्ति क्षीण की थी, अपना खून बहाया था।"[१]

अब तक जो हुआ, सो ठीक हुआ। एक बार तो ह्यू रोज को बेदम सा बना दिया। लक्ष्मीबाई की बात को महत्त्व न देनेवालों को धिक्कार है! युद्ध ही एक मात्र कार्य हो और सब समारोह बंद कर दिए जाएँ। किंतु खेद है कि इस बात की ओर कोई ध्यान न देकर क्रांतिकारी अपनी मस्ती में बेखबर थे। ऐशो-आराम, शराब, दावतें आदि में सारे लोग बेसुध थे। शायद स्वराज्य की सीमा उन्होंने यहीं तक मानी थी। पर दरअसल वे स्वराज्य खो रहे थे, क्योंकि मौके का लाभ उठाकर कुशल सैनिकों के साथ अंग्रेजों ने ग्वालियर पर हमला कर दिया। अपने साथ वे देशद्रोही शिंदे को लाए थे और वह घोषणा की थी कि अंग्रेज केवल शिंदे के लिए लड़ेंगे। यह घोषणा ग्वालियर की भोली प्रजा को धोखा देने के लिए की। किंतु अब लोगों की आँखें खुल गई थीं। क्रांतिकारियों को संगठित करने में कुशल तात्या अंग्रेजों का मुकाबला करने आगे बढ़ा। मुरार की छावनी के सैनिकों को अंग्रेजों ने हराया था। पराजय की छाया पड़ने से क्रांतिकारियों में सनसनी फैल गई थी। रावसाहब बाँदा के नवाब की कोठी की ओर जाते दिखाई दिए और बाँदा के नवाब रावसाहब के पास दौड़े। इस भाग-दौड़ में मात्र रानी ठंडे दिमाग से काम कर रही थीं। सब तरह से संयत होकर आशा और निराशा को उसने अपने पैरों तले कुचल दिया था। उसकी तलवार म्यान से बाहर थी। संसार की हर वस्तु से उसे वैराग्य था। उसकी

१. मैलसन कृत—'इंडियन म्युटिनी', खंड ५, पृष्ठ १४९-१५०।

तो एक मात्र इच्छा थी—जब तक उसकी साँस रहे उसकी तलवार स्वाधीनता के झंडे को ऊँचा करने में ही चलती रहे। इसी हौसले के सहारे उसने रावसाहब को धीरज बँधाया और अपनी शक्ति के साथ व्यवस्थित सेना का पुनर्गठन किया। इस तरह पूरबी द्वार की रक्षा का भार अपने ऊपर ले लिया। रानी की एक ही माँग थी, ''मैं अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी अपने प्रण को निभाऊँगी, तुम अपने कर्तव्य का पालन करो।''

रानी ने अपना सैनिक गणवेश धारण किया, अच्छे घोड़े पर सवार हुई, रत्न जटित खड्ग को म्यान से बाहर निकाला और सैनिकों को 'आगे बढ़ो' की आज्ञा दे दी। कोटा की सराय के आसपास, जिसकी रक्षा का भार उनपर था, मोर्चाबंदी की। जब अंग्रेज सेना का चारों तरफ से जोर देखा तो रण के वाद्यों के साथ सैनिक अंग्रेज सेना पर टूट पड़े। काश, उनके पास उनके समान ही धैर्यवान सेना होती। रानी के नेतृत्व में उदंड और भीरु भी अनुशासित वीर बन जाता, उनके तथा अपने सैनिकों के साथ रानी ने अंग्रेजों पर हमला किया। लक्ष्मीबाई की दो सखियाँ—मुंदर और काशी भी रानी के कंधे-से-कंधा मिलाकर लड़ीं। पुरुष वेश से विभूषित इन दो सुंदर कन्याओं की स्मृति रानी लक्ष्मीबाई के साथ-साथ भारतीय इतिहास के जीवन में अमरत्व प्राप्त करेगी। स्मिथ जैसा जनरल रानी की सेना को दबा रहा था, किंतु रानी का साहस और शौर्य देखते ही बनता था। पूरे दिन विद्युत्-सी रणभूमि में चमक रही थी। उसकी हरावल पर अंग्रेज जोरदार हमले करते, किंतु हर बार वह अपने पक्ष को विचलित न होने देती, उसका दल जोश में आकर अंग्रेजों की हरावल पर धावा बोल देता और अंग्रेज मौत की गोद में विश्राम पाते। अंत में स्मिथ को पीछे हटना पड़ा, उसने चट्टान सी खड़ी हरावल को तोड़ने की कोशिश छोड़ दी।

इस तरह वह दिन बीता। १८ तारीख का सूरज निकला। आज अंग्रेजों ने बड़े जोर-शोर से हमला करने का निश्चय किया। सभी दिशाओं से उन्होंने किले पर धावा बोलने का निश्चय किया। जिस स्मिथ को कल पीछे हटना पड़ा था, वही आज नई कुमक से झाँसी की सेना पर टूट पड़ा। ह्यू रोज ने समझ लिया कि उसका वहाँ होना आवश्यक है, इसी विचार के कारण आज के हमलावर सैनिकों के साथ वह स्वयं था। रानी भी अपनी सेना के साथ तैनात थी। उस दिन रानी ने कामदार चंदेरी की पगड़ी पहनी, चोगा और पायजामा पहना और गले में एक मोतियों का हार पहनकर घोड़े पर सवार हुई। उसका घोड़ा उस दिन कुछ थका हुआ सा मालूम देता था। अत: एक दूसरा नया घोड़ा लाया गया। रानी की दोनों सखियाँ नाश्ता कर ही रही थीं, तभी संवाद मिला कि अंग्रेजी सेना बढ़ी चली आ रही है। रानी तुरंत

अपने खेमे में दौड़ पड़ी—तीर भी इतनी तेजी से नहीं छूटता। रानी ने घोड़ा दौड़ाया और तलवार हाथ में लेकर शत्रु पर धावा बोल दिया। इसी विषय में एक अंग्रेज लिखता है—"तत्काल वह सुंदरी मैदान में उतरी और ह्यू रोज के व्यूह का डटकर सामना किया। अपनी सेना के आगे रहकर पूरी मारकाट करवाती यद्यपि उसकी सफों को चीरकर अंग्रेज जाते, फिर भी रानी हरावल में दिखाई पड़ती थी और अपनी टूटी पाँतियों को फिर से संगठित कर अतुल धैर्य का परिचय देती थी। इसके बावजूद ह्यू रोज ने स्वयं अपने ऊँट दल के जोर पर आखिरी पंक्ति तोड़ ही दी तो भी रानी अपने स्थान पर डटी रही।"

इतने असाधारण शौर्य से लड़ते हुए उसने देखा कि अंग्रेज सेना पिछाड़ी से आक्रमण कर रही है, क्योंकि पिछाड़ी से रक्षा करनेवाले क्रांतिकारियों की पाँतियों को उसने तोड़ दिया था। तोपें ठंडी पड़ी थीं। मुख्य सेना तितर-बितर हो गई थी, विजयी अंगेज सेना रानी पर चारों तरफ से हमला बोल रही थी और रानी के पास केवल पंद्रह-बीस सवार थे। रानी ने अपनी दोनों सखियों के साथ घोड़े को एड़ लगाई। शत्रु की पाँतियों को चीर वह परले सिरे पर लड़नेवाले लोगों से मिलना चाहती थी। गोरे घुड़सवार शिकारी कुत्तों की तरह उसका पीछा कर रहे थे। किंतु रानी ने तलवार के बल पर अपना मार्ग बनाया और आगे बढ़ी···और सहसा एक चीख सुनाई दी—"बाई साहब, मैं मरी!" उफ यह किसकी पुकार! रानी ने घूमकर देखा। उसकी सखी मुंदर को एक अंग्रेज ने गोली मारी थी। वह मर गई। बिजली की गति से दौड़कर रानी ने एक ही बार में उस फिरंगी के दो टुकड़े कर दिए। मुंदर का प्रतिशोध ले लिया। अब घूमकर आगे बढ़ी। मार्ग में एक नाला आया। बस घोड़े की एक छलाँग में रानी अंग्रेजों के चंगुल से मुक्त थी। किंतु नया घोड़ा वहीं अड़ गया। नाला पार करने से उस बेवफा घोड़े ने इनकार कर दिया। काश, आज रानी का वह पुराना घोड़ा होता! मानो किसी जादुई असर के प्रभाव से वह घोड़ा गोल चक्कर काटने लगा। क्षण भर में ही गोरे सैनिक रानी के करीब आ गए और इस घिरी हुई अवस्था में भी एक तलवार ने अनेक तलवारों का सामना किया। पर एक एक ही है, उन बहुत से अंग्रेजों में से एक ने पीछे से सिर पर वार किया और उस वार के साथ सिर का दाहिना हिस्सा और दाईं आँख निकलकर बाहर लटकने लगी; उसी समय दूसरा वार छाती पर हुआ। महालक्ष्मी अब तुम्हारे रक्त की पावन बूँद, आखिरी बूँद टपकनेवाली है। स्वतंत्रता की देवी को उसने अंतिम बलि दी। अपने ऊपर वार करनेवाले अंग्रेज के टुकड़े कर डाले और अब रानी अंतिम साँस लेने लगी। रानी का विश्वासपात्र सरदार रामचंद्रराव देशमुख पास ही था। उसने रानी को उठाया और पास की एक झोंपड़ी में उसे ले गया। बाबा गंगादास ने रानी को ठंडा

पानी पिलाया और रक्त से लथपथ उस देवी के शरीर को बिछौने पर लिटा दिया, उसकी पावन आत्मा स्वर्ग सिधार गई। अंतिम साँस में निकले अपनी स्वामिनी की अंतिम सूचना के शब्दों के अनुसारर रामचंद्रराव देशमुख ने शत्रु की आँख बचाकर घास का ढेर लगा दिया और उसी चिता पर लिटाकर, पराधीनता के अपवित्र स्पर्श के भय से अग्नि संस्कार कर डाला।

सिंहासन पर नहीं, चिता पर लक्ष्मी के गले में स्वतंत्रता की कौस्तुभमणि विराजमान है। रणभूमि में उत्सर्ग करके रानी ने मृत्यु का दरवाजा तोड़ दिया है। अब भला कोई मानव उसका क्या पीछा करेगा?

इस प्रकार रानी लक्ष्मीबाई लड़ी। अपना लक्ष्य पूरा कर गई। ऐसा एक जीवन संपूर्ण राष्ट्र का मुख उज्ज्वल करता है। वह सब सद्‌गुणों का निचोड़ थीं। एक महिला, जिसने जीवन के तेईस वसंत ही देखे थे, कोमलांगी, मधुर, विशुद्ध चरित्र, पुरुषों में भी न पाई जानेवाली संगठन कुशलता से ओतप्रोत थी। उसके हृदय में देशभक्ति रत्नदीप की तरह प्रकाशमान थी। अपने देश पर उसे गर्व था। युद्ध कौशल में अद्वितीय थी। विश्व में शायद ही कोई देश ऐसा होगा, जो ऐसी देवी को अपनी कन्या और रानी कहने का अधिकारी होगा। इंग्लैंड के भाग्य में यह सम्मान अब तक नहीं बदा है। इटली की क्रांति में ऊँचे शौर्य और आदर्श का परिचय मिलता है; फिर भी इतने वैभवकाल में इटली एक ऐसी लक्ष्मी को पैदा नहीं कर सका।

भारत का यह अहोभाग्य है कि ऐसा स्त्रीरत्न यहाँ पैदा हुआ। उसका शरीर बाबा गंगादास की झोंपड़ी में प्रज्वलित ज्वाला में दमक रहा है। पर यह रत्नदीप हमारी मातृभूमि भी कदाचित् पैदा न कर सकती यदि यह स्वतंत्रता संग्राम का महायज्ञ न रचा जाता। अनमोल मोती सागर की सतह पर ही नहीं मिल जाते, रात्रि के अंधकार में सूर्यकांत मणि तेज की किरणें नहीं फेंकती, चकमक पत्थर कोमल वस्तु की रगड़ पर चिनगारी उत्पन्न नहीं करता। इन सबको विरोध की अपेक्षा होती है। अन्याय से पिसे हुए मन को बेचैन बना दो—अंदर तक, रक्त की एक-एक बूँद में उबाल आना चाहिए। अन्याय का ईंधन प्रतिशोध की भट्‌ठी को तपाता रहे, ऐसी भट्‌ठी में फिर सद्‌गुणों के कण चमकने लगते हैं।

सन् १८५७ में हमारी भूमि पर सचमुच ही आग भड़क उठी थी और फिर विश्व के कानों में गूँज भरनेवाला धमाका···इस अग्नि का कितना विस्तृत फैलाव हुआ है। ऊँची लपट—लपट में से लपट—मेरठ में चिनगारी और डलहौजी के 'रोलर' से समतल बना धूल का ढेर—सारा देश ज्वालामुखी बारूद के अंबार सा दिखाई पड़ा। जैसे आतिशबाजी का अनार खुलने पर उसमें से रंग-बिरंगे बाण-पेड़

तथा अन्य चीजें छूटती हैं और शांत हो जाती हैं। उसी तरह इस क्रांति के अनार से तप्त लहू बहा, शस्त्रास्त्र और मुठभेड़ें निकलीं। और यह अनार भी कितना बड़ा—मेरठ से विंध्याचल तक लंबा, पेशावर से डमडम तक चौड़ा। और उस सुलगाया गया। आग की लपटें सभी दिशाओं में व्याप्त हो गईं और उस अनार के पेट में क्या-क्या अजीब चीजें थीं। लहू मेघ की तरह बरसा—ओलों के साथ। दिल्ली के घेरे, प्लासी के प्रतिशोध, कानपुर, लखनऊ तथा सिकंदराबाद के कत्ल। सहस्रों वीर जूझ रहे हैं, खप रहे हैं, नगर जल रहे हैं, कुँवरसिंह आता है, जूझता है, गिरता है; मौलवी आया, लड़ा और मरा; कानपुर, लखनऊ, दिल्ली, बरेली, जगदीशपुर, झाँसी, बाँदा, फर्रुखाबाद के सिंहासन; पाँच हजार, दस हजार, सहस्रों, लाखों तलवारें, ध्वजाएँ, सेनापति, घोड़े, हाथी, ऊँट—सब इस अनार से बाहर—एक-के बाद एक आग के फव्वारे से निकलते हैं। एक कुछ ऊँचाई की लपट पर कुछ दूसरी पर—ये ऊँचे चढ़ जाते हैं, लड़खड़ाते हैं और लुप्त हो जाते हैं। सब ओर लड़ाई—बिजली की कड़क, ज्वालामुखी की भीषण ज्वालाओं का यह फव्वारा।

और यह चिता—बाबा गंगादास की झोंपड़ी के पास जल रही है। सन् १८५७ के स्वातंत्र्य समर के ज्वालामुखी की यह अंतिम ज्वाला है।



भाग-४

अस्थायी शांति

प्रकरण–१

विहंगावलोकन

सन् १८५७ के स्वातंत्र्य समर की प्रमुख भूमिका उत्तर हिंदुस्थान में ही निभाई गई थी, अत: इस प्रदेश में हुई अद्‌भुत उथल-पुथल का विस्तृत विवरण इस ग्रंथ में प्रस्तुत करना आवश्यक ही था। परंतु इस स्वातंत्र्य युद्ध को पूर्णत: समझने के लिए अन्य प्रदेशों में इन दिनों में हुई घटनाओं का उल्लेख करना भी अनिवार्य है। एतदर्थ इस रण विस्फोट की प्रचंड ज्वालाओं को उत्तर हिंदुस्थान के आकाश में किल्लोलें करते हुए छोड़कर अब हम अन्य प्रदेशों में इस विस्फोट से भड़की चिनगारियों पर भी दृष्टिपात करेंगे।

दिल्ली के घेरे के दिनों में पंजाब प्रांत में चले घटनाचक्र का कुछ विवरण हमने उसी स्थान पर प्रस्तुत किया है। तदुपरांत वहाँ एक-दो सामान्य विद्रोही घटनाओं के अतिरिक्त प्राय: शांति ही रही। सिखों के अतिरिक्त यहाँ की अन्य जनता ने किसी भी ओर से इस युद्ध में भाग तो नहीं लिया, किंतु वे हृदय से इस बात के आकांक्षी थे कि क्रांति का यह यज्ञ सफलता प्राप्त करे। हाँ, सिख लोग और सिख संस्थान निश्चित रूप से ही अंग्रेजों के पक्ष में संघर्ष करते रहे।

राजपूताना के जनसाधारण की सहानुभूति क्रांतिकारियों के साथ ही थी। इस तथ्य की साक्षी भी अनेक प्रसंगों से प्रस्तुत हुई। जयपुर, जोधपुर और उदयपुर आदि के जो भारतीय सैनिक अंग्रेजों की ओर से संघर्ष करते थे, उन्हें अपशब्दों से संबोधित किया जाता था, किंतु ज्योंही क्रांतिकारियों के कहीं विजयी होने का समाचार प्राप्त होता था, राजस्थान के बाजारों और गलियों में हर्ष का वातावरण व्याप्त हो जाता था। स्थान-स्थान पर इन क्रांतिकारियों के जय-जयकार से धरा गगन निनादित हो उठता था। किंतु जब कभी क्रांतिकारियों की पराजय की सूचना मिलती थी तो संपूर्ण राजस्थान में विषाद और संताप की गहरी छाया व्याप्त हो जाती

थी। ये घटनाएँ इसी सत्य की परिचायक हैं कि राजस्थान का जनसाधारण हृदय से क्रांति की सफलता का इच्छुक था। राजस्थान के राजपूत नरेशों की स्थिति यह थी कि वे किसी विशेष स्थिति के उत्पन्न होने से पूर्व किसी भी एक पक्ष को प्रकट रूप से सहायता देने के लिए तत्पर नहीं होते थे। किंतु जब कभी भी अंग्रेजों द्वारा दबाव डाला जाता था तो इन राजपूत राजाओं के सैनिक ही अपने शासकों की आज्ञाओं का खुला उल्लंघन कर अपने देशबांधओं के विरुद्ध अंग्रेजों का पक्ष लेकर युद्ध करने से स्पष्टत: इनकार कर देते थे।

विंध्याचल के उत्तर का यह विहंगावलोकन करने के उपरांत जब हम दक्षिण की ओर दृष्टिपात करते हैं तो हमारी आँखों के समक्ष सर्वप्रथम शिवाजी के मराठों का साम्राज्य उभर आता है। इन्हीं के देशबांधवों ने उत्तर में जाकर कानपुर, कालपी और झाँसी इत्यादि में प्रचंड रणगर्जना की थी। इसके कारण रायगढ़ में पराभूत हुआ राज्य सिंहासन ब्रह्मावर्त में रक्त से स्नान करता हुआ दिखाई दे रहा था। वहाँ स्वराज्य के पुनीत आसन का प्रादुर्भाव हो रहा था। संताजी और धानाजी ने जिस परम पवित्र भगवे ध्वज को ऊँचा किया था वह अब उत्तर भारत में तात्या टोपे द्वारा पुन: फहराया जा रहा था। उत्तर हिंदुस्थान ने इस स्वातंत्र्य युद्ध में जैसी एकता, साहस और दृढ़ संकल्प व्यक्त किया, वैसी ही एकता यदि दक्षिण में भी उत्पन्न हो जाती तो यह सुनिश्चित था कि यदि संपूर्ण ब्रिटेन भी भारत में आकर युद्ध करने लग जाता तब भी महाराष्ट्र की पावन पताका कभी भी न झुक पाती। महाराष्ट्र का भगवा ध्वज जब रणांगण में फहराता है तो उसके प्रति प्रेम और गर्व से जिसका हृदय न भर जाता हो, ऐसा मराठा वंश का एक भी व्यक्ति कहीं खोजने से मिलना कठिन है। सन् १८५७ की वीरता की यह पावन प्रेरणा सभी मराठों के हृदय में स्वाभाविक रूप से ही जाग्रत हो उठी थी। किंतु दृढ़ संकल्प के अभाव और अनिश्चित नीति—इन दो रोगों ने इस वीर भावना और पावन प्रेरणा की भ्रूणहत्या ही कर दी। जिन दिनों उत्तरी हिंदुस्थान में क्रांति की योजना प्रगति पथ पर थी, उन्हीं दिनों दक्षिण भारत में भी क्रांति का प्रचार करने के लिए दूत भेजे गए थे। वे प्रत्येक नगर और संस्थान में जा रहे थे। सातारा के रंगोजी बापू से भी कानपुर के नाना साहब का पत्र-व्यवहार हो रहा था। पूना, सातारा, बेलगाँव, धारवाड़, बंबई, हैदराबाद इत्यादि स्थानों की विभिन्न पलटनों में ब्राह्मण, मौलवी और उत्तर भारत की क्रांतिकारी सेनाओं के प्रतिनिधि क्रांति की ज्वाला गुप्त रूप से धधकाने में संलग्न थे। मैसूर से लेकर विंध्य पर्वत मेखला तक सर्वत्र यह प्रतिज्ञा दोहराई जा चुकी थी कि जब 'उत्तर उठेगा तो दक्षिण भी उभरकर खड़ा हो जाएगा।' दक्षिण भारत ने भी विद्रोह करना तो स्मरण रखा, किंतु यह भी सत्य है कि वह उत्तरी हिंदुस्थान के साथ उठना स्मरण

न रख सका। उत्तर में तो क्रांति की विद्युत् ज्वाला अकल्पित गति से धधकी और इस संकल्प के साथ दहकी कि करेंगे अथवा मरेंगे। किंतु तत्काल ही विद्रोह करने के स्थान पर दक्षिणवाले उस विद्रोह के परिणाम की ओर ही दृष्टि गड़ाए शांत रहे। क्रांति के जोखिम के समय में तो एक क्षण में जीवन-मरण का निर्णय हो जाता है। उतावलापन और विलंब—दोनों ही इसकी सफलता में बाधक सिद्ध होते हैं। दुविधा के इन क्षणों में क्षमतावान पुरुष ऐसे मुहूर्त का चयन करते हैं जिनमें तेजी और धैर्य से अधिकाधिक लाभ की उपलब्धि हो। क्रांति का संचालन अंकगणित के नियमों के अनुसार नहीं होता। क्रांति की सफलता तो मानव के हृदय में विद्यमान अद्‌भुत आत्मिक सामर्थ्य पर ही अवलंबित होती है। अकर्मण्यता और मंदता से तो क्रांति की धधकती ज्वाला ठंडी हो जाती है। कर्मठता की तीव्रता ही क्रांति को जाग्रत रखती है। संयम, दूरदर्शिता और विद्रोह की तिथि का निर्धारण करना आदि क्रांति की सिद्धता तक ही उपयोगी है। किंतु एक बार शंखनाद हुआ कि जीवन जाए अथवा रहे, इस ओर से निश्चिंत होकर ही क्रांति के रणांगण में जूझना पड़ता है। उस अवस्था में जो दुविधा में पड़ेगा उसकी पराजय सुनिश्चित है। उस निर्णायक घड़ी में जो इस चर्चा में उलझ जाएगा कि विद्रोह करना अच्छा है अथवा बुरा है, वह निश्चित रूप से ही अंततोगत्वा पराजित होगा। संगठन करते हुए शांति और क्रांति में धैर्य ये ही सफलता की सीढ़ियाँ हैं। क्रांति का संगठन तो गलीची की बुनाई के समान सावधानी सहित धीरे-धीरे किया जाना अपेक्षित है। किंतु जब एक बार क्रांति का विस्फोट हो जाए तो क्षणमात्र के लिए भी असमंजस ग्रस्त न होते हुए तीर के तुल्य उसमें प्रवेश करना चाहिए। फिर यश मिले अथवा अपयश, जीवित रहें अथवा मृत्यु का वरण करें, सब ओर से निश्चिंत होकर समरांगण में जूझना ही श्रेयस्कर है। मारते-मारते मरने का अटल संकल्प ही ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि एक बार क्रांति का शंखनाद हो उठे तो क्रांति को यशस्वी करने के लिए एकमात्र मार्ग है—आगे बढ़ते जाना और अपने पग कदापि न रोकना।

किंतु दक्षिण भारत ने इस तत्त्व को विस्मृत कर दिया और जब उत्तर में क्रांति की ज्वाला धधकी तो उसके साथ ही न उठकर खड़े होते हुए धीरे-धीरे सक्रिय रहे, किंतु असमंजस ग्रस्त भी रहे। सफलता के प्रति अत्यधिक चिंता और उसके फलस्वरूप जोश में आकर अनुपम विद्रोह करने के कारण उन्हें अपयश कैसे प्राप्त हुआ, आइए, इस तथ्य पर भी दृष्टिपात करें।

कोल्हापुर में २९वीं और धारवाड़ में २८वीं रेजीमेंट थी। जब पत्र-व्यवहार के माध्यम से क्रांति की योजना बनाई गई तो विद्रोह की तिथि १० अगस्त, १८५७ निर्धारित की गई। परंतु कोल्हापुर की जनता और सिपाहियों के दमन के लिए इसी

बीच अंग्रेजों द्वारा एक गोरी सेना भेजने का निश्चय किया गया। यह समाचार तार विभाग के एक भारतीय कर्मचारी के माध्यम से भारतीय सिपाहियों को भी मिल गया? ज्योंही यह गुप्त सूचना प्राप्त हुई तो पहले से ही दग्ध सिपाहियों ने ३१ जुलाई को ही विद्रोह कर दिया। उन्होंने कतिपय अंग्रेज अधिकारियों की तो हत्या कर ही दी, साथ ही खजाने पर भी अधिकार कर लिया। इन विद्रोही सैनिकों ने आई हुई गोरी सेना से भी दो-दो हाथ किए और कोल्हापुर से चलकर घाटियों की ओर निकल गए। विभिन्न क्रांतिकारी सावंतवाड़ी के प्रमुख नेता रामजी शिरसाई के नेतृत्व में एकत्रित हुए और वाड़ी के वनों से गोरी सेना पर छापे मारने लगे। गोवा के पुर्तगालियों के सहयोग से अंग्रेजों ने कोल्हापुर में हुए इस विद्रोह को दबा दिया और वहाँ आए हुए नए अंग्रेज अधिकारी जेकब ने बचे हुए क्रांतिकारियों को आत्मसमर्पण करने पर विवश कर उनके नेताओं को गोलियों से उड़ा दिया।

किंतु जिस दिन इन सिपाहियों ने विद्रोह किया, उस दिन भी कोल्हापुर के नागरिक तो मौन दर्शक ही बने रहे। इसी मध्य वहाँ के तरुण राजा के साथ नाना साहब के दूत से भी मंत्रणा हुई थी। उस दूत ने नरेश को भी क्रांति के संघर्ष में भाग लेने के लिए प्रेरित किया। लखनऊ के नवोत्थित सिंहासन की ओर से उसे एक तलवार भी भेंट की गई। इसी भाँति जपखंडी, सांगली आदि के अन्य दक्षिणी संस्थानों से भी गुप्त पत्र व्यवहार चल रहा था। किंतु कोल्हापुर के नरेश की अपेक्षा तो शिवाजी का अधिक उष्ण रक्त उसके छोटे भाई चिमासाहब की ही नसों में प्रवाहित हो रहा था। अब तक क्रांति का जो बना-बनाया कार्य बिगड़ गया था, अब क्रांति के उसी कार्य को पुनः व्यवस्थित रूप देने के लिए पुनः मंत्रणाओं का क्रम आरंभ हो गया था। इस कार्य को चिमासाहब ही निभा रहे थे। उन्होंने कोल्हापुर के अस्थायी सैनिकों को विद्रोह के लिए संगठित किया। १५ दिसंबर को प्रातःकाल ही कोल्हापुर में पुनः क्रांति की ज्वाला धधक उठी। नगर के द्वार बंद कर वहाँ तोपें तैनात कर दी गईं। नगर के प्रत्येक मार्ग में क्रांति की पुनीत पताका फहरा उठी। जेकब को ज्योंही समाचार मिला, उसने अपनी सेना को एकत्रित कर एक कच्चे द्वार पर आक्रमण कर दिया। उस समय से अंग्रेजी सेना द्वारा राजमहल पर अधिकार करने की घड़ी तक प्रचंड मुठभेड़ और संघर्ष जारी रहा। पराजय मिलने पर, जैसा कि सामान्यतः होता है, उसने घोषणा की कि विद्रोह सैनिकों तथा राजाज्ञा का उल्लंघन कर जनता ने आरंभ किया था। जब विद्रोहियों के नाम पूछे गए तो उसने कहा कि मुझे इस संबंध में कोई जानकारी नहीं है। जेकब विद्रोही नेताओं को बंदी बनाने में प्राणप्रण लगा रहा। उसने अनेक व्यक्तियों को संदेह में ही कारागार में बंद कर दिया, किंतु उसके जी-तोड़ प्रयास करने पर भी उसे इस विशाल क्रांति का सूत्र

भी हाथ नहीं लग सका। जब एक क्रांतिकारी नेता को पकड़ा गया तो वह अपने हाथ के लिखे एक पत्र के टुकड़े-टुकड़े करके ही उन्हें निगल गया। बंदी बनानेवाले ताकते ही रह गए। अनेक लोगों को तोपों के सामने खड़ा करके उड़ा दिया गया। उनमें से एक पहली बार के आघात से न मारा जा सका, किंतु वह दूसरी बार तोप से गोला दगने तक भी निश्चिंत भाव से निडर खड़ा रहा। उस समय जेकब उसके पास आया और बोला, ''तुम यदि कतिपय विद्रोहियों के नाम बता दोगे तो तुम्हें प्राणदान दे दिया जाएगा।'' किंतु वह महान् वीर धैर्य सहित अपने अंग-भंग हुए शरीर का कष्ट सहन करता रहा। उसने जेकब की ओर घृणा से देखते हुए कहा, ''विद्रोह मैंने ही किया है।'' दूसरे एक क्रांतिकारी ने तोप दगने से पूर्व भूल से एक नेता का स्मरण कर लिया। किंतु गोरे अधिकारी उस नेता को बंदी बना पाते इसके पूर्व ही वह सुशिक्षित नेता कोल्हापुर के बाहर निकल गया। चिमासाहब ने भी अंग्रेजों को उसका कोई सूत्र नहीं दिया। इस प्रकार के पारस्परिक विश्वास के कारण ही क्रांतिकारी एकता के महान् सूत्र में आबद्ध हुए थे। इसी पद्धति के कारण उनमें कोई भी आपसी मनमुटाव उत्पन्न न हो पाता था। इसीके कारण वे षड्यंत्रों का सफलतापूर्वक निर्वाह करते थे।[१]

कोल्हापुर में यदि इस प्रकार विद्रोह की अग्नि प्रज्वलित हुई थी तो बेलगाँव में भी १० अगस्त से ही क्रांति का रंग मुखरित होने लग गया था। किंतु विद्रोही सिपाहियों के एक नेता ठाकुरसिंह तथा मुसलमान एवं अन्य नागरिकों के नेता एक साहसी मुंशी के बंदी बना लिये जाने से बेलगाँव और धारवाड़ में शांति ही बनी रही, क्योंकि अंग्रेज़ी सेना भी तत्काल वहाँ आ पहुँची थी। मुंशी एक सरकारी कर्मचारी था, अत: उसके द्वारा क्रांति के संबंध में पूना और कोल्हापुर आदि के सैनिकों को लिखे गए पत्रों के पकड़ लिये जाने के कारण अंग्रेजों ने उसे तोप से उड़ा दिया।

सातारा में रंगोजी बापू पर तो पहले ही ब्रिटिश सरकार अपना क्रोध प्रदर्शित कर चुकी थी। इधर कोल्हापुर में क्रांति का संचार करने के आरोप में अंग्रेजों ने रंगोजी बापू के एक पुत्र को भी बंदी बना लिया था, उसे भी सातारा में लाकर विद्रोह के संशय में ही अन्य क्रांतिकारियों के साथ फाँसी पर लटका दिया गया था। सातारा के दो राजपुत्रों को सीमा पार निष्कासित कर दिया गया था। जिस राजसिंहासन की सेवा करने में रंगोजी बापू ने अपना संपूर्ण जीवन समर्पित कर दिया था, उसकी ऐसी दुर्दशा देखकर उन्होंने भी तत्काल सातारा का परित्याग कर दिया था। उनके

---

१. सर जॉर्ज ले ग्रांड जेकब के.सी.एस.आई.सी.बी. कृत—'वेस्टर्न इंडिया'।

बंदी बनाने के लिए अंग्रेजों ने भारी मात्रा में इनाम देने की घोषणा की थी; किंतु अभी कोई ऐसा घृणित कार्य करनेवाला वहाँ नहीं जनमा था। शत्रुओं के हाथों से बच निकलने के उपरांत रंगोजी बापू का क्या हुआ, यह तो इतिहास आज तक भी नहीं बता पाया; किंतु उनके जाने के साथ-ही-साथ सातारा स्वतंत्रता से भी हाथ धो बैठा।

उन दिनों बंबई क्षेत्र का गवर्नर लॉर्ड एलफिंसटन नामक एक सुयोग्य अधिकारी को बनाया गया था। अपने प्रदेश में शांति स्थापित करने के साथ-ही-साथ उसने कुछ अंग्रेजी सेना राजस्थान भेज दी। किंतु बंबई में विद्रोहाग्नि का शमन करने में जो तत्परता प्रदर्शित की गई उसका श्रेय फॉरेस्ट नामक मुख्य पुलिस अधिकारी को था। बंबई तो उस समय आलसी, सुखभोगी और राष्ट्रद्रोहियों की नगरी ही बनकर रह गई थी। ऐसी स्थिति में केवल उन्हीं सैनिकों के हृदय राष्ट्र-प्रेम की पावन ज्वाला से दग्ध हो रहे थे जो वहाँ तैनात थे। इस स्थिति को समझकर ही फॉरेस्ट की दृष्टि निरंतर उनपर रहती थी। विद्रोह दीपावली के दिन निर्धारित हो चुका था। तदनुसार सैनिकों की गुप्त बैठकों का क्रम भी आरंभ हो चुका था। इन सभाओं में फॉरेस्ट ने अपने विशेष कृपापात्रों को भी घुसाने की भरसक चेष्टा की थी। किंतु सिपाहियों की दक्षता ने उसकी दाल न गलने दी। फॉरेस्ट कभी ब्राह्मण तो कभी अन्य कोई वेश बदलकर स्वयं भी सामूहिक भोजों आदि में यदाकदा पहुँचने में सफल हो जाता था। अंततः उसे विदित हो गया कि गंगाप्रसाद नामक एक सज्जन का निवासस्थान ही गुप्त बैठकों का केंद्र है। किसी-न-किसी प्रकार रौब और आतंक के सहारे वह एक दिन गंगाप्रसाद के घर में प्रविष्ट होने में सफल भी हो गया। उसने एक दीवार के छेद से क्रांतिकारियों की पूरी बैठक का भी अवलोकन कर लिया। किंतु क्रांतिकारियों को वहाँ उसकी उपस्थिति का आभास तक भी नहीं हो पाया। इतना ही नहीं वह कतिपय अंग्रेज अधिकारियों को भी एक दिन वहाँ ले गया और उसने उन्हें भी सबकुछ दिखा दिया। जब एक अंग्रेज अधिकारी ने देखा कि अपने जिन सैनिकों को वे परम राजभक्त समझते थे वे ही एक-एक करके उस बैठक में भाग लेने के लिए आ रहे हैं तो उसके मुख से हठात् निकल पड़ा, "हे मेरे भगवान्! ये तो मेरे अपने ही आदमी हैं। क्या ऐसा होना भी संभव है?" इन सिपाहियों के विद्रोह की रूपरेखा सामान्यतः इस प्रकार थी कि पहले बंबई में विद्रोह किया जाए और तदुपरांत पूना की ओर प्रस्थान किया जाए, और जब वहाँ अधिकार कर लिया जाए तो फिर नाना साहब पेशवा के नाम की दुहाई देकर वहाँ मराठों का झंडा पुनः फहरा दिया जाए।[१] परंतु इस योजना के

---

१. फॉरेस्ट कृत—'रियल डैंजर इन इंडिया'।

क्रियान्वित होने के पूर्व ही फॉरेस्ट द्वारा इस योजना का पता लगा लिये जाने के कारण दो विद्रोही नेता फाँसी पर लटका दिए गए तथा अन्य छह को सीमा पार कर दिया गया। इस प्रकार वहाँ सन् १८५७ के अक्तूबर मास में ही विद्रोह को पूर्णतः कुचल दिया गया।

उन्हीं दिनों नागपुर और जबलपुर में भी क्रांति की चिनगारी फूटने की संभावनाएँ प्रतीत होने लगी थीं। नागपुर में विद्रोह के लिए सिपाहियों ने १३ जून, १८५७ की तिथि निर्धारित की थी। इस योजना को सभी प्रमुख नागरिकों का भी समर्थन प्राप्त था। निर्धारित योजना के अनुसार १३ जून की रात्रि में ग्राम के लोगों को तीन प्रज्वलित आकाशदीप आकाश में उठाने थे। इन्हें ही सैनिकों के विद्रोह का संकेत वाक्य निर्धारित किया गया था। यहाँ क्रांतिकारियों के पक्ष में एक और भी बात थी कि नागपुर से जबलपुर तक के मध्य क्षेत्र में अंग्रेज एक भी गोरी पलटन नहीं रख पाए थे। किंतु कुछ ही समय उपरांत मद्रास से गोरी पलटन आ पहुँची और उसने विद्रोह का दमन कर दिया। जबलपुर में गोंड जाति के राजा शंकरसिंह और उनके पुत्र द्वारा सर्वत्र क्रांति की ज्वाला धधकाई जा रही थी। जब उन्हें अंग्रेजों द्वारा बंदी बना लिया गया तो उनके पास से एक रेशमी बस्ता भी मिला, जिसमें वह प्रातः स्मरण की श्लोक पंक्ति भी एक कागज पर लिखी मिली जिसका राजा शंकरसिंह प्रतिदिन पाठ करते थे। उसके अंग्रेजी भाषांतर का हिंदी रूपांतर संक्षेप में इस प्रकार है—

साधुओं से छल और दुष्कृत्य कर रहे नित्य,
दुष्ट दलन हेतु धाओ त्वरित, आओ देवि चंडिके।
शत्रुओं का दलन करो, धर्म संस्थापन करो,
भक्त की पुकार सुनो, ध्याओ शीघ्र मातृके।
आंग्ल दुष्ट संहार करो, धरती का त्रास हरो,
शत्रु रक्त पी अघाओ, आओ शत्रु संहारके!

राजा शंकरसिंह ने ५२वीं रेजीमेंट को भी अपने साथ विद्रोह में सम्मिलित करने का प्रयास किया था। इस आरोप में इनको पुत्र सहित १८ सितंबर, १८५७ को तोप से उड़ा दिया गया। किंतु इस समाचार से निराश होने के स्थान पर ५२वीं पलटन ने विद्रोह का शंखनाद ही कर दिया। उन्होंने रणभूमि में कूदकर एक अंग्रेज अधिकारी येक ग्रेगर को यमलोक ही पठा दिया। इसी भाँति धार राज्य में भी विद्रोह की ज्वालाएँ दहकी थीं तो दिल्ली के राजपुत्र वीर फीरोजशाह के द्वारा किए गए प्रयासों के फलस्वरूप महिदपुर और गौरेया में भी क्रांति का विस्फोट हुआ था।

जिसका विवरण हम यहाँ विस्तार के भय से प्रस्तुत नहीं कर रहे हैं।

किंतु इन सभी स्थानों की अपेक्षा ब्रिटिश सत्ता का मर्मस्थान तो हैदराबाद के निजाम के हाथों में ही था। इस राज्य के सिंहासन पर मई १८५७ के मध्य में अफजल उलउद्दौला सिंहासनासीन हुआ था। सर सालारजंग नामक व्यक्ति उसके दीवान पद का भार वहन कर रहा था। इस सालारजंग में अपने इशारे मात्र पर ही संपूर्ण दक्षिण को उठाने की क्षमता थी। यदि हैदराबाद का निजाम विद्रोह में सम्मिलित हो जाता तो यह सुनिश्चित था कि संपूर्ण दक्षिण प्रदेश ही एक व्यक्ति के समान उठ खड़ा होता। फिर उत्तर में हुए विद्रोह के कारण पड़नेवाले दबाव से कसमसाकर टूटने की स्थिति में आई हुई ब्रिटिश साम्राज्य की आयु की डोरी दक्षिण का भी दबाव पड़ने से निश्चित रूप से ही कड़कड़ाकर टूक-टूक हो जाती। यह भी कैसे कहा जाए कि अंग्रेजों के विरुद्ध प्रारंभ किए गए इस स्वातंत्र्य संग्राम के सिद्धांतों से किसीने सालारजंग को अवगत नहीं कराया होगा। यही मानना होगा कि सर सालारजंग के अंत:करण में इतनी प्रचंड 'राजभक्ति' विद्यमान थी कि उसने स्वधर्म, स्वराज्य और स्वतंत्रता के प्रति प्रेम की एक भी तरंग से उसके हृदय को तरंगित नहीं होने दिया। किंतु इतने पर भी उसे क्रांति के संघर्ष में योगदान देने के लिए प्रेरित करने में हैदराबाद की जनता ने कोई कसर न उठा रखी थी। किंतु सालारजंग अविचल ही रहा। तब हैदराबाद में १२ जून को प्रात:काल ही अत्यधिक उत्तेजना परिलक्षित हुई, उस दिन एक लब्ध प्रतिष्ठित मौलवी के हस्ताक्षरों से युक्त भित्तिपत्रक यत्र-तत्र दीवारों पर चिपके हुए दृष्टिगोचर हुए। क्रांतिकारी हस्तपत्रकों के तो अंबार ही लग गए थे। मसजिदों में मुसलमानों की विशाल सभाएँ भी आयोजित हुईं। जहाँ उत्तेजित भाषण होते थे और लोगों से ये प्रतिज्ञाएँ कराई जाती थीं कि फिरंगी काफिरों को भारत से निष्कासित करके ही चैन की साँस ली जाएगी। किंतु सालारजंग पर तो इन सभी घटनाओं का विपरीत प्रभाव पड़ा, उसने कतिपय क्रांतिकारी नेताओं को बंदी बनाकर अंग्रेजों को सौंप दिया। किंतु इसपर भी १७ जुलाई को हैदराबाद में विद्रोह का शंखनाद गूँज उठा और क्रांतिकारी नारों की गूँज सर्वत्र सुनाई पड़ने लगी। क्रांति की पताका फहराते हुए लोग अपने नेताओं को मुक्त कराने के लिए ब्रिटिश रेजीडेंसी में प्रविष्ट हो गए। सर्वप्रथम निजाम की सेना के ही रुहेलों ने विद्रोह की पताका फहराई थी और पाँच सौ नागरिक भी इसमें सम्मिलित हुए थे। विद्रोहियों को आशा थी कि सालारजंग खुलकर भले ही उनकी सहायता न करे, किंतु गुप्त रूप से तो उनकी सहायता करेगा ही, और यदि उसने ऐसा भी न किया तो वह कम-से-कम तटस्थ तो अवश्य ही रहेगा; किंतु उसने तो सभी की आशाओं पर तुषारापात कर दिया। वह उनसे न मिलकर शांत ही नहीं बैठा

रहा, अपितु उसने तो ब्रिटिश अधिकारियों से हाथ मिलाकर अपने ही सैनिकों की हत्या करने में भी संकोच नहीं किया। एक मुठभेड़ में क्रांतिकारी नेता तोराबाजखाँ मारे गए तो अलाउद्दीन नामक एक अन्य नेता शत्रुओं द्वारा बंदी बना लिया गया। उसे तत्काल ही अंडमान भेज दिया गया। इस प्रकार हैदराबाद में हुआ क्रांति का प्रयत्न असफल हो गया। एक अंग्रेज इतिहासकार ने स्पष्टतः इन शब्दों में वस्तुस्थिति को स्वीकार किया है—

''तीन मास तक संपूर्ण भारत का भाग्य निजाम अफजलउद्दौला और सालारजंग के ही हाथों में था। उनकी बुद्धिमत्तापूर्ण नीति से यह सिद्ध होता है कि उन्होंने विद्रोही सिपाहियों के प्रयासों से दिल्ली के राज्य सिंहासन के पुनः प्रतिष्ठित होने की आशा पर संदिग्ध अवस्था में पड़े रहकर अवलंबित रहने के स्थान पर अंग्रेजों की छत्रच्छाया में मांडलिक बनकर रहना ही श्रेष्ठ समझा।'' अपनी इस अस्पृहणीय कारस्तानी के कारण सालारजंग की इतिहास सदैव ही निंदा करता रहेगा।

इस प्रकार जहाँ दक्षिण में निजाम क्रांति का विनाश करने में तल्लीन था वहाँ उसीके राज्य के समीप स्थिति जोहरापुर के तरुण हिंदू राजा ने अपना सर्वस्व स्वातंत्र्य संग्राम में समर्पित कर देने का सत्संकल्प ग्रहण किया था। तदनुसार उसने अरब, रुहेलों, पठानों तथा डोगरों की एक सेना का गठन किया था। उन्हीं दिनों उसके पास नाना साहब के दूत भी पहुँचे थे और उन्होंने उसको नाना साहब के पक्ष में उठ खड़े होने के लिए प्रेरित किया था। रायचूर और अर्काट के भी कतिपय ब्राह्मणों और मौलवियों ने भी उसे प्रेरित किया। किंतु इन सबके प्रोत्साहित करने पर भी जब वह अंग्रेजों के विरुद्ध उठकर खड़े होने में टालमटोल कर रहा था तो उसकी प्रजा ने ही उसे कायर कहकर ताने देने आरंभ कर दिए। तब उसने पेशवा के नाम पर अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह प्रारंभ कर दिया। किंतु निजाम और अंग्रेज इन दोनों की शक्ति के विरुद्ध इस अकेले की पार न बसी। अतः सन् १८५८ के फरवरी मास में यह वीर नरेश अपनी सेनाओं के पराभव के उपरांत हैदराबाद में आ गया। जब वह वहाँ के बाजारों में टहल रहा था तो उसे सालारजंग ने बंदी बना लिया। अंग्रेज अधिकारी मेडोज टेलर के साथ इस राजा का बाल्यावस्था से ही परिचय था। वह टेलर को 'अप्पा' कहकर संबोधित करता था। अतः इस राजा से क्रांति के गुप्त संगठन का रहस्य जानने तथा प्रमुख क्रांतिकारियों के नाम पता लगाने के लिए कारागार में उससे भेंट करने के लिए टेलर को ही भेजा गया। किंतु गुप्त संगठन और उसमें योगदान के संबंध में जब राजा से टेलर ने प्रश्न किया तो उसने क्या उत्तर दिया, यह टेलर के शब्दों में ही बताना उत्तम होगा। मेडोज टेलर ने लिखा है कि

''वह तत्काल तनकर खड़ा हो गया और बड़े आवेश सहित उसने कहा, 'नहीं, अप्पा, जिस संबंध में तुम मुझे रेजीडेंस से भेंट करने के लिए कह रहे हो, मैं उस बात को कदापि स्वीकार नहीं करूँगा। रेजीडेंस समझता होगा कि मैं अपने प्राणदान के लिए उससे याचना करूँगा, किंतु स्मरण रहे, अप्पा, मैं कायरों के समान क्षमा याचना कर जीवित रहना कदापि स्वीकार नहीं करूँगा। मैं अपने सहयोगी देशबांधवों के नाम तो जीवन की अंतिम घड़ी तक भी नहीं बता सकता।' '' टेलर एक बार पुन: उसके पास गया। उसने राजा से कहा कि यदि तुम षड्यंत्रकारियों के केवल नाम ही बता दो तब भी तुम्हारे साथ दया प्रदर्शित किए जाने की पूर्ण आशा है। किंतु राजा ने उसे उत्तर दिया—''मैं जब से क्रांतिकारी संगठन में सम्मिलित हुआ हूँ, तब से मैंने क्या-क्या किया है, इसका पूर्ण विवरण तो मैं बता सकता हूँ, किंतु यदि मुझे मेरे स्फूर्तिदाता का नाम बताने हेतु बाध्य किया जाता हो तो मेरा स्पष्ट उत्तर है 'नहीं'। क्या काल के गाल में जाने के हेतु स्वत: सिद्ध हुआ मैं अपने नेताओं के नाम बता दूँ? मैं तो तोप से उड़ाए जाने, कालेपानी में सड़ाए जाने अथवा फाँसी पर लटकाए जाने, इन सबसे भी अधिक भयंकर दंड—अपने आपको देशद्रोहियों की श्रेणी में गिना जाना मानता हूँ।'' जब टेलर ने उससे कहा कि ''फिर तो तुझे मृत्युदंड ही दिया जाएगा।'' यह सुनते ही वीरव्रती नरेश गरज उठा—''अप्पा, मैं तुमसे एक ही याचना करता हूँ कि मुझे फाँसी पर न लटकाओ, अपितु मुझे तोप से उड़ा दो, फिर तुम देखोगे कि मैं कितनी निर्भीकता और शांति से तोप के समक्ष सधकर खड़ा होता हूँ।''

इस देशभक्त नरेश को पहले फाँसी का ही दंड सुनाया गया, किंतु मेडोज टेलर के हस्तक्षेप से उसे कालापानी के दंड में परिवर्तित कर दिया गया। उसे जब अंडमान भेजा जा रहा था तो उसने समीप में किसीको न पाकर जेल के एक वार्डर से पिस्तौल छीन ली और अपने ऊपर गोली दागकर प्राण विसर्जित करते हुए ये अंतिम शब्द कहे—''कालेपानी से तो मृत्यु ही श्रेयस्कर है, मेरा तो एक साधारण सा प्रहरी भी बंदीशाला में नहीं रहेगा, फिर मैं तो उनका राजा हूँ, मैं कदापि बंदी नहीं रह सकता।''[१]

जोहरापुर के नरेश का इस प्रकार पराभव होते हुए देखकर अब तक असमंजस में पड़े नरगुंद के नरेश ने भी अब विद्रोह करने के लिए कमर कस ली। इस वीरव्रती का नाम था भास्करराव बाबासाहब! बाबासाहब बड़ा विद्याप्रेमी था, उसने अपने पुस्तकालय में विभिन्न उत्तम ग्रंथों का एक संग्रहालय भी बनाया था। वह स्वत: तो

१. मेडोज टेलर कृत—'स्टोरी ऑफ माई लाइफ'।

दयालु था ही, उसकी धर्मपत्नी भी अनिंद्य सुंदरी थी और साहसी भी। जब उसे दत्तक पुत्र लेने की स्वीकृति न दी गई थी तभी से उसने अंग्रेजी राज्य का सर्वनाश कर देने का संकल्प कर लिया था। उसी की प्रेरणा से, नितांत ही संकोच सहित नरगुंद नरेश ने २५ मई, १८५८ को अंग्रेजों के विरुद्ध हथियार उठा लिये। बाबासाहब ने ब्रिटिश राज्य सत्ता की दासता का तौक गले से तोड़कर फेंक दिया। जब उन्हें विदित हुआ कि अंग्रेज अधिकारी मैनसन उनपर आक्रमण करने के लिए आ रहा है तो उन्होंने अपने कतिपय विश्वस्त साथियों के साथ नरगुंद के समीप स्थित वन में ही उसे घेर लिया। मैनसन को यमलोक पठा दिया गया और वीर सैनिक उसका सिर काटकर ले आए। वे इस अंग्रेज अधिकारी के सिर को जलूस के रूप में नरगुंद लाए और अगले दिन उसे नरगुंद नगर के प्रवेशद्वार पर टाँग दिया गया। किंतु नरगुंद नरेश के ही सौतेले भाई ने क्रांतिकारियों के साथ सहयोग देना ही अस्वीकार नहीं किया, अपितु वह अंग्रेजों से भी जा मिला। अंग्रेज सेना ने नरगुंद पर आक्रमण कर वहाँ की सेना को पराजित कर दिया। किंतु बाबासाहब शत्रुओं के हाथ में आने से बच निकलने में सफल हो गए। बाद में एक दिन गुप्त रूप से घूमते हुए वे बंदी बना लिये गए और १२ जून को अंग्रेजों ने उन्हें फाँसी दे दी। उनकी नवयुवती, परम सुंदरी महारानी भी जीते-जी अंग्रेजों के हाथ न आई, अपितु उसने अपनी सास सहित मलप्रभा नदी की जलधारा में छलाँग लगाकर प्राण विसर्जित कर दिए।

इनके अतिरिक्त कोमलदुर्ग के भीमराव, सावंतवाडी के अधिपति इत्यादि अन्य लोगों ने भी पेशवा के नाम पर अनेक स्थानों पर विद्रोह किए। किंतु विद्रोह का ठीक समय निर्धारित करने की चतुरता के अभाव, संगठन की अपूर्णता एवं एकाकी और असंगठित जनबल के आधार पर दक्षिण में हुई क्रांतियों में से कोई भी प्रभावी सिद्ध नहीं हुई और अंग्रेजों को भी अपना अधिक ध्यान केंद्रित नहीं करना पड़ा। परिणामतः उन्हें उत्तर में ही अपनी संपूर्ण शक्ति लगाने का सुयोग मिल गया।

इस प्रकार दक्षिण का विहंगावलोकन करने के उपरांत अब हमें पुनः अहमदशाह की उस वीर रस प्रचुर चरित्र कथा के उस अध्याय पर दृष्टिपात करना होगा जब वह तड़पते और कराहते अवध की पीड़ा का हरण करने के लिए अंतिम बार प्रयासरत हुआ था। मौलवी सरीखे असाधारण वीरों की मृत्यु भी उनके जीवन के सदृश ही वैभवशाली होती है। दूसरे अनेक व्यक्ति रणभूमि में संघर्ष करते हुए स्वर्ग सिधारते हैं; किंतु जिनके अंतःकरणों में राष्ट्रभक्ति की पावन ज्वाला प्रज्वलित हो रही हो, उसके शमन हेतु रणभूमि पर 'रक्त-रक्त' कहते जो तांडव करते हुए अपने शौर्य का प्रदर्शन करते हैं, उन्हें तो वस्तुतः मृत्यु भी नहीं मार पाती। ऐसे महान् योद्धा यदि प्रतिशोध की अग्नि पूर्णतः बुझ जाने के पूर्व ही रणभूमि में प्राण

विसर्जित कर दें तो भी यमराज के अधीन नहीं हो पाते। यह भी देखा गया है कि ऐसे महान् वीर का शीश धड़ से पृथक् हो जाने पर उनका धड़ ही समर में लिप्त रहता है। और अनेक लोगों में यह भी धारणा व्याप्त है कि यदि ऐसे महावीर के धड़ के भी टुकड़े-टुकड़े कर दिए जाएँ तब भी उस वीर का अदृश्य भूत ही रात्रि में शत्रुओं की छाती पर चढ़कर अपनी प्रतिशोधाग्नि को शांत करता है।

इस धारणा के मूल में कोई-न-कोई तथ्य अवश्य ही है, ऐसा प्रतीत होता है। जब मौलवी अहमदशाह समर भूमि में लड़ रहे थे, उस समय लॉर्ड केनिंग ने एक घोषणा प्रसारित कर संपूर्ण अवधवासियों पर यह व्यक्त किया था कि ''जो स्वत: आत्मसमर्पण कर देगा उसे विद्रोही न समझते हुए, उसके पूर्व के सभी अपराधों को दया सहित क्षमा कर दिया जाएगा और जो लोग आज हमारा साथ दे रहे हैं उनकी संपत्ति और जागीरें आदि भी वापस दे दी जाएँगी। अब अंग्रेजी सत्ता की निश्चित रूपेण विजय हो रही है, अत: अवध के जो लोग अभी भी ब्रिटिश सत्ता का विरोध करने पर डटे रहेंगे उन्हें उनकी इस हठ के लिए कठोरतम दंड दिया जाएगा।'' अंग्रेज ये समझते थे कि इस घोषणा के उपरांत अवध के प्राय: सभी जमींदार शांत हो जाएँगे। परंतु इन्हीं दिनों यह समाचार भी मिला कि 'पावेन के राजा ने ५ जून, १८५८ को मौलवी अहमदशाह का सिर काट लिया है।' मंद होती हुई अग्नि मौलवी की मृत्यु के समाचार से पुन: दहक उठी। अत्यधिक प्रयत्नों के उपरांत मिली असफलता से जो अवध थक गया था और जिसे क्षमा के प्रलोभन में फँसाया जा रहा था, वह अवध मौलवी के निधन पर शोक प्रदर्शन करने के स्थान पर 'प्रतिशोध'-'प्रतिशोध' की गर्जना करता हुआ पुन: रणभूमि में कूद पड़ा। मौलवी का शीश तो उनके क्रूर शत्रु ने काटकर निश्चित रूप से ही नगर के तोरण द्वार पर लटका दिया था, किंतु अब तो उसका धड़ ही रणभूमि में अंग्रेजों के होश उड़ा रहा था। मौलवी की हत्या के कारण संपूर्ण अवध पर ही मानो उनका भूत सवार हो गया था और अब अवध जय-पराजय, हानि-लाभ, आशा-निराशा और जीवन-मरण का मोह त्यागकर नवीन और प्रचंड उत्साह सहित शत्रु से संघर्ष हेतु रणभूमि में पुन: उतर पड़ा था। पावेन के चांडाल से प्रतिशोध लेने के लिए निजामअलीखाँ पीलीभीत जा पहुँचा। खानबहादुर खान ने चार हजार लोगों को लेकर चढ़ाई की तो फर्रुखाबाद के नेता के साथ पाँच हजार लोग थे और तीन हजार लोगों सहित विलायतशाह तथा तीन हजार को साथ लेकर ही नाना साहब, अलीखाँ मेवाती और उनके अनुगामियों ने संपूर्ण अवध में ही उथल-पुथल मचा दी। इनमें से प्रत्येक ही पावेन के राजा का रक्त पीने के लिए उतावला था। इतनी विशाल वाहिनी को चढ़कर आता हुआ देखकर इस देशद्रोही पापी का अंग-अंग काँप उठा।

उसके संरक्षण के लिए अंग्रेजी सेना भी वहाँ तीव्र गति से एकत्रित होती जा रही थी। इस प्रदेश के आसपास शत्रुओं से क्रांतिकारियों का घमासान संघर्ष हो रहा था। घाघरा नदी के तट पर बेगम हजरत महल और हेमूखाँ डेरा डाले हुए थे। इधर राजा रामबख्श, बाहुनाथ सिंह, चाँद सिंह, हनुमंत सिंह एवं अन्य बड़े-बड़े जमींदार अपनी संपूर्ण सेना लेकर अवध की स्वतंत्रता के लिए एक और प्रयास करने में लगे थे। इसी भाँति शहजादा फिरोजशाह, जो अभी तक धार में युद्ध कर रहा था, अवध आ पहुँचा था। अपने असाधारण धैर्य का परिचय देकर कोया के दुर्ग की रक्षा करनेवाले वीर पिता के वीर पुत्र नृपतिसिंह भी अवध के संग्राम में भाग लेने के लिए आ पहुँचे थे। इसके पिता जुस्सा सिंह नाना साहब के परम मित्र थे और स्वतंत्रता के युद्ध में ही उन्होंने अपने प्राण विसर्जित किए थे। उन्होंने ही नाना साहब को अपने दुर्ग में आश्रय दिया था। इसी भाँति देशप्रेम की पावन प्रेरणा लिये दृढ़ता और उत्साह से बढ़ता राजा वेणीमाधव भी अपने दुर्ग से निकलकर देश रक्षा हेतु रण कंकण बाँधकर प्रचंड शौर्य का प्रदर्शन करता कानपुर होते हुए लखनऊ के लिए चल पड़ा। जिनकी विजयी होने की आशाएँ धूमिल हो गई हों, किंतु जो जाति के सम्मान हेतु मरण का वरण करने चल पड़े हों, उनके साहस का पारावार पा भी कौन सकता है ? केवल अपने क्षत्रिय धर्म का निर्वाह करने हेतु वीर वेणीमाधव ने अनुपम साहस का प्रदर्शन किया था। उन्हें तो यहाँ प्राप्ति की किंचितमात्र भी आशा नहीं थी। किंतु विलंब से ही क्यों न हो, उसने लखनऊ पर धावा बोल दिया था। उसने लखनऊ नगर में यह विज्ञप्ति भी प्रसारित कर दी कि नगर में रहनेवाले सभी भारतीय नगर छोड़ दें, क्योंकि फिरंगियों पर मेरा प्रचंड प्रहार आरंभ होनेवाला है। विजय से उन्मत्त और पूर्ण अनुशासनबद्ध सेना से सुरक्षित अंग्रेज भी उसकी इस घोषणा, तत्परता और साहस़ से आश्चर्यचकित हो गए थे। इसमें आश्चर्य की कौन सी बात थी। मृतवत अवध एक निमिषमात्र के लिए ही क्यों न हो, पुनः प्राणवान सा होकर खड़ा हो गया था। लखनऊ पर इससे पूर्व क्रांतिकारियों का जितना प्रबल आक्रमण पहले कभी भी नहीं हो पाया था, वैसा अब होनेवाला था।

रक्त के सागर से तो अभी भी अयोध्या (अवध) के अंग सूख नहीं पाए थे, तभी १३ जून, १८५८ को होपग्रंट लखनऊ के समीप नवाबगंज की ओर बढ़ चला, जहाँ लखनऊ प्रस्थान करने के लिए क्रांतिकारी वीर एकत्रित हुए थे। उन्हें अपनी विजय की तो किंचित् मात्र भी आशा नहीं थी। उनपर होपग्रंट सहसा ही अपने गोरे और काले सैनिकों सहित टूट पड़ा। अन्य कोई सेना होती तो ऐसे आक्रमण की स्थिति में उसका तितर-बितर हो जाना अपरिहार्य था। परंतु हे क्रांतिवीरो, ठहरो! अभी तो मौलवी का निधन हुए आठ दिन भी व्यतीत नहीं हो पाए हैं। अतः रुको!

वे रुके और उन्होंने आक्रमण का प्रतिकार करना आरंभ कर दिया। उन्होंने जिस प्रचंड, उत्कर्ष शौर्य का परिचय दिया उसे देखकर तो शत्रुओं के हृदय भी उनकी वीरता से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। आंग्ल वीर होपग्रंट ने भी उनकी वीरता के संबंध में लिखा—"इतने पर भी उनके आक्रमण बड़े ही प्रचंड होते थे और उन्हें विफल बनाने के लिए हमें कठोर परिश्रम करना पड़ा। सुदृढ़ साहसी जमींदारों ने दो तोपों सहित हमारी सेना के पिछले भाग पर आक्रमण कर दिया। मैंने हिंदुस्थान में अनेक संग्राम देखे हैं और विजय अथवा मृत्यु का वरण करने के लिए कृत संकल्प सुभट वीरों को भी देखा है; किंतु जिस असाधारण वीरता का प्रदर्शन इन जमींदारों ने किया वैसी शायद ही कहीं देखी हो। सर्वप्रथम उन्होंने हडसन के अश्वारोही दल पर आक्रमण किया और उसे तितर-बितर कर दिया और उसकी दो तोपें भी विचलित सी हो गईं। उस समय मैंने सातवीं हुजार पलटन के दस्तों को आगे बढ़ने का आदेश दिया, उनके साथ चार तोपें भी थीं। ये तोपें विद्रोहियों पर केवल पाँच सौ गज के अंतर से ही अग्नि वर्षा कर रही थीं। विद्रोही हँसिया से काटे जानेवाले भुट्टों की तरह गिरते जा रहे थे। उनके प्रमुख ने, जो काफी मोटा था, निर्भय होकर दो पताकाएँ अपनी तोपों के समक्ष गाड़ दीं, वस्तुत: यह वहीं डटे रहने का संकेत था। किंतु हमारी तोपों से इतने प्रचंड प्रहार हो रहे थे कि जो भी उनके समीप आता, धराशायी हो जाता। हमारी सहायता के लिए अन्य दो दस्ते भी आ पहुँचे। अत: बचे हुए विद्रोहियों को हटना पड़ा। फिर भी वे हमपर तलवारें और भाले चमकाते हुए हमें चुनौती देते रहे। केवल उन दो तोपों के चारों ओर ही एक सौ पच्चीस शव पड़े हुए थे। तीन घंटे के संग्राम के उपरांत विजयश्री हमारे हाथ रही।"[१]

इस प्रकार की घमासान मुठभेड़ें पूर्वी अवध, मध्य अवध, उत्तरी अवध अथवा संपूर्ण अवध में ही आरंभ हो गई थीं। अपनी पुरानी शमशीरों और तोड़ेदार बंदूकों से ही अवधवासी अंग्रेजों की प्रबल सत्ता को चुनौती दे रहे थे। अंग्रेजों के रचे हुए जाल को उनकी कृपाणें काट डालने में संलग्न हो उठी थीं। इन उग्र हठी रणवीरों के प्रबल पराक्रम का पूर्ण विवरण प्रस्तुत करना तो स्थानाभाव के कारण संभव नहीं है, किंतु इतना कहना ही उपयुक्त होगा कि अवधवासी रणांगण में भयंकर तांडव करने में संलग्न थे। वे केवल आंग्ल शत्रुओं को ही ठिकाने नहीं लगा रहे थे अपितु शत्रु द्वारा क्षमादान दिए जाने की भूलभुलैया में पड़े हुए राजा मानसिंह तथा पावेन नरेश के समान चांडाल देशद्रोहियों पर भी टूट पड़े थे। इस प्रकार अवध के देशभक्तों को दोहरी लड़ाई लड़नी पड़ रही थी। उन्होंने पावेन पर धावा बोला,

---

१. होपग्रंट कृत—'इंसीडेंट्स ऑफ दि सेपॉय वार', पृष्ठ २९२।

लखनऊ में संग्राम जारी रखा, सुलतानपुर में वे शत्रु से भिड़े, उन्होंने नीच विश्वासघाती मानसिंह को उसके दुर्ग में ही बंद कर दिया, अंग्रेजों के लिए प्रत्येक मार्ग में अवरोध उत्पन्न किया, उनकी चौकियों को लूट लिया। उन्होंने अवध के कण-कण को अपने रक्त का अभिषेक देकर पावन बना दिया। उसके चप्पे-चप्पे में आत्मत्याग की पताकाएँ गाड़ दीं। जहाँ कहीं भी अंग्रेज उन्हें घेर लेते थे, वे देशभक्त उसे तोड़कर इधर-उधर फैल जाते थे और युद्ध तथा प्रतिशोध का जयघोष जारी रखते थे। जून से अक्तूबर पर्यंत और अक्तूबर से दिसंबर पर्यंत अवध रण में जूझता रहा। दक्षिण से और उत्तर से ही नहीं अपितु सभी दिशाओं से नित नवीन अंग्रेजी सेनाएँ उनपर आकर धावा बोलती थीं। इस प्रकार अनंत शत्रु सैन्य के साथ ये कृतनिश्चयी अक्तूबर पर्यंत लोहा लेते रहे। वेणीमाधव के शंकरपुर को अंग्रेजी सेनाओं द्वारा तीन ओर से घेरा गया। शंकरपुर में सेना भी कम थी और रसद भी। वेणीमाधव ने इस स्थिति में भी शस्त्र समर्पित नहीं किए। तब अंग्रेजी सेना के प्रधान सेनापति ने उन्हें स्वतः यह संदेश भेजा कि "तुम्हारे पक्ष का विजयी होने का अब कोई लक्षण दिखाई नहीं देता। अतः तुम यदि युद्ध की हठ को छोड़कर शरण माँग लोगे तो तुम्हें पूर्णरूपेण क्षमा कर तुम्हारी संपत्ति वापस लौटा दी जाएगी।" वेणीमाधव ने उसे उत्तर दिया, "अब मेरे लिए दुर्ग की रक्षा कर पाना संभव नहीं, अतः उसे तो मैं छोड़ रहा हूँ, केवल तुम्हारी शरण में कदापि नहीं आऊँगा, क्योंकि मेरी इस देह पर मेरा अधिकार नहीं है, यह तो मेरे प्रभु की है। किला तुम्हारे हाथ में आ जाएगा, किंतु वेणीमाधव नहीं, कारण? उसकी देह तो स्वराज्य की दास है।"[१]

---

१. चार्ल्स बाल कहता है—"उपर्युक्त घोषणा के उपरांत भी अवध का संघर्ष विचित्र सा ही रहा। इन सभी विद्रोहियों को जनता की अपूर्व सहानुभूति प्राप्त थी तथा उन्हें आदमियों की कुमक भी मिलती रहती थी। ये विद्रोही बिना रसद के ही रवाना हो जाते थे, क्योंकि प्रत्येक स्थान पर ही लोग इन्हें खिलाते-पिलाते थे। ये अपना सामान आदि भी बिना किसी प्रहरी के ही छोड़कर चल देते थे, क्योंकि लोग अपने आप ही उसकी रक्षा करते थे। इन विद्रोहियों को प्रति घंटे ही अंग्रेजों की गतिविधियों की पूरी-पूरी सूचना प्राप्त होती रहती थी, जिससे वे अपनी तथा अंग्रेजों की दशा का पूर्णतः आकलन कर लेते थे। प्रत्येक भोजनालय में मेज के समीप खड़े रहनेवाले खानसामा भी विद्रोहियों से गुप्त रूप से सहानुभूति रखते थे। इस कारण हमारी कोई भी योजना गुप्त नहीं रह सकती थी। यों तो अंग्रेजों के शिविर में ही गुप्तचर खड़े होते थे, विद्रोहियों पर अचानक आक्रमण करना इसलिए संभव नहीं था। कोई कौतुक ही हो जाए तो अलग बात थी। क्योंकि एक मुख से दूसरे मुख तक पहुँचनेवाले समाचारों ने तो हमारे अश्वारोही भी मात कर दिए थे।"—खंड २, पृष्ठ ५७२।

इस बीच सन् १८५८ के नवंबर मास में इंग्लैंड की साम्राज्ञी ने अपनी सुप्रसिद्ध घोषणा की और यह भविष्यवाणी भी इस घोषणा के माध्यम से सत्य ही सिद्ध हो गई कि ठीक सौ वर्ष के पश्चात् कंपनी के राज्य का भारत से अंत हो जाएगा, क्योंकि अब हिंदुस्थान से कंपनी की राज्य सत्ता समाप्त हो गई थी और उसके स्थान पर ब्रिटिश महारानी का राज्य आरंभ हो गया था। महारानी की घोषणा में यह भी स्पष्ट वचन दिया गया था कि जिस-जिसने भी अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह किया है, किंतु अपने शस्त्र समर्पित कर दिए हैं और ब्रिटेन की शरण में आ गए हैं, उन्हें सार्वजनिक रूप से क्षमादान दिया जाएगा और उनकी संपत्ति भी जब्त नहीं की जाएगी।[१] इतना ही नहीं अपितु उनके अपराधों की भी जाँच-पड़ताल नहीं की जाएगी। इस घोषणा में ही राजा-महाराजाओं को दत्तक पुत्र लेने का अधिकार भी स्वीकार कर लिया गया। ब्रिटेन की महारानी की इसी घोषणा में ही यह अभिवचन भी दिया गया कि जनता के धार्मिक अधिकारों और रूढ़ियों में किंचित् मात्र भी हस्तक्षेप नहीं किया जाएगा और उपर्युक्त सभी वचनों का पूर्ण रूपेण पालन किया जाएगा।

महारानी ने अपनी घोषणा में यह भी कहा—''ईस्ट इंडिया कंपनी के कार्यकाल में नागरिक तथा सैनिक पदों पर काम कर रहे वर्तमान कर्मचारियों को

---

१. महारानी के इन वचनों का पालन अंग्रेजों ने किस प्रकार किया, इसका परिचय भारतवासियों को भलीभाँति मिला है। विभिन्न साहूकारों से जमानती देकर जो लाखों रुपए ऋण के रूप में लिये गए थे वे रुपए साहूकारों को विद्रोही बताकर देने से पूर्णतः इनकार कर दिया गया। इस संबंध में प्रस्तुत उदाहरण नितांत महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि सन् १८५७ से संबंधित किसी भी इतिहास ग्रंथ में इसकी जानकारी नहीं मिल सकेगी। इतना ही नहीं, अपितु 'लंदन टाइम्स' के लिए श्री रसेल द्वारा प्रेषित संवाद पत्रों में भी इसका कहीं उल्लेख नहीं है। किंतु 'लंदन टाइम्स' के संपादक जॉन डीलन का आत्मचरित्र प्रकाशित हुआ है। उसमें 'लंदन टाइम्स' के संपादक को भारत स्थित संवाददाता श्री रसेल द्वारा लिखे गए व्यक्तिगत पत्र का भी समावेश है। इस पत्र में लिखा गया है—''सन् १८५९ के जनवरी मास के अंत में भी सर डब्ल्यु. एच. रसेल लॉर्ड क्लाइड के साथ था। लखनऊ से लिखे गए अपने अंतिम पत्रों में से एक में उसने एक रोचक कहानी बताई है, जो उसने प्रधान सेनापति से सुनी थी। इलाहाबाद के अपने मकान मालिक (एक एंग्लो-इंडियन जनरल मर्चेंट) के संबंध में लॉर्ड क्लाइड ने बताया कि तुम ठीक प्रकार जानते हो कि उसने क्या किया? 'नहीं', अच्छा, जब विद्रोह भड़क उठा तब देशी व्यापारियों का उसपर पर्याप्त ऋण था। वह अब स्पेशल कमिश्नर नियुक्त कर दिया गया था और उसने सर्वप्रथम जो कार्य किया वह यह था कि उसने सभी साहूकारों को फाँसी के तख्तों पर लटका दिया।''

हम उन्हीं पदों तथा अधिकारों पर बनाए रखने का भी वचन देते हैं, किंतु भविष्य के नियम-कानूनों का निर्धारण हम स्वेच्छानुसार करेंगे और उन्हें इनका पालन करना होगा।

''मैं यह भी घोषणा करती हूँ कि ईस्ट इंडिया कंपनी ने देशी राज्यों और संस्थानों से जो संधियाँ की हैं अथवा करार किए हैं, उनका अक्षरश: पालन किया जाएगा। दूसरे पक्ष द्वारा भी उनका पालन होगा, ऐसी भी मुझे आशा है। इस समय जितने प्रदेश पर हमारा अधिकार है, उससे अधिक पर अधिकार करने की हमारी इच्छा नहीं है। जिस प्रकार हम अपनी प्रभुसत्ता के अधिकारों तथा मातहत प्रदेशों पर किसी प्रकार का और किसीका भी अतिक्रमण मौन रहकर सहन नहीं करेंगे, उसी प्रकार दूसरे के अधिकारों पर भी कोई आक्रमण करने की अनुमति नहीं देंगे। देशी नरेशों के अधिकार, सम्मान और पद की प्रतिष्ठा का विचार करते हुए हम उनके साथ नितांत आदरपूर्ण व्यवहार करेंगे। हमारी यह भी इच्छा है कि हमारी प्रजा के समान ही वे भी उन्नति करें और आंतरिक शांति, सुरक्षा और सुप्रबंध से प्राप्त होनेवाली सामाजिक प्रगति का भी उन्हें लाभ प्राप्त हो।

''हमारी यह भी अभिलाषा है कि हमारे प्रजाजनों में जो भी अपनी शिक्षा, क्षमता एवं कर्तृत्व के आधार पर योग्यता अर्जित कर ले, तो जाति, धर्म, पंथ किसीका भी विचार न करते हुए उसे निस्संकोच और निष्पक्ष भाव सहित हमारी सेवा में किसी पद पर भरती किया जाए।

''जिन लोगों ने ब्रिटिश प्रजाजनों की हत्या करने में सक्रिय योग दिया हो और जिनके विरुद्ध अभियोग प्रमाणित हो चुका हो, उन अपराधियों के अतिरिक्त अन्य सभी को हम क्षमा देने की भी घोषणा करते हैं।

''जो अन्य व्यक्ति अभी तक भी सशस्त्र होकर हमारे विरुद्ध युद्ध कर रहें हैं वे भी यदि अपने ग्रामों को वापस चले जाएँगें, अपने पहले के कामों में लग जाएँगे तो उन्होंने हमारे तथा हमारे शासन के विरुद्ध जो भी अपराध किए हैं, हम उन्हें नितांत कृपा सहित भूल जाने को तत्पर हैं।''

इस प्रकार महारानी का घोषणापत्र अथवा भारत का भाग्यलेख प्रकाशित किया गया। निस्संदेह, इसका एकमात्र उद्‌देश्य अवध की क्रांति-ज्वाला पर पानी डालना ही था। किंतु अवध के क्रांतिदूतों को यह घोषणा तनिक भी आकर्षित न कर सकी। महारानी की घोषणा के सर्वथा विपरीत अवध की बेगम ने घोषणा कर दी—
''इंग्लैंड की रानी के घोषणापत्र में यह बताया गया है कि देशी नरेशों से कंपनी ने जो संधियाँ अथवा प्रस्ताव प्रस्तुत किए हैं वह उन सभी का पालन करेगी। किंतु भारतीय जनता को इस कपटपूर्ण चाल को भलीभाँति समझ लेना चाहिए। कंपनी तो

संपूर्ण भारत को ही हड़प कर चुकी है और इसको सिर आँखों पर रखना हो तो इंग्लैंड की रानी ने कौन सी नई बात कही है? भरतपुर नरेश को कंपनी ने वचन दिया था कि उसे पुत्रवत माना जाएगा और दूसरी ओर उसके संपूर्ण राज्य पर भी हाथ साफ कर दिया। लाहौर के अधिपति (दिलीप सिंह) को लंदन में बंदी बनाकर रख दिया गया है, उन्हें भारत नहीं लाया जाता। नवाब शमसुद्दीन को इन्हीं अंग्रेजों ने एक हाथ से फाँसी पर लटकाया और दूसरे हाथ से उसे सलाम करते हुए भी उन्हें तनिक भी लज्जा न आई। सातारा के छत्रपति को, पूना के पेशवा को बंदी बनाया और मृत्यु पर्यंत बिठूर में उससे पेंशन चढ़वाते रहे। काशी नरेश को इन्होंने आगरा में बंदी बनाकर रखा। इन्होंने ही बिहार, उत्कल और बँगभूमि के राजाओं को और जागीरदारों को समूल नष्ट कर दिया। इन्होंने अवशिष्ट वेतन का वितरण करने के नाम पर अवध का संपूर्ण पैतृक धन भी हड़प लिया। हाँ, इतनी कृपा अवश्य ही की कि संधि के ७वें परिच्छेद में इस प्रतिज्ञा का अवश्य ही उल्लेख कर दिया कि भविष्य में और कोई वसूली नहीं की जाएगी। ऐसी स्थिति में जो कुछ कंपनी ने किया है, यदि उसीको स्वीकृत करने की बात इंग्लैंड की रानी भी करती हो तो पहले की और आज की स्थिति में अंतर ही क्या है? यह सब तो पुरानी ही बातें हैं। किंतु हाल ही में लिखी गई संधि की शर्तों की पूर्णत: उपेक्षा करके और हमारा लाखों रुपए का ऋण उसकी ओर होते हुए भी कंपनी को जब कोई अन्य बहाना हाथ न आया तो 'शासकों के प्रति प्रजा में असंतोष' का कृत्रिम उपालंभ गढ़कर हमारे विपुल धन और करोड़ों रुपए के प्रदेश को हड़प लिया। यदि हमारी प्रजा इससे पूर्व नवाब वाजिदअलीशाह के शासनकाल में ही सुखी नहीं थी तो अब हमारे प्रशासन काल में उसके संतुष्ट हो जाने का कारण क्या है? आज हमारी प्रजा हमारे प्रति जितनी श्रद्धा और प्रेम तथा राजनिष्ठा का प्रदर्शन कर रही है उतनी तो शायद ही किसी राजा की प्रजा ने प्रदर्शित की होगी। ऐसी स्थित में हमारा प्रदेश हमें क्यों नहीं लौटाया जा रहा है? इंग्लैंड की रानी ने यह भी कहा है कि और अधिक प्रदेशों पर विजय प्राप्त कर उन्हें अपने शासन में मिलाने की उनकी कोई इच्छा नहीं है। किंतु इस कथन के बावजूद भी राज्यों पर दखल करने का कार्य पूर्ववत् चल ही रहा है। यदि अब उसने संपूर्ण शासन-व्यवस्था अपने हाथों में ले ली है तो फिर हमारे प्रजाजनों द्वारा स्पष्टत: अपनी इच्छा की अभिव्यक्ति कर देने के पश्चात् भी हमारा राज्य हमें वापस क्यों नहीं दिया जा रहा है?

''किसी भी राजा अथवा रानी ने आज तक विद्रोह के अपराध में संपूर्ण सेना अथवा संपूर्ण जनता को कदापि दंडित नहीं किया, यह सत्य जगत् विख्यात है। सभी को क्षमा किया जाएगा, क्योंकि संपूर्ण सेना अथवा समग्र हिंदुस्थान को

दंडित किया जाना कोई भी विचारवान व्यक्ति कदापि पसंद न करेगा। उन्हें यह भी भलीभाँति विदित है कि जब तक दंड का भय विद्यमान रहता है तब तक विद्रोह की ज्वाला भी शांत नहीं हो पाती। 'मरता क्या न करता' यह कहावत भी सुप्रसिद्ध ही है।

''रानी की घोषणा में कहा गया है कि जिन्होंने विद्रोहियों को आश्रय दिया अथवा विद्रोह को प्रोत्साहन दिया है, उनका पता लगाकर भी उन्हें प्राणदंड नहीं दिया जाएगा, अपितु नाम मात्र का दंड ही दिया जाएगा। किंतु जिन्होंने स्वयं हत्या की है अथवा हत्या करने में सहायता की है, उनके साथ किसी प्रकार की भी दया प्रदर्शित नहीं की जाएगी, किंतु अन्य सभी को क्षमा प्रदान कर दी जाएगी। इस घोषणा को पढ़कर तो कोई मूर्ख भी यह समझ सकता है कि चाहे कोई अपराधी हो अथवा न हो, कोई भी दंडित हुए बिना नहीं रहेगा। इस घोषणा में तो सभी कुछ लिखकर भी कुछ नहीं लिखा गया। किंतु एक तथ्य तो स्पष्टत: उल्लिखित ही है कि जिस किसीका भी क्रांति से संबंध रहा है, ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं छोड़ा जाएगा। यह भी स्पष्ट है कि जिस नगर अथवा अंचल में हमारे सैनिक रुके हैं उस ग्राम के सभी ग्रामीणों को क्षमा नहीं किया जा सकता। शत्रुता से परिपूर्ण रानी की इस घोषणा को पढ़कर मेरे मन में यह चिंता उत्पन्न हो गई है कि हमारी प्रिय प्रजा के साथ क्या व्यवहार किया जाएगा। उस व्यवहार की तो कल्पना मात्र से ही मेरा हृदय भर आता है। अत: मैं स्पष्ट शब्दों में विश्वास दिलाती हूँ कि जो ग्राम-प्रमुख अपनी अनभिज्ञता के वशीभूत अंग्रेजों के समक्ष आत्मसमर्पण कर चुके हैं, वे १ जनवरी, १८५९ से पूर्व ही हमारे शिविर में उपस्थित हो जाएँ। इस बात में कोई भी संशय नहीं है कि मैं उन्हें क्षमा प्रदान कर दूँगी। हिंदुस्थान के राज्यकर्ता दयालु और उदार रहे हैं, इस अनुभव को ध्यान में रखते हुए हमारी घोषणा पर विश्वास करो। सहस्रों लोगों ने यह अनुभव ग्रहण किया है, लाखों लोगों ने भारतीय शासकों की यह कीर्ति सुनी है, किंतु अंग्रेजों ने कभी एक भी अपराधी को क्षमा किया है, यह किसीने नहीं सुना होगा।

''इंग्लैंड की रानी की घोषणा में यह भी कहा गया है कि शांति की प्रस्थापना के उपरांत लोगों की स्थिति सुधारने की दृष्टि से राजमार्ग बनेंगे और नवीन नहरों का निर्माण आदि जनहित के कार्य किए जाएँगे। उनके इस आश्वासन से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि वे हिंदुस्थान की जनता को मार्गों के बनाने और नहरें तथा कुएँ आदि खोदने से अधिक अन्य कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं सौंप सकते।

''इसका अर्थ यदि जनता ने ध्यानपूर्वक समझने की चेष्टा न की तो फिर आशा की कोई भी संभावना नहीं रह जाएगी।

"मैं यही चाहती हूँ कि इस घोषणापत्र के भुलावे में किसीको भी नहीं फँसना चाहिए।"

एतदर्थ अब अवध ने बिना शर्त दिए जानेवाले इस क्षमादान को ग्रहण करना अस्वीकार कर दिया। वह अब भी हाथों में तलवार सँभाले हुए था, अश्वारूढ़ था, उसके एक-एक खेत में लड़ाई चल रही थी, रक्त-स्नान हो रहा था, और अवध स्वातंत्र्य यज्ञ की ज्वाला में खुलकर भाग ले रहा है। स्वतंत्रता की प्राप्ति अथवा अंतिम समय तक संग्राम, यही उसकी टेक थी। शत्रु के पैरों में पड़ने के स्थान पर शत्रु का गला घोट देना ही उसने अपनी प्रवृत्ति बना ली थी। इस प्रकार सन् १८५९ को अप्रैल मास आ जाने पर भी अवध का संग्राम जारी था। शंकरपुर, टुंढिया खेड़ा, रायबरेली, सीतापुर आदि अनेक स्थान इस समय भी रणस्थली बने हुए थे। किंतु इन स्थानों पर हुई पराजय के उपरांत इन क्रांतिवीरों को नेपाल की सीमा तक हटने पर विवश होना पड़ा। अंग्रेजों ने भी अपनी विभिन्न सेनाओं द्वारा इनका पीछा करना जारी रखा। अत: क्रांतिकारियों को अब नेपाल में ही प्रविष्ट होना पड़ा और साथ ही उनमें यह नवीन आशा भी उत्पन्न हुई कि नेपाल का हिंदू राजा उन्हें संरक्षण प्रदान करेगा।

इस समय नेपाल में प्रविष्ट होनेवाले क्रांतिकारियों की संख्या साठ हजार थी। बेगम, उसका पुत्र और तरुण नवाब, नाना साहब तथा बाला साहब ही इनके नेता थे। उन्हें नेपाल के जंग बहादुर का एक पत्र मिला था, जिसके उत्तर में नाना साहब और बेगम ने उसे दो पत्र लिखे थे। इनमें से भी नाना साहब का पत्र सुस्पष्ट मुँहतोड़ तथा मार्मिक था। उसका एक अंश यहाँ देना उपयुक्त रहेगा। उन्होंने लिखा था—"आपका पत्र प्राप्त हुआ। आपकी उदारता की ख्याति हम अब तक दूर से ही सुन रहे थे। हमने भारत के अनेक प्राचीन राजाओं का इतिहास पढ़ा है तथा नरेशों के भी गुण-दोषों से हम परिचित हैं। तब भी हम यह बात निश्चय के साथ कह सकते हैं कि आपकी समानता उनमें से कोई भी नहीं कर सकता; क्योंकि जिन अंग्रेजों ने आपकी प्रजा से भी दुर्व्यवहार किया है उन्हीं की आपने सहायता की और इस कार्य में आपने तनिक सा भी संकोच नहीं दिखाया। उनके आग्रह मात्र पर ही आप तत्काल उनकी सहायता के लिए दौड़ पड़े, आपकी निस्सीम उदारता सबपर स्पष्ट हो गई। आप जैसे उदारमना व्यक्ति ने जब प्रत्येक दृष्टि से अपने विरोधी शत्रु की भी सहायता की तो मैं भी आपसे आशा करता हूँ कि आपके प्रजाजनों से पेशवाओं के जो वंशज सदैव ही मैत्री और उदारतापूर्ण व्यवहार करते आए हैं उनको भी आप अवश्य ही सहायता प्रदान करेंगे। क्या मेरी आपसे ऐसी अपेक्षा अस्वाभाविक है? और विशेषत: उस स्थिति में जबकि आपने कट्टर शत्रु—अंग्रेजों—की मुक्त

हस्त से सहायता की है; जिसने अपने शत्रु को अपने घर में सादर निमंत्रित किया हो, वह अपने मित्रों को तो कदापि निराश नहीं करेगा। क्या आपने यह नहीं सुना है कि अनेकानेक अन्यायों, दिए गए वचनों के स्पष्टतः उल्लंघन और अनेक संधियों के भंग किए जाने से हिंदुस्थान अंग्रेजों द्वारा किस प्रकार सताया जा रहा है। इसका विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जाना आवश्यक नहीं है। स्वराज्य के अतिरिक्त अंग्रेज हिंदुस्थान के लोगों के धर्म को नष्ट करने के लिए किस प्रकार प्रवृत्त हैं, यह भी जगत् विख्यात है। इन्हीं कारणों से यह क्रांतियुद्ध आरंभ हुआ है। मैं अपने भाई बाबा साहब पेशवा को आपके पास भेज रहा हूँ, जिससे कि वे आपसे मिलकर अन्य बातों को विस्तृत रूप से आपके समक्ष प्रस्तुत करेंगे।''[१]

इस पत्र पर पेशवा की राजमुद्रा भी अंकित की गई। पत्र के पहुँचने के उपरांत पर्याप्त विचार-विमर्श भी हुआ। विद्रोहियों से भेंट करने के लिए जब जंग बहादुर ने अपने एक सरदार कर्नल बलभद्र को भेजा तो उसे भी विद्रोहियों की सेना के प्रमुखों ने स्पष्ट शब्दों में उत्तर दिया कि ''हम हिंदू धर्म की रक्षा के लिए संघर्ष कर रहे हैं। महाराज जंगबहादुर (नेपाल नरेश) भी हिंदू ही हैं। अतः उन्हें हमारी सहायता अवश्य करनी चाहिए।'' तब उस सरदार ने उनसे प्रश्न किया कि ''आपके कार्य करने का उद्देश्य क्या है?'' इसके उत्तर में विद्रोही पक्ष के उस प्रतिनिधि ने उसे उत्तर दिया, ''हमारे पास अभी भी साठ हजार लड़ाकू जवान हैं। जंगबहादुर ने अंग्रेजों को सहायता दी है, किंतु यदि वे हमें पचास हजार गुरखा सैनिक दे दें तो मैं उन्हें अंग्रेजों की अपेक्षा दुगुना वेतन दे सकता हूँ। यदि वे ऐसा न कर सकते हों तो हमें केवल अपने सुयोग्य सेनापति ही दे दें, मैं पुनः हिंदुस्थान में जाकर अंग्रेजों को कलकत्ता तक भगा सकता हूँ और हम जो भी प्रदेश जीतेंगे उसपर नेपाल राज्य का आधिपत्य होगा, और यदि हो सके तो उसके पश्चात् महाराज हमें अपने राज्य में आश्रय दे दें, हम उनके आज्ञाकारी बनकर वहाँ रहेंगे।'' ये बातें सुनकर सरदार बलभद्र बोला, ''किंतु ब्रिटिश सरकार तो कृपा दृष्टि कर रही है, आप लोग उसके समक्ष आत्मसमर्पण क्यों नहीं कर देते?'' इसपर क्रांतिकारी नेताओं ने उसे उत्तर दिया, ''हमने अंग्रेजों की वह घोषणा सुन ली है। किंतु दूसरों को मृत्यु के मुख में धकेलकर हम अपनी जीवन रक्षा करना नहीं चाहते। हम ब्रिटेन के समक्ष आत्मसमर्पण कदापि नहीं करेंगे।''

इस प्रकार की अनेक वार्त्ताओं के उपरांत जंगबहादुर ने विद्रोहियों को स्पष्ट उत्तर दिया कि ''यदि मुझे तुम्हारी सहायता ही करनी होती तो मैं लखनऊ में तुम

---

१. चार्ल्स बाल कृत—'इंडियन म्युटिनी', खंड २।

लोगों की हत्या कराने हेतु अपनी सेनाएँ ही क्यों भेजता?'' इतना अधिक नीचतापूर्ण उत्तर देकर ही उसने बस नहीं की अपितु उसने अंग्रेजों को नेपाल में प्रवेश कर क्रांतिकारियों का शिकार करने की पूरी-पूरी छूट भी दे दी।

अब सभी ओर से सर्वथा निराश होकर क्रांतिकारी सिपाही अपने-अपने शस्त्रास्त्र छिपाकर अपने घरों को जाने लगे। अब उन्हें उभारने में कोई लाभ न होता देखकर अंग्रेजों ने भी उन्हें छेड़ने का प्रयास नहीं किया। जो क्रांतिकारी अपने घरों को न लौटे वे वन में ही उपवास कर आत्मार्पण करने लगे। इन्हीं दिनों नाना साहब ने प्रमुख ब्रिटिश सेनापति होप ग्रंट को भी एक पत्र लिखा था। अपने इस पत्र में उन्होंने ब्रिटिश कूटनीति की घोर भर्त्सना की तथा विस्तृत आलोचना करने के पश्चात् लिखा था—"What right have you to occupy India and declare me an outlaw?" (हिंदुस्थान पर राज्य करने का अधिकार तुम्हें किसने दिया है? तुम विदेशी हमारे राजा हो तो क्या मैं चोर हूँ?) इतिहास ने नाना साहब के नाम पर ये ही अंतिम शब्द संग्रहीत रखे हैं। ये शब्द क्या हैं, वस्तुतः बालाजी विश्वनाथ पेशवा के सिंहासन का अंतिम उच्छ्‌वास है। शिवाजी के अंतिम उत्तराधिकारी के योग्य, सुदृढ़, न्यायपूर्ण, आत्माभिमान और शान की शोभा बढ़ानेवाले ही ये शब्द हैं। बाजीराव द्वितीय की नपुंसकता के कलंक को रक्त की शत-शत धाराओं से नहलाकर निष्कलंक कर दिया गया था और पेशवा का वह विशुद्ध राजसिंहान चित्तौड़ की राजपूतनियों के समान लड़ते, झगड़ते, जलते तथा देदीप्यमान अग्नि ज्वालमालाओं को विस्फारित करते हुए विश्व के रंगमंच से विलुप्त हो गया। उनकी अंतिम आह इन्हीं शब्दों से निकली थी—''परकीय हिंदुस्थान के राजा और हम हिंदू-भूमि के ही पुत्र हिंदुस्थान में चोर·बना दिए गए हैं।''

इस पत्र के लिखने के पश्चात् नाना साहब का क्या हुआ, इस संबंध में इतिहास मौन है। स्वेच्छा सहित अंगीकृत दरिद्रता में ही बाला साहब का इन्हीं दिनों वनों में ही स्वर्गवास हो गया। तदुपरांत अवध की बेगम और तरुण राजकुमार को नेपाल में अनुमति प्रदान कर दी गई। महान् हुतात्मा गजराजसिंह नामक एक अन्य क्रांतिकारी नेता भी बाद में हुए एक संघर्ष में देवलोकगामी हुआ।

इस प्रकार अवध में क्रांतियुद्ध की इतिश्री हो गई। अपनी स्वतंत्रता हेतु अवध ने कितनी वीरता सहित संघर्ष किया था, इसका विवरण शत्रु द्वारा प्रस्तुत किए गए विवरण से ही पढ़ना उचित होगा। स्वदेश की स्वतंत्रता के लिए इतनी महान् हठ और पराक्रम सहित क्या विश्व के किसी अन्य देश ने संघर्ष किया होगा? मैलसन ने लिखा है—''सिपाहियों ने स्वतंत्रता के लिए जिस क्रांतियुद्ध का श्रीगणेश किया था उसमें अवध की प्रजा ने बढ़-चढ़कर भाग लिया था, वे स्वेदश की स्वतंत्रता के

लिए जूझ पड़े। वे कितनी वीरता सहित संग्राम कर रहे थे, इसका विवरण हम प्रस्तुत कर चुके हैं। किंतु जितने दीर्घकाल तक अवध की जनता संग्राम करती रही उतनी वीरता से हिंदुस्थान के अन्य किसी भी अंचल में संग्राम नहीं हुआ था। सन् १८५६ के मध्य से ही उनपर जो अत्याचार और अन्याय हुए थे, इससे उनका अंतःकरण इस्पात के समान कठोर हो गया था और उन्होंने सुदृढ़ संकल्प भी ग्रहण कर लिया था। यदा-कदा उन्हें मारकर पलायन भी करना पड़ जाता था। इस आशा से ही वे ऐसा करते थे कि किसी अन्य दिवस वे विजय के लिए संघर्ष करेंगे। अंततः लॉर्ड क्लाइड ने अवध पर एक प्रचंड बवंडर के समान अंतिम आक्रमण किया। शेष बचे सैनिकों को नेपाल के वनों में आश्रय ढूँढ़ने पर विवश होना पड़ा। वहाँ भी जो वीर बचे रह गए थे, उन्होंने आत्मसमर्पण करने के स्थान पर उपवास करते हुए आत्मार्पण करना वरेण्य माना। दीर्घकाल तक चले इस संघर्ष में जब उन्हें विजय की कोई आशा नहीं रही तो अवध के श्रमिकों, कृषकों, तालुकेदारों, भूमिधरों और व्यापारियों ने पराजय स्वीकार कर ली।''[१]

□

---

१. मैलसन कृत—'इंडियन म्युटिनी', खंड ५, पृष्ठ २०७।

प्रकरण–२

पूर्णाहुति

दिनांक २० जून को ग्वालियर की रणभूमि में हुए घनघोर संग्राम में रणलक्ष्मी लक्ष्मीबाई की पराजय हो गई थी। इस कारण अंग्रेजों को अपने एक दृढ़ निश्चयी शत्रु से मुक्ति मिल गई थी। किंतु अभी भी रानी से भी अधिक एक दृढ़ निश्चयी शत्रु ने, जो रणकौशल में लक्ष्मीबाई की अपेक्षा भी अधिक सिद्धहस्थ था, रणभूमि से पलायन कर अंग्रेजों को झाँसा दे गया था। ग्वालियर की रणभूमि में वह २० मई को ओझल हुआ था तो जावरा और अलीपुर की रणभूमि से भी बच निकलने में सफल हो गया।

यत्र-तत्र तात्या टोपे

कुछ ही दिनों में मध्य हिंदुस्थान के सभी वन, गुफाएँ , ग्राम, नगर, पर्वत सभी से प्रचंड रण गर्जनाएँ होने लगीं और यत्र-तत्र 'तात्या टोपे! तात्या टोपे' का ही स्वर गूँज उठा।

इसका कारण यह था कि शिकारी के भालों से घिरा हुआ यह मराठा सिंह अब विवश होकर मध्य भारत के जंगलों में घुस गया था। ग्वालियर की रणभूमि में रानी लक्ष्मीबाई के बलिदान हो जाने के कारण मानो उसका दाहिना हाथ ही कट गया था। अनेक पराजयों के फलस्वरूप क्रांति दब सी गई थी। श्रीमंत नाना साहब से तो सदा के लिए ही बिछुड़ चुका था। कतिपय भारतीयों के ही विश्वासघात के कारण अब अंग्रेजी सत्ता अपने अजेय होने का दंभ कर रही थी। इधर तात्या के पास न तो उत्तम सेना थी और न ही तोपें तथा पैसा ही। उसके पास तो रसद का भी अभाव था। इसे तो इन साधनों के कहीं से उपलब्ध होने की भी आशा नहीं थी, किंतु इस सारी स्थिति में ही अकुंठित धैर्य रखनेवाला तात्या टोपे, संपूर्ण आपदाओं

और विपरीत परिस्थितियों में भी झुका नहीं और न ही उसने स्वतंत्रता के प्रतीक भगवे ध्वज को ही झुकने दिया। शत्रु के समक्ष अपनी पताका झुकाना—नहीं, यह महा पाप कदापि नहीं होगा। क्योंकि भगवे ध्वज का दंड ही ऐसे वृक्ष से निर्मित हुआ है कि उसे कभी शत्रु तोड़ तो सकता है, किंतु वह शत्रुओं के आगे झुक कदापि नहीं सकता।

ग्वालियर और जावरा तथा अलीपुर में मिली पराजयों के पश्चात् अपनी बचीखुची सेनाओं को लेकर तात्या और रावसाहब पेशवा सरमथुरा नामक ग्राम में चले गए। यहीं उन्होंने अपनी संपूर्ण युद्ध योजना के तीन महत्त्वपूर्ण सिद्धांत निर्धारित किए। प्रथम यह कि अब किसी भी स्थान पर प्रत्यक्ष युद्ध नहीं लड़ा जाएगा। दूसरा सिद्धांत यह निर्धारित किया कि चाहे कोई भी स्थिति क्यों न हो, प्रत्यक्ष युद्ध न करते हुए छापामार युद्ध का अनुगमन कर अंग्रेजी सेना को छकाया जाएगा। परंतु इन दोनों निर्धारित सिद्धांतों को क्रियान्वित करने के लिए भी तो रसद और शस्त्रों की प्राप्ति अनिवार्य थी। इस समस्या का निदान करने हेतु तात्या ने तीसरा सिद्धांत यह निर्धारित किया कि मार्ग में जो भी देशी रियासतें मिलेंगी उनसे उनकी इच्छा से अथवा कठोरता सहित शस्त्रास्त्र और पैसा प्राप्त किया जाएगा। उत्तर और मध्य भारत में तो पग-पग पर देशी रियासतें विद्यमान थीं। प्रत्येक राज्य में ही वर्ष भर के लिए सैनिकों के लिए रसद तथा आवश्यक शस्त्रास्त्र जमा रहते थे। उस रसद और उन शस्त्रास्त्रों को प्रदेश की रक्षा में लगाना ही तो इन नरेशों का प्राथमिक कर्तव्य था। परंतु सन् १८५७ के स्वातंत्र्य संग्राम में इस भूमि और उसमें निवास करनेवाली अपनी प्रजा की इच्छा एवं दृढ़ आशा को सफलीभूत करने के स्थान पर इन नरेशों ने अपने व्यक्तिगत लाभ को ही महत्त्व दिया था। इसी कारण ये क्रांतिकारियों के साथ खुला सहयोग नहीं कर सके थे। अतः उनके पास इस समय भी रसद और शस्त्रास्त्र निरुपयोगी होकर पड़े हुए थे, वे अपने राज्यों में उत्पन्न हुए अन्न को भी दबाकर बैठे थे। वे व्यर्थ ही संग्रह किए हुए थे और दूसरी ओर देशभक्त और स्वतः देशमाता भी दरिद्रता में जीवनयापन कर रही थी। ऐसी स्थिति में इन विश्वासघाती जमाखोरों को उत्तम पाठ पढ़ाने और देश की प्रजा से जो धन एकत्रित किया गया है उसे देश हितार्थ ही खर्च करने के लिए प्राप्त करने के संघर्ष में तात्या और रावसाहब ने एक नितांत उत्तम योजना बनाई। अपनी इस योजना के द्वारा उन्होंने स्वातंत्र्य सैनिकों के भोजन के लिए खाद्य सामग्री और युद्ध करने के लिए शस्त्रास्त्र उपलब्ध कराने का निश्चय किया। इस प्रकार जनता पर युद्ध का कोई दबाव न पड़ेगा, अपितु इन नरेशों से युद्ध-कर की वसूली की जाएगी। इन नरेशों के पास तो नाममात्र के लिए ही सेना थी, अतः उनपर यह 'युद्ध-कर' लादना भी कोई कठिन

कार्य सिद्ध न होगा। साथ ही इन देशी राज्यों के पास-पास स्थित होने के कारण खाद्य सामग्री को एक स्थान से ढोकर दूसरे स्थान पर ले जाने की कठिनाई भी नहीं उठानी पड़ेगी। इन दोनों सेनानियों ने निश्चय कर लिया था कि यदि उनके आह्वान मात्र से ये देशी नरेश उनकी योजना को स्वीकार कर लें तो अच्छा है अन्यथा उन्हें ऐसा करने के लिए विवश किया जाएगा। इन्हीं तीन सिद्धांतों के आधार पर तात्या ने अपने नितांत विस्मयकारक रणतांडव की संपूर्ण रचना की थी।

किंतु अंग्रेजों की यह सहज कल्पना थी कि ऐसी विपन्न अवस्था में किसी भी मनुष्य का बहुत दिनों तक प्रयत्न करते रहना असंभव है। यही समझकर उन्होंने यह धारणा भी बना ली कि अलीपुर में उनका दबाव पड़ने के कारण तात्या के पलायन करते ही वहाँ से विद्रोह समाप्त हो गया है। इसके साथ ही उन्होंने तात्या को चारों ओर से घेरकर एक-डेढ़ मास में ही आत्मसमर्पण कर देने पर विवश बनाने के लिए अपनी सेनाएँ भी भेज दीं। ग्वालियर, झाँसी, शिवपुरी और गुना सभी ओर ब्रिटिश सेना छा गई थी, तो राजस्थान में भी रॉबर्ट ने अपनी सेना डटा दी थी। इस प्रकार अंग्रेजों की सेनाओं ने चारों ओर से ही अपने व्यूह में तात्या को घेर लिया था और अब देखना यह था कि तात्या इस व्यूह से किस प्रकार निकलता है?

तात्या की प्रथम दृष्टि भरतपुर पर केंद्रित हुई थी। किंतु वहाँ अंग्रेजी सेना के पहुँच जाने का समाचार प्राप्त होते ही उसने जयपुर की दिशा में अपने पग बढ़ा दिए। जयपुर के राजदरबार में तात्या से सहानुभूति रखनेवाले अनेक व्यक्ति तो थे ही साथ ही वहाँ की सेना और जनता का झुकाव भी तात्या की ओर था। अत: तात्या ने वहाँ अपना दूत भेजकर अपने शुभचिंतकों को सावधान और सन्नद्ध रहने का निर्देश दिया। किंतु यह सूचना अंग्रेजी सेना के हाथ भी लग गई, अत: उसने तत्काल ही नसीराबाद से जयपुर की ओर प्रस्थान कर दिया। जयपुर की यह स्थिति देखकर तात्या ने दक्षिण दिशा में प्रस्थान कर दिया। उसके पीछे कर्नल होम्स भी अपनी सेना सहित लगा ही हुआ था। यहाँ तात्या टोपे ने अपने प्रचंड बुद्धि कौशल का परिचय देते हुए इस सेना को झाँसा दिया और टौंक राज्य पर धावा बोल दिया। वहाँ के नवाब ने नगर के द्वार बंद करा दिए और तात्या का प्रतिरोध करने के लिए अपने कुछ सैनिकों को चार तोपों सहित नगर के बाहर भेज दिया। भयंकर संग्राम हो सकता था, किंतु टौंक के इन सैनिकों ने नितांत ही मैत्रीपूर्ण ढंग से तात्या के सैनिकों का अभिनंदन किया। उन्होंने अपनी चारों तोपें भी तात्या को समर्पित कर दीं। इस प्रकार इस नवीन सेना और नवीन तोपों को प्राप्त कर तात्या ने निश्चिंत होकर दक्षिण दिशा में प्रस्थान कर दिया। तात्या टोपे ने इंद्रगढ़ पहुँचकर वहाँ कुछ समय विश्राम किया। किंतु उसके पीछे ही होम्स की सेना तथा दूसरी ओर से रॉबर्ट

की सेना भी आ रही थी। उन दिनों घनघोर वर्षा की झड़ी लगी हुई थी, इस कारण चंबल भी जल से लबालब भरी अपने रौद्र रूप का प्रदर्शन कर रही थी। तात्या के पीछे से शत्रु बढ़ा आ रहा था तो सामने थी बाढ़ से परिपूर्ण चंबल सरिता। अतः तात्या उत्तर-पूर्व की ओर मुड़कर बूँदी जा पहुँचा। वहाँ से बड़ी चतुराई और सफलता सहित शत्रुओं को भूलभुलैया में डालता हुआ वह नीमच और नसीराबाद के मध्य स्थित प्रदेश में जा पहुँचा, जहाँ की जनता पहले से ही क्रांतियज्ञ में योगदान दे रही थी। यहाँ उसने पुनः अंग्रेजों को छकाने में सफलता प्राप्त की। उन्हें उसने ऐसा भुलावा दिया कि तात्या दक्षिण की ओर बढ़ रहा है, किंतु वह भीलवाड़ा जा पहुँचा। यह समाचार प्राप्त होते ही रॉबर्ट सरवर नामक ग्राम से बढ़ा और उसने तात्या की सेना पर आक्रमण कर दिया। ७ अगस्त को अंग्रेजों की सेना ने धावा बोला, किंतु तात्या ने दिन भर इस सेना को रोके रखने में सफलता पाई और रात्रि में ही वह अपनी सेना और तोपों सहित सुरक्षित उदयपुर राज्य की सीमा में स्थित कोटरा नामक ग्राम में जा पहुँचा। वहाँ अपनी सेना को विश्राम करने का अवसर देकर तात्या टोपे समीप ही स्थित 'नाथद्वारा' नाम के हिंदू तीर्थ क्षेत्र में भगवान् श्रीकृष्ण की पावन प्रतिमा के दर्शन करने जा पहुँचा। जब वह वहाँ से मध्य रात्रि में वापस लौटा तो उसे विदित हुआ कि उसका पीछा करती हुई ब्रिटिश सेना भी समीप आ पहुँची है। अतः उसने वहाँ से अपनी सेना को प्रस्थान करने का आदेश दे दिया। परंतु सैनिक इतने अधिक थक गए थे कि पैदल सैनिकों ने स्पष्टतः कह दिया कि सतत प्रवास करने के कारण पैदल सेना अब आगे बढ़ने में समर्थ नहीं है, अश्वारोही चाहें तो आगे जा सकते हैं। ऐसी स्थिति में तो युद्ध करने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प ही नहीं रह गया था।

दूसरे दिन अर्थात् १४ अगस्त को यथाशीघ्र सूर्योदय से पूर्व ही उसने अपनी सेना की यथासंभव व्यूह रचना कर ली। तात्या की सेनाओं ने रॉबर्ट की सेनाओं से जमकर संघर्ष किया, किंतु अंग्रेजों की सेना के समक्ष उसे पराजित होकर तितर-बितर होना पड़ा। तात्या की सेना तोपें भी छोड़कर रणभूमि से हट गई और हटते-हटते लगभग पंद्रह मील दूर चली गई। अब पुनः तात्या टोपे की सेना तोपों से वंचित हो गई थी। किंतु विजय के उन्माद से उन्मत्त शत्रु अभी भी तात्या का पीछा कर ही रहे थे। फिर भी तात्या अंग्रेजों को झाँसा देकर चंबल की ओर बढ़ने लगा, किंतु अंग्रेजी सेना के उसपर हमले भी जारी रहे और चंबल सरिता पर एक और ही दृश्य उपस्थित हो गया, जब एक अंग्रेज कमांडर अपने चुने हुए सैनिकों सहित चंबल के किनारे पर ही आ धमका। किंतु बाधाओं को खेल समझनेवाले तात्या का हौसला मंद नहीं हुआ अपितु उसने अंग्रेजों को भी आश्चर्य में डाल दिया। उसने

एक अंग्रेज अधिकारी को पीछे हटा दिया तो दूसरे को वंचिका दी और उनकी आँखों में धूल झोंकता हुआ तात्या मंजिल-पर-मंजिल पार करता हुआ चंबल नदी पर जा पहुँचा। इतना ही नहीं, उसने चंबल को पार भी कर लिया और अंग्रेज उसका रास्ता ही ताकते रह गए।

अब अंग्रेजों और तात्या की सेनाओं के मध्य चंबल बह रही थी। किंतु तात्या के पास न तोपें थीं, न खाद्य सामग्री और न धन ही। इस प्रकार तात्या टोपे का पूर्ण पराभव हुआ था। अत: अब उसे नर्मदा का मार्ग छोड़कर झालरापाटण की ओर प्रस्थान करना पड़ा। उस राज्य का अंग्रेजनिष्ठ नरेश भी नामर्द तो नहीं था, उसने अपनी विश्वासपात्र सेना और जंगी तोपखाने सहित तात्या की सेना पर टूट पड़ने की 'वीरता' दिखाई। किंतु यह भी क्या चमत्कार था कि ज्यों ही तात्या और उस अंग्रेजों के चाटुकार राजा की सेना के सैनिकों की आँखें चार हुईं वे तात्या को ही स्वामी कहकर उसका अभिवादन करने लगे। इस प्रकार वहाँ भी तात्या को पर्याप्त संख्या में घोड़े, गाड़ियाँ तथा रसद अर्पित कर दी गई। तात्या वहाँ खाली हाथ पहुँचा था, किंतु अब उसके पास बत्तीस तोपें हो गई थीं। रावसाहब पेशवा का आदेश मिला कि झालरापाटण नरेश से पच्चीस लाख रुपया जुर्माने के रूप में वसूल किया जाए। किंतु उसके अत्यधिक अनुनय-विनय करने पर पंद्रह लाख रुपए पर समझौता हो गया। तात्या टोपे वहाँ पाँच दिन ठहरा और उसने अश्वारोही सैनिकों को तीस रुपए तथा पैदल सैनिकों को बीस रुपए मासिक के हिसाब से वेतन चुका दिया। अब तात्या, रावसाहब और बाँदा के नवाब ने दक्षिण की ओर बढ़ने के संबंध में विचार विमर्श किया। पेशवा की इस सेना का प्रमुख लक्ष्य था नर्मदा नदी को पार कर दक्षिण भारत में प्रवेश। अंग्रेजों ने भी तात्या की योजना को असफल बनाने हेतु अपनी सेना की कुशलतापूर्ण और सुदृढ़ व्यूह रचना करने में कोई कसर न छोड़ी। उन्होंने तात्या के आगे बढ़ सकने के सभी मार्गों को अवरुद्ध कर दिया। किंतु अब तो तात्या के पास भी तोपखाना था और साथ ही वह तो प्रत्येक आपदा और बाधा से टकराने को बहुत पहले से ही संकल्पबद्ध था। अत: उसने अपने सहयोगियों को आह्वान दिया—'चलो साथियो, इंदौर की ओर प्रस्थान करो।'

यह कल्पना तात्या के साहसी स्वभाव के सर्वथा अनुरूप ही थी। जिस तात्या टोपे ने ग्वालियर की रणभूमि में अपने अद्भुत नाटक का प्रदर्शन किया था, उसके लिए इंदौर में होल्कर के सिंहासन को हिला देना कौन सा असंभव कार्य था। होल्कर उसके इस साहसपूर्ण कार्य में उसकी सहायता करता यही उसका कर्तव्य था। किंतु उसने तो अपने कर्तव्य का पालन नहीं किया था। अत: पेशवा अब इंदौर से ऐसा कराने के लिए ही तो जा रहा था। इंदौर की सेना गुप्त रूप से तात्या के साथ

थी। होल्कर का राजदरबार भी तात्या का समर्थक था। इसलिए महान् धैर्यवान तात्या ने इंदौर प्रस्थान करने की योजना बनाई थी। अब तात्या ने तत्काल ही झालरापाटण से दक्षिण की ओर बढ़कर मालवा में प्रवेश किया और वह राजगढ़ ग्राम के पास खड़ा हुआ दृष्टिगोचर हुआ।

अब तात्या का पीछा करते हुए राबर्ट, होम्स, पार्क, मिचेल, होप, लॉक, हॉर्ट आदि अंग्रेज सेनापतियों के नेतृत्व में अंग्रेजी सेनाएँ चारों दिशाओं से बढ़ती आ रही थीं। तात्या के इंदौर पर आक्रमण करने के लिए बढ़ने के समाचार से ही उनके हृदय प्रकंपित हो उठे थे। कोई उज्जयिनी से बढ़ा तो कोई राजगढ़ की ओर से आ निकला, कोई मऊ की ओर से सरका तो कोई तलखेड़ की ओर से चढ़ दौड़ा। मिचेल ज्यों ही एक पहाड़ी चढ़ा तो उसकी दृष्टि दूसरी ओर पहाड़ी से उतरते हुए तात्या पर पड़ी। किंतु अब अंग्रेजी सेना भी थककर इतनी चूर हो गई थी कि उसके लिए एक पग भी आगे रखना असंभव हो गया था। उसका दम फूल चुका था। तात्या ने अंग्रेजी सेना की इस हताश अवस्था का पूर्ण लाभ उठाया और वह आगे निकल गया। प्रातःकाल ही मिचेल पुनः उसके पीछे आ धमका। अब क्रांतिकारी थके हुए थे, किंतु फिर भी उन्हें युद्ध के लिए सिद्ध होना ही पड़ा। उस समय उनकी संख्या लगभग पाँच-छह हजार थी और उनके पास उत्तम श्रेणी की तीस के लगभग तोपें भी थीं। नितांत ही आश्चर्य की बात है कि एक-डेढ़ हजार अंग्रेजी सेना के सैनिकों के धावा बोलते ही क्रांतिकारी अपनी तोपों को भी छोड़कर भागते हुए ही दिखाई दिए। यहीं पर तो तात्या टोपे और कुँवरसिंह की छापामार युद्धकला का उत्कृष्ट रहस्य मुखरित हो उठता है। अंग्रेजी सेना से खुले मैदान में युद्ध न करने के अपने निर्णीत सिद्धांत को भंग न होने देने के लिए ही तो तात्या की सेना ने हाथ में आए अनेक अवसर भी इच्छा सहित ही जाने दिए थे। अब तात्या की सेनाएँ मैदान से हटकर बेतवा नदी के समीप स्थित वनखंड में जा घुसी थीं और दूसरी ओर सिरोजनगर के पास आ निकली थीं। सिरोज में पुनः तात्या टोपे को चार तोपें प्राप्त हो गई थीं। इसी समय वर्षा अपने पूर्ण भयंकर रूप का प्रदर्शन भी करने लग गई थी। अतः तात्या की सेनाओं को भी विश्राम करने का पूर्ण अवसर उपलब्ध हो गया था। आठ दिन के उपरांत तात्या ने उत्तर की ओर प्रस्थान किया; किंतु शिंदे के राज्य में स्थित ईसागढ़ ग्राम ने उसे रसद देना अस्वीकार कर दिया, अतः उसे वहाँ से बलात् रसद लेनी पड़ी और आठ तोपें भी उसके हाथ लग गईं। परंतु अब नर्मदा को पार करना तो दिन-प्रतिदिन पीछे हटता जा रहा था, क्योंकि तात्या और नर्मदा में अंतर बढ़ता ही जा रहा था। परंतु जब इतनी अंग्रेजी सेनाएँ अकेले तात्या के पीछे ही लगी हुई हों तो फिर नर्मदा पार करने का

ध्यान ही कैसे आ सकता है।[1]

अब क्रांतिकारियों ने भी अपनी सेना दो भागों में विभाजित कर दी। एक का नेतृत्व रावसाहब पेशवा कर रहे थे तो दूसरे का तात्या टोपे। दोनों सेनाएँ पृथक्-पृथक् दिशाओं में प्रस्थान भले ही करती थीं, किंतु उनकी युद्ध पद्धति में कोई अंतर नहीं था। शत्रुओं को धोखे में डालतीं, यदा-कदा अपनी ही तोपें गँवातीं, मंग्रोली, छिंदवाड़ा आदि में संग्राम करतीं और हटती हुई ये दोनों सेनाएँ अंत में ललितपुर में

---

१. एक अंग्रेज लेखक कहता है—"फिर पीछे हटने का वह अनोखा क्रम आरंभ हो गया जो दस मास तक चलता रहा। किंतु तात्या टोपे भी पराजय का उपहास उड़ाता जाता था और अब उसका नाम यूरोप भर में अनेक एंग्लो-इंडियन सेनापतियों की अपेक्षा अधिक प्रसिद्ध हो गया था। उसके समक्ष कोई साधारण समस्या तो विद्यमान नहीं थी। उसे पराजित एशियावासियों की सेना को संगठन-सूत्र में आबद्ध करना था, जिसका उससे कोई व्यक्तिगत संबंध भी नहीं था। और परस्पर भी तो वे सैनिक एक ही आधार पर एकता के सूत्र में आबद्ध थे। वह सूत्र था—समान द्वेष और समान भय। अंग्रेजों के नाम से द्वेष और उनके द्वारा फाँसी के फंदों पर लटका दिए जाने की आशंका। ऐसी अस्त-व्यस्त सेना को भी एकता के सूत्र में पिरोकर उसे येन-केन-प्रकारेण आगे बढ़ना पड़ता था। और वह भी इतनी तीव्र गति से कि उससे केवल उसका पीछा करनेवाले शत्रु ही स्तंभित नहीं रह जाते थे अपितु तात्या के प्रस्थान की रेखा से समकोण करके दौड़ लगानेवालों को भी दाँतों तले अँगुली दबानी पड़ती थी। अपने इस अर्द्ध संगठित गिरोह को उन्मादियों के तुल्य दौड़ाते रखने के साथ ही तात्या को अनेक नगरों पर अपनी विजय पताका फहरानी पड़ी, अनेक स्थानों से रसद आदि जुटानी पड़ी, नई तोपों को हथियाना पड़ता था तो जनता में से ही नए स्वयंसेवक भी अपने साथ लगाने पड़ते थे, जिन बेचारों के भाग्य में प्रतिदिन ही साठ मील की दौड़ लगाना लिखा गया था। इन सभी कार्यों को यथा उपलब्ध साधनों के बलबूते पर पूर्ण करने में ही तात्या की असाधारण क्षमता प्रकट होती है। अपने विद्रोही शत्रु के नाते हम भले ही उसको सम्मान न दें, किंतु यह सत्य है कि वह हैदरअली के समक्ष था। यदि वह अपनी योजना को पूर्णत: क्रियान्वित करने में सफलता प्राप्त कर लेता और नागपुर से घुसकर मद्रास की ओर निकल जाता तो वह भी हैदरअली के सदृश ही बीभत्स शत्रु बन जाता। नेपोलियन को जिस प्रकार इंगलिश चैनल ने रोक दिया था उसी प्रकार नर्मदा ने तात्या को रोक लिया था। नर्मदा पार कर पाने के अतिरिक्त वह और तो सभी कुछ कर लेने में सफल हो गया। अंग्रेजी सेनाएँ पहले तो अपने स्वभाव के अनुरूप आगे बढ़ती रहीं और अंतत: जब उन्हें वेग से बढ़ना आ ही गया तब भी ब्रिगेडियर पार्क और कर्नल नेपियर तात्या की आधी गति को ही प्राप्त कर पाए। इसपर भी वह बच निकला और सर्दी, गरमी तथा वर्षा से टकराता हुआ भागता ही रहा। कभी दो हजार सैनिकों के साथ तो कभी पंद्रह हजार सैनिकों के साथ।"—'फ्रेंड्स ऑफ इंडिया'।

जाकर मिल गईं। परंतु नर्मदा की लहरें तो अभी भी बड़ी दूर थीं। अब ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई थी कि अंग्रेजों की प्रसन्नता का कोई पारावार ही न रहा। दक्षिण की ओर से मिचले, पूर्व और उत्तर की दिशा से कर्नल लिडेल और पश्चिम दिशा से कर्नल पार्क तथा चंबल की ओर से रॉबर्ट आगे बढ़ता आ रहा था और इस प्रकार तात्या टोपे शत्रु के व्यूह-पाश में चारों ओर से घिर गया। अब तात्या और रावसाहब पेशवा में विचार-विमर्श हुआ। तदनुसार वे तत्काल कजूरी जा पहुँचे। वहाँ उन्हें पता लगा कि अंग्रेज सेना विद्यमान है। अत: उन्होंने पुन: वनखंड में प्रवेश किया और वे उत्तर में स्थित तालवेहट तक जा पहुँचे। अंग्रेजों ने समझा कि अब तात्या ने अपना दक्षिण जाने का विचार बदल दिया है। किंतु वहीं से तात्या और रावसाहब ने बड़ी ही त्वरित गति से बेतवा को पार किया। कजूरी और रायगढ़ में अंग्रेजों को अपने हाथ दिखाते हुए, कभी खुलकर लोहा लेते हुए छिपकर दक्षिण की ओर बढ़ते रहे। तात्या के इस साहसपूर्ण कृत्य से अंग्रेज दुविधा में पड़ गए। अब वे उसे रोकने के लिए चारों ओर से आगे बढ़े। किंतु अपनी विचित्र गतिविधि से शत्रु को चकमा देकर इस नरपुंगव ने विद्युत् वेग से घाटियाँ लाँघीं और सरिताएँ पार कीं, वन-प्रांतरों को चीरा और दक्षिण की ओर बढ़ता रहा। उसपर एक ओर से पार्क दृष्टि गड़ा रहा था और सामने से मिचेल आ धमका। इसपर भी तात्या टोपे का दक्षिण की ओर बढ़ना जारी रहा। अंतत: वह नर्मदा तट पर आ पहुँचा। आश्चर्यचकित संसार ने तात्या का जय-जयकार किया और तात्या टोपे ने अंतत: नर्मदा को लाँघ ही लिया। अब उसका प्रयाण दक्षिण की ओर हो रहा था। मैलसन ने लिखा है—''तात्या ने जिस जीवट और हठ सहित अपनी योजना क्रियान्वित की उसकी प्रशंसा न करना असंभव है।'' इस संबंध में १७ जनवरी, १८५९ के 'लंदन टाइम्स' का विवरण भी पठनीय है। उसने लिखा था—

"Our very remarkable friend, Tatia Tope is too troublesome and clever an enemy to be admired. Since last June he has kept central India in a fervour. He has sacked stations, plundered treasuries, emptied arsenals, collected armies, lost them, fought battles, lost them, taken guns from native princes, lost them; then, his motions were like forked lightning; and for weeks, he has marched 30 and 40 miles a day. He has crossed the Narmada to and fro. He has marched between our columns, behind them, and before them. Ariel was not more subtle aided by the best staged mechanism. Up mountains, over rivers, through ravines and vallies,

amidst swamps, on he goes, backwards and forwards, sideways and zig-zag ways, now falling upon a post-card and carrying off the Bombay mail, now looting a village, headed and burned yet evasive as proteus."

अंततः मराठा सेना दक्षिण में जा पहुँची। होशंगाबाद के समीप नर्मदा नदी को पार कर तात्या नागपुर के समीप पहुँच गया है, यह समाचार प्राप्त होते ही केवल तीन प्रांतों में ही नहीं, इंग्लैंड मात्र में ही नहीं, अपितु संपूर्ण यूरोप में एक ही स्वर निनादित हो उठा, ''धन्य तात्या, धन्य-धन्य टोपे!'' महाराष्ट्र तो उसके सान्निध्य की ही बाट जोह रहा था। हैदराबाद का निजाम, मद्रास का गवर्नर लॉर्ड हेरिस, बंबई का लॉर्ड एलफिंसटन, कलकत्ता का लॉर्ड केनिंग तत्क्षण थर्रा उठे।[१] तात्या ने रणचंडी का ऐसा अपूर्व पासा फेंका था, किंतु अब तो समय हाथ से निकल चुका था। यदि एक वर्ष पूर्व ही यह नर्मदा पार हो गया होता तो दृश्य कुछ और ही होता। अब तो सन् १८५८ के अक्तूबर मास के मध्य में उसकी यह रण चपलता केवल कौतुक का ही कारण सिद्ध हुई, उपयोगी अथवा जय प्रदायनी नहीं। यत्र-तत्र उठी क्रांति की ज्वाला पर पानी पड़ चुका था। अब तो संपूर्ण राष्ट्र भयंकर रक्तस्राव के उपरांत शिथिलगात्र व संज्ञाविमूढ़ होकर रह गया था। यद्यपि अभी भी उत्तरी हिंदुस्थान और राजस्थान में तात्या और उसकी सेना को ग्राम-ग्राम में लोग रसद और धन-धान्य अर्पित करते थे, वह वहाँ देशभक्त के रूप में पूजित और वंदनीय था, परंतु नागपुर में स्वयं मराठों के प्रदेश में लोग उसका योग देने में भय का अनुभव करते थे। किसीने भी उसके महान् कार्य में योगदान नहीं दिया। हाँ, कुलकलंकिनी बाकाबाई की राजनिष्ठा के बीज से और कौन सी फसल उत्पन्न हो सकती थी। तब भी तात्या ने इस संपूर्ण विपरीत स्थिति के बावजूद वहाँ ठहरने का निश्चय कर लिया।

---

१. मैलसन ने अपने ग्रंथ 'इंडियन म्यूटिनी', खंड ५ में पृष्ठ २३८-४० पर लिखा है—''यह बात नितांत ही उल्लेखनीय है कि उस व्यक्ति का भतीजा सेना सहित महाराष्ट्र की धरती पर आ पहुँचा था, जिसे मराठों द्वारा अंतिम पेशवा का वास्तविक उत्तराधिकारी माना जाता था। निजाम राजनिष्ठ था; किंतु स्थिति बड़ी विचित्र थी। इससे पूर्व भी ऐसी घटनाएँ हो चुकी थीं जिनका एक उदाहरण सिंधिया के मामले में उपलब्ध हुआ था। जब सर्वोच्च शासक ने राष्ट्र भावनाओं को रोकने के प्रयास किए तो लोगों ने उसके विरुद्ध भी विद्रोह कर दिया। अत: यह असंभव ही था कि यह भय उत्पन्न न हो कि तात्या की सेना संपूर्ण महाराष्ट्र की जनता को उभार दे और तब शस्त्रसज्ज लोगों का यह विद्रोह संपूर्ण दक्षिण की जनता को ही प्रभावित कर दे।''

अब तात्या के समक्ष निजाम का राज्य था। वहाँ भी क्रांतिकारी थे जो स्वातंत्र्य युद्ध की ज्वाला को धधकाने की बाट जोह रहे थे। इधर पूना और खानदेश से भी अंग्रेजी सेनाएँ चढ़ दौड़ीं। मेलघाट, असीरगढ़, खानदेश, गुजरात, नागपुर आदि सभी दिशाओं से अनेक अंग्रेजी सेनाएँ दक्षिण का द्वार बंद कर देने के लिए बढ़ रही थीं। किंतु ऐसी स्थिति में भी तात्या ने अपने अपूर्व धैर्य का परिचय देते हुए अपनी रणनीति का चमत्कार दिखाया। उसने अपना पीछा करनेवाली तथा घेरनेवाली सेनाओं की रोकथाम कर नर्मदा के उद्‌गम स्थल तक अपना रणकौशल दिखाया, क्योंकि अब उसकी दृष्टि बड़ौदा पर गड़ी हुई थी। आगरा रोड से होकर अंग्रेजों की डाक-गाड़ियों को लूटता, तारयंत्रों को तोड़ता और अंग्रेज सेनाओं को झाँसा देता हुआ तात्या नर्मदा की ओर बढ़ता रहा। नर्मदा के सभी घाटों पर शत्रु सेना के दल बादल से मँडरा रहे थे, नदी के दोनों घाटों पर शत्रु सेना डटी हुई थी, किंतु नर्मदा को पार करने को उत्कट लगनेवाले तात्या का उत्साह मंद नहीं हुआ और वह करगूण नामक ग्राम में जा पहुँचा। वहाँ उसका अंग्रेज सेनापति मेजर संडरलैंड से डटकर संघर्ष हुआ। युद्ध अब अपने पूर्ण बीभत्स रूप को ग्रहण कर रहा था। उसी समय तात्या ने अपनी सेनाओं को आदेश दिया कि तत्काल गोली वर्षा बंद कर दो और नर्मदा में कूद पड़ो। उसका आदेश मिलते ही तात्या के सैनिक नर्मदा में कूद पड़े। अभी अंग्रेज यह विचारने में ही लगे हुए थे कि यह क्या हो रहा है और दूसरी ओर तात्या अपने अनुयायियों सहित नर्मदा को पार कर गया।

यह प्रसंग आज तक भी युद्धों के इतिहास में एक अतुलनीय एवं नवीन आश्चर्यजनक घटना के रूप में स्मरण किया जाता है। मैलसन ने तो स्पष्ट रूप से लिखा है—''उनकी तोपें छीन ली गई थीं, किंतु तात्या के सैनिकों ने नितांत शीघ्रता सहित मार्ग तय करने का अनोखा उदाहरण प्रस्तुत किया। इस कला में इन देशी सिपाहियों का कोई भी मुकाबला नहीं कर सकेगा। मैं तो यहाँ तक भी कहूँगा कि विश्व की कोई भी सेना उनका सामना नहीं कर पाएगी। इस स्थिति में भी तात्या ने बड़ौदा की ओर बढ़ते जाने का अपना लक्ष्य नहीं छोड़ा था। बड़ौदा के राजदरबार तथा सेना में भी नाना साहब के पक्ष के अनेक लोग थे। अतः वे तो तात्या के आगमन की बाट ही जोह रहे थे। तात्या राजपुर पहुँचा, जहाँ उसे घोड़े और धन भी मिला। दूसरे दिन उसने छोटे उदयपुर में प्रवेश किया, वहाँ से बड़ौदा केवल पचास मील ही दूर रह गया था।''

अब यद्यपि बड़ौदा केवल पचास मील की ही दूरी पर रह गया था, किंतु अंग्रेजों की सेनाएँ भी तो तात्या का निरंतर पीछा कर रही थीं। तात्या को चारों ओर से ही अंग्रेजी सेनाएँ घेरने का प्रयास कर रही थीं। तात्या का पीछा करते हुए पार्क

छोटा उदयपुर भी जा पहुँचा था। अतः तात्या को भी अब बड़ौदा की ओर बढ़ने का अपना विचार त्याग देना पड़ा और उसने अपनी सेना सहित उत्तर की ओर बढ़ते हुए बाँसवाड़ा के जंगलों में प्रवेश किया। किंतु उसी समय इंग्लैंड की महारानी की घोषणा सुनकर बाँदा के नवाब ने आत्मसमर्पण कर दिया। तात्या और रावसाहब के समक्ष अब ऐसी विचित्र और कठिन परिस्थिति पैदा हो गई थी कि उससे निकल पाना भी असंभव सा ही प्रतीत हो रहा था। दक्षिण में नर्मदा, पश्चिम में रॉबर्ट तथा उत्तर और पूर्व में अनुल्लंघनीय ढलान थी। इस विपरीत परिस्थिति में यदि रावसाहब और तात्या टोपे आत्मसमर्पण भी कर देते तो उन्हें कौन दोषी ठहरा सकता था। किंतु वे वीर धन्य हैं, उन्होंने इस संकटापन्न अवस्था में भी आत्मसमर्पण की कायरतापूर्ण भावना को पास न फटकने दिया। एक अंग्रेज ग्रंथकार ने आश्चर्यचकित होकर इन वीरों का गुणगान करते हुए लिखा है—"किंतु ये दो ऐसे व्यक्ति थे जो इस घोर संकटपूर्ण परिस्थिति में भी नितांत शांति, वीरता और धैर्य सहित अपने जीवन के इस प्राणांतक संघर्ष का सामना करते रहे।"

किंतु तात्या ने कठिनाइयों के इस चक्रव्यूह को भी बेध डाला। वह ११ दिसंबर को जंगल से बाहर निकला और एक किलेदार से थोड़ी सी सहायता प्राप्त कर उदयपुर की दिशा में बढ़ चला। किंतु उसी समय कई अंग्रेजी सेनाओं ने भी उसपर आक्रमण कर दिया। अतः उसे पुनः वनखंड में शरण लेनी पड़ी। अब तात्या को एक सप्ताह से अधिक ठहरना असंभव ही हो गया था। यह स्पष्ट होता जा रहा था कि उसे शरण लेनी ही पड़ेगी। उसी समय क्रांतिकारी नेताओं में भी परस्पर यह चर्चा चलने लगी थी कि अब इस संघर्ष को समाप्त कर देना ही श्रेयस्कर होगा। अब तो वह वन भी वन नहीं रह गया था—वह चारों ओर से खदेड़कर उस स्थान पर बंद कर दिए गए—बल्कि महाराष्ट्र के सिंहों का पिंजरा ही बनकर रह गया। सभी दिशाओं से अंग्रेजों की सेनाओं के पाश तो मानो उसकी ग्रीवा को ही जकड़ते जा रहे थे। इस स्थिति में भी युद्ध को बंद कर देने का विचार इस मराठा वीर के मन में उत्पन्न नहीं हो पाया। एक दिन वह रावसाहब के साथ प्रतापगढ़ की दिशा में बढ़ चला। अभी तात्या टोपे की सेनाएँ वन प्रदेश से बाहर भी नहीं निकल सकी थीं कि मेजर रॉक ने उसका मार्ग अवरुद्ध कर दिया। तात्या ने किसी प्रकार की भी दुविधा में न पड़ते हुए उसपर आक्रमण कर दिया। यह आक्रमण भी इतना प्रचंड था कि रॉक के सैनिक आश्चर्यचकित रह गए। इस भाँति जंगला तोड़कर इस मराठा सिंह ने एक बार पुनः अंग्रेजों पर आघात किया। यह आघात ऐसा था कि अंग्रेज सेनापति भी लज्जा से सिर झुकाए और हाथ मलते ही रह गए।

२५ दिसंबर को तात्या टोपे बाँसवाड़ा के वनखंड से बाहर आया। उसी

समय अवध का प्रख्यात वीर शहजादा फीरोजशाह भी अपनी सेना सहित तात्या की सहायता करने के लिए आ रहा था। स्थानाभाव के कारण यहाँ फीरोजशाह ने गंगा और यमुना को पार कर जिस प्रचंड शौर्य का प्रदर्शन किया उसका विवरण प्रस्तुत नहीं किया जा रहा है। शिंदे के एक दरबारी मानसिंह, फीरोजशाह, तात्या एवं रावसाहब की १३ जनवरी, १८५९ को इंद्रगढ़ में भेंट हुई। इन चारों नेताओं ने यहाँ एकत्रित होकर आगामी कार्यक्रम पर विचार विमर्श किया। अंग्रेजों की साधारण सी गतिविधियों की सूचना भी तात्या को मिलती रहती थी। जब उसे यह विदित हुआ कि अंग्रेज पुन: चारों ओर से घेरा डालते आ रहे हैं तो वह बड़ी निर्भीकता से मंजिल तय करता हुआ देवास जा निकला। किंतु वहाँ भी वह चारों दिशाओं से बढ़ी आ रही अंग्रेज सेनाओं के व्यूह में घिर गया। अब उसकी यश प्राप्ति की आशा तो किंचित् मात्र भी नहीं रह गई थी, अत: कोई साहसी योजना बनाने का विचार ही करना निरर्थक था। अब उसके लिए अपनी थकी हुई सेना को अंग्रेजों की इस व्यूह रचना से निकाल पाना ही कठिन हो गया था। अंग्रेज सेनापति भी दंभ से अकड़े हुए यह घोषणा कर रहे थे कि "देखें अब यह कैसे बचकर निकलता है।" अब तो क्रांतिकारियों के चारों नेता फीरोजशाह, मानसिंह, तात्या टोपे और रावसाहब पर अंग्रेजों ने अपना जाल पूर्णरूपेण कस दिया था। १६ जनवरी, १८५९ को तात्या, रावसाहब तथा फीरोजशाह आगामी योजना पर विचार विमर्श कर ही रहे थे कि बाहर कुहराम मच गया। तात्या ने तत्काल अनुमान लगाया कि अब उन्हें अंग्रेजों ने पूर्णत: घेर लिया है। उसने बाहर आकर देखा कि संपूर्ण छावनी में गोरों ने कुहराम मचा दिया है। गोरे सैनिक आनंद से झूमते हुए चीख उठे—"तात्या मिल गया!" किंतु उनकी वह चिल्लाहट क्षण भर में ही लुप्त हो गई। वे यही कहते रह गए कि अभी-अभी तो वह यहाँ था अब कहाँ खिसक गया। 'दौड़ो सैनिको, दौड़ो और खोजो' की चीख ही सुनाई पड़ी, किंतु तात्या कहीं न मिला। अंग्रेज सैनिकों की पूर्ण सतर्कता भी तात्या टोपे की चाल के समक्ष निढाल हो गई। तात्या मानो पंख लगाकर उड़ गया और अंग्रेज सैनिक और सेनापति क्रोध से सिर पटककर ही रह गए।

अब २१ जनवरी को रावसाहब, फीरोजशाह और तात्या अपने अन्य सहयोगियों सहित अलवर के समीप सीकर नाम ग्राम में उपस्थित हुए। अंग्रेज पुन: पागल होकर उनका पीछा करने में लग गए। अंग्रेज सेनापति होम्स की सेनाओं और क्रांतिकारियों में मुठभेड़ हुई, जिसमें क्रांतिकारी पराजित हो गए। किंतु इस पराजय ने क्रांतिकारियों को हताश नहीं किया, क्योंकि उनकी विजय की आशाएँ तो पहले ही नष्ट हो चुकी थीं। किंतु अब उनमें प्रतिकार की शक्ति नहीं रह गई थी। नर्मदा को पार कर बड़ौदा पर आक्रमण करने की तात्या की योजना भी अब समाप्त ही हो

गई थी। अब तात्या और रावसाहब ने अपनी छापामार युद्धकला में कुछ सुधार करने के संबंध में विचार विमर्श किया और कतिपय निश्चय करने के पश्चात् तात्या और रावसाहब ने अपनी सेनाओं से विदाई ले ली। तात्या के साथ केवल दो अश्व, एक टट्टू, दो ब्राह्मण रसोइए और एक नौकर था। अपने इस परिवार के साथ वह ग्वालियर के सरदार मानसिंह के पास पहुँचे। सरदार मानसिंह उन दिनों पारौन के वनों में शरण ले रहा था। मानसिंह ने उससे कहा, ''तात्या, तुमने अपनी सेना को छोड़कर यहाँ आने में भूल की है।'' तात्या ने उत्तर दिया, ''चाहे अच्छा हुआ अथवा बुरा, मैं तो अब तुम्हारे साथ ही रहने का निश्चय करके आया हूँ। अब मैं तो इन प्राणलेवा पलायनों से बहुत अधिक थक गया हूँ।''

अंग्रेजों को भी यह सूचना मिल गई कि तात्या टोपे मानसिंह के पास रह रहा है। अंग्रेज प्रत्यक्ष युद्ध में उसे बंदी बनाने में असफल हो चुके थे। अत: उन्होंने छल-कपट के नीच हथकंडों को अपनाने की योजना बनाई। उन्होंने अपना एक दूत भी मानसिंह के पास भेजा और उसके माध्यम से यह कहलवाया गया कि यदि मानसिंह तात्या को पकड़वा दे तथा आत्मसमर्पण कर दे तो उसे क्षमा प्रदान की जा सकती है। इतना ही नहीं, शिंदे से यह भी कहा जाएगा कि वह नरवर राज्य उसे दे दे। इसी मानसिंह ने पहले अपने चाचा को भी अंग्रेजों को सौंप देने की कायरता प्रदर्शित की थी। वह इस प्रलोभन में फँसकर अंग्रेजों के झाँसे में आ गया। उसने तात्या को बताया कि वह अंग्रेजों के समक्ष आत्मसमर्पण कर देगा। जब तात्या से भी उसने आत्मसमर्पण कर देने का आग्रह किया तो वीरवर तात्या ने उसके इस प्रस्ताव को घृणा सहित ठुकरा दिया। उसी समय फीरोजशाह का एक पत्र भी तात्या को मिला था, जिसमें उसने तात्या को अपनी छावनी में आ जाने का निमंत्रण दिया था। तात्या ने यह पत्र मानसिंह को दिखाया और उससे परामर्श किया कि ''मैं वहाँ जाऊँ अथवा नहीं, इस संबंध में तुम्हारे परामर्श के अनुसार ही मैं कार्य करूँगा।'' किंतु नीच मानसिंह ने उससे कहा कि ''आपको अभी कुछ दिनों यहीं ठहरना चाहिए, फिर इस संबंध में निश्चय कर लिया जाएगा।'' तात्या ने ताड़ लिया कि मानसिंह को अंग्रेजों के समक्ष आत्मसर्पण करना है, किंतु इसपर भी वह यह समझता था कि मेरे संबंध में मानसिंह की नीयत में कोई अंतर नहीं आ पाया है। मानसिंह ने उससे कहा कि ''मेरे वापस लौटने तक आप उस स्थान पर रहो जहाँ मेरा एक व्यक्ति आपको ले जाएगा।'' उसके द्वारा बताए गए स्थान को सुरक्षित स्थान समझकर तात्या टोपे तीन दिन तक वहाँ रहा। तीसरा दिन हुआ और सहस्रों युद्धों में शत्रु को नाकों चने चबानेवाला वीर मराठा सेनानी, जो अब तक अनेक प्राणघातक संकटों और कष्टों में भी अपनी चतुरता और रणकौशल के कारण शत्रुओं के हाथ में नहीं

आ पाया था, इस विश्वासघाती मानसिंह द्वारा ही बंदी बनवा दिया गया।

मानसिंह तात्या को वहाँ रहने का परामर्श देकर सीधा अंग्रेजों की शरण में गया था। उन्होंने तात्या को बंदी बनाने के लिए बंबई की अंग्रेजी सेना को इस विश्वासघाती के साथ भेजा था। तात्या के प्रति प्रत्येक भारतीय के मन में जो महान् आदर भावना विद्यमान थी उसके कारण अंग्रेज किसी भारतीय पर विश्वास नहीं कर पाते थे। अत: बंबई के इन सैनिकों को केवल इतना निर्देश दिया गया था कि ''मानसिंह जिस अभियुक्त को बंदी बनाने का निर्देश दे, उसे तुम्हें बंदी बनाकर ले आना होगा।'' मानसिंह इन सैनिकों सहित पारौन के वनखंड में जा पहुँचा। तात्या को उसने तीन दिन पश्चात् ही वापस आने की बात कही थी और वह अपने कथनानुसार ठीक समय पर वापस आ पहुँचा था। जिस स्थान पर मानसिंह द्वारा साथ भेजे गए आदमी द्वारा तात्या को ले जाया गया था, तात्या वहाँ विश्राम कर रहा था और जिस समय मानसिंह वहाँ पहुँचा उस समय वह प्रगाढ़ निद्रा में लीन था। नराधम मानसिंह ने अपने साथ लाए हुए शिकारी कुत्तों को इस नर केसरी पर छोड़ दिया था। तात्या के नेत्र जब खुले तो उसने अपने आपको अंग्रेजों के बंदी के रूप में पड़ा हुआ देखा।

यह घटना ७ अप्रैल, १८५९ को अर्धरात्रि में घटित हुई। दूसरे दिन प्रात:काल ही उसे शिवपुरी में जनरल मीड की छावनी में कड़े पहरे के बीच ले जाया गया। यहाँ सैनिक न्यायालय लगा और उसमें तात्या के विरुद्ध ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध विद्रोह करने का आरोप लगाया गया। बुधवार को इन आरोपों का उत्तर देते हुए तात्या ने कहा—

''मैंने जो भी कार्य किया है, अपने स्वामी के निर्देशानुसार किया है। कालपी तक मैंने नाना साहब के आदेशों के अनुसार ही आचरण किया। तदुपरांत मैंने रावसाहब का आदेश माना। न्याय के अनुसार लड़े गए युद्धों अथवा मुठभेड़ों को छोड़कर मैंने अथवा नाना साहब ने एक भी यूरोपियन पुरुष, स्त्री अथवा बालक की निरर्थक हत्या नहीं की और न ही किसीको फाँसी पर ही लटकाया। इससे अधिक मैं इस न्यायालय के समक्ष अन्य कोई भी बात कहने को तैयार नहीं हूँ।'' अंग्रेज के विशेष अनुरोध पर तात्या ने क्रांति के पुनीत प्रारंभ से लेकर उस दिन तक की घटनाओं का प्रतिदिन का वृत्त भी संक्षेप में बता दिया। लिपिक ने उसके द्वारा दिए गए संपूर्ण विवरण को लिपिबद्ध कर लिया। तदुपरांत इस दैनिक कार्यक्रम और वक्तव्य को उसे पढ़कर सुनाया गया और उसे सुनने के पश्चात् तात्या टोपे ने उसके नीचे सुंदर रोमन अक्षरों में लिख दिया TATIA TOPE। किंतु अंग्रेजों द्वारा उससे जो प्रश्न पूछे गए उनका उत्तर उसने नितांत ही संक्षेप में, हिंदी में ही अपनी ओजस्वी

भाषा में दिया। जब अंग्रेजी में उससे कोई प्रश्न पूछते थे तो वह बड़ी ही शांतिपूर्ण मुद्रा में उसका उत्तर देता था, ''मुझे पता नहीं।'' तीन दिन तक तात्या से इसी प्रकार पूछताछ की जाती रही। भारतीयों के झुंड-के-झुंड इस महान् वीर के दर्शनार्थ एकत्रित होते थे, किंतु उन्हें दर्शन करने से वंचित रखा जाता था। जिनको उसके दर्शन करने की अनुमति प्राप्त हो जाती थी वे बड़े ही आदर सहित नतमस्तक होकर उसका अभिवादन करते थे। जिस समय अंग्रेजों ने तात्या को सूचित किया कि सैनिक न्यायालय उसके मामले में निर्णय देगा तो उसी समय उन्होंने यह भी कहा था कि वह अपने बचाव के लिए भी आवश्यक प्रमाण संगृहीत कर ले। उसी समय इस महा वीर क्रांति योद्धा ने अंग्रेजों को एक ही उत्तर दिया, ''मैंने अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध किया है और मैं भलीभाँति जानता हूँ कि मुझे आत्माहुति देने के लिए तत्पर रहना चाहिए। मुझे तुम्हारे न्यायालय के निर्णय अथवा जाँच से कोई सरोकार नहीं है।'' इस वीर मराठा के हाथों में बेड़ियाँ पड़ी हुई थीं, किंतु इसपर भी अपने हाथों को ऊँचा करते हुए इस महान् योद्धा ने घोषणा की—''इन हथकड़ियों से मुक्त होने की मुझे एकमात्र आशा यही है कि तोप का गोला या फाँसी का फँदा चूमते ही ये दूर हो जाएँगी। परंतु मैं तुम्हें एक बात बता देना चाहता हूँ कि ग्वालियर में मेरा परिवार रह रहा है और उसका मेरे इन कार्यों से तनिक सा भी संबंध नहीं है। अत: कृपा करके मेरे कार्यों के बदले मेरे पिताजी अथवा पारिवारिक जनों को तनिक सा भी त्रास देना उचित नहीं होगा।''

जाँच-पड़ताल और पूछताछ का नाटक समाप्त हो गया। तात्या टोपे को फाँसी का दंड सुना दिया गया। दोपहर के चार बजे थे कि उसे तीसरी बंगाल गोरी सेना के कड़े पहरे में वध-स्तंभ के समीप लाया गया। फाँसी के तख्ते के समीप आने पर सैनिकों ने व्यूह बनाकर इस महान् सेनानी को चारों ओर से घेर लिया। इस अवसर पर भारतीय पैदल सैनिक, अश्वारोही तथा अन्य दर्शकों की एक भारी भीड़ वहाँ एकत्रित हो गई थी। तात्या ने अंग्रजों से पुन: एक बार आग्रह किया कि उसके वृद्ध पिताजी को किसी प्रकार से भी त्रस्त न किया जाए। तात्या को दंड सुना दिया गया। तात्या के पैरों में पड़ी बेड़ियाँ काट दी गईं। वह नरपुंगव निस्संकोच होकर धीरे-धीरे वध-स्तंभ तक पहुँचा और बड़ी ही तीव्र गति से सीढ़ियों पर जा चढ़ा। नियमानुसार अब वधिक उसके हाथ-पैर बाँधने के लिए वहाँ पहुँचे। उस समय तात्या ने हँसते हुए उन्हें कहा, ''ऐसा करने की किंचित् मात्र भी आवश्यकता नहीं है।'' यह कहकर उसने स्वयं फाँसी के फंदे को हार के समान अपने गले में पहन लिया। फंदा कसा गया और एक झटके के साथ तख्ता गिर पड़ा।

और इस प्रकार पेशवा का राजनिष्ठ सेवक सन् १८५७ के स्वातंत्र्य समर का

महान् नायक, हिंदुस्थान का निर्भीक वीर, धर्मरक्षक, देशाभिमानी और कुशल सेनापति तात्या टोपे का निर्जीव शरीर अंग्रेजों द्वारा निर्मित फाँसी की टिकटिकी पर झूलता दृष्टिगोचर हुआ। वधमंच रक्त से सराबोर हो गया तो संपूर्ण देश के नेत्रों से अश्रुधाराएँ प्रवाहित हो उठीं। समग्र हिंदुस्थान ही अश्रुओं से भीग गया। स्वदेश की सेवा के लिए उसने महान् और अवर्णनीय कष्टों को सहन किया था, यही तात्या का एकमात्र दोष था। उसे इस देशभक्ति का पारितोषिक एक विश्वासघाती द्वारा उसके साथ किए गए विश्वासघात और नीचता के रूप में मिला था। अंग्रेजों ने उसे किसी रक्तपिपासु दस्यु के समान वधस्तंभ पर लटकाया था। हे महावीर तात्या! तुमने इस अभागे देश में जन्म ही क्यों ग्रहण किया? इन विश्वासघाती नराधमों और महामूर्खों की स्वतंत्रता के लिए तुमने संघर्ष का आह्वान क्यों किया? तात्या टोपे, तुम्हारे लिए हमारे नेत्रों से जो अश्रु धाराएँ प्रवाहित हो रही हैं, क्या तुम उन्हें देख रहे हो? हाँ, तुम्हें रक्तदान का प्रतिदान हम अभागे और निर्बल अश्रु बहाकर ही तो दे रहे हैं। हे नरवीर, तुमने भी यह कैसा घाटे का सौदा किया?

तात्या की निष्प्राण देह को फाँसी के फँदे से झूलता हुआ देखकर अपने पराक्रम पर समाधान व्यक्त करते हुए शूरवीर अंग्रेज अब वापस लौट रहे थे। तात्या की नश्वर काया इसी स्थिति में भगवान् सूर्य देव के अस्ताचलगामी होने तक लटकती रही। वहाँ खड़े पहरेदार भी जब चले गए तब भीड़ को चीरते हुए यूरोपियन प्रेक्षक आगे बढ़े और उनमें इस महान् राष्ट्रभक्त के केशों के गुच्छे स्मृतिस्वरूप अपने पास रखने की पहल करने की होड़ लग गई।

सन् १८५७ के स्वातंत्र्य युद्ध के इस होमकुंड में तात्या के बलिदान के रूप में यह अंतिम आहुति पड़ गई थी।

इस प्रकार वह भयंकर ज्वालामुखी जिसने अपने विस्तीर्ण मुख से क्रोध के आवेग में मांस, रक्त, लाशों, गड़गड़ाहटों और दग्ध लाल-लाल उष्ण लावा रस को उगला था, अब अपना मुख बंद कर रहा था। उसकी तलवार रूपी जीभें अब पुनः म्यान रूपी जबड़ों में समाती जा रही थीं। अब उसकी कड़कती बिजलियाँ और कर्णभेदी गड़गड़ाहट तथा गर्जनाएँ, प्रचंड वेग और बवंडर उग्रता सभी मदारी के पिटारे के समान वायुमंडल में विलुप्त हो रहे थे। ज्वालामुखी का मुख बंद हो गया। उसके धरातल पर पुनः हरियाली उगती दृष्टिगोचर होने लगी। उसपर पुनः कृषि-कार्य आरंभ हो गया। पुनः शांति, सुरक्षा और प्रेमभाव उभरने लगा। और अब इस ज्वालामुखी का पृष्ठभाग इतना सुकोमल और हरा-भरा दिखाई देने लगा कि कोई यह आशंका भी नहीं कर सकता कि उसके नीचे एक प्रचंड ज्वालामुखी विश्राम कर रहा है।

□

प्रकरण–३

समारोप

अब यह ज्वालामुखी कुछ समय के लिए तो शांत हो ही गया है। फिर भी मैं समझता हूँ कि पाठकों को यह जानने की इच्छा अवश्य होगी कि फीरोजशाह और रावसाहब का तात्या के इस आत्मार्पण के उपरांत क्या बना?

तात्या के विदा ले जाने के एक मास पश्चात् तक भी रावसाहब पूर्ण वीरता सहित लड़ते रहे और जब कोई अन्य विकल्प न रह गया तो वे गुप्त रूप से जंगल की ओर निकल गए। किंतु तीन वर्ष के अज्ञातवास के पश्चात् वे बंदी बना लिये गए और उन्हें मृत्युदंड सुनाकर २० अगस्त, १८६२ को फाँसी पर चढ़ा दिया गया। केवल फीरोजशाह ही अब वेष बदकर घूमता रहा और सुदैव से वह भी हिंदुस्थान से बाहर निकल जाने में सफल हो गया। ईरान पहुँचा तथा करबला में जाकर रहने लगा।

अब तक हम सन् १८५७ के क्रांतियुद्ध का बारंबार उल्लेख करते रहे हैं। उससे अनेक प्रश्न भी हमारे समक्ष आ खड़े होते हैं। इनमें से भी एक प्रमुख प्रश्न यह है कि क्या क्रांति-युद्ध की संपूर्ण सिद्धता होने से पूर्व ही अकस्मात् इसका विस्फोट हो गया था? इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर है—नहीं। सन् १८५७ की इस क्रांति के लिए जितनी तैयारियाँ और सिद्धताएँ की गई थीं उतनी तो बड़ी-बड़ी क्रांतियों में भी उपलब्ध होनी दुर्लभ हैं। जब सैनिकों की एक के बाद एक पलटन, बड़े-बड़े शक्तिशाली सामंत और राजा-महाराजा, उच्च पदस्थ पुलिस अधिकारी ही नहीं अपितु नगर-के-नगर ही क्रांति का शंखनाद करने का स्वेच्छा सहित संकल्प व्यक्त कर रहे थे तो ऐसा कौन होगा जिसे तत्काल विप्लव का पुनीत प्रारंभ करने में संकोच की अनुभूति होगी? यह एक सुपरिवित तथ्य है कि किसी भी कार्य के आरंभ में ही अवरोध और बाधाएँ उपस्थित होती हैं, उनपर विजय प्राप्त कर लिये

जाने के पश्चात् संपूर्ण देश ही अपने आप उठ खड़ा होता है। इस दृष्टि से यह तथ्य सुस्पष्ट है कि क्रांतिकारियों के नेताओं ने किसी प्रकार के भी उतावलेपन का परिचय नहीं दिया था। वस्तुतः इतनी अनुकूल परिस्थिति में जो जाति खड़ी नहीं हो पाएगी वह तो कदापि विद्रोह नहीं कर सकेगी।

परंतु अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि फिर यह क्रांति क्यों असफल हो गई? इस असफलता के छोटे-मोटे कारणों की चर्चा तो इस ग्रंथ में यथायोग्य स्थानों पर की ही जा चुकी है। किंतु इस महान् विप्लव की असफलता का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह था कि यद्यपि क्रांति की पर्याप्त तैयारी की गई थी, किंतु तदुपरांत उत्पन्न होनेवाली परिस्थितियों का सामना कैसे किया जाएगा, इस संबंध में कोई आकर्षक और सुव्यवस्थित व्यवस्था नहीं की गई थी। अंग्रेज सत्ता को उखाड़कर नष्ट करने में तो सभी एकमत थे, किंतु उसके पश्चात् क्या होगा, इस संबंध में कोई सुनिर्धारित योजना नहीं बनाई जा सकी थी। किंतु पहले के समान ही घातक मतभेदों और मुगलों तथा मराठों के पारस्परिक विवादों और वैरपूर्ण वायुमंडल के पुनः उद्भव का भय लोगों में व्याप्त था। इसलिए सर्वसाधारण में यह भावना व्याप्त हो गई थी कि व्यर्थ में ही अपना रक्त क्यों प्रवाहित किया जाए। उपर्युक्त आशंका के संदर्भ में ऐसी भावना का उत्पन्न हो जाना अस्वाभाविक भी तो नहीं था। क्योंकि इसी तानाशाही और अन्यायपूर्ण सत्ता से क्षुब्ध होकर तो जनता ने विदेशी शासन को पहले अपने ऊपर लादा था। क्रांति का प्रथम भाग अर्थात् विध्वंस का कार्य तो बड़ी सुगमता सहित पूर्ण हो गया, किंतु जब रचनात्मक और विधायक गतिविधियों का प्रारंभ होना था तो लोगों में पारस्परिक मतभेद और अविश्वास पुनः उभर आया। यदि जनता के अंतःकरण को आकर्षित करनेवाला और उसे प्रेरित करनेवाला कोई नवीन ध्येय और आदर्श उसके समक्ष प्रस्तुत किया जाता तो क्रांति की प्रगति के समान ही उसका अंत भी उसके पुनीत प्रारंभ के समान ही यशस्वी और प्रभावशाली सिद्ध होता।

यदि लोगों को इस तथ्य से पूर्णतः अवगत करा दिया जाता कि प्रलय के तुरंत पश्चात् ही पुनः नया सृजन और नवनिर्माण होता है तब भी क्रांति निश्चित रूप से ही सफलता प्राप्त करती। किंतु निर्माण तो दूर रहा, संहार कार्य भी तो हिंदुस्थान पूर्ण रूप से नहीं कर पाया। इसका कारण क्या था? कारण यही था कि राष्ट्र का कंठ अपने व्यक्तिगत स्वार्थ हेतु घोंटने की नीच प्रवृत्ति भारत से पूर्ण रूप से नष्ट नहीं हो पाई थी। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि क्रांति की असफलता के मुख्यतः दो ही कारण थे। प्रथम यह कि अपनों के निकृष्टतम स्वराज्य की अपेक्षा अंग्रेजों का शांतिपूर्ण शासन भी स्वदेश के लिए अधिक हानिकारक है, इस तथ्य को

भलीभाँति न समझने के कारण ही अनेक मूर्खों द्वारा स्वदेश से द्रोह किया गया। क्रांति की असफलता का दूसरा प्रमुख कारण यह था कि स्वदेशवासियों के विरुद्ध विदेशी शत्रुओं को किंचित् मात्र भी सहायता न देने की प्रेरणा प्रदान करनेवाली प्रामाणिकता भी लोगों में नहीं थी। इस कारण भी उन्होंने स्वदेश बंधुओं से ही विश्वासघात भी किया।[१] इस प्रकार क्रांति की असफलता का संपूर्ण पाप उन देशद्रोहियों के ही सिर पर आ जाता है। यदि अधिक स्पष्ट, अधिक सरल, अधिक आकर्षक आदर्श उस समय जनता के समक्ष होता तो ये विद्रोही ही देशभक्त के रूप में परिणत हो जाते; क्योंकि यदि देशभक्ति ही लाभदायक और स्वार्थ की पूर्ति में साधक सिद्ध हो तो जान-बूझकर देशद्रोह का कलंकपूर्ण कृत्य कौन करेगा? वास्तव में महान् यश के भागीदार वे हैं जिन वीरों ने इस तथ्य को हृदयंगम कर स्वातंत्र्य समर में भाग लिया था कि अपने निकृष्ट स्वशासन से भी विदेशी सत्ता और शासन निकृष्टतम होती है, फिर चाहे वह स्वराज्य गणतंत्र हो अथवा एकतंत्र, राजतंत्र हो अथवा अराजकतापूर्ण। स्वतंत्रता को अक्षुण्ण रखने का एकमात्र उद्देश्य अपने देश को समृद्ध करना मात्र ही नहीं होता अपितु स्वतंत्रता में ही आत्मिक सुख की उपलब्धि होती है और लाभ अथवा हानि की अपेक्षा आत्मसम्मान ही अधिक

---

1. Yet it must be admitted that, with all their courage, they (the British) would have been quite exterminated if the natives have been all and altogether hostile to them. The desperate defences made by the garrisons were no doubt heroic, but the natives shared their glory, and they by their aid and presence rendered the defence possible. Our sieze of Delhi would have been quite impossible, if the Rajas of Patiala and Jhind had not been friends and if the Sikhs had not recruited in our battalions and remained quite in the Punjab. The Sikhs at Lucknow did good service, and in all cases our garrisons were helped, fed and served by the natives, as our armies were attended and strengthened by them in the field. Look at us all, here in camp at this moment, our out posts are native troops, natives are cutting grass for our horses and grooming them, feeding the elephants, managing the transports, supplying the commissariat which feeds us, cooking our soldier's food, cleaning their camp, pitching and carrying their tents, waiting on our officers, and even lending us their money. The soldier who acts as my amanuensis declared that his regiment could not have lived a week but for the regimental servants, Doli bearers, hospital men, and other dependants. Gurkha guides did good service at Delhi and Bengal artillerymen were as much exposed as the Europeans.

—Russell's ' my diary in India'

महत्त्वपूर्ण है। पराधीनता के स्वर्णिम पिंजरे की अपेक्षा स्वतंत्रता का वन भी सहस्र गुना श्रेष्ठ है। जिन्होंने इन सिद्धांतों को भलीभाँति समझ लिया, अपने देश और धर्म के प्रति अपने कर्तव्य का पूर्णतः पालन किया, स्वधर्म और स्वराज्य के लिए अपने हाथों में शस्त्र ग्रहण किया, यश के लिए नहीं अपितु केवल कर्तव्य पूर्ति के हेतु मृत्यु को भी आलिंगन करना श्रेयस्कर समझा, उनके पावन नामों का सदैव ही गौरव सहित स्मरण किया जाता रहेगा। हमारा देश उन लोगों के नाम कदापि स्मरण नहीं करेगा जिन्होंने संकोच अथवा लापरवाही के कारण स्वतंत्रता के युद्ध में सहयोग नहीं दिया अथवा जो शत्रुओं से जा मिले और जिन्होंने अपने ही देशबंधुओं के विरुद्ध संघर्ष कर अपने नाम को कलंकित कर दिया। सन् १८५७ की क्रांति से हिंदुस्थान की एकता, स्वतंत्रता व जनशक्ति तथा जागृति की दिशा में कितनी प्रगति हुई है, इसका यह मापदंड थी।[१]

सन् १८५७ की क्रांति की असफलता के लिए दोषी वे हैं जिन्होंने अपने आलस्य और प्रमाद तथा स्वार्थपरता और विश्वासघात से इसपर मर्मांतक प्रहार किया। उन महान् वीरों को इसकी सफलता के लिए दोषी सिद्ध करने का दुस्साहस किसीको नहीं करना चाहिए, जिन्होंने अपना ही उष्ण रक्त प्रवाहित करनेवाली तलवारों को उठाकर, उस महान् पूर्व प्रयोग के हेतु क्रांति के अग्निमय रंगमंच पर प्रवेश किया था और जो प्रत्यक्ष मृत्यु का भी आलिंगन कर आनंद से झूम उठते थे। वे न तो उन्मादी थे और न ही विक्षिप्त, न ही वे विचारहीन थे और न ही पराजय में हाथ बँटानेवाले। उन्हें कोई भी दोष देना उनके साथ अन्याय करना है। वस्तुतः उन्हींकी पावन प्रेरणा से भारतमाता की गहन निद्रा भंग हुई थी और पराधीनता की शृंखलाओं को टूक-टूक कर देने के लिए संपूर्ण हिंदुस्थान जाग्रत हो उठा था। किंतु

---

१. ''भारतीय क्रांति से इतिहासकारों को अनेक शिक्षाएँ मिल सकती हैं; किंतु उसमें इससे बढ़कर कोई अन्य महत्त्वपूर्ण शिक्षा नहीं है कि भारत में ब्राह्मण और शूद्र, हिंदू और मुसलमान हमारे (अंग्रेजों के) विरुद्ध संगठित होकर क्रांति कर सकते हैं और हमारे अधिराज्य के संबंध में यह मानना धोखे से खाली नहीं है कि विभिन्न धार्मिक रीति-रिवाजों का परिपालन करनेवाली जातियों से जब तक यह देश परिपूर्ण है तब तक हमारा यह राज्य शांतिपूर्ण और स्थिर बना रहेगा; क्योंकि ये लोग एक-दूसरे के रहन-सहन, रीति-रिवाज और व्यवहारों को भलीभाँति समझते ही नहीं बल्कि उनके प्रति आदर-भावना रखकर उनमें सहयोग भी प्रदान करते हैं। सन् १८५७ की इस क्रांति ने हमें यह स्मरण करा दिया है कि हमारा आधिपत्य एक पतली परत पर आधारित है और समाज सुधार तथा धार्मिक क्रांति के विस्फोटों से यह परत किसी भी समय नष्ट हो सकती है।''

—फॉरेस्ट के ग्रंथ की भूमिका से

विधि की विडंबना कि जहाँ उसका एक हाथ अत्याचारियों के सिर पर मर्मांतक प्रहार कर रहा था वहाँ दूसरा हाथ स्वयं माता के वक्षस्थल में छुरा घोंपने का कलंकित कृत्य करने में संलग्न था। घायल भारतमाता एक बार पुन: तड़प उठी और भूलुंठित हो गई। इन दोनों श्रेणी के पुत्रों में से कौन क्रूर, विश्वासघाती तथा तिरस्कार योग्य है और कौन वीर, साहसी, देशभक्त तथा सम्मानीय—यह सुस्पष्ट ही है।

दिल्ली का सम्राट् बहादुरशाह एक महान् कवि भी था। क्रांतियुद्ध के रंगमंच पर प्रवेश करने के पूर्व ही उसने एक गजल की रचना की थी। उसने स्वत: यह प्रश्न किया था—

दमदमे में दम नहीं अब खैर माँगो जान की।
अय जफर! ठंडी हुई शमशीर हिंदुस्तान की॥

(—प्रतिदिन ही तुम थकते चले जा रहे हो। हे सम्राट्, तुम अपने प्राणों की रक्षा के लिए प्रार्थना करो (अंग्रेजों से), क्योंकि अब भारत की तलवार सदैव के लिए टूक-टूक हो गई है।)

उन्होंने इस प्रश्न का उत्तर भी इन शब्दों में दिया—

गाजियों में बू रहेगी जब तलक ईमान की।
तख्ते लंदन तक चलेगी तेग हिंदुस्थान की॥

(—हमारे वीरों के अंत:करण में जब तक आत्मविश्वास और देशभक्ति की भावना विद्यमान है तब तक हिंदुस्थान की पावन कृपाण लंदन तक भी वार करती रहेगी।)

□□□



रणदुंदुभि

हिंदू संगठनकर्ता स्वराष्ट्र का इतिहास किस तरह लिखें और पढ़ें

कई वर्षों से सोच रहा हूँ कि इतिहास को सामान्यत: किस तरह लिखा और पढ़ा जाए, इस विषय पर एक प्रबंध लिखूँ। पर परिस्थिति के दबाव के कारण आकस्मिक राजनीतिक और सामाजिक कार्य ही जीवन का प्रमुख कर्तव्य बन गया है और उसे पूरा करने में ही जीवन पल-पल करके बीता जा रहा है। अब तो लगता है कि जीवन का संध्याकाल भी बीता जा रहा है। फिर भी साहित्य और ज्ञान-विज्ञान के कई अच्छे लगनेवाले काम मैं पूरे नहीं कर सका। इन्हीं अधूरे कामों में से एक काम है इस प्रबंध को लिखने का।

हिंदू राष्ट्र के अस्तित्व के लिए हमें आजकल कड़ा संघर्ष करना पड़ रहा है। इस संघर्ष के अन्यान्य साधनों में एक साधन है इतिहास। हर हिंदू संगठनकर्ता को यह जान लेना चाहिए कि हिंदुस्थान के इतिहास को किस तरह लिखा जाए और उसे किस तरह पढ़ा जाए। उसे मालूम होना चाहिए कि हिंदू संगठन के वर्तमान को अधिक बलशाली बनाने के लिए उसके भूतकाल को कहाँ तक और कैसे उपयोग में लाया जाए। इस जानकारी के अभाव में संगठन का विघटन होने का खतरा बना रहता है। हमारे हिंदुत्ववाद की बौद्धिक पीठिका में एक ऐसा अध्याय जरूर होना चाहिए जिसमें हिंदू संगठनकर्ताओं को हिंदुस्थान के इतिहास के लेखन और पठन के बारे में आवश्यक जानकारी दी जाए। इस लेख में इसी संबंध में संक्षेप में कुछ प्राथमिक सूत्र दे रहा हूँ।

हर हिंदू संगठनकर्ता को हिंदुस्थान के वैदिक काल से आज तक के इतिहास का हिंदुत्व के विशिष्ट दृष्टिकोण से अध्ययन करना चाहिए। हममें से जो भी नेता, पत्रकार, अध्यापक, बौद्धिक वर्ग के संचालक या वक्ता हों उन्हें तो अपने इतिहास का विशेष ज्ञान होना ही चाहिए। हमें देव-दानव, देव-दैत्य, सुर-असुर,

आर्य-अनार्य के मध्य के द्वंद्वों का क्या अर्थ था उसे ठीक से समझ लेना चाहिए। उनमें युद्ध और संधि होते-होते उत्तरापथ और दक्षिणापथ का संपर्क किस तरह हुआ, वहाँ भी संघर्ष और समन्वय होते-होते—उत्तर की यक्ष, राक्षस, किन्नर, नाग, अहिप, भूत, तक्षक प्रभृति जातियाँ और दक्षिण की पौराणिक काल में उल्लिखित जातियाँ एक महान् भारतीय राष्ट्र में किस तरह समाविष्ट हुईं; महान् सम्राटों के कभी उत्तर की तरफ तो कभी दक्षिण की तरफ बढ़नेवाले साम्राज्यों के कारण इस राष्ट्र की संस्कृति में किस तरह उपजातीय संस्कृतियों, रहन-सहन की पद्धतियों, भाषा-उपभाषाओं का विकास हुआ और इन सबके अंतिम महामिलन से किस तरह एक महान् भारतीय संस्कृति उत्पन्न हुई, इसका हमें बारीकी से अध्ययन करना चाहिए। मनुस्मृति में विस्तार से आए वर्णनों से अनुलोम-प्रतिलोम पद्धति के सहस्राधिक विवाह होकर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के रक्तबीज एक-दूसरे में कैसे मिल गए, इतना ही नहीं, नई वन्य तथा अन्य जातियाँ जैसे-जैसे भारतीय राष्ट्र और संस्कृति में समाविष्ट होने लगीं वैसे-वैसे उनका आपस में रक्त संबंध भी किस तरह स्थापित होता गया। क्षत्रिय भीम ने राक्षसी हिडिंबा से, जिसका किसीने बहिष्कार नहीं किया, ऐसा विवाह रचाया। अर्जुन का मणिपुर के नागराज की राजकुमारी के साथ हुआ विवाह जैसे सुप्रसिद्ध उदाहरणों से अनुलोम तथा विशेषकर प्रतिलोम पद्धति के सहस्राधिक विवाहों से विभिन्न प्रकार के लोग रक्तबीज से भी किस तरह एक महत्तर राष्ट्र में एकरूप हुए। इन सबकी एक संस्कृति, एक राष्ट्रीय भाषा और एक राष्ट्रीयत्व का बोध किस तरह विकसित हुआ। आगे चलकर हमारे प्राचीन इतिहास के अर्वाचीन काल में हमपर ग्रीक, शक, हूण आदि परराष्ट्रियों ने हमले किए। उन्होंने तीन-तीन शतकों तक हमपर शासन किया, पर हमारी राष्ट्र-संस्कृति में बार-बार पराक्रमी, विक्रमी वीरों ने जन्म लिया और उन्होंने रणांगन में परकीय राजशक्तियों से लोहा लिया और उन्हें हराकर फिर से अपने साम्राज्य स्थापित किए। हमारे ये राष्ट्रवीर उन लाखों पराए जनों को अपनी संस्कृति, धर्म और भाषा के प्रभाव में ले आए और उन परकीयों को पचाकर, हजम कर भारतीय संस्कृति का, राष्ट्र का हिस्सा बना लिया। फिर आए मुसलमान। उनसे भी सात-आठ शतक निरंतर जूझते हुए उनकी साम्राज्य सत्ता को हम हिंदुओं ने रणांगन की मिट्टी में मिलाया। और फिर से 'हिंदू पदपादशाही' स्थापित की। यह वैदिक पूर्वकाल से लेकर ब्रिटिश सत्ता स्थापना तक का इतिहास हिंदू संगठनकर्ता इतिहास के विशेषज्ञ सांगोपांग और हिंदुत्व बोध से पढ़ें, उसके विशेषज्ञ बन जाएँ, उनपर ग्रंथ लिखें। प्रकाशन के साधन हाथ में आते ही वे प्रकाशित भी होंगे, पर तब तक कम-से-कम उसे लिख तो रखें ही।

पर इनमें से चुनिंदा कालखंडों पर छोटी, आकर्षक, संक्षिप्त पुस्तिकाएँ तो जल्द-से-जल्द छप ही जानी चाहिए। कुछ समय पहले 'धनुर्धारी' में इस तरह के छोटे, पर महत्त्वपूर्ण लेख लिखे जाते थे। स्वर्गीय वैद्यजी का 'रामचरित्र' या 'कृष्णचरित्र' अथवा श्री सरदेसाईजी की शिवाजी, संभाजी, बाजीराव की जीवनियाँ, अन्य देशप्रेमियों की संक्षिप्त जीवनियाँ, वसई का घेरा, श्रीहर्षचरित्र, चंद्रगुप्त, विक्रम की जीवनियाँ, चाणक्य के अमूल्य 'अर्थशास्त्र' का राज्य-स्थापना और राज्य प्रशासन के लिए लिखा गया लेख, चाणक्य के समय के समाज का मूर्तिमंत चित्र प्रस्तुत करनेवाले वर्णन, इस तरह की अद्यतन, पर संक्षिप्त ऐतिहासिक पुस्तकें छप जानी चाहिए। हिंदू संगठन के हर प्रचारक को ऐसी दिखने में छोटी, पर महत्त्व में बड़ी पुस्तकें पढ़नी चाहिए।

वेद पूर्वकाल और वेदकाल से लेकर आज तक जो-जो आर्य, अनार्य, यक्ष, राक्षस, भूत, पिशाच, शक, यवन, हूण आदि प्राचीन तथा अर्वाचीन, परकीय एवं स्वकीय जातियों की अति कुशलता से गढ़ा गया अटूट समन्वय और एकरसता अपने हिंदू राष्ट्र में दिखता है वह संसार के इतिहास में मानवी संगठन का एक विस्मयजनक उदाहरण है। भरतखंड की नाना छोटी-मोटी नद-नदियाँ सिंधुसागर से लेकर गंगासागर तक फैले हुए हिंद महासागर में जैसे मिल जाती हैं वैसे ही वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल तक नाना जातियों, उपजातियों, धर्मग्रंथों, प्रांतों के इकट्ठा होते-होते, एक-दूसरे में घुलते-मिलते हमारे वैदिक पूर्वजों ने जो ध्येय बनाया था वह अंत में प्राप्त कर आज तक हमारे हिंदू राष्ट्र की विशाल संस्कृति में परिणत हो गए हैं। जिसकी भी पितृभू और पुण्यभूमि यह आसिंधु सिंधु भरतभूमि हो, वही हिंदू है। चाहे हमारे पूर्वज आर्य हों या अनार्य, गौड़ हों या भल, ब्राह्मण हों या शूद्र, वैदिक हों या अवैदिक, जैन हों या बौद्ध, कायस्थ हों या द्रविड़, शैव हों या वैष्णव, आज हमसब राष्ट्रीय अर्थ से 'हिंदू' हैं। हमारे इस एकत्रित जीवन की व्याख्या एक ही शब्द से की जा सकती है। वह अनन्य शब्द है 'हिंदू'।

अगस्त्य ऋषि की अंजुली में समाए हुए महासागर की तरह दो अक्षरों से बने शब्द 'हिंदू' में तीस करोड़ लोगों का राष्ट्र समाया हुआ है।

इतनी दीर्घ कालावधि में एक-दूसरे के संपर्क में आए अनेक घटकों के राष्ट्रभेद, जातिभेद, धर्मभेद, भाषाभेद, संस्कारभेद मिटाकर उन्हें हिंदू राष्ट्र में एकात्म करने का महत्त्वपूर्ण कार्य हमारे पूर्वजों ने किया। उसके लिए उन्होंने शस्त्र और शास्त्र दोनों साधनों का प्रयोग किया। केवल विग्रह से विजित और विजेता के आधार पर वे एकात्म न हुए होते। केवल संधियों से वे जुड़ न पाते। समझाने से वे समझते नहीं या केवल एक-दूसरे को नष्ट कर सबका विनाश कर कोई एक

अवशिष्ट न रहता। संधि-विग्रह, शस्त्र-शास्त्र, समर-समन्वय ऐसी दोहरी नीति से ही छोटी टोलियों के उपराष्ट्र और उपराष्ट्रों से महान् राष्ट्र बनते हैं। सबके जाने-पहचाने छोटे से ब्रिटेन का ही उदाहरण लें। आरंभ के ड्र्यूइडस, ब्रिटंस, एंजल्स, सैक्संस, नार्मंस आदि-आदि जातियों में लड़ाई-कलह, सुलह होते-होते अंत में इस भूभाग के तीन बड़े भाग शेष रहे। स्कॉटलैंड, इंग्लैंड और वेल्स। इनमें भी आज लड़ाई तो कल सुलह, कुछ धर्म के प्रेमबंध से तो कुछ राजनीतिक सिफारिश से, कुछ शरणागति से, कुछ लेन-देन जैसी दीर्घकालीन प्रक्रिया के बाद अंत में वह एक सबल राष्ट्र बना। उसमें भी धार्मिक, राजवंशीय, पक्ष-विपक्षीय आदि कारणों से कई बार लड़ाई हुई। अंत में आज बाह्य स्थितियों के दबाव के अंतर्गत एकराष्ट्रीयत्व की भावना का विकास, सबके राजनीतिक एवं अन्य हित संबंध और प्रभाव आदि केवल अपने राष्ट्रीय एकता के आधार पर ही टिके हैं, यह दृढ़ अनुभव होने से ब्रिटेन राष्ट्र के रूप में एकरूप, एकप्राण हो गया है। इसमें आयरलैंड को सम्मिलित करने का अत्यधिक प्रयास हुआ, पर वह अभी तक सफल न होने से ब्रिटेन अभी तक ग्रेट-ब्रिटेन नहीं बन पाया है। पर समन्वय की यह प्रक्रिया अभी भी जारी है। अगर ब्रिटेन जैसे केवल चार-पाँच करोड़ जनसंख्यावाले राष्ट्र की मूल कथा यह है तो भरतखंड जैसे विस्तीर्ण भूभाग में रहनेवाले तीस करोड़ लोगों के इस महान् 'हिंदू राष्ट्र' की एकरूपता की प्रक्रिया की कहानी राष्ट्रनिर्माण प्रक्रिया से अलग कैसे हो सकती है?

हिंदू राष्ट्र का इतिहास लिखते समय यही बाधा हर हिंदू संगठन के अभिमानी लेखक के सामने आ खड़ी होगी। पर हर इतिहास लेखक का आद्य कर्तव्य है कि वह अपना आद्य कर्तव्य पूरा करने में टाल-मटोल न करे। इतिहास पूरी तरह इति-ह-आस ऐसा ही लिखे। वर्तमान पर उसका क्या परिणाम होगा इसकी चिंता इतिहास लिखते समय वह न करे।

हर एक कालखंड की ऐतिहासिकता की कसौटी पर खरी उतरी सत्य जानकारी को उसी तरह लिख देना चाहिए। राष्ट्र एकता की प्रक्रिया करते-कराते उपर लिखी हुई जो अपरिहार्य प्रक्रिया है उसमें से अन्य किसी भी राष्ट्र की तरह ही हिंदू राष्ट्र को भी जाना अपरिहार्य ही था। हमारे राष्ट्र पर अनेक परकीयों ने आक्रमण किए। हमें उनसे कई शतकों तक लड़ना पड़ा। कभी-कभी आंतरिक लड़ाइयाँ भी होती रहीं। कभी धार्मिक मतभेदों ने भी उग्र स्वरूप धारण किया। जिस तरह हम हिंदू राष्ट्र के बड़े-बड़े सम्राटों के वैभवशाली राजकार्य का या हजारों गौरवशाली घटनाओं का गर्व से यथातथ्य वर्णन करते हैं, उसी तरह हमारे इतिहासकारों को अवांछनीय घटनाओं का भी सच्चाई से वर्णन करना चाहिए। उदाहरणार्थ,

इतिहासकार अपने को भले ही आर्यवंशीय समझता हो, उसे पहले के अनार्यों के साथ लड़े गए युद्धों या बड़े-बड़े अनार्य राजाओं, तत्त्वज्ञों और वीरों का यथावत् वर्णन करना ही चाहिए; क्योंकि आज हम आर्य या अनार्यों का पक्षपाती इतिहास न लिखकर 'हिंदू राष्ट्र' का इतिहास लिख रहे हैं। और इस हिंदुत्व में पहले के सारे आर्य-अनार्य आदि वंश और उनकी कुल-कथाएँ सम्मिलित हैं, एकजीव हो गई हैं। कोई इतिहासकार वैदिक धर्म का अभिमानी हो सकता है, पर इसीसे वह वैदिक धार्मियों और अवैदिक बौद्धों या जैनधर्मियों के विग्रह का वर्णन करते समय वैदिक धर्मियों का पक्षपाती न हो, न ही उन विग्रहों की बात भी छिपाए। कभी-कभी बौद्धों ने परराष्ट्रों को भारत पर आक्रमण करने के लिए बुलाया। कभी ऐसे आक्रमणों में विदेशियों का साथ दे स्वदेश स्वातंत्र्य गँवाने का राष्ट्रद्रोह भी किया। बौद्ध धर्म के भारत से पूरी तरह उखड़ने के कारणों में धार्मिक मतभेदों से कहीं अधिक, बौद्ध अनुयायियों में पनपी यह स्वराष्ट्रद्रोही वृत्ति ही अधिक कारण हुई। आखिर ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि ने बौद्धधमिर्यों का नाश कर विदेशियों के साम्राज्यों को मिटा डाला और इस तरह स्वदेश स्वतंत्र हुआ। इसके विपरीत हमारे इन्हीं बौद्ध, जैन प्रभृति देशबांधवों ने हमारे 'हिंदू राष्ट्र' के प्राचीन वैभव, पराक्रम, तत्त्वज्ञान, साहित्य आदि की वृद्धि में अमूल्य योगदान दिया। अहिंसक जैनों ने रणांगन में शत्रुओं से सशस्त्र युद्ध किए और अपने राज्य स्थापित किए और प्रतिकार के लिए हिंसा करना, न्याय रक्षण के लिए शस्त्र धारण करना पाप नहीं बल्कि पुण्य है—यह दिखाकर उन्होंने अहिंसा की उचित मर्यादा का प्रतिपादन किया। वैदिक और अवैदिक दोनों एक ही आर्यकुल के, एक ही रक्तबीज के अंकुर थे। भगवान् बुद्ध और भगवान् महावीर दोनों ही क्षत्रिय कुल में जनमे थे। कभी वैदिक-वैदिकों में विग्रह हुआ, कभी अवैदिक-वैदिकों में तो कभी अवैदिक-अवैदिकों में। जैनों में भी आपसी मतभेद, कलह होते थे। शैव-वैष्णव दोनों ही वैदिक हैं, पर कभी-कभी इनमें भी अच्छा-खासा विवाद और भिड़ंत होती थी।

यही बात हमारे इतिहास के सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक और आर्थिक क्षेत्रों पर भी लागू होती है। स्वाभिमानी लेखक गौरव के इतिहास को स्वाभाविक उत्साह से यथावत् लिखता है, पर अपने इतिहास के दोषास्पद, आंतरिक कलहों और पराजय के वृत्तांतों को लिखते समय उसे उन्हें छोड़ देने, टालने या सत्य-असत्य की मिलावट करने का मोह होता है। पर हिंदू संगठनकर्ता इतिहासकार हर काल की वस्तुस्थिति को यथावत् लिखें। इतिहास के सत्य स्वरूप को छिपानेवाले एक हास्यास्पद प्रयास का उदाहरण देखना ही हो तो गांधीजी के विक्षिप्त दिग्दर्शन के अनुसरण में कुछ कांग्रेसी लोगों ने जो पोथी लिखी है उसे देखना चाहिए। उसमें

औरंगजेब, अलाउद्दीन जैसे सैकड़ों मुसलमान सत्ताधीशों द्वारा हिंदुओं पर किए गए अत्याचारों का या उनकी धर्मांध क्रूरता का उल्लेख भी नहीं है। उस पोथी में मुसलमानी धर्म, सत्ता, सभ्यता कितनी निष्कलंक, न्यायशील और महान् थी तथा हिंदुओं से मुसलमान नवाब, शाह और बादशाह कितनी अच्छी तरह से पेश आते थे, यह दिखाने का मूर्खतापूर्ण प्रयास किया गया है। हिंदू और मुसलमान इन दो धर्मों और राष्ट्रों में एक प्राणांतक एवं शतकव्यापी भयंकर युद्ध हो रहा था और आखिर हिंदुओं ने मुसलमानी साम्राज्य को चकनाचूर कर दिया, इस सत्य का नाम-निर्देश भी नहीं है।

पर क्या इस तरह का झूठा इतिहास लिखने से हिंदू-मुसलमानों का वैर नष्ट होगा? जब तक ऐसे इतिहास को पढ़नेवाले हिंदू पाठकों को रोज समाचारपत्र खोलते ही मालाबार के दंगे या पाकिस्तान परिषद् की खबर पढ़नी पड़ती है, जब तक मुसलमान कबीले सीमा प्रदेश में रहनेवाले हिंदुओं के घर उजाड़ रहे हैं, जला रहे हैं तब तक बिहारशरीफ जैसे दंगों को उकसानेवाले मुसलमानों को हिंदू संगठन के फुरतीले लोग जरूर डराएँगे, धमकाएँगे; भाग्यनगर (हैदराबाद) पर हिंदुत्वनिष्ठ स्वयंसेवक धावा बोलेंगे ही। पर मान लीजिए कि हिंदू समाज की संगठित शक्ति के कारण या अन्य कारणों से यदि मुसलमान यह सोचने लगे कि हम अल्पसंख्य होने से अल्पशक्ति हैं, इसलिए हमें इस देश के उदारमना हिंदू बांधवों के साथ भाईचारे से रहना चाहिए तो क्या मराठा सैन्य दल यह सोचकर उनपर बार-बार हमले करेंगे कि भूतकाल में कभी एक बार हिंदू-मुसलमानों की लड़ाई हुई थी? नहीं, कभी नहीं। सुलह होते ही महीने भर की अवधि में महायुद्ध भी समाप्त होते हैं और उस युद्ध में उलझे राष्ट्रों में शांतिपूर्ण व्यवहार शुरू होता है। आज रूस जर्मनी का मित्र है तो कल शत्रु। राष्ट्रों में संधि-विग्रह इसलिए नहीं होते कि इतिहास की पुनरावृत्ति करने में किसीको मजा आता है। आज के व्यवहार चलते हैं, आज की स्थिति में राष्ट्र के लिए क्या अनुकूल है, क्या प्रतिकूल है, इसका विचार कर। आज स्कॉटलैंड, इंग्लैंड, वेल्स—इन प्रदेशों को मिलाकर ब्रिटेन एक अटूट एकरूप राष्ट्र है। पर इसी कारण वहाँ के किसी ग्रंथालय या पाठशाला में, स्वतंत्रता के लिए लड़े हुए उनके आपसी युद्ध, धर्मयुद्ध, वाक्युद्धों का सविस्तार वर्णन देनेवाले इतिहास का बहिष्कार नहीं किया जाता, उन्हें जला नहीं डाला जाता या उनके बारे में पढ़कर, पाठशाला खतम होते ही पाठशाला से बाहर आनेवाले इंग्लिश, स्कॉच या वेल्स छात्र एक-दूसरे के सिर नहीं फोड़ने लगते। इसका कारण यह है कि इतिहास पढ़ाते समय उन्हें यह भी सिखाया जाता है कि इतिहास को पढ़ा कैसे जाए, उसका व्यवहार में कैसे उपयोग किया जाए और अपनी उन्नति के लिए उसका तात्पर्य कैसे निकाला जाए।

इसीलिए आपसी युद्धों के सत्य वृत्तांत पढ़ने के बाद भी आज का अटूट ब्रिटिश अपना राष्ट्रगीत ब्रिटेन के झंडे तले खड़े होकर एक स्वर से गाते हैं—'Rule Britania! Britania rules the waves! Britains never shall be slaves!'

जो लोग यह समझते हैं कि इतिहास को इसलिए नहीं लिखा जाना चाहिए क्योंकि पिछली पीढ़ियों के वैर की सच्चाई समझने से इस पीढ़ी के लोग भी एक-दूसरे के वैरी बन जाएँगे तो वे नासमझ हैं। उनकी मोटी समझ में यह बात नहीं आती कि कागज पर लिखे इतिहास को हम फाड़ भी डालें, पर वह पत्थरों पर भी खुदा होता है और उन पत्थरों को चूर-चूर करने पर भी इतिहास का सत्य अटूट ही रहता है। वह रचा-बसा रहता है भाषा में, मुहावरों में, रीति-रिवाजों में। वह जातीय स्मृति के कोश में जीता-जागता रहता है। वह विराजता है आकाश में उठे स्तूपों पर, जहाँ तक मूर्तिभंजकों के हाथ नहीं पहुँचते। या किसी भूगर्भ की गहराई में, मोहेंजो-दड़ो जैसे पाताल मंदिर में। ये ग्रंथालय सहस्राधिक वर्षों तक अभंग रहते हैं।

सत्य को यथासंभव गले लगाकर कुशल इतिहासकार को इतिहास, विशेषत: हमारे हिंदू राष्ट्र के इतिहास को ऐसे कालखंडों में विभाजित करना चाहिए जिससे कि पाठक सहजता से समझ सकें कि क्रमश: हमारी हिंदू जाति का संगठन, उसकी व्यापकता, गौरव और प्रभाव बढ़ता ही गया है। यह पाठक की समझ में सहज आ जाए। हमारे हिंदू राष्ट्र का इतिहास है ही ऐसा कि हर बड़े बाह्य या आंतरिक संकट में से हमारा हिंदू राष्ट्र ग्रहणमुक्त सूर्य की तरह जब-तब अधिक तेजस्वी होकर बाहर आया है। हर बार वह संख्याबल, गुणबल, पराक्रम, वैभव में अधिक शक्तिशाली, विशाल और सतेज होकर निखरा है।

कुशलता से विभाजित इन कालखंडों के अंत में उस काल में अन्य देशों की क्या स्थिति थी इसका भी दिशानिर्देश किया जाए। इससे तुलनात्मक दृष्टि से हिंदू राष्ट्र की श्रेष्ठता को समझा जा सकता है। जिन हूणों ने पूरे यूरोप को जीत लिया, रोमन साम्राज्य को धूल में मिलाया उन्हें आखिर नेस्तनाबूद किया हिंदू राष्ट्र ने। हिंदू राष्ट्र ने उन्हें नर्मदा के नीचे दक्षिण में आने ही नहीं दिया। वे पूरे भारतवर्ष को देख तक न सके। यही बात मुसलमानों की है। उन्होंने अरब, सीरिया, ईरान, इराक, अफ्रीका, मुगल, तातार, तुर्क सभी को मुसलमान बना दिया, पर सात शतक जूझते रहने पर भी हिंदुस्थान हिंदुस्थान ही रहा। उनके विषैले आक्रमण की लहर को आखिर रोका, समाप्त किया तो हिंदू राष्ट्र ने ही। उनके राज्य को समाप्त कर अपना स्वत्व सुरक्षित रखा हिंदू राष्ट्र ने ही। अन्य प्राचीन राष्ट्रों ने मुसलमान आक्रमणों से क्षत-विक्षत होकर दम तोड़ दिया। वे सब मुसलमान हो गए। खाल्डियन, बेबिलोनियन, ग्रीक, रोमनों से लेकर मुसलमान आदि राष्ट्रों के संक्षिप्त इतिहास देकर हर कालखंड

के समारोप में इस तरह की तुलना दी जाए।

आसिंधुसिंधु भरतखंड में फैलने के बाद और भरतखंड को एक राष्ट्र में परिणत करते समय हमारे हिंदू राष्ट्र की वैदिक और अवैदिक दोनों शाखाओं ने बहुत बड़े पैमाने पर धार्मिक दिग्विजय की। हमारे बुद्ध, जैन, शैव, वैष्णवादि हिंदू प्रचारकों ने हमारी हिंदू संस्कृति का ध्वज साइबेरिया, चीन, थाइलैंड से मैक्सिको तक फहराया। धार्मिक दिग्विजयों की तरह हिंदू राष्ट्र ने हिंदू महासागर पार कर राजनीतिक दिग्विजय भी प्राप्त की। उन्हें भी हिंदू राष्ट्र के इतिहास के उन कालखंडों में एकत्र बताया जाना चाहिए। कलिंग, आंध्र, पांड्य आदि राजवंशों ने अपने हिंदू राज्य थाइलैंड से इंडो-चायना (हिंद-चीन) और फिलिपाइंस तक प्रस्थापित किए। कश्मीर के ललितादित्य आदि राजाओं ने तातारों को दंड देने के लिए तातरी पर आक्रमण किए थे। राजपूतों ने बल्ख-बुखारा तक हमले किए थे। नेपाल ने तिब्बत को पराजित किया था। हमारा व्यापारिक नौकायन अरब, इजिप्ट से लेकर अफ्रीका के केप ऑफ गुड होप तक होता रहता था। अरब, अफ्रीका में बड़े-बड़े हिंदू राज्य थे। हिंदू राष्ट्र के इतिहास में कालक्रम के अनुसार बृहत्तर भारत का यह इतिहास भी दिया जाना चाहिए।

हमारे करोड़ों हिंदू बांधवों को हिंदू राष्ट्र के हिंदुस्थान के बाहर की इन धार्मिक एवं राजनीतिक दिग्विजयों और साम्राज्यों की जानकारी नहीं है। सामान्य जनता को कुछ पौराणिक कथाएँ मालूम हैं, पर उनमें छिपा ऐतिहासिक सत्य उन्हें मालूम नहीं। प्रचारकों के लिए इस बृहत्तर भारत के इतिहास पर आधारित छोटी-छोटी और रोचक पुस्तकें लिखी जानी चाहिए। हर हिंदू युवा को थाइलैंड का हिंदू राज्य, चीन-जापान में बौद्धधर्म का प्रसार आदि पर पुस्तकें उपलब्ध होनी चाहिए।

इतिहास को कैसे पढ़ा जाए?

आज की स्थिति में हिंदू संगठन की दृष्टि से हिंदू राष्ट्र का सही इतिहास कैसे लिखा जाए—यह बताने से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है यह बताना कि इसे कैसे पढ़ा जाए? हिंदू राष्ट्र का इतिहास हाथ में उठाते ही पाठक के मन में यह भावना जाग्रत होनी चाहिए कि यह मेरे अखिल हिंदू जाति का इतिहास है। यह इतिहास न केवल ब्राह्मणों का है, न केवल जैनों का, न लिंगायतों का, न आर्यों का, न द्रविड़ों का, न बंगाल का, न गुजरात का। पूर्व में वर्णित वह इतिहास आज इन सबके व्यक्तित्वों में विलीन हो गया है। वह सारे प्राचीन-अर्वाचीन घटकों से बना संघटित, एकरूप 'हिंदू राष्ट्र' का इतिहास है। इसके गुण-दोष, मान-अपमान अब हम हिंदू मात्र की सामाजिक संपत्ति हैं। पहले प्रांत-प्रांत के अलग-अलग राज्य थे, पर अब

उन सबसे मिलकर एक अनन्य, एकमेव राष्ट्र बना है जिसका नाम है हिंदुस्थान। अखंड हिंदुस्थान। यह एक अविभाज्य देश है। यह हम सबकी पितृभू और पुण्यभू है। सिखों का अमृतसर, वैदिकों की काशी, बौद्धों की गया, हमसब हिंदुओं के समंवित और एक समान तीर्थ हैं। हमारे भूतकालीन भिन्न-भिन्न उपराष्ट्रों की जाति-गोत्र एवं पंथों का आसिंधुसिंधु व्याप्त फैलाव व्यक्त होता है एक 'हिंदू' शब्द में। हमारे भूतकालीन छोटे-मोटे उपराष्ट्रों और राज्यों का केवल एकीकरण नहीं, एकजीवीकरण होकर यह 'हिंदू राष्ट्र' प्रकट हुआ है।

मन में यह सामाजिक भावना प्रदीप्त कर ही हिंदू राष्ट्र का यह वास्तविक इतिहास पढ़ना चाहिए। वैसे ही यह बात भी हमेशा स्मरण रखनी चाहिए कि यह इतिहास है। भूतकाल में जो-जो घटा है उसे इसमें यथावत् और यथाप्रमाण लिखा गया है। आज क्या होना चाहिए इसका उत्तर भूतकाल नहीं देगा। उसे तो हमें वर्तमान में ढूँढ़ना चाहिए। अतीत में भी हमारे पुरखों ने विभिन्न परिस्थितियों में जो सही लगा वही किया। आज की धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक स्थिति भिन्न हो तो धार्मिक, सामाजिक या राजनीतिक प्रश्नों में हिंदू राष्ट्र के हित के लिए जो अनुकूल हो, वही आचरण हमें करना चाहिए। विगत कालखंड में हमारे आपस में कुछ धर्म-कलह हुए होंगे। जैनों ने बौद्धों के साथ और ब्राह्मणों ने क्षत्रियों के साथ वाक्कलह या युद्ध किए होंगे या कभी ब्राह्मण-क्षत्रिय शक्तियाँ एक होकर वैदिक मत बनकर अवैदिकों से लड़ी होंगी। उस समय उत्तर सम्राट् श्रीहर्ष और दक्षिण सम्राट् पुलकेशिन ने एक-दूसरे पर आक्रमण किया होगा, पर इसीसे कोई भी भूतकाल के गड़े मुरदे आज उखाड़ना नहीं चाहेगा। आज अन्याय और अवास्तव लगनेवाली रूढ़ियाँ और जाति-धर्म उन अतीत के कालखंडों में अति आवश्यक या अपरिहार्य तथा उपकारक भी हुए होंगे। पर क्या इसीसे उन रूढ़ियों और जाति-धर्मों का पालन आज भी करना चाहिए? हिंदू राष्ट्र के एकीकरण और प्रकटीकरण की महान् प्रक्रिया हमारे पूर्वजों ने सैकड़ों वर्षों से जारी रखी थी। हिंदू राष्ट्र के संगठन के लिए हमारी पुरानी अस्पृश्यता, जन्माधिष्ठित जातिभेद आदि रूढ़ियाँ हानिकारक हैं इसलिए हमें उनमें उचित परिवर्तन करना चाहिए। जिस कालखंड में कुछ धार्मिक तथा अधिकतर राजनीतिक और राष्ट्रीय कारणों से बौद्धधर्म और वैदिक धर्म में लड़ाइयाँ हुईं, उनमें आखिर बौद्धों की पराजय हुई। इस तरह बौद्धों के कारण भारतवर्ष पर जो राष्ट्रीय संकट आनेवाला था, वह दूर हुआ। इसके बाद के कालखंड में हिंदू राष्ट्र की समन्वय प्रक्रिया में, उसी भगवान् बुद्ध को भगवान् विष्णु का दसवाँ अवतार मानकर सम्मानित किया गया। इसीलिए हिंदू संगठनकर्ता को हिंदू राष्ट्र का वह इतिहास समन्वय की दृष्टि से पढ़ना चाहिए। वर्तमान काल का चश्मा

लगाकर वह भूतकाल की आलोचना न करे। जिस कालखंड में जो विशिष्ट घटना घटी थी, उस कालखंड में समाज रचना भिन्न थी, स्थिति भिन्न थी। अतः उसका निरीक्षण उस काल की परिस्थिति के प्रकाश में ही किया जाए। उन समाज-रचनाओं या घटनाओं के अच्छे-बुरे या अपरिहार्य होने न होने तथा उनके मूल्यमापन की कसौटी होनी चाहिए तत्कालीन परिस्थिति, न कि आज की परिस्थिति। इसी तरह आज की स्थिति को देखते हुए आज क्या करना चाहिए और क्या नहीं, इसे तय करना चाहिए। यह चेतावनी हर हिंदू संगठनकर्ता इतिहासकार को अपने ग्रंथ के समापन पर उपयुक्त विधि से देनी चाहिए। किसी धर्मपंथ में पहले संघर्ष हुए होंगे या किसी उपजाति के किन्हीं लोगों या गुटों ने उस काल की परिस्थिति में कभी निंद्य विचार प्रणाली को अपनाया होगा। इसीसे उस पूरी उपजाति या पंथ को निंदनीय समझना सर्वथा प्रशंसा के अयोग्य है। आज की स्थिति में जो निंद्य या देशघातक हो उसीको और सिर्फ उसीको त्याज्य समझना चाहिए। आज जो देशहितकारक है वही आचरणीय है। भूतकालीन ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख करते समय भी इसका ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि अपने कलह का कोयला हम कम-से-कम घिसें और उन्हीं घटनाओं का अधिक उल्लेख हो जिससे हमारा हिंदू संगठन का कार्य मजबूत हो; हिंदुओं की परस्पर प्रीति, सहयोग और एकराष्ट्रीयता की भावना में वृद्धि होती हो। इसी तरह जो हम सबके लिए गौरवास्पद हो ऐसी राष्ट्रोपकारक बातों का ही आज के लेखों में उल्लेख हो। अपरिहार्य परिस्थिति में ही हमारे भूतकालीन कलहों का उल्लेख हो और वह भी इस तरह से कि किसीका मन न दुखे। पुनरुक्ति का दोष स्वीकारते हुए भी यह स्पष्ट किया जाए कि गतकाल की उस घटना का उल्लेख इसीलिए किया गया है कि वह गलती हमारे हाथों से फिर से न हो। आज हमसब हिंदू हैं और हिंदू राष्ट्र में विलीन हुए हैं और उन सारे विघटनकारी वादों को हमने फिर कभी न दोहराने के लिए पीछे छोड़ दिया है।

□

शिव छत्रपति की जयजयकार

रथस्यैकं चक्रं भुजगयमिताः सप्त तुरगाः।
निरालंबो मार्गश्चरणहितः सारथिरपि॥
रविर्यात्येवान्तं प्रतिदिनमपारस्य नभसः।
क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे॥

छत्रपति शिवाजी महाराज का जन्म ऐसी स्थिति में हुआ था कि उन्होंने जो कार्य प्रत्यक्ष किए सामान्य मानव उसकी कल्पनां भी नहीं कर सकता था। उपर्युक्त श्लोक में निहित 'क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे' जैसे सनातन सिद्धांत को सिद्ध करने के लिए कवि ने सूर्य, मदन आदि तीन महान् तत्त्वों के उदाहरण देकर तीन श्लोकों में समस्या पूर्ति की है। इस कवि के समय़ अगर शिवाजी महाराज या उनकी जीवनी अस्तित्व में होती तो उपर्युक्त सूर्य का उदाहरण और तत्सदृश मदन आदि के तीन उदाहरणों के बदले वह एक शिव छत्रपति का ही उदाहरण देता; शिव छत्रपति का काम इतना कठिन था। आज तक के विश्व इतिहास में सामान्य बुद्धि और सामान्य शक्ति को असंभव लगनेवाले कुछ अपूर्व कार्य अलौकिक मानवों ने कर दिखाए हैं। श्री शिव छत्रपति का कार्य वैसी ही अलौकिक कोटि में आता है। आज तक कई लोग यह सोचते हैं कि शिवाजी का स्वराज्य स्थापना का काम इतना अधिक कठिन न था। विनाश के कगार पर खड़े बीजापुरकरों और उनकी अंदर से खोखली सत्ता से जूझकर शिवाजी ने सह्याद्रि के एक कोने में एक छोटा सा राज्य स्थापित किया था। पर इसमें कौन सी बड़ी बात थी कि जिसके लिए उनकी इतनी अधिक प्रशंसा की जाए!

पर इस तरह की टीका-टिप्पणी करनेवाले लोग पहले तो इतिहास की कोई जानकारी नहीं रखते या फिर किसी स्वार्थ के कारण ही वे इस तरह की बातें लिखते या दूसरों को सिखाते हैं। इसलिए जो लोग शिवाजी महाराज का सही इतिहास

जानना चाहते हों, उन्हें चाहिए कि वे इस अंधपरंपरा और दूसरों पर विश्वास करने की बुद्धि को छोड़कर श्री शिव छत्रपति की जीवनी और कार्य को अपनी स्वतंत्र बुद्धि से देखें और परखें। शिवाजी महाराज के कार्य की महानता की कल्पना सिर्फ दादोजी कोंडदेव और मालोजी तक की परंपरा को जानकर नहीं हो सकती। शिवाजी महाराज के कार्यों का सही आकलन केवल भोंसले कुल का इतिहास जानकर नहीं हो सकता। वह कार्य और उसका महत्त्व जानने के लिए पहले हिंदू जाति और हिंदुस्थान ने दाहिर से लेकर पृथ्वीराज तक परकीय आक्रमणों का प्रतिकार करने का प्रयास किस तरह किया और पृथ्वीराज के पतन के बाद हिंदुत्व की रक्षा के लिए अलग-अलग स्थानों पर किस तरह अनंत लड़ाइयाँ लड़ीं उसका इतिहास भी देखना पड़ेगा। मुसलमानों का पहला आक्रमण ईसवी सन् की सातवीं-आठवीं सदी में सिंध देश पर हुआ था। तब से लेकर बारहवीं सदी के अंत तक अर्थात् लगभग छह सौ साल तक मध्य एशिया और ईरान-अफगानिस्तान के मुसलमानों ने कुछ धर्मांधता से, कुछ राज्य लोभ से, कुछ लूटपाट या केवल पेट भरने के लिए हिंदुस्थान पर एक के बाद एक कई हमले किए। इन सब हमलों का अंतिम लक्ष्य था हिंदुस्थान की हिंदू सत्ता को नामशेष कर वहाँ यवनों का चाँद चमकाना। लगातार छह सौ वर्षों तक हिंदुओं ने मुसलमानों से लोहा लिया। आखिर छह सौ सालों के इन स्वरक्षक युद्धों के अंतिम परिणाम के रूप में सन् ११९३ में हिंदुस्थान की सार्वभौम मानी गई दिल्ली की सत्ता भी नामशेष हुई। हजारों सालों से अखंड स्वातंत्र्य, अखंड स्वराज्य और अखंड सुख का उपभोग करनेवाले और उन्हींके अतिरेक से विघटित, आलसी और सुखलोलुप हुई हिंदू जाति के लिए यवनों का यह आक्रमण प्राण संकट ही था। सन् ११९३ में पृथ्वीराज पराजित हुआ और उसके बाद केवल एक सौ वर्षों के भीतर.पूरा उत्तर हिंदुस्थान यवनमय हो गया और कुछ एक अपवादों को छोड़, काल तक को ललकारनेवाले सारे-के-सारे राजपूत सूरमाओं के राज्य ताश के पत्तों की तरह यवन सत्ता के सामने ढह गए। इसके सौ साल बाद ही विंध्य पर्वत के नीचे, दक्षिण हिंदुस्थान में यादवों का प्रबल राज्य चुटकी भर में मटियामेट हो गया। इसके कुछ ही साल पश्चात् इसलाम के तूफानी वेग से बढ़ते घोड़ों ने रामेश्वरम् तक की उड़ान भरी। यह वह समय था जब यह प्राचीन हिंदू संस्कृति और हिंदू जाति के प्राण उखड़ने ही वाले थे। ऐसा ही समय बलाढ्य रोम एवं ऐसे ही अन्य वैभव-संपन्न राष्ट्रों पर भी आया था। विनाश के रथ के नीचे वे कुचले गए और धरती से उनका नामोनिशान तक उठ गया। बारहवीं सदी से हिंदू जाति इसी दुष्चक्र से गुजर रही थी। जैसे नियंत्रण खो देने के कारण गाड़ी ढलान से तीव्र गति से फिसलने लगती है वैसे ही हिंदू जाति मानो वैभव शिखर से फिसलती

हुई अंतिम विनाश के खुले मुँह में गिरने जा रही थी। सारे बड़े-बड़े हिंदू राज्य तो नामशेष हो ही गए थे। परंतु फिर भी कुछ काल तक हिंदू स्वातंत्र्य का दीप, विजयनगर के साम्राज्य के रूप में छोटे से क्षेत्र में ढाई सौ वर्षों तक प्रकाशित हो रहा था। वह भी तालकोट के रण में हिंदू जाति की दुर्भाग्य की आँधी में बुझ गया। तब से हिमालय से रामेश्वर तक और सिंधु नदी से ब्रह्मपुत्र तक पूरे हिंदुस्थान में परतंत्रता का, निराशा का, हताशा का गहरा अंधकार फैल गया और हिंदुस्थान उस घर की तरह उदास, डरावना और सूना लगने लगा जिसमें से अभी-अभी शव निकाला गया हो। काशी का विश्वेश्वर और अयोध्या का राम तक का स्थान भ्रष्ट होकर अपमानित हो गया था और टोडरमल की राजकार्य धुरंधर बुद्धि, राजा मानसिंह का अजेय शौर्य, तानसेन का स्वर्गीय गायन और पंडित जगन्नाथ की गाढ़ी विद्वत्ता तथा मनमोहक कविता अर्थात् हिंदुओं की सद्‌गुणमलिका परकीयों के पाँव की दासी बन गई थी। य:कश्चित् मनुष्य के दिल्ली की मुसलमानी गद्‌दी पर बैठकर 'दिल्लीश्वर' बनना ही प्रत्यक्ष जगदीश्वर लगने लगा था। इसीसे वह 'जगदीश्वर' को अपवित्र करने का साहस जुटाने लगा। और निर्लज्जता से जगदीश्वर के चरणों पर अपना मान, अपना सम्मान, अपना तन, अपना धन ही नहीं अपनी पत्नी तक को अर्पण करने की हीनवृत्ति उस समय के उत्तम गिने जानेवाले हिंदू समाज के श्रेष्ठ व्यक्तियों ने भी निर्लज्जता से स्वीकार की थी। संक्षेप में यह कह सकते हैं कि हिंदू जाति स्वाभिमानहीन, मृतप्राय हो गई थी।

हिंदुस्थान भर के भाग्यहीन हिंदुओं को हर क्षण यही पुकार सुनाई देने लगी कि 'धरती भ्रष्ट हुई, धर्म विनष्ट हुआ'। पर संतप्त हृदय की इस करुण पुकार को सुन धरती को, धर्म को बचाने की सामर्थ्य किसी भी हिंदू में न थी। इस समय के हिंदू युवकों को आकांक्षा थी तो केवल सरदार बनने की, सिपहसालार बनने की, यावनी सिंहासन को सलाम करने की। इधर हिंदुओं की हीन-दीन अवनति हो रही थी तो उधर मुसलमानों के ऐश्वर्य की, सत्ता और पराक्रम की कमान दिनोदिन तनती जा रही थी। उत्तर हिंदुस्थान में तो मुगल बादशाह की सत्ता अप्रतिहत रीति से स्वर्ग में इंद्र जैसी प्रबल हो ही गई थी, दक्षिण हिंदुस्थान में भी बहमनी राज्य का विस्तार हो गया था और वह पाँच प्रबल शाखाओं में फैल गया था।

आशा की किरण कहीं भी दिखाई नहीं दे रही थी। निराशा ने हिंदू लोगों के मन पर इतनी गहरी छाया डाली थी कि अहमदशाही और निजामशाही का सिंहासन अपने पराक्रम से जीतने पर भी शाहजी का मन उसपर बैठने को न हुआ। आखिर मुसलमानी बादशाह के एक छोटे से बच्चे को गोद में लेकर ही वे सिंहासन पर बैठ सके। हिंदू जाति आत्मवंचना, निराशा और अवनति की गर्त में फँसी हुई थी।

सत्रहवीं सदी भी इसी निराश, हताश स्थिति में प्रारंभ हुई और इसी समय शिवराय का जन्म हुआ। साधारण तो क्या, असाधारण दृष्टि को भी तब स्वराज्य की, हिंदवी राज्य की स्थापना मृगजल की तरह असंभव लगती थी। चारों ओर निराशा का ही वातावरण था। फिर भी कुमार अवस्था में ही शिवराय के मन में स्वराज्य स्थापना के, हिंदवी साम्राज्य के गगनगामी गंभीर विचार आए। उनकी महानता इसी बात में है। तेरहवें वर्ष की आयु में सामान्य बालक अँधेरे में अकेले जाने से भी कतराते हैं। ज्ञान का श्रीगणेश करने में भी असमर्थ होते हैं। इसी आयु में शिवाजी पारतंत्र्य के देशव्यापी गहन अंधकार का उच्छेद करने के लिए उसमें कूद पड़े और उन्होंने अपने साथियों को स्वतंत्रता प्राप्ति के दिव्य पाठ पढ़ाना शुरू किया। 'प्रतिपच्चंद्ररोव वर्धिष्णुर्विश्ववंदिता। शाहसूनो: शिवस्यैषा मुद्रा भद्राय राजते।' इस महान् महत्त्वाकांक्षा से जिनके जीवन का लक्ष्य तेरहवें वर्ष में ही निश्चित हुआ, वे शिवाजी महाराज निस्संदेह ही असामान्य, अलौकिक थे।

इसलिए शिवाजी के कार्य का मूल्यमापन उनके पिता शहाजी, दादा मालोजी की परंपरा देख या भोंसले कुल का इतिहास देखकर ही नहीं किया जा सकता। उससे भी पहले की हमारी अनेक सदियों की परंपरा और हिंदुओं के अनंत कुलों का इतिहास हमें उसके लिए जान लेना चाहिए। तभी शिवाजी की अद्‌भुतता हमारे ध्यान में आएगी। एक यह भ्रम भी फैलाया जाता है कि बीजापुर के बादशाह की बादशाहत तो खत्म ही होने को आई थी और ऐसी डाँवाँडोल स्थिति में शिवाजी ने 'अपनी गुंडई दिखाई तो उसमें क्या शूरता की?' पर यह सर्वथा असत्य विधान है। शिवाजी के समय बीजापुर की आदिलशाही जोरों पर थी। उसने पड़ोस की मुसलिम शाही के आधे से अधिक भाग को हड़प लिया था। शहाजी राजा के प्रताप से मिला कर्नाटक प्रांत भी आदिलशाह ने अपने राज्य में मिला लिया था। इस तरह बीजापुर की आदिलशाही अब 'न भूतो न भविष्यति' जैसे बहुत बड़े भूप्रदेश पर फैली हुई थी। उत्तर की मुगल बादशाहत के बाद सत्ता में आदिलशाह का नाम ही गिना जाता था। आदिलशाह के खजाने में कुबेर की संपत्ति इकट्ठा हो रही थी। कर्नाटक के संपन्न प्रांतों में धन और कनक इकट्ठा हो रहे थे। बीजापुर का चतुरंग दल रणदुल्ला खान, मुरार जगदेव, शहाजी राजा आदि रणकुशल सेनापतियों के मार्गदर्शन में दिग्विजय कर रहा था। दक्षिण हिंदुस्थान में अग्रपूजा का मान बीजापुर की सत्ता का ही था। और अगर शिवाजी का जन्म न होता तो अखिल हिंदुस्थान की अग्रपूजा का मान किसका है यह तय करने के लिए उत्तर के मुगल बादशाह और दक्षिण के बीजापुर बादशाह भयंकर युद्ध करते।

इस सिंहावलोकन से यह समझ में आता है कि शिवाजी की जीत का कारण

बीजापुर की सत्ता का कमजोर होना नहीं था। हाँ, यह जरूर कहा जा सकता है कि शिवाजी के कारण बीजापुर की सत्ता कमजोर हो गई। आगे चलकर शिवाजी के कारण कमजोर हुई आदिलशाही को औरंगजेब आसानी से हड़प सका। अगर आदिलशाही पहले से ही कमजोर होती तो वह निजामशाही के मलिक अंबर, लखूजी जाधव, शहाजी राजा जैसे प्रबल सरदारों के थपेड़ों से कभी की गिर जाती। अगर वह कमजोर होती तो शाहजहाँ के पहले हमले में ही वह मुगलों के कब्जे में आ जाती। पर जो कार्य निजामशाही, बिदर की बरीदशाही, उत्तर के शाहजहाँ से न हुआ—वह हाथ में लिया शिवाजी ने। किसके बलबूते पर? बीजापुर के कुबेर जैसे खजाने पर उसने हमला किया, तोरणा किला बनाते समय जमीन में गड़ी मोहरों से भरी एक छोटी सी गागर के सहारे। बीजापुर की चतुरंग सेना से लोहा लेनेवाले, वनों में रहनेवाले कृश, भूख से पीड़ित मावलों के पथक। रणदुल्ला खान और मुरार जगदेव जैसे मुरब्बी राजनीतिज्ञों से उसने बातें कीं बीस से भी कम आयुवाले अनुभवी तानाजी, मोरो पंत आदि युवकों की सलाह से। यह द्वंद्व क्या असमान नहीं था? फिर भी शिवाजी ने इस द्वंद्व में विजय पाई। क्या यह प्रशंसा के योग्य नहीं?

और इस असमान द्वंद्व में ही शिवाजी का सारा धैर्य, शौर्य समाप्त नहीं हुआ। जहाँ वह एक हाथ से प्रतापगढ़, पन्हाला और पावनखिंड दर्रे में बीजापुर के यावनी राज्य की दाढ़ी खींच रहा था वहीं दूसरे हाथ से वह निडरता से बीजापुरवालों की पूर्वपीढ़ियाँ जिसे 'जगदीश्वर' समझती थीं, उस दिल्लीश्वर की दाढ़ी भी खींच रहा था। जिस दिल्लीश्वर के भौंह के एक इशारे मात्र से दुर्बल हिंदू राजाओं के मुकुट स्थान भ्रष्ट हो लुढ़क जाते थे और जिसके कोप के भय से जयसिंह जैसे शूरवीर राजपूत काँपने लगते थे, वह अखिल हिंदुओं का भय विषय बना मुगल बादशाह शिवाजी के भय से चिंताक्रांत हो जाता था।

पर क्या शिवाजी महाराज केवल इस पराक्रम से ही महान् हो गए थे? अगर वे सिर्फ पराक्रमी होते तो उनका इतना आदर न होता। क्योंकि उस समय ऐसे कई पराक्रमी हिंदू यावनी 'सेवा' में पापड़ बेल रहे थे। उनका तो किसीने आदर नहीं किया। केवल पराक्रम ही मृत राष्ट्र में जान नहीं भर सकता, स्वातंत्र्य नहीं ला सकता। पराक्रम को महान् बनाने के लिए किसी दिव्य ध्येय की और युद्ध कौशल की भी सहायता चाहिए।

शिवाजी ने मुसलमानों से लड़ने के लिए अपने लिए एक अनुकूल नई पद्धति खोज निकाली। मुसलमान आमने-सामने के तलवार युद्ध में बहुत निपुण थे। उनकी विशाल देह, पुष्ट शरीर और असीम शक्ति के सामने राजपूतों के अलावा बाकी सभी हिंदू जातियाँ बलहीन साबित हुई थीं। मुसलमानों की लंबी तलवार

आमने-सामनेवाले युद्ध में और अधिक प्राणघातक होती। तलवार के युद्ध में उनके सामने सिर्फ राजपूत ही बराबरी कर सके, पर बराबरी करने मात्र से शत्रु मरता नहीं। इसपर ध्यान देकर शिवाजी ने मुसलमानों की प्रबल तलवार और लंबी-चौड़ी देह की परिधि से बाहर रहकर उनपर अमोघ वार करनेवाले शस्त्र—भाले—पर अधिक जोर दिया। इससे तलवार की लंबाई से दूर रहकर अपने त्रिशूल से भाले को अचूकता से मारने में ठिगने मावलों की पैनी आँखें मुगल पठान के सीने पर आघात करने में समर्थ होने लगीं। और यवन सेना मराठों से भिड़ने के पहले ही भयभीत होने लगी। मावलों की यह मराठा भाला-फेंक केवल सह्याद्रि के गिरिशिखरों, पठारों और दर्रों में ही सफल नहीं हुई। लँगोटीधारी मावलों की यह क्षुद्र सेना बढ़ते-बढ़ते बड़े बाजीराव के समय गंगा के प्रचंड प्रवाह की तरह हिंदू पदपादशाही के चतुरंग दल की ऊँचाई तक जा पहुँची। उसने हिंदुओं का राज्य इस तरफ हिमालय की तराई और उस तरफ अटक तक फैला दिया। भाले की नोक पर मराठों का 'भगवा' अर्थात् केसरिया झंडा, सिधु नदी के रेतीले किनारे पर फहराया गया।

सैनिकों के गणवेश में भी शिवाजी महाराज ने समझदारी से काम लिया। यवनों के ऐश-आरामी, ढीले-ढाले चोले को हटाकर उन्होंने मावलों को छाती से चिपकनेवाली बंडी दी। इसी तरह ढीले-ढाले पाजामों की जगह उन्होंने मालवों को घुटने तक आनेवाला शरीर से सटा पाजामा दिया। शिवाजी ने मावलों की सेना को छोटी-छोटी टुकड़ियों में बाँटा। यवनों की सेना बहुत विशाल होती थी। उसका शिविर भी एक बड़ा नगर सा बन जाता था। यवनों की इस विशाल सेना की नाक में दम करने के लिए शिवाजी ने अपनी सेना को वायुवेग से झपट्टा मार रफू-चक्कर होने का तरीका सिखाया।

इस तरह दूरवेधक शस्त्र, सटा छोटा वेश, चपल सैन्य रचना आदि का उपयोग कर शिवाजी ने अपनी सेना को यवन सेना की तुलना में हर बात में अधिक शक्तिशाली, युद्धयोग्य बनाया। और फिर ऐसी चुस्त-दुरुस्त सेना के लिए उन्होंने खोज निकाली एक नई युद्धनीति—मराठों की प्रसिद्ध 'छापामार युद्ध पद्धति'। सहजता से उठाए जानेवाला शस्त्र—भाला, सटा छोटा वेश, वायुवेग से उड़नेवाले तेज टट्टू, इन सबसे लैस होकर शिवाजी की मुट्ठी भर सेना मुसलमानों की हजारों की सेना पर बिजली की तरह टूट पड़ती और बिजली की तरह ही उनका विनाश कर पलक झपकते ही कहीं गुप्त हो जाती। जिस तरह ज्वालामुखी पर छाई हरियाली पर अनजान यात्री विश्राम लेते हैं उसी तरह महाराष्ट्र की भूमि पर यवनों की सेना बिना किसी आशंका के विश्राम कर रही होती और अचानक ज्वालामुखी के विस्फोट की तरह आवाज उठती 'हर-हर महादेव' और फिर ज्वालामुखी के मुख

से बाहर आते लावा की तरह पहाड़ों की चोटियों जैसा दर्रों से बाहर आता मावलों का सैन्य। इससे पहले कि मुसलमान हाथ में शस्त्र लेते, मराठा सैनिक उन्हें मारकर, उन्हें लूटकर कहीं नौ दो ग्यारह हो जाते। इसके विपरीत जब भी उन्हें लगता कि मुसलमानी सैन्य पर हमला करना कठिन है, वे तुरंत पीछे हटते और गढ़-कोटों में, कंदराओं में छिप जाते। कभी-कभी मराठों के भाग जाने ही से मुसलमान अपने आपको विजयी समझते, थोड़े ढीले पड़ जाते। इसका लाभ उठाकर मराठा उनपर फिर एक बार छापा मारते और अपनी पराजय को विजय में बदल डालते। और मानो उन्हें मुँह चिढ़ाकर वे फिर से अपने सुरक्षित स्थानों में लौट जाते। शिवाजी महाराज की छापामार युद्ध पद्धति में उनकी अपूर्व सूझबूझ और अपूर्व युद्ध कौशल और अपूर्व ख्याति प्रकट हुई।

थलसेना के साथ-साथ उन्होंने अपनी नई शक्तिशाली नौ सेना भी तैयार की। इस तरफ अभी तक किसी भी मुसलमान सुलतान का ध्यान नहीं गया था। तब तक मुसलमान सत्ता का सबसे बड़ा नौका दल था मुगलों का, और उस नौका दल का सेनापति था जंजीरे का सिद्दी। इस सिद्दी ने मक्का-मदीने के यात्रियों के सुरक्षित आवागमन और व्यापार की सुरक्षा के अतिरिक्त अपने नौ-दल से और सैनिकी काम नहीं लिया था। इसीलिए यूरोपियन नौ सेना मुसलमानी नौ सेना से बिलकुल नहीं डरती थी। मुसलमानी नौ सेना का हाथ उनके राज्य बढ़ाने में कभी नहीं था। पर जिस कोंकण के किनारे पर मराठा राज्य की एक नाव नहीं चलती थी वहाँ दस-पंद्रह सालों के अंतराल में शिवाजी महाराज ने एक अत्यंत कुशल और साहसी नौका दल का निर्माण किया। इस सुसंचालित और वीर नौ-दल से यूरोपीय नौ-दल भी डरता था। और इसी कारण उनके समुद्री डाकुओं के कारनामे एकदम बंद से हो गए।

शिवाजी ने कोंकण किनारे का बारीकी से निरीक्षण किया और फिर अपनी जन्मजात दूरदर्शिता और कुशाग्रता से वहाँ मालवण, विजयदुर्ग जैसे अभेद्य जलदुर्ग बनाए जो जगह-जगह से आक्रमण कर समुद्र और भूमि दोनों की रक्षा करते। इसीलिए शिवाजी की नजर जंजीरे के किले पर भी थी। थोड़ी ही अवधि में वे इतने निपुण हो गए कि उन्होंने पुर्तगालियों और सिद्दी को नाकों चने चबवाए। खांदेरी-उंदेरी के कारण बंबई के अंग्रेज भी मानो बंदूक की नोक पर चुप रखे गए थे।

अब तक हमने शिवाजी का महत्त्व मापन एक वीर, बुद्धिमान और कल्पनाशील, साहसी सेनापति के नाते ही किया। पर इतने से ही शिवाजी का महत्त्व मापन समाप्त नहीं हुआ। वीरों में दुर्लभता से ही दिखाई देनेवाला राजनीतिक निपुणता का गुण भी उनमें कूट-कूटकर भरा था। शत्रु से लड़ते समय उसपर कब

हमला करना चाहिए, कब पीछे हटना चाहिए, उसकी अधिक-से-अधिक और अपनी कम-से-कम हानि कैसे करनी चाहिए, दिखावे के लिए नहीं बल्कि जितनी आवश्यक है उतनी ही वीरता कैसे दिखानी चाहिए यह सब जानने के लिए कूटनीतिज्ञता की आवश्यकता होती है, जो शिवाजी में प्रचुर मात्रा में थी। वे बड़े सतर्क रहा करते थे इसीलिए उन्होंने अफजल खान की कुटिलता को तुरंत जान लिया और जानते ही उच्च कोटि की वीरता दिखाकर उन्होंने उसका पेट फाड़ डाला। वहीं जब उदारमना राजपूत राजा जयसिंह मुसलमानों का पक्षधर होकर हिंदुओं को मारने आया तब शिवाजी ने अपने आत्मसम्मान को ताक पर रखा और बिना किसी सुरक्षा साधन के उसके पास जाकर, अपने आपको उसके हवाले किया। बीजापुर के बादशाह ने उनके पिता शहाजी राजे को धोखा देकर बंदी बनाया, दीवार में जिंदा गाड़ देने की धमकी दी, तब शिवाजी ने तत्काल दीन वाणी बोलकर मुगल सम्राट् शाहजहाँ के मन में करुणा उत्पन्न की। उनके अधीनस्थ राजा बन शिवाजी ने बीजापुर दरबार में मुगल सत्ता का वह डर पैदा किया कि बीजापुरवालों को उस दबाव के कारण शहाजी को बंधनमुक्त करना पड़ा। पर वे मुगलों के अधीन भी बहुत देर तक न रहे। अवसर मिलते ही उन्होंने फिर से बीजापुरवालों से सुलह कर ली और मुगलों को अपने प्रदेश से खदेड़ डाला। वे राजनीति के इन दाँव-पेचों के मँजे हुए खिलाड़ी थे।

आगरा की कैद से छुटकारा पाने के उनके उपाय में उनके अपार धैर्य और अकल्पनीय कल्पना शक्ति की झलक मिलती है। आज तक बंदीगृह से मुक्त होने के लिए बंदियों ने कई उपाय आजमाए हैं। कोई दीवार तोड़कर भाग जाता है तो कोई दीवार फाँद या सुरंग खोदकर। पर कपटी औरंगजेब के लौह शिकंजे से छूटने के लिए शिवाजी ने ऐसी अद्‌भुत युक्ति की कि इतिहास तक ने दाँतों तले अँगुली दबाई। ऐहिक शक्तियों की अधिकता से गर्वोन्मत्त औरंगजेब के दरबार में प्रवेश करना शेर की गुफा में जाना था। पर उस दरबार में जाने पर शिवाजी उसके वैभव से चकाचौंध नहीं हुए, उन्होंने अपना आत्मसम्मान नहीं भुलाया। जैसे ही उन्होंने देखा कि उनके मान-सम्मान की जान-बूझकर उपेक्षा की गई, उनकी आँखों में आत्मतेज उतर आया और वे उस नरसिंह की मूँछें खींचने को उद्यत हुए। ऐसा था उनका आत्मतेज और शौर्य! दक्षिण का अपना राज्य दूर छूटा था, उत्तर दिशा का प्रदेश परकीय था। जयसिंह के वचन का संरक्षण अधूरा रहा। रामसिंह कुछ नहीं कर सका। साथ में सैन्य था वह बहुत कम। मानो दरिया में खसखस। मराठा राज्य अनाथ हो गया। इन सब विपरीत परिस्थितियों में भी शिवाजी निराश नहीं हुए। स्थितप्रज्ञ योगी की तरह उन्होंने पूरी परिस्थिति का निरीक्षण किया। उस समय छोटे

संभाजी भी उनके साथ थे। उनके साथ वे जिस बुद्धिमानी से मिठाई के पिटारे में बैठकर औरंगजेब की कैद से भागे उसका जितना वर्णन करें, कम है। कैद से छूटने के बाद, दक्षिण में आने के लिए उन्होंने जो मार्ग निश्चित किया वह भी उन जैसे कुशाग्र आदमी का ही काम है। कोई भी सामान्य बुद्धि का आदमी, छुटकारा पाते ही सीधा अपने घर पहुँचता, पर शिवराय असामान्य थे। वे जानते थे कि औरंगजेब जैसे धूर्त आदमी को चकमा देने के लिए सेर को सवा सेर बनना पड़ेगा। इसीलिए उन्होंने औरंगजेब जो सोच भी नहीं सकता था, वही मार्ग अपनाया। औरंगजेब ने दक्षिण की राहें रोक रखी थीं। उसे लगा था कि शिवाजी शायद जोगी का वेश लेकर उत्तर में हिमालय की तरफ गए होंगे। छिप-छिपकर रहते होंगे। सो उसने उत्तर दिशा में भी कड़ा पहरा रखा था। पर उस धूर्त की आँखों में शिवाजी ने धूल झोंकी, पूर्व की तरफ जाकर। प्रयाग, गया होते हुए वे एकदम धूमकेतु की तरह जगन्नाथपुरी पहुँचे। फिर तेलंगाना से होकर कुतुबशाह के राज्य में घुसकर केवल नौ महीनों के अंतराल में वे रायगढ़ पहुँच गए।

अब तक हमने शिवाजी के शौर्य, कूटनीतिज्ञता, कल्पकता, साहस आदि अपूर्व गुण देखे। अब हम उनका संगठन कौशल देखेंगे। इस दृष्टि से भी वे महान् थे। उन्होंने स्वराज्य स्थापना के लिए अलग-अलग योग्यताओं के सुयोग्य युवकों को चुन लिया। उन्हींमें से उन्होंने तानाजी, येसाजी, बाजी, मोरो पंत, सेनापति हैबतराव, वीरवर प्रतापराव, गुजर आदि अनेक स्वातंत्र्य वीरों का निर्माण किया। उन्होंने हिंदुओं की जातियों-उपजातियों में से अनेक समर्थ लोगों को चुना। उन्होंने अपने स्वराज्य स्थापना के पावन कार्य में ब्राह्मण, गौड़, सारस्वत, मराठा, भंडारी, कायस्थों को ही नहीं बल्कि चमार, चांडाल आदि अछूत भाइयों को भी शामिल किया। उन्होंने हर एक को उसकी योग्यता के अनुसार मुंशीगिरी या सूबेदारी दी। उन्होंने सबको लौह चुंबक की तरह आकर्षित कर रखा था। सबपर आवश्यक नियंत्रण रखा था। उनकी देखरेख में तैयार हुए लोग राजाराम महाराज के समय और उनके बाद भी पच्चीस वर्ष तक चलनेवाले स्वातंत्र्य समर में काम आए।

१ मई, १९२७ के 'क्रॉनिकल' पत्र के शिवाजी अंक में प्रो. यदुनाथ सरकार ने एक लेख लिखा है। उसमें उन्होंने 'क्या शिवाजी ने राष्ट्र निर्माण किया?' प्रश्न का नकारात्मक जवाब दिया है। मनरो नामक इतिहासकार का कथन है कि शिवाजी द्वारा संस्थापित राज्य डेढ़ शतक के बाद नष्ट हुआ और सन् १८१८ में पेशवाओं के पराभव के बाद घर लौटती सेना को जनता ने संत्रस्त किया। उस एक व्यक्ति के कथन को सही मानकर प्रो. सरकार यह सिद्ध करना चाहते हैं कि शिवाजी राष्ट्र निर्माता थे ही नहीं। वाद-विवाद के लिए उपर्युक्त बातें मान भी लें तो उससे

आखिर सिद्ध क्या होता है? क्या शिवाजी द्वारा स्थापित राज्य इसीलिए राष्ट्र नहीं है क्योंकि वह जल्दी विनष्ट हुआ? शिवाजी के पश्चात् औरंगजेब से लगातार पच्चीस वर्ष तक मराठों ने स्वातंत्र्य युद्ध लड़ा जिसमें राजाराम के नेतृत्व में मराठों ने असीम लगन, साहस और अपूर्व राष्ट्रभक्ति दिखाई। अगर शिवाजी राष्ट्र का निर्माण न करते तो यह सब कतई नहीं दिखाई देता। राष्ट्रीय दृष्टि के कारण ही तो खंडो बल्लाल ने अपनी जागीर त्याग दी। अगर राष्ट्रीय दृष्टि न होती तो क्या संताजी घोरपड़े, धनाजी जाधव, परसोजी भोंसले, पानसंबल और अन्य सैकड़ों महाराष्ट्रवीर मुश्किलों का हँसते-हँसते सामना करते? स्वातंत्र्य संग्राम में लड़ते रहते? उसमें अपने प्राणों की आहुति देते? ये लोग थोड़ी सी गद्दारी दिखाते तो मुगल उन्हें सामान्य सैनिक से नाईक और नाईक से सरदार बना देते। पर इस वैभव को लात मारकर महाराष्ट्र के दो लाख वीर सैनिकों ने वन-वन की खाक छानते हुए अपनी पूरी जिंदगी अभावों में बिताई। अगर उनमें राष्ट्रप्रेम की भावना न होती तो क्या उनमें अभावों को झेलने की क्षमता आती? वैसे तो धनाजी और संताजी की आपस में बनती नहीं थी, पर जैसे ही मुसलमान सैनिक दिखाई देते आपसी वैर भूलकर वे एक हो जाते और मुसलमानों से दो-दो हाथ करते। क्या यह राष्ट्रीय वृत्ति का ही प्रभाव नहीं था? मनरो साहब जिस अंतिम पेशवा के दिनों की बात करते हैं उसके कोई दस साल आगे-पीछे की बात है। नाना फड़नवीस और महादजी शिंदे में सुलह हो गई थी। तब भाग्यनगर (हैदराबाद) के निजाम के दरबार में काम करनेवाले राष्ट्रभक्त वकील गोविंदपंत काले ने नाना को एक बहुत ही सटीक और देशभक्ति से ओत-प्रोत पत्र भेजा था। क्या मनरो साहब ने उसे पढ़ा है? उन्होंने न भी पढ़ा हो, श्री यदुनाथ सरकार ने तो पढ़ा ही होगा, पर उन्होंने तो मराठा इतिहास पढ़ा है पर्शियन ग्रंथों और मुगली उर्दू दफ्तरखाने से। इसीलिए मराठा इतिहास के बारे में उनकी दृष्टि पूर्वग्रह दूषित और अहंकार विमूढ़ है। मराठा इतिहास के मर्म से अनभिज्ञ श्री यदुनाथ, गोविंद कालेजी के इस पत्र पर ही केवल शांति से विचार क्यों करेंगे? उनके लिए मनरोवाक्य वेदवाक्य के समान है। पर यह भी सोचने की बात है कि शिवाजी द्वारा स्थापित हिंदवी साम्राज्य के लक्ष्य से प्रेरित होकर डेढ़ सौ साल तक लड़ना क्या कम महत्त्वपूर्ण बात है? डेढ़ सौ साल, कोई कम अवधि नहीं है। प्रिंस बिस्मार्क द्वारा संघटित जर्मन राष्ट्र डेढ़ सौ साल तो क्या एक सौ साल भी नहीं टिका। पिछले विश्वयुद्ध में ही उसका विभाजन भी हो गया। श्री यदुनाथजी की कसौटी के अनुसार बिस्मार्क का नाम भी राष्ट्रपिताओं की सूची से निकाला जाना चाहिए। किसीका भी राज्य क्या सदा के लिए टिकता है? और क्या इसीसे यह कहना ठीक है कि विश्व में एक भी राष्ट्र निर्माता नहीं हुआ? 'समर्थ' रामदास

स्वामी और शिवाजी ने ही महाराष्ट्र के व्यक्तित्व को खड़ा किया, एकप्राण किया, एकराष्ट्र बनाया।

या भूमंडळाचे ठायी। हिंदु ऐसा उरला नाही॥
मराठा तितुका मेलवावा। आपुला महाराष्ट्र धर्म वाढवावा॥
ये विषी न करतां तकवा। पूर्वज हाँसती॥

सह्याद्रि के शिखर से रामदास स्वामी ने मराठा भूमंडल को इकट्ठा होने के लिए पुकारा। शिवाजी ने प्रतिज्ञा की—हिंदवी राज्य स्थापना करने की। शिवाजी ने जयसिंह से भी यही कहा, "आप हिंदू, हम हिंदू, अपने राष्ट्र के लिए क्यों न लड़ें-मरें!" उन्होंने महाराष्ट्र के बिखरे रत्नों को चुनकर उनकी माला बनाई। मराठा सैन्य ने दिल्ली की ओर कूच किया। ये बातें रामदास-शिवाजी की पीढ़ी की हैं। उनकी इस प्रेरणा से ही मराठों की तीन पीढ़ियाँ लड़ती रहीं। बाजीराव ने दिल्ली के दरवाजे पर गर्जना की थी, "देखते क्या हैं? आज हिंदू पदपादशाही ही का सुनहरा दिवस है।" भाऊ साहब ने दिल्ली का तख्त तोड़ा। भीमथड़ी के घोड़ों ने सिंधु नदी का पानी पिया। अटक पर विजयी भगवा-केसरी झंडा फहरा। अर्वाचीन हिंदू इतिहास में क्या महाराष्ट्र के बाहर कोई ऐसा राष्ट्रीय उत्थान दिखाई दिया है? यही है राष्ट्र का निर्माण। शिवाजी ने यही किया। पर सर यदुनाथ इसे क्योंकर समझें? 'शूर मर्द की गाथा शूर मर्द ही गाए! कायरों का यह काम नहीं।'

प्राध्यापक महाशय ने हिंदू समाज के जाति-उपजातिवाद के अप्रस्तुत विषय को भी अपने लेख में घुसेड़ा। उनकी यह उद्दंडता देख मन दुःखी होता है। पर शिवाजी महाराज ने देशधर्म की दुहाई देकर हिंदू पदपादशाही के लिए सभी जाति-उपजातियों से पीढ़ी-दर-पीढ़ी पराक्रम कराया, त्याग कराया, काम कराया। क्या यह सब बिना राष्ट्रीय प्रेरणा के हो सकता था? और जाति-उपजातियों के भेद होते हुए भी शिवाजी ने यह काम किया, यही सिद्ध करता है कि शिवाजी राष्ट्र निर्माता थे।

शिवाजी ने केवल राजनीतिक दृष्टि से ही हमारे राष्ट्र का पुनरुज्जीवन नहीं किया। उन्होंने बदलती स्थिति के अनुसार सामाजिक रूढ़ियों को बदलने की सामाजिक उदारता भी दिखाई, अपनी परंपरा को अविकृत रखने की तत्परता दिखाई। यह देख, आज के सुधारक भी उसे सराहे बिना नहीं रह सकते। बजाजी निंबालकर जैसा खानदानी सरदार कुछ लालच और कुछ शारीरिक यंत्रणाओं की असहनीयता के कारण मुसलमान बना। ऐसे में हिंदू धर्म के वृद्धिशील, सर्वग्राही और सर्वपाचक स्वरूप का ध्यान कर शिवाजी ने उस शुद्धिकरण प्रथा का श्रीगणेश

किया जिसका नाम सुन आज भी कुछ अति बुद्धिमान चौंक उठते हैं। शिवाजी ने बजाजी निंबालकर को न केवल शुद्ध किया बल्कि उसके कुल में अपने कुल की कन्या ब्याहकर उसे हिंदू समाज में पुनः प्रतिष्ठित भी किया। इसी तरह नेताजी पालकर को भी शुद्ध कराकर महाराज ने पुनः हिंदू बना लिया। इस तरह उन्होंने हिंदू संगठन और शुद्धि इन दो संजीवनी बूटियों का हिंदू जाति के दृढ़ीकरण के लिए उपयोग किया था।

शिवाजी ने राजनीतिक और सामाजिक उत्थान को गति दी। इसी तरह राष्ट्र के प्राण, साहित्य को भी उन्होंने प्रोत्साहन दिया। उस समय उर्दू भाषा का, मराठी भाषा पर सर्वग्रास ग्रहण लग चुका था। शिवाजी ने भाषा शुद्धि का प्रयास किया। मराठी को संस्कृत का नवजीवन दिया। अगर यह न होता तो आज मराठी भाषा पूरी तरह विकृत होती। पर शिवाजी ने 'राज्य व्यवहार कोश' बनवाकर तथा मराठी से उर्दू शब्द हटाने की प्रवृत्ति को बढ़ावा देकर मराठी भाषा की अत्यधिक सेवा की। कवियों और साहित्यकारों को प्रोत्साहन देना भी उन्होंने राष्ट्रोद्धार का ही काम माना। उत्तर हिंदुस्थान के भूषण नाम के एक सुप्रसिद्ध राष्ट्रीय कवि को शिवाजी ने कुछ अवधि के लिए राज्याश्रय दिया था। उन्होंने उससे अपनी जीवनी भी लिखा ली थी। इसी तरह उन्होंने पंडित परमानंद, गागाभट्ट और अन्य संस्कृत पंडितों का स्वागत कर उन्हें यथायोग्य, यथान्याय आश्रय देकर गुणीजनों, विद्वानों और संस्कृत विद्या को प्रोत्साहन दिया था।

शिवराय यह जानते थे कि मानव उत्सवप्रिय हैं। इसलिए रायगढ़ की पुण्यभूमि पर सिंहासनारोहण का समारोह कर उन्होंने गत स्वातंत्र्य का पुनरुज्जीवन और हिंदू पदपादशाही का पुण्याहवाचन किया। हिंदुस्थान के नसीब में कई शतकों से हिंदू सिंहासनों का दरकना ही लिखा था। वे हिंदुओं के साथ परकीयों के मस्तकों पर राजमुकुट पहना रहे थे। छत्र-चँवर भी वे परकीयों के मस्तकों पर ही झल रहे थे। पाँच सौ सालों से हिंदू जाति इस दुर्भाग्य को झेल रही थी। आखिर शिवाजी ने यह विधि लिखित बदला। गागाभट्ट के हाथों स्वयं का विधियुक्त राज्याभिषेक कराकर उन्होंने हिंदू जाति के इतिहास में एक रोमहर्षक प्रसंग जोड़ दिया।

धन्य था वह दिन, जब पुराने शिवनेरी दुर्ग में जनमा, तोरणगढ़ पर पला-बढ़ा और यःकश्चित् लगनेवाला यह नटखट लड़का, अखिल हिंदू राज्य का स्वामी हो गया। हिंदू जाति के भाग्य ने फिर एक बार करवट बदली थी। 'हिंदू' शब्द जगत् में न केवल जीवित रहा बल्कि सम्मानित भी हुआ।

आज वही सार्थक दिन है। आज हिंदू पदपादशाही शिव छत्रपति का

राज्याभिषेक हो रहा है। आइए! पुण्य सरिताओ, अपने पवित्र जल से अपने-अपने पात्र भरकर रायगढ़ के राजमहल की तरफ आइए और इस हिंदू छत्रपति का राज्याभिषेक करिए। हे हिंदू महासागर, पश्चिम समुद्र और पूर्व समुद्र तुम्हारे दोनों बाहु हैं। हे हिंदू महासागर, अपने इन बाहुओं को उठाकर इस हिंदू पदपादशाही के चरणों पर अपने कोषागार के अशेष रत्न और मोतियों के उपहार अर्पण करो।

⋯उस ऐतिहासिक दिन को बीते अब तीन सौ साल हो गए। तीन सौ सालों के लंबे अंतराल के बाद यह हिंदुस्थान इस राष्ट्रवीर को अपनी कृतज्ञता अर्पण कर रहा है। हे शिवराय, मेरी भी कृतज्ञता स्वीकार कीजिए और बस इतना आशीर्वाद दीजिए कि वर्तमान में बलहीन बनी हिंदू जाति में फिर से वह प्रेरणा जग जाए। आपने तीन सौ साल पहले हिंदू राष्ट्र का, हिंदू धर्म और हिंदू जाति का पुनरुज्जीवन किया था। हममें भी वह प्रेरणा और सामर्थ्य भर दीजिए ताकि हम भी वैसा ही कुछ आज भी कर सकें।

□

शिवाजी महाराज की यशस्वी राजनीति का एक सूत्र

कातर्यं केवला नीतिः शौर्यं श्वापदचेष्टितम्।
अतः सिद्धिं समेताभ्यामुभाभ्यामन्वियेष सः॥

महाराज बहुत छोटे थे। आठ-एक वर्ष के होंगे, न होंगे। शायद तभी से अपने धर्म और जाति की अवनति देखकर उनका दिल छटपटाता था। तभी से वे सोचते रहते थे कि इस अवनति के प्रतिकार के लिए वे क्या कर सकते हैं। तभी से वे मन-ही-मन प्रतिज्ञा करते होंगे कि 'अपने राष्ट्र और अपने धर्म के गौरव और सामर्थ्य के लिए मैं अपने प्राण भी त्याग दूँगा।' उनके छोटे से मस्तिष्क में 'हिंदवी स्वराज्य' के मनोहर सपने उभर आते, स्पष्ट होते और उनके प्रभाव से वे सपने उनके संग रहनेवाले बालकों, युवकों, बूढ़ों के मन को भी विद्युत् प्रवाह जैसा आंदोलित करते।

स्वदेश और स्वधर्म की स्वतंत्रता के लिए प्राणार्पण करने का निश्चय हो गया। पर स्वातंत्र्य के लिए प्राण दिए कैसे जाते हैं? सामने दिखाई देनेवाली पहली मुसलमानी दीवार पर सर फोड़कर? या राह चलते सबसे पहले दिखाई देनेवाले मुसलमानी राजद्वार के सामने धरना देकर या उपवास रखकर? बीजापुर के सुलतान या औरंगजेब के दरवाजे पर क्या यह कहकर अन्न-जल छोड़ना चाहिए कि मुझे अपनी स्वतंत्रता लौटा दो, मेरे राष्ट्र का राजमुकुट यहाँ लाओ, नहीं तो हमसब मावला, मराठा, ब्राह्मण तुम्हारे घर के सामने प्राण त्याग देंगे?

ये उपाय बहुतों ने आजमाए थे पहले। पर इससे मुगल बादशाहों के कानों पर जूँ तक नहीं रेंगी थी। ऐसी घटना दिल्ली में ही घटी थी। औरंगजेब ने हिंदुओं को धर्मभ्रष्ट करने तथा उनपर करों का कमरतोड़ बोझ डालने की पूरी कोशिश की।

इससे हिंदू लोग त्राहि-त्राहि कर उठे। तब सैकड़ों हिंदू नेता दिल्ली में इकट्ठा हुए। उन्होंने निश्चय किया कि वे औरंगजेब से अपनी सारी शिकायतें कहेंगे और तब तक उसके सामने से न हटेंगे जब तक उनकी शिकायतों का निपटारा न हो। उनका विचार था कि सारे ब्राह्मण औरंगजेब के दरवाजे के सामने धरना देकर कहेंगे कि 'हम आपकी प्रजा हैं। आप हमारे राजा हैं। आप न्याय करें या अपनी लातों और मुक्कों का प्रसाद दें।' उन्हें लगा था कि यह सुनकर बादशाह को उनपर दया आएगी। वह बादशाह को अपने आत्मबल से जीत लेंगे। यही सोचकर सहस्रों सरल हृदय हिंदू ब्राह्मणों के साथ दिल्ली के राजमहल के पास इकट्ठा होने लगे। शुक्रवार का दिन था। बादशाह औरंगजेब का मसजिद जाने का दिन। बादशाह की सवारी तैयार हो गई। उसकी सवारी के आगे खड़े थे हजारों अश्वारोही और उनके हाथों में थीं चमकती हुई तलवारें, भाले और बंदूकें। बीच में एक विशाल हाथी के हौदे पर खड़ा औरंगजेब, किसी दुर्दमनीय दानव जैसा लग रहा था। औरंगजेब का हाथी अभी कुछ ही दूर आगे बढ़ा था कि धरना देने आए सहस्रों हिंदू अचानक 'न्याय दीजिए, महाराज, न्याय दीजिए' चिल्लाते हुए हाथी के मार्ग में सो गए। भालेदार सिपाही उन्हें हटाने लगे। पर वे हटे नहीं। एक ही चिल्लाहट हुई कि 'जब तक हिंदुओं पर ढाए जानेवाले अत्याचार और अन्याय हटते नहीं, हम दूर नहीं हटेंगे।' एक क्षण के लिए औरंगजेब हौदे में उठ खड़ा हुआ। लोगों को लगा कि आखिर उनके नि:शस्त्र प्रतिकार की जीत हुई। पत्थर पिघल उठा। दया की बूँदों से क्रूरता की आग ठंडी हो गई। इतने में एक मुल्ला बोला, ''नमाज का वक्त हो गया। और थोड़ी देर रुकेंगे तो नमाज का वक्त टल जाएगा।'' सुनते ही औरंगजेब ने हुक्म दिया, ''हाथी को आगे बढ़ाओ।'' सहस्रों हिंदू कंठ कातरता से पुकार उठे, ''माई-बाप! पहले हमारी बात सुनें। फिर आगे बढ़ें।'' पर औरंगजेब चिल्लाया, ''उनको राह से हटाओ।'' रक्षकों ने कहा, ''वे हट नहीं रहे। मार्ग पर लेट गए हैं।''

''तो ठीक है। चलाओ हाथी उनपर से।'' यह औरंगजेब की आवाज थी।

फिर भी हिंदू राह में लेटे ही रहे। उन्हें विश्वास था कि चाहे जो हो, हम भूखे-प्यासों के आत्मबल के समुद्र को औरंगजेब पार नहीं कर सकता। लेकिन औरंगजेब की आज्ञा होते ही, 'अल्लाह हो अकबर' की गर्जना कर सारे हाथी, घोड़े, ऊँट, पैदल सैनिक उन हिंदुओं को कुचलते हुए आगे बढ़े। बादशाह की सवारी वहाँ से ऐसे गुजर गई जैसे मुलायम कालीन पर से जा रही हो। पूरा राजमार्ग हिंदुओं के रक्त-मांस से सन गया।

इस तरह के अनुभवों को देख-सुनकर एक गुसाईं सह्याद्रि की चोटी पर जा पहुँचा और उसने वहाँ से पुकार शुरू की, ''देशार्थ-धर्मार्थ-राष्ट्रार्थ प्राण देने का

मार्ग यह नहीं है। पुण्यात्मा, पापात्मा! दोनों में है अंतरात्मा! पर साधु, भोंदू, सीमा! छोड़ते ही नहीं। यह बड़ा मुश्किल काम! तीक्ष्ण बुद्धि का मर्म! बड़े अर्थ का संभ्रम! कैसे जाने, कौन पहचाने! घाघ के लिए घाघ! उद्धत के लिए उद्धत! उद्दंड को उद्दंड! नटखट को नटखट! धर्म के लिए मर मिटना। मरते हुए सबको मारना। सबको मार, अपना राज्य बनाना। ये धूर्तता के सारे काम, राजनीति का नियमित अभ्यास हो। काम में ढील कभी न हो!''

सह्याद्रि के शिखर से उठकर, कंदराओं में गूँजनेवाला यह गुसाईं का उपदेश, महाराज शिवाजी के मन में उतर गया। प्रसंग के अनुसार कभी शूरता से, कभी अक्लमंदी से, कभी जोर-जबरदस्ती से तो कभी नरमी से अपने लक्ष्य के प्रति, अपने अवतार कार्य की सिद्धि के लिए काम करने का उन्होंने पक्का निश्चय किया।

विषैला साँप, देशजननी को डसना चाहे! उसका सिर अचानक पकड़, या उसे ठग या मोहित कर, उसे कुचल डाल।

राजनीति का यह मुख्य सूत्र उन्होंने बचपन में सीखा, पर बड़े होने पर भी वे इसे भूले नहीं। वे अपने पिता के साथ बीजापुर आए थे। वहाँ भी उस धनी बादशाह की शान देख वे चकाचौंध नहीं हुए। उलटे उनके मन में क्रोधाग्नि की लपटें उठीं। उनके पाँव किसी लौह स्तंभ की तरह तन गए। बादशाह को कोर्निस करने के लिए वे झुकना नहीं चाहते थे। इसी तरह बीजापुर दरबार में एक गाय की हत्या देख, उन्होंने उस मुसलमान कसाई को ही काट डाला। अफजल खान के आलिंगन के लौह शिकंजे में फँसते ही उन्होंने असीम साहस से उस महाकाय दैत्य के पेट में बाघनख घुसेड़े और उसे धराशायी किया। आधी रात को शाहिस्ता खान के महल में घुस, हजारों सैनिकों के बीच सुरक्षित शाहिस्ता खान पर उन्होंने वार किया और फिर वहाँ से चुपचाप खिसक उन्होंने सिंहगढ़ की रक्षा की। ऐसे सूरमा शिवाजी को भी कोई कायर कह सकता है? रामदास स्वामी को भी उनके इस धैर्य, प्राणों की परवाह न करनेवाले साहस और गुस्से से डर लगा और उन्हें शिवाजी को चेताना पड़ा कि नेता का अभिमान से चेतकर अपने प्राणों की रक्षा न करना भी उचित नहीं। राजनीति यह नहीं कि अगुवा ही युद्ध में जाए। राजनीति वह कि जिसमें अनेक लोग अगुवाई करने आगे बढ़ें।

शिवाजी पराक्रम और साहस के सूर्य थे। लेकिन जब ये ही बातें उनके अंगीकृत राष्ट्र स्वातंत्र्य के विरुद्ध जाने लगतीं और स्वीकृत महान् कार्य के यश के लिए शौर्य की जगह होशियारी, शक्ति की जगह युक्ति और तेज की जगह नरमाई उपयुक्त रहती तब शिवाजी इस तरह झुक जाते कि क्षुद्र-से-क्षुद्र आदमी समझता कि शिवाजी से तो मैं ही बेहतर हूँ। इस कायर से तो मैं ही शूर हूँ।

जावली के विशाल डेरे में बीजापुर का पराक्रमी, तेजस्वी, राक्षस समान सेनापति अफजल खान बड़ी शान से बैठा हुआ था। उसकी विशाल सेना कई मीलों तक फैली हुई थी। उसका बाल भी बाँका होता तो सैकड़ों तोपें गरजने लगतीं। तब डर से काँपता सा, रूमाल से हाथ बाँध शिवाजी अफजल खान के आगे गिड़गिड़ाने लगा, ''मुझे हथियारों से डर लगता है। कृपा करके आप मुझसे अकेले ही मिलिए। मैं बीजापुर का अपराधी हूँ। उससे शर्मिंदा हूँ।'' किए हुए की सजा के रूप में अपना सिर अफजल खान के पैरों में रखनेवाला एक मामूली सा, ठिगना सा आदमी उस दिन अफजल खान के खेमे में घुसा। वह शिवाजी ही था। उस समय की उसकी मुद्रा, शब्द और व्यवहार को देखनेवाला यही समझता कि पूरी दुनिया में इससे कायर और कोई नहीं होगा।

रूमाल से हाथ बाँधे वह अफजल खान के सामने आया। अफजल खान ने आलिंगन के बहाने उसे बगल में दबाया। इतने में तलवार चमकी, पेट में बघनखे घुसे। अंकुश के कारण चिंघाड़कर नीचे गिरनेवाले हाथी की तरह बड़े वेग से वह विशाल देह जमीन पर आ गई। पट्टे से पट्टे, खंजरों से खंजर, तोपों से तोपें लड़ीं। खान मारा गया। खान की फौज मारी गई। तितर-बितर हुई। सिर काट, पेट फाड़, शिविर लूटकर शिवाजी शेर की तरह गढ़ चढ़ने लगे। उन्होंने देवी-देवताओं के अपमान का बदला लिया था। शत्रु के बारह हजार घोड़े उन्होंने बरामद किए। क्षणमात्र पहले कायर दीखनेवाले शिवाजी अब सबसे अधिक शूर, दीप्तिमान और साहसी हो गए। पहले मूर्ख लगनेवाले शिवाजी के चेहरे पर दिग्विजयी वीर की दीप्ति थी। वे पहले खेमे में सिर झुकाकर गए इसीलिए अब विजय रूपी हाथी के उन्नत हौदे पर सीना तानकर बैठ सके।

बाद में आया जयसिंह। फिर से अंतिम लक्ष्य को ध्यान रख उन्हें नम्रता का नाटक कर जयसिंह के साथ मैत्री समझौता करना पड़ा। बगावत की माफी माँग उन्होंने बादशाह की नौकरी भी कबूल कर ली। इस संधिपत्र के दौरान उन्हें बादशाह से जीते हुए तीन किले लौटाने पड़े। बादशाह को शरणागति का पत्र भी लिखना पड़ा। पत्र में शिवाजी ने लिखा था, ''मैं शिवाजी, आपका गुनहगार, अपराधी हूँ। मैं जान-मान और धन की रक्षा के लिए आपकी शरण में आया हूँ। भविष्य में आपकी चाकरी ईमानदारी से निभाने के लिए मैं सदैव तत्पर रहूँगा। आपकी आज्ञा का पालन करना मेरे लिए सम्मानस्पद होगा। आपसे बगावत करके मैं अपना सर्वस्व गँवाना नहीं चाहता। इसलिए मैं अब आपसे बगावत नहीं करूँगा। मेरे सभी अपराध माफ हों। मुझे प्राणदान मिले यही इस दासानुदास की विनती है।''

यदुनाथ सरकार ने शिवाजी का यह पत्र प्रकाशित किया। इसका उल्लेख

ऐतिहासिक दस्तावेजों में भी है। इस पत्र के मिलते ही धूर्त औरंगजेब ने शिवाजी को क्षमादान का पत्र, दरबारी पोशाक और दरबार में हाजिर होने का फरमान भेजा। इसकी खबर मिलते ही 'मुसलमानी धर्मरक्षक'—उस औरंगजेब का सम्मान करने छह मील पैदल गए। उन्होंने उसका प्रत्युत्तर भेजा—

"बादशाह की मुहर और पंजे से अलंकृत, आपकी कृपापूर्ण आज्ञा मिली। इस रूप में बादशाह ने मुझे प्राणदान दिया है। इस पापी दास के अपराध क्षमायोग्य न होते हुए भी बादशाह ने दया कर अंत:करण से उसे क्षमा किया। यह बादशाह के लिए गौरवास्पद बात है। आपकी आज्ञा के अनुसार बीजापुरवालों पर हमला कर तथा उस युद्ध में विशेष पराक्रम कर मैं अपने अपराध धो डालूँगा। इस तरह आपके अनंत उपकारों के प्रति अंशत: कृतज्ञता दिखाऊँगा।"

आगे चलकर इस मुसलमानी धर्मरक्षक ने 'गो-ब्राह्मण प्रतिपालक' छत्र स्थापित कर मुसलमानी धर्म का कितना रक्षण किया और औरंगजेब को दिए, 'आपकी नौकरी के प्रति ईमानदार रहूँगा' वचन का कितना पालन किया, ये सारी बातें इतिहास प्रसिद्ध हैं।

पर जिनकी नजर शिवाजी के भविष्य के कारनामे न देख सकी थी या जिनके क्षुद्र और कृतघ्न मन उस पुरुषसिंह के पिछले वीरतापूर्ण कारनामे, अपूर्ण साहस, उनके दीप्ततम तेज की दीप्ति और स्मृति भूल गए थे, ऐसे लोगों ने शिवाजी के विरोध में बोलना शुरू किया। जो अफजल खान की तरफ नजर उठाकर देख भी नहीं सकते थे, जिनके घुटने मुसलमानों को कोर्निस करते-करते घिस गए थे, जो बीजापुर और दिल्ली के मार्ग में गायों के कसाईखानों की ओर जाते समय, मुसलमानों के डर के कारण नाक को हाथ से बंद तक नहीं कर सकते थे, ऐसे कायर, देशशत्रु और नौकरानियों के नौकर होने की पात्रता रखनेवाले लोग नाक सिकोड़कर बोले, "छि: ! डर गया ! ऐसे पत्र लिखने की बजाय शिवाजी मर जाता तो अच्छा था !"

मूर्खो, अगर तुम समझते थे कि बीजापुर के मार्ग में गोवध होते देख, चिढ़कर जिसने बचपन में ही उस मुसलमान कसाई का शिरच्छेद किया, जिसने अफजल खान को मार डाला, शाहिस्ता खान को शासित किया, जो स्वामी रामदास का पट्ट शिष्य था, अखिल हिंदू राष्ट्र की मूर्तिमंत महत्त्वाकांक्षा था, अगर तुम मानते हो कि वह शिवाजी तुम जैसे गुलामी की नरक में जीते-जी मरनेवाले लाखों 'वीर्यशाली' मच्छरों से 'कायर' था तो तुम लोग ही इस धर्मयुद्ध में, स्वातंत्र्य युद्ध में उससे अधिक शूरता दिखाते ! शाहिस्ता को भगाकर, पाँचों शाहियों को सताकर शिवाजी ने यह पत्र लिखा तो इसीलिए कि बाद में उचित अवसर पर दक्षिण की इन पाँचों शाहियों को और मुगलों की प्रमुख मुसलमान सत्ता को मिट्टी में मिलाया जा

सके। तुम भी अगर शाहिस्ता को शासित करते, इन पाँचों मुसलमान सत्ताओं से लोहा लेते और फिर भी ऐसा एक भी पत्र नहीं लिखते, तब शायद कोई तुम्हारी इस बचकानी बातों का समर्थन करता। एक तरफ तो तुम कहते हो कि शिवाजी मर जाता तो अच्छा होता और दूसरी तरफ स्वदेश के लिए तुम अपने रक्त का एक बूँद भी नहीं दे सकते। इतना ही नहीं, देश के शत्रु की आजीवन सेवा करने में ही तुमने अपनी वीरता मानी। तुममें तो धर्मयुद्ध में भाग लेने की हिम्मत नहीं और अगर दूसरा कोई देशशत्रु पर वार करना चाहता है तो उस देशशत्रु की क्रोध भरी हुँकार सुन तुम मारे डर के घर के दरवाजे बंद कर, चूड़ियाँ पहन, चूल्हे के पास जा बैठते हो। ऐसे में तुम जैसे लोग शिवाजी की कायरता पर हँसें, तो हँसें अपनी बला से। इतिहास तो यही कहेगा कि ऐसे लाखों लोगों के हँसने से या उनके जीने-मरने से मेरा कोई सरोकार नहीं।

मुसलमानी धर्मरक्षक शिवाजी को बादशाह ने पत्र लिखा, ''बादशाह से मुलाकात कीजिए और उनकी कृपा प्राप्त कीजिए।'' शिवाजी महाराज ने खून का यह घूँट भी पी लिया। बादशाह से मिलने का निश्चय किया। वहाँ जाने पर औरंगजेब ने शिवाजी को अपने दरबार में पाँच हजारी मनसबदारों की कतार में खड़ा किया। जिस शिवाजी ने पूरे हिंदुस्थान पर अपना अधिकार जताया था उसका इससे बड़ा अपमान क्या हो सकता था? अंदर-ही-अंदर दबाया क्षत्रियतेज उफनकर बाहर आने लगा। शिवाजी का चेहरा गुस्से से तमतमाया, मारे क्रोध के शिवाजी कुछ बुदबुदाए। फिर भी उन्होंने क्रोध की तलवार को सहनशक्ति की म्यान में रखने की कोशिश की। वे उनके लिए दिए गए मकान की ओर चले गए। पर वह मकान ही बंदीगृह हो गया। शिवाजी पर सशक्त सिपाहियों के पहरे लगे। यह ऐसा समय था जब अपने अंगीकृत कार्य की तरफ जाने के लिए हिंदू स्वातंत्र्यश्री के भावी राजमंदिर में घुसने के लिए एक छोटा सा दरवाजा खुला था; उस दरवाजे से गरदन झुकाकर, शरीर सिमटकर, अभिमान को भुलाकर ही जाया जा सकता था। अब अगर शिवाजी कहते कि 'मैं गरदन को कभी नहीं झुकाऊँगा, जान भले ही जाए, मैं हिंदू स्वातंत्र्य के ध्वज को हाथ में उठाए, सीना तानकर ही जाऊँगा' तो उनका यह कृत्य प्रशंसनीय भले ही होता पर अभिनंदनीय कदापि न होता, इसीलिए शिवाजी महाराज ने उस छोटे से दरवाजे से हिंदू राज्यश्री मंदिर जाने का निश्चय किया। जो भी पहरेदार उनपर पहरा देता, उसीके वे स्तुतिपाठ गाते। किसीको बड़े-बड़े पिटारे भर-भरकर मिठाई भेजते तो मुसलमान सरदारों को संदेश भेजते कि 'मैं मुसलमानी धर्म का रक्षक हूँ। मैं बादशाह से कभी वैर नहीं करूँगा। मैं बादशाह का अपराधी हूँ।'...और एक दिन पिटारे के पेड़े, बरफी, मिठाई और अफीम खाकर धुत हुए

पहरेदारों को छकाकर महाराज नौ दो ग्यारह हो गए। उस दिन बहुत सारे पिटारे भेजे जा रहे थे। उनमें से एक पिटारे में ऊपर था भूसा, नीचे भी भूसा। ऊपर मिठाई, नीचे भूसा, मेवा और उनके बीच बदन सिकोड़कर बैठे थे शिवाजी महाराज। अगर उसी समय वे पहरेदार के हाथों पकड़े जाते तो उनकी यह स्थिति देख औरंगजेब ठहाके मारकर कहता, "बेशक यह बेशर्म एक पहाड़ी चूहा है। देखो, कैसे चूहे की माफिक छिपकर बैठा है।" पर उस समय चूहे की माफिक होना ही शौर्य था, उस समय सिंह गर्जना करना मूर्खता की परिसीमा होती।

कुछ महीनों के अंतराल में महाराज सुरक्षित रूप से रायगढ़ पहुँचे। और तब आई सिंह गर्जना की वेला। पहाड़ों से, दर्रों से तोपें गरज उठीं। महाराष्ट्र की यह सिंह गर्जना सुन औरंगजेब पहले जिसे तुच्छता से 'चूहा' कहता था, उसीको गुस्से से 'शैतान' कहने लगा।

थोड़े ही दिनों में महाराज ने रायगढ़ पर हिंदुओं के साम्राज्य की नींव डाली। रायगढ़ पर हिंदुओं का स्वातंत्र्य ध्वज फहरा उठा। गो--ब्राह्मणों के पालनकर्ता, श्रीछत्रपति शिवाजी महाराज सिंहासन पर आरूढ़ हुए। औरंगजेब की छाती पर मूँग दलकर उन्होंने हिंदू पदपादशाही की स्थापना की। जयसिंह को शरणागति का पत्र लिखना शिवाजी का राजनीतिक पैंतरा था। पर इस बात से अनजान लोग उनपर छि:-थू कर रहे थे। कह रहे थे, "छि:! शरण गया। उसने शत्रु के पाँव पकड़े।" पर शिवाजी ने शत्रु के पाँव पकड़े थे तो उन्हें खींचकर शत्रु को नीचे गिराने के लिए। इस एक पैंतरे का उपयोग कर शिवाजी ने वह कर दिखाया कि हरिद्वार से कन्याकुमारी तक की हिंदू जनता तालियाँ पीट-पीट गरजने लगी—गरज रही है—गरजती रहेगी—"शाबाश रे वीर! क्या दाँव मारा—शत्रु को धोबी पछाड़ दी।"

यह था शिवाजी का दुष्ट शत्रु के साथ व्यवहार। पर उनका सुष्टों के, साधुओं के साथ का व्यवहार कैसा था? रामदासजी कहते हैं, "आचारशील, विचारशील, न्यायशील, धर्मशील! सर्वज्ञ सुशील! सबका दु:ख-दर्द जाननेवाला राजा!" शिवाजी ऐसा राजा था जिसने इतनी मुश्किल से पाया राज्य, कागज के टुकड़े पर 'राम का' कहकर स्वामी रामदास की झोली में डाल दिया और स्वयं हिंदू धर्म के लिए फकीरी स्वीकार कर ली।

आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव।

अगर साध्य पवित्र हो तो उसके लिए दिखाई गई शूरता तथा नम्रता, रण तथा शरण दोनों ही पवित्र हैं। पवित्रतम साध्य की सिद्धि के लिए जो-जो साधन

अपरिहार्य तथा अंत में मनुष्य जाति के लिए लाभदायक हों, उनका उपयोग पवित्र ही है।

हिंदू धर्म का पुनरुज्जीवन कर, स्वराज्य प्राप्त करना अगर न्याय है, धर्म है, ईश्वरीय संपत्ति का वरदान है, तो उसकी सिद्धि के लिए मैं शेर के जबड़े में हाथ डाल उसके दाँत गिनने का दुष्कर शौर्य करूँगा। पर अगर कभी यह शौर्य हानिकारक हो तो मैं भयंकर कालसर्प पर जादू करनेवाली नम्रता की मंजुल बीन बजाने का काम भी बड़ी गंभीरता से करूँगा। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए, भगवत्कार्य के लिए, जनता के कल्याण के लिए कभी मैं 'बलि' को दुर्बल लगनेवाली वामनमूर्ति बनूँगा, जरासंध की नगरी में मैं महाद्वार से विजयवाद्य बजाते हुए जाने की मूर्खता कदापि नहीं करूँगा। कालयवन के सामने से मैं रफू-चक्कर हो जाऊँगा, मुचुकुंद की गुफा में छिप जाऊँगा, भीम की तरह रसोइया बनूँगा, पर अवसर हाथ आते ही मैं अचानक पलटकर, जिस क्रोध से श्रीराम रावण पर टूट पड़े थे, उसी क्रोध से शत्रु पर टूट पड़ूँगा। नरसिंह की तरह धीर-गंभीर रूप लूँगा। अभिमन्यु की तरह विजय की आशा न करते हुए व्यूह में घुसूँगा, फिर चाहे मारा ही क्यों न जाऊँ।

शिवाजी राजे की राजनीति का यह सूत्र था। इसीलिए औरंगजेब जैसे कपटी, बाप को बाप न माननेवाले मुसलमान बादशाह से टक्कर लेकर वे हिंदू पदपादशाही की स्थापना कर सके।

शिवाजी महाराज की यशस्वी राजनीति का मर्म था—

कातर्यं केवला नीतिः, शौर्यं श्वापदचेष्टितम्।
अतः सिद्धिं समेताभ्यामुभाभ्यामन्वियेष सः॥

इस नीतिसूत्र पर अमल कर शिवाजी स्वराज्य की स्थापना कर सके। शिवाजी शिवाजी बन सके।

□

लानत है तुमपर!

मराठो, आज तीन सौ साल बाद, तुम लोगों ने मुझे, इस शिवाजी को, गाजे-बाजे के साथ, अपना जन्मदिन मनाने के लिए आमंत्रित किया। वह क्या मेरा इसी तरह अपमान करने के लिए। युद्ध, सेना, सैनिक, मोरचे, केसरिया ध्वज, ढोल-नगाड़े! वाह, क्या शोर मचा रखा है! सुनकर लगा था कि आप मुझे कोई बड़ा पराक्रम करने के लिए बुला रहे हैं। मैं सोच रहा था कि तीन सौ साल बाद ही सही, आप लोग मेरा खोया हुआ राज्य प्राप्त कर, उसे मेरे चरणों में अर्पित करना चाहते हैं। इसीलिए आप लोगों ने मुझे आमंत्रित किया होगा। ये रण-गर्जनाएँ और कोलाहल इसीलिए होगा।

पर देखता क्या हूँ! सारा नाटक था। नाट्यगृह में खेला जानेवाला नाटक भी इससे अधिक प्रभावशाली होगा। देख रहा था कि ये लोग गिरगिट पर बैठकर लड़ाई लड़ना चाहते हैं। काकपिंड खाकर भूख मिटाना चाहते हैं। नकली युद्ध खेल रहे हैं। इन शब्दवीरों ने स्वातंत्र्य, युद्ध, कूच, हमला आदि शब्दों की ही नहीं, शिवाजी के नाम की भी पूरी खिल्ली उड़ाई है। इसीमें शिवाजी नाम का भी अब किसीको डर नहीं रहा। तीस-पैंतीस साल पहले तक शिवाजी का नाम लेते ही मेरे शत्रु चौंक उठते थे, उन्हें लगता था कि शिवाजी नाम, रणदेवता का जाज्वल्य मंत्र है। वे समझते थे कि इस नाम का उच्चारण करने से, शिवाजी के चित्र का जुलूस निकालने से या उसकी जय-जयकार से महाराष्ट्र के वीरों में पराक्रम की वह उमंग उठेगी कि वे अपना खोया हुआ राज्य फिर से पाने के लिए तानाजी, बाजी की तरह जान हथेली पर लेकर लड़ेंगे। इसीलिए किसी भी कोने से इस नाम का उच्चारण सुनते ही मेरे शत्रु उबल उठते थे। डर जाते थे। उस वासुदेव बलवंत ने मेरे नाम का उच्चारण किया था। उस चापेकर ने मुझपर एक कविता रची थी। कितनी खलबली मची थी तब। मेरे नाम का उत्सव मनाना अपराध माना गया था। मेरा नाम लेना मना था। जैसे विष्णु के नाम से राक्षस बौखला उठते थे, वैसे ही मेरे नाम से भी मेरे शत्रु

बौखला उठते थे। पर हाय! तुम लोगों की अभागी जीभ मेरे नाम को छू गई और मेरे नाम का सारा जादू उतर गया। पत्थर पर चिनगारी का कोई असर नहीं होता। वैसे ही इस मृतप्राय महाराष्ट्र पर मेरे नाम का कोई असर नहीं हो रहा है। पहले शत्रु समझता था कि महाराष्ट्र बारूद का ढेर है, उसपर शिवाजी की स्मृति की चिनगारी गिरी नहीं कि विस्फोट हो जाएगा। पर अब वह जान गया है कि यह बारूद का ढेर नहीं बल्कि गंदे नाले की दलदल हो गई है। शिवाजी के नाम से यह जलेगी नहीं बल्कि वह स्मृति रूपी चिनगारी ही बुझ जाएगी। इसीलिए हे शब्दवीरो, अब वह तुम्हें मेरे नाम की जय-जयकार करने से मना नहीं करता। मेरे नाम से अब तुम लोगों के नामर्द मन में किसी तरह की कर्तृत्वशील चेतना उत्पन्न होने से रही। इसीसे मेरे नाम का डर जाता रहा है। विषैले दाँत निकालने के बाद बच्चे भी साँप से खेलने लगते हैं। मेरा शत्रु भी मेरे नाम से इसी तरह खेल रहा है। जिन्होंने मेरा राज्य छीन लिया, मेरे सिंहासन पर कब्जा किया, वे ही मेरी मूर्ति स्थापित करें, इससे बड़ा कोई अपमान हो सकता है मेरा? मेरे शत्रु मेरे महाराष्ट्र में, मेरे पुणे में मेरी मूर्ति स्थापित कर रहे हैं। यह तो मेरे अपमान की हद है। जिस प्रांत में मैंने शाहिस्ता खान पर छापा मारा, अफ़जल खान को चीर डाला, उसी प्रांत के मेरे प्रमुख शहर पुणे में मेरी मूर्ति स्थापित करने में मेरे शत्रु को जरा भी डर नहीं लगा। इस घटना से तुम लोग विद्रोह कर उठोगे, इसका उन्हें थोड़ा भी डर नहीं?

पत्थरदिलो, तुमने मुझ शिवाजी को भी एक पत्थर में बदल डाला है। राख में डाली गई आहुति निष्फल है; व्रतच्युत के मुँह में भैरवमंत्र भी निस्तेज, निष्प्रभ होता है। लाश के साथ बँधी तलवार भी उसीकी तरह निष्प्राण होती है। इसी तरह इस पुण्यक्षयी, क्षयग्रस्त पुणे में खड़ी मेरी मूर्ति भी एक पत्थर बनकर रह गई है। और रास्ता रोकती पत्थर की दीवार से चोर जितना डरता है, उससे भी कम वह डरता है मेरी पत्थर की मूर्ति से। क्योंकि तुम लोगों के कमजोर हाथ, लँगड़े पाँव और मृतप्राय मन मेरी पत्थर की मूर्ति का थोड़ा भी उपयोग नहीं करते।

फिर तुम लोगों ने मुझे बुलाया ही क्यों? मेरी इस तरह विडंबना करने? जिस प्रतापगढ़ पर मैंने अफजल खान का कटा हुआ सिर टाँगा, शत्रु के दस-बारह हजार घोड़ों को बरामद किया, उसी प्रतापगढ़ को दस-बारह पठान लूटें! मेरी कुल स्वामिनी की मूर्ति को झिंझोड़ डालें! और उस गढ़ के चारों ओर फैले हजारों मराठा सैनिक हाथ में चूड़ियाँ और बदन पर साड़ियाँ पहन विदेशी पुलिस के पैर पकड़ें, गिड़गिड़ाएँ! यह कहें कि 'हाय, केवल बारह पठानों ने हमें लूट लिया! हमारी देवी माँ को भ्रष्ट कर दिया!' छिः! छिः! मैं तो थूकता हूँ ऐसी दीन-हीन लाचार जिंदगी पर!

यहाँ प्रतापगढ़ में यह अवस्था? आपको यह तीन सौ वर्षों का शिवोत्सव देवी माँ के अपमान का बदला लेकर मनाना चाहिए। यही मेरे शूर-वीर मराठों के स्वाभिमान के अनुरूप होता। यह क्या कि आप जुन्नर आकर मेरे लिए लोरियाँ गा रहे हैं। मेरे प्रिय महाराष्ट्र का यह अपमान देख मेरे तन-बदन में आग लग गई है। वह आग आपकी लोरियाँ सुनकर शांत नहीं हो सकती। आपकी यह सौम्य प्रकृति मुझे प्रसन्न नहीं कर सकती। आपने किया है तो कौन सा पौरुषपूर्ण काम किया? वह जुन्नर किले पर आयोजित दौड़। अरे, मैंने उन हजारों वीर मराठाओं को इस महाराष्ट्र भूमि में देखा है, जिन्होंने मुलूख मैदान जैसी सैकड़ों आग उगलती तोपों के साए में जाकर, जान की बाजी लगाकर शत्रु के किलों को जीत लिया था। ऐसे में जिस किले में शस्त्रास्त्र के तौर पर एक गुलेल तक नहीं, वहाँ आयोजित आपकी यह प्रतीकात्मक दौड़, छोटे बच्चे की डगमगाती चाल नहीं तो और क्या है? इस तरह से उस किले को जीतना और जीतते ही अंग्रेजों के अधीन करना! वाह, क्या हिम्मत है, क्या चतुराई है!! इससे तो यही अच्छा था कि आप पाँवों में पायल पहन घुँघरू छनकाते, इधर से उधर और उधर से इधर नाचते-लचकते फिरते! किले से नीचे उतरते ही वह लड्डू, जलेबीवाला स्वादिष्ट भोजन और मेरे केसरिया ध्वज का जुलूस! और वे मुझपर स्तुति-सुमन बरसाते व्याख्यान! मेरे इतिहास के आधारभूत साहित्य का प्रकाशन! इन्हीं कुछ पराक्रमों की झलक आप लोगों ने दिखाई।

मेरे देशबंधुओ, मैं आप लोगों से बहुत प्यार करता हूँ। मैंने अपने हिंदुस्थान देश के लिए और हिंदू जाति के लिए कई बार प्राण जोखिम में डाला है। पूरा जीवन कष्टों का सामना किया है। इसीलिए आपकी गलती को दिखाने का, उसे सुधारने का मुझे पूरा अधिकार है। इसीलिए मैं स्पष्ट रूप से कहता हूँ कि मुझे तब तक अपने प्रति आपके प्रेम का अभिमान नहीं होगा जब तक आप मेरी मातृभूमि के उद्धार के लिए, हिंदू जाति के गौरव के लिए सच्चे दिल से प्रयत्न नहीं करेंगे। मेरे स्तुति स्तोत्र गाने की बजाय आप शत्रु को छठी का दूध याद दिलाइए। वही मुझे पसंद आएगा।

क्या आपने वह प्राप्त किया है, जो गँवाया था? जिस संकट के कंस ने आपको बंदीगृह में डाला, क्या उस संकट का आपने गला घोंटा? जिस पूतना ने आपको धोखा देकर मारने की कोशिश की, क्या उस पूतना के शरीर की आपने धज्जियाँ उड़ाईं? हमारी भूमाता के पैरों में अभी भी परवशता की बेड़ियाँ हैं, फिर आप केवल मेरी स्तुति में ही क्यों उलझ गए? यह स्तुति मुझे अपनी विडंबना लगती है, अपमान लगता है। क्योंकि जिस भारत में मैं—यह शिवाजी—पैदा हुआ वह भारत जिसके हाथ में है वह मुझसे मेरी जाति से श्रेष्ठ होगा ही। इसलिए आप मेरी

जितनी ही अधिक स्तुति करेंगे, उतना ही वह भारतविजेता श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर होता जाएगा। मैं यही जानने के लिए आया हूँ कि आप लोगों ने भारतदेश की मुक्ति के लिए, जनता के लिए क्या-क्या किया है, और आप मेरे सामने प्रस्तुत करते हैं शिवकालीन इतिहास के संशोधनात्मक कागज-पत्र! शिवकालीन इतिहास तो मैं जानता हूँ। आपसे सैकड़ों गुना अधिक जानता हूँ। आप लोग मुझे यह बताइए कि वर्तमान सुधारने के लिए आप क्या करने वाले हैं? आप मुझे इस बारे में जानकारी दीजिए। क्या आप किसी भी काल का निर्माण नहीं कर रहे? जो अपने पौरुष से, अपने काल का शककर्ता नहीं हो सकता, वह मृतप्राय देश, वह मृतप्राय पीढ़ी पूर्वकाल की वीरगाथाएँ ही गाएगी। गरीबी में सड़ता अयोग्य व्यक्ति ही अपने करोड़पति परदादा के नाम का डंका बजाता है। आज के महाराष्ट्र की यही दुर्दशा है। हर कोई शिवकाल पर अपनी कलम आजमाना चाहता है। उपन्यास 'शिवकालीन', वीरगीत 'शिवकालीन', नाटक 'शिवकालीन', मूर्ति 'शिवकालीन', इतिहास 'शिवकालीन', अनुसंधान 'शिवकालीन'। मानो शिवकाल के अलावा दूसरे किसी काल को छूना मना है। मुझ शिवाजी को और मेरी शिवकालीन पीढ़ी को भी इस शिवकालीन स्मृति पर क्रोध आने लगा है। शिवकाल की इतनी अति हो गई है।

भगवान्, अब महाराष्ट्र मुझे और मेरे काल को बिसरा दे। यही मेरे महाराष्ट्र के हित में है। मेरे, गए-बीते शिवाजी के स्मरण में ही महाराष्ट्र इतना बेसुध हो गया है कि उसे अपनी सुध नहीं रही है। विगत शिवाजी ही उन्हें इतना अच्छा लगता है कि इसके बाद कोई दूसरा शिवाजी पैदा होना चाहिए, यह इच्छा ही उनके लिए असहनीय है। ये लोग मेरे तानाजी, बाजी और हमारे अन्य सच्चे-झूठे, छोटे-बड़े साथियों के साहसी कारनामों की, हमारी स्थिति से टक्कर लेकर उसे बदलने की पौरुषपूर्ण इच्छा की वाहवाही करते नहीं थकते। पर ऐसा ही छोटा-बड़ा साहस, ऐसी ही पौरुषपूर्ण इच्छा अगर उनमें से कोई करने लगता है तो ये ही लोग उसे सिरफिरा, अत्याचारी, अराजक, पागल की गाली देने लगते हैं। मुट्‌ठी भर होते हुए भी हमने बड़े शत्रुओं से लोहा लिया इसकी प्रशंसा करनेवाले वे लोग, उनमें से ही कुछ लोग भारतशत्रु से लोहा लेने के लिए तैयार हो जाते हैं तो उनका 'मुट्‌ठी भर लोग' कहकर मजाक उड़ाने लगते हैं। जो गुण शिवकालीन उपन्यासों में 'साहस' शब्द का सम्मान पाता है, वही वर्तमान काल के लिए 'सिरफिरापन' कहलाता है। वह अत्याचार करार दिया जाता है। इसके विपरीत सदहेतुक वृद्धों की साहसशून्य और दूसरों की टाँग खींचनेवाली बुद्धिमानी शिवकालीन वाङ्मय में दोष माना जाता है, पर इस पीढ़ी में वह 'बुद्धिमानी' का सम्मान पाती है। इतना ही क्यों? हमारे शिवकालीन और राजारामकालीन पीढ़ी के कुछ लोग जागीर या इनाम पाने के लिए

ही लड़ते थे, पर वर्तमान काल में तो लोग उन्हें भी देशभक्ति का गौरव और प्रशंसा देते हैं। वहीं इनकी पीढ़ी के कुछ लोग देश की स्वतंत्रता के लिए लड़ते समय फाँसी के अलावा अन्य किसी जागीर की इच्छा नहीं करते, पर इन जाज्वल्य देशवीरों को देशवीर कहलाने का भाग्य भी नसीब नहीं होता। आज के ये दोहरी नीतिवाले लोग इन सच्चे देशवीरों पर एक अक्षर लिखना भी असभ्यता मानते हैं। मैं अच्छी तरह से जानता हूँ कि यह सब उस इंडियन पीनल कोड का प्रभाव होगा और अगर उस कोड में मुझे याद करना दंडनीय अपराध माना जाता तो इस शिवकालीन काल को भी मारे डर के मुँह छिपाकर बैठना पड़ता। और हमें भी वासुदेव बलवंत की तरह अनादर का शिकार होना पड़ता। हाल ही में मैंने उस जाज्वल्य देशवीर की जीवनी देखी। उसमें न्यायमूर्ति महादेव गोविंद रानाडेजी का कई स्थानों पर सम्मानार्थ बहुवचन में उल्लेख हुआ है। उसमें सार्वजनिक काका का उल्लेख भी सम्मानपूर्वक हुआ है। वह उचित भी है। वे भी देशभक्त और त्यागी देशसेवक थे। पर वासुदेव बलवंत फड़के की जीवनी में ही उसे हर जगह तुच्छतादर्शक एकवचन से संबोधित किया गया है। देशभक्ति और देश-सेवा के लिए किए गए त्याग में फड़के उन्हींकी पीढ़ी में इतने निम्न स्तर के सिद्ध किए गए। कारण था तो केवल इतना ही कि उन्होंने देशहित के लिए अपने जीवन की बची हुई शाम अथवा वेतन का एक लक्षांश त्याग करने की सभ्यता न कर पूरा-का-पूरा जीवन और सर्वस्व देशप्रेम की वेदी पर अर्पित करने की असभ्यता की। इसीलिए कौड़ियों के दाम बिकनेवाले कलम बहादुरों ने भी उन्हें अनादरसूचक एकवचन से संबोधित किया। वासुदेव बलवंत के साहस को यश नहीं मिला। पर आदरसूचक बहुवचन का कारण सिर्फ यश ही हो तो मुझ शिवाजी का क्या हाल हो? अफजल खान के शिकंजे से मैं दैवयोग से छूट गया। मैं वहाँ मृत्यु के गाल में समाता तो मेरी स्तुति में गीत गानेवाली स्त्रियाँ मुझे परम मूर्ख का खिताब देतीं। कहतीं कि अकल के दुश्मन, मौत को गले लगाने अपने आप अफजुल्ला के खेमे में गया।

आप कहेंगे कि उजड़े हुए किले पर दौड़ आयोजित करना, मिष्टान्न भोजन करना और मेरे इतिहास के खोजपत्रों का मुझे भोग लगाना, इससे अधिक कुछ आप सद्य: स्थिति में नहीं कर सकते, इसपर मैं कहूँगा कि जब तक आपकी कायरता का प्रतिबिंब दिखानेवाली यह परिस्थिति है तब तक आप कम-से-कम मुझे आमंत्रित करने की मूर्खता तो मत ही कीजिए। आपका यह उत्सव उस भगोड़े दूसरे बाजीराव के योग्य है। उसमें किसी किले पर हमला करने की हिम्मत नहीं थी। शायद वह तुम्हारे इस छोटे बच्चों की तरह दौड़ने के कार्यक्रम से संतुष्ट होता। परकीयों के झंडे तले वही लड्डू का भोग स्वीकार कर सकता है। मुझे तो तभी बुलाइए जब

राज्यारोहण का शुभ दिन आए। सिंह को आमंत्रण देकर उसकी थाली में हरे घास का खाना रखने की मूर्खता तो न कीजिए। वह आतिथ्य रखिए किसी कायर के उत्सव के लिए। जरा सोचिए कि अगर मैं अपने से पहले हुए विजयनगर के हरिहर बुक्का के शतसांवत्सरिक उत्सव कर लड्डू खाता रहता अथवा उनकी जन्म तिथियों और मृत्यु तिथियों की सूचियाँ बनाने में ही कृतार्थता मानता तो हिंदू पदपादशाही कदापि स्थापित न करता। पूर्वजों के ऋण से कभी उऋण न होता। मैं भी रामायण सुनता था, पर दादा-दादी की तरह सिर्फ वही नहीं सुनता था अथवा मरे हुए रावण को ही हर वर्ष नाटकों या वीरगीतों के गान में नहीं मारता था। वरन् रामायण सुनते ही मेरी बाँहें फड़कने लगतीं और मैं अपने समय के जीवित रावण को मारने दौड़ता। मैंने अफजुल्ला को मारा। शाहिस्ता की अँगुलियाँ काटीं। मुसलमानों के पाँचों राज्यों को धूल में मिलाया। रामायण सुनकर मैंने राम की तरह पराक्रम किए। रावण के दस मुँहों पर झलकतीं बीस मूँछों में कितने बाल थे या हनुमान की छलाँग के समय धूल के कितने कण उड़े थे इसकी ऐतिहासिक खोज करने में ही मैंने रामायण वाचन की इतिश्री नहीं समझी। मेरे महाराष्ट्र की कोख से जनमी यह पीढ़ी इतनी पंगु और कायर है कि उसे सद्य: परिस्थिति भयावह लगती है। पर जैसे हनुमान ने जंबुमाली को रौंद डाला वैसे ही विपरीत परिस्थिति को पाँव तले दबाकर मैंने दस शतकों के राष्ट्रीय अवनति के भयानक समुद्र को पार किया। और पराधीनता की लंका को जलाकर राख किया।

अगर आप भी ऐसा कुछ करें तो मैं आपका सगा-संबंधी हूँ। गली-गली में मेरा उत्सव कर, मेरा गुणगान करनेवाले मरियल महाराष्ट्र से तो मुझे मेरे उत्सव न करनेवाले बंगाल और पंजाब ही अपने लगते हैं। क्योंकि मेरी हिंदू जाति के उद्धार के लिए, वे मेरे सैनिकों के योग्य कुछ साहस कर रहे हैं। मेरे हिंदू कुल के उद्धार के लिए जो भी संकटों का विनाश करता है वही मेरा पुत्र है। भले ही उसे मेरी सही जन्मतिथि मालूम न हो। पर जो मेरे घर की रक्षा के लिए कुछ नहीं करता, उलटे घर में चोर के रहते मुँह पर बुरका ओढ़कर, 'मेरे पिता, मेरे पिता' 'मेरा शिवाजी, मेरा शिवाजी!' की जपमाला जपता है, वह मेरा पुत्र नहीं बल्कि मेरे पेट से उपजा कृमि-कीटक है।

मैं आपसे पूछता हूँ कि मेरा राज्य कहाँ है? मेरा मुकुट कहाँ है? हमारे भारत के आकाश, भूमि और समुद्र पर किसका स्वामित्व है? किसी दूसरे का है तो क्यों? यह पराधीनता देख मेरा तन-मन जलने लगता है। क्या-क्या पूछूँ, क्या-क्या न पूछूँ? मेरे पूछे और न पूछे प्रश्नों के उत्तर दीजिए। बाहरी परिस्थिति बदल गई होगी। अब मशालों की जगह बिजली के दीये आए होंगे। कोई बात नहीं। उसीके

प्रकाश में नए मार्ग ढूँढ़िए। नई योजनाएँ बनाइए। मैंने भी राम के धनुष-बाण से युद्ध नहीं किए थे। साधन बदल दिए, पर अपने काल के रावण को आखिर मार ही दिया मैंने। आप लोग भी लड़ने के साधन बदलिए, लड़ने के तरीके बदलिए। कुछ भी कीजिए पर लड़ना तो न छोड़िए। जीत को हासिल कीजिए। पर जब तक आप लोग ऐसा नहीं कर सकते, मेरे प्रश्नों के उत्तर नहीं दे सकते, एक से अधिक शिवाजी उत्पन्न नहीं कर सकते, तब तक महाराष्ट्रियनो, आपको आपके शिवाजी की कसम, मेरे वीरगीत न गाइए। मेरा नाम स्वामित्व के अधिकार से न लीजिए। वीरगीतों को तो गाना चाहिए वीरों को, आप जैसे कायरों को नहीं।

आपको मेरा अनुकरण करना है, न कि अनुस्मरण!

दिनांक ५ अप्रैल, १९३०

□

डॉ. आंबेडकर को उत्तर—विजयशील हिंदू राष्ट्र

"There is not a petty ṣtate in Rajasthan that has not its thermopolyae and scarcely a city that has not produced its Leonidas."

—*Todd's Rajasthan*

कर्नल टॉड ने राजस्थान के बारे में कहा था कि राजस्थान में एक भी ऐसा राज्य नहीं जहाँ कई थर्मापिली नहीं तथा वहाँ एक भी ऐसा नगर नहीं जहाँ कई लिओनिडास नहीं। पर यही विधान इस आसिंधुसिंधु फैले समूचे हिंदू राष्ट्र के बारे में भी किया जा सकता है।

पर इस ऐतिहासिक सत्य को अनदेखा कर आजकल डॉ. आंबेडकर हिंदू राष्ट्र पर वह कलंक लगा रहे हैं जो उसके शत्रु भी नहीं लगाते। अगर वे हिंदू राष्ट्र से अपना नाता तोड़ना चाहते हैं तो खुशी से तोड़ें। पर हम उस नाते को तोड़ना नहीं चाहते। बल्कि उसे ममता के रज्जू से और अधिक दृढ़ करना चाहते हैं। और इसके लिए हम यथाशक्ति प्रयत्न कर रहे हैं। पर हिंदू राष्ट्र इतना भी स्वाभिमानशून्य या बलहीन नहीं हुआ है कि हिंदू राष्ट्र पर उपकार करने के लिए कोई उसके झंडे तले आए, इसके लिए उसके पाँव पकड़े और दुर्भाग्य से ऐसा समय कभी आ भी जाए तो भी कोई मानधन हिंदू ऐसे पाखंडी की उदारता के सहारे जीने से लड़ते-लड़ते मर जाना बेहतर समझेगा।

आंबेडकर का निर्लज्ज आक्षेप

डॉ. आंबेडकर ने पंजाब के जाति-पाँति विरोधी मंडल की परिषद् में दिए अध्यक्षीय भाषण में निम्नलिखित कठोर टिप्पणी की थी—

''हिंदुओं का जीवन केवल आज ही नहीं, हमेशा से ही लज्जास्पद रहा। अभी भी हिंदू इसलिए नहीं जी रहे कि उनमें पराक्रम है, बल्कि इसलिए कि दूसरों

से पैरों तले रौंदे जाने में उन्हें शरम नहीं आती। काल के प्रवाह में हम जिए जा रहे हैं, बचे रहे हैं, इसका हिंदू राष्ट्र को अभिमान है, पर वह अभिमान खोखला है। क्योंकि हिंदू समाज सदा ही दास्य जीवन जीता जा रहा है। वह अखंड शरणागति तथा पराभव का जीवन था। The Hindus' has been a life of continuous defeat. It is a mode of survival of which every Hindu will feel ashamed."

डॉ. आंबेडकर के उपर्युक्त आरोप सर्वथा असत्य हैं। यदि वे सत्य होते तो वे कितने ही कटु होते तो भी मैं उसके लिए दुःखी न होता। डॉ. महोदय ने आज ही अत्यंत अन्यायी और दुष्टतापूर्ण अस्पृश्यता रूढ़ि के विरोध में उसकी जो भर्त्सना की है या जन्मजात जातिभेद के घातक परिणामों के संबंध में जो ज्वालाग्राही टीका की है उतनी ही न्याय निष्ठुरता से हम उन दुष्टतापूर्ण रूढ़ियों का विरोध करते आ रहे हैं, उसके उच्छेद के लिए प्रयत्नशील हैं।

हमारे हिंदू राष्ट्र के शरीर में व्याप्त जातिभेद जैसे ही अन्य दोषों को राष्ट्रहित में ही पूरी निर्भयता से खोज निकालने में संकोच नहीं करते—ये बातें हम अपने ही मुँह से कहें ऐसा नहीं है। जिस राष्ट्र में अपने राष्ट्रीय दोषों का धिक्कार करने का साहस नहीं, उनका प्रतिकार करने की शक्ति नहीं, वह राष्ट्र निश्चित ही मृत्युपथ पर है ऐसा समझा जाए। पर हमें यह पूरा विश्वास है कि हमारे हिंदू राष्ट्र में वह साहस और शक्ति आज भी है। इसीलिए हम अपने दोष दिखाने से भी नहीं हिचकते। इसलिए केवल हमारे राष्ट्रीय दोषों की निंदा की जाने पर हमारी भावनाओं को चोट पहुँचने से हम आंबेडकर जैसे लोगों का विरोध करते हैं, यह बात कम-से-कम मेरे लिए कोई कह नहीं सकता। अर्थात् डॉ. आंबेडकर जो उपर्युक्त आरोपों में कहते हैं कि हिंदुओं का इतिहास अखंड शरणागति का इतिहास है, हिंदुओं का जीवन आरंभ से अंत तक दास्य जीवन है—The Hindus' has been a life of continuous defeat—वह अगर ऐतिहासिक सत्य होता तो इस लज्जास्पद आक्षेप को भी हम मान लेते।

लेकिन प्रश्न यह उठता है कि सच्चे स्वाभिमानी पुरुष का वर्तमान स्थिति में क्या कर्तव्य हो सकता है। यह कहना कि 'जिस हिंदू राष्ट्र में, हिंदू वंश में हम जनमे, पले-बढ़े उस राष्ट्र का उस हमारे राष्ट्र का पिछला इतिहास इस तरह अखंड शरणागति का है, हमारे पूर्वजों ने पराक्रम कभी किया ही नहीं, हमारे वंश में, कोई स्वाभिमानी पुरुष हुआ ही नहीं?' यह तो यही हुआ कि अपने ही पूर्वजों और पिता को धिक्कार कर, दूसरे के पिता को अपना कहने के लिए ललचाना। क्या यही कर्तव्य है हमारी पीढ़ी का? 'बाप को बाप न कहनेवाला' कुपुत्र अपने नामर्द पूर्वजों

से भी नामर्द है। जिसे अपने सारे-के-सारे पूर्वजों की 'अखंड शरणागति' का कलंक चुभता है, उस पुत्र का कर्तव्य होना चाहिए कि वह उस कलंक को धोने की प्रतिज्ञा कर कर्तव्य-रण में कूद पड़े, न कि बाप को बाप मानने से इनकार करे या किसी दूसरे के दत्तक चला जाय। अगर मेरे पूर्वजों से कुछ पाप होता है तो मुझे अपने पुरुषार्थ से उनका उद्धार करना चाहिए। अगर मुझे इस बात की शरम है कि मेरे वंश में किसीने पराक्रम नहीं किया तो मुझे चाहिए कि अपने वंश का मैं ही प्रथम पराक्रमी बनूँ और अपने कुल-शत्रुओं से अपने अनाम वंश का नाम सुनहरे अक्षरों में लिखाऊँ। जो यह कहकर हँसते हैं कि मेरे पूर्वजों ने कोई पराक्रम नहीं किया उनके दाँत मुझे खट्टे करने चाहिए। मेरी माँ में इतनी भी चेतना नहीं कि वह चूल्हा और दीया जलाए। घर में अँधेरा-ही-अँधेरा है और पेट में भूख की अग्नि। ऐसे में मैं उसे भूख और अँधेरे में सड़ने देकर उसके शत्रु की चापलूसी कर अपना पेट भरने लगूँ तो मैं तो एकदम अयोग्य पुत्र सिद्ध होऊँगा। होना तो यही चाहिए कि मैं अपने हृदय की माचिस को जलाकर उस निराशा के अंधकार को दूर करूँ। अपनी चेतना से अपनी माँ को सचेत करूँ, उसे प्रकाश दूँ, मान-सम्मान दूँ। ऐसा ही संकल्प और प्रयास स्वयं को मनुष्य कहलानेवाले को करना चाहिए।

Hindus' life has been a life of coutinuous defeat—यह बात यदि सच होती, हिंदू राष्ट्र का जीवन सचमुच ही पराभूत जीवन होता, तो बिना यह सत्य छिपाए या उससे निराश हुए, हम हिंदुओं की वर्तमान और अगली पीढ़ियों को प्रोत्साहित करते कि चलो, उस 'अखंड पराभव' का कलंक हम अपने पराक्रम से धो डालें। उसके लिए 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्'—इस महाभारतीय मार्ग का अनुसरण करें।

इससे यह बात स्पष्ट होती है कि हम आंबेडकर द्वारा बार-बार किए गए उपर्युक्त विधान का विरोध इसलिए नहीं कर रहे कि वह कड़वा है या उसमें हमारे राष्ट्र की हुई निंदा से हम दु:खी हैं, बल्कि इसलिए कि वह मूलत: झूठ और शरारत भरा है। डॉ. आंबेडकर जैसे विद्वान् जो हिंदू धर्म नीति पर, श्रुति-स्मृति और हिंदू संस्कृति पर अनेक बार विद्वत्तापूर्ण भाषण करते हैं, ग्रंथ लिखते हैं ऐसे विद्वान् और जिम्मेवार आदमी को अपने विधान कितने झूठ हैं यह समझने लायक हिंदू इतिहास का ज्ञान होगा ही या होना ही चाहिए। फिर भी वे जब हिंदू धर्म पर ऐसे बेबुनियाद, लांछनास्पद आरोप लगाते हैं, तब वे वाकई शरारत भरे हैं, यह कहना पड़ता है।

ममता के कारण अपने पूर्वजों की प्रशंसा के पुल बाँधना, मूर्खतापूर्ण भले ही हो पर वह मानवीयता के अनुरूप है। पर अपने पूर्वजों की सिर्फ निंदा करना या दूसरों द्वारा कुत्सितता के कारण की गई निंदा, बिना किसी प्रतिवाद के सुन लेना

मानवीयता के लिए लांछनास्पद है। आंबेडकर हिंदुत्व का संबंध, हिंदू राष्ट्र का नाता भले ही तोड़ देते, पर न्याय, ऐतिहासिक सत्य और नि:पक्षपाती वृत्ति के नाते ऐसी झूठ, खुराफात भरी बातें तो बार-बार न करते। वे यह कदापि न भूलें कि ऐसी झूठी निंदा से हिंदू राष्ट्र की सत्कीर्ति में कोई कमी नहीं आएगी। हाँ, ऐसे निंदकों की सत्कीर्ति में अवश्य कमी आएगी। पर यह भी सच है कि ऐसी कुत्सित और असत्य बातों का प्रतिवाद न करने से सहस्राधिक सामान्य लोग उन्हींको सच मानने लगेंगे और इससे राष्ट्रीय आत्मविश्वास में कमी आने लगेगी। इसीलिए ऐसे असत्य विधानों का विरोध करना और ऐतिहासिक कसौटी पर उन्हें झूठ साबित करना हमारा कर्तव्य हो जाता है। सत्य को जानने के लिए डॉ. आंबेडकर को भी इन ऐतिहासिक कसौटियों पर अपनी बातें परखनी चाहिए।

इस ऐतिहासिक जाँच-पड़ताल में हम छोटी-मोटी विवादास्पद घटनाओं को तूल न देते हुए, केवल परकीय इतिहासकारों को मान्य होनेवाली केवल अकाट्य और महत्त्वपूर्ण घटनाओं पर ही विचार करेंगे।

डॉ. आंबेडकर ने अपने उपर्युक्त लेख में, हिंदू राष्ट्र की किसी एक जाति, प्रांत, वर्ग या कालखंड के बारे में नहीं बल्कि समूचे हिंदू राष्ट्र के और उसके पूरे जीवनकाल पर स्पष्ट रूप से विधान किया है कि 'The Hindus' life has been a life of continuous defeat...' अब हम हिंदू राष्ट्र के समूचे इतिहास का ही विहंगावलोकन करते हैं—

१. वैदिक और पौराणिक कालखंड

जो राष्ट्र आज आसिंधुसिंधु भारतवर्ष में फैलकर हिंदू नाम से प्रख्यात हुआ है, उसका मूल वैदिक काल के सप्तसिंधु नाम के प्रख्यात राष्ट्र में है। हमारे अत्यंत प्राचीन संस्कृत नाम सप्तसिंधु का ही प्राकृत रूप है 'हिंदू'। वैदिक काल के इस सप्तसिंधु राष्ट्र के वीरों के खड्ग और द्रष्टा ऋषियों की स्फूर्ति प्रज्वलित यज्ञाग्नि की ज्वालाओं की तरह ही देदीप्यमान और प्रबल थी। समकालीन शत्रुओं पर विजय प्राप्त करते उनके सैन्य, राज्य और संस्कृति सरस्वती से ब्रह्मावर्त और ब्रह्मावर्त से मगध, प्रयाग, काशी, मथुरा, द्वारका इस तरह पूर्व समुद्र से पश्चिम समुद्र तक अप्रतिहत रूप से विस्तार पाती रही। विंध्य और सह्य पर्वत पार कर वह दक्षिण समुद्र तक फैली। हिंदुओं ने अनादि घने अरण्यों को काटकर प्रदेश-के-प्रदेश बसाए। काटी हुई अरण्यभूमि पर खेती की। वहाँ नगर, महानगर बसाए। बीच राह आए विभिन्न जनपदों और विपक्षीय संस्कृतियों में से कुछ को उन्होंने अपने में समा लिया, कुछ को पचा लिया और कुछ को धूल में मिलाया। उन्होंने कई रावणों

के दसों सिर काटे, कई द्वेष्टाओं के हजारों बाहु तोड़े। कई बलियों और महाबलियों को पाताल लोक का रास्ता दिखाया। इतना ही नहीं, उन्होंने काव्य, शास्त्र, व्याकरण, कृषि, शिल्प, धर्मप्रयोग और तत्त्वज्ञान जैसे भौतिक और आत्मिक प्रगति में भी महनीय स्थान प्राप्त किया। इसके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। डॉ. आंबेडकर स्वयं ही इस निबंध में कहते हैं—"That the Hindu Religion was once a missionary religion must be admitted. It would not have spread over the face of India if it was not a missionary religion." हिंदू धर्म प्रचारशील धर्म था तभी तो वह पूरे भारतवर्ष में फैला। हिंदू राष्ट्र की धार्मिक दिग्विजय के बारे में डॉ. आंबेडकर का यह विधान वैदिक तथा पौराणिक कालखंड की सांस्कृतिक और राजनीतिक दिग्विजय के बारे में भी सही है। वैदिक सप्तसिंधुओं का राष्ट्र, पंचनद, वहाँ से ब्रह्मावर्त, ब्रह्मावर्त से आर्यावर्त और उससे भी नीचे दक्षिण में फैलता गया। 'उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणं। तं वर्षं भारतं नाम भारती यत्र संतति:।' इस तरह जिस धर्म का पुरोहित और सेनानी इंद्र था वह हिंदू धर्म, पूरे भारतवर्ष में अपनी संस्कृति और साम्राज्य फैलाता गया और अगर ऐसे प्रभावशाली राष्ट्र को कोई Hindus' life has been a life of continuous defeat कहता है तो उसके ज्ञान की तारीफ ही करनी चाहिए या फिर उसके इस दुस्साहस की निंदा करनी चाहिए। हिंदुओं के दिग्विजयी वैदिक, रामायण, महाभारत काल का वर्णन ही करना हो तो इन्हीं शब्दों में हो सकता है कि In the Vedic and Puranic period the life of Hindus had ever been a life of one continuous triumph of invincible independence, astonishing progress and unchallengeable superiority.

और यह वैदिक और पौराणिक कालखंड भी सौ-दो सौ सालों का नहीं बल्कि हजारों वर्षों का था। इसी कालखंड के इजिप्शियन, बेबिलोनियन, खाल्डियन, असीरियन आदि समकालीन राष्ट्र अपना समूचा जीवनकार्य समाप्त कर समाप्त हो गए थे।

२. ऐतिहासिक काल : प्राचीन खंड—ग्रीकों का आक्रमण और हिंदुओं द्वारा उनका पराभव

इतिहासकाल के प्रारंभ में ही इ.स. पूर्व ३२६वें वर्ष में सिकंदर ने हिंदुस्थान पर आक्रमण किया। उससे पहले वैदिक और पौराणिक काल में दैत्य-दानव, असुर-नाग, यक्ष-राक्षस आदि परकीय शत्रुओं से लोहा लेकर हिंदुओं ने उनकी मिट्टी पलीद की थी। उसके बाद शुरू हुआ ऐतिहासिक काल। इसके आरंभ में ही

उन्हें पूरे विश्व पर साम्राज्य स्थापित करने के इच्छुक बलाढ्य ग्रीकों से-सामना करना पड़ा।

ग्रीस देश से निकलकर सिकंदर ने सीरिया, ईरान आदि देशों को पादाक्रांत किया, पर उसकी दिग्विजय की ऊँची लहर हिंदुस्थान के हिमालय से टकराकर टूट गई। सिकंदर चाहता तो था भारत विजेता कहलाना, पर पंचनद पार करते ही उसे अपना यह विचार छोड़ना पड़ा। यह सच है कि उसने पौरस का पराभव किया पर इसके लिए उसे कड़ी लड़ाई लड़नी पड़ी। इसके बाद उसमें ग्रीक सेना को अगले हिंदू साम्राज्यों की सेनाओं से भिड़ाने की हिम्मत ही नहीं रही। सिकंदर की सेना ने व्यास नदी पार की पर इसके बाद उसने मगध सेना से लड़ने से साफ मना किया। इसके लिए विद्रोह किया और सिकंदर को मजबूरन वापस लौटना पड़ा। इस विद्रोह के और भी कई कारण थे, पर यह भी निश्चित है कि ग्रीक सेना को हिंदुस्थान और हिंदुस्थानी सेना ईरान और ईरानी सेना की तरह दुर्बल लगती तो वह बिना मगध तक आए कभी लौट न जाती। सिकंदर की घर लौटती सेना की रास्ते में बड़ी दुर्दशा हुई। हिंदुओं के छोटे-छोटे गणराज्यों ने उनका ऐसा बुरा हाल किया कि ग्रीक मैदान छोड़कर भाग निकले। उनमें भी क्षुद्रक और मालव के हिंदू गणराज्यों ने सिकंदर को इतना सताया कि ग्रीक इतिहासकार भी उनके शौर्य की प्रशंसा किए बिना नहीं रह सके। उस दिग्विजयी सिकंदर को एक बार हिंदू वीरों ने घेर-घारकर घायल भी कर दिया। हिंदुओं के खड्ग से बेहोश और रक्तरंजित हुए सिकंदर को उसके सैनिक किसी तरह मैदान से उठाकर ले गए वरना वह हिंदुस्थान से जीता-जागता वापस भी न जा पाता।

सिकंदर दिग्विजयी तो था, पर भारतविजयी कदापि नहीं

पंचनद अर्थात् पंजाब के आगे सिकंदर एक कदम भी नहीं बढ़ा सका। दक्षिण समुद्र तक फैले हिंदू राष्ट्र संघ का वह बाल भी बाँका न कर सका। उसके हिंदुस्थान में आने का समाचार दक्षिण तक पहुँचता, इससे पहले ही वह सिंधु नदी पारकर अपने रास्ते वापस भी लौटा था। उसने अपने साम्राज्य में केवल पंजाब जोड़ लिया (ई.स.पू. ३२५) पर हिंदुओं ने ग्रीकों के अधिकारियों को भगाकर पंजाब भी जल्दी ही वापस ले लिया। (ई.स.पू. ३२२ से पहले) केवल चार वर्षों में तत्कालीन बलाढ्य शत्रु का पाँव हिंदुओं ने उखाड़ दिया।

कोई कहेगा कि हिंदुओं की यह विजय अप्रत्यक्ष विजय थी। उन्होंने यह विजय यावनी सेना से लड़कर प्रत्यक्ष रूप से नहीं पाई थी। पर इसका जवाब दिया जा सकता है। ई.स.पू. ३२२ के ग्रीकों के उपर्युक्त उच्छेद के बाद ही घटी इस घटना

से ग्रीकों जैसे बलाढ्य शत्रु का सामना करने के लिए, बदली हुई स्थिति में हमें कई पुरानी चीजें छोड़नी पड़ी थीं। ऐसे में चाणक्य की अलौकिक प्रतिभा और चंद्रगुप्त मौर्य के पराक्रम के मिले-जुले परिणाम के रूप में मगध में एक बहुत बड़ी राज्य क्रांति हुई। हिंदुओं ने ग्रीक साम्राज्य के सूत्र उनसे छीन लिये और पंजाब को हिंदू साम्राज्य में मिला लिया। यह देख सिकंदर के प्रबल सेनापति सेल्युकस ने यावनी सेना के साथ फिर एक बार ई.स.पू. ३०५ में पंचनद पर हमला किया। पर सम्राट् चंद्रगुप्त ने रणांगण में ग्रीकों के छक्के छुड़ाए। पराभूत सेल्युकस ने विजयी हिंदू राष्ट्र को पंचनद ही नहीं अफगानिस्तान और बलूचिस्तान भी दे दिया। इसके साथ-साथ उसने हिंदू सम्राट् चंद्रगुप्त को अपनी बेटी भी अर्पित की। तत्कालीन अति बलाढ्य ग्रीकों पर हिंदुओं ने इस तरह निर्विवाद विजय प्राप्त की। इस तरह बीस सालों के अंतराल में हिंदुओं ने ग्रीकों को बुरी तरह हराकर हिंदूकुश पर्वत पर हिंदू साम्राज्य का ध्वज स्थापित किया। यह भी सोचने की बात है कि अगले दो सौ सालों तक ग्रीकों की हिंदू राष्ट्र की तरफ आँख उठाकर देखने की भी हिम्मत नहीं हुई। सिकंदर ने एशिया खंड में कई देश जीते थे। उनमें से बहुतांश राष्ट्रों पर ग्रीकों का चिरकाल तक राज रहा। उनकी दिग्विजय को रोका तो सिर्फ हिंदुस्थान ने!

तत्कालीन विश्व के साम्राज्यों में चंद्रगुप्त, बिंबिसार, अशोकादि मौर्य सम्राटों का हिंदू साम्राज्य सर्वश्रेष्ठ और स्वतंत्र था या नहीं, यह चंद्रगुप्त की राजधानी में रहे ग्रीकों के राजदूत मेगास्थनीज से ही पूछा जा सकता है। उस 'देवानाम् प्रियः' अशोक के यशस्तंभों से भी यह पूछा जा सकता है। इन सबूतों को देखते हुए, हिंदुओं का जीवन हमेशा से शरणागति एवं अखंड पराभव का था, यह कोई महामूर्ख ही कह सकता है।

मीनांदर से युद्ध

चंद्रगुप्त ने सेल्युकस को पराजित किया। इसके बाद लगभग डेढ़ सौ वर्ष, भारतवर्ष की सीमा पर धावा बोलने की हिम्मत किसीमें नहीं हुई। पर यह देखकर कि मौर्यवंश के बौद्ध राजा दुर्बल हो गए हैं, एशिया के ग्रीक राजाओं ने फिर एक बार हिंदुस्थान पर आक्रमण करने की योजना बनाई। इससे पहले नंदवंशीय सम्राटों के दुर्बल होने पर चाणक्य और चंद्रगुप्त ने नंदवंशीय सम्राट् को मारकर हिंदू साम्राज्य की सत्ता अपने हाथ में ली थी। इसी तरह इस समय भी वैदिक धर्म के निस्सीम अभिमानी, मगध के सेनापति पुष्यमित्र ने उस दुर्बल बौद्ध राजा बृहद्रथ को मारकर राज्य की बागडोर अपने हाथ में ले ली। इधर मगध में यह राज्य क्रांति हुई और उधर ई.स.पू. १८० में ग्रीक राजा मीनांदर सिंधु पार कर पंचनद में घुसा। ग्रीकों

ने जोरदार हमला कर साकेत ले लिया और मथुरा तक घुस आए। इतने में सम्राट् पुष्यमित्र ने वहाँ पहुँचकर ग्रीकों से लोहा लिया। एक के बाद एक ऐसी कई लड़ाइयाँ हुईं और हर बार हिंदू सैन्य ने ग्रीकों को मात दी। आखिर पुष्यमित्र ने मीनांदर को सिंधु नदी के पार खदेड़ दिया। इस विजय की घोषणा करने के लिए हिंदू सम्राट् पुष्यमित्र ने एक बहुत बड़े अश्वमेध यज्ञ का आयोजन कर यज्ञ के विजयाश्व को संचार के लिए भेज दिया। कुछ ग्रीक राजाओं ने उस अश्व को रोक लिया। पुष्यमित्र के पुत्र युवराज अग्निमित्र ने उन्हें भी पराजित किया। हिंदुओं के अप्रतिहत पराक्रम की देश-विदेश में घोषणा करते हुए विजयाश्व लौट आया। और तब सम्राट् पुष्यमित्र ने अपना अश्वमेध यज्ञ पूरा किया।

मीनांदर के आक्रमण के बारे में यह कहा जा सकता है कि वह उत्तर पश्चिम से लेकर केवल मथुरा प्रांत तक ही घुसपैठ कर सका। सिकंदर की तरह ही उसके आक्रमण दक्षिणोत्तर फैले विशाल भारतवर्ष पर कोई प्रभाव न डाल सके। हिंदुओं ने उसे भारतवर्ष के द्वार पर ही रोक पीछे खदेड़ दिया।

शक और यूची से महायुद्ध

सम्राट् पुष्यमित्र की उपर्युक्त दिग्विजय के बाद लगभग सौ सालों तक हिंदू राष्ट्र को किसी अहिंदू राष्ट्र के आक्रमण का सामना नहीं करना पड़ा। इसके बाद शक और यूचियों के हमलों से पूरा एशिया हिल उठा। ईसवी सन् के पहले शतक में हुए इन हमलों में हिंदू राष्ट्र भी बुरी तरह हार गया और हिंदुओं के प्राचीन इतिहास की यह एक लांछनास्पद पराजय थी। ग्रीकों के आक्रामक सैन्यों के हिंदुस्थान में घुसते ही चंद्रगुप्त या पुष्यमित्र ने एकाध दशक में उन्हें सिंधु पार खदेड़ दिया। पर शक और यूचियों को इस तरह की शीघ्रता से नहीं भगाया जा सका। उलटे उन्होंने कश्मीर, पंजाब, सिंध, काठियावाड आदि प्रांतों में अपनी चिरस्थायी सत्ता स्थापित की। यह बड़ी लज्जा की बात है कि ये अहिंदू राजवंश उज्जैन जैसी हिंदू राजधानियों में लगभग दो-ढाई शतकों तक राज्य कर सके।

पर इस तरह की तात्कालिक पराजय और दो-चार प्रांतों के शत्रु के आधिपत्य में जाने से पूरे राष्ट्र का समूचा जीवन 'लगातार पराभव से भरा था' ऐसा कहना बिलकुल झूठ, निराधार और शरारत भरा है।

विष प्रयोग होने से बलिष्ठ भीमसेन भी मूर्च्छित होकर नदी के गहरे पानी में डूब गए। उस समय उन्हें कई नागों ने जकड़ लिया, कई मेढक उनके सिर पर नाचे; पर विष को पचाकर वे विष प्रयोग की बेहोशी से होश में आए। और उन्होंने दुःशासन की गरदन को मरोड़कर विष प्रयोग का बदला लिया। यही है भीम का

भीमत्व। पर इसे भूलकर और भीम की अल्पकालीन बेहोशी ही उसका पूरा जीवन थी, ऐसा सोचकर कोई कहने लगे कि 'जिंदगी भर दुबले भीमसेन के सिर पर मेढक नाचते रहे', तो यह तो सचमुच ही हास्यास्पद विधान हुआ।

शक-यूचियों के कारण भारत पर आई आपत्ति की भी यही बात है। शक-यूचियों का राज्य गुजरात तक फैला था। भारतीय उनका यशस्वी प्रतिकार न कर सके। पर इसी अवधि में नर्मदा के नीचे पहुँचे शकों का आंध्रीय सम्राटों ने अपनी पूरी शक्ति से मुकाबला किया। उन्होंने पहले शकों को नर्मदा के पार खदेड़ दिया और फिर आंध्रों के प्रबल सम्राट् गौतमी पुत्र विलियनकूर शालिवाहन ने शकों के हाथ से उत्तर के एक-एक करके सारे प्रांत छीन लिये। आखिर उन्हें पराजित कर शालिवाहन ने उनके राजा नहपान क्षहराट को मौत के घाट उतार दिया। इस हिंदू विजेता की माँ थी गौतमी। यह सुन कि उसके वीरपुत्र ने अहिंदुओं से पूरा बदला लिया, वह अत्यधिक हर्षित हुई थी। इस बात को कालीगुंफा के शिलालेख में अंकित किया गया है। इस प्रतापशाली गौतमी पुत्र ने ई.स. १०६ से १३० तक राज्य किया। उसके बाद उसके पुत्र ने राज्य की बागडोर सँभाली। यही था प्रख्यात शकों को पराजित करनेवाला पुलुगामी शालिवाहन। उसने उज्जैन के पराक्रमी राजा रुद्रदमन को भी पराजित किया।

ई.सन् ३२० के आसपास उत्तराखंड के हिंदू साम्राज्य के सूत्र वैदिक धर्म के अभिमानी गुप्त वंश के हाथ में आए। उसके पराक्रमी संस्थापक सम्राट् चंद्रगुप्त ने उत्तर के यूचियों और शकों को नाकों चने चबवाए। उसका पुत्र था सम्राट् समुद्रगुप्त। विदेशी इतिहासकारों ने भी उसे 'भारतीय नेपोलियन' की उपाधि दी है। हिंदुओं का शक-यूचियों से दो-तीन पीढ़ियों से युद्ध चल रहा था। सम्राट् समुद्रगुप्त ने पंचनद में घुसकर इस पीढ़ियों से चले आए युद्ध में एक के बाद एक विजय प्राप्त की। परकीयों को पूरी तरह पराजित किया। सम्राट् समुद्रगुप्त का पुत्र था चंद्रगुप्त द्वितीय, यही है विक्रमी विक्रमादित्य। कनिष्क से बलशाली हुई शक-यूचियों की सत्ता इसने नेस्तनाबूद की। चंद्रगुप्त का अंतिम शत्रु था रुद्रसिंह। हिंदू सेना ने रुद्रसिंह को पूरी तरह पराभूत किया। उसकी राजधानी उज्जैन पर भी आधिपत्य किया। अब फिर से हिंदू राष्ट्र की विजय-दुंदुभि सिंधु नदी से लेकर पूर्व, पश्चिम, दक्षिण समुद्रों तक निर्बाध रूप से बजने लगी।

सिंधु नदी से लेकर गंगा तक के भारतीय प्रदेश पर लगभग दो सौ सालों तक शक-यूचियों की परकीय सत्ता थी। उनके घमंड को हिंदू वंशियों ने रणभूमि में चकनाचूर कर दिया। पर इस सामरिक विजय से अधिक गौरवास्पद थी हिंदुओं की सांस्कृतिक विजय। हिंदुओं ने लाखों शक-यूचियों पर सांस्कृतिक विजय प्राप्त

की थी। वास्तव में शक-यूची जब हिंदुस्थान आए थे तब वे पूर्णतः परकीय थे। पर सन् १३० के आसपास कनिष्क ने बौद्ध धर्म और अन्य शक-यूचियों ने वैदिक धर्म को स्वीकार किया। सच तो यह है कि तभी हिंदुओं ने उनपर विजय प्राप्त की थी। एक शतक के अंदर-अंदर शक-यूचियों की राजधानियों और राज्यों पर हिंदू संस्कृति का ध्वज फहराने लगा। उनकी सहस्राधिक जनता और शताधिक राजपुरुषों ने, बड़े-बड़े राजवंशों ने वैदिक धर्म, भाषा, देश और वेश स्वीकार कर लिया। कइयों ने बौद्ध धर्म और भाषा को स्वीकार किया। हिंदू राष्ट्र ने न केवल उनके राज्य बल्कि उनका सत्व भी छीन लिया। अजगर अपने विशाल जबड़े में घुसनेवाले हिरण को जिंदा निगल लेता है और उसे पचा भी लेता है। इसी तरह हिंदू संस्कृति ने अपने मुँह में घुसे लाखों शक-यूचियों को अपनी प्रखर जठराग्नि में जलाकर पचा लिया। उन्हें हिंदू बना लिया। हमारे इस ई.स. ३०० से ४०० तक के पराक्रमी कालखंड को अंग्रेज इतिहासकार भी 'स्वर्ण युग' (Golden Age) कहते हैं। सौभाग्य से इसी समय चीन का प्रवासी फाहियान भारतवर्ष में आया। मेगास्थनीज की तरह उसने भी तत्कालीन हिंदू राष्ट्र के पराक्रम, सुस्थिति और वैभव का वर्णन लिख रखा है। वह वर्णन ही कुत्सित निंदा को बताएगा कि उस समय भी हिंदुओं का जीवन पराजय या शरणागति का नहीं था, बल्कि शत्रुओं को हरानेवाले पराक्रम, राष्ट्र स्वातंत्र्य और तत्कालीन विश्व के प्रबलतम साम्राज्य का था।

हूणों का आक्रमण

ऐतिहासिक काल के इस प्राचीन भाग में हिंदू राष्ट्र का अंतिम राक्षसी शत्रु था—हूण। इसके बारे में भी इतना ही कहना पर्याप्त है कि इसकी स्थिति भी शक-यूचियों की तरह ही हुई। इन हूणों के झंझावाती प्रहारों ने यूरोप के साम्राज्य की कमर ही तोड़ दी थी। रूस से लेकर चीन तक इन्होंने उत्पात मचाया था। पर हिंदुस्थान में इनका हाल क्या हुआ? यहाँ वे शकों जितने भी पैर नहीं जमा सके। उत्पात तो इन्होंने हिंदुस्थान में भी किया। पर शीघ्र ही उसकी रोकथाम भी की गई। ई. सन् ५०० के लगभग उनके नेता तोरणमल ने पंजाब में घुसकर मालवा तक आक्रमण किया। सन् ५०२ में उसका पुत्र मिहिरकुल गद्दी पर आया। तुरंत ही हिंदू राजाओं का प्रबल संघ इकट्ठा हुआ। हिंदुओं के प्रतापी सेनापति यशोवर्धन ने रणांगन में हूणों के दाँत खट्टे किए। उन्हें पंजाब तक खदेड़ा और आखिरी घमासान युद्ध में मुलतान के पास कोरूर में उसे पूरी तरह पराजित किया। इस तरह रणाग्नि में हिंदुस्थान की हूण राजसत्ता भस्म हो गई। पीछे रहे सहस्राधिक हूणों को ब्राह्मणों ने बर्बरता से यज्ञ की अग्नि में भस्म कर दिया। उन्हें हिंदू बना दिया गया। Can

this be called a life of continuous surrender or submission? No! It is a life of virile triumph!

हिंदुओं का जागतिक और सांस्कृतिक साम्राज्य

इस काल तक हिंदू राष्ट्र ने अपना राजनीतिक स्वातंत्र्य और राजनीतिक वर्चस्व आसिंधुसिंधु भरतखंड में स्थापित किया था। इतना ही नहीं उसने बड़ी-बड़ी नौ सेनाएँ और नौ साधन जुटाकर हिंदू महासागर के पार के देशों में अपना सांस्कृतिक और राजनीतिक साम्राज्य स्थापित किया था। वह साम्राज्य १००० ई. तक अबाधित रहा। हमारी पौराणिक और यूरोपीय द्वारा लिखी किंवदंतियों पर आधारित ग्रंथों में अस्पष्ट उल्लेख मिलते हैं कि बुद्धकाल से कई शतक पहले हिंदुओं ने मिस्र (इजिप्ट) से लेकर मैक्सिको तक अपना राजनीतिक साम्राज्य स्थापित किया था। पर इस लेख में हम उन अस्पष्ट उल्लेखों का आधार लेना नहीं चाहते। परकीय फ्रेंच और डच संशोधकों ने ताम्रपट, शिलालेख, उत्खनन आदि के आधार पर जो इतिहास लिखा है, उसमें यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हुआ है कि आज जिन्हें मलाया, जावा, सुमात्रा, बाली, आनाम, हिंद-चीन (इंडो-चायना) कहते हैं, वहाँ ईसवी सन् के आरंभ से लेकर सन् १००० तक भारतीय राज्य था। वहाँ चीनी सम्राटों की सेना पर भारतीय सेना ने कई बार विजय प्राप्त की थी। वहाँ के नगरों, देशों, पर्वतों और नदियों के नाम भारतीयों ने रखे थे। वे संस्कृत नाम ही प्रचलित हुए और प्राय: वे ही नाम आज भी कायम हैं। मलय (आज का मलाया) साम्राज्य तीन-चार शतकों तक अत्यंत प्रबल माना जाता था। कोई हिंदू द्वेष्टा भी यह नहीं कह सकता कि 'अजी, वे तो भारतीय बुद्धपंथियों के राज्य थे।' क्योंकि वे सारे-के-सारे राज्य क्षत्रियादि वैदिक धर्माभिमानी राजाओं द्वारा स्थापित किए गए थे। बौद्ध भिक्षुओं की तरह शैव-वैष्णवादि विद्वान् भी भारतीय धर्म और संस्कृति का प्रचार कर रहे थे। इन आठ-नौ शतक चले हिंदुओं के विभिन्न राजवंशों के नाम ही देखिए। चंपा (अनाम से हिंद-चीन) राज्य में ३९० ई. में राजा भववर्मा नामक बलाढ्य राजा राज कर रहा था। उसके राज्य के विभागों के नाम थे—अमरावती, विजय और पांडुरंगपुर। भववर्मा वेदपारंगत था। आगे चलकर चीन के राजा ने चंपा राज्य पर जोरदार आक्रमण किया और चंपा राज्य के विनाश की नौबत आई। तब चंपा के हिंदू राजा रुद्रवर्मा ने नया भूदल और नौदल स्थापित कर चीनी सैन्य और सत्ता का पूरी तरह विनाश किया। यह बात है सन् ५२६ ई. की। इसी तरह इंद्रवर्मा, पुरुषोत्तम, श्रीहरिवर्मा आदि राजाओं के नाम ही यह बताते हैं कि वे वैदिक धर्माभिमानी क्षत्रिय राजा थे। कंबुज (कंबोडिया) का राज्य भी इसी तरह का हिंदू

राज्य था। स्याम के राजवंश में राम पहला, राम दूसरा इस तरह छह-सात राजा तो राम ही हुए थे। समाचारपत्र पढ़नेवाले पाठक यह जानते ही होंगे कि हाल ही में जिसने राज्य त्याग किया उस स्यामी राजा का नाम भी 'राम' ही था। बुद्ध की तरह ही इन सारे देशों में शिव और विष्णु के भी बड़े-बड़े मंदिर बनाए गए थे। इन मंदिरों में रामायण, महाभारत के पारायण और राम मंदिरों में उनकी कथाओं के लोकनाट्य होते थे। बौद्ध भिक्षु और वेदविद् ब्राह्मण इन दोनों को समान रूप से सम्मानित किया जाता था। राज्याभिषेक ब्राह्मणों के द्वारा वैदिक संस्कारों के अनुसार किया जाता था। हिंदुओं की उस बृहत्तर भारतीय राजनीतिक दिग्विजय में उनके द्वारा स्थापित ये राज्य कम-से-कम नौ सौ साल फलते-फूलते रहे। ये राज्य अधिकतर मलय, पांड्य, चेर, चोल, कलिंग और आंध्र हिंदू राजवंशों और कभी-कभी सर्वसाधारण हिंदू जनता से उभरे पराक्रमी पुरुषों द्वारा स्थापित किए गए थे। इस तरह के समुद्र में भारतीयों का अंतिम उल्लेखनीय आक्रमण था ब्रह्मदेश पर। पांड्य राजा ने एक प्रबल सिंधुदल लेकर ब्रह्मदेश पर आक्रमण किया था। ब्रह्मदेश जीतकर लौटते समय उसने अंदमान द्वीपपुंज भी हस्तगत किया और बाद में भारत आने पर उस विजय के स्मरण रूप में एक जयस्तंभ बनाया था। यह घटना ग्यारहवीं सदी की है।

क्या परकीयों ने कभी हिंदुओं को पराजित किया था?

अगर आप पूछेंगे कि इतने सारे परकीयों ने हिंदुओं पर हमले किए, तब उन्हें कभी-न-कभी तात्कालिक विजय मिली ही होगी। अब हम आपसे पूछेंगे कि यूरोपियन ग्रंथकारों के अनुसार ग्रीस देश के शौर्य की सच्ची कसौटी कब हुई? तब जब पर्शियनों जैसे परकीय प्रबल शत्रुओं ने लगभग पूरे ग्रीस को जीत लिया था। फिर भी हतोत्साहित न होते हुए ग्रीकों ने उन्हें देश से खदेड़कर दम लिया। फिर इसी कसौटी पर टॉड के कथन के अनुसार ही जिस भारत में कदम-कदम पर थर्मापिली और लिओनिडास दिखे, उस भारत के पराक्रम को भी क्यों न कसा जाए? ग्रीस, रोम, इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी, इटली, रशिया, चीन के जीवनकाल में भी परचक्र के दसों आक्रमण हुए, पारतंत्र्य के शतक भी आए। छोटे से ब्रिटेन की ही बात लीजिए। रोमंस, एंजल्स, सैक्संस, डेंस, नार्मंस आदि कितने परकीयों ने कितनी बार यह द्वीप जीता, वहाँ राज्य किया। क्या इसीसे आप यह कहने की हिम्मत करेंगे कि ब्रिटेन अथवा उन अन्य राष्ट्रों का जीवन भी 'life of continuous defeat' था? अखंड शरणागति था? उनके बारे में आप यह नहीं कह सकते। यह इसीलिए नहीं कि उनपर परकीय आक्रमण होने और उनकी राजधानियों के शत्रुओं द्वारा जीते जाने पर भी उन राष्ट्रों ने उन शत्रुओं को जीतकर स्वराष्ट्र स्वतंत्र रखा?

उसे हमेशा के लिए शत्रुओं के कब्जे में नहीं रखा। फिर इसी कसौटी पर जिस हिंदू राष्ट्र का प्राचीन इतिहास दस गुना खरा उतरता है, उसके बारे में 'The Hindus' life has ever been a life of continuous defeat' का निर्लज्ज विधान करना क्या मूर्खता और कुत्सितता नहीं?

यह भी ध्यान देने की बात है कि चाहे ग्रीक हो, यूची हो या शक, इनमें से कोई भी हमारे सीमा प्रांत को पार कर गंगा नदी या विंध्य पर्वत के दक्षिण में शायद ही जा सका।

हूणों को समाप्त करने के बाद, कश्मीर से नेपाल, द्वारका से कामरून तथा हिमालय से लंका तक फिर एक बार हिंदू साम्राज्य छा गया। जब हिंदुस्थान के दक्षिण में पुलकेशिन और उत्तर में श्रीहर्ष का सुयोग्य और समर्थ शासन था तब भारतवर्ष में प्रख्यात चीनी यात्री ह्वेनत्सांग आया था। उसका जगप्रसिद्ध यात्रा वर्णन भारत के समृद्ध हिंदू राज्यों के वैभव का आलेख है। सम्राट् श्रीहर्ष की मृत्यु ई.सन् ६४६ के लगभग हुई। हमारे ऐतिहासिक काल का प्राचीन खंड यहीं समाप्त होता है।

३. ऐतिहासिक काल : अर्वाचीन खंड

हिंदू राष्ट्र पर हुए सभी आक्रमणों में मुसलिम आक्रमण ही अति भयंकर और दीर्घकालीन था।

अकारण आत्मनिंदा की तरह ही अकारण आत्मस्तुति भी राष्ट्रघातक होती है। जिनमें पराजय का बदला लेने की हिम्मत नहीं, वे ही पराजय को मान्य करने से कतराते हैं।

कठिनतम संकटों से जूझकर, उन्हें जीतने की हिम्मत हिंदू राष्ट्र के रोम-रोम में भरी है और उसके दम पर हिंदू राष्ट्र ने अपनी पराजय का बदला बार-बार लिया है। हमारे युग व्यापी इतिहास पर आधारित इस लेख में यह बात निर्विवाद रूप से सिद्ध हुई है। इसीलिए मुसलिमों के भयंकर आक्रमण के दौरान पहले तीन-चार शतकों में हिंदुओं को पराभव-ही-पराभव सहना पड़ा यह सत्य स्पष्टतः न कहने का कायर प्रयास हम कदापि नहीं करेंगे। इस लेख का विषय इतिहास का वर्णन नहीं बल्कि उस इतिहास की संक्षिप्त समीक्षा करना है। इसीलिए हम एक वाक्य में यह स्पष्टतः कह देते हैं कि साधारणतः ईसवी सन् के हजारवें वर्ष से मुसलिम और हिंदुओं में बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ छिड़ीं। सन् १५०० तक ही इन लड़ाइयों में से नब्बे प्रतिशत लड़ाइयों में हिंदू सैन्य हारा। इसमें किसीको आनंद आता हो तो हम उसे उस आनंद से वंचित करना नहीं चाहते। हिंदू-मुसलिम महायुद्ध के पूर्वार्ध में

मुसलिमों ने अफगानिस्तान से लेकर कन्याकुमारी तक हिंदुओं से कड़ी टक्कर लेकर उन्हें पराजित किया, कई हिंदू राज्यों को जीतकर भरतखंड में 'हरा चाँद' फहराया। पर इस महायुद्ध के परार्ध में जब सह्याद्रि स्वतंत्रता की इच्छा की चिनगारी से धधक उठा तब हिंदुओं ने भी कदम-कदम पर मुसलिमों से टक्कर ली और उनकी सेना को हराया। अत: कह सकते हैं कि इस महायुद्ध में दोनों पक्ष तुल्यबल साबित हुए। साधारणत: ईसवी सन् १६०० से १७९३ तक जहाँ-जहाँ हिंदू सैन्य की मुसलमानी सैन्य से लड़ाई हुई वहाँ-वहाँ नब्बे प्रतिशत लड़ाइयों में हिंदुओं ने मुसलमानों को हराया। मराठों के सेनापतित्व में हिंदू सेना ने मुसलमानों की सभी पातशाहियाँ और नवाबी राज्य डुबो दिए। आखिर 'अटक' पर फहराते 'हरे चाँद' को धूल में मिलाकर हिंदुओं ने वहाँ अपना 'भगवा (केसरिया) ध्वज' फहराया।

भाऊ साहब पेशवा ने अकबर-औरंगजेब का बादशाही तख्त तोड़ डाला। आकाश में भाट-चारणों के जयघोष गूँजने लगे—

सात शतकों बाद आज पाँवों में सोने का कड़ा।
पहन सिंधु-जल पी रहा हिंदू विजय का घोड़ा॥१॥
श्री के आशीर्वाद से हिंदू वीरों ने हठ किया।
और आज हिंदवी जरी पटका अटक तक पहुँच गया॥२॥

यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि हिंदुओं को मुसलमानों से यह सप्तशतकों का युद्ध करते समय 'फिरंगाण' (यूरोप) के इंग्लिश, डच, पुर्तगीज, फ्रेंच आदि राष्ट्रों से भी टक्कर लेनी पड़ रही थी। हिंदुओं का नेतृत्व विशेषत: महाराष्ट्र भूमि और समुद्र में परकीयों से लगातार लड़ रहा था। स्तुति पाठक गाते हैं—

पठान, मोगल, तुर्क, ईरानी, शिद्दी आदि।
पुर्तगीज, बलशाली फिरंगी अंग्रेजादिक गौरवर्णी॥१॥
ईरान से लेकर फिरंगण तक शत्रु गण फैला।
सिंधु से सेतुबंध तक रणभूमि भी फैली॥२॥
तीन खंडों के पुंडों की वह सेना डाली रौंद।
सिंधु से सेतुबंध तक घनघोर लड़ाई लड़ी॥३॥

उपर्युक्त कवित्त से यह स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है कि इस कालखंड के अंत में हिंदुओं ने मुसलमानी सत्ता को नष्ट कर जगह-जगह अपने राज्य प्रस्थापित किए। लगभग काबुल नदी से लेकर कश्मीर, पंजाब, पटियाला तक सिख-राजपूत और जाटों के हिंदू राज्य थे। नेपाल में भी गुरखों का हिंदू राज्य था। दिल्ली से

तंजावूर तक और काठियावाड़ से उड़ीसा तक मराठों का हिंदू साम्राज्य था और नीचे भी मैसूर, त्रावणकोर में हिंदू राज्य था। सात शतक लड़ने के बाद सत्रहवीं सदी के आरंभ में हिंदुओं ने हिंदुस्थान से मुसलमानी राजसत्ता को नीचा दिखाया, उनसे राजसत्ता छीन ली।

पर आज? आज तो हिंदुस्थान अंग्रेजों के हाथ में है। पर यह तो आज की बात है। कल, परसों शायद भाग्य करवट बदले।

यहाँ, हिंदुओं की जीवनशैली विवाद का विषय बनी थी, इसके लिए हिंदू इतिहास के पिछले पाँच हजार वर्षों की झलक दिखाई गई है। हिंदू राष्ट्र पर ऐसी-ऐसी आपत्तियाँ आई थीं कि जिनके एक धक्के से बड़े-बड़े राष्ट्र नष्ट हो जाते। विश्व इतिहास में चीन का अपवाद मान लिया जाए तो अनेक आपत्तियों से जूझकर, कई बलाढ्य शत्रुओं को पादाक्रांत कर, शतकव्यापी महायुद्ध लड़कर भी पाँच-छह हजार सालों तक अपने अस्तित्व को अपने पराक्रम से अक्षुण्ण रखनेवाला, अपने स्वातंत्र्य को बार-बार स्थापित कर, अपने धर्म, अपनी संस्कृति, अपने स्वातंत्र्य को बार-बार स्थापित कर इन सबकी अंतिम अजेयता का प्रमाण सिर्फ एक हिंदू राष्ट्र ने ही दिखाया है। भयंकर जीवन-संग्राम से जूझते रहने और जीतते रहने से ही यह राष्ट्र हिंदू राष्ट्र के नाम से जाना जाता रहा है। प्रकृति का नियम है कि जो सर्वश्रेष्ठ है वही जीवन-संग्राम में टिकता है। इस नियम से हिंदू राष्ट्र अपने अन्य प्रतिपक्षियों से सर्वश्रेष्ठ सिद्ध हुआ है।

'In the struggle for existence, it proved fittest to survive.'

इसीलिए हिंदू राष्ट्र अभी भी जीवित है। हिंदू राष्ट्र का इतिहास पराजयशील नहीं बल्कि अन्य किसी भी राष्ट्र के इतिहास की तुलना में अधिक विजयशील है।

☐

अटक पर हिंदू विजय का भगवा ध्वज

हिंदुओं के अर्वाचीन अर्थात् पिछले एक हजार सालों के इतिहास में ई.स. १७५८ के अप्रैल-मई का वह दिन हिंदूमात्र के लिए अत्यंत मंगलकारी, अभिमान से भरा और गौरवास्पद है जब घमंडी मुसलिम राजसत्ता के लौह पंजे से हिंदू साम्राज्य के एक-एक प्रांत को मुक्त करते हुए हिंदुओं की विजयी सेना ने अपना भगवा ध्वज 'अटक' पर फहराया।

आठवें शतक में जब दाहिर राजा का पराभव हुआ था तब से हिंदुओं के बुरे दिन शुरू हुए। अफगानिस्तान से लेकर बंगाल के अंतिम नगर तक और कश्मीर से लेकर रामेश्वर तक हिंदुओं को हारना-ही-हारना पड़ा। आखिर हिंदुओं की राजसत्ता मुसलमानों के हाथ चली गई। अगर हिंदू इस पराभव का बदला न ले सकते तो हिंदू जाति और हिंदू संस्कृति विश्व को मुँह दिखाने के योग्य ही न रहती। फिर विश्व यही सोचता कि हिंदू मूलतः ही दूसरों के दास होने के योग्य हैं। हिंदू संस्कृति मानव मात्र को कायर, निर्जीव, पालतू बनाती है। यही सोचा जाता कि जीवन-संग्राम में हिंदू मुसलमान, पुर्तगाली या अंग्रेजों के सामने टिकने के योग्य नहीं हैं, अतः प्रकृति की निर्दयता पर कार्यक्षम नियम के अनुसार राष्ट्रों के संघर्ष में हिंदू राष्ट्र को मर ही जाना चाहिए। मुसलमान मुल्ला और मौलवी हिंदुओं पर प्राप्त अखंड विजय की तरफ अँगुली उठाकर यह भी कहते कि 'देखिए, मुसलमानों के सामने हिंदू टिकते नहीं तो वह इसलिए नहीं कि उनमें एकता और सैन्य संगठन का अभाव है या उनमें आत्मघाती दुष्टतापूर्ण रूढ़ियाँ हैं, वे सीधे-सादे हैं, बल्कि इसलिए कि उनके स्वभाव में ही कुछ दोष है। हिंदुत्व के कारण ही वह मुसलमानों के सामने बलहीन हो जाता है। और वह जब तक हिंदू है, वह वैसा ही बलहीन, कायर रहेगा। हिंदू मूर्तिपूजक है, मुसलमान मूर्तिभंजक। हिंदू हार गया, मुसलमान जीत गया। इससे यही सिद्ध होता है कि मूर्तिपूजक हमेशा हारेगा और मूर्तिभंजक हमेशा जीतेगा। हिंदुओं का धर्म झूठा है, तत्त्वज्ञान व्यर्थ है और रक्त निस्सत्व,

बलहीन। इसलिए भगवान् ने ही उनसे मुँह मोड़ लिया है। वही उन्हें हरा रहा है। भगवान् अहिंदुओं को जिता रहा है, इसीसे सिद्ध होता है कि अहिंदुओं का धर्म सच्चा है, उनका तत्त्वज्ञान सच्चा है, उन्हींका रक्त जिंदा रहने के योग्य है।' मुल्ला-मौलवियों के इस तर्क से सैकड़ों हिंदू भी भ्रमित हो रहे थे। मुसलमानों की हर समर-विजय हिंदुओं के एक-एक राजमुकुट को चकनाचूर कर रही थी। इसके साथ-ही-साथ उनमें अपनी संस्कृति का अभिमान और आत्मविश्वास भी कम होता जा रहा था। उनकी हिंदुत्व के प्रति निष्ठा कम होती जा रही थी। यही स्थिति रहती तो अपने निर्लज्ज और निष्ठुर स्वभाव के अनुसार प्रकृति हिंदुओं के अकर्मण्य और दुर्बल राष्ट्र पर यह ठप्पा मार देती कि 'यह जीवन-संग्राम में मर जाने के योग्य है' और उसे मृत्यु के कराल मुँह में धकेल देती। और आज यह विश्व हिंदूहीन हो जाता। यह देश अपने आपको हिंदुओं का हिंदुस्थान नहीं बल्कि हिंदुओं का कब्रिस्तान कहलाता। कोई कुछ भी कहे पर यह तो त्रिकालाबाधित सत्य है कि जो मौका पड़ने पर लड़-झगड़ नहीं सकता, उसमें जीत नहीं सकता, वह दुनिया में जी नहीं सकता। यह प्रकृति का निष्ठुर नियम है। प्रकृति की तलवार का निष्ठुर नियम है कि जो संघर्ष में जीतता है वह जीवन में भी जीतता है। दुर्बल लोग पंगु इच्छाओं के गुलाब पुष्पों से उसे चाहे जितना ढकें, पर उस तलवार की जानलेवा धार और प्रकृति के वे 'red in tooth and claw' वाले रक्तीले बाघनख कुंद नहीं होते। वे झुठलाए नहीं जा सकते।

अगर हिंदुओं की यही सोच रहती कि 'आखिर न्याय की जीत होगी। जो भी होगा भगवान् की इच्छा से होगा। हम बस भजन करते रहें। बाकी जो होगा सो होगा।'—तो हिंदुओं की अकर्मण्य पीढ़ियाँ बढ़ जातीं। वे न केवल रणक्षेत्र में बल्कि जीवन के हर क्षेत्र में हारते। उनका वेदांत सचमुच ही उनके वेदों का अंत करता। वेदों को धनुर्वेद का आधार देनेवाले शिवाजी ई. १६२७ में न जन्म लेते तो वे वेद ही निराधार हो जाते।

पर हिंदुओं के सौभाग्य से शिवाजी ने जन्म लिया। ई.स. ७२७ से हिंदुओं के पराक्रम को संपूर्ण ग्रहण लगा था। वह नौ सौ वर्ष बना रहा। नौ सौ वर्षों तक पराभव रूपी राहु के पेट में रहकर भी हिंदुओं का पराक्रम नष्ट नहीं हुआ। सन् १६२७ में शिवाजी पैदा हुए। वह जन्मघटिका उस ग्रहण के मोक्षकाल का पहला विपल था। उस समय यह किसीके ध्यान में नहीं आया। इतिहास की उलटी दूरबीन से ही आज यह जाना जा सकता है। शिवाजी ने हिंदुओं के स्वतंत्र साम्राज्य की फिर से नींव डाली। वे रणक्षेत्र में उतरे तब उन्होंने 'अंतिम जीत सत्य की, न्याय की होगी।' इस दैववाद की माला नहीं पहनी थी। उन्होंने धारण किए थे प्रकृति के पैने,

निष्ठुर बाघनख—'रणक्षेत्र में जीतेगा वही जीवनक्षेत्र में जीतेगा-जिएगा।' उन्होंने जीवन-संग्राम के निष्ठुर बघनखों से ही घमंडी अफजल खान को चीर डाला। हिंदू पराक्रम ने विजय प्राप्त करने की प्रतिज्ञा की और केसरिया ध्वज के तले घनघोर युद्ध हुआ।

एक के बाद एक, कई लड़ाइयाँ हुईं। पहलेवाली लड़ाइयों में हिंदुओं की पराजय जितनी निश्चित थी उतनी ही अब अहिंदुओं की पराजय निश्चित हो गई। जहाँ पर मुसलमान मिले फिर चाहे वे मुगल हों, पठान हों, सैयद हों या शेख हों, वहीं पर हिंदुओं ने फिर वे चाहे राजपूत हों, बुंदेल हों, मराठा हों या सिख हों, उन्हें पराजित किया। हिंदुओं ने न केवल मुसलमानों से बल्कि अंग्रेज, पुर्तगीज, डच जैसे सभी अहिंदुओं से टक्कर लेकर उन्हें रणक्षेत्र में पराजित किया। शत्रुओं की हिंस्र, पर अखंडनीय कसौटी थी कि जो रणक्षेत्र में जीतता है वही जीवनक्षेत्र में जीने के योग्य है। इस कसौटी पर विजेता हिंदू पूरे उतरे, वे जीने के योग्य सिद्ध हुए। इसीलिए वे आज भी जी रहे हैं और भविष्यकाल में भी जीना चाहते हैं।

शिवाजी की जन्मघटिका, हिंदू पराक्रम सूर्य के सात सौ साल के संपूर्ण ग्रहण से मुक्ति का पहला विपल था। तब से लेकर धीरे-धीरे वह ग्रहण हटते-हटते जिस दिन हिंदू पदपादशाही का मराठी घोड़ा अब्दाली की सेना को पीटते, धकेलते, भगाते अटक पहुँचा, उस दिन वह ग्रहण पूरी तरह छूटा और हिंदुओं का प्रताप अपने सहस्रों किरणों से फिर से चमकने लगा। इसीलिए शिवाजी का जन्मदिन और मुसलमान आदि अहिंदू सत्ताओं को नामशेष कर, अटक तक फैले हिंदुस्थान में हिंदू राष्ट्र का वर्चस्व स्थापित करनेवाला अटक का यह विजय दिन दोनों ही हिंदू मात्र के लिए अभिमानास्पद हैं।

जयंती और विजयंती

शिवाजी का जन्म-दिन और अटक का विजय-दिन इन दोनों में तुलना की जाए तो हम हिंदुओं के इतिहास में अटक का विजय-दिन अधिक तेज से चमकने वाला है। माधवाचार्य, हरिहर, बुक्का, श्रीशिवछत्रपति, राणाप्रताप, श्री गुरु गोविंदसिंह, छत्रसाल आदि अनेकानेक हिंदू वीरों के जन्मदिन का महत्त्व तत्कालीन पीढ़ी को उसी दिन नहीं ज्ञात हुआ था। उस दिन और भी कई बच्चे जनमे थे। उस दिन का महत्त्व उस समय के इतिहास को उलटे दूरबीन से देखने पर ज्ञात होता है और उस दिन के महत्त्व को जान लेने के बाद अब हम उन महापुरुषों की जयंतियाँ मनाने लगे। पर इन सब जयंतियों को यह सम्मान उस दिन के कारण मिला जिस दिन इन महावीरों के पराक्रम के कारण रामेश्वर से अटक तक फैले हिंदुओं के हिंदुस्थान पर

हिंदुओं की सत्ता कायम हुई। इस दिन कई शतकों तक चले आए महान् युद्ध में उन्हें पूर्ण विजय प्राप्त हुई। इस विजय से न केवल मित्रों की बल्कि शत्रुओं की आँखें तक चकाचौंध हुईं। जिस तरह प्रतिज्ञा से अधिक आश्वासन देनेवाला पूजनीय है उसकी पूर्ति, उसी तरह जयंती तिथि से अधिक पूजनीय है अटक की विजय-तिथि। जिस तरह बीजारोपण की उपयोगिता फलों से झुके हुए वृक्षों से या बुवाई की उपयोगिता फसल पकने के दिनों में है, उसी तरह वीर जन्मतिथि का उपयोगिता विजयंती-तिथि में है। 'अरावणमरामं वा जगदद्येति निश्चितः' की घोर प्रतिज्ञा के साथ आरंभ किए हुए युद्ध में जिस दिन राम ने रावण के दसों सिर काटे, वह राम-रावण युद्ध का विजय दिन था। इस विजय दिन के कारण ही राम का जन्मदिन सार्थक हुआ। इसी तरह सात पीढ़ियों के हिंदू पराजय का बदला लेनेवाले हिंदू वीरों की अटक विजय ने उन सात पीढ़ियों की पराक्रमी वीर पुरुषों की जन्मतिथियों को जयंतियों का वैभव अर्पण किया। इसीलिए अर्वाचीन हिंदू इतिहास के सभी गौरवास्पद दिनों और घटनाओं में अटक-विजय का दिन और वह घटना अत्यंत गौरवास्पद है; क्योंकि इसी दिन पूरे सात सौ वर्षों के बाद मुसलमानों के शिकंजे से हिंदुस्थान अधिक-से-अधिक विमुक्त हुआ। हिंदू पदपादशाही के मंदिर का सबसे ऊँचा कलश आसमान में उठा।

काबुल और दिल्ली की राजधानियाँ मुसलिम राजसत्ता की पटरानियाँ थीं। इन दोनों पर कब्जा कर मराठों ने पंजाब प्रांत को भी अटक तक मुक्त किया। आगे चलकर हमारे हिंदू और सिखों ने मुसलमानी राज्य को हमेशा के लिए हटा दिया। अटक के पार जाकर काबुल नदी पर भी हिंदुओं के ध्वज फहराए। पर उस समय इधर दिल्ली के दक्षिण का हिंदुस्थान एक नई विदेशी सत्ता—इंग्लैंड के चंगुल में फँस गया था। इसीलिए हिंदू सत्ता के अधिकाधिक विस्तार की दृष्टि से यह अटक दिवस ही सर्वश्रेष्ठ साबित होता है।

मोहम्मद कासिम सिंध पार कर ई.स. ७३२ में भारत आया। तब से लगभग एक हजार साल बीत गए थे। ऐसे में सन् १७५८ के अप्रैल-मई का वह सप्ताह, जब हिंदू वीरों के चौतरफा हमले से परास्त होकर अब्दाली के पठानों को सिंधु नदी के पार जाना पड़ा और हिंदू स्वातंत्र्य का 'जरीपटका ध्वज' अटक पर फहरा, हिंदू पराक्रम और हिंदू गौरव का परमोच्च शिखर है। उस विजय दिन पर हिंदू शक्ति जिस प्रखरता से चमक उठी, उतनी प्रखरता से वह आज तक फिर कभी न चमकी। पर अब वह उस दिन से भी अधिक तेजस्वी, ओजस्वी और यशस्वी होना चाहती है।

भविष्य में हमारी शक्ति बढ़े इसलिए वर्तमान काल के इस विषैले वातावरण

से निकलकर चलिए, एक सप्ताह हम भूतकाल के अत्यंत स्फूर्तिदायक वातावरण में बिताएँ। अर्वाचीन हिंदू विजय की स्मृति के अति उच्च, पूजनीय और पवित्र शिखर पर रहने से हममें शक्ति का संचय होगा, शक्ति और फुरती का संचार होगा।



सन् १७५८ अप्रैल-मई के उस विजय दिवस पर सेनापति रघुनाथराव पेशवा के सेनापतित्व में मराठों की सेना मुसलमानों को पछाड़ते हुए अटक तक पहुँची। इस दिन पर हिंदू मात्र को गर्व होना चाहिए क्योंकि यह हिंदू मात्र की विजय थी। हम महाराष्ट्रीय, बुंदेलखंडी, राजपूत, सिख सभी को हिंदू मानते हैं। हिंदुस्थान में हिंदू जगत् और अहिंदू जगत् में हुए अनेक शतकव्यापी महायुद्धों को हम संकलित हिंदू इतिहास के केवल पृष्ठ समझते हैं। उस अखिल हिंदू दृष्टि से ही हमें अटक-विजय का अत्यधिक गर्व है। क्योंकि उस दिन प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से हिंदुस्थान में पुनः हिंदू सत्ता स्थापित हुई थी।

ई. सन् १७६० में भारत कैसा था, इसका निरीक्षण आइए दक्षिण भारत में शुरू करें। यह देखिए त्रावणकोर का राज्य। यह हिंदू ही है। मैसूर राज्य भी उस समय तक हिंदुओं के ही हाथों में था। अर्काट-तंजावूर तक के छोटे-बड़े राज्य प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष मराठों के कब्जे में ही थे। इसके ऊपर थे कोंकण किनारे! पुर्तगालियों पर बड़ी विजय प्राप्त कर मराठों ने उन्हें गोवा तक हटाया था। इस तरह कोंकण अधिकांश हिंदू राज्य में ही समाविष्ट था। महाराष्ट्र, गुजरात, धार, इंदौर, ग्वालियर, बुंदेलखंड और इधर नीचे नागपुर से उड़ीसा तक के विस्तृत प्रदेश पर स्वतंत्र मराठों की हिंदू पदपादशाही की प्रत्यक्ष सत्ता थी। दक्षिण में मुसलमानों का केवल एक ही राज्य था, पर उसमें भी मराठों के चौथाई लगान और सरदेशमुखी जमींदारी के नाखून गहराई तक धँसे थे। और इस तरह वस्तुतः वह मराठों के आधिपत्य में ही था। उड़ीसा के बाद आता था बंगाल। बंगाल के नवाब ने इसी समय महाराष्ट्रीय हिंदू सत्ता को चौथाई के लाखों रुपयों का लगान देने का वचन देकर अपनी जान बचा ली थी। इस तरह राजपूताना तक के प्रदेश पर प्रत्यक्ष मराठों का हिंदू राज्य था। पंजाब तक का राजपूताना राजपूतों के हाथ में था। जाट भी हिंदू ही थे। दिल्ली तो मराठों के कब्जे में थी ही। इसके पार था नेपाल। वह भी हिंदू ही था। बचा था केवल अयोध्या का नवाब। उसे भी मराठों के चौथाई कर ने निजाम की तरह नरम कर रखा था। रामेश्वर से दिल्ली तक मुसलमानी सत्ता नाममात्र न बची थी। अब बचा था सिर्फ पंजाब।

मराठा सेना के आगे हारे हुए भारतीय मुसलमानों ने पंजाब की बची हुई मुसलमानी सत्ता को बचाने तथा हिंदुओं की बढ़ती शक्ति को नष्ट करने के लिए

बड़ा षड्यंत्र रचकर अब्दाली को हिंदुस्थान में बुलाया। सन् १७५६-५७ में हिंदुस्थान आते ही अब्दाली ने पंजाब पर कब्जा कर लिया और दिल्ली में प्रवेश किया। हिंदू तीर्थों और क्षेत्रों का विनाश करते हुए वह मथुरा तक आया, पर मराठों की बड़ी-बड़ी सेनाएँ दिल्ली की तरफ बढ़ते देख वह लौट पड़ा। वह अपने बेटे तैमूरशाह को दिल्ली के सिंहासन पर बैठाना चाहता था। पर तत्काल उसे पंजाब प्रांत की जिम्मेवारी सौंप वह वापस चला गया।

तभी मराठा सेना ने दिल्ली पर धावा बोला। सखाराम, भगवंत, गंगाधर, यशवंत आदि मराठा सेनानायकों ने दोआब में प्रवेश किया और रोहिलों तथा पठानों का पूरी तरह विनाश किया। विट्ठल शिवदेव ने दिल्ली पर हमला करके तथा अब्दाली को पीटकर उससे दिल्ली हथिया ली। हिंदुओं के कट्टर शत्रु नजीबुद्दौला को उसने जीवित पकड़ लिया और पंजाब पर भी आक्रमण किया। अब्दाली ने अब्दुल सैयद को सरहिंद में दस हजार पठानों के साथ रखा था। उन दस हजार पठानों को हराकर मराठों ने उनके सेनापति को पराजित कर उसे पकड़ लिया। मराठों के अप्रतिहार्य बल के सामने टिकना असंभव है यह देख, बादशाह बनने के स्वप्न देखनेवाला अब्दाली का पुत्र और प्रतिनिधि तैमूरशाह डर के मारे भागने लगा। विजय दुंदुभी के साथ मराठों ने लाहौर में प्रवेश किया। तत्काल मराठों ने मैदान छोड़कर भागती पठान सेना का पीछा किया। मराठों के हाथ तैमूर की युद्ध सामग्री आई। उसके सैकड़ों लोग मारे गए। मराठों ने उसका शिविर भी लूट लिया। पूरे हिंदुस्थान का बादशाह बनने की चाह रखनेवाला वह तैमूर और उसके पठान सैनिक जान बचाकर भाग खड़े हुए। वे सिंधु नदी के पार भागे। हिंदुओं के विजयी घोड़ों को अटक पर पहुँचने के बाद ही लगाम लगी। इस तरह मराठों के हाथ पंजाब और सिंध ये दो शेष रहे मुसलमानी सूबे भी आ गए।

अब त्रावणकोर से नेपाल तक का सारा हिंदुस्थान वास्तविक रूप से हिंदुओं के अधिकार में आ गया था। त्रावणकोर, मैसूर, महाराष्ट्र, विदर्भ, उड़ीसा, गुजरात, काठियावाड़, राजपूताना, इंदौर, ग्वालियर, नेपाल—यह विशाल प्रदेश हिंदुओं की सत्ता के अधीन था ही। निजाम, बंगाल का नवाब, अयोध्या का वजीर उन्हें चौथाई कर दे रहे थे। दिल्ली से पंजाब तक के प्रदेश पर महाराष्ट्रीय हिंदू सेनापति का सैनिक शासन था। इस तरह ई.स. ७३२ से लेकर आज सन् १९२८ तक हिंदुओं के हाथ में हिंदुस्थान का उतना विस्तृत प्रदेश कभी नहीं आया जितना अटक विजय के समय आया था। इसे स्पष्ट करने के लिए उस विजयी आक्रमण में लड़ते हिंदू सेनापति के एक-दो पत्र आज हम प्रकाशित कर रहे हैं। वे पत्र इस प्रकार थे—

रघुनाथराव को अंताजी माणकेश्वर का पत्र

(हिंदुओं के सेनापति श्रीमंत रघुनाथराव ने लाहौर पर आक्रमण कर उसपर कब्जा कर लिया। वह समाचार प्राप्त करने के बाद अंताजी माणकेश्वर ने यह पत्र लिखा है। उसीको हम नीचे दे रहे हैं। इस पत्र से स्पष्ट होता है कि पृथ्वीराज के बाद एक बार फिर हिंदुओं का विजयी अश्व उस पवित्र पंचनदियों के पंजाब के प्रदेश में जब दौड़ाया गया था—यह पढ़कर तब हर हिंदू के हृदय को कितना अभिमान हुआ होगा—यह पाठक को ज्ञात होने पर उनका सीना भी गर्व से चौड़ा होगा।)

अंताजी माणकेश्वर लिखते हैं—''स्वामी ने सेवक पर कृपा कर भेजा हुआ पत्र (१८ अप्रैल, १७५८) प्राप्त किया। आपने लाहौर की विजय, शत्रु का विनाश और वहाँ का मुल्क प्राप्त किया, यह पूरा विवरण पढ़कर परमानंद हुआ। उसे पत्र में भलीभाँति प्रकट नहीं किया जा सकता। इस विजय से पूरे हिंदुस्थान में हमारी कीर्ति फैल गई। राजा-महाराजा, अमीर-उमराव और सूबेदारों में हमारा आतंक पैदा हो गया। स्वामी ने अब्दाली से नहीं, हिंदुस्थान ने मुसलमानों से बदला लिया है। इससे हमारे यश का शिखर और ऊँचा हो गया है। स्वामी के यश से सेवक को इतना अधिक आनंद मिला है कि उसका वर्णन नहीं हो सकता। वर्तमान मंत्रियों ने भी यह समाचार बड़े हर्ष से सुना। स्वामी अवतारी पुरुष हैं। कोई मनुष्य उनकी स्तुति कैसे कर सकता है ? स्वामी का शिविर लाहौर में है। मंत्रियों और पातशाह को लेकर बाद में आपसे मिलने आऊँगा।''



राघो भरारी (रघुनाथराव पेशवे) का अटक से शनिवारवाडे (पुणे) भेजा हुआ पत्र

(हिंदुओं के सुप्रसिद्ध सेनानी श्रीमंत रघुनाथराव पेशवेजी ने हिंदू पदपादशाही की सीमा अटक तक बढ़ाई। उन्होंने श्रीमंत नाना साहब पेशवेजी को निम्नलिखित पत्र भेजा था। उस समय के मराठों के बाजुओं में अपार सामर्थ्य थी, हृदय में विश्वव्यापी महत्त्वाकांक्षा थी। आजकल के उनके कूपमंडूक वृत्ति के वंशज उनकी सामर्थ्य और महत्त्वाकांक्षा को ठीक से परख लें।)

दिनांक ४ मई, १७५८ को रघुनाथराव पेशवेजी को लिखते हैं—''लाहौर, मुलतान, कश्मीर आदि अटक से पहले पड़नेवाले सूबों का इंतजाम कर अपनी सत्ता वहाँ स्थिर करनी है। इसमें से कुछ काम हो गया है, कुछ जल्दी ही होगा। तैमूर, सुलतान और जहान खान पठान का पीछा कर हमने उनकी फौज को लूट लिया है।

किसी तरह गिरते-पड़ते अटक को पारकर वे पेशावर पहुँचे हैं। अब्दाली ने ईरान पर धावा बोला। पर ईरान के पातशाह ने उसकी फौज को लूट लिया। अब्दाली कंधार आया। ईरान की फौज पीछा करते हुए वहाँ तक पहुँची है। इन प्रांतों के सरदार और जमींदार जबरदस्त खान और मुकर्रब खान, अब्दाली की जबरदस्ती से उसके साथ हो गए थे, अब उससे पलटकर बदला ले रहे हैं। उनका पत्र आया है कि हम रफीक बनकर आपकी सेवा करेंगे, अब्दाली को नष्ट करेंगे। अब्दाली का धीरज छूट रहा है। सारांश यह कि अब्दाली का यहाँ पर भी ज्यादा जोर नहीं है। यहाँ ईरान का शाह उसके पीछे पड़ा है। वहाँ से हम भी उसे शह देंगे तो हमारी सरकार का अमल अटक के पार भी हो जाएगा। अब्दाली का भतीजा और उसकी दौलत का वारिस स्वामी के पास आया था। उसे आपने हमारे पास भेजा था। उसे अटक के पास कुछ भाग देकर बसाएँगे। उसे अटक के पार का काबुल-पेशावर का सूबा दे देंगे। सरहिंद में अब्दाली की फौज का सेनानी अब्दुल समंदर खान था। सरकार में उसका कोई मान नहीं है। उसे इस प्रांत की फौज तथा ईरानी, मुगल सिपाही देकर वहाँ भेजता हूँ। वे वहाँ पैरवी करेंगे। स्वामी के पुण्य प्रताप से अब्दाली पर हमला कर उसके दाँत खट्टे करेंगे। हमारा राज अटक पार तक फैलेगा। लाहौर प्रांत में रेणको अनाजी और रायजी सखदेव को तैनात किया है। गोपालराव गणेश ने संदेश भेजा है कि वे भी नहीं रहेंगे। हमें और मल्हार राव को ईरान के पातशाह के स्वदस्तूर कागज मिले हैं। उन्होंने लिखा था कि हम जल्द-से-जल्द कंधार आकर अब्दाली को पराभूत कर अटक को अपनी सीमा बना लें। पर हम आपके भेजे अब्दुल रहमत खान को काबुल का सूबा देने वाले हैं। उसे थोड़ी-बहुत सेना और युद्ध सामग्री भी दे देंगे। अटक पार के काबुल और कंधार के सूबे अकबर से लेकर आलमगीर तक हिंदुस्थान के कब्जे में हैं। उन्हें हम विदेशियों को क्यों दें? अतः हम अभी अब्दुल रहमत खान को यहाँ के सूबे देंगे। ईरान के शाह को इन सूबों की उतनी फिक्र नहीं होगी। वह ईरान पर अमल करेगा। हम कंधार तक अपना अमल कर उसे अभी मधुर सा जवाब भेजेंगे। जम्मू, कश्मीर वगैरह के सब वकील यहाँ आए हैं। अभी हमारा इरादा अटक के थोड़े पीछे के सूबे तक अमल करने का है। अटक के पार के सूबे तक का नहीं। उसके लिए भी लड़ेंगे, पर अभी जल्दी-जल्दी में जितना इलाका हमारे कब्जे में आएगा उसीपर संतोष करना पड़ेगा। अगले आक्रमण पर जो भी सरदार आएगा वह उसपर अपनी पकड़ कायम करेगा। इस इलाके से अमूमन दो करोड़ का लगान मिलेगा, पर यहाँ बड़े-बड़े जमींदार रहते हैं। पचीस लाख के इलाके से मुश्किल से एक-दो लाख लगान मिलेगा। अभी स्वामी की आज्ञा से पीछे हटने का इरादा है। इसलिए हमसे जो बनेगा वह हम करेंगे। अभी हमने लाहौर,

मुसलमान औरंगजेब को दिया है। अभी यहाँ का लगान किसी तरह सेना के खर्च के लिए ही पूरा पड़ेगा। दो-तीन साल के बाद लगान हाथ आएगा। स्वामी के प्रति प्रणाम।''

समस्त हिंदुओं को इस गौरव दिन की स्मृति अभिमान से मनानी चाहिए। महाराष्ट्रीय वीरों ने यह महान् युद्ध महाराष्ट्र के किसी प्रांतीय प्रश्न के लिए नहीं बल्कि हिंदू पदपादशाही के महान् ध्येय के लिए लड़ा था। दूसरी बात यह है कि मराठों को कुछ हिंदू राजाओं या हिंदू वीरों के साथ लड़ना पड़ा था, पर इन आपसी लड़ाइयों का इस राष्ट्रीय विजय से कोई संबंध नहीं। हिंदू इतिहास चाहे वह महाराष्ट्र का हो या बंगाल का, उसका सामष्टिक अवलोकन करके ही ऐसी महान् हिंदू विजय का रहस्य समझा जा सकता है, उसका महत्त्व जाना जा सकता है। मगध के राजा चंद्रगुप्त ने अपना साम्राज्य पंजाब से लेकर दक्षिण तक स्थापित किया। संकुचित प्रांतीय दृष्टि से वह पंजाब का शत्रु साबित होगा। चंद्रगुप्त की विजय का अभिनंदन करने की बजाय महाराष्ट्र को उसका द्वेष करना पड़ेगा। पर यह भयंकर राष्ट्रघाती गलती होगी। चंद्रगुप्त की दिग्विजय और अफगानिस्तान से दक्षिण तक के समूचे हिंदुस्थान का प्रबल संगठन करनेवाले उसके राष्ट्रीय साम्राज्य को राष्ट्रीय स्वातंत्र्य की दृष्टि से हम राष्ट्रीय गौरव समझते हैं। यही स्थिति विक्रम और श्रीहर्ष की है। कन्नौज के श्रीहर्ष और महाराष्ट्र-कर्नाटक के पुलकेशिन में युद्ध हुआ। पर आज हम इसकी तरफ राष्ट्रीय दृष्टिकोण से देख, दोनों को ही हिंदू वैभव के आधार स्तंभ मानते हैं। आज महाराष्ट्र श्रीहर्ष पर और कन्नौज पुलकेशिन पर गर्व करता है। पृथ्वीराज ने कई राजपूत राजाओं पर आक्रमण किए। गृह-कलह हुए पर यह घरेलू राजनीति थी। पृथ्वीराज ने अखिल हिंदू दृष्टि से मोहम्मद गोरी से आमरण युद्ध किया। जब तक जान में जान थी वह हिंदुओं के साम्राज्य के लिए लड़ा। जिन हिंदुओं से पृथ्वीराज ने गृह-कलह किए उन्हें भी वह हिंदूवीर के नाते पूजनीय है। और यही होना भी चाहिए। मराठा, सिख, राजपूत आदि हिंदुओं की सभी उपजातियों की यही बात है। जिस तरह अखिल हिंदू दृष्टि से महाराष्ट्र अशोक, चंद्रगुप्त, विक्रम, राणाप्रताप आदि महान् हिंदू वीरों की जय और पराजय को अपनी जय और पराजय मानता है, उसी तरह हिंदू पदपादशाही की स्थापना के लिए महाराष्ट्र के शिवाजी और अन्य वीरों ने जो अथक परिश्रम किए, बड़ी-बड़ी विजय प्राप्त कीं उनपर हम अखिल हिंदुस्थान के हिंदू मात्र को गर्व होना चाहिए। किसी भी हिंदू की महानता में हर हिंदू की अंशत: महानता है। इसी तरह कोई भी हिंदू स्वतंत्र होता है तो उसमें हर हिंदू अंशत: स्वतंत्र होता है।

अत: हिंदू संगठन की सामष्टिक चेतना से उदार, उत्स्फूर्त हुए हिंदू हृदयो,

यह अटक की विजय आप सबकी विजय है। आज उसको याद करो ताकि आपका आत्मविश्वास बढ़ जाए।

और हिंदू शत्रुओ, चाहे तुम किसी भी जाति-पाँति के, देश के हो, अगर तुम हिंदुओं को तुच्छ मानते हो, तो एक बार इस अटक की विजय तिथि की तरफ देखो। तुम्हारी मदांध हिंदूद्वेषी आँखें चौंधिया जाएँगी। जातिभेद, छुआछूत, आपसी वैमनस्य, अस्पृश्यता, धर्मांधता आदि का भारी घंटा गले में होते हुए भी यह हिंदू पराक्रम तुम्हारी बादशाहत और सलतनत को पैरों तले रौंदते हुए अपना विजयी अश्व अटक तक दौड़ा गया। और अब तो यह हिंदू पराक्रम समस्त राष्ट्रघाती रूढ़ियों को दूर फेंक रहा है। आज वह सिर्फ तलवार के बूते पर अपने अधिकार को प्राप्त करना चाहता है। उसकी राह में जो भी रोड़ा अटकाएगा वही उसकी ठोकर से दूर फेंक दिया जाएगा।

अगर तुम समझते हो कि हिंदू कायर है तो वह देखो, शत्रुओं के घमंड के शव पर लहराता हिंदुओं का केसरिया झंडा। देखो, वसई के पुर्तगीजों पर धावा बोलनेवाले चिमाजी अप्पा को। बादशाह की दाढ़ी खींच, उसे सिंहासन से उतारकर हिंदू राजा ने दिल्ली के सिंहासन पर अपना अधिकार जमाया। ये बातें वैदिक काल की नहीं हैं, ये कल ही की बातें हैं। हिंदुओं के सारे पूर्व वैरी अपने दुष्कृत्यों से ही बलहीन और हीन हो गए थे। अब हिंदू वीर तुम्हारे पीरों से नहीं डरेंगे। वे न पीर से डरेंगे, न पादरी से, न काले से डरेंगे, न गोरे से। वे राह में रोड़े अटकानेवालों को राह से हटाकर ही रहेंगे। अपने हिंदुस्थान के इंद्रप्रस्थ में वे इंद्र का राज्य स्थापित करके ही रहेंगे।

अटक विजय दिवस की स्मृति हिंदुओं से द्वेष करनेवालों के हृदय में दहशत पैदा करे! और हिंदू हृदय में उस दहशत को सार्थक करनेवाली भीम पराक्रम की जयशील स्फूर्ति जाग्रत हो!

□

मुसलमानों की खिलाफत का उदय-अस्त और विनाश

मोहम्मद पैगंबर से पहले पूरे अरब में मूर्तिपूजक (शायद शैव पंथानुयायी) धर्म का प्रसार हो गया था। मोहम्मद के पिता, चाचा और उनकी कोरेश जाति भी उसी मूर्तिपूजक पंथ की अनुयायी थी। परंतु मोहम्मद ने अपना नया धर्मपंथ शुरू किया और उसमें मूर्तिपूजा का विरोध किया। इससे उसकी कोरेश जाति तथा अन्य अरब जातियों के मूर्तिपूजकों में असंतोष उत्पन्न हुआ। पुराणपंथी कोरेश आदि जातियों के लोगों ने मोहम्मद पर आरोप लगाया कि वह अपने आपको मूर्तिभंजक कहलाता है और अपने थोड़े से अनुयायियों के सहारे गुप्त रूप से छापे डालकर कोरेशों की मक्का की कुछ मूर्तियाँ तोड़ रहा है। मोहम्मद को पकड़ने के लिए सत्ताधीश सिपाही आ भी गए। पर तब मोहम्मद ने अपने बिछौने पर अपने चहेते शिष्य अली को अपना भेष देकर लिटाया और स्वयं खिड़की से कूदकर खिसक गया।

'हिजरी' अर्थात् पलायन संवत् का आरंभ

मोहम्मद कई कष्टों को झेलते हुए, छिपते-छिपाते मदीना आए। उनके इस पलायन के वर्ष से ही मोहम्मदी हिजरी संवत् अर्थात् 'पलायन संवत्' शुरू हो गया। क्योंकि इसी वर्ष मदीना में पहुँचते ही उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से अपने धर्म का प्रचार शुरू किया। इतना ही नहीं, उन्होंने अपने मक्का के कुछ अनुयायियों और मदीना के सहायकों का एक अलग ही जत्था बनाकर उसका आधिपत्य अपने हाथ में लिया। इस तरह मक्का के 'मोहजरीन' अर्थात् पलायित और मदीना के 'अनासार' अर्थात् मित्र, सहायक की टोली के मोहम्मद पैगंबर अर्थात् राजा हो गए। इस नए जत्थे की धर्मसत्ता और राजसत्ता एक ही पुरुष 'मोहम्मद' के हाथ में

केंद्रित हुई। मदीना में मोहम्मद पैगंबर ने घोषणा की कि वे 'ईशप्रेषित पैगंबर' (दूत) हैं और उन्होंने अपने अनुयायियों का एक संघटित संस्थान बनाया। तब पुराने धर्म की मूर्तियाँ भी तोड़ी गईं।[१]

यह जानते ही मोहम्मद पैगंबर पर न केवल उनके कोरेश जाति के लोग बल्कि आसपास की अनेक अरब जातियों के लोग भी टूट पड़े। मोहम्मद पैगंबर और उनके अनुयायियों की इन पुराने धर्ममत के अनुयायियों के साथ हमेशा छोटी-मोटी लड़ाइयाँ होती थीं। इसलिए मोहम्मद पैगंबर अपने अनुयायियों के न केवल धर्माधिपति और राज्याधिपति बने, वे उनके सरसेनाधिपति भी हुए। जल्दी ही उन्होंने मक्का भी जीत लिया। फिर उन्होंने इर्दगिर्द के प्रदेशों में यह संदेश भेजा कि 'मेरा नया धर्म स्वीकारो या युद्ध के लिए तैयार हो जाओ।' यह देख कि एक साधारण सौदागर अचानक ही एक विजय का इच्छुक राज्यधुरंधर नेता हुआ है, प्रत्यक्ष पैगंबर के जीवित रहते उनके पैगंबरत्व को झूठा साबित करने और वे जिस सीढ़ी से इस साहसी वैभव तक चढ़े उसी सीढ़ी से चढ़ वही वैभव प्राप्त करने की आकांक्षावाले कम-से-कम और दो साहसी पुरुष अरब में उदय हुए। उन लोगों ने भी दावा किया कि वे ईश्वर के दूत, सच्चे पैगंबर हैं। इन दोनों को भी अनुयायी मिले। मोहम्मद के समकालीन प्रतिस्पर्धी पैगंबर थे अल् असवद और मोसिलेमा। इनमें से सच्चा पैगंबर अर्थात् भगवान् का दूत कौन था यह बताने के लिए शायद कार्य की अधिकता के कारण भगवान् स्वयं नहीं आए। ऐसे सवालों के हल, प्रत्यक्ष प्रमाण कभी नहीं निकाल सकते। अब पैगंबरत्व को सिद्ध करने के लिए स्पर्धी वीरों को तलवार के तर्क के अलावा और कोई तर्क न बचा। इसलिए कई युद्ध हुए और उनमें पैगंबर-पद पर अधिकार जतानेवाले तत्कालीन अन्य प्रतिस्पर्धी मर गए। आखिर मोहम्मद के अनुयायियों की तलवार विजयी हुई और 'जिसकी तलवार, उसका सत्य'—इस न्याय के आगे झुकनेवाले अरबों के झुंड-के-झुंड मोहम्मद की शरण में आने लगे। इतने में मोहम्मद पैगंबर चल बसे।

अब सवाल यह उठा कि उनके द्वारा स्थापित इस राज्य और धर्म का धुरंधर उत्तराधिकारी कौन बने? मोहम्मद ने अली नामक एक चहेते लड़के को अपना दत्तक पुत्र माना था। बाद में उन्होंने अपनी बेटी देकर उसे अपना दामाद भी बनाया।

---

१. The right honourable Justice Amir Khan, L.L.D. says in his book. 'The spirit of Islam' (p.p. 96)—"The idols of the nation were unrelentingly struck down. Sorrowfully, the idolators stood down and watched the downfall of the images they worshipped. Mohammed destroyed the ancient idols and abolished every pagan rite."

वे यह भी कहा करते थे कि उनका दामाद अली ही उनके बाद उनका उत्तराधिकारी बने। अत: मोहम्मद के अनुयायियों का एक पक्ष कहने लगा कि मोहम्मद पैगंबर की इच्छा अली को मुसलमानों का नेता बनाने की थी। पर मोहम्मद पैगंबर ने कई बार स्वयं ही अपने अबू बकर नामक वरिष्ठ शिष्य को प्रार्थना कराने की प्रमुखता का सम्मान दिया था। दूसरा पक्ष इसकी ओर इशारा करके कहता कि पैगंबर की यह कृति सिद्ध करती है कि अबू बकर ही पैगंबर के अनुयायियों का नेतृत्व करे। जब अली प्रभृति पैगंबर के पारिवारिक लोग मोहम्मद पैगंबर के अंतिम संस्कारों में लगे हुए थे तब इस दूसरे पक्ष ने जल्दी-जल्दी एक सभा बुलाई और उसमें मुसलमानी धर्मपंथ का नेतृत्व अबू बकर को अर्पित किया गया। इस बात को बरगलाना आसान नहीं, उचित भी नहीं, यह सोचकर आखिर अली ने उस बात को मंजूर किया। इस तरह पैगंबर का पहला प्रतिनिधि अर्थात् मुसलमानों का पहला खलीफा अबू बकर हुआ। यही है खिलाफत संस्था की शुरुआत है। इस समय अल्लाह (ईश्वर) पैगंबर (ईश्वरप्रेषित) और खलीफा (पैगंबर का प्रतिनिधि)—यह मुसलमान धर्म की अधिकार परंपरा स्थापित हुई। परंपरा से ही मोहम्मद पैगंबर में केंद्रित धर्माध्यक्षत्व, राज्याध्यक्षत्व और सेनाध्यक्षत्व की तीन तरह की सत्ता उसके प्रतिनिधि—खलीफा—को प्राप्त हुई। जिसमें यह तिहरी सत्ता चलाने की क्षमता थी वही खलीफा के अत्युच्च पद के लिए उपयुक्त था। मुसलमानों का पहला खलीफा अबू बकर इस कसौटी पर खरा उतरा। पर वह शीघ्र ही मर गया। मृत्यु से पहले उसने कह रखा था कि उसके बाद 'उमर' ही खलीफा हो इसलिए अबू बकर की मृत्यु के बाद ई.स. ६२४ में उमर, दूसरा खलीफा हुआ। अली को अपना हक फिर एक बार छोड़ना पड़ा। उमर बहुत पराक्रमी था। उसने तुरंत ही दूर-दूर तक मुसलमान धर्म और राज्य का प्रसार किया। पर आखिर अंदरूनी षड्यंत्र में फँसकर सन् ६४४ ई. में वह हत्यारे के हाथों मारा गया। मरते समय उसने खलीफा की नियुक्ति का अधिकार छह जनों के निर्वाचन मंडल को दिया। उस मंडल ने उस्मान नामक एक उमैयद जाति के आदमी को खलीफा पद के लिए चुना। इस तरह तीसरा खलीफा उमैयद जाति का उस्मान हुआ। यह पैगंबर के दामाद अली के कोरेश पक्ष को बुरा लगा। अरेबिया में वंश परंपरा से अनेक जातियाँ आपस में लड़ती रहती थीं। उनमें से एक थी पैगंबर और उसकी बेटी फातिमा के पति अली की कोरेश जाति। अपना खलीफा पद उमैयद जाति के उस्मान को मिले, यह भला कोरेश जाति कैसे सहती? सिर्फ खलीफा पद ही उमैयद जाति के उस्मान को मिलता तो भी कोरेश जाति कुछ हद तक सब्र करती, पर खलीफा होने के बाद उस्मान ने विशाल मुसलमानी राज्य के सभी अधिकार पदों पर उमैयद जाति के लोगों को ही नियुक्त करने की नीति अपनाई।

इस नीति पर अमल करने में उसके प्रबल सहायक थे मरयान और मोआबिया। इस त्रिकूट के जातीय जुल्म से तंग आकर अली के पक्ष ने विद्रोह कर दिया। खलीफा उस्मान अचानक ही मारा गया और आखिर अली के कोरेश पक्ष ने अली को खलीफा पद पर स्थापित किया। मुसलमानों का चौथा खलीफा है अली। इधर अली खलीफा हुआ और उधर सीरिया में उमैयद लोगों के प्रबल नेता मोआबिया ने बगावत शुरू की। इतना ही नहीं, मोहम्मद की चहेती छोटी पत्नी भी मोहम्मद के इस दत्तक पुत्र और दामाद के अर्थात् अली के विरोध में इस विद्रोह में शामिल हुई। मोआबिया की उमैयद जाति की विद्रोही सेना ने अली पर हमला किया। इस समय जीतने के लिए मोआबिया ने अनोखा तरीका अपनाया। उसने अपने भाले पर कुरान बाँधकर उसे ध्वज के तौर पर इस्तेमाल किया। कुरान को देखते ही अली के सैनिक बिदक गए। उस झंडे तले लड़नेवालों पर हमला करने से वे कतराने लगे और न चाहते हुए भी अली को मोआबिया से सुलह करनी पड़ी। तब यह बात मानी गई कि खलीफा सर्वसम्मति से चुना जाए। इस चुनाव के लिए पंच भी तय हुए। पंचों पर मोआबिया का प्रभाव था। अतः अली का चुनाव होना असंभव सा था। इस बीच अरब जातियों के ये कलह देखकर तंग आए कुछ मुसलमानों ने एक बहुत ही साहसी षड्यंत्र रचा। उन्होंने सोचा कि अली और मोआबिया की हत्या कर इस पक्षभेद की जड़ ही उखाड़ दी जाए, ताकि सभी मुसलमान इकट्ठा होकर निष्पक्ष भाव से सुयोग्य खलीफा को चुन सकें। इस हेतु से उन्होंने अली और मोआबिया की हत्या करनी चाही, पर इस कोशिश में सिर्फ अली ही मारा गया। मोआबिया हत्यारों के वार से बच निकला। अली की हत्या से उसका कोरेश पक्ष बौखला उठा।

अली और पैगंबर की बेटी फातिमा के दो पुत्र थे। उनके नाम थे हसन और हुसैन। हमारे यहाँ ताजिया निकालकर जिनकी हत्या का शोक हर वर्ष मुसलमान मनाते हैं, वे ये ही हसन और हुसैन हैं। अली के पक्ष ने हसन को खलीफा बनाया। मोआबिया के पक्ष ने इसे मंजूर न किया। बहुत बड़ा विद्रोह हुआ। आखिर मोआबिया की प्रबल शक्ति के आगे हसन को हार माननी पड़ी। उसे अपने खलीफा पद से त्यागपत्र देना पड़ा। इसके बाद दोनों पक्षों में समझौता हुआ कि पहले मोआबिया खलीफा होगा। पर मोआबिया के बाद खलीफा पद हुसैन को दिया जाए। इस तरह उमैयद और कोरेश जातियों में अल्पकाल के लिए ही सही पर सुलह हो गई। फिर एक बार खलीफा की नियुक्ति आम सहमति से हुई। यही है पाँचवाँ खलीफा— मोआबिया। यही है बगदाद के उमैयद खलीफाओं के वंश का संस्थापक। इसीने बगदाद को अपनी राजधानी बनाया। आगे चलकर यह उमैयद खलीफाओं का वंश बहुत शक्तिशाली और वैभवसंपन्न बना। पर उस वंश को स्थिर बनाने से पहले और

स्थिर बनाने के लिए ही मोआबिया को अनेक क्रूर कर्म करने पड़े। खिलाफत अपने ही वंश में रहे—इस स्वार्थी उद्देश्य से उसने सुलह होते ही पैगंबर के बड़े नवासे हसन पर विष प्रयोग कराया। पैगंबर के छोटे नवासे हुसैन को भी खलीफा पद से दूर रख, सुलहनामे को तोड़, मोआबिया ने अपने छोटे बेटे येसिड को खिलाफत का वारिस नामजद किया। इसके अनुसार मोआबिया की मृत्यु के तुरंत बाद सन् ६८० में येसिड खलीफा बना।

छठवाँ खलीफा येसिड

यह खलीफा जितना प्रतापी था उतना ही विलासी। उसका कोई प्रबल प्रतिस्पर्धी नहीं था इसलिए उसकी वृत्ति हो गई थी—'मनःपूतं समाचरेत्।' पूरी मुसलिम दुनिया पर उसकी अबाध धार्मिक और राजनीतिक सत्ता थी। मुसलमानों का धर्माध्यक्ष होने के नाते वह हर शुक्रवार मसजिद में प्रार्थना का संचालन करता था। पर इसलाम धर्म में त्याज्य माने गए अनेक भोग-विलासों का वह खुलेआम उपभोग करता था। मद्यपान के कारण वह हमेशा नशे में धुत रहता। उसके इस धार्मिक स्वेच्छाचार के विरोध में कई मौलवी आवाज उठाते थे। उनका मखौल उड़ाने के लिए वह एक गधे को मौलवी का वेश पहनाकर, उसका जुलूस एक सजाए हुए गधे पर निकालता था। ('On a beautifully caparisoned donkey.' Amir Ali, page 83) मोआबिया ने करार भंग कर मोहम्मद पैगंबर के नवासे हुसैन को खलीफा पद से बेदखल कर दिया था। येसिड को हुसैन से घोर संग्राम करना पड़ा। आखिर करबला की प्रसिद्ध लड़ाई में येसिड की मुसलमानी सत्ता ने पैगंबर के इस नवासे को और उसके अनुयायियों को बड़ी क्रूरता से मारा। मोहम्मद पैगंबर के नवासे की कटी हुई गरदन येसिड के 'अब्दुल्ला' नामक सेनापति के सामने लाई गई। तब उसने छड़ी से मृत हुसैन के होंठों को अत्यंत क्रूरता से मारा (Amir, Ali page 86)। यह सोचकर कि इसी हुसैन के नन्हे होंठों को स्वयं पैगंबर ने चूमा था, शिया पंथियों का शोक बढ़ गया। पर येसिड की क्रोधाग्नि इसीसे शांत न हुई। हुसैन का पक्ष लेनेवाले मदीना नगर पर उसने हमला किया और मुसलमानों के उस खलीफा ने, धर्माध्यक्ष ने, उस मुसलमानों के पवित्र क्षेत्र को मिट्टी में मिला दिया। वहाँ की मसजिदों को तबेलों में बदल दिया। पर मनुष्य ही नहीं, भगवान् भी येसिड का बाल भी बाँका न कर सका। उलटे हर युद्ध में वह जीतता गया। अपने बाद अपने बेटे को खलीफा पद पर तैनात कर वह सन् ६८३ ई. में अल्लाह को प्यारा हुआ।

इस ओमेडिया खलीफाओं के अनुयायियों को 'सुन्नी' कहा जाता था। पर

मोहम्मद पैगंबर की बेटी फातिमा के बेटों, हसन और हुसैन के अनुयायी उन्हें 'खूनी' कहते थे। हुसैन की हत्या के बाद उसके अनुयायी 'सुन्नी' लोगों से सदा के लिए अलग हुए। उन्होंने 'सुन्नी' लोगों के खलीफा की तरह, उनके प्रतिस्पर्धी अली के वंश से 'इमाम' नियुक्त करना शुरू किया। इस समय से मुसलमानों में हमेशा के लिए दो पंथ निर्मित हुए। उनके नाम थे सुन्नी और शिया। सुन्नियों के प्रमुख का नाम था 'खलीफा' और शियाओं के प्रमुख का नाम था 'इमाम'। पूरी दुनिया के मुसलमानों की एकछत्र खिलाफत और सत्ता के इसके बाद टुकड़े-टुकड़े होने लगे।

शिया पंथ के इमाम

ये निश्चित रूप से मोहम्मद की बेटी फातिमा के वंशज हैं। इसीलिए इन शियाओं के इमामों को फातिमाइड कहते हैं। यह हसन-हुसैन का वंश है। इनमें से कुछ इमाम सचमुच ही बड़े विद्वान्, संत और भगवद्भक्त थे। पर सुन्नियों के खलीफा अत्यधिक प्रबल थे। अतः इन इमामों को पीढ़ी-दर-पीढ़ी खलीफाओं के अत्याचारों को सहना पड़ा। खलीफाओं के अनुयायी शियाओं के इमामों को पाखंडी और पापी मानते थे। प्रार्थना के समय स्वयं खलीफा इन इमामों पर गालियों की बौछार करते और इन्हें समाप्त करने की अल्लाह से राष्ट्रीय रूप से विनती करते। शायद अल्लाह ने भी खलीफाओं की यह विनती सुनी, क्योंकि कुछ ही पीढ़ियों में इन इमामों का विनाश हुआ। कालांतर में, सन् ८७४ ई. के आसपास उनके आखिरी सत्ताधारी इमाम को उसके प्रतिस्पर्धी खलीफा ने बंदी बनाकर मार डाला। पीछे बचा तो बस उसका पाँच साल का एक बच्चा। वह मासूम बच्चा अनजाने में ही अपने बाप को पुकारता राह में चलता गया। फिर उस राह से एक काफिला गुजरा तो वह बच्चा उसमें शामिल हो गया। उस काफिले में मिलकर अपने बाप को खोजता हुआ वह बच्चा पता नहीं कहाँ चला गया। आगे उसका क्या हाल हुआ, यह भगवान् ही जानता है। उसके बाद वह फिर किसीको दिखाई नहीं दिया। यह करुण कहानी सुनकर शिया लोगों के दुःख का ओर-छोर न रहा। उस दुःख का शमन उन्होंने इस विश्वास के सहारे किया कि सुन्नी लोगों को छकाकर, भगवान् ही उनके बाल इमाम को कहीं ले गया है और उसने उसे कहीं सुरक्षित रखा है और उचित अवसर पर शिया लोगों को मुक्त करने वह जरूर आनेवाला है। यह घटना है सन् ७८४ के आसपास की। सैकड़ों सालों के बाद भी शियाओं का यह विश्वास अटल रहा। कभी-कभार कोई अफवाह फैलाता कि 'वह बच्चा वापस आ रहा है' और यह सुनते ही दूर-दूर से हजारों शिया लोग उस काफिले के मुख्य मार्ग पर इकट्ठा होते।

अपने उस बाल इमाम के लौटने की प्रतीक्षा शाम तक करते रहते। आस भरी शाम निराश रात में ढल जाती। और जब आँखें कुछ न देख पातीं तो वे शोक करते हुए वापस लौटते। आज भी लाखों शिया मुसलमानों का यह विश्वास है कि आज नहीं तो कल, वह बाल इमाम वापस लौटेगा और धरती पर शियाओं का धर्म और राज्य स्थापन करेगा। इसीलिए वे उसे 'मुताजार' (प्रतीक्षित) और 'फातम' (सत्) और 'आस्तिक' कहते हैं। शियाओं का अपने इमाम के प्रति यह करुण मनोहर वत्सल प्रेम देखकर कौन प्रभावित न होगा? अगर मुसलमान लोग हिंदुओं के ऐसे ही प्रेम भरे और भक्ति मनोहर विश्वासों और उनमें अंतर्निहित उदात्त मनोवृत्तियों का मजाक न उड़ाएँ और उन्हें मूर्ख, अंधविश्वासी कहना छोड़ दें, अपने आपको इन विश्वासों और भावों से अछूते होने का अहंकार छोड़ दें तो उनकी ऐसी निष्ठाओं का दूसरे भी मखौल नहीं उड़ाएँगे। उलटे मनुष्य स्वभाव की इस कोमल वृत्ति में छिपे वात्सल्य और भक्तिरस का आस्वाद लेकर उनके प्रति सदय रहेंगे।

अन्योन्य प्रतिस्पर्धी खलीफा

शियाओं की 'इमामशाही' के दुर्दिनों में सुन्नियों की खिलाफत भी कम संकटग्रस्त न थी। पीछे बताया गया है कि बगदाद में उमैयद जाति के खलीफाओं की खिलाफत थी। उस उमैयद जाति में ही मखान और उसका बेटा अब्दुल मलिक, ये दो भयंकर प्रतिस्पर्धी पैदा हो गए। अपने आपको खलीफा कहलाकर वे दमास्कस में स्वतंत्र रूप से राज करने लगे। मक्का में भी अब्दुल्ला नामक एक आदमी अपने आपको तीसरा खलीफा कहलाता था। अब्दुल मलिक ने उसपर हमला किया। जैसे बगदाद के खलीफा येसिड के अनुयायियों ने मुसलमानी धर्मक्षेत्र मदीना की विडंबना की वैसे ही विडंबना अब दमास्कस खलीफा अब्दुल मलिक ने मुसलमानों के दूसरे धर्मक्षेत्र मक्का की की। उसने वहाँ की मसजिदों को तबेलों में परिवर्तित किया। पूरे नगर को लूट लिया। सैकड़ों मुसलमानों को मौत के घाट उतारा। इस तरह ये खलीफा अपने ही धर्मक्षेत्रों को तहस-नहस कर रहे थे। राज्यलोभ या वहशीपन को छूनेवाले अंधे धर्मप्रेम के कारण वे अपने ही धर्मबंधुओं को निष्ठुरता से काट डालते। अगर ये मुसलमान, पारसी या हिंदुओं के देवस्थानों की राक्षसी विडंबना करते हैं तो उसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। वहशी धार्मिकता और असहिष्णु क्रूरता के सबक वे अपने धर्म के आरंभ से ही सीखते आ रहे थे।

दमास्कस के उमैयद खलीफा

उपर्युक्त अब्दुल मलिक के बाद दमास्कस का खलीफा 'वालिद' हुआ।

आपसी कलहों के बावजूद वे परधर्मीय लोगों पर लगातार आक्रमण कर रहे थे। उन्हें हराकर मुसलमानी धर्म और राज्य का वे प्रसार करते जा रहे थे। पारसियों के विस्तृत साम्राज्य को धूल में मिलाकर उन्होंने वहाँ के लोगों को मुसलमान बना लिया। उसके बाद वे सिंधु नदी को पार करने में लगे हुए थे। उधर दमास्कस के वालिद खलीफा के शासनकाल में, मुसलमान पूरे अफ्रीका भूखंड को पादाक्रांत कर, अटलांटिक महासागर तक पहुँच गए थे। कहते हैं कि अफ्रीका भूखंड का विजेता तारीक, आँधी-तूफान की तरह तेजी से आगे बढ़ रहा था। आखिर जब अचानक अटलांटिक महासागर ने उसकी राह रोक ली तो उसका घोड़ा पानी को चीरता हुआ आगे बढ़ता रहा। जब सागर की लहरें उसके गले तक पहुँच गईं तब सेनापति तारीक ने दुःखी मन से उसकी लगाम खींचते हुए कहा, ''हाय! इस समुंदर ने धोखा दिया। अगर यह आड़े न आता तो मेरा यह विजयी घोड़ा सामने बढ़ता जाता, डूबते सूरज तक पहुँच जाता और धरती के दूसरे छोर तक पहुँचकर ही दम लेता!'' और फिर उसने अपनी सेना का रुख उत्तर दिशा की तरफ मोड़ दिया। वह स्पेन का जलडमरूमध्य पार कर स्पेन में आ धमका। अरब विजेता तारीक जिस जगह स्पेन में आ धमका, उस स्थान को अभी भी 'जेवल-इ-तारीक' (जिब्राल्टर) अर्थात् तारीक का टीला कहते हैं।

अफ्रीका खंड पादाक्रांत करनेवाले मुसलमान सिर्फ उस प्रदेश को ही मुसलमानी राज्य में नहीं जोड़ते थे, वे तो वहाँ रहनेवाले लक्षाधिक लोगों को स्वेच्छा से या जुल्म-जबदरस्ती से इसलाम धर्म में शामिल कर लेते थे। वे यह भी मान लेते थे कि हराए हुए राज्य के स्त्री-पुरुषों का दास-दासी के रूप में मुसलमानी सैनिकों में बँटवारा करने का हक उन्हें पैगंबर ने ही दिया है। आखिर मोहम्मद ने भी तो यही किया था। अफ्रीका में तो कुछ राजाओं से खारिज ही ली जाती थी, आधी पैसों के रूप में और आधी स्त्रियों के रूप में। इन हजारों स्त्रियों का मुसलमानी सैनिकों में धन की तरह बँटवारा होता था। और इस तरह उस देश की नई पीढ़ी जन्म से ही मुसलमान धर्म में शामिल हो जाती थी। जिसके राज्यकाल में मुसलमानी लहर इस तरह स्पेन तक पहुँची वह दमास्कस का खलीफा वालिद सन् ७१५ ई. में मर गया।

वालिद के बाद दमास्कस और बगदाद के अधिकतर खलीफा पराक्रम से ज्यादा विलास और सनकीपन के लिए ही मशहूर हुए। एक खलीफा की इतिहास में मशहूर कहानी के अनुसार वह खलीफा शराबखोर था। जब पूरे मुसलमानी जगत् के प्रार्थनाचालक के रूप में वह उठ खड़ा होता तो मदहोशी के कारण उसे बार-बार नीचे देखना पड़ता। एक बार तो अत्यधिक शराब पीने के कारण वह ठीक से खड़ा भी न रह पाया। और जब उसे जबरदस्ती उठाकर खड़ा किया गया तब प्रार्थना के

मंत्र की जगह उसके मुँह से यह प्रार्थना निकली कि 'अल्लाह, मुझे थोड़ी और शराब दे!' और खलीफा दूसरे वालिद ने एक शुक्रवार को मारे उकताहट के अपने प्रार्थना संचालन के वस्त्र अपने हरम की एक सुंदर दासी को पहनाकर उसे ही प्रार्थनासभा में भेज दिया। उस दिन की प्रार्थना उसीके संचालन में हुई। मुसलमानों ने भी गुरुनिष्ठा का पालन कर उस सुंदरी द्वारा कही गई प्रार्थना को ही दोहराया (अमीर अली, पृष्ठ १९६)। जैसेकि इतिहास के अधिकतर राजवंशों का होता है, उमैयद खलीफाओं की भी लगातार अवनति होती गई।

अली के समय से मोहम्मद पैगंबर की कोरेश जाति से उमैयद जाति के लोगों ने खिलाफत हथियाई थी। कोरेश जाति ने उमैयद जाति की अवनति से फायदा उठाकर उस जाति से बदला लिया। पैगंबर के चाचा थे अब्बास। उनके वंश के अब्दुल अब्बास नामक साहसी आदमी ने अपनी कोरेश जाति को संगठित किया और दमास्कस के उमैयद जाति के आखिरी खलीफा इब्राहिम को पकड़ा और उसके मुँह में चूना ठूँसने जैसी शारीरिक यंत्रणाएँ देकर उसे मार डाला। उसने खलीफा के परिवार और अनुयायियों को भी इसी तरह क्रूरता से मार डाला। फिर बगदाद पर हमला कर वहाँ के उमैयद खलीफा का वंश भी उसने इसी तरह कुचल डाला। इसके बाद सन् ७४९ ई. में उसने अपने कोरेश जाति के अब्बासी वंश की धर्म और राज्यप्रमुख के रूप में स्थापना की।

अब्बासी खलीफा

दमास्कस नगर को छोड़कर ये अब्बासी खलीफा अपनी राजधानी बगदाद ले आए। इन खलीफाओं ने सिंधु नदी से स्पेन तक फैले मुसलमान साम्राज्य की बागडोर सँभाली, उसे सँवारा। इस वंश में अब्दुल का पुत्र मंसूर, उसका पुत्र महादी और उसका नियुक्त किया हरून रशीद जैसे बलाढ्य और भाग्यशाली खलीफा हुए। अरेबियन नाइट्स के प्रसिद्ध खलीफा ये ही थे। पर बाद में इनकी शक्ति भी कम होती गई। उनके प्रतिस्पर्धी खलीफा अधिक शक्तिशाली होते गए। मुसलमानों में अनेक पंथ उत्पन्न होते गए और आपसी वैमनस्य का असाध्य रोग लग जाने से यह वंश इतना क्षीण और पतित होता गया कि इस वंश के खलीफाओं को अपनी सुरक्षा के लिए अरब जाति के किसी पक्ष या मनुष्य का यकीन न रहा। आपसी वैमनस्य के कारण किस जाति के अरब किसपर टूट पड़ेंगे, इसका नियम ही न रहा। वंश सुरक्षा की इस समस्या का उन्हें एक ही समाधान नजर आया। वह यह कि जो अरब भी नहीं थे और मुसलमान भी नहीं, ऐसे नवोदित और बाहरी तुर्कों का सैन्य अपनी सुरक्षा के लिए तैनात करना। तुर्कों ने तब तक मुसलमान धर्म को नहीं अपनाया था।

इसलिए खिलाफत के अरब वंश के तत्त्व से उन्हें कोई लेना-देना न था। मुसलमानों का जो भी पक्ष उन्हें पैसा देता, उसीकी ओर से वे किसी भी दूसरे पक्ष से लड़ते थे। इस तरह इन दुर्बल अरेबियन खलीफाओं का भाग्य अब तुर्की सरदारों के हाथ में था। जाहिर है कि खलीफा अब उनके हाथ की कठपुतली बना। खलीफा वालिद ने मरते समय कहा था कि 'मेरे बाद मेरा छोटा बेटा खलीफा बने।' पर वालिद के मरते ही इन गैर-मुसलिम सरदारों ने उसकी इच्छा को ताक पर रख दिया। उसका कारण सिर्फ यही बताया गया कि 'खलीफा का छोटा बेटा खलीफा होने योग्य नहीं है क्योंकि मोहम्मद पैगंबर के बाद के खलीफा, उसीका राजदंड, मुकुट और पहनावा इस्तेमाल करते आ रहे हैं। और वे सब खलीफा के इस बेटे के लिए काफी बड़े हैं।' (अमीर अली, पृष्ठ २८९)। उस उद्दंड तुर्क का यह अनजाने में किया हुआ विनोद कितना सही और मर्मभेदी था!

पर बाद के अनुभव से तुर्कों को अपना यह आक्षेप गलत लगा क्योंकि उन्होंने जान लिया कि मोहम्मद पैगंबर के समय से खलीफाओं के शरीर पर विराजनेवाला पहनावा छोटे बच्चों के ही नाप का है। अतः तुर्क सरदारों ने छोटे बच्चों को ही खलीफा बनाने का रिवाज अपनाया। खलीफाओं के बड़ी उमरवाले वंशजों को सत्ता से दूर रख, तुर्क सरदार उनके किसी छोटी उमर के वंशज को ही खलीफा पद पर प्रतिष्ठित करते। कारण स्पष्ट था। छोटे खलीफाओं के संरक्षक के नाते वे खलीफा पद के अधिकारों को प्राप्त कर सकें और खलीफाओं की सारी राजसत्ता का उपभोग वे परंपरागत पद्धति से कर सकें। आखिर तुर्कों को सत्तामद इतना चढ़ गया कि सन् ८६९ ई. में सेना की तनख्वाह न दे सकनेवाले मुताज नामक खलीफा को उन्होंने महल से बाहर घसीटा और उसे पदच्युत कर कारागार में डाला। फिर वहीं पर उन्होंने उसे मार भी डाला। कोरेश जाति के अब्बासी खलीफाओं का उनकी राजधानी में ही यह हाल था। उनके प्रतिस्पर्धी खलीफा भी उन्हें नोचने-खसोटने के लिए आतुर थे। उनमें भी स्पेन के उमैयद खलीफा सबसे अधिक प्रबल और संपन्न थे। जैसेकि पहले बताया गया है, दमास्कस और बगदाद के उमैयद खलीफाओं का कोरेश जाति के इन अब्बासी खलीफाओं ने कत्ल किया था। उस गहमागहमी में उमैयद खलीफाओं के वंश का अब्दुल रहमान नामक एक आदमी बड़े साहस से स्पेन की तरफ खिसक गया था। उसीने स्पेन में मुसलमानी विजय कायम कर सन् ९७९ ई. में अपनी उमैयद वंश की स्वतंत्र खिलाफत स्थापित की। इन स्पेन के उमैयद खलीफाओं के सामने पूरा यूरोप काँपता था। ये ही मुसलमानों का अर्धचंद्रयुक्त निशान फ्रांस की राजधानी तक फहरा आए। पर वहाँ जाने के बाद वहाँ पर मुसलमानों की इस अबाधित विजय लहर को ईसाइयों ने रोक लिया। चार्लेस

मार्टेल को ईसाई बड़े गर्व से Hammerer, घनाघाती कहते हैं। उसके वज्राघात के कारण मुसलमानी आक्रमण फ्रांस की भूमि पर चकनाचूर हो गया। इन स्पेन के खलीफाओं की सुंदर और वैभवशाली राजधानियाँ थीं—कार्दोवा और तालेडो नगरियाँ। यूरोप में जिनकी धाक दो सदी तक थी वे स्पेन के खलीफा आखिरी दिनों में इतने कमजोर हो गए कि अगर एक खलीफा स्पेन की किसी ईसाई रियासत से सहायता लेता तो उसका प्रतिस्पर्धी खलीफा दूसरे किसी ईसाई सरदार से सहायता लेता। आखिर सन् १४९८ ई. में स्पेन की एक ईसाई रियासत ने इन मुसलिम खलीफाओं के विरोध में विद्रोह का झंडा फहराया और बड़ी ही नाटकीयता से न केवल उनकी सत्ता को मिटाया बल्कि मुसलिम धर्म को भी स्पेन की भूमि से उखाड़ फेंका। उस ईसाई विजेता ने एक दिन निश्चित करके फरमान किया कि स्पेन के सभी मुसलमान या तो उस दिन से पहले ईसाई धर्म को स्वीकार करें या फिर स्पेन छोड़कर चले जाएँ। तब सहस्राधिक मुसलमानों ने ईसाई धर्म को स्वीकारा। बचे हुए मुसलमानों को स्पेन से बाहर निकाल दिया गया। और जिन मुसलमानों ने इसका प्रतिरोध किया उन्हें मौत के घाट उतार दिया गया। उस निश्चित दिन स्पेन इस तरह मुसलिम विहीन हो गया मानो वहाँ तीन सदियों तक मुसलमानों का प्रबल राज्य था ही नहीं।

जैसाकि पहले बताया गया है, इधर एशिया में सन् ८७४ ई. के बाद शिया इमामों की पूरी तरह हार हुई थी। फिर भी अपने आपको हसन-हुसैन की माँ और मोहम्मद पैगंबर की बेटी फातिमा का वंशज कहलानेवाले महादी नामक व्यक्ति ने बगदाद के अब्बासी खलीफाओं के विरोध में बगावत की और इजिप्ट में शियाओं की एक स्वतंत्र खिलाफत स्थापित की। तब से इजिप्ट में फातिमी वंश के खलीफा शासन करने लगे। इस वंश में भी कुछ प्रबल और महान् खलीफा हुए। पर बीच में जैसे बगदाद के खलीफाओं की सत्ता तुर्की सरदारों ने छीन ली वैसे ही इन इजिप्ट के खलीफाओं की सत्ता अन्य तुर्की सरदारों ने छीन ली। इससे पहले ही राज्यलोभ और अवसरवादिता के कारण कई तुर्की सरदारों और उनके अनुयायियों ने मुसलमानी धर्म को अपनाया था। उनमें से कुछ ने अपने आपको सुलतान की पदवी दे दी और वे स्वयं राजा बन बैठे और उनके हाथ की कठपुतली बने अल्प वयस्क खलीफा। अभी बगदाद, दमास्कस, इजिप्ट, स्पेन आदि स्वतंत्र राज्यों के सुलतान और खलीफा आपस में लड़ ही रहे थे कि अचानक मुसलमानों के ये सारे कमजोर राज्य तातारी देश से आए एक भयानक बवंडर में फँस गए। यह बवंडर था चंगेज खाँ का राक्षसी हमला। स्वयं चंगेज खाँ मुसलिम धर्म और राज्य का कट्टर द्वेषी था। अधिकतर एशिया और आधा यूरोप उसके वज्राघाती हमले में पिस गया था। उसने मुसलमानों की दमास्कस और बगदाद सलतनतों को मटियामेट कर डाला।

तुर्की सुलतान

चंगेज के बवंडर के शांत हो जाने के पश्चात् यह देखा गया कि एशिया खंड के पूरे मुसलमानी जगत् में एक भी खलीफा नहीं बचा है। कुछ साल इसी तरह बिना खलीफा के ही गुजर गए। संयोग से इबिसियाड वंश का एक दूर का रिश्तेदार चंगेज खाँ के कत्ल अभियान में बच गया था। इजिप्ट का सुलतान बड़े प्रयास से उसे इजिप्ट में ले आया। मुसलमानों ने उसे खलीफा मान लिया और सन् १४६१ ई. में इस खुशी में एक बड़ा उत्सव भी मनाया गया। पर इसके बाद खलीफा एक नि:शक्त, निस्सहाय, निर्माल्यवत् धर्माचार्य ही बना रहा। वह सुलतान की राजसभा की शोभा और उनके ताल पर नाचनेवाला एक स्वाभिमानहीन पुतला हो गया। सोलहवीं सदी में तुर्की सुलतान सेलिम ने इजिप्ट पर कब्जा किया। तब से उसने खिलाफत के सर्वाधिकार खलीफा से छीन लिये। खलीफा का पद ही खारिज किया गया। तबसे तुर्किस्तान के सुलतान ही मुसलमानों के खलीफा माने जाने लगे।

सुलतान पद और खिलाफत का संपूर्ण विनाश

सन् १९१४ के विश्वयुद्ध के बाद तुर्किस्तान में तरुण तुर्कों ने तुर्की गणराज्य स्थापित किया। तुर्की गणराज्य के पहले अध्यक्ष और सैन्याधीश थे कमाल पाशा। उन्होंने आखिरी सुलतान और खलीफा को पदच्युत किया और उन संस्थाओं को ही विसर्जित किया। उसकी विस्तृत जानकारी इस ग्रंथ के 'कमाल पाशा द्वारा तुर्किस्तान की अरब संस्कृति का उच्छेद' नामक २ और ३ लेखांक में है। जिज्ञासु उसे जरूर पढ़ें।

जो पाठक इस लेख का अंतरंग अधिक मर्मज्ञता से जान लेना चाहते हैं और मुसलमानों की धार्मिक और सांस्कृतिक अंत:कलह की वास्तविक रूपरेखा समझना चाहते हैं वे हमारे जाति उच्छेदक निबंधों में सम्मिलित 'मुसलिमों के पंथोपपंथों का परिचय' लेख जरूर पढ़ें।

□

कमाल पाशा द्वारा तुर्किस्तान से अरब संस्कृति का उच्छेद

सन् १९१४ के जर्मन विश्वयुद्ध के बाद पूरे यूरोप और पूर्व एशिया में कई नए राष्ट्रों का उदय हुआ। कुछ नाम से तो पुराने रहे पर केंचुल उतारे साँप की तरह उन्होंने अपने जीर्ण बुढ़ापे को त्यागकर नए जीवन को अपनाया। ऐसे ही राष्ट्रों में से एक राष्ट्र है पूर्व तुर्किस्तान। उस राष्ट्र के उदय का इतिहास अभ्यसनीय है। तरुण तुर्कों के नेतृत्व और कर्तृत्व के कारण पूर्व तुर्किस्तान के तुर्कों का यह प्रबल राष्ट्र प्रगति की घुड़दौड़ में आज अचानक ही तेजी से आगे बढ़ रहा है। हमारे हिंदुस्थान की संक्रमणावस्था में उनका इतिहास भारतीय लोगों के लिए आज की स्थिति में विशेष रूप से बोधप्रद होगा। खासकर भारतीय मुसलमानों को इस विषय का महत्त्व अच्छी तरह से जान लेना होगा। क्योंकि भारतीय मुसलमानों का एक बहुत बड़ा हिस्सा अभी भी अरब संस्कृति को ही अपना अपरिवर्तनीय धर्म मानता है। इतना ही नहीं, अरब संस्कृति की भाषा, लिपि, कायदे-कानून आदि को वह हिंदू समाज पर थोप, समूचे भारत राष्ट्र को ही उस साँचे में ढाल लेना चाहता है। ऐसी स्थिति में यह जीर्ण संस्कृति अपनी प्रगति के मार्ग की बाधा है, ऐसा समझनेवाले तुर्कों के विचारों और अनुभव में कुछ तथ्य हो तो उसे जान-बूझकर न समझते हुए उस हानिकारक संस्कृति से चिपककर रहने का दुराग्रह करनेवाले भारतीय मुसलमान न केवल अपना बल्कि समूचे भारत राष्ट्र का अहित करेंगे। और यह मत भी किसी हिंदू या गैर मुसलिम समाज का नहीं बल्कि उस तुर्किस्तान का है जिसे आज भी बहुसंख्य भारतीय मुसलमान अरब संस्कृति अर्थात् मुसलमानी संस्कृति का पुरोध्वज, आधारस्तंभ, संरक्षक और सम्राट् समझते हैं। विश्वयुद्ध के बाद तुर्किस्तान ने खिलाफत को अपने राष्ट्र से उखाड़ फेंका। फिर भी बहुसंख्य भारतीय मुसलमान उसे पहले की तरह ही मुसलिम समाज का कट्टर अभिमानी समझते हैं। अगर वे तुर्किस्तान

में हाल ही में हुए आंदोलन की तरफ ध्यान देंगे तो समझ जाएँगे कि आधुनिक जगत् की प्रगति की स्पर्धा में अरब संस्कृति का टिकना बहुत मुश्किल है।

अरब संस्कृति की पूर्वकालीन उपयुक्तता

आज की प्रगतिशील स्थिति में अरब संस्कृति भले ही पिछड़ी हुई लगे पर हमें यह कदापि नहीं भूलना चाहिए कि किसी समय दुनिया के बहुत बड़े मरणासन्न समाज में उस संस्कृति ने नवचेतना भर दी थी। उस समय उसने नवतत्त्व, नवधर्म, नवशिल्प आदि द्वारा मानव प्रगति में अमूल्य योगदान दिया था। हजार-बारह सौ साल पहले मोहम्मद पैगंबर ने अरब लोगों को मुसलिम धर्म की दीक्षा दी। इसीके साथ इस संस्कृति का सामाजिक योगदान आरंभ हुआ। मोहम्मद पैगंबर ने कुरान शरीफ की पहली आयत—पहला मंत्र—पढ़ा और म्यान से तलवार निकाली। उस दिन से लेकर अगले सौ-डेढ़ सौ सालों में उस संस्कृति में निहित आवेश और शक्ति ने स्पेन से लेकर सिंधु नदी तक अर्थात् आधी दुनिया का रूप बदल डाला। उसकी विजय के अप्रतिहत वेग को स्पेन का जलडमरूमध्य, ईरान की अग्नि, सिंधु की अटक-मर्यादा, चीन की दीवार या हिमालय के शिखर भी रोक न सके। इस संस्कृति ने अपने धर्म, भाषा, लिपि, शिल्प और शास्त्र की राजमुद्रा से एकाधिक भूखंड अंकित किए। उस काल की जीर्ण-शीर्ण संस्कृतियों से टक्कर लेनेवाली अरब संस्कृति में सिर्फ जीने के लिए ही नहीं बल्कि दुनिया को जीतने के लिए भी कुछ अधिक असामान्य श्रेष्ठत्व, कुछ नया जीवनतत्त्व निश्चित ही था और इसी कारण वह उन संस्कृतियों से अधिक समर्थ, अधिक योग्य सिद्ध हुई।

संस्कृति की उन्नति की सीमाएँ

प्रकृति निरंतर विकासशील है। काल को कोई मुट्ठी में नहीं बाँध सकता। नई या सुधारित आवृत्ति निकालकर पुस्तक को दीमक से बचाया भी जा सकता है, पर अपरिवर्तनीय धर्मग्रंथ की, परिवर्तनशील कालरूपी दीमक से रक्षा करना देवदूत के भी बस की बात नहीं। क्योंकि कालरूपी दीमक उस अपरिवर्तनीय धर्मग्रंथ के सिर्फ पन्ने ही सफाचट नहीं करती, उसके अर्थ को भी लीलकर उस ग्रंथ को अर्थहीन और छिन्न-भिन्न कर देती है। इसलिए उसकी नई प्रति निरर्थक हो जाती है। अपरिवर्तनशील धर्मग्रंथ की सुधारित आवृत्ति निकालना तो असंभव ही है क्योंकि वह उस धर्म में निषिद्ध है। इस तरह अरब संस्कृति की अर्वाचीन यूरोपियन संस्कृति से मुठभेड़ होते ही उसकी दुर्दशा हो गई। अरब संस्कृति किसी भी अपरिवर्तनीय धर्मग्रंथ में जकड़ी संस्कृति की तरह एक स्वतंत्र, धार्मिक और स्थितिशील

संस्कृति है। पर अर्वाचीन संस्कृति स्थिति के साथ-साथ बदलनेवाली, समय के हाथों में हाथ डालकर दौड़नेवाली गतिशील संस्कृति है। यह सर्वथैव स्वतंत्र शास्त्रीय संस्कृति, वैज्ञानिक यंत्रयुग के अभ्युदय के बाद वाष्प, विद्युत् और रेडियो तरंगों की लगाम पकड़, ऊँचे आकाश में अग्निबाणों से चाँद पर आक्रमण करना चाहती है। जैसे ही अरब अर्थात् मुसलिम संस्कृति की यूरोपियन संस्कृति से टक्कर हुई वैसे ही अरब संस्कृति बलहीन हुई जैसे दस-पंद्रह सौ साल पहले आवेश भरी अरब संस्कृति के सामने तत्कालीन जीर्ण-शीर्ण निरुपयोगी संस्कृतियाँ हुई थीं।

तरुण तुर्कों की बगावत

इस स्थिति को देखकर अपरिवर्तनीय संस्कृति की बेड़ियों को तोड़, यूरोपियन राष्ट्रों की वैज्ञानिक संस्कृति को अपनाने का साहस 'तरुण तुर्क' नामक संस्था ने किया। इस संस्था का उदय इस शतक के आरंभ में हुआ था। 'तरुण तुर्क' संस्था के अनवर पाशा, कमाल पाशा आदि नेताओं की शिक्षा जर्मनी, फ्रांस, इंग्लैंड आदि देशों में हुई थी। इसलिए उन्हें पूरा विश्वास था कि बिना यूरोप के राष्ट्रवाद, संविधान, विज्ञान, शासन, यांत्रिक, सैनिक और सामाजिक क्रांति को अपनाए और इस प्रक्रिया में रुकावट डालनेवाली पुरानी परंपरावादिता को छोड़े, तुर्किस्तान एक स्वतंत्र और बलशाली राष्ट्र नहीं बन सकता। आज तुर्किस्तान में अरब संस्कृति का उच्छेद करने के जो भगीरथ प्रयत्न हो रहे हैं उनके मूल में इन्हीं तरुण तुर्कों का प्रगतिवाद और दृढ़ प्रतिज्ञा है। तुर्क राष्ट्र के उत्थान के लिए जिस स्थिति में जो सुधार करने पड़ते उन्हें तरुण तुर्क तुरंत लागू करते, चाहे उसके लिए अपरिवर्तनीय धर्मग्रंथ का आधार मिले या न मिले। तरुण तुर्कों की इस सुधारवादी वृत्ति को अब पूरे तुर्किस्तान ने अपनाया है।

फिर भी हमें इस बात पर भी गौर करना चाहिए कि तुर्क अरब संस्कृति के विरोध में केवल इसलिए नहीं उठ खड़े हुए कि वह आज की परिस्थितियों से टक्कर लेने में असमर्थ है। इस राष्ट्र की सांस्कृतिक क्रांति के पीछे एक दूसरा भी ऐतिहासिक कारण है। तुर्किस्तान के राष्ट्रवादी पक्ष में अपनी जाति का अभिमान भी ठाठें मार रहा है। वह राष्ट्रप्रेमियों को उकसा रहा है कि अरब संस्कृति हमारी संस्कृति नहीं। इसीलिए अरब संस्कृति को अपने देश से निकाल बाहर फेंकने के लिए ही यह तुर्कों की सांस्कृतिक बगावत है। हजारों हिंदू भारतीय मुसलमान अभी भी कमाल पाशा को 'धर्मवीर', 'गाजी' मानते हैं। भारतीय मुसलमान सैकड़ों सालों से यह सुनते आ रहे थे कि तुर्कों का खलीफा और सुलतान ही मुसलिम धर्म का जगद्‌गुरु है, मुसलिम सत्ता का जागतिक सम्राट् है। वे अल्लाह से हमेशा उसकी

सुरक्षा की दुआ माँगते आ रहे थे। इसीलिए उन्हें यह सुनकर बड़ा ही आश्चर्य हो रहा है कि वे ही तुर्क, उसी मुसलिम संस्कृति को अरब संस्कृति और अरबी होने से परायी संस्कृति मानने लगे हैं। तुर्कों को आज की अरब संस्कृति पर इतना गुस्सा क्यों है, इसे पाठकों को समझाने के लिए, इस बगावत के पीछे छिपे इस दूसरे कारण पर अर्थात् तुर्क और अरबों का संपर्क क्यों और कैसे हुआ, और वह कैसे बढ़ता गया, इसपर प्रकाश डालना होगा।

अरबी साम्राज्य में तुर्कों का प्रवेश

मोहम्मद पैगंबर ने अरबों में मुसलमानी धर्म का प्रचार किया। उसने अरब में मुसलमानी राज्य की स्थापना की। इससे उनके हाथ में धर्मदंड और राजदंड की दोहरी सत्ता केंद्रित हुई। मुसलिम जगत् के वे ही खलीफा थे, सुलतान थे। मुसलमानी जगत् के वे ही जगद्गुरु थे, जगत् सम्राट् थे। उनके बाद अबू बकर, उमर, उस्मान और अली—इन प्रथम चार सत्ताधारियों के हाथ में वही दोहरी सत्ता बनी रही। बाद में इन अधिकारों के लिए उमैयद और फातिमी वंशों में झगड़े हुए। परिणामतः मुसलमान जाति के दो टुकड़े हुए—सुन्नी और शिया। प्रथम उमैयद और बाद में अब्बास, मंसूर, महादी और हसन-अल-रशीद नामक बलाढ्य खलीफा हुए। ये ही अरेबियन नाइट्स के नायक थे। पर आगे चलकर सुन्नी-शियाओं और सुन्नी-सुन्नियों में राजसत्ता के लिए छीनाझपटी शुरू हुई। अब अरबी खलीफाओं को यह विश्वास ही नहीं रहा कि इस धार्मिक और वांशिक पक्षभेद की आँधी में बहकर उनका अरब सैन्य कब किसका पक्ष लेगा, कब किसपर टूट पड़ेगा। उन्हें डर था कि कहीं धर्म और वंशभेद के चक्कर में पड़कर उनके सैनिक, उन्हींका सर्वनाश न कर दें। अतः उन्हें यही उचित लगा कि उनकी सुरक्षा के लिए ऐसे गैर-मुसलिम सैनिकों को तैनात किया जाए जो सिर्फ वेतन के लिए काम करते हों। जिनको दूसरे किसी मुसलमानी धर्मपंथ या वंश से सरोकार न हो। लगभग इसी समय मुसलिम सत्ता की आँधी ने मध्य एशिया के तुर्किस्तान की सीमा छू ली थी। उन तुर्क-तातारों का कड़वा लड़ाकूपन देख, बगदाद के खलीफाओं ने उन्हींको अपनी सेना में भरती करने का सिलसिला अपनाया। धार्मिक मुद्दों पर लड़ने-झगड़नेवाले अपने मुसलिम अरबी सेना से खलीफा को यह गैर मुसलिम तुर्की सैन्य अधिक भरोसेमंद लगा। उन्हें ढंग की तनख्वाह देने पर वे सुन्नी या शिया—किसी भी मुसलिम वंश के लोगों की धज्जियाँ उड़ाने के लिए हमेशा तैयार रहते। इसलिए खलीफा अपने अत्यंत गोपनीय और विश्वसनीय कामों पर इन्हीं तुर्क-तातारों को तैनात करने लगा। सन् ८३३ ई. में अब्बासी खलीफा मुतासिम गद्दी पर आया और उसने अरब अधिकारियों

को काम से निकाल बड़े-बड़े अधिकार पदों पर इन गैर मुसलिम तुर्कों को तैनात करने की नीति अपनाई। खलीफाओं के राजमहल में भी तुर्की सरदारों के शस्त्रों का ही दबदबा था। अरब लोगों को इस बात का बड़ा दुःख था कि पराये और परधर्मीय तुर्क उनके अरब साम्राज्य पर हावी हो रहे हैं। पर उनके आपसी कलह इतने बढ़ गए थे कि तुर्कों की मनमानी उन्हें चुपचाप सहनी पड़ रही थी।

सन् ८६९ ई. में तो तुर्कों की मनमानी खलीफा के सिर चढ़कर बोलने लगी। जब बगदाद का खलीफा मुतासिम तुर्कों को उनकी तनख्वाह न दे पाया तब तुर्कों ने उसे गद्दी से घसीटकर रास्ते पर फेंक दिया। फिर कारागार में डाल उसे सता-सताकर मार डाला। तब से तुर्क न केवल खलीफा के देहरक्षक रहे, वे उसके चालक और अभिभावक भी हो गए। अपनी मरजी के मुताबिक वे किसीको भी खलीफा बनाते, किसीको भी खलीफा पद से उतार देते। यह स्थिति केवल बगदाद के अब्बासी वंश की ही नहीं थी। इजिप्ट के फातिमी शिया खलीफाओं की भी तुर्कों ने ऐसी ही दुर्गत बनाई थी। इजिप्ट के अरब राज्य में तलाई नामक एक बलाढ्य तुर्क सरदार था। वह तो अपने आपको 'खलीफाओं का कर्ता-धर्ता' कहता था। हमेशा अपना ही पक्ष खलीफाओं का अभिभावक बना रहे इसलिए उसने यह अलिखित नियम बनाया कि खलीफा अल्पवयस्क ही होना चाहिए। बड़ी उमर के औरस पुत्र को उसका न्यायोचित हक न देकर वह उस वंश के किसी दूर के रिश्तेदार के अल्पवयस्क लड़के को गद्दी पर ला बैठाता। इस तरह तुर्क भीतर-ही-भीतर अरब साम्राज्य को खोखला बना रहे थे। इसी समय किसी वज्रपात की तरह अरब साम्राज्य पर चंगेज खाँ का तूफानी हमला हुआ। इधर हम हिंदू 'खान' और मुसलमान 'जगज्जेता' की पदवी सुनते ही मन-ही-मन मान लेते हैं कि वह आदमी निश्चित ही मुसलमान होगा। हमने ऐसे कई अनाड़ी मुसलमान देखे हैं जो यह कहने पर कि 'सिकंदर खान' (अलेक्जेंडर) मुसलमान नहीं था, आपे से बाहर हो जाते हैं। वे सोचते हैं कि अगर वह मुसलमान नहीं होता तो खुदा उसे फतह कैसे देता? अरब लोगों की भी यही कल्पना था। मुसलमानों के इसी घमंड से चिढ़कर अमुसलिम चंगेज खाँ ने मुसलमानों को तहस-नहस कर डाला। उसने बगदाद की ईंट-से-ईंट बजाई। दमास्कस की नींव हिला डाली। उसने मसजिदों को मैदानों में तबदील किया। लाखों मुसलमानों को कत्ल कर उनकी लाशों के ढेर लगाए। चंगेज ने मुसलमानों पर वह कहर ढाया कि मुसलमान मान गए कि अल्लाह गैर मुसलिमों को भी फतह देता है। मुसलमान इतिहासकार अब भी चंगेज खाँ के आक्रमण को 'अल्लाह का शाप', 'अल्लाह का प्रकोप' कहते हैं। वस्तुतः अरब साम्राज्य का तभी अंत हुआ।

तुर्की सुलतानों का उदय

पूरी दुनिया को तहस-नहस कर डालनेवाला चंगेज खाँ का तूफानी हमला शांत हुआ। मध्य एशिया खंड में फिर से थोड़ी शांति स्थापित हुई। पर तब तक खलीफा के वंश का नामोनिशान मिट गया था। आखिर इजिप्ट का प्रबलतर तुर्क सेनानी कहीं से उस वंश के एक आदमी को ढूँढ़ लाया। उसे धर्मदंड के अधिकार के लिए खलीफा बनाकर उसने खुलेआम राजदंड अपने हाथों में लिया। तब से तुर्क सुलतान हुए। तुर्क सम्राट् हुए और अरबों के हाथ में खिलाफत—केवल धर्मगुरुत्व के अधिकार रह गए। पर मुसलमानी धर्मशास्त्र का नियम है कि खलीफा वही हो सकता है जो स्वतंत्र हो, सत्ताधीश हो। आखिर मुसलमान जगत् इस बात के लिए भी अनुकूल होने लगा कि तुर्की सुलतान खलीफा भी हो। अंत में तुर्किस्तान के पराक्रमी सुलतान सलीम ने अरबों के हाथ से वह धर्मदंड भी छीन लिया। तब से तुर्क ही सुलतान और खलीफा भी हुए। तुर्कों ने अरबों के प्रख्यात धर्मक्षेत्र मक्का और मदीना पर भी कब्जा किया। अपनी सत्ता स्थापित करने के लिए तुर्कों को मुसलमानी धर्म और संस्कृति उपयोगी थी इसलिए तुर्की सुलतानों ने मुसलिम धर्म और अरब संस्कृति को अपनाया। पर जैसाकि इस लेख में पहले लिखा गया है, जैसे ही उन्हें पता चला कि अरब संस्कृति अर्वाचीन यूरोपियन संस्कृति से टक्कर नहीं ले सकती, उन्होंने तुरंत उसका त्याग कर दिया। वैसे भी वे सही माने में उसे महत्त्वपूर्ण मानते ही नहीं थे।

इस लेख में कमाल पाशा के नेतृत्व में तुर्किस्तान से अरब संस्कृति का उच्छेद क्यों हो रहा है, इसके दो प्रमुख कारण और उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि दी गई है। अब अगले लेख में, तुर्कों ने पिछले दस वर्षों में धर्म, भाषा, लिपि, कायदे-कानून, जनरीति, नीतितत्त्व आदि में किस तरह क्रांति की है, इसके बारे में जानकारी देने का विचार है।

तुर्क और अरबों में पहले से ही वैमनस्य था। इसलिए पहले से ही तुर्क अरब संस्कृति की गुलामी से चिढ़े हुए थे। अब उन्होंने अनुभव किया कि अपरिवर्तनीय धर्मग्रंथों में जकड़ी अरब संस्कृति, प्रगतिशील भविष्यकाल के लिए आवश्यक यूरोपियन वैज्ञानिक सुधारों का विरोध कर रही है। तुर्क भविष्य में प्रगतिशील होना चाहते थे, पर अरबी धार्मिक संस्कृति इसमें रोड़े अटकाती थी, इसलिए उन्होंने इस संस्कृति पर कड़ा हमला किया। पहले लेख में इसीका वर्णन है। अब इस लेख में इस हमले की झलक देने का इरादा है।[१]

---

१. 'केसरी', १ जून, १९३४।



जर्मन युद्ध के अंत में सन् १९१७ ई. में तुर्कों का पराभव हुआ। इसका पूरा लाभ उठाकर वारसा की संधि में यूरोपियन राष्ट्रों ने तुर्की साम्राज्य को आपस में बाँट लिया। इससे पहले कि तुर्की साम्राज्य पूरी तरह गतप्राण होता, कमाल पाशा ने अपने खड्ग की सूई से उसमें पराक्रम की संजीवनी भर दी। तुर्कों ने देखते-देखते कांस्टंटिनोपल से लेकर स्मर्ना तक के विस्तीर्ण रणांगन में ग्रीकों को मजा चखाया। नव शक्ति से भरा तुर्कों का स्वतंत्र राष्ट्र फिर से अपने पैरों पर खड़ा हुआ। लड़ाई के मैदान में पाँव जमाकर उसने यूरोप को चुनौती दी, 'तुम्हारे वारसा संधि की ऐसी की तैसी!'

इस लेख का उद्‌देश्य तुर्किस्तान की राज्य क्रांति का वर्णन करना नहीं है। इस राज्य क्रांति के बाद हुई जिस सांस्कृतिक क्रांति का वर्णन इस लेख में करना है वह इस राज्य क्रांति के कारण संभव हुई और वह इस राज्य क्रांति का पहला अपरिहार्य परिणाम था। यह कार्य-कारण भाव दिखाने के लिए ही उसका केवल उल्लेख कर वह पुनरुजीवित तुर्की राष्ट्र को चिरस्थायी बनाने के लिए कमाल पाशा ने पहले झटके में ही तुर्किस्तान से खिलाफत को किस तरह और क्यों निकाल बाहर किया—यह देखेंगे।

अरब खिलाफत का उच्छेद

जब तुर्क जर्मन महायुद्ध की चपेट में आए थे तब अरबों ने उनके साम्राज्य से विद्रोह कर गैर मुसलिम क्रिश्चियन राष्ट्रों की ओर से युद्ध लड़ा। अरबों के इस विश्वासघात से तुर्क मर्माहत हुए। तरुण तुर्कों के उदय के बाद भी तुर्कों ने विश्वयुद्ध के समय तक खिलाफत संस्था का यह सफेद हाथी पाला था। वह इसलिए नहीं कि उन्हें इससे धार्मिक लगाव था। उन्हें लगा था कि इस धार्मिक पीठ के अधिकारी होने के नाते अरबों को तुर्की साम्राज्य अपना लगेगा, वे हमेशा ही तुर्क राष्ट्र की सहायता करेंगे। पर स्वयं अरबों ने ही अपने खलीफा को ठुकराया। मिस्र, ईरान, अफगानिस्तान आदि किसी भी मुसलिम राष्ट्र ने अपने तुर्क खलीफा के लिए जेहाद—धर्मयुद्ध छेड़ने की उत्सुकता नहीं दिखाई। अपने खलीफा के झंडे तले इकट्‌ठा होकर उसके शत्रु से लड़ना चाहिए, यह धार्मिक भावना किसीमें भी नहीं दिखाई दी। तुर्कों को किसी भी राष्ट्र ने पर्याप्त रणसहायता नहीं दी। इस तरह खिलाफत संस्था जारी रखने से मुसलमान शक्तियों को तुर्की राष्ट्रध्वज के नीचे केंद्रित किया जा सकता है, तुर्किस्तान की यह अपेक्षा विफल हुई। इसका एक ही अपवाद था। वह था, जिनका अपना राष्ट्र ही न था ऐसे भारतीय मुसलमान और गांधीवादी हिंदू।

इन सज्जनों को तुर्की खिलाफत की चिंता तुर्कों से ज्यादा थी। तुर्की खिलाफत को सहायता देने के लिए, भारतीय खिलाफत मंडल ने बैसाखी के तौर पर अपना तिनका कमाल पाशा को पेश किया। पर उस आधार से कमाल पाशा का, भारतीय मुसलमानों की तरह सुस्थिति में जीने का भाग्य नहीं था, इसलिए उसका उस बैसाखी की तरफ आँख उठाकर देखने का भी मन नहीं हुआ। कमाल पाशा ने निश्चित किया कि इस पैनइसलामिज्म के पागलपन से तुर्की राष्ट्र का भविष्य में जरा भी हित नहीं होगा। अत: इसे अपने राष्ट्र में बनाए रखना बेकार है। उसने घोषणा की कि पैनइसलामिज्म से तुर्कों को लाभ तो होगा ही नहीं, हानि अवश्य होगी क्योंकि पैनइसलामिज्म तुर्कों की प्रगति की राह में काँटे बिछाता रहेगा। उसने यह भी स्पष्ट किया कि जब तक तुर्किस्तान का सुलतान, मुसलिम धर्म का खलीफा कहलाएगा तब तक उसे मुसलमानों के धार्मिक नीति-नियम मानने पड़ेंगे।

हजार-डेढ़ हजार साल पहले अरब की विशिष्ट परिस्थिति में शादी-ब्याह, उत्तराधिकार, स्त्री, दास, संतति विषयक अधिकार, दंडविधान, राजनीति, तत्त्वज्ञान आदि व्यक्तिजीवन और राष्ट्रजीवन के नीति-नियम बनाए गए थे, जो कुरान में लिखे गए थे। बदलती स्थिति के अनुसार उनमें बदलाव आना चाहिए जो नहीं आ सकता था। खिलाफत का मूल तत्त्व ही था कि कुरान में लिखे नीति-नियमों को कभी बदलने नहीं देना। यह तुर्कों के लिए, उनकी प्रगति के लिए अहितकारक था। इतना ही नहीं, ख़िलाफत के धर्मदंड ने तुर्कों के माथे हमेशा के लिए एक कलंक भी मढ़ा था कि तुर्क जाति अरब जाति से हीन है। इसलामी धर्मशास्त्र के अनुसार खलीफा वही हो सकता था जिसकी रगों में मोहम्मद पैगंबर की कोरेश जाति के रक्तबीज हों। पैगंबर के अनुयायियों के अनुसार पैगंबर के जन्म के कारण कोरेश जाति धन्य हुई थी। अत: मुसलमानी धर्मगुरु पद की भी वही अनन्य अधिकारिणी थी। यह स्वाभाविक भी था। तुर्कों के प्रबलतम सुलतान को भी इस धर्मविश्वास के सामने सिर झुकाना पड़ता था। वे तब तक खलीफा पद के लिए योग्य नहीं समझे जाते थे जब तक माता की तरफ से ही सही, उनमें अरब खलीफाओं के श्रेष्ठ रक्त का अंश नहीं मिलता था। इसलिए तुर्की सुलतानों को अपने ही द्वारा पदच्युत किए गए दुर्बल खलीफाओं की, उनकी कन्याओं से विवाह करने के लिए मिन्नतें करनी पड़ती थीं। इस धार्मिक विश्वास का गर्भितार्थ यही था कि तुर्की सुलतान अपने पराक्रम के कारण नहीं बल्कि अपने जन्मजात उच्चतर और शुद्धतर अरब रक्त के कारण ही पवित्र खलीफा पद के लिए पात्र हो जाते थे। और इसीमें तुर्क जाति की निंदा छिपी थी। तरुण तुर्क इतने मूर्ख और स्वाभिमानशून्य नहीं थे कि अपने रक्तबीज को अरब रक्तबीज से हीन सिद्ध होने देते, इसलिए उन्होंने इस मानहानि

की जड़ अर्थात् खलीफा पद को ही उखाड़ फेंकना चाहा।

इस तरह जिससे भविष्य में लाभ की नहीं बल्कि हानि की ही आशंका थी तथा जो स्वजाति के रक्त का अपमान करने के तत्त्व पर आधारित थी, उस खिलाफत संस्था को जड़ से उखाड़ फेंकने का मौका तरुण तुर्कों को मिला। सन् १९१४ के विश्वयुद्ध के अंत में स्मर्ना और कांस्टंटिनोपल नगरों से ग्रीक सैन्यों को खदेड़कर तुर्क राष्ट्र ने फिर से युद्ध में विजय प्राप्त की। इस विजय की मस्ती में हिनहिनानेवाले अपने घोड़े को एड़ लगाकर, हाथ में बंदूक लिये, कमाल पाशा खलीफा की दुर्बल राजसभा में जा धमका। शतरंज के पट की तरह उसने वह राजसभा बिखेर दी। खलीफा को उसकी गद्दी से नीचे उतार उसने खिलाफत का पूरी तरह उच्छेद किया। पदभ्रष्ट खलीफा को उसने अपने राष्ट्र से ही निकाल बाहर किया।

खलीफा ही सुलतान था। अत: कमाल ने खलीफा और सुलतान इन दोनों जीर्ण-शीर्ण संस्थाओं को एक साथ ही समाप्त किया। धर्मसत्ता का, राजसत्ता का, Theocracy का अंत हुआ। तुर्किस्तान में बुद्धिनिष्ठ लोकसत्ता की स्थापना हुई। यहीं पर अपरिवर्तनीय अरब धर्म-संस्कृति की तुर्किस्तान में इतिश्री हुई।

अरब धर्मनियमों का उच्छेद

अरबों ने विश्वयुद्ध में तुर्किस्तान के शत्रुओं से हाथ मिलाकर तुर्की सत्ता को नकारा था। उन्होंने तुर्कों की राजसत्ता को नकारा और यहाँ तुर्कों ने अरबों की धर्मसत्ता को नकारा। दोनों राष्ट्रों ने एक-दूसरे से संबंध विच्छेद कर लिया। खलीफा का उच्छेद होते ही राजनीति से धर्म का भी उच्छेद हुआ। तब तक तुर्कों के सारे व्यवहार कुरान के अरब और अपरिवर्तनीय माने जानेवाले धर्मनियमों पर आधारित थे। पर तरुण तुर्कों ने उन कालबाह्य धर्मनियमों को राजनीति और व्यवहार से हटाया। धर्म अलग है और व्यवहार एवं राजनीति के नियम अर्थात् कानून अलग हैं। एक है शब्दनिष्ठ, श्रद्धा का विषय और दूसरा प्रत्यक्षनिष्ठ प्रयोग का। धर्म का संबंध परलोक से है, कानून का इहलोक से। अत: 'प्रत्यक्षमार्गेण व्यवहार विधिं नयेत्' इस तत्त्व के अनुसार तरुण तुर्कों ने लोकसभा की पहली ही बैठक में व्यवहार विषयक सारे धार्मिक कानून रद्द कर दिए। स्विट्जरलैंड के बड़े-बड़े विधि विशेषज्ञों को अपने देश में बुलाकर उन्होंने तुर्किस्तान में स्विट्जरलैंड के नागरी कायदे (civil law) लागू किए। इस सुधार के लिए धर्मशास्त्र की मंजूरी है या नहीं, मुल्ला-मौलवी की रजामंदी है या नहीं, यह कतई नहीं पूछा गया। एक ही दिन में लोकसभा में यह विधेयक स्वीकृत हुआ। उसपर चर्चा करने में भी समय नहीं गँवाया गया। कई महीनों तक वर और वधू पक्ष लोगों में चर्चा होने के बाद शादी

तय होती है और फिर एक दिन औपचारिक वाङ्निश्चय का नाटक होता है। कुछ इसी तरह तुर्किस्तान में एक ही दिन में जैसे युगांतर हो गया। दूसरे ही दिन नया पौरविधान लागू होने की पूरे तुर्किस्तान में घोषणा की गई। इसलामी विवाह प्रथा रद्द, इसलामी वारसा प्रथा रद्द, इसलामी बहुपत्नीत्व रद्द, धार्मिक न्यायशास्त्र रद्द। पौरविधान स्विट्जरलैंड से लिया गया तो दंडविधान (criminal law) इटली से। इटली के कानून-विशेषज्ञों को बुलाकर उनसे अपराध संबंधी कानूनों का ढाँचा बनवाया गया। चोरी, डाका, हत्या आदि अपराधों को अब तक अरब धर्मनियमों के अनुसार पुराने ढंग का दंड दिया जाता था, अब उनके लिए प्रगतिशील, नए समय के अनुरूप दंडविधान निश्चित हुआ।

तुर्की राष्ट्र ने स्विस पौरविधान (नागरी कायदे) और इटालियन दंडविधान तुरंत ही लागू किया। इसी तरह उसने आवश्यकता के अनुसार जर्मनी से वाणिज्यविधान (Mercantile Law), सैनिक रचना, सैनिक अनुशासन, रणनीति प्रधान सुधार आदि भी लिये। तुर्की लोकसभा ने इन सबको भी जल्दी-जल्दी में सहमति दे डाली।

यह नहीं कि इन सब कायदे-कानूनों और सुधारों को जल्दी से सिर्फ स्वीकृत ही किया गया। कमाल पाशा ने उन सभी को शीघ्रता, गंभीरता और दृढ़ विश्वास से दूसरे ही दिन से लागू भी किया। कमाल पाशा में विचारशीलता के साथ-साथ क्रियाशीलता भी थी। सोचने की बात है कि एक दिन में एक युग बदलने की शक्ति कमाल पाशा को किस मंत्र से मिली? इस प्रश्न का उत्तर केवल एक वाक्य से दिया जा सकता है। उसने सोच रखा था कि किसी अपरिवर्तनीय धर्मग्रंथ में लिखे जाने से ही कोई भी व्यवहार सदा के लिए धर्मसंगत या अधर्मसंगत सिद्ध नहीं होता। वह सिद्ध होता है तत्कालीन परिस्थिति में, वह विशिष्ट व्यवहार राष्ट्र के लिए हितप्रद है या अहितप्रद, इस प्रत्यक्षनिष्ठ कसौटी पर कसे जाने से। कोई भी रोगोपचार इसलिए ही सही नहीं माना जाना चाहिए कि वह किसी पुस्तक में लिखा गया है या दादा-परदादाओं के बटुए में पाया गया है, बल्कि उसे इसलिए सही मानना चाहिए कि वह आज के रोग को दूर करने में सचमुच ही उपयोगी है। तरुण तुर्कों ने इस महत्त्वपूर्ण आचारसूत्र की घोषणा की और युगांतर हुआ।

कमाल पाशा यह काम यदि मौलवी-मंडल के सुपुर्द करता तो? इससे पहले कि इन सुधारों का एक-एक शब्द धर्मग्रंथ के आधार पर तय किया जाता, उस धर्मग्रंथ के कई वाक्यों के कई अर्थ लगाने पड़ते, हर शब्द की खींचातानी होती, उसपर भाष्य होता, टीका-टिप्पणी होती, वाद-विवाद होते। आखिर नव मतवादी मौलवी शास्त्रनिर्णय देते कि पुराने शब्दों में अभीष्ट अर्थ है ही नहीं और पुराणपंथी शास्त्रनिर्णय देते कि ये सारे सुधार शास्त्रबाह्य हैं इसलिए त्याज्य हैं। नव मतवादियों

को बौद्धिक अप्रामाणिकता करनी पड़ती और पुराणपंथियों को उससे भी भयानक राष्ट्रीय आत्मघात करना पड़ता। और इतना सब होने पर भी सर्वसम्मत निर्णय न होने से शास्त्रार्थ का प्रश्न यथावत् अनिर्णीत ही रहता।

धर्म-स्वातंत्र्य की घोषणा

तुर्कों ने देखा कि धर्मग्रंथ खोलकर सुधार का मसला हल करने में कई शतक लग सकते हैं। उन्होंने आजमाया कि क्या धर्मग्रंथ को बंद करके यह समस्या हल हो सकती है। उन्होंने धर्मग्रंथ को बंद किया और पाया कि उनकी समस्या तत्काल हल हो गई है। व्यवहार में, दैनिक आचार में धर्म का कोई काम ही नहीं रहा। धर्म हर एक के व्यक्तिगत मत तक सीमित रहा। इसके साथ ही तुर्किस्तान में धर्म-स्वातंत्र्य की घोषणा की गई। इतना ही नहीं, हिंदुस्थान के कई मुसलिम धर्मवीरों को, जिन्हें पढ़ना नरक का साधन लगता है, ऐसे हिंदू वेदों का अध्ययन तुर्की विद्यापीठों में अत्यधिक आदर से पर ऐतिहासिक दृष्टिकोण से किया जाता है। और यह अध्ययन कुछ मानों में आवश्यक भी माना जाता है।

अरबी लिपि की परिसमाप्ति

मुसलमानों का धर्मगंथ कुरान अरबी लिपि में लिखा गया है। धर्मलिपि होने से वह पवित्र मानी गई थी। उस देश में पूर्वापर रूप से यही एक लिपि चली आ रही थी। पर वह मुद्रण और पठन के लिए अत्यधिक कठिन थी, क्लिष्ट थी। तुर्किस्तान के नब्बे प्रतिशत लोग अनपढ़ थे और उन्हें यूरोप के नब्बे प्रतिशत पढ़े-लिखे लोगों की बराबरी करनी थी। ऐसे में अरबी लिपि के रोड़े को हटाने में ही उनकी भलाई थी। मुद्रण के लिए आसान रोमन लिपि के उपलब्ध होने से कमाल पाशा ने उसे तुरंत अपनाया। रोमन लिपि के अध्ययन के लिए तुर्कों को एक साल की अवधि दी गई। फरमान हुआ कि ठीक एक वर्ष बाद सारा सरकारी कामकाज रोमन लिपि में ही होगा। लिपिशुद्धि का यह अभियान इतनी गंभीरता से लिया गया कि स्वयं कमाल पाशा भी पाठशालाओं में रोमन लिपि सिखाने लगे। हमारी देवनागरी लिपि तो केवल दस अक्षरों में परिवर्तन करते ही मुद्रण और शिक्षण के लिए रोमन लिपि से भी अधिक सुगम हो जाती है। अगर कमाल पाशा को देवनागरी लिपि उपलब्ध होती तो अरबी लिपि को बदलने के लिए वह अपने राष्ट्र को एक वर्ष की अवधि भी न देता। कमाल पाशा को काम से काम था और काम वह बड़ी सख्ती से करा लेता था। अतः निर्धारित दिन से तुर्कों का सारा सरकारी कामकाज, समाचारपत्र राष्ट्र की नई रोमन लिपि में शुरू हुए।

अरबी भाषा की परिसमाप्ति

तुर्कों के पास अपनी लिपि नहीं थी, पर भाषा थी। पर अब तक तुर्क विजेता होते हुए भी राजभाषा का सम्मान मिला था पराजित लोगों की भाषा को अर्थात् अरबी को। अरबी के वर्चस्व के कारण तुर्की भाषा ठीक से फल-फूल नहीं रही थी। साहित्य की भाषा थी अरबी। तुर्की बेचारी सिर्फ घर और बाजार में चलती थी। भला स्वाभिमानी तुर्क यह क्योंकर सहते! शिवाजी महाराज ने भी मराठी को अरबी-फारसी के परकीय शब्दों के प्रभाव से मुक्त करने के लिए शुद्ध मराठी के उपयोग की राजाज्ञा दी थी। पर शिवाजी की तरह उनका महाराष्ट्र दृढ़निश्चयी न था इसीसे आज भी हमारी मराठी में 'कबूल', 'हल्ली', 'सिवा' आदि सैकड़ों परकीय शब्द हैं। सौभाग्य से कमाल के नवतुर्कों का राष्ट्र उसीकी तरह दृढ़निश्चयी था। उन्हें न केवल अपनी भाषा से कुछेक परकीय शब्दों को हटाना था बल्कि अपनी मृतप्राय भाषा को भी नवजीवन देना था। पर उन्होंने प्रयत्नों की पराकाष्ठा की। तुर्किस्तान से उनके मध्य एशिया के मूलस्थान को संशोधन मंडल गए। उन्होंने वहाँ से अपनी प्राचीन भाषा की शब्द संपदा को यथासंभव प्राप्त करने की कोशिश की। तुर्की शब्दों के पुनरुज्जीवन अथवा नवनिर्माण के काम के लिए पंद्रह हजार शिक्षकों को तैनात किया गया। तुर्की में साहित्य नहीं था, अतः सभी नए साहित्यिक शब्दों को बनाया गया। प्रचलित किया गया। किसीने बीस हजार तुर्की शब्द इकट्ठा किए, किसीने दस हजार। बोलचाल में गैर तुर्की, विशेषतः अरबी शब्दों का प्रयोग शिष्टाचार के विपरीत माना गया। मंत्रिमंडल के बड़े-बड़े 'पाशा'—प्रमुख मंत्री—आपस में होड़ लगाने लगे कि एक घंटे में कौन कम-से-कम परकीय शब्दों का प्रयोग करता है। सरकारी राजपत्रों में (गजेट में) हर रोज पाँच नए तुर्की शब्द, राष्ट्र के प्रयोग के लिए प्रकाशित होने लगे।

भाषाशुद्धि के इस अभियान में तुर्की राष्ट्र को आंतरिक विरोध का सामना भी करना पड़ा। कइयों का कहना था कि परकीय शब्दों से भाषा संपत्ति बढ़ती है। इसके उत्तर में कमाल पाशा ने कहा कि जिस अर्थ के लिए स्वकीय शब्द नहीं हैं, उन्हींके लिए परभाषा के शब्द लेंगे। भाषा संपत्ति उसीसे बढ़ती है। पर स्वभाषा के शब्दों को मारकर परभाषा के शब्दों को जीवित रखना ठीक वैसा ही है जैसा औरस पुत्रों को मारकर दत्तक पुत्रों से अपनी संतति बढ़ाने की कोशिश करना। स्वधर्म के लोगों को अपना बनाए रखना और धर्मांतरित लोगों को फिर से अपने धर्म में लेना सच्ची शुद्धि है; पर जितने परधर्मियों को शुद्ध करके हम अपने धर्म में लेते हैं, उतने ही स्वधर्मियों को मार डालना शुद्धि नहीं, बेशुद्धि है। तुर्की जैसी कमजोर, मृतप्राय, सरल, साधारण भाषा का कितना अभिमान! और हमारी देववाणी संस्कृत तो हमारे पीछे कुबेर की संपदा जैसी शब्द संपदा लेकर खड़ी है। अगर कमाल पाशा के पास

ऐसी शब्द सुंदर, साहित्यमयी, ज्ञानगंभीर भाषा होती तो वह तो अपनी भाषा को देवों के राष्ट्र पर थोपने की भी आकांक्षा रखता। 'कानून' के नपे-तुले शब्दों के लिए भी वह हम कंगालों की तरह दर-दर भीख माँगता न फिरता।

पूजा-प्रार्थनादि अरबी धर्माचारों का उच्छेद

कायदे-कानूनों की क्रांति के बाद व्यावहारिक आचार-नियमों में भी क्रांति हुई। पूरा कुरान तुर्की भाषा में अनुवादित हुआ। पवित्र 'अल्लाह' शब्द भी अरबी था इसलिए उसे निषिद्ध माना गया। उसके लिए तुर्की प्रतिशब्द 'तारी' प्रयोग में लाया गया। नमाज भी तुर्की भाषा में ही पढ़ी जाने लगी। भगवान् को तो तुर्की भाषा भी समझ में आती थी क्योंकि वह जन्म से अरब तो था नहीं। पैगंबर के काल से स्त्रियों का बुर्का पहनना धर्म्य माना गया था। युवा तुर्की स्त्रियों ने इस अरबी नियम को तोड़ दिया। अरबी बुर्के से तुर्की स्त्री बाहर आई, मानो कई शतकों के बंदीवास से बाहर आई। अर्थात्, यह उसने स्वेच्छा से नहीं किया। क्योंकि हजारों तुर्की स्त्रियाँ बुर्के को ही धर्म्य मानती थीं अतः बुरका न पहनने के सुधार का वे विरोध करती रहीं। पर तरुण तुर्कों ने जबरदस्ती उस बुरके को फाड़ दिया। विद्यापीठ स्त्री-पुरुषों को सम्मिश्र कक्षाओं में ही पढ़ाने लगे। बुरके की तरह फेज टोपी का पहनना भी दीनता का निशान माना गया। उसके पहनने पर पाबंदी लगी।

फेज टोपी फेंक दी गई

जैसे ही यह खबर फैली कि फेज टोपी का पहनना दंडनीय अपराध माना जाएगा, अनपढ़ तुर्की समाज ने दंगे-फसाद शुरू किए। पर जिस दिन से फेज टोपी का पहनना दंडनीय अपराध माना गया, उसी दिन से फेज टोपी पहननेवालों की टोपियाँ खुलेआम उनके सिर से निकालकर फेंक दी गईं। अरबी आचारों के अनुसार स्त्री-पुरुषों का इकट्ठा नाचना दुराचार की सीमा थी। तरुण तुर्कों ने हर शहर में सार्वजनिक नृत्यालय खोले। ऐसे सभ्य स्त्री-पुरुषों के सार्वजनिक नृत्यों में स्वयं कमाल पाशा हिस्सा लेते। तुर्की स्त्रियाँ नगरपालिकाओं में, न्यायालय में, मंत्रिमंडल में बड़े-बड़े अधिकार पदों पर काम करने लगीं। सैनिकी गणवेष पहन, कंधों पर बंदूकें रख, कॉलेज-कन्याओं के सैकड़ों पथक, शान से कदम-से-कदम मिलाते चलने लगे। तुर्की युवतियाँ खेलकूद, घुड़दौड़, वायुयान उड्डयन, हर कहीं पुरुषों के साथ-साथ हिस्सा लेने लगीं। जिन्होंने कानून के अनुसार नहीं बल्कि मौलवी-मुल्लाओं से शादी करवाई थी, उनके बच्चे गैर कानूनी माने गए। उन्हें कानूनी दरजा देने के लिए माँ-बाप को कानून के अनुसार अपनी शादी रजिस्टर

करानी पड़ी, तभी यह समस्या हल हुई। कमाल पाशा ने अपनी देखरेख में मोहम्मद पैगंबर की जीवनी लिखाई। यह जीवनी पैगंबर को देवदूत समझकर नहीं बल्कि एक ऐतिहासिक पुरुष समझकर लिखी गई। पैगंबर का मूल्यमापन एक प्रबल अरब राष्ट्रनिर्माता, क्रांतिकारी, धर्मप्रवण, शूर मुसलमानी धर्मसंस्थापक के नाते किया गया। उसपर चढ़ा श्रद्धा का मुलम्मा उतार दिया गया। और यह नए तौर से लिखी ऐतिहासिक जीवनी ही स्कूल-कॉलेजों में पढ़ाई जाने लगी।

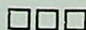
तुर्किस्तान में आमूलाग्र क्रांति हुई। पर कमाल पाशा भी यह क्रांति बिना किसी विरोध के न कर सका। कुछ प्रबल नेताओं के नेतृत्व में पुराणपंथी तुर्कों ने तरुण तुर्कों का घोर विरोध करना शुरू किया। बाहरी लोगों को लगता है कि तुर्किस्तान को स्वतंत्रता दिलानेवाला कमाल पाशा स्वदेश में लोकप्रिय होगा। पर सुधारक, चाहे वह स्वतंत्रता सेनानी ही क्यों न हो, आमतौर पर बहुजन को अप्रिय होता है। क्योंकि सुधार का अर्थ ही है अल्पमत, और रूढ़ि का अर्थ है बहुमत। रूस में तीन-चौथाई लोग लेनिन पर टूट पड़े। अभी भी साल में दो-चार बार इटालियन हत्यारे मुसोलिनी को मारने पर उतारू होते हैं। आयरलैंड में भी एक बहुत बड़ा समुदाय वैलेरा से जलता है। धार्मिक या सामाजिक सुधारक के हिस्से लोकप्रियता कदापि नहीं आ सकती। यह काम उसीको हाथ में लेना चाहिए जो यह मानता हो कि 'वरं जनहितं ध्येयं, केवला न जनस्तुतिः'—मुझे जनस्तुति नहीं, जनहित प्रिय है। कमाल पाशा में यह निडरता, निस्स्वार्थ बुद्धि थी तभी तो उसने यह कठिन काम हाथ में लिया। कमाल पाशा ने पुराणपंथियों से युक्तिवाद करने का काम, राजनीतिक केंद्रों पर खड़ी की गई तोपों पर सौंपा। और तभी वह सुधारों का धमाका कर सका। जो धर्मग्रंथ अपरिवर्तनीय होने से पूज्य हुआ था, उसे कमाल ने उसकी अपरिवर्तनीयता के कारण ही तुरंत रद्द कर दिया। बाद में मन परिवर्तन के लिए मुद्रण, वाक्पीठ, चर्चा के सभी उपायों का सहारा लिया। पर उससे भी असंतोष की आग नहीं बुझी। फेज टोपी पहनने पर पाबंदी लगने पर अनपढ़ तुर्कों ने दंगे किए। कुरान के पवित्र अरबी मंत्रों को हटाकर, उन्हींको तुर्की भाषा में ढाल दिया गया। इससे अरब मुल्ला-मौलवियों के अनुयायी मरने-मारने पर आमादा हुए। कमाल की हत्या करने की कोशिशें हुईं। आखिर सैनिक पलटनों ने भी कहीं-कहीं विद्रोह किया। तुर्कों के बाहरी शत्रुओं ने भी इस आंतरिक युद्ध को और भड़काने की कोशिश की। पर तरुण तुर्क अल्पसंख्यक होते हुए भी अल्पबल नहीं थे। उनके अनुशासन और शौर्य ने यूरोप को तमाचा मारा था। जैसे ही तरुण तुर्कों ने रौद्र रूप धारण किया, बलवायियों को छठी का दूध याद आया। सारे दंगे शांत हो गए। स्थलाभाव के कारण तरुण तुर्कों के इस संघर्ष का पूरा वर्णन नहीं दे सकते। पर इसकी एक झलक देखिए।

मुसलिम पुराणपंथियों की बगावत

आज हमेशा की तरह ब्रूस में सरकारी आज्ञा के अनुसार नमाज पढ़ाने को मुअज्जीन (पुरोहित) आया। आज पहली बार नमाज हमेशा की तरह अरबी में नहीं बल्कि तुर्की में पढ़ी जाने वाली थी। आज खुलेआम हजारों वर्षों की रूढ़ि का शिरच्छेद होनेवाला था। बहुत बड़ा जनसमुदाय इकट्ठा हुआ था। मुअज्जीन ने नमाज पढ़ना आरंभ भी किया। पर जैसे ही 'अल्लाह' की जगह नया 'तारी' शब्द उच्चारित हुआ, लोगों में खलबली मच गई। वे आपे से बाहर हो गए। एक ही आवाज उठी, ''उठो धर्मनिष्ठो, विरोध का शस्त्र चलाओ।'' हजारों लोग नमाज छोड़कर उठे। पूरे शहर में नई और पुरानी विचारधारा के लोगों में खून-खराबा होने लगा। पुलिस उसपर नियंत्रण न पा सकी और दिनोदिन यह उत्पात और बढ़ने लगा। आखिर स्वयं कमाल पाशा को ब्रूस में आना पड़ा। जब बातों से काम न बना तो उन्होंने बैनेट से ही काम लिया। पचास-साठ मुल्ला-मौलवी मारे गए। जो पकड़े गए, उन्हींको फाँसी दी गई। अंत में दंगा-फसाद बंद हुआ। सरकारी कानून की धाक दूर तक जमी। इसी तरह एक बहुत बड़े षड्यंत्र में बड़े-बड़े सरदार पकड़े गए। जाँच-पड़ताल के बाद कमाल ने उन्हें फाँसी पर चढ़ाया। उसमें उसका बालमित्र अरीफश भी था। जब उन्हें फाँसी दी जा रही थी तब इधर कमाल पाशा सार्वजनिक नृत्यालय में स्त्री-पुरुषों के एक बड़े सम्मिश्र नृत्य में नाच रहा था। जब-जब विरोध का शतमुखी रावण उसके सशस्त्र शासन को चुनौती देने आता, कमाल को कठोर कृपाण का ही सहारा लेना पड़ता।

कल का पाखंड, आज का पुण्यश्लोक!

पर यह सब पहले तीन-चार वर्ष ही चलता रहा। आज तुर्किस्तान का प्रजातंत्र दस वर्ष का हुआ है। पूरे राष्ट्र ने यह दस वर्षीय प्रजातंत्र दिन हर्षोल्लास से मनाया। पहले तुर्किस्तान को अपरिवर्तनीय अरब संस्कृति ने जकड़ रखा था। इसीसे वह यूरोप के सामने बलहीन, कांतिहीन हो गया था। पर कमाल पाशा ने आगे बढ़कर उस Theocracy, धर्मसत्तात्मक राज्य, खिलाफत को उखाड़ डाला। राष्ट्र को वैज्ञानिक संस्कृति और प्रजासत्तात्मक राज्य का संजीवन दिया। इसलिए आज वह राष्ट्र कमाल पाशा को कृतज्ञ पुष्पांजलि अर्पण कर रहा है। कमाल पाशा कल का पाखंडी था। वही आज पुण्यशाली, पुण्यश्लोक बन गया है।





तेजस्वी तारे

वंदे मातरम्

(२३ साल की आयु में युवक विनायक सावरकर ने यह लेख लंदन में पढ़ाई करते समय शालिवाहन संवत् १८२८ अर्थात् सन् १९०६ में लिखा था। इस लेख में हमें अपने इतिहास के कई जगमगाते नक्षत्र दिखाई देंगे। —संपादक)

भरतखंड को स्वदेश कहने का सौभाग्य भगवान् ने किन लोगों के ललाट पर लिखा है? भरतभूमि को मातृस्थान मानने के पवित्र अधिकार का अभिषेक जगत् चालक ने किन लोगों पर किया है? इस भक्ति के सुधाधवल स्तन्य का दिव्य आस्वाद लेकर तथा उसे 'हे माँ' कहकर किनकी जिह्वा सार्थक हुई है? वह सार्थकता केवल हमने पाई है। भरतभूमि को मातृभूमि कहने का अधिकार जगत् चालक ने केवल हमें दिया है। भारतीयों के अतिरिक्त और किसीको यह दिव्य अधिकार नहीं मिला है। हम सभी भारतीय बांधव भारतमाता की संतान हैं। भारतमाता हमारी जन्मदात्री है। भारतमाता ने हमारा लालन-पालन किया है। उसके दूध पर हम पले-बढ़े हैं। उसके दूध पर हमारे पूर्वज पले हैं। उसीके दूध पर हमारी आनेवाली पीढ़ियाँ पलने वाली हैं। हमारी भरतभूमि वत्सलता की प्रतिमूर्ति है। वह मूर्तिमंत प्रेमलता है। वेदों में इसकी महिमा गाई गई है—'पुराणी देवी युवती पुरंध्री'। अनुभव से वह पुरातन है। सौंदर्य से युवती है। हम तीस कोटि लोगों पर उसकी एक समान ममता है। तीस कोटि कंठों के 'वंदे मातरम्' घोष से वह प्रेमविह्वल हो जाती है। ऐसी प्रेममयी को 'माँ' कहने का महद्भाग्य जिसकी कृपा से हमें मिला उस पारलौकिक चित्शक्ति को और हमारी ऐहिक ईश्वरीय आर्य भूमाता को हमारा नित्य प्रणाम है।

आर्य भूमाता के भाग्य की गणना कौन कर सकता है? 'असितगिरिसमं स्यात् कज्जलम् सिंधुपात्रे, सुरतरुवरशाखा लेखनीं पत्रमुर्वी। लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालम्'—सागरपात्र में स्याही भरकर, सारी वन संपदा की लेखनी तथा धरती को कागज बना, स्वयं शारदादेवी लिखती रहें, तो भी हे आर्यमाता, तुम्हारे

गुणों को यथार्थ रूप से नहीं लिखा जा सकता। जगतीतल पर फैले हजारों भूभागों में आर्यभूमि की तरह कोई अन्य रमणीय भूमि है या नहीं, यह देखने के लिए हिमालय पर्वत ने सिर उठाकर देखा पर उसे ऐसी रमणीयता कहीं दिखाई नहीं दी। यह सोचकर कि ऐसी रमणीयता शायद स्वर्गलोक में ही हो, हिमालय पर्वत स्वर्ग के द्वार खोल, स्वर्ग में घुसा। पर हे आर्य भू, उसे वहाँ भी तुम्हारे जैसी मंगलमय वस्तु नहीं मिली। हाँ, यह अवश्य हुआ कि हिमालय के कारण वहाँ एक मजेदार स्थिति उत्पन्न हुई। उसके हिमधवल सौधशिखर देखकर इंद्र की अमरावती की अप्सराओं ने ललककर अपनी नाजुक बाँहें हिमालय के गले में डालीं और वह दिन है कि आज का दिन! वे हिमालय पर ही स्वच्छंद विहार कर रही हैं। अप्सराओं के अमरावती त्याग का समाचार सुन, आश्चर्य से उत्सुक गिरिजा ने भी गिरिजारमण के साथ अपना घर—प्रासाद—सुंदर कैलाश शिखर पर ही बना लिया। हे आर्यभूमि, तुम उस हिमालय से युक्त हो, जिसे श्रीशंकर ने अपने अस्तित्व से पावन करना चाहा। 'यं सर्वशैला: परिकल्प्य वत्सं, मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदक्षे। भास्यन्ति रत्नानि महौषधींश्च पृथूपदिष्टां दुदुहुर्धरित्रीम्।' हे आर्यभूमि, ऐसे महान् हिमालय से तुम संपन्न हो। सूर्य के मार्ग में प्रतिशोध उत्पन्न करने के इच्छुक महानुभाव विंध्याद्रि से तुम संपन्न हो। जिसका कलश रायगढ़, सिंहगढ़ जैसे रत्नों से सुशोभित है, ऐसे स्वतंत्रता मंदिर सह्याद्रि से तुम संपन्न हो। हम हिमालय, विंध्याद्रि एवं सह्याद्रि से सम्मानित भूमाता को प्रणाम करते हैं। देवाधिदेव महादेव के मस्तक पर आरूढ़ गंगा ने हे आर्य भू, तुम्हें पुनीत किया है। हे भूमाते, तुमने अपनी लाडली संतानों के लिए सिंधु, शतद्रु, ब्रह्मपुत्र और यमुना के रूप में स्वर्गीय पय:सुधा की अखंड धारा बहाई है। हम सिंधु, ब्रह्मपुत्र, गंगा-यमुना, नर्मदा-गोदावरी, कृष्णा-कावेरी आदि नदियों से संपन्न भूमाता को प्रणाम करते हैं। हे आर्यभूमि, तुम उस मानस सरोवर से विभूषित हो, जिनमें खिले कमल देवी लक्ष्मी के अत्यधिक प्रिय निवास स्थान हैं, और जहाँ के हंस सुनहले कमलों का पराग खाते हैं। 'इदं तीर्थसमं सौम्यं, सुतलं, सूक्ष्मबालुकम्। रमणीयं प्रसन्नं च। सज्जनानां मनो यथा।' ऐसे सुंदर सरोवरों से सुशोभित भूमाता का हम वंदन करते हैं। हे आर्यमाता, सारे विश्व का जहाज बनाकर उसमें पूरे-पूरे भरें तो भी अंत न हो इतने रत्न और सोना, तुमने अपनी सैकड़ों खदानों की गुफाओं में जतन से रखे हैं। इसके अतिरिक्त गोलकुंडा में कोहनूर से सुशोभित 'सुवर्णभू' को एवं अनंत कोहनूरों से तेजोमय आर्य-वसुंधरा को विनम्रता से प्रणाम करते हैं।

मेनका ने विश्वामित्र को मोहित करने के लिए वसंत ऋतु की सहायता माँगी और वसुमति को हरा शालू पहनाया वर्षा ऋतु ने। इन दोनों ऋतुओं से ऋतुमती हुई

आर्य-भू का हम वंदन करते हैं। जहाँ बालकों के नन्हे होंठों तक अपने स्तन पहुँचाने के लिए झुकी युवती की तरह, पार्वती स्तन से मधुर आम्रफलों से लदी आम की डालियाँ हैं और अप्सराओं के अधरोष्ठ की तरह सरस मृदुल अंगूरों से लदी, झुकी हुई लताएँ हैं, उस आर्य भूमाता का हम वंदन करते हैं।

जिनके कोमल कंठ से अपना नाम ऊँचे एवं मधुर स्वर में गाया जाए—इस इच्छा से श्रीरामचंद्र ने यश संपादन किया, वे शुक-कोकिल यहाँ के कल्पवृक्षों पर बैठ सप्त सुरों को अलापते हैं। ऐसी विविध विहंगमा भारती का हम वंदन करते हैं। जिसे देख ब्रह्मदेव ने रंभा की नाक बनाई उस चंपकलतिका तथा जिसके प्रतिबिंब से लक्ष्मी के कपोलों पर लाली आई उस गुलाब, मालती एवं जूही, चमेली के फूलों से जो सुगंधित है, उस विकसित कुसुमा भूमाता का हम वंदन करते हैं। जिसकी कृपा से भारतीयों के इस विशाल राष्ट्र को सहस्राधिक वर्षों से अत्युच्च प्रकार की जीवनशक्ति मिली है तथा भविष्य में भी मिलती रहेगी, उस भूमाता को हमारा वंदन है। जहाँ के खेत धान से भरी अपनी मुट्ठियाँ उठाए डोलते हैं और यथार्थ स्वाभिमान से कहते हैं कि हम मनुष्य मात्र का योगक्षेम करने में समर्थ हैं, जहाँ की भूमि सस्यशालिनी है और जहाँ के जलाशय प्रफुल्ल कमल पुष्पों से युक्त हैं, जिसके रथाश्वों की पीठ परमात्मा द्वारा मालिश होने से पावन हो गई है, जहाँ की गायें हमेशा दूध देती हैं, ऐसी सुभगा भूदेवी को हमारा प्रणाम है। चीन के बादशाह को कहीं यह गर्व न हो कि उसने ऊँची दीवार बनाकर अपने देश को अधिक सुरक्षित बनाया है, इसलिए जहाँ स्वयं प्रकृति माता ने अपने हाथों से हिमालय की अत्युच्च एवं दुर्भेद्य दीवार बना दी है तथा जिसकी दक्षिण तथा पूर्व-पश्चिम दिशाओं की रक्षा समुद्री खाई करती है, उस हमारी भूमाता को हमारा वंदन है। जिसकी उत्तर दिशा की रक्षा स्थल देवता एवं अन्य दिशाओं की रक्षा जल देवता करते हैं, उस भूमाता के सभी क्षेत्रों को हमारा वंदन है। हमारी भारतमाता की सर्वत्र जय-जयकार हो।

जगतीतल के सभी देशों को प्रकृति माता कुछ-न-कुछ देती है। किसी देश में ऊँचे-ऊँचे पर्वत होते हैं और किसीमें एक भी पर्वत नहीं होता। किसी देश में सोने की खदानें होती हैं तो किसीमें कोयले की। किसी देश को सभी तरफ से समुद्री संरक्षण होता है तो दूसरे को यह भी पता नहीं होता कि समुद्र क्या चीज है। पर हमारी भरतभूमि को उपर्युक्त सभी चीजें बहुतायत से मिली हैं। ईश्वर ने, जो कुछ भी उत्तम है, उदात्त है, अभिलषणीय है, वांछित है, वह सभी भारत को भर-भरकर दिया है। यह अतिशयोक्ति नहीं यथार्थ है। हिमालय जैसा पर्वत दुनिया में किस देश में है ? कोहनूर जैसा हीरा अन्य कौन सी दोआब जैसी उपजाऊ भूमि और

किस देश में है ? हिमालय सा पथरीला संरक्षण और किस देश को मिला है ? हमारे यहाँ जितनी कोयले की खानें हैं उतनी ही सोने की खानें भी हैं। कितने ही देशों के भाग्य में इनमें से एक भी चीज नहीं है, जबकि हमारी भारती को इन सभी अद्वितीय चीजों ने संपन्न बनाया है। यह प्रकृति निर्मित उत्तम वस्तुओं का वस्तु संग्रहालय है। दुनिया में ऐसी कौन सी चीज है जो यहाँ नहीं है ? इसके विपरीत ईशकृपा से यहाँ वे चीजें हैं जो अन्यत्र कहीं नहीं हैं। अत्युच्च पर्वत, गहरी नदियाँ, उपजाऊ जमीन, सुरस फल, सुगंधित फूल, सभी धातुओं की खदानें, विविध पक्षी, विस्तीर्ण समुद्र, सुंदर सरोवर आदि जो भी चीजें प्रकृति दे सकती थी, वे सभी उसने भारत भूमि को दिल खोलकर दी हैं। इसीलिए यह अद्वितीय सुषमा एवं वैभव से दमकती है। इस भगवती आर्य भूजननी को हमारा सदैव वंदन है।

पर सिर्फ प्राकृतिक सौंदर्य का वर्णन करने से ही भरतखंड का वर्णन पूरा नहीं होता। प्राकृतिक सौंदर्य एवं संपन्नता में हमारी भूमाता जगत् में सर्वश्रेष्ठ है। पर यह आर्य भूमाता के गुण वर्णन का एक पहलू है। स्वाभाविक सुंदरता पूर्वभाग्य की द्योतक होते हुए भी कर्तृत्व की द्योतक नहीं होती। रूप सुंदर पर कर्तृत्वहीन व्यक्ति से रूप सुंदर एवं कर्तृत्वशाली व्यक्ति कहीं अधिक सम्माननीय होता है। परमेश्वर ने इस आर्य भारती को स्वाभाविक चारुता अर्पित की है, पर उसके सद्गुणों एवं महानता की कसौटी उसका कर्तृत्व ही है। जो मीठा और निर्मल पानी देती है वही उत्तम नदी है, जिसमें सदैव धान डोलता रहता है, वही उत्तम खेत है और जिसके फल अत्यंत मधुर और रसीले होते हैं, वही उत्तम वृक्ष है। इसी तरह जिसके पुत्रों में कुछ असाधारण गुण होते हैं, वही उत्तम देश है। देशभूमि की सुंदरता जितनी उसकी अपनी महत्ता से होती है, उससे सौ गुना अधिक उसके पुत्रों के वीरतापूर्ण कार्यों से होती है। इस वीरमातृत्व में जो भूमि पूरे जगत् में श्रेष्ठ मानी जाएगी वही सचमुच श्रेष्ठ सिद्ध होगी। इस कसौटी पर खरी उतारने के लिए हम अपनी भूमाता के कुछ वीर पुत्रों का नाम निर्देश करने लगें, तो हे चंद्र-सूर्य, आपका तेज फीका पड़ने लगेगा क्योंकि वीरमातृत्व में यह भूमि मर्त्यलोक में ही नहीं सूर्यलोक और चंद्रलोक में भी श्रेष्ठ मानी जाएगी। उसकी तुलना में इंग्लैंड, अमेरिका, जापान, चीन आदि निरे बच्चे हैं। जब रोम का नाम भी सुनने में नहीं आ रहा था और ग्रीस देश बसा भी नहीं था तब यह आर्यभूमि वीरप्रसवा और मानव समाज की अधिष्ठात्री थी। इजिप्ट, खल्डिया तथा असीरिया से भी कई शतक पहले हमारे यहाँ मानव जाति की उत्क्रांति, तत्त्वज्ञान एवं दर्शन के सूत्रीकरण तक हुई थी। जब दुनिया की कई भाषाओं में पाँच-छह सौ शब्द भी नहीं थे तब भारत के ऋषिवरों ने अपनी भाषा को परिशुद्ध कर उसे सूक्ष्म विचार-प्रदर्शन के योग्य बनाया था। इतना ही नहीं, उसे

छंदबद्ध कर ताल-सुर पर नचाया भी था। जहाँ इतिहास का प्रदीप प्रविष्ट नहीं हो सकता या जहाँ किंवदंतियों की गति भी मंद पड़ जाती है, उस सहस्राधिक वर्षों-पूर्व के काल में भी यहाँ वेदघोष सुनाई देता था। भला ऐसी भूमि की तुलना भी किसी और भूमि से हो सकती है! पूरे विश्व का सबसे पुराना ग्रंथ ऋग्वेद इसी भूमि में उत्पन्न हुआ। दस हजार वर्ष पहले तत्त्वज्ञान को खोज निकालनेवाले वीर्यवान ऋषि कहीं और मिल सकते हैं? उन ऋषियों के तपोवनों तथा उनकी तपश्चर्या से पुनीत भूमाता का हम वंदन करते हैं। यह भूमि वशिष्ठ-वामदेव द्वारा अभिमंत्रित जलसिंचन से पुनीत हुई है। इस भूमि में होम-हवन के पुण्य समय में, देवी-देवताओं का संतोष अग्नि की दक्षिणार्ची ज्वालाओं से व्यक्त हुआ है। होम में अर्पित घी की सुगंध से आकर्षित होकर स्वर्ग से इंद्र एवं वरुण इस भूमि पर उतर आते थे। इस भूमि पर वीर्यवान, ब्रह्मवेत्ता ऋषियों की मंडलियाँ तत्त्वज्ञान के बारे में वाद-विवाद करती थीं। उस समय परब्रह्म चिंतित हो उठता कि कहीं उसकी गोपनीयता का स्फोट न हो।

इस भूमि में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद प्रकट हुए। इसी भूमि में ब्राह्मण एवं उपनिषदों की रचना हुई। तत्त्वज्ञान की भागीरथी इसी भूमि के चरणकमल से उत्पन्न हुई। अंगीरस, वशिष्ठ, वामदेव, याज्ञवल्क्य, भृगु आदि विभूतियों के नाम सुनकर किसके मन में उदात्त विचार नहीं उठते? ऐसे तत्त्ववेत्ता जिस भूमि की कोख को धन्य करते हैं, उस तत्त्वशील भूमि को हमारा वंदन है। न्यायशास्त्र और सांख्यशास्त्र के प्रणेता भी इसी भूमि के खाद्यान्न पर पले हैं। बुद्धि पर अंधश्रद्धा का वर्चस्व होते ही महामुनि कपिल ने अंध परंपराओं का परिहार किया, विचार शक्ति की जय-जयकार की। वे सांख्यशास्त्र प्रणेता कपिल मुनि भी हमारी इसी भारती को 'हे माता' कहकर वंदन करते थे। पूरी दुनिया में जो अभी भी वंद्य माने जाते हैं, वे कपिल मुनि जिसे 'माँ' कहकर वंदन करते थे, ऐसी भूमि क्या दुनिया में कहीं और या चंद्र, मंगल, बुध आदि ग्रहों में ही है? भास्कराचार्य, आर्यभट्ट एवं वराहमिहिर ने गणित, ज्योतिषशास्त्र एवं भूगोल में अति महत्त्वपूर्ण आविष्कार किए, वे इस भूमि के अन्नसेवन से प्राप्त तीव्र मेधा का ही कमाल हैं। दशांश का आविष्कार इस भूमि की देन है। गुरुत्वाकर्षण का आविष्कार भी इसी भूमि की देन है। ज्यामिति इस भूमि में जनमी, त्रिकोणमिति (Trigonometry) इस भूमि की यज्ञवेदी से उत्पन्न हुई। सप्तसुरों का उद्‌गम इस भूमि के कोमल कंठ से हुआ है। मत्स्ययंत्र (होकायंत्र) इसी भूमि की खोज है। दुनिया को व्याकरणशास्त्र-पद्धति इस भूमि ने दी। पहली शास्त्रशुद्ध लिपि एवं वर्णमाला इस भूमि में उत्पन्न हुई। मयसभा का निर्माण करनेवाला शिल्पशास्त्र इसी भूमि का कमाल है। नाट्यशास्त्र, वैद्यकशास्त्र

इसी भूमि की उपज है। कणाद, कपिल, भास्कर, आर्यभट्ट, वराहमिहिर, भरत, पाणिनी, विश्वकर्मा, वाग्भट, गौतम आदि स्वतंत्र शास्त्र प्रणेताओं को, इन तेजोभास्करों को उत्पन्न करने योग्य वीर्यवान अन्न जिस भूमि का है, उस शास्त्रविद् भूमि को हमारा सदैव वंदन है।

पर हे तत्त्ववेत्ताओ, शास्त्र प्रणेताओ, आप इस बात का घमंड न कीजिए कि पूरे विश्व को ललामभूत होने का सम्मान सिर्फ आप ही को मिला है। इस भूमि ने अन्यान्य कलाकारों को भी जन्म दिया है। इस भूमि के पुत्र वाल्मीकि की 'सरसा सालंकारा सुपदन्यासा सुवर्णमय' मूर्ति स्वर्ग, मृत्यु, पाताल लोक में किसे नहीं लुभाती ? इस दुनिया में रामायण जैसा दूसरा सरस काव्य भी नहीं है ! अप्सराओं के अधरोष्ठों और द्राक्षालताओं ने रामायण का रस कई बार चुरा लिया है। 'पाराशर्यवचः सरोजममलं गीतार्थगंधोत्कटम्। नानाख्यानककेसरं हरिकथासंबोधनाबोधितम्। लोके सज्जन षट्पदैरहरहः पेपीयमानं मुदा' इस तरह का 'भारत' रचनेवाले व्यास भरतभूमि के अलावा और कहाँ जनमेंगे ? दुनिया के सभी शास्त्र भले ही डूब जाएँ, एक 'भारत' ही बच जाएगा तो वह बाकी शास्त्रों का स्मरण भी नहीं होने देगा। ऐसा 'भारत' इस भूमि का रत्न है। आपको क्या चाहिए ? नीतिशास्त्र ? भारत की ओर देखिए। तत्त्वज्ञान चाहिए ? भारत में मिलेगा। कवित्व चाहिए ? भारतसुधामाधुरी का आनंद लीजिए। इतिहास, प्रकृति वर्णन, जो-जो चाहिए इसी भरतभूमि में मिलेगा। जिसकी कीर्ति की घोषणा 'व्यासोच्छिष्टं जगत् सर्वम्' इस घोषवाक्य से होती है, उस महर्षि व्यास को इसी आर्यभूमि ने जन्म दिया। रामायण हमारी है। महाभारत हमारा है। शाकुंतल हमारा है। इनमें से एक से भी हम पूरी दुनिया पर छा जाते। अब हमारे पास ये तीनों हैं। अब भरतभूमि को छोड़कर क्षीरसागर कौन जाएगा ? रामायण हमारा पहला क्षीरसागर है, महाभारत हमारा दूसरा क्षीरसागर है और शाकुंतल हमारा तीसरा क्षीरसागर है। और उत्तररामचरित हमारा चौथा क्षीरसागर है। इतने क्षीरसागरों के सामने उस अकेले क्षीरसागर को कौन पूछता है ? उस क्षीरसागर में रहनेवाले लक्ष्मीकांत से हम भरतभूमि के निवासी चौगुने भाग्यशाली हैं। हमारी कविता में लक्ष्मी है, पर उसकी लक्ष्मी में कविता कहाँ ? इस कविता के कांत वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, भवभूति आदि सबको जिस भूमि के कारण दिव्य प्रतिभा का स्फुरण हुआ, उस भूमि को हमारा वंदन है। पर प्रतिभा का यह स्फुरण केवल काव्य में ही नहीं हुआ। मानवी समाज को धर्मतत्त्वों से कुछ लाभ हुआ हो तो उसका सारा श्रेय हमारी इस आर्यभूमि को है। विश्व की सभी धर्म-परंपराएँ यहीं से उद्भूत हुई हैं। वे सभी वेद प्रणीत धर्म की संतान हैं। हिंदू धर्म से प्रेरणा लेकर महात्मा बुद्ध ने बौद्ध धर्म का प्रतिपादन किया। उस बौद्ध धर्म की नकल पर ईसा मसीह ने

क्रिश्चियन मत तैयार किया। उसमें तलवार का तेज मिलाकर इसलाम मत तैयार हुआ और मोहम्मद प्रणीत उस इसलाम धर्म का प्रवाह गुरु नानक फिर से मूल आर्य धर्म तक ले आए। दुनिया के सभी समाजो! अगर धर्म तुम्हारे प्राण हैं और तुम धर्मभ्रष्ट नहीं हो तो तुम उस आर्यभू का वंदन करो, जिसने उदार मन से तुम्हें धर्मरूपी प्राण दिए। इस भूमि के प्राण हैं वैदिक धर्म। वैदिक धर्म की रक्षा के लिए हमारी भूमि में तन-मन-धन अर्पण करनेवाले शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, माध्वाचार्य, वल्लभाचार्य आदि धर्मवीर उत्पन्न हुए। हे वीर्यशाली जापान, जिस भाग्य को तुम दस और सुशिमा लड़ाइयाँ लड़कर भी नहीं पा सकते, वह भाग्य हमारे पास है। महर्षि बुद्ध को जन्म देने का भाग्य हमारी इस आर्य वसुंधरा का है। फिर भी यह उदारचरितता, आपको इसी मार्ग से ही परमेश्वर के पास जाना चाहिए, ऐसा मिथ्या आग्रह कभी नहीं क़रती। उसके कुछ बच्चे भगवान् को विष्णु कहते हैं, कुछ शिव कहते हैं। कुछ नानक को धर्मप्रणेता कहते हैं, कुछ बुद्ध को। पर इससे वह माता किसीको अनुदार नहीं कहती। उसके तीस कोटि अपत्यों में उसे जितने प्रिय हिंदू हैं, उतने ही बौद्ध और जैन भी हैं। प्रकृति ने जिसे पूरी दुनिया में सबसे सुंदर बनाया है, उस भारतमाता को उसके वीर्यवान अपत्यों ने भी सर्वश्रेष्ठ बनाया है। यह स्तुति केवल काव्यस्तुति नहीं है। यह यथार्थ है। इसे सिद्ध करने के लिए ही हमने ऐतिहासिक तथ्यों का उद्‌घाटन किया है। पौराणिक एवं किंवदंतियों से भरी जानकारी को परे भी रख दें, तो भी उपर्युक्त ऐतिहासिक व्यक्तियों में से एक-एक की योग्यता भी इतनी है कि अन्य देशभूमियाँ इनमें से एक-एक को जन्म देते ही निस्सत्त्व हो जातीं। अनंत सालों से अनंत वीरों को जन्म देनेवाली इस सत्त्वमती भारती का हम वंदन करते हैं। इस भूमि में कई स्त्री रत्न भी उत्पन्न हुए हैं। यहाँ विद्वत्सभा के बीच, ब्रह्मविचार में ऋषिवृंद को जीतनेवाली गार्गी जनमीं। यहीं पर लोपामुद्रा, अहिल्या, तारा, मंदोदरी, दमयंती भी जनमीं। सावित्री भी इसी भूमि की सुपुत्री हैं। हमारी भूमाता की पुत्रियाँ भी पुत्रों की तरह ही पावन हैं। कितने नाम गिनें? फिर भी विश्वास न आता हो तो सुनिए। एक ही पवित्र नाम बताते हैं, सुनिए। जिस एक नाम में सद्‌गुण, उदारता, साहस, सहृदयता, गंभीरता, दिव्यता, सुंदरता इन सभी का समावेश है, उसे सुनिए। वह नाम सुनिए जिसके उच्चारण से हम और हमारा यह देश पावन होगा। हे जगत् के सभी प्राणियो और स्वर्ग के सभी देवताओ, वह नाम है सीतादेवी। जी! सीतादेवी इस भूमाता के उदर से पैदा हुईं। जिस भूमाता के उदर से सीतादेवी पैदा हुईं, उसी भूमि के उदर से हम भी पैदा हुए हैं, यह सोचते ही हमारा मन आकाश से भी विशाल हो जाता है। जो खेत उत्तम अनाज देता है वह श्रेष्ठ है। इसी तरह जो देश उत्तम स्त्री-पुरुषों को जन्म देते हैं, वे श्रेष्ठ हैं। इस

मान्यता के आधार पर हम जब भारत की श्रेष्ठता को परखने लगे तब हमारे सामने कई नर-नारियों के नाम झलके। हमारे देश में अंगीरस, गर्ग, वसिष्ठ, वामदेव, याज्ञवल्क्य, जनक आदि तत्त्वज्ञ हुए हैं; कणाद, कपिल, भास्कर, आर्यभट्ट, वराहमिहिर, भरत, पाणिनी, वाग्भट, चरक आदि शास्त्रज्ञ हुए हैं; व्यास, वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि कवितादेवी के लाल हुए हैं; गौतम बुद्ध, शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, माध्वाचार्य, वल्लभाचार्य, गुरु नानक आदि धर्म संस्थापक हुए हैं; श्रीराम, नल, युधिष्ठिर जैसे रंजनशील राजा हुए हैं; चंद्रगुप्त, शालिवाहन, अशोक, विक्रमादित्य आदि सम्राट् हुए हैं; अर्जुन, श्रीकृष्ण, कर्णादि अतिरथी-महारथी हुए हैं; शुक्राचार्य, हरिश्चंद्र जैसे सद्गुणी पुरुष हुए हैं; गार्गी, मैत्रेयी, लोपामुद्रा, अहिल्या, तारा, मंदोदरी, सावित्री, सीता जैसी स्त्रियाँ हुई हैं। इस भाग्य की गणना अब करें तो कैसे करें! इन विभूतियों का नामोच्चारण सिर्फ उदाहरण के लिए है। फिर भी हिंदुस्थान का प्राचीन इतिहास उपलब्ध नहीं है। जो है उसका ठीक से संकलन नहीं है और संकलित इतिहास का आकलन करने की ग्रहण शक्ति हममें नहीं। भारत महोदधि का यह लेशमात्र पानी है। इससे उसके पूरे स्वरूप की कल्पना नहीं आती। यह वर्णन इतिहास का केवल पूर्वार्ध है। आधुनिक काल की सूचि तो अलग ही है। चित्तौड़ के प्रतापसिंह, बुंदेलखंड के छत्रसाल, बंगाल के प्रतापादित्य, रायगढ़ के हिंदू पदपादशाह शिवाजी, पूना के शनिवारवाड़ा के स्वामी पेशवा, ग्वालियर के महादजी, पानीपत का मैदान, सिंहगढ़ की चट्टान, रांगणा का दर्रा, ज्ञानेश्वर की लेखनी, विट्ठल भगवान् के भक्त, समर्थ के दास, कितना कहें, कैसे कहें! योद्धाओं की सूची दें या शास्त्रज्ञों की, कवियों की सूची दें या देशभक्तों की, स्वातंत्र्यवीरों की सूची दें या कूटनीतिज्ञों की? हे आर्य वसुंधरा, तुम सुभगा हो, सुजला हो, सुवर्णा हो, सुरत्ना हो! तुम्हें हमारा वंदन है। हे ऋतुमती, वसुमती, सुलते, सुफलिते, हम तुम्हें वंदन करते हैं! हे विविधविहंगमे, विविधकुसुमे, तुम्हें हमारा वंदन है! हे प्रकृतिरम्ये, प्रकृतिरक्षिते तुम्हें हम प्रणाम करते हैं! हे पुराणदेवी, युवती, पुरंध्री, तुम्हें हम प्रणिपात करते हैं! हे तत्त्वज्ञे, शास्त्रज्ञे, तुम्हें हम वंदन करते हैं! हे प्रभामयी, धर्ममयी तुम्हें वंदन है! हे सत्यमती, वीर्यवती तुम्हें हमारा वंदन है! हे स्वातंत्र्यतिलकभूषिते तुम्हें हमारा वंदन है! जिसका संरक्षण श्रीशंकरादि त्रिदशकोटि देव करते हैं, उसे हमारा वंदन है। जिसके स्तोत्र नारद, तुंबर, व्यास, वाल्मीकि गाते हैं, उसे हमारा प्रणाम है। जिसके शत्रुओं की ग्रीवा श्री शिवाप्रतापादि मरोड़ते हैं, उसे हमारा वंदन है। वंदे मातरम्! वंदे मातरम्! वंदे मातरम्!

(विहारी, चैत्र शु. २, शक सं. १८२८)

□

ऐतिहासिक पुरुषों के उत्सव क्यों मनाने चाहिए?

विश्व एक बहुत ही बड़ा परिवार है और परमेश्वर इस परिवार का संचालन करनेवाला अक्षय, अनंत एवं सर्वशक्तिमान संचालक है। वह चाहता है कि इस परिवार में सम्मिलित सभी परिवारजनों का योगक्षेम अच्छी तरह से चले। वह उनके सभी कार्यों का निरीक्षण करता है। उनके सत्कृत्यों को प्रोत्साहन देता है और दुष्कृत्यों का दंड देता है। लोग ईश्वरदत्त नीति का अतिक्रमण न करें, एक-दूसरे के साथ स्नेह से रहें तथा उसका यह परिवार न्याय, पुण्य और आनंद का स्वर्ग बने, इसके लिए विश्वविधाता हमेशा प्रयत्नशील रहता है। अपने असंख्य पारिवारिक जनों के स्वभाव सादृश्य के अनुसार वह अलग-अलग वर्ग करता है और उनकी रुचि के अनुसार वह उनके आचरण के नियम बनाता है। इन आचरण-नियमों को ही धर्मपंथ कहते हैं। विश्वरूपी विस्तीर्ण गृह में वह इन वर्गों को स्वतंत्र कक्ष दे देता है। कमरे में नलके के द्वारा पानी की व्यवस्था होती है। ऐसे ही बड़ी-बड़ी नदियों के द्वारा वह इन कक्षों में पानी की सुविधा प्रदान करता है। जमीन में धान्य उपजाकर वह उनके खाने की व्यवस्था करता है। दूसरा कोई इस कक्ष में प्रवेश न करे और सीमा संबंधी कोई विवाद न हो, इसके लिए वह इस कक्ष के चारों ओर पहाड़ों की दीवारें खड़ी करता है और इनका बाहरी जगत् से संपर्क रहे इसके लिए वह इन पर्वतों में दर्रे बनाता है। इन अलग-अलग कक्षों को व्यावहारिक भाषा में 'देश' कहा जाता है। परमेश्वर की आज्ञा है कि इन प्रकृति निर्मित कक्षों में ही वहाँ के निवासी सुख से रहें। वह सभी का समान रूप से कल्याण चाहता है, इसलिए उपर्युक्त प्रकार से किए गए चयन में उसकी तरफ से जरा भी पक्षपात नहीं होगा। पर उसका यह निष्पक्षपात अदूरदर्शी, मूर्ख लोगों की समझ में नहीं आता, इसलिए वे अनुचित महत्त्वाकांक्षा के फेर में पड़ जाते हैं। परमेश्वर से मिले कक्ष से उनका समाधान नहीं होता, इसलिए वे दूसरों के कक्ष छीन लेने की ताक में रहते हैं। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस'—इस न्याय से वे स्वजातियों पर हमला कर उन्हें दास

बनाते हैं। फिर अपने ही आचरण-नियम सर्वश्रेष्ठ हैं, ऐसा समझकर वे पराजित लोगों पर उन्हें लादने का प्रयास करते हैं। इस तरह जब-जब कोई उस सर्वशक्तिमान परमेश्वर की इच्छा का विरोध कर विश्व परिवार की व्यवस्था को नष्ट करने लगता है तब-तब उस उद्दंड को दंड देने के लिए, वह जगत्पालक कुछ विशिष्ट विभूतियों में अंशरूप में प्रकट होता है। उन विशिष्ट व्यक्तियों के हाथों वह 'अधर्मों का नाश, सुजनों का उद्धार' करने का महत्कार्य करा लेता है। चूँकि इन विभूतियों में परमेश्वर की विशेष अंशरूप शक्ति दिखाई देती है, कुछ लोग उन्हें अवतारी या दैविक पुरुष कहते हैं और चूँकि इनके महत्कार्यों से इतिहास उत्पन्न होता है, कुछ लोग उन्हें ऐतिहासिक पुरुष कहते हैं।

ऐसे सत्पुरुषों का जीवन अपने लिए नहीं बल्कि जगत् कल्याण के लिए होता है। उनमें ईश्वरीय अंश होने से उनकी हर बात हम सामान्य लोगों से ऊँची होती है। उनके जीवन का उद्देश्य केवल जीवन निर्वाह नहीं होता वरन् अन्याय का प्रतिकार कर न्याय की स्थापना होता है। 'भवो हि लोकाभ्युदयाय तादृशां' अर्थात् उनका जन्म ही जनकल्याण के लिए होता है, इसीलिए उनकी बातें सामान्य लोगों की समझ से परे होती हैं। उनके पराक्रम असंभव से लगते हैं और उनके कार्य उपन्यास में वर्णित से अर्थात् अतिशयोक्तिपूर्ण लगते हैं। जिस तरह कुएँ के मेढक को अगाध जल में संचार करनेवाली ह्वेल मछली का वर्णन असंभव लगेगा, उसी तरह सामान्य जनों को असाधारण पुरुषों के पराक्रम अतिरंजित लगते हैं। जिस व्यक्ति ने सिर्फ गाँव के नाले ही देखे हों, वह समुद्र की कल्पना नहीं कर सकता। समुद्र किनारे जाकर भी उसे अपनी आँखों पर विश्वास नहीं हो सकता। इसी तरह स्वार्थपरायण, महत्त्वाकांक्षी एवं नीच हेतु सामान्य जन, परार्थ साधु, निरपेक्ष एवं उच्च हेतु ईश्वरीय विभूतियों का मूल्यमापन नहीं कर सकते।

सामान्य जन महान् विभूतियों के महत्त्व का मूल्यमापन भले ही न कर सकते हों, उनके कार्यों का महत्त्वमापन वे कर ही सकते हैं। श्रीरामचंद्र जैसे पराक्रम भले ही कोई न कर पाए, पर उनके द्वारा राक्षसों को मारने से वसुंधरा का भार हलका हुआ, यह हर कोई समझ सकता है। आदिकवि वाल्मीकि की 'सारसा, सालंकारा, सुपदन्यासा, सुवर्णमूर्ति' वाणी का अनुकरण करना चाहे असंभव हो, पर उस वाणी में वर्णित 'रामायण' ने त्रिलोक का कितना भला किया है, यह हम सभी समझ ही सकते हैं। सारांश यही है कि सामान्य जन महान् लोगों के कार्यों का अनुकरण करने में असमर्थ होते हैं, पर उन कार्यों के सुपरिणाम वे समझ सकते हैं और इसीलिए वे उस ईश्वरीय अंश से बनी विभूतियों से प्रेम करते हैं।

इस प्रेम के कारण ही उनमें उन महान् विभूतियों के प्रति पूज्यभाव होता है।

अवतारी पुरुषों के कार्य विश्वकल्याण के लिए होते हैं, इसलिए विश्व भी उनसे विशेष प्रेम रखता है और उसका यह प्रेम दिनोदिन बढ़ता ही जाता है। पहले उस सत्पुरुष को भगवान् समान माना जाता है, पर शताब्दियों बाद उसे भगवान् ही मानने लगते हैं। जिस अनुपात में महान् पुरुष विश्व का भला करते हैं उसी अनुपात में सामान्य लोग उनसे प्रेम करते हैं, उनके प्रति आदरभाव रखते हैं। उन सत्पुरुषों के परोपकारी कार्यों से सामान्य जनों के चित्त आर्द्र हो जाते हैं और वे उन कार्यों की प्रशंसा करने लगते हैं। आदरभाव से उन महान् पुरुषों के गुण गाने लगते हैं। उनके लिए वे सब स्थान तीर्थस्थान हो जाते हैं, जहाँ पर वे सत्पुरुष रहा करते थे। वे सभी रास्ते, जिनपर से ये सत्पुरुष गुजरे थे, सामान्य लोगों के लिए पुण्यमार्ग हो जाते हैं। जिन नदियों का पानी उन्होंने पिया था, वे नदियाँ पवित्र मानी जाती हैं। जिस दिन वे जनमे थे और जिस दिन उनकी मृत्यु हुई थी, उस दिन उनके उपकारों का स्मरण कर लोग प्रेमविह्वल हो जाते हैं। उनके असीम उपकारों से अंशतः उऋण होने के लिए लोग उनको पूजते हैं, उनको भजते हैं। उनकी जय-जयकार करने में, उनका गुणवर्णन करने में जनसमूह तल्लीन हो जाते हैं। इस तरह लोग ऐतिहासिक पुरुषों की जयंती एवं पुण्यतिथि उत्सव के रूप में मनाने लगते हैं।

ऐतिहासिक उत्सवों का महत्त्व जानने के लिए और उन्हें क्यों मनाया जाए, यह पूरी तरह समझने के लिए इन उत्सवों की उत्पत्ति को समझ लेना आवश्यक है। यथासंभव उन उपकारों का बदला चुकाना या उन उपकारों के प्रति सदैव आभारी रहना मानव का सहज धर्म है। उपकारक के प्रति कृतघ्न न होकर उनके प्रति कृतज्ञ रहना नीतिशास्त्रों का सारतत्त्व है। इसी मानवी धर्म एवं नीतिशास्त्र के अनुसार महान् सत्पुरुषों के उत्सव मनाने की प्रथा चलाई गई—यह कहने की अपेक्षा यही कहना उचित है कि बन गई। क्योंकि मानवीय धर्म के सहज प्रवाह की जो रीतियाँ होती हैं, उन्हें बनाना नहीं पड़ता। उन रीतियों की उत्पत्ति भी मानवी धर्म की तरह ही प्रकृतिजन्य ही होती है। उपकारों के प्रति कृतज्ञता मन में अपने आप उत्पन्न होती है। उसके लिए किसीको भाषण नहीं देने पड़ते। आर्यधर्म का ह्रास होने लगा था, नास्तिक लोग उसका अनादर कर, उसे डुबोना चाहते थे, ऐसी स्थिति में शंकराचार्य ने अपनी समर्थ वाणी से परपक्ष को बलहीन कर आर्यधर्म की पुनःस्थापना की। भरतखंड पराधीनता की आग में झुलस रहा था तब तलवार के पराक्रम से वह आग बुझाकर छत्रपति शिवाजी ने वहाँ स्वाधीनता के अमृत की वर्षा की। उसकी नींव जब डगमगाने लगी तब नाना फड़नवीस ने अपनी बुद्धि और कलम का आधार दे, उस प्रासाद को फिर से मजबूती दी। इन सबके नाम पर अगर उत्सव मनाए जाते हैं तो वह मानव-सहज बात है। क्योंकि लोगों के

मनमंदिर में उनके उत्सव सदा उदित होते रहते हैं। उनकी सद्विवेकबुद्धि उन महान् लोगों के महत्त्व की कथाएँ कहती ही रहती है। कृतज्ञता हाथों में दीप सजाए उनके अगणित सत्कार्यों की आरती उतारती रहती है। इन महान् विभूतियों के ये उत्सव स्वयंभू होते हैं। इतना ही नहीं अपितु एक बार शुरू होने पर उन्हें किसी भी तरह बंद भी नहीं किया जा सकता। जब से मानव सद्‌गुणों का मूल्य जानने लगा तभी से ये उत्सव मनाए जाने लगे। और जब तक वह सद्‌गुणों का मूल्य जानता रहेगा, ये उत्सव चलते रहेंगे। जब से यह सृष्टि शुरू हुई तब से ये शुरू हुए और जब तक सृष्टि है, ये उत्सव चलते रहेंगे।

अनादिकाल से प्रचलित इन ऐतिहासिक उत्सवों का प्रारंभ मानव की सहज कृतज्ञता बुद्धि से हुआ है। मानवी स्वभाव सर्वत्र समान है। अत: ऐतिहासिक पुरुषों के उत्सव मनाने की यह परंपरा लगभग विश्व के सभी देशों में होती है। हाँ, उसे मनाने की पद्धति काल और स्थिति के अनुसार बदल सकती है, पर मूल तत्त्व में कोई भेद नहीं होता। श्रीरामचंद्र ने दुष्ट राक्षसों का संहार कर यज्ञयाग निर्विघ्न किए, ऋषिजनों को अभय दान दिया, धरती को निर्भय किया, इसलिए उनके प्रति कृतज्ञता दिखाने के लिए हम रामनवमी का उत्सव मनाते हैं। सूली पर चढ़कर भी ईसा मसीह ने लोगों की भलाई चाही, उपदेश दिया, इसलिए ईसाई ख्रिस्त जयंती का समारोह करते हैं। गुलामी की डोर से जकड़ी और सुलतान के इशारे पर नाचती हमारी आर्यभूमि, नाचते-नाचते टूट जाएगी या खंड-खंड हो जाएगी, इस डर को छत्रपति शिवाजी की तलवार ने निर्मूल किया, इसलिए हम शिवजयंती का उत्सव मनाते हैं। इसी तरह स्कॉटलैंड के लोग कृतज्ञ बुद्धि से रॉबर्ट ब्रूस का, मुसलमान लोग पैगंबर का, ग्रीस के लोग लिऑनिडॉस का, अमेरिकी लोग वाशिंगटन का और इटली के लोग गैरीबाल्डी का उत्सव मनाते हैं। इन लोगों ने अपने देशवासियों में हिम्मत भर दी, उनके लिए अपने प्राणों की बलि दी और देश को पराधीनता की बेड़ियों से मुक्त किया। इन बातों के लिए कृतज्ञ होकर इन सब महान् व्यक्तियों का उत्सव लोग मनाने लगे। हम अपने उत्सवों में ऐसे व्यक्तियों की जीवनकथा सुनाते हैं, अंग्रेज व्याख्यान देते हैं और मुसलमान अच्छे-अच्छे कपड़े पहन तथा आतिशबाजी कर उनके उत्सव मनाते हैं। पर इन सभी उत्सवों की जननी कृतज्ञता की भावना ही है। रूप भले ही अलग हों, सभी उत्सवों का उद्‌देश्य एक ही होता है।

पर उद्‌देश्यों की सिद्धि बहुत अंशों में रूप पर ही निर्भर होती है। काल, स्थिति और परिस्थिति के अनुसार रूप भी बदलने ही चाहिए। हेतुसिद्धि के लिए, लोकाभिरुचि के अनुसार उत्सव मनाने का ढंग बदलना चाहिए। ऐसे रूपांतरों से सामान्य जन चकित रह जाते हैं। कथा की सुसंस्कृत पद्धति किंचित् शिथिल होकर

भक्ति पद्धति शुरू हो गई। पाँव में घुँघरू बाँध, एक हाथ में वीणा और दूसरे में करताल लेकर संत तुकोबा पंढरीनाथ विट्ठलजी के सामने तल्लीनता से नाचने-गाने लगे, ''ब्रह्मानंद आनंद। देहभाव भूलत॥'' ''तेरे नाम में अखंड प्रेम रहे। तप व्रत दान ना हम जाने॥'' तुकोबा की यह स्थिति देख दर्शक भी भगवत् प्रेम में सराबोर हो गए। उनकी आँखों से आँसू बहने लगे। पर परंपरागत संस्कारों के कारण इस नई कथा पद्धति को तत्कालीन समाज ने तुरंत मान्यता नहीं दी। इतना ही नहीं, जब गणपति उत्सव को राष्ट्रीय रूप में ढालकर, उसमें प्रस्तुत नाच-गानों से राष्ट्रीय संदेश पहुँचाने का काम शुरू हुआ तब इस नई पद्धति की प्रतिपक्ष ने कड़ी आलोचना की। पर मुँह से आलोचना करते हुए भी वे भी यही काम करने लगे और उससे इस पद्धति की उपयुक्तता ही सिद्ध हुई। शकुंतला का सौंदर्य देख शापमूढ़ स्थिति में दुष्यंत की जो अवस्था हुई वही नया मनोहर रूप देखकर जन सामान्य की होती है। उसका वर्णन 'न च खलु परिभोक्तुं नापि शक्नोमि हातुम्' सही है।

ऐसे में समाज के नेताओं को चाहिए कि वे जन सामान्य को रूप परिवर्तन के पीछे छिपा हेतु सही ढंग से बता दें। जैसेकि आज तक सामाजिक उत्सवों में पुराण, कथा, भजन आवश्यक माना जाता रहा है और समाज सोचता है कि यह सामाजिक उत्सवों का अत्यावश्यक अंग है। ऐसे में जब कोई पुराण के बदले व्याख्यान देने लगेगा तो लोगों को वह अटपटा लगेगा। इतना ही क्यों, उनके परिचित 'दैविक या अवतारी पुरुष' के बदले हमारा 'ऐतिहासिक पुरुष' कहना भी उन्हें गवारा नहीं होगा। पर उन्हें ठीक से समझाना पड़ेगा कि ऐतिहासिक पुरुषों के उत्सव, हमारे लिए कोई नई बात नहीं है। अंतर केवल इस बात का है कि जिन्हें जन सामान्य दैविक या अवतारी कहते हैं उन्हींको हमने अधिक व्यापक नाम दिया है— 'ऐतिहासिक'। और यह परंपरा भी हमारी अपनी है। श्रीराम और श्रीकृष्ण के उत्सव क्या हम आज ही मनाने लगे हैं? कुंभमेला या आलंदी की यात्रा क्या इसी साल होने लगी है? नहीं, यह सब तो हमारे यहाँ सदियों से होता आ रहा है। और अगर ये बातें पूर्वापर पद्धति से हमारे यहाँ चली आ रही हैं, तो ऐतिहासिक पुरुषों के उत्सवों की परंपरा अचानक नई कैसे हो गई? क्या ये बातें ऐतिहासिक नहीं हैं? श्रीराम ने रावण का नाश कर कई राष्ट्रों को स्वतंत्र किया। श्रीकृष्ण ने सत्पक्ष को स्वीकार कर, कुरुक्षेत्र की रणभूमि पर अन्यायी और राज्य अपहर्ता कौरवों का नाश किया। संत ज्ञानेश्वर ने लोगों का उद्धार करने के लिए श्रीमद्भगवदगीता की लोकभाषा मराठी में व्याख्या की। क्या ये बातें ऐतिहासिक नहीं हैं? इतिहास इन्हीं सब बातों से बनता है। नाम अलग हैं, बात वही होती है। अवतारी पुरुषों के उत्सव और कुछ नहीं, ऐतिहासिक पुरुषों के उत्सव ही हैं। यदि आपको अवतारी पुरुषों के उत्सवों की

प्राचीनता मान्य है तो ऐतिहासिक पुरुषों की प्राचीनता भी वादातीत है। श्रीराम द्वारा किए गए उपकारों के प्रति कृतज्ञ होकर हम उनका उत्सव मनाने लगे। छत्रपति शिवाजी ने भी हमपर उपकार किए हैं। उनके प्रति कृतज्ञता हमें उनके उत्सव मनाकर ही दिखानी चाहिए। कोई कहेगा कि इस दृष्टि से हम हिंदुस्थानियों को सैकड़ों उत्सव मनाने पड़ेंगे। शायद यह बात ठीक ही है। पर यह तो सौभाग्य की बात है। इसका मतलब है कि हमारे राष्ट्र में असंख्य सत्पुरुष हो गए हैं। हमारी राष्ट्रदेवी को असंख्य रत्नों ने विभूषित किया है। हमारे लिए यह गर्व की बात है। आज शिवाजी का उत्सव है, कल गुरु नानक का, परसों नाना फड़नवीस का। इस तरह साल में तीन सौ पैंसठ दिन सत्पुरुषों के उत्सव हों। फिर भी कुछ सत्पुरुषों के उत्सव बाकी रहें। यह उस राष्ट्र के लिए सौभाग्य की बात है। क्षीरसागर, मेरुपर्वत, पैराडाइज, इन सबको एक करने पर भी, उस राष्ट्र के सौभाग्य से उनकी तुलना नहीं की जा सकती। कुछ लोग सोचते हैं कि ऐतिहासिक उत्सवों में बहुत श्रम और पैसा लगाना पड़ता है। पर उन्हें यह भी सोचना चाहिए कि गोशाला बड़ी करनी पड़ेगी इस डर से कोई कामधेनुओं को खदेड़ देता है? क्या नया संदूक बनाना पड़ेगा इस डर से कोई रत्नों को कूड़े के ढेर में फेंक देता है? श्रम और धन के विचार से कहीं कोई ऐतिहासिक उत्सवों को भी बंद करता है? मिल्टन ने इस संबंध में कहा है—

"Not harsh and crabbed as dull fools suppose.
But musical as is Appollo's lute.
And a perpetual feast of nectared sweet
When no crude surfeit reigns!!!"

इस तरह ऐतिहासिक उत्सव परकीयों से लिये गए हैं, या उन्हें आज का जो रूप दिया गया है, उसके कारण उन्हें बंद किया जाए, ऐसा कहनेवालों का मुँह हमने अपने तर्कों से बंद कर दिया है। कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि इन उत्सवों के कारण लोगों की एकता टूट जाती है। शिवाजी के उत्सव के कारण मुसलमान चिढ़ जाएँगे और वे फिर से विद्वेष की आग भड़काएँगे। पर सोचने की बात तो यह है कि इसमें शिवजयंती के उत्सव का क्या दोष? यह तो वही बात हुई कि बौद्धधर्मियों को नाराजगी होगी इस भय से भारतधर्म परिषद् में शंकराचार्यजी का सम्मान न करो, या ऑस्ट्रिया को अपने हाथ से इटली छिन जाने का दुःख न हो इसलिए गैरीबाल्डी का उत्सव ही न करो! मुसलमानों की नाराजगी के भय से शिवजयंती का उत्सव न करना निरा पागलपन और मूर्खता है। और अगर इससे मुसलमान नाराज होते हैं तो वह उनकी अदूरदर्शिता है। वामन पंडित ने कहा ही है कि 'देख पूर्ण चंद्र सब खुश। पर चोर बेजार, नाखुश!' यह भी ध्यान में रखना

चाहिए कि विचारशील, सुशिक्षित मुसलमान उपर्युक्त मूर्खता का समर्थन कभी नहीं करते। सारांश यह है कि ऐतिहासिक उत्सवों से नुकसान होता है यह बात सफेद झूठ है। पैसा बचाना हो तो खर्च में कटौती करो, समाज आशंकित हो तो उसकी आशंका दूर करो। पर ऐतिहासिक उत्सवों का प्रचलन कभी बंद मत करो। इस उत्सव पद्धति में कृतज्ञताबुद्धि से उद्भूत पूज्यभाव का प्रकटीकरण होता है और इसीलिए उत्सव न करने का अर्थ है कृतज्ञताबुद्धि की हत्या करना।

इस पद्धति में कृतज्ञता बुद्धि के प्रकटीकरण के अलावा भी कई और लाभ हैं। जैसे सूरज धरती को प्रकाश देता है, प्राणिमात्र को आवश्यक ऊर्जा देता है, कमलों को खिलाता है, समुद्र के खारे पानी को सोखकर जगकल्याण के लिए मेघों के द्वारा मीठा पानी देता है, जल बरसाकर धरती को हरा-भरा बनाता है। इसी तरह ऐतिहासिक उत्सव कृतज्ञताबुद्धि की अभिव्यक्ति है, सत्पुरुषों के स्मारक हैं, नई पीढ़ी में सद्‌गुणों के बीज बोनेवाले हैं, दुष्कृत्यों की पराजय और सत्कृत्यों की जय का उदाहरण हैं। ऐतिहासिक उत्सव इतने सारे कार्य कर जाते हैं।

उपर्युक्त सभी कार्य इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि उनमें से हर कार्य की सिद्धि के लिए कई कठिनाइयों को सहकर भी इन ऐतिहासिक उत्सवों को मनाते रहना चाहिए। इन उत्सवों ने कई बार विश्व का चेहरा ही बदल डाला है। इतिहास की पुस्तकें सत्पुरुषों के शरीर ही प्रस्तुत करती हैं। पर ऐसे उत्सव उनमें प्राणप्रतिष्ठा कर उन महापुरुषों के पूर्ण दर्शन कराते हैं। ऐतिहासिक उत्सवों से हमारे सामने ऐतिहासिक पुरुषों के सद्‌गुण मूर्तिमान होते हैं। और उन्हें देखकर दर्शकों के तन-मन में अनोखी स्फूर्ति का संचार होता है। कोई बालक शिवाजी के बारे में इतिहास पढ़कर उनकी वीरता से जितना प्रभावित होगा, शिवजयंती के उत्सव में सहभागी होकर उससे सौगुना प्रभावित होगा। सत्पुरुषों के इतिहास उनके सद्‌गुणों के छापे हैं, पर ऐतिहासिक उत्सव वह मुद्रक है जो इन छापों को नई पीढ़ी के मन पर प्रभावशाली रूप से छापता है। 'उत्सवप्रियाः खलु मानवाः'—मानव स्वभाव से ही उत्सवप्रिय है। इसलिए ये उत्सव हमारी मनोवृत्तियों को उद्दीप्त कर जो सुशिक्षण हमें देते हैं, वह इतनी आसानी से और परिपूर्णता से, अन्य किसी साधन से नहीं दिया जा सकता। ऐतिहासिक उत्सवों की उत्सवमूर्ति को देखते ही दर्शकों के मन में दिव्य शक्ति का संचार होता है। हम मूर्तिपूजक इसका अनुभव हमेशा ही करते हैं।

कार्लाइल कहता है—"There is no better means than this identical hero-worship to secure the existence and ensure the prosperity of a community."

ऐतिहासिक सत्पुरुषों के उत्सव क्यों मनाने चाहिए? कारण अनेक हैं। पर

पहला है प्रकृतिजन्य कृतज्ञता दिखाने के लिए। इन सत्पुरुषों ने विश्व पर अनंत उपकार किए हैं, इसका स्मरण करने के लिए ये उत्सव मनाने आवश्यक हैं। ये उत्सव उपदेशामृत की वर्षा करनेवाले मेघ हैं, सद्‌गुणों का मूर्त रूप हैं। मनोवृत्तियों को उद्‌दीप्त करनेवाला चमत्कारी दिव्य रसायन है। युवकों को सत् शिक्षा देनेवाले शिक्षक हैं। सत्पुरुषों के सत्कृत्यों का जीवंत इतिहास हैं। इन उत्सवों के इतने सारे लाभ हैं, इसलिए इन्हें मनाना आवश्यक है। उनसे वास्तव में कोई हानि नहीं है, इसलिए भी उन्हें मनाना चाहिए। हम हिंदुओं को, विशेषत: वर्तमान की स्वाभिमानहीन व कर्तव्यशून्य अवनत स्थिति से उबारकर उन्नतावस्था तक ले जाने के लिए ऐतिहासिक उत्सवों का मनाना अनिवार्य हो गया है। हमें ऐतिहासिक उत्सव जरूर मनाने चाहिए क्योंकि राष्ट्र को उन्नति की ओर ले जानेवाला यह एकमेव सुलभ सोपान है।

(नाना फड़नवीस की पुण्यतिथि की शताब्दी १९०० में मनाई गई। इस अवसर पर 'ऐतिहासिक पुरुषों के उत्सव क्यों मनाने चाहिए' इस विषय पर एक निबंध प्रतियोगिता आयोजित की गई थी। इस प्रतियोगिता के लिए एक सौ निबंध प्राप्त हुए थे। उसमें नासिक के विनायक दामोदर सावरकर का यह निबंध सर्वश्रेष्ठ घोषित किया गया। यह निबंध उन्होंने १९०२ में लिखा था।)

□

देशभक्त पं. श्यामजी कृष्णवर्मा

Resistance to aggression is not only justifiable but imperative. Non-resistance hurts both altruism and egoism.

–Hurbert Spenser

पं. श्यामजी कृष्णवर्मा एक प्रख्यात देशभक्त थे। स्वातंत्र्यवाद के आद्य प्रवर्तकों के वे अग्रणी नेता थे। वे थे तो निःशस्त्र प्रतिकार के प्रवर्तक, पर जैसे ही उन्हें ज्ञान हुआ कि स्वातंत्र्य-प्रतिपादन के कार्य में निःशस्त्र प्रतिकार निरर्थक है, वे सशस्त्र क्रांतिकारियों की 'अभिनव-भारत' संस्था से संबद्ध एक प्रमुख नेता बने। विद्वान्, धनिक और तत्त्ववेत्ता श्रीमान् पं. श्यामजी कृष्णवर्मा इंग्लैंड की आँख की किरकिरी बन गए थे। मार्च १९३० में, अस्सी साल की आयु में पं. श्यामजी कृष्णवर्मा स्विट्जरलैंड में चल बसे। उनके दुःखद देहांत की खबर सुनकर कोई भी सहृदय, कृतज्ञ भारतीय देशभक्त शोकविह्वल हो उठेगा।

दुःख उनकी मृत्यु का नहीं वरन् इस बात का है कि जिस देश से उन्होंने अपरिमित प्यार किया, जिसकी स्वाधीनता के लिए उन्होंने स्वदेश के शत्रुओं को नाकों चने चबवाए और इसीलिए उन्हें पूरी दुनिया में चैन से रहने के लिए एक भी स्थान न बचा, उस देश को वे फिर एक बार देख तक न पाए। उन्हें आमरण अपने देश और स्वजनों से बिछुड़कर, उनकी स्मृति में तिल-तिल जलते जीना पड़ा। इतना ही नहीं, जीते-जी वे अपने देश की आजादी का समाचार भी न सुन सके। उनके उसी प्यारे देश ने उन्हें इतना भुला दिया कि उनकी मृत्यु के समाचार से किसी देशवासी की आँखें गीली नहीं हुईं। दुनिया का दस्तूर है कि नजर से दूर, दिल से दूर। मंदिर के कलश के दर्शन के लिए हजारों की भीड़ उमड़ती है, पर मंदिर की नींव में पड़े पत्थरों की किसीको स्मृति नहीं आती। सच्चा ज्ञानी, सच्चा कृतज्ञ वही कहलाता है जो नींव के पत्थरों के अज्ञात त्याग से अभिभूत हो उठता है, उसे स्मरण करता है। शत्रुओं की तोपों से उगलती आग को कई शूरवीर

अपने खून से बुझा देते हैं। उस आग में स्वयं जलकर मरते हैं। रणभूमि में आखिरी साँस लेनेवाले ये वीर, रणभूमि से लौटे सैनिकों की तरह विजयोत्सव के जुलूस में सम्मिलित नहीं होते। पर कृतज्ञ राष्ट्र, रणभूमि में काम आए वीरों को रणभूमि से लौटे वीरों से कहीं अधिक सम्मान देता है। देश विजय के लिए प्राणाहुति देनेवाले वीरों के पुतले बनाता है। उन अज्ञात वीरों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रदर्शित करता है।

पर यह बात तो कृतज्ञ देश की कृतज्ञ पीढ़ी की है, जबकि श्यामजी कृष्णवर्मा भारत की इस कृतघ्न, दास्यहत, बुद्धिभ्रष्ट पीढ़ी में जनमे और मरे। जिनके वियोग में वे परदेस में आँसू बहाते रहे, उन्होंने ही उन्हें ऐसा बिसरा दिया कि उनकी मृत्यु पर किसीने एक बूँद आँसू भी न बहाया। भारतीय जनता भारतीय क्रांतिकारियों के इस नेता को पूरी तरह भूले और साम्राज्यमत्त इंग्लैंड के इस कट्टर शत्रु को स्वजनों की सहानुभूति का एक कण भी नसीब न हो, यही तो इंग्लैंड की कुटिल राजनीति चाहती थी और हिंदुस्थान जैसे आत्मविस्मृत, दास्यहत लोगों में इंग्लैंड की यह कुटिल चाल सफल भी हुई। अगर ऐसा नहीं होता तो स्वदेश के लिए पूरा जीवन अर्पित करनेवाले पंडित श्यामजी, श्रीमती कामाबाई, श्री वीरेंद्रनाथ चट्टोपाध्याय, लाला हरदयाल आदि स्वदेश के लिए आजीवन संघर्ष करनेवाले भारतीय क्रांतिकारी देशभक्तों के नाम आज कम-से-कम साधारण प्रचारक की तरह ही घर-घर प्रचलित होते। अर्थात् इससे इन देशभक्तों की शान में कोई कमी नहीं आती, पर इस कृतघ्नता से हमें तो लज्जा आनी ही चाहिए।

पंडित श्यामजी का जन्म कच्छ के एक वैश्य परिवार में हुआ था। उन्होंने शिक्षा प्राप्त करने के लिए बचपन में ही घर छोड़ा। लोगों के कपड़े धोकर, पानी भरकर, बदले में जो भी मिलता उसीको खाकर पं. श्यामजी ने विद्याध्ययन किया। अपनी बुद्धिमत्ता के कारण वे जल्द ही होनहार बच्चों में गिने जाने लगे। तभी उनकी भेंट हुई समूचे हिंदुस्थान में वैदिक धर्म का प्रचार करनेवाले श्रीमान स्वामी दयानंदजी से। दयानंद थे सूक्ष्मदृष्टि आचार्य। उनकी दृष्टि ने अपने काम के लिए इस कृतिवीर को चुन लिया। जल्द ही पंडित श्यामजी स्वामी दयानंदजी के विश्वासपात्र बने। वे आर्यसमाज के निष्ठावान कार्यकर्ता के रूप में पहचाने जाने लगे। इसी समय पं. श्यामजी का संस्कृत प्रावीण्य बढ़ा। दयानंदजी के अनुरोध से उन्होंने अष्टाध्यायी का अध्ययन किया। दयानंदजी का विश्वास उनपर बढ़ता ही गया। आखिर मरते समय दयानंदजी ने आर्यसमाज तथा उनके अन्य कार्यों की देखभाल के लिए एक विश्वस्त मंडल नियुक्त किया। उसमें पं. श्यामजी का भी नाम था। इसी समय मोलियर विलियम ने दयानंदजी से प्रार्थना की कि वे ऑक्सफोर्ड

यूनिवर्सिटी के लिए कोई संस्कृत पंडित भेज दें। स्वामीजी ने श्यामजी को वहाँ भेज दिया। पंडितजी ने ऑक्सफोर्ड में जाकर यूनिवर्सिटी में बहुत नाम कमाया। बहुत समय से यूरोपियन विद्वानों में विवाद चल रहा था कि भारतीयों ने लेखनकला और लिपि परकीयों से उधार ली। पंडितजी ने इस बारे में भारत का पक्ष उजागर किया। वैदिक आधार पर उन्होंने सिद्ध किया कि भारतीयों को वेदकाल में भी लेखनकला और लिपि का ज्ञान था। पंडितजी के इस निबंध को यूरोपियन विद्वानों ने खूब सराहा। इसी निबंध के लिए जर्मनी ने उन्हें 'पंडित' की उपाधि दी। ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी ने भी उन्हें 'एम.ए.' की उपाधि दी। निबंध विद्यापीठ ने तो उन्हें 'बैरिस्टर' की उपाधि दी।

इस तरह अपनी विद्वत्ता की कीर्तिपताका विदेश में फहराकर पंडित श्यामजी हिंदुस्थान लौटे। उनके आते ही उदयपुर के महाराज ने उन्हें अपनी रियासत का दीवान नियुक्त किया। कुछ समय तक उन्होंने वह काम किया फिर कुछ समय बैरिस्टरी की। बाद में वे काठियावाड़ संस्थान में भी दीवान रहे। उनकी पत्नी बंबई के धनी परिवार की दयालु और उदार महिला थीं। पंडितजी के स्वदेश स्वातंत्र्य कार्य में उनका पूरा सहयोग था और इस अर्थ में वे उनकी वास्तव में सहधर्मचारिणी थीं। पंडितजी पर सरस्वती के साथ-साथ लक्ष्मीजी का भी वरदहस्त था। लाखों रुपयों की संपत्ति थी। पद की सत्ता थी। उनकी विद्वत्ता तो बृहस्पति को मात देती थी।···पर पंडितजी का देश पराधीन था। इसीलिए व्यक्तिगत अनुकूलता होते हुए भी पंडितजी के मन को शांति न थी। सन् १९१७ ई. में प्लेग की महामारी के दिनों में लोकमान्य तिलक पर न्यायालय में जो प्रकरण चला उससे पंडितजी के मन की निष्क्रिय अशांति उन्हें असह्य होने लगी। उन्होंने स्वामी दयानंद से जाज्वल्य देशभक्ति की दीक्षा ग्रहण की थी।

पंडितजी कहते थे कि दयानंद सरस्वती पहले राष्ट्रवादी—'The first Nationalist' थे। पंडितजी का राष्ट्रवाद, उस समय में प्रचलित राजनीतिक पंथों से कहीं अधिक उन्नत था। जल्द ही किसी व्यक्तिगत कार्य के लिए पंडितजी को विलायत जाना पड़ा। उन्हें लगा कि इंग्लैंड के स्वतंत्र वातावरण में वे अपने प्रगतिशील राजनीतिक मत कहीं अधिक अच्छी तरह प्रकट कर सकेंगे। और तब उन्होंने निश्चित किया कि वे इंग्लैंड में रहकर ही अपना राजनीतिक कार्य करेंगे। उस समय राजनीति में दादाभाई नौरोजी की राष्ट्रीय सभा ही प्रमुख थी। वे भी इंग्लैंड में रहकर ही राष्ट्रकार्य करते थे। उन दिनों राष्ट्रकार्य का लक्ष्य ब्रिटिश लोगों में उदारता और भूतदया का भाव जगाकर भारत के राज्य प्रशासन में सुधार लाना माना जाता था। पर सबसे पहले पंडितजी ने ही घोषणा की कि हिंदुस्थान का ध्येय

'होमरूल' होना चाहिए। अपनी इष्टसिद्धि के लिए उन्होंने दो अखबार निकाले— 'होमरूल सोसायटी' और 'इंडियन सोशियोलॉजिस्ट'। इंग्लैंड में प्रकाशित इन अखबारों में अंग्रेजों की कड़ी आलोचना के कारण तथा 'होमरूल' अर्थात् अंग्रेजी साम्राज्य के अधीन उपनिवेशीय स्वराज्य की माँग उन दिनों बगावत से कम न थी, इसलिए अंग्रेज पंडितजी से दादाभाई नौरोजी से भी अधिक डरने और जलने लगे। जैसे तिलक की ललकार की तुलना में अंग्रेजों को गोखलेजी की विनती सुहाती थी वैसे ही उन्हें श्यामजी वर्मा की तुलना में दादाभाई अच्छे लगने लगे। इसी समय श्यामजी ने 'इंडिया हाउस' नाम का छात्रावास शुरू कर उसमें उन्होंने स्वदेशभक्ति की शिक्षा लेनेवाले तथा सरकारी नौकरी न करने का प्रण लेनेवाले भारतीय युवकों के रहने एवं खाने का खर्चा स्वयं उठाने का निश्चय किया। इसी तरह हिंदुस्थान से वहाँ जानेवाले विद्यार्थियों तथा अन्यों के लिए भी हजारों रुपयों की छात्रवृत्तियों का प्रबंध किया। श्री विनायक राव सावरकर को भी इन्हीं से शिवाजी फेलोशिप मिली और वे इंग्लैंड जाकर पंडितजी के 'इंडिया हाउस' में रहने लगे। पंडितजी को बँगला और मराठी अच्छी आती थी। 'गोविंद' और सावरकरजी की राष्ट्रीय कविताएँ उन्हें बहुत अच्छी लगती थीं। तत्कालीन नेताओं से इनके विचार अत्यधिक प्रगतिशील थे। इसका एक ही सबूत काफी है। उस समय गांधीजी इंग्लैंड में अंग्रेजों का राष्ट्रगीत 'God save the king' भक्तिभाव से गाते फिरते थे। ब्रिटिशों को भक्तिभाव से 'राजा' कहकर पुकारना सुन श्यामजी एक बार आपे से बाहर हो गए और उन्होंने सावरकर रचित पोवाडा का चरण गाना शुरू किया, ''राजा? वाह! घर में घुसा चोर। उसे मैं राजा मानूँ?''

होमरूल

जब तक सावरकर इंग्लैंड नहीं पहुँचे थे तब तक पंडितजी का लक्ष्य 'होमरूल' और मार्ग निःशस्त्र प्रतिकार ही था। उस समय का उनका एकमात्र कार्यक्रम था सरकारी नौकरियों का बहिष्कार। उन्हें लगता था कि इससे अंग्रेजों को राज्य चलाना असंभव होगा और अंग्रेज चले जाएँगे। बंगाल में श्री पाल ने Passive Resistance अर्थात् 'निःशस्त्र प्रतिकार' का आंदोलन शुरू किया था। लोगों को यह विश्वास दिलाया गया कि सरकारी स्कूलों, उपाधियों, नौकरियों और अदालतों आदि का बहिष्कार करने के साथ ही सरकारी कर भी देने से मना करना होगा तभी बिना रक्तपात सीमित औपनिवेशिक स्वातंत्र्य ही नहीं पूर्ण स्वातंत्र्य भी मिलेगा। पाल और पंडितजी का कार्यक्रम एक ही था। इसी कार्यक्रम में दस-पाँच तात्त्विक, जटिल और खोखले शब्द मिलाकर आज उसे Non-violent, Non-cooperation

अर्थात् 'अहिंसक असहयोग' नाम दिया गया है। सरकार से असहयोग करते ही अंग्रेज बिना शस्त्र प्रतिकार के हिंदुस्थान छोड़ जाएँगे। नि:शस्त्र प्रतिकार का यह कार्यक्रम भी तत्कालीन राष्ट्रीय सभा को अति भयंकर लगता था। परंतु आखिर दादाभाई नौरोजी ने कलकत्ता में घोषित किया कि हिंदुस्थान का लक्ष्य है—'कॉलोनियल इंडिपेंडेंस—Home Rule'। इससे राष्ट्रीय सभा पर यह नया पक्ष हावी हो गया। यह राष्ट्र-पितामह दादाभाई के साहस का ही परिणाम था कि उस समय के उदारवाद को उग्रवाद की तरफ झुकना पड़ा। इसमें जितना प्रभाव हिंदुस्थान के 'लाल-बाल-पाल' के आंदोलन का था उतना ही श्यामजी द्वारा इंग्लैंड में चलाए गए आंदोलन का भी था। लोकमान्य समय को पहचानते थे। अत: वे तब तक 'केसरी' में 'होमरूल' का उल्लेख भी नहीं करते थे। पर पंडित श्यामजी के इंग्लैंड में होमरूल संघ की स्थापना करते ही उस अवसर का लाभ लेकर लोकमान्य ने तुरंत हिंदुस्थान के आंदोलन को तेज किया। पंडितजी के इस नए आंदोलन पर उन्होंने 'केसरी' में लेख लिखे और उसे अपना समर्थन भी दिया।

अभिनव भारत

श्री सावरकर ने 'इंडिया हाउस' में आते ही प्रगतिशील समझे जानेवाले होमरूल संघ के भी कान काटनेवाला और उसे मंद करनेवाला एक नया क्रांतिकारी आंदोलन शुरू किया जिससे पंडितजी के राजनीतिक विचार भी तेजी से विकसित होने लगे। वे सावरकर के पूर्ण राजनीतिक स्वातंत्र्य—Absolute Political Independence—के प्रशंसक हो गए। उन्होंने संस्था का नाम—होमरूल—ही नहीं बदला अपितु लक्ष्यप्राप्ति के साधन भी बदल दिए। पंडितजी की राय थी कि सन् १८५७ की लड़ाई कुछ मूर्ख और अंधविश्वासी सिपाहियों का विद्रोह था, उसमें लेशमात्र भी राष्ट्रभक्ति या स्वातंत्र्य प्रेम नहीं था। अन्य सभी लोगों की तरह पंडितजी की यह राय भी सरकारी इतिहास के अनजाने प्रभाव का परिणाम थी। उनके इसी मत के कारण जब सावरकर के अनुयायियों ने सन् १८५७ के स्वातंत्र्य सेनानियों का स्मृतिदिवस इंडिया हाउस में मनाया तब पंडितजी को बड़ा खेद हुआ। पर वे एक सच्चे देशभक्त थे। सच समझ लेने पर वे अपने दुराग्रह पर कतई डटे नहीं रहते थे। इसी तरह दूसरे की बात की अवमानना कर, उसके गले अपनी बात उतारनेवाले मिथ्याचारी भी वे न थे। जल्द ही वे समझ गए कि नि:शस्त्र प्रतिकार से स्वातंत्र्य मिलने से रहा। वे भी सशस्त्र प्रतिकार के कायल हो गए। 'अभिनव भारत' के साहसी प्रतिकार से पूरे इंग्लैंड में खलबली मची हुई थी। पंडितजी ने देखा कि अभिनव भारत के दस-बीस युवाओं ने ब्रिटिश

सरकार की नाक में दम कर रखा है। उन्होंने अनुभव किया कि सरकार को ठिकाने पर लाने के लिए यही उपाय प्रभावकारी है। अत: दो ही वर्षों के भीतर वे अभिनव भारत आंदोलन के कट्टर समर्थक बन गए। उन्होंने खुलेआम सावरकर के आंदोलन को सहयोग दिया। यह देखकर अंग्रेज बहुत क्रोधित हुए। पार्लियामेंट और अखबारों में प्रश्न पूछे जाने लगे कि इस तरह के भयानक अपराधपूर्ण आंदोलन चलानेवाले श्यामजी को सरकार कब तक आजाद रखनेवाली है? पर उस चतुर पंडित ने, सरकार उससे पूछताछ करती, इससे पहले ही उत्तर दे डाला। एक रात बिना किसीको खबर दिए, वे रातोरात पेरिस चले गए। उनके पेरिस पहुँचने से पहले ही उनके पैसे इंग्लिश बैंक से फ्रेंच बैंक में जमा हो गए थे। पंडितजी को शुरू-शुरू में यह गलतफहमी थी कि अंग्रेज हिंदुस्थान में चाहे जो करें, इंग्लैंड में वे उदार मत के पुरस्कर्ता ही रहेंगे। और मैजिनी की तरह उनकी देशभक्ति की भी प्रशंसा ही होगी, उनका व्यक्तिस्वातंत्र्य कदापि छीना नहीं जाएगा। पर उनका अनुभव ठीक इसके विपरीत रहा। इससे उनका अंग्रेजों की भलमनसाहत पर से विश्वास उठ गया। उन्हें विश्वास हो गया कि अंग्रेजों की भलमनसाहत और मानवीयता पर आधारित, भारतीयों का नि:शस्त्र प्रतिकार एवं असहयोग का शस्त्र व्यर्थ है। इस तरह सशस्त्र क्रांति में उनका विश्वास दृढ़ हुआ। वे पेरिस गए और इधर इंग्लैंड में सावरकर के नेतृत्व में अभिनव भारत ने तहलका मचाया। सावरकर के अनुयायियों ने बम बनाने की विद्या सीखी। धींगरा ने लंदन में खुलेआम कर्जन वायली को मृत्यु के घाट उतारा। इससे अंग्रेजों की मानहानि हुई और पूरे यूरोप में भारतीय देशवीरों के धैर्य और हौतात्म्य का डंका बजा। इस काम के लिए पंडितजी ने ही धन की सहायता गुप्त रूप से की थी। यही सब कहते थे। पंडितजी के अखबार ने धींगरा को हुतात्मा की उपाधि देकर गौरवान्वित किया। इससे इंग्लैंड दाँत पीसकर रह गया, पर पिंजरे से उड़े पंछी का वे कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते थे। उन्हें किसी तरह इंग्लैंड वापस लाने के लिए अनेक प्रलोभन दिए गए, उन्हें कायर कहकर चिढ़ाया गया, पर पंडितजी इस जाल में फँसनेवाले नहीं थे। इस बारे में बात छिड़ने पर, अपनी फ्रांस की कोठी में सुरक्षित पंडितजी अपनी सुडौल, गठीली देह को डुलाते कहते, ''पंडित श्यामजी अंग्रेजों को छकाकर वहाँ से निकल आया है। अब वह इस तरह का दाना नहीं चुगेगा—न गंगदत्तः पुनरेति कूपम्।''

पंडितजी ने अपने देश को दास्य से मुक्त कराने के लिए हजारों रुपए खर्च किए। इंडिया हाउस, हजारों रुपयों की छात्रवृत्तियाँ, क्रांतिकारी आंदोलन के लिए धन की सहायता, सबकुछ उनकी उदारता के द्योतक हैं। इसके अलावा

जिस स्पेंसर की तत्त्वपद्धति का उन्हें अभिमान था, उसके नाम से उन्होंने ऑक्सफोर्ड विद्यालय में छात्रवृत्तियाँ शुरू कीं। फ्रांस में सीन नदी की बाढ़ की चपेट में आए लोगों को उन्होंने हजारों रुपयों का दान दिया। ऐसे उदारचरित आदमी को भी इसलिए कृपण कहा जाने लगा क्योंकि उन्होंने लाखों नहीं, हजारों रुपए दिए थे। यह बात सिर्फ उसीको शोभा देती है जिसने देशकार्य के लिए लाखों रुपए दिए हों और जिसने इस पुण्य कार्य के लिए पंडितजी की तरह कष्ट उठाए हों। पर जिन्हें मनचाही भीख नहीं मिली केवल इसीलिए वे पंडितजी को नीचा दिखाना चाहते हों, तो वे ऐसी बातों से अपनी दरिद्र वृत्ति और निराशा का ही निर्लज्ज प्रदर्शन करते हैं। उनकी इन हलकी बातों से पंडितजी की नेकी और उदारता पर जरा भी आँच नहीं आती। पंडितजी को अगर पैसा ही जुटाना होता तो वे इंग्लैंड में रहकर तथा अंग्रेजों की तारीफों के पुल बाँधकर ही जुटा सकते थे। फिर वे वहाँ ऐशोआराम की जिंदगी बसर करते। पर अपनी देशभक्ति के कारण ही उन्होंने अंग्रेजों जैसे प्रबल शत्रु को छेड़ा, स्वदेश स्वातंत्र्य के लिए जान की बाजी लगाई और वृद्धावस्था में भी विदेश में ठोकरें खाते रहे। मातृभूमि की स्वाधीनता के लिए कष्ट सहनेवाली आत्मा की यह उदारता क्या कृपणता कहलाएगा? इस उदारता को पैसे की तराजू में तौला जाए तो उसका मोल लाखों रुपयों से अधिक ही होगा, पर कम तो कतई नहीं। इसीलिए इस देशनिर्वासित महान् पुरुष को कृपण कहना, अंग्रेजों की कृतघ्नता का प्रतीक है।

इंग्लैंड ने मारे क्रोध के पंडितजी की बैरिस्टर की उपाधि रद्द कर दी। उनको जान से मार डालने की धमकियाँ दीं। उनपर अपने देश लौटने पर प्रतिबंध लगा दिया गया, उन्हें विदेश में रहने के लिए बाध्य किया गया। महायुद्ध के दौरान पंडितजी का फ्रांस में रहना भी खतरे से खाली न था। अत: वे स्विट्जरलैंड गए और वहीं इस महान् व्यक्तित्व का अंत हुआ।

उनके देशशत्रु ने उन्हें देश निकाले की सजा दी और उनके देश ने उन्हें स्मृति से निकाल देने की सजा दी। पंडित श्यामजी कृष्णवर्मा ने देश की इतनी सेवा की, पर हम कृतघ्न देशबंधुओं ने उन्हें याद तक नहीं किया। यह महान् भारतीय पहले स्वदेश की स्वतंत्रता के लिए लड़ा फिर उसके विरह में तड़पा। आखिर अस्सी वर्ष की उमर में वह स्विट्जरलैंड में दूसरों के दरवाजे पर मरा। उस आखिरी घड़ी में उसके पास ऐसा एक भी स्वजन नहीं था जिससे वह अपने राष्ट्र की भाषा में बोलकर विदा ले सकते।

पंडित श्यामजी का देश स्वतंत्र होता तो उन्हें मृत्यु भी सुखद लगती। फिर भी उन्होंने यह तो देख ही लिया कि उनके देशवासी उनके झंडे तले भारत की

स्वाधीनता के लिए लड़ रहे हैं। जो लोग पचीस साल पहले, I proudly declare my loyalty to British Empire कहके ब्रिटिशों की जय-जयकार करते थे, वे अब उनका बहिष्कार कर रहे हैं। जो ब्रिटिशों की खातिर बोअर और जुलू लोगों से लड़ते थे, वे आज उन्हें देश से निकाल बाहर करने की घोषणा कर रहे हैं। उन्होंने भारत की यह मानसिक क्रांति तो देख ही ली। क्या दुनिया से विदा होते समय उनके मन का बोझ इस विचार से हलका हुआ होगा कि आज नहीं तो कल, वास्तविक क्रांति होकर रहेगी!!



बालमुकुंद और लज्जावती

महाराज पृथ्वीराज के बाद हिंदू साम्राज्य भंग हो गया। इससे मानो दिल्ली का सिंहासन संतप्त हो गया। अब उसे बार-बार रक्त की प्यास लगने लगी। जो भी उस सिंहासन पर बैठना चाहता है, उसे अपना और पराया रक्त बहाना पड़ता है। बंगाल विभाजन के बाद पूरे हिंदुस्थान में राष्ट्रभक्ति की उठी पर्वतप्राय लहर में जब अंग्रेजों की राजधानी कलकत्ता डाँवाँडोल होने लगी तब राजधानी दिल्ली लानी पड़ी। उस समय लॉर्ड हार्डिंग्ज गवर्नर जनरल थे। इस राजप्रतिनिधि ने बड़ी धूमधाम से राज्यारोहण करना चाहा। दिल्ली के राजमार्ग पर उर्वरित राजा-महाराजाओं को चकाचौंध करनेवाला शानदार जुलूस निकाला गया। सहस्राधिक गोरे और काले सैनिक अपनी-अपनी तलवारें, राइफल्स, बैनेट आकाश में चमकाते हुए उस जुलूस में अंग्रेजी साम्राज्य का जयघोष करते और उसके दबदबे का प्रदर्शन करते शामिल हुए। आगे-आगे हाथी पर सवार हो वायसराय जा रहे थे और उनके पीछे-पीछे थे हाथियों पर सवार राजे-महाराजे।

अंग्रेज साम्राज्य का जयघोष करता वह शानदार जुलूस दिल्ली के राजमार्ग से राजसिंहासन की तरफ बढ़ रहा था। तभी आकाश से मानो वज्रपात हुआ। एक जोरदार धमाका हुआ और एक भयानक बम हाथी पर सीना तानकर बैठे गवर्नर जनरल वायसराय लॉर्ड हार्डिंग्ज पर ही सीधा जा गिरा। महावत मारा गया। जैसे अति सुरक्षित स्थान पर बैठे परीक्षित को तक्षक नाग ने अचानक जोर से डस लिया था, ठीक वैसे ही किसी भारतीय क्रांतिकारी ने बम फेंककर लॉर्ड हार्डिंग्ज से बदला लिया था। सब तरफ शोर मच गया। 'बम…बम…' भगदड़ मच गई। जुलूस तितर-बितर हुआ। राज्यारोहण समारोह का कार्यक्रम स्थगित हो गया।

सब जगह एक ही चर्चा शुरू हो गई। यह भयानक काम किसने किया होगा। सरकारी गुप्तचर विभाग को एक महत्त्वपूर्ण काम मिला और बड़ी कड़ाई से खोज होने लगी। वे बम फेंकनेवाले तथा उसके साथियों की खोज में लग गए।

गुप्त आक्रमणकारी किसी एक ही स्थान पर होते हैं। उसी जगह में छिपकर ये आक्रमण की ताक में रहते हैं। रक्तरंजित आक्रमण के बाद इनके छिपने का भी एक ही ठिकाना होता है। लेकिन त्रस्त और भयग्रस्त अधिकारी आक्रमणकारियों को दसों दिशाओं में खोजने लगते हैं। उन तक पहुँचने के लिए वे बीसियों निरपराधों को पकड़ते हैं। उन्हें कड़ी सजा देते हैं।

दिल्ली बम कांड में भी यही हुआ। अपराधी का जल्दी न पकड़ा जाना सरकारी अधिकारियों की अपकीर्ति तथा असुरक्षा का कारण बन जाता है। ऐसी संशयग्रस्त स्थिति में उनके हाथ वास्तविक अपराधी तक पहुँच ही नहीं पाते। कभी-कभी संशयातिरेक के कारण अनेक निरपराध भी पकड़े जाते हैं। इस बम कांड में भी कई युवा पकड़े गए। उन्हें कड़ी सजा मिली।

आज की हमारी इस कहानी का नायक भी उन्हींमें से एक था। इस युवा का नाम था 'बालमुकुंद'। बालमुकुंद पंजाब के प्रख्यात देशभक्त भाई परमानंद का चचेरा भाई था। भाईजी का पूरा घराना ही हुतात्माओं का घराना था। भाईजी के पूर्व पुरुष महान् हुतात्मा मतिदास भी औरंगजेब के क्रूर अत्याचार की बलि चढ़े थे। धर्म के उस दुरभिमानी ने मतिदास को लकड़ी की तरह सिर से पाँव तक चीरने का फरमान दिया था। बालमुकुंद इसी वीरात्मा के वंश से था। भाईजी ने भी काले पानी की सजा पाई थी। यह सभी जानते हैं।

उनके इस चचेरे भाई बालमुकुंद को दिल्ली बम कांड में फाँसी की सजा हुई। हाँ, इसी खौलते रक्त के क्रांतिकारी ने वह बम फेंका था।

बालमुकुंद का विवाह एक ही वर्ष पूर्व एक अनुपम सुंदर बाला से हुआ था। उस कुँवरी का मायके का नाम था रामरखी। विवाह के बाद ससुराल में उसका नाम रखा गया 'लज्जावती'। बालमुकुंद के पकड़े जाने के बाद क्या-क्या हुआ इसका देवी लज्जावती ने हृदयस्पर्शी वर्णन किया है। लीजिए लज्जावती के शब्दों में इस घटना का वर्णन—

''गरमी के दिन थे। वे कारागार में थे और मैं घर में। छह महीने तक मैं किसी भाग्यदायी क्षण की राह देखती रही। सब लोग मुझे ढाढ़स बँधाते, 'डर मत! एक-न-एक दिन वह छूटकर घर आएगा।' मैं कहती, 'पता नहीं वह सुदिन कब आएगा? दुर्भाग्य की इस काली रात का सवेरा कब होगा, मेरा भाग्य रवि उदयाचल पर कब आएगा? वह शुभ घड़ी कब आएगी।'

''वैसे मैं दिल्ली कब और क्योंकर जाती? पर उन्हें दिल्ली में रखा गया था अभियोग भी वहीं चल रहा था। मैं दिल्ली पहुँची। मैंने कारागार का वह भयानक कमरा देखा। उस छोटे से तंग-बंद कमरे में उन्हें (उसके सूरमा युवा पति को)

सावन-भादों की कड़ी गरमी सहनी पड़ रही थी। मैंने पूछा, 'सोने के लिए चारपाई मिलती है?'

कहने लगे, 'कैसी पगली हो? यहाँ चारपाई का क्या काम?'

मैंने पूछा, 'फिर सोते किसपर हो?'

बोले, 'जमीन पर कंबल बिछाकर सो लेता हूँ।'

''मैं घर लौटी। रात को घर के सब लोग खुले छत पर चारपाइयाँ बिछाकर सो गए। मैं घर के निचले तल्ले के एक कमरे में भूमि पर कंबल बिछाकर सो गई। चारों ओर से मच्छर भिनभिनाने लगे। कान के चारों ओर भिनभिन करते हुए मँडराने लगे, काटने लगे। मुझे लगा मानो वे मुझपर हँस रहे हों। कह रहे हों कि मूर्ख, ऐसे कमरे में कोई सोता है? मैं उठ बैठी। खिड़की से चंद्रकिरण भीतर आ रही थी। मैंने झुककर चंद्र देखा। उससे पूछा, 'क्या तू उनके कमरे में इसी तरह चाँदनी बरसाता है? क्या तूने देखा है कि वे इसी तरह करवटें बदल-बदलकर रात गुजारते हैं?'

''चंद्र की ओर बार-बार देखने पर भी उत्तर नहीं मिला। रात भर मच्छर काटते रहे। बदन सूजकर फूल गया। दूसरे दिन मैं उसी तरह नीचे के कमरे में सोई। मच्छरों ने मुझपर फिर हमला किया। इतने में मेरी सहेली वहाँ आई। मुझे देखकर बोली, 'क्या तू मरना चाहती है?' मैंने कहा, 'मरूँगी क्यों?'

''उसने कहा, 'आसार तो मरने के ही हैं।' मैंने पूछा, 'क्यों, इस तरह सोनेवाले क्या…' बीच ही में सहेली बोली, 'हाँ, वे मरते ही तो हैं!' सुनकर मेरी आँखें भर आईं। आँसू झरने लगे। सहेली अवाक् हो गई। अपने आपको दोषी समझने लगी। मैंने कहा, 'इसमें किसीका कोई दोष नहीं। मेरा भाग्य फूटा है। वे कारागार में जैसे सोते हैं, क्या मैं भी वैसे ही नहीं सोऊँ?'



''फिर एक बार मुझे उनसे मिलने की अनुमति मिली। मैं फिर दिल्ली गई। इस बार मैंने उन्हें खाने के बारे में पूछा। बोले, 'मुझे एक ही बार खाना मिलता है।' मैंने पूछा, 'कैसी रोटी खिलाते हैं?' इसके जवाब में उन्होंने मुझे एक रोटी का टुकड़ा दिया। वही टुकड़ा लेकर मैं घर आई। उसमें गेहूँ था, चना था और भी बहुतेरी चीजें मिली थीं। मैंने भी घर में उस तरह का आटा बनाया और उससे बनी रोटी खाने लगी।

''इसी तरह कई महीने बीत गए। आखिर एक दिन अपनी कोठरी में बैठे-बैठे मुझे बाहर से रोने-कलपने की आवाज सुनाई दी। मेरा जी बैठने लगा। माथे पर पसीना फूट पड़ा, पर दिल कड़ा करके मैं बाहर आई। उनका नाम लेकर कोई कह रहा था, 'उन्हें फाँसी हुई है, फाँसी!'

''उनके अंतिम दर्शन करने मैं फिर दिल्ली आई। जिस कारागार में युवकों का यौवन छीना जाता है, उनके सुकुमार, कोमल अंत:करण को झुलसाया जाता है, उस कारागार में मैं पहुँच गई। उनके दर्शन किए। मन कहता था कि कुछ बोल लूँ। होंठ कह रहे थे कि अब हमें रोका नहीं जा सकता। इतने में उनके होंठ हिले।

''उन्होंने कहा, 'प्राणप्रिय, जो भी प्राणी जन्म लेता है, उसे एक-न-एक दिन जाना ही पड़ता है। कोई किसीका साथी नहीं हो सकता। तुम अपने आपको भाग्यवती मानो कि तुम्हारा पति देशहित के लिए अपनी स्वयं की आहुति दे रहा है।'

''मेरे कानों ने ये शब्द सुने भी नहीं कि मेरी आँखें आँसू बहाने लगीं। आँख के आँसू थमे नहीं···आँसुओं से आँखें धुँधला गईं। मैं उनका मन भर मुखावलोकन भी कर नहीं पाई। बहुत प्रयास किया पर आँसुओं ने उनके यथेच्छ दर्शन भी नहीं करने दिए।

''दूसरे दिन हवन सामग्री इकट्ठा की गई। लोग कहने लगे कि आज उनका अंत्य संस्कार होगा। मैंने सोचा, अच्छा अवसर है। अब मैं उनसे मिलूँगी। पर थोड़ी ही देर में सुना कि अधिकारियों ने उनका शव नहीं दिया।

''···आगे की बात मैं बता नहीं सकती। मैं पंद्रह दिनों से व्रतस्थ हूँ। अब वह घड़ी भर गई है···मेरी मनोकामना पूरी होगी!''

इतना कहकर लज्जावती चुप हो गई। उस देवी ने अन्न-जल का त्याग किया था। अठारह दिन बीते। एक ही स्थान पर आसनस्थ होकर वह अपने दिवंगत पति के ध्यान में निमग्न थी। उसने तपस्या पूर्ण की। अंतिम दिन सूर्यबिंब अपने पूरे तेज से प्रकाशित हुआ। लोगों ने अपने-अपने काम आरंभ किए। देवी अपने आसन से उठी। स्वयं साफ पानी लाकर उसने स्नान किया। साफ-सुथरे वस्त्र पहन लिये। और ध्यान-स्थान पर लेट गई। बोली, ''प्रियतम, तुमने बहुत दिनों तक परीक्षा ली। आज मैं तुम्हारा हाथ नहीं छोड़ूँगी। तुमसे विभक्त नहीं रह सकूँगी।'' इतना कहकर उसने अपने प्राण त्याग दिए। इच्छामृत्यु का वरण किया। साध्वी लज्जावती अपने देशभक्त हुतात्मा पति बालमुकुंद से एकाकार होना चाहती थी। अत: स्वेच्छाबल से परलोक का देव द्वार खोलकर उसने स्वर्ग में प्रवेश किया। इसे कहते हैं सती होना।

धन्य है यह साध्वी! धन्य है वह स्वार्थ-त्यागी हुतात्मा और त्रिवार धन्य है वह हिंदू समाज जो इस तरह के दिव्य अलौकिक नररत्नों को जन्म देता है।

☐

देशवीर शचींद्रनाथ सान्याल

''तुममें स्वार्थ जरा भी नहीं था। तुमने जो-जो किया, स्वदेश के लिए ही किया।''

—न्यायाधीश

लगभग दो वर्ष पूरे हो गए। उत्तर हिंदुस्थान के लखनऊ नगर में काकोरी कांड का राजनीतिक षड्यंत्र अभियोग चल रहा है। उस अभियोग के अभियुक्तों को सालों-साल कारागार में बंद करके रखा गया। आखिरकार उस अभियोग का निर्णय हो गया। उस निर्णय पर अभियुक्तों की ओर से तथा सरकार की ओर से अवध के हाईकोर्ट में अपील की गई। लेकिन वहाँ कुछ अभियुक्तों को सेशंस कोर्ट में दिए गए दंड से भी अधिक भयंकर और अमानुषिक दंड दिया गया। राजनीतिक षड्यंत्रों के अधिकतर आरोपियों को पहले कच्चे कारागार में ही सालों-साल सड़ना पड़ता है। इसके बाद दस-दस, बीस-बीस वर्ष का भयंकर दंड भुगतना पड़ता है, वह अलग। सौभाग्य से एकाध राजनीतिक कैदी रिहा हो भी गया तो भी उसे बिना पूछताछ के इस कच्ची कैद में ही इतना कष्ट सहना पड़ता है, जितने में कोई चोर डेढ़-दो साल का दंड पूरा कर छूट भी जाता है। किसी राजनीतिक षड्यंत्र में शामिल होने के संशयमात्र से किसी निरपराध नागरिक को, चोर का सा दंड भुगतना पड़ता है। इस कारण बाद में निर्दोष होकर चाहे वह छूट जाए लेकिन पहले बिना किसी दोष के ही उसे यह सरकारी दंड तो भुगतना ही पड़ता है। इस तरह सरकार ही जिसे निरपराध सिद्ध करती है उसे डेढ़-दो वर्ष का दंड सरकार ही भोगने को बाध्य करती है। सरकार यह कुटिल राजनीति राजनीतिक षड्यंत्र का नाम आते ही उसके पास भी न फटकनेवाली जनता में उसकी दशहत बैठाने के लिए अपनाती है। फिर भी यह नीति सर्वथा निंद्य है, इतना साफ कहने में कोई भी बाधक नहीं हो सकता। राजनीतिक षड्यंत्र के अभियोग इतनी देर तक निस्संदेह जान-बूझकर ही चलाए जाते हैं। हर अभियोग के निर्णय में जान-बूझकर ही विलंब किया जाता है, यह आशंका आए ऐसे

बहुत से अवसर हर अभियोग में दिखते हैं।

यह बड़ी हैरत की बात है कि अन्य अभियोगों की तरह काकोरी कांड के अभियोग में अभियुक्तों से जोर-जबरदस्ती से या किसी अन्य निर्दय तरीके से जानकारी प्राप्त करने का राक्षसी प्रयास नहीं किया गया। अब तक महाराष्ट्र, बंगाल और पंजाब में इस तरह के बड़े-बड़े षड्यंत्रों के अभियोग चले, उनमें काफी कुछ में ईमानदार और सुशिक्षित व्यक्तियों ने सरकारी अधिकारियों पर इस तरह के आरोप न्यायालय में खुलेआम लगाए थे। काकोरी अभियोग में वैसे आरोप सरकार के पुलिस अधिकारियों पर किसीने लगाए थे, हमारे पढ़ने में नहीं आए। हमारी पढ़ी हुई जानकारी के आधार पर ज्ञात हुई बात यदि सच हो तो वह पुलिस अधिकारियों के लिए सम्मानास्पद है।

पर जो आरोपी इस अभियोग में फँसे थे उन्होंने इस अच्छे व्यवहार की आशा कभी भी नहीं की थी। मातृभूमि की स्वाधीनता किसी अन्य मार्ग से मिलेगी इस बात से जब उनका विश्वास उठा तब ही उन्होंने यह सशस्त्र क्रांति का मार्ग अपनाया था। सिर पर कफन बाँधकर ही ये सूरमा सशस्त्र क्रांति के अग्निपथ पर चल पड़े थे। चलते समय ही उन्होंने इस बात की गिरह बाँध ली थी कि कभी-न-कभी उन्हें न्याय-अन्याय के दलदल में फँसना पड़ेगा, शारीरिक एवं मानसिक यंत्रणाएँ सहनी पड़ेंगी और मृत्युदंड तक को सहना पड़ेगा। शायद शुरू-शुरू के क्रांतिकारियों के अभियोग के संबंध में कहा जा सकता है कि उन्हें ऐसा कहा जा सकता था कि वे पुलिस के नैर्बंधिक और कभी-कभी अनैर्बंधिक यंत्रणाओं में फँस गए। पर काकोरी कांड के अभियोग में इस तरह की भ्रांति की संभावना दिखती नहीं। इस कांड के प्रमुख आरोपियों में सान्याल बंधु हैं। इन बंधुओं में से बड़े भाई श्री शचींद्रनाथ सान्यालजी इससे पहले भी क्रांति के अभियोग में भीषण भोग भोगकर दंड पा चुके थे। तब उन्हें आजन्म काले पानी की सजा हुई थी। वे अंदमान में पाँच वर्ष तक कड़ा दंड भोगते रहे। तब भी उन्होंने बड़ी वीरता से देहदंड भुगता। उन्होंने अपनी प्रिय मातृभूमि को इस जन्म में फिर से देखने की आशा छोड़ ही दी थी। पर संयोग से पाँचवें वर्ष ही उन्हें वह दिख गई। आजन्म कारावास में छूट मिलने पर वे पाँचवें साल यानी १९२०-२१ में वहाँ से रिहा हुए। इन्हींकी तरह उस अभियोग के अन्य कई क्रांतिकारियों ने भी अनुभव किया था कि क्रांतिमार्ग पर पैर धरने पर न केवल पैर बल्कि हृदय भी कैसे लहूलुहान हो जाता है। शारीरिक यंत्रणा, मारपीट, उपवास, अपमान, कारावास और मृत्युदंड, इन सभी को उन्होंने अंशत: सह ही लिया था। भुक्तभोगियों के हृदयद्रावक अनुभव या तो उन्होंने मौखिक सुने थे या लिखित रूप से पढ़े थे। फिर भी उन्होंने शस्त्रास्त्र इकट्ठा किए, गुप्त मंत्रणाएँ

कीं और दस-पंद्रह राजनीतिक डाके डालकर उन्होंने सरकार को हिला दिया और अंत में चलती रेलगाड़ी को रोक, पिस्तौल की नोक पर उन्होंने सरकारी कोष को पूरी तरह लूट लिया था। क्योंकि उन्होंने मन-ही-मन समझ लिया था कि बिना सशस्त्र क्रांति के अपनी मातृभूमि को स्वतंत्र नहीं किया जा सकता। उन्होंने जब देख लिया कि नि:शस्त्र असहयोगी, नि:शस्त्र असहयोग और नि:शस्त्र प्रतिसहयोग स्वतंत्रता प्राप्ति के काम में कोई भूमिका नहीं निभा सकते तब उन्हें सापेक्षत: सस्ता और सफल एक ही उपाय लगा, वह था क्रांति का। इसीलिए उन्होंने फिर एक बार क्रांति का बिगुल बजाया।

सभी सयाने जिसे पूरी तरह असंभव एवं महँगा समझते हैं वही इन सिरफिरों को सापेक्षत: संभवनीय और सस्ता लगा था। सभी सयानों को खादी मंडल, विधि मंडल, गोरक्षा, अस्पृश्योद्धार एवं शिशुसप्ताह, उपवास, हड़ताल इत्यादि सभ्य उपाय स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए अधिक सुलभ, अधिक सफल लगते थे, वे इन सिरफिरों के लिए भी सुलभ थे। किंतु क्रांतिकारियों को लगा कि ये उपाय क्रांति की अपेक्षा महँगे और उतने ही व्यर्थ हैं। 'भिन्नमतिर्हि लोक: !'

ऐसा उनका विश्वास होने से इन क्रांतिकारी सज्जनों ने क्योंकि उनमें केवल बच्चे ही नहीं हैं, शूरता और ध्येयनिष्ठा के काम में बड़ों को भी लज्जित करनेवाले बीस के आसपास के बच्चे भी जैसे उनमें हैं वैसे ही बच्चों जैसी सरलता और नवयौवन का अदम्य उत्साह और साहस जिनमें भरा हुआ है, ऐसे तीस के ऊपर के युवक भी उनमें हैं—इन सयाने सज्जनों से उनके सयाने मार्ग खुले रखकर, जो वे कर सकते थे—वह देशहित का कार्य करने से उन्हें न रोकते हुए, जो कोई भी नहीं कर सकता वह शेष कार्य स्वयं करने की प्रतिज्ञा की और उस तरह वह मार्ग कितना भयंकर होता है, यह स्वयं के अनुभव से और षड्यंत्र के भूतकालीन अभियोगों की जानकारी से ज्ञात होते हुए भी जान-बूझकर उस रक्तरंजित क्रांति ध्वज को उन्होंने उठाया—सिरफिरे जो ठहरे!

अपनी ज्वालाग्राहिता का फल उन्हें जल्दी ही मिला। काकोरी के पास दौड़ती रेलगाड़ी को रोक, इंजन चालक को पिस्तौल दिखा कैद किया और गाड़ी पर सशस्त्र आक्रमण किया। सबसे पहले उन्होंने यात्रियों को जता दिया कि वे क्रांतिकारी हैं, उन्हींके लिए सरकार से लड़ रहे हैं। अत: निर्भय रहें।···फिर भी एक-दो यात्री शोर मचाने लगे तब उन्होंने उन्हें तत्काल गोली मारी। इसके बाद सरकारी तिजोरी को तोड़कर सारा धन लूट लिया। रेलगाड़ी आगे बढ़ी और ये अपने डेरे पर पहुँच गए। इस अपराध के लिए पकड़-धकड़ होते-होते वह सारा षड्यंत्र खुल गया और एक के सूत्र से दूसरा, दूसरे से तीसरा, ऐसा करते कई

क्रांतिकारी पकड़े गए।

हर राजनीतिक षड्यंत्र अपने वर्तमान परिस्थिति के स्वपक्ष की असंगठित और हताश स्थिति में, विपक्ष के संगठित शक्ति के आगे फूटेगा ही। फूटते-फूटते ही वह रास्ता बनाता जाएगा। ऐसे उलटे तर्क से अपने साथियों का मनोबल ऊँचा उठाते हुए वे बंजर बने और पहले भी ऐसे ही षड्यंत्र के फूटने, अभियोग चलने, दंड देने का अनुभव लिये हुए वे क्रांतिकारी अट्टहास करने लगे।

इसकी जाँच-पड़ताल पुलिस साल भर तक करती रही थी। पर इससे क्या! क्रांतिकारियों का धीरज डाँवाँडोल नहीं हुआ। फिर अभियोग चला। हथियारबंद सिपाहियों के कड़े पहरे में क्रांतिकारियों को गाड़ी से न्यायालय ले जाया जाने लगा। हाथों में हथकड़ियाँ, पाँवों में बेड़ियाँ और मोटे रस्सों से जकड़ा हुआ शरीर। फिर भी क्रांतिकारी आते-जाते जोर-शोर से क्रांति के गीत गाते। उन क्रांतिकारियों में से कुछ कवि थे, कुछ अच्छे गायक। उनके स्वर में स्वर मिलाकर सब क्रांतिकारी क्रांतिगीत गाते। दिल को हिलानेवाले उन गानों को सुनने के लिए हर रोज सैकड़ों लोग उनके आने-जाने के मार्ग में इकट्ठा होने लगे। क्रांतिकारियों का तेज, देशभक्ति, निर्भयता देख पुलिस की आँखें डबडबा जातीं। नींद में खोए हिंदुस्थान को जगानेवाले वे देशभक्तों के वीरगीत, हिंदी और उर्दू के कई अखबारों में छापे गए हैं।

कई सयाने सोच रहे थे कि क्रांतिमार्ग पर चलने का भयावह परिणाम सामने आएगा तब इन उन्मत्त देशप्रेमियों की अकल ठिकाने आएगी और कारागार की बेड़ियों में जकड़े हाथों में अपना अवनत सिर पकड़ दूर दृष्टि के सयानेपन को भाँपते पश्चातप्त निष्क्रियता की लंबी उसाँस वे लेने लगेंगे। पर ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। सयाने लोगों में दिखनेवाला सिरफिरापन उनमें नहीं दिखा। क्रांति के इन दीवानों के मुँह से पछतावे की एक भी आह नहीं निकली। निकले तो वे ही जोश से भरे, उफनते रणगीत। बंदीगृह में बंद हुए तो क्या किसी भी तरह 'सिरफिरा' सयानापन उन्हें नहीं सूझा।

अंत में उन्हें सजा हुई। अधिकतर क्रांतिकारी जानते थे कि उन्हें कड़ी-से-कड़ी सजा होगी। इतनी कड़ी कि अखबार पढ़नेवाले सयानों के पसीने छूट जाएँगे। पर उन सिरफिरों को उसकी कोई परवाह न थी। जिस दिन उन्हें सजा सुनाई जाने वाली थी, उस दिन उन्होंने त्योहार की सी खुशियाँ मनाईं। प्रार्थना की। स्वदेशी कपड़े पहने, माथे पर लाल तिलक लगाए। न्यायालय गण्यमान्य लोगों एवं सरकारी अधिकारियों से खचाखच भरा हुआ था। न्यायालय के बाहर क्रांतिकारियों की गाड़ी से उतरते ही वे 'वंदे मातरम्' की घोषणा करने लगे। क्रांतिकारी आवेश से भरा

राष्ट्रीय गीत उच्च स्वर से गाते हुए, अनुशासित ढंग से अपने नेता के पीछे-पीछे न्यायालय में प्रविष्ट हुए। न्यायालय में उनके स्वर गूँज रहे थे, ''आज बलिदान का शुभ पर्व है। मन की सारी बात आज ही क्योंकर रहें? हे शत्रु, प्रतीक्षा कर। उचित समय पर सारी बात खुल जाएगी। हे मातृभूमि, तुझपर हम अपनी जान लुटा देंगे। शत्रु का बल भी हम परख लेंगे। अब बोलने की नहीं, कर गुजरने की वेला है। बलिदान का अवसर है।''

अभियुक्त न्यायालय में आए। न्यायाधीश ने अपना निर्णय सुनाया। इस अभियोग में कुल मिलाकर कागज-पत्रों के ग्यारह सौ सबूत जाँचने पड़े। सैकड़ों गवाहों को परखना पड़ा। न्यायाधीश ने अपने निर्णय पत्र को पढ़ा कि संयुक्त प्रांत में एक बहुत बड़ा षड्यंत्र पकड़ा गया है। उसका उद्देश्य सशस्त्र क्रांति करके हिंदुस्थान में स्वातंत्र्य स्थापित करना है। इस षड्यंत्र के सूत्रधार थे शचींद्रनाथ सान्याल। इनका बंगाल के क्रांतिकारियों से निकट का संबंध था। ये दोनों दल आपस में एक-दूसरे को राजनीतिक हत्याओं और डाकों के लिए शस्त्र देते थे। इस षड्यंत्र में शामिल लोगों ने सरकारी अधिकारियों पर सशस्त्र हमले किए, खजाने लूटे, बम जैसी विस्फोटक सामग्री इकट्ठा की और कई जगह भयंकर डाके डाले।

निर्णय के परिच्छेद पढ़कर न्यायाधीश ने दंड सुनाए—राजेंद्रनाथ लाहिड़ी, रामप्रसाद और रोशनसिंह को फाँसी। शचींद्रनाथ सान्याल को आजीवन काला पानी, मन्मथनाथ गुप्त को चौदह वर्ष की, खत्री, खन्ना आदि लोगों को दस-दस वर्ष की तथा कुछ अन्य लोगों को सात और पाँच वर्ष का दंड दिया गया। दंड सुना देने के पश्चात् न्यायाधीश ने कहा, ''जिस मार्ग से आप लोगों ने स्वातंत्र्य प्राप्त करना चाहा वह मार्ग गलत था। आपका चुनाव गलत था, फिर भी आप अपने आपसे तथा अपने मार्ग से निष्ठावान थे। आप अपने सिद्धांत के अनुसार ईमानदारी से लड़ते रहे। मैं स्पष्ट रूप से बताना चाहता हूँ कि यह काम करते समय आप स्वार्थ से कोसों दूर थे। आप लोगों ने जो कुछ भी किया, अपने देश के लिए किया।''

फाँसी और काले पानी का दंड सुनानेवाले न्यायाधीश के मुँह से क्रांतिकारियों के लिए इस तरह के प्रशंसा भरे शब्द निकले। उन्हें सुनकर सभी श्रोताओं के दिल भर आए। उन देशवीरों पर निगरानी रखनेवाले पुलिस-सिपाहियों की मुद्रा भी वह भयंकर तथा क्रूर सजा सुनकर बदल गई। 'मतवाला' पत्र में लिखा है—''पुलिस भी उन स्वदेश पर जान न्योछावर करनेवाली वीरात्माओं की सेवा करना चाहती थी इसलिए पुलिस ने अपनी सामर्थ्य के अनुसार ठंडे पानी जैसी छोटी-छोटी सुविधाएँ

देकर उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट की।''

फाँसी, आजीवन कारावास तथा दस-दस साल के सश्रम कारावास की सजा का भी उन दंडित क्रांतिकारियों ने मुसकराकर स्वागत किया। दंड सुनकर भी हाथों में मुँह छिपाकर चिंता में डूबनेवाली बुद्धिमानी की झलक उनमें नहीं मिली। उनका षड्यंत्र खुल जाने से वे रोए नहीं। उनके कुछ साथी पुलिस के मुखबिर बने, पर इस विश्वासघात से भी वे धैर्यहीन नहीं हुए। वे दुनिया तथा हिंदुस्थान के भूतकालीन प्रयत्नों से जान गए थे कि जो भी क्रांति के पथ पर चलता है उसे जान हथेली पर लेनी पड़ती है, फिर अपने ही मन को समझाना पड़ता है कि 'ऐ मन, यह ध्यान रख कि इस पतित एवं दलित देश के तीस करोड़ लोगों में से उनतीस करोड़ विश्वासघातक निकलेंगे, तुम्हें गालियाँ देंगे, तुम्हारे शिरच्छेद का कारण बनेंगे फिर भी तुम्हें आगे बढ़ना है। दुनिया चाहे जो करे, तुम तो अपने देश के लिए मर मिटने को तैयार हो न? बस, तुम्हारे लायक क्रांति की सामग्री तुम्हारे पास आ गई। उनतीस करोड़ सरकारी मुखबिर हो जाएँगे यह मानकर चल! उस शेष एक करोड़ में से कोई-न-कोई तुम्हारे साथ रहेगा या फिर तुम्हारा अनुयायी ही बनेगा। ऐसा न भी हुआ तो भी क्या! तुम बढ़ते चलो, क्योंकि सिर पकड़कर बैठनेवाला नहीं, सिरफिरा ही अब हिंदुस्थान में भूचाल लाए तो लाए।'

इन विचारों से प्रेरित क्रांतिकारी, मानो न्यायाधीश द्वारा दिए गए भयावह दंड से उन्मत्त हो गए। श्री मालवीयजी का 'अभ्युदय' जैसा प्रमुख दैनिक पत्र कहता है—''अभियोग के निर्णयकाल का वह दृश्य सचमुच अपूर्व था। दंड सुनकर क्रांतिकारी जाने को हुए तब एक-दूसरे के गले लगे और आँखों से झरते आँसुओं से उन्होंने भावभीनी विदा ली। तब न्यायालय में उपस्थित लोगों की आँखें भी बरसने लगीं। सर्वश्री रामप्रसाद, राजेंद्रनाथ लाहिड़ी, रोशनसिंह को फाँसी की तथा श्री सान्याल को काले पानी की सजा हुई थी। अन्य सभी दंडित लोगों ने इन चारों के चरणों का भक्तिपूर्वक स्पर्श किया। इसके बाद रामप्रसाद के स्वर में स्वर मिलाकर उन्होंने 'वंदे मातरम्' की तुमुल गर्जना की और एक हृदयस्पर्शी गीत गाते हुए वे न्यायालय से चल पड़े।

''जिसके प्रेम में हम अपने प्राणों की बलि दे रहे हैं, उस भरतभूमि की हवा में अब हम साँस नहीं ले सकेंगे। फिर भी कोई बात नहीं। हे स्वदेश, तेरा भला हो! अब हम अपनी राह चले। हे मातृभूमि! तू खुश रहे यही हमारी मनोकामना है। अब हमें विदा दे।''

पाठको, यह गाना गाते फाँसी की ओर बढ़ते ये सारे सूरमा हिंदू हैं। उनके साधनों के बारे में चाहे हम सहमत न हों! फिर भी यह मानना पड़ेगा कि उनमें यह

तेज, यह धैर्य हिंदुओं की गीता पढ़कर ही उत्पन्न हुआ है। कम-से-कम इनके रहते कोई यह नहीं कह सकता कि हिंदू दुर्बल हैं, हिंदू कायर हैं।

मुसलमान बंधुओ, जिस समाज में ऐसे शूरवीर हिंदू जन्म लेते हैं, उस समाज को कायर समझ, गुंडागर्दी को बढ़ावा देने की भारी भूल आप कर रहे हैं। अभी भी उस भूल को सुधारो। स्वदेश के लिए बीस-बीस वर्षों से फाँसी की रस्सी को झूला समझ खेल रहे इन हिंदू क्रांतिकारियों को स्वधर्म के लिए तुम जैसे दो-चार हत्याएँ कर रहे हो, पाँच-दस मंदिरों को तोड़ रहे हो, पाँच-पचीस हिंदू अबलाओं को भगाकर ले जा रहे हो, वैसे 'पराक्रम' करना कठिन नहीं था। सोचने की बात है कि जिन्होंने चलती रेलगाड़ी को रोककर सरकारी खजाने लूटे और गवर्नर की दाढ़ी को नोचा-खसोटा, वे क्या मुसलमानों की चार-छह औरतों को भगाकर ले जाने तथा छिप-छिपकर एकाध मौलवी का सिर लाठी से पीटने का पराक्रम नहीं कर सकते थे? अभी तक उन्होंने ऐसा नहीं किया, वह उनमें शक्ति न होने के कारण नहीं बल्कि उनमें ऐसी नीच इच्छा नहीं थी। उन्हें बलात्कार से धर्म बढ़ाने या स्त्रियों पर नृशंस अत्याचार कर धर्मवीर बनने की शैतानी शिक्षा नहीं मिली। उन्हें आशा थी कि उनके देशबंधु मुसलमानों को आज नहीं तो कल होश जरूर आएगा, इसीलिए उन्होंने आज तक आप लोगों के भयानक अपराधों को अनदेखा किया। श्रद्धानंदजी की हत्या तक को उन्होंने भुला दिया। पर ध्यान रखिए, आप इस तरह हिंदुओं के क्षत्रिय तेज का अपमान नहीं कर सकते। अब तक हमने आपकी गुंडागर्दी सह ली। पर अब भी यदि आप नहीं सँभले तो धर्म रक्षा के लिए हिंदू भी आपसे दस गुना अधिक गुंडागर्दी करने से नहीं चूकेंगे यह दिख रहा है। इसलिए मुसलमानो, काकोरी के क्रांतिकारियों के नाम सुनकर तो सावधान हो जाओ और आपस का वैर-भाव बंद करो।

और अंग्रेजो, आप भी इस दृश्य को गंभीरता से देखो। हम अपने नेताओं से विनती करते हैं कि अब जब रॉयल कमीशन यहाँ आएगा तब उसके सामने इन सिरफिरे क्रांतिकारियों का इतिहास निडरता से पढ़ें। आज तक के बीस-पचीस वर्षों में सरकार ने इन क्रांतिकारियों पर तरह-तरह के हथकंडे आजमाए हैं। साधारण कैद, सश्रम कारावास, काला पानी, फाँसी, मारपीट, शारीरिक यंत्रणा, मानसिक यातना, विशिष्ट सजा, सैनिकी सजा, बंदूक, बैनेट, हवाई जहाज से फेंके जानेवाले बम, कत्लेआम। इन मुट्ठी भर लोगों का संप्रदाय सुरंगों, तहखानों में जोरों से बढ़ रहा है। यह काकोरी कांड के क्रांतिकारियों की उदात्त उग्रता का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहो। और यह कहो कि इन अनश्वर क्रांतिकारियों को समाप्त करने का मार्ग है। और आश्चर्य की बात यह कि वह बहुत सरल है कि हिंदुस्थान को जो

स्वतंत्रता कभी-न-कभी देनी ही है वह हमारे-आपके लाखों लोगों का रक्त बहने के पहले ही खुशी-खुशी देकर इस पूरे प्रकरण की समाप्ति आनंद से करो। अब भी ब्रिटेन खुले मन से हिंदुस्थान की वैधानिक प्रगति के लिए परिणामकारी संविधान लागू करे तो यह देर से लागू होनेवाली कार्य पद्धति को स्वीकार करना क्रांतिकारी राजनीतिक दृष्टि से अपना कर्तव्य समझेंगे। इतना ही नहीं, संविधान देने के पश्चात् अगर ब्रिटेन का भारत के प्रति रवैया निष्कपट और समानता पर आधारित रहा तो भारतीय भी इंग्लैंड के प्रति वही रवैया रखेंगे और देशों में मैत्रीपूर्ण संबंध रहेंगे, जो दोनों देशों के हित में होगा।



वीरमाता क्षीरोदवासिनी

स्वतंत्रता की कोख से जन्म स्वतंत्रों का।
गुलामगिरी के घूरे में गुलाम ही जनमा॥

—सिंहगढ़ का पोवाड़ा

हमने कुछ समय पहले 'श्रद्धानंद' पत्र में 'काकोरी के क्रांतिकारी' लेख में श्री शचींद्रनाथ सान्याल का उल्लेख किया था। उसके साथ उनका छायाचित्र भी दिया गया था। काकोरी के क्रांतिकारी कांड में उस प्रखर वीरात्मा देशभक्त को आजीवन काले पानी का भयानक दंड दिया गया है। उन्हीं शचींद्रनाथ सान्याल की वृद्धमाता का नाम था श्रीमती क्षीरोदवासिनी।

वह वृद्ध वीरमाता, जिसके पुत्र देश के स्वातंत्र्य के लिए कारागार में काले पानी के भयंकर दंड की बेड़ियों में जकड़े बंद हैं, उनका स्मरण कर घर में बैठी विह्वल हो जाती। वही वीरमाता अपनी समाप्त होती साँस तक पुत्रों को स्वदेश-सेवा के भीषण दिव्य कार्य में यश मिले, यह आशीर्वाद देती हुई सन् १९२८ के अप्रैल मास में स्वर्ग सिधारी।

क्षीरोदवासिनी के चार बेटे थे। बड़ा बेटा सयाना होते-होते उसके पति गुजर गए और क्षीरोदवासिनी देवी पर अपने छोटे-छोटे बच्चों के लालन-पालन की जिम्मेदारी आ गई। यह परिवार मूलतः बंगाली था, पर कई सालों से काशी में बस गया था। पति के निधन के बाद अपने चारों पुत्रों को ममता के आँचल में छिपा, यह दुःखी माँ इस आस से कालयापन करने लगी कि जल्दी ही उसका बड़ा बेटा घर की जिम्मेदारी सँभालेगा और वह पारिवारिक सुख का आनंद लेते हुए अपने बुढ़ापे के दिन शांति से गुजारेगी।

पर जैसे-जैसे उसका बड़ा बेटा होश सँभालने लगा, उसे दूसरी ही एक माँ की मूर्ति अपनी ओर आकर्षित करने लगी। वह उसे अपनी माँ की माँ कहने लगा और अपनी सगी माँ को बिसराने लगा। अपनी माँ के कंधे का बोझ दूर करना छोड़

वह अपनी परम माँ की गृहस्थी को अपनी गृहस्थी मान उसके दुःख से दुःखी होने लगा। उसको मुक्त करने के लिए जूझने लगा। अपनी दुःखी माँ से मिलने के लिए उसके पास एक क्षण का भी समय नहीं था, क्योंकि वह अपनी परममाता की दिव्य मूर्ति के सामने, 'हे भारतमाता, हे जननी, हे जन्मभूमि!' का जाप करते हुए रात-दिन पड़ा रहता। माँ को माँ कहना जैसे उसने छोड़ ही दिया। अब वह भारतमाता को ही 'हे जनकजननी जननी' करके पुकारने लगा।

वे दिन थे सन् १९०५ से १९११ के बीच के, क्रांति की आग के फैलने के। क्रांतिकारियों के व्रत की उग्रता से युवा मन आकर्षित हो रहे थे। एक बार उस दिव्य लक्ष्य और उन उग्र साधनों की सुरा पी नहीं कि क्रांति के उन दीवानों की आँखों से माँ-बाप, पत्नी-बच्चे, घरबार सबके चित्र मिट जाते। उनकी आँखों में सिर्फ एक ही दृश्य रहता—जनकजननी जननी भारतमाता दास्य की शृंखलाओं में जकड़ी हुई है और अपने तीस करोड़ पुत्र-पुत्रियों से पुकार-पुकारकर कह रही है, "क्या मेरा कोई लाल, मेरे विमोचन के लिए जलते इस महान् अग्निकुंड में पहले कूदकर अपनी बलि देगा? इस मनोवृत्ति से परिपूर्ण हुआ युवा, सयानेपन के या मूर्खपन के सारे उपदेशों की सीमा पार कर चुका होता। उसे प्रकृति विकृति जैसी और विकृति प्रकृति जैसी लगती। घर की गृहस्थी उजाड़, वह बाहर की गृहस्थी बसाना चाहता। जीवन मरण लगता और मृत्यु में आनंद आता। काशी यात्रा से उसे फाँसी यात्रा अधिक पुण्यप्रद लगती। सारे जीवित सयानों का उपदेश उसके कान तक न पहुँचता और मृत आत्माओं का स्वरहीन वचन उसे पूरा-पूरा सुनाई देता।

किशोर शचींद्रनाथ सान्याल जनकजननी जननी की पुकार अनसुनी न कर सका। वह उसी अग्निपंथ का अनुयायी बन गया। काशी में उसने क्रांति की शपथ ली, "जान लेंगे, जान देंगे।" क्रांतिकारियों के दल में घुसकर उसने बम बनाने की विद्या सीख ली। वह हथियार जुटाने लगा। महायुद्ध के दिनों में जान हथेली पर लेकर वह पूरे हिंदुस्थान में विद्रोह करने क्रांति की भयंकर योजनाओं में भाग लेने लगा। अलग-अलग रूप लेकर वह सैनिकों के शिवर में घुस जाता। तरह-तरह की बातें कर वह उन सैनिकों को विद्रोह के लिए प्रेरित करता। उसके घर पर पुलिस का पहरा लगा। क्रांतिकारियों ने दिल्ली के गवर्नर जनरल पर बम फेंक, सत्ता के मदांध हाथी पर चढ़े वायसराय को घायल करने का अमानुषिक कृत्य करनेवाले क्रांतिकारियों के भीषण साहस को फाँसी पर चढ़ाकर दबाने के अति भीषण दंड से भी सान्याल का मन चंचल नहीं हुआ, उलटे अधिक रणोन्मत्त ही हुआ। लाहौर, फिरोजपुर, कामागाटामारू, बालसोड आदि कई स्थानों में क्रांतिकारियों और अंग्रेजों में हुई भयंकर मुठभेड़ों में सैकड़ों तरुण क्रांतिकारी मारे गए, कई फाँसी पर लटकाए गए

सैकड़ों को अंदमान के काले पानी में गिनगिनकर ठूँसा गया फिर भी सान्याल इन सब बातों से लेश भी नहीं डरा। न उसे जीवित सयानों द्वारा निंदित वह मार्ग अवांछित लगा। यह उसके स्वभाव के अनुरूप ही था। यह वह समय था जब गांधी जैसे सयाने लोग राजनिष्ठा की शपथ लेकर महायुद्ध में अंग्रेजों की सहायता करने के लिए जर्मनी द्वारा मारे जाने के लिए अंग्रेजी सेना में भारतीय सिपाहियों की भरती कर 'स्वराज्य के सीधे रास्ते पर' तेजी से आगे बढ़ रहे थे। इसी समय सैकड़ों क्रांतिकारी युवकों के साथ युवक सान्याल अंग्रेजी सेना में भरती हुआ। भारतीय सैनिकों को विद्रोह का पाठ पढ़ाते हुए स्वराज्य के टेढ़े और रक्त भरे मार्ग पर दौड़ता वह युवक आगे बढ़ रहा था।

पर वह विद्रोह असफल रहा। अंग्रेजी राज्य का तख्ता पलटने के लिए क्रांतिकारियों ने जो भी छोटे-बड़े षड्यंत्र रचे, उन्हें लाहौर के कोर्ट में उजागर किया गया। भारतीय स्वाधीनता के लिए शस्त्र धारण कर, रणांगन में उतरने के अपराध में सैकड़ों को फाँसी दी गई। जहाजों में भर-भरकर काले पानी पर भेजा गया। उसी उथल-पुथल में काशी षड्यंत्र प्रकरण में शचींद्रनाथ सान्याल को भी काले पानी भेजा गया। उनके कारण उनके भाई भी षड्यंत्र में सम्मिलित थे। उन्हें भी कारावास मिला। सान्याल के घर की कुर्की हुई। पुलिस उनके संबंधियों के पीछे हाथ धोकर पड़ गई। उस ध्वस्त परिवार में उनकी वृद्धा माता श्रीमती क्षीरोदवासिनी देवी अकेली बचीं।

शोकविह्वल हो गई होगी न वह माता? जी! सचमुच वह शोकसंतप्त थी। उस माता ने सोचा था कि उसका ज्येष्ठ पुत्र बड़ा होकर उसकी गृहस्थी सँभालेगा और वैधव्य के कारण झुलसे यही मेरे बेटे संतति, संपत्ति से युक्त होकर मेरी सेवा कर ऋणमुक्त होंगे और अपने आपको सुखी करेंगे। पर उन्होंने अपनी माँ की आशा पर पानी फेर दिया। उसके बड़े बेटे ने माँ के ऋण से उऋण होने की बात तक न सोची। वह वहाँ काले पानी जाकर कोल्हू का बैल बन गया और यहाँ उसका घरबार उजड़ गया। उसने अपने छोटे भाइयों को भी वही देश की स्वाधीनता के लिए पागल बनने का सबक सिखाया। उनका भी नाश किया। इतना ही नहीं, इन सबके साथ उसने अपनी माँ को भी यह पागलपन का रोग लगा दिया।

…और पगली को अपना उजड़ा हुआ घर भी बसा हुआ लगने लगा। वह काले पानी की सजा भुगतते अपने बड़े बेटे को पत्र लिखती। उनमें उसने एक बार भी नहीं लिखा कि देशप्रेम के दीवाने उसके बेटों ने उसकी गृहस्थी उजाड़ दी। काले पानी की सजा भुगतते अपने बेटे को वह फिर से देख सकेगी यह आस उसने कब की छोड़ दी थी। पर संयोग की बात, बीस साल की उसकी सजा पाँच साल

में ही समाप्त हुई। सान्याल राजा से क्षमा और सजा में छूट पाकर अंदमान से अपने घर लौटे। उनके तीनों भाई भी कारागार और राजरोष से मुक्त हुए। वृद्ध और निराश क्षीरोदवासिनी देवी ने फिर से जी भरके अपने बेटों को निहारा। जन्म भर का संकट पाँच वर्षों में ही टल गया। पति के आकस्मिक निधन के बाद जिन बच्चों को उसने अपने प्राणों से अधिक चाहा था, बड़े प्यार से पाला था और जो क्रांति की आँधी में कहीं दूर उड़ गए थे, वे फिर से उसकी छाँह में आ गए। उसकी खुशी का ओर-छोर नहीं था। उसका घर फिर से भर गया।

क्षीरोदवासिनी का घर भर गया। पर उसके बेटों को और उनके साथ-साथ उसे भी वह घर अब अपना नहीं लग रहा था। बड़े संकट के टल जाने से खुश होकर वह कह सकती थी, 'अब देशप्रेम, स्वाधीनता की बातें छोड़ दो। अब चुपचाप नौकरी कर लो। देश भले ही संकट में रहे, तुम अपने आपको सँभालो। तुम कारागार में थे और मैं यहाँ अकेली। तब देशवासियों में से किसीने मुझे पूछा तक नहीं। ऐसे लोगों के लिए तुम क्यों मुसीबत मोल लेते हो?' क्षीरोदवासिनी की ऐसी बातें वंदनीय न भी हों, क्षम्य तो थी हीं। पर वैसा एक शब्द भी उसके होंठों पर न आया।

गरुड़ मैदान की मिट्टी पर रह ही नहीं सकता। सान्याल का मन भी घर में घबराने लगा। आँधी-तूफान से डटकर लड़ना ही गरुड़ों का मनचाहा खेल है। वीरों को भी खतरा मोल लेने का नशा होता है। देशवीर सान्याल और उसके तीनों भाइयों को भी फिर से क्रांति का भयंकर नशा चढ़ गया। उस जनकजननी जननी भारत माता की पुकार उनके हृदय में गूँजने लगी। वे उन्हींकी तरह जाज्वल्य और भयंकर क्रांतिकारियों के साथ शस्त्रास्त्र इकट्ठा करने, राजनीतिक स्वातंत्र्य के लिए अंग्रेजों से दो हाथ करने, सरकारी खजाने पर डाका डालने, रेलगाड़ियों को लूटने लगे। फिर एक बार संयुक्त प्रांत उनकी क्रीड़ास्थली बन गया। उनका इसी तरह का एक खेल काकोरी षड्यंत्र के नाम से ख्यात हुआ।

उसमें सान्याल को फिर से काले पानी का दंड हुआ। फिर से उनके भाइयों को भी सजा हुई। फिर एक बार पुलिस क्षीरोदवासिनी के बेटों को पकड़कर ले गई। इसके बाद डेढ़ वर्ष तक क्षीरोदवासिनी देवी को खाना-पीना, रहना-सोना आदि शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी अत्यधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। फिर भी उसने एक बार भी नहीं कहा, 'आग लगे ऐसे देश को' या 'नहीं चाहिए ऐसा स्वराज्य'। वह एक माँ थी। उसके चारों बेटे दस-बारह सालों के लिए पुलिस की कैद में बंद होते। फिर से बाहर निकलते। फिर से कैद हो जाते। बेटों के बिछोह से वह विह्वल हो जाती। पर उसने अपने बेटों को उनके लक्ष्य से

कभी विमुख नहीं किया। उलटे वह उन्हें जीतने का ही आशीर्वाद देती। क्यों न हो, वह केवल माता नहीं थी, वह वीरमाता थी। उसने स्वातंत्र्य के लिए अपने बेटों को भगवान् एवं स्वदेश पर न्योछावर कर दिया था। शचींद्रनाथ सान्याल को दूसरी बार काले पानी की सजा हुई थी। उसके अन्य बेटों को भी कारागार में डाल दिया गया था।...अब क्षीरोदवासिनी अपने बेटों के लिए जल बिन मछली की तरह छटपटाने लगी। आखिर सन् १९२८ में उसने दम तोड़ दिया। मरते समय वह अपने बड़े बेटे के हाथों गंगाजल भी न पा सकी।

बेटों के दु:ख में दु:खी माता ने अंतिम साँस ली। पर तब भी उसे खुशी थी कि उसकी कोख से ऐसे बेटों ने जन्म लिया है जो मातृभूमि के स्वातंत्र्य के लिए जूझ रहे हैं।

हिंदुस्थान के हिंदुओं में कुछ ऐसे देशवीर थे जिन्होंने स्वातंत्र्य यज्ञ में न केवल अपनी बलि दी प्रत्युत अपने पूरे वंश की ही आहुति दी। शचींद्रनाथ सान्याल का परिवार ऐसा ही वीर परिवार था।

उस वीर परिवार की वीर जननी थी क्षीरोदवासिनी! कन्याओ और गृहिणियो, गर्भवती महिलाओ और माताओ, इस वीरमाता का नाम तुम हर प्रातः स्मरण करो। अहिल्या, तारा, सीता, मंदोदरी आदि पंच-कन्याओं के स्मरण की तरह ही इन वीर कन्याओं का स्मरण आप सब और आपके देश के लिए कल्याणकारी होगा!

□

वीर युवक शशिमोहन डे

एकेनापि सुपुत्रेण सिंही स्वपिति निर्भयम्।

ऐसा सप्ताह नहीं जाता, ऐसा दिन भी नहीं गुजरता जब बंगाल में कहीं-न-कहीं कोई-न-कोई मुसलमान दरिंदा हिंदू कुमारी को या हिंदू कुमार को भगाकर नहीं ले जाता, उसपर राक्षसी अत्याचार नहीं करता। पर उन हिंदू कुमारियों को जिस समाज से भगा ले जाया जा रहा है वह हिंदू समाज हाथ-पर-हाथ धरे बैठा है। उसकी यही प्रतिक्रिया है कि 'अत्याचार बंगाल की हिंदू कुमारियों पर हो रहे हैं, महाराष्ट्र में तो नहीं। फिर मुझे क्या?'

बंगाल के किसी गाँव में इसी तरह रात-बेरात छापा मारकर पहले-पहल किसी हिंदू अबला को किसी नराधम ने भ्रष्ट किया। पड़ोसी गाँव में यह समाचार पहुँचने पर वहाँ का हर गाँववाला कहता था, "हादसा उस गाँव में हुआ है न? आग उस गाँव में लगी है न? फिर मैं क्यों चिंता करूँ?" होते-होते आग इस दूसरे गाँव में भी फैली। वहाँ भी हिंदुत्व जलकर राख हो गया। तब तीसरे गाँव ने यही कहा, "वे दो गाँव जलकर राख हो गए हैं। हो जाएँ मेरी बला से। मेरे बाल-बच्चे तो सुरक्षित हैं।"

तभी उस तीसरे गाँव में भी उस क्रूर, राक्षसी कट्टरता ने हाहाकार मचाया। धर्मांध नरपशुओं ने उस गाँव के बाल-बच्चों और स्त्रियों के भी मुँह में कपड़ा ठूँसकर वही हाल किया। फिर भी पड़ोसी हिंदुओं ने कहा, "अपने दरवाजे बंद कर लो। वह पड़ोसी हिंदू घर और उनके हिंदू धर्म से हमें क्या लेना-देना?"

इस तरह हिंदुओं के हमें क्या लेना-देना, इसके नपुंसक आचारसूत्र के कारण बंगाल में एक-एक, दो-दो मुसलमान हजारों हिंदुओं की बस्तियों में घुसते और वहाँ के हिंदुओं पर अकथनीय अत्याचार करते रहे। आगजनी, अत्याचार, बलात्कार···जहाँ भी हिंदू को देखा उसे पकड़ा और मुसलमान बनाया। ऐसा यह

हजार वर्ष चला। साठ साल पहले पचपन फीसदी हिंदू थे, अब वे तीस प्रतिशत और मुसलमान बढ़कर अब सत्तर प्रतिशत हो गए। इसका प्रमुख कारण यह है कि मुसलमान खुलेआम निचली जातियों की सैकड़ों-हजारों हिंदू स्त्रियों को भ्रष्ट करते गए, धर्मांतरित करते गए। फिर भी उच्चवर्गीय हिंदू यही सोचते रहे कि इस तरह की गुंडागर्दी की ओर ध्यान देने से उनकी सभ्यता पर आँच आएगी। पर निष्ठुर समय ने उनकी 'हमें उनसे क्या लेना-देना' जैसी उदासीनता का जवाब बड़ी ही क्रूरता से दिया। इन निर्लज्ज सभ्य गृहस्थों ने स्वधर्म की निम्नवर्गीय स्त्रियों का अपमान खुली आँखों से जब देखा था तब उसका कोई विरोध नहीं किया था। अब इन उच्च वर्णीय सभ्य हिंदुओं की पत्नियों, बहनों पर भी यही काला संकट मँडराने लगा है। मुसलमानों द्वारा भ्रष्ट, असभ्य हिंदू स्त्रियों की कोख से उपजी मुसलमानों की संतति इतनी अधिक बढ़ गई है कि सभ्य हिंदुओं के लिए वह चिंता का विषय बन गई। बंगाल में जनमे एक हिंदू युवक ने इस चिंता का समाधान करने की ठान ली। इस वीर युवक का नाम है शशिमोहन डे। सिलहट निवासी शशि अभी अठारह वर्ष का भी नहीं है, पर हिंदू जाति जो अठारह सौ साल में नहीं सीख सकी वह इसने अठारह सालों में ही सीख लिया है। पिछले तीन सालों से आए दिन मुसलमान नराधम किसी-न-किसी हिंदू कुमारी पर, हिंदू अबला पर बलात्कार करता आ रहा है। पर निर्लज्ज कायर सभ्य जन यही बुदबुदा रहे थे, ''मुझे इससे क्या देना-देना ?'' इन 'अहिंसावादियों' को स्वराज्य प्राप्त करना था। मुसलमान इनकी माँ-बहनों को भगाकर ले जा रहे थे, लेकिन ये तो अत्यधिक महत्त्वपूर्ण काम में व्यस्त थे। अत: बिना चेहरे पर शिकन लाए ये कह रहे थे, ''हमें तो स्वराज्य प्राप्त करना है। बाकी चीजों से हमें क्या लेना-देना ?''

सिलहट जिले में एक मुसलमान जमींदार था—फैयाज अली। उसे हिंदू लड़कियों को भ्रष्ट करने का चस्का सा लग गया था। पागल कुत्ता जैसे लोगों को काटता फिरता है वैसा यह बहशी इर्दगिर्द के कई गाँवों के हिंदुओं को धर्मभ्रष्ट करता जा रहा था। इस गुंडे के डर से हिंदू कन्याओं का बाहर निकलना बंद हो गया। ज्यों-ज्यों वह राक्षस इस कुकर्म में कुशल होने लगा त्यों-त्यों धर्मांध मुसलमान उसे 'गाजी' कहकर उसका सम्मान करने लगे। कुछ राक्षसी वृत्ति के मुसलमान समझते हैं कि हिंदू कन्याओं पर बलात्कार कर उन्हें भ्रष्ट करना धर्मकृत्य है, वह मक्का यात्रा करने जैसा पुण्यकार्य है। इससे मुसलमानों की संख्या बढ़ जाती है। यह पाजी गाजी फैयाज अली चंदेरचंद्र, राधाचक्र आदि गाँवों से हिंदू कन्याओं को भगाकर ले जा रहा थ। उनपर बलात्कार कर उन्हें भ्रष्ट कर रहा था, तब प्राय: सभी हिंदू हमेशा की तरह 'मुझे क्या लेना-देना' का अकर्मण्य मंत्र बुदबुदाते रहते

थे। पर एक दिन एक हिंदू युवक सीना तानकर खड़ा हो गया। उसने इस गुंडे को टोक दिया। वह हिंदू युवक बंगाल ही नहीं, हिंदुस्थान भर की हिंदू स्त्रियों को अपनी धर्मभगिनी मानता था। किसी भी हिंदू स्त्री का अपमान उसे अपना अपमान प्रतीत होता। उसने 'मुझे इनसे क्या लेना-देना' कहकर इन अभागिनियों की तरफ पीठ नहीं फेरी। इसने उस दुष्ट दुराचारी को मुँहतोड़ जवाब दिया, क्योंकि उसके मन ने कहा, 'किसी भी हिंदू स्त्री का अपमान मेरी बहन का ही अपमान है। उससे मैं तिलमिलाता हूँ। किसी भी हिंदू परिवार में संतान पैदा होने से मेरा परिवार बढ़ जाता है। मेरे लिए वह खुशी की बात होती है। और कहीं भी हिंदू पुरुष या स्त्री का हिंदुत्व भंग होता है तो वह मेरे लिए अशुभ घटना है, क्योंकि इससे मेरे भाई-बहन मुझसे बिछुड़ते हैं। जहाँ कहीं भी हिंदुओं को सताया जाता है, वहाँ एक तरह से मुझे ही सताया जाता है। मुझे उससे दुःख पहुँचता है। मैं इसका प्रतिशोध अवश्य लूँगा।'

ऐसे ही कुछ विचारों में खोया वह अठारह वर्षीय वीर युवक अपनी राह जा रहा था। तभी उसने एक सामान्य हिंदू घर से कोलाहल सुना। उसने मुड़कर देखा और सुना कि कोई दीन अबला करुण स्वर में रो रही है और कोई नरपिशाच कह-कहे लगा रहा है। विकृत आवाज में उसे डरा-धमका रहा है। उसने पास जाकर उस घर में झाँका। देखा कि इर्दगिर्द के कुलीन हिंदुओं को भ्रष्ट करनेवाला वह राक्षस एक विवाहित हिंदू कुलवधू को जबरदस्ती घसीट रहा है। उसे मार-मारकर उसपर बलात्कार करना चाहता है। देखकर शशिमोहन का खून खौल उठा। वैसे शशिमोहन को उस घर से कोई सरोकार नहीं था। वह लड़की न तो शशिमोहन की बहन थी, न भावज या भतीजी। पर वह एक हिंदू की बेटी थी और हिंदू होने के नाते वह घर शशिमोहन का था। वह लड़की उसके लिए अपनी भावज या भतीजी से कम न थी। वह दीन अबला हिंदू थी और उसका सतीत्व और हिंदुत्व वह अहिंदू नराधम बलात् नष्ट करना चाहता था। वह नराधम एक मुसलमान था। शशिमोहन बिजली की गति से उस घर में घुसा। उसे देखते ही वह हिंदू कन्या सहायता के लिए कलप उठी जैसे बाघ से बचने के लिए गाय रँभाई हो। फैयाज अली गुस्से से गुर्राया। शशिमोहन पर टूट पड़ा। यह सोचकर कि यह भी 'मुझे क्या लेना-देना' संप्रदाय का हिंदू है, फैयाज अली चीखा, ''तुम क्यों बीच में पड़ते हो? तुम्हें इससे क्या लेना-देना?'' इसके जवाब में शशिमोहन कुछ भी नहीं बोला। उसने जवाब दिया अपनी कृति से। मानो कह रहा हो, 'जो एक भाई का बहन से या एक हिंदू का दूसरे हिंदू से लेना-देना होता है वही मेरा इससे लेना-देना है। नराधम, छोड़ दे इसे!' पर फैयाज ने उस

लड़की को न छोड़ा। तब बिजली गिरी उस उन्मत्त फैयाज अली पर शशिमोहन का रूप लेकर। क्षणार्ध में शस्त्र निकालकर उसने फैयाज के टुकड़े-टुकड़े कर दिए। उस मुसलमान गुंडे को शशिमोहन ने उसी स्थान पर मार डाला।

शशिमोहन ने तब यह न सोचा कि किसी एक स्त्री के लिए मैं अपना उभरता यौवन क्यों न्योछावर करूँ। इससे मुझे फाँसी हो जाएगी। मेरी माँ रोएगी। युवा जिंदगी मेरे सामने गृहस्थी सुख का भोजन लेकर खड़ी है। उसे मैं क्यों ठुकराऊँ? इस तरह का नपुंसक सयानापन उसके मन को छुआ तक नहीं। उसने देखा कि एक हिंदू कन्या को एक मुसलमान बलात्कार से भ्रष्ट करना चाहता है और बिना आगे-पीछे देखे उसने उसे उसी तरह काट डाला जैसे देवताओं ने राहु-केतु को काटा था। उस कन्या ने ग्रहणमुक्त चंद्रकला की तरह म्लान स्मित कर उस युवक को धन्यवाद दिया।

सठतंत्र के मूलमंत्र 'मुझे क्या लेना-देना' का एक हिंदू द्वारा इस तरह रौंदा जाना एक महान् आश्चर्य था। इससे आसपास के मुसलमान बुरी तरह डर गए। मुसलमानी गुंडागर्दी पाँवों में पूँछ डाले, घरों में छिपने लगी। पर इस घटना के कारण एक और आश्चर्यजनक घटना घटी। पुलिस ने शशिमोहन को पकड़ कारागार में बंद किया। सब लोगों को लगा कि शशिमोहन को फाँसी हो जाएगी। आखिर नागरिकों के जान-मान तथा धर्म-कर्म की रक्षा करना पुलिस एवं सरकार की ही जिम्मेदारी है। प्राय: वे जिस जिम्मेदारी को निभा नहीं सकते उसे कोई दूसरा निभाए यह उनसे बरदाश्त नहीं होता। इससे उनकी अकर्मण्यता का पर्दाफाश होता है। और फिर एक हिंदू शस्त्र उठाकर किसी दूसरे हिंदू की रक्षा के लिए दौड़े, यह तो उनसे बिलकुल ही सहा नहीं जाता, क्योंकि अगर सभी में यह वीरवृत्ति बलवती हो जाए तो उन्हें ही हिंदुस्थान से कूच न करना पड़े! यह निश्चित था कि सत्ता के नियमों के अनुसार उस हिंदू युवक को कड़ी सजा होगी। पहले न्यायालय में वह हुई भी। मृत्युदंड से जरा भी न डरते हुए शशिमोहन ने सीना ठोंककर कहा, "अपनी धर्मभगिनी को राक्षसी बलात्कार से छुड़ाना मुझ जैसे हिंदू का कर्तव्य था। अन्य सभी साधनों एवं रास्तों के असफल होने पर, शस्त्र उठाकर उस दुष्ट को मारना मेरा धार्मिक अधिकार था। इतना ही नहीं, यह मेरा कानूनी अधिकार भी था।" शशिमोहन के इसी विधान के आधार पर हाईकोर्ट में अपील की गई और आश्चर्य की बात यह है कि हिंदुओं की मानहानि एवं मुसलमानों की लल्लो-चप्पो करनेवाले इन दिनों में भी शशिमोहन को हाईकोर्ट ने निर्दोष मानकर छोड़ दिया।

इतना ही नहीं, हाईकोर्ट ने शशिमोहन का, दुष्ट दुराचारी को मारकर उसके

बलात्कार से उस अबला का रक्षण करने के लिए अभिनंदन भी किया। जबकि अन्य सभी पुरुष उस अत्याचारी का सामना करने से डर रहे थे और पुलिस की सहायता की कोई गुंजाइश न थी, तब शशिमोहन ने साहस और फुरती से काम लेकर उस अबला की जान और इज्जत की रक्षा की। हाईकोर्ट ने इसे कानूनन सही बताया, क्योंकि भारतीय दंड विधान की धारा ९६ से १०० तक के अधीन यह स्पष्ट रूप से बताया गया है कि प्रत्येक नागरिक को अपने या अन्य किसी नागरिक के कानूनी अधिकारों का तथा शरीर रक्षण करने का पूरा अधिकार है। इसके भी अपवाद हैं और उन्हें नागरिक को सतर्कतापूर्वक टालना चाहिए। इस तरह अपना या अन्य किसीका संरक्षण करना हमारा नैतिक कर्तव्य तो है ही। शशिमोहन को उस अबला के शरीर पर होनेवाले दुष्ट और अधम बलात्कार से रक्षा करने का अधिकार था। उसने उस कानूनी और धार्मिक अधिकार का उपयोग करना चाहा। इससे चिढ़कर फैयाज अली उसपर टूट पड़ा। फिर तो शशिमोहन के प्राण भी संकट में पड़ गए। इससे शशिमोहन को स्वसंरक्षण का दूसरा अधिकार भी प्राप्त हुआ। कानून की सीमा में रहकर उसने फैयाज का सामना किया और उसका जो भी परिणाम सामने आया, उसे इस स्थिति की अनिवार्य आवश्यकता समझ हाईकोर्ट ने शशिमोहन को सम्मान के साथ छोड़ दिया।

वस्तुतः शशिमोहन ने यह सब कायदे-कानून का सूक्ष्म विचार करके नहीं किया था। उसने उसे कानून की आज्ञा या छूट समझकर नहीं किया था। निसर्ग-प्रवृत्ति से प्रेरित होकर शशिमोहन ने उस दुष्ट का काम तमाम किया था। एक अनाथ हिंदू कन्या को एक अहिंदू, गाय की तरह घसीटते हुए, मारते हुए ले जा रहा है यह देख उसका हिंदू खून उबल उठा। इसीसे वह वीर उस हिंदू बाला की रक्षा के लिए दौड़ पड़ा। उसने अपनी इसी अंत:प्रवृत्ति को प्रमाण माना। उसे फाँसी होती तो भी वह यही कहता कि उसने एक बहुत अच्छा काम किया है। हाईकोर्ट ने ऐसी सत्प्रवृत्ति का समर्थन किया तथा इस नैतिक कर्तव्य को वैधानिक अधिकार का समर्थन भी दिया। इस संबंध में कलकत्ता हाईकोर्ट भी अभिनंदन का भागी है। एक सत्शील युवक के प्राण बचाकर हाईकोर्ट ने हम हिंदुओं पर भारी उपकार किए हैं। हे वीर शशिमोहन, हर हिंदू तुम्हारे दीर्घायुष्य की कामना कर रहा है। भगवान् करे कि तुम जैसे कई वीर युवक हमारी भाग्यहीन हिंदू जाति में पैदा हों। तुम्हारा पूरा जीवन इसी तरह की वीरगाथाओं से भरा-पूरा हो। एक नागरिक के नाते कानूनी कर्तव्य निभाने का धैर्य, साहस और उदारता हर हिंदू युवक के हृदय में जागे। हमारे हिंदू समाज में इसी तरह सताए हुए हिंदू की पुकार सुन दौड़ पड़नेवाले हिंदू वीर पैदा हों। हमारे पुराने कायरमंत्र 'मुझे क्या लेना-देना' का नामोनिशान मिट जाए।

जहाँ-जहाँ हिंदू सभाएँ होंगी वहाँ-वहाँ वीर शशिमोहन पर सार्वजनिक अभिनंदन के तारों की और प्रेममय आशीषों की वर्षा हो। क्योंकि हिंदू अबलाओं की पवित्रता को कलुषित करनेवाली मुसलमानी गुंडागर्दी के सिर पर शशिमोहन ने पहला जोरदार आघात किया है। अब वह गुंडागर्दी, पहले जैसा पाशविक, नंगा नाच करने की हिम्मत सहजता से नहीं जुटा पाएगी।

□

आंध्रप्रांतीय भारतवीर श्रीराम राजू

बुरे दिनों में सद्‌गुणों की भी निंदा की जाती है। स्वातंत्र्य काल के गुण पराधीन काल में अपराध का रूप ले लेते हैं। अंधे कुएँ में फँसे हम कूपमंडूकों को इन स्वातंत्र्य वीरों के कृत्य प्रतिकूल रूप में दिखाई दें यह स्वाभाविक नहीं अपरिहार्य है। फिर भी विद्यमान परिस्थिति एवं न्यायचक्र के पहिए के नीचे दबा हमारा मन, कभी-कभी उससे बाहर निकल आता है और निरपेक्ष वस्तु-मूल्य दिखानेवाले गुणज्ञता के पवित्र वातावरण में कुछ काल ही सही वह संचार करने लगता है। मन को कौन और कैसे सजा दे सकता है? हम स्वयं भी अपने मन पर नियंत्रण नहीं कर सकते। यह बरबस हमारे काबू से बाहर होकर हमें मुँह चिढ़ाता है और पवित्रता के ऊँचे आसमान में उड़ने लगता है।

हमारी भी यही स्थिति हुई जब हमने कहीं पर श्रीराम राजू के बारे में पढ़ा। मन कल्पना के पंख लगाकर उड़ने लगा।

हमने अपने मन से कहा, 'अरे मूर्ख! श्रीराम राजू तो बागी है। प्रचलित राजसत्ता के कानून उसे अपराधी मानते हैं। अहिंसाकाल के इस युग में वह अपराधी माना जाएगा। आज के महात्मा उसे गुमराह वीर कहेंगे। और अगर वह पकड़ा गया तो राजसत्ता के न्यायाधीश उसे प्राणदंड की सजा देंगे। ऐसे अपराधी, अत्याचारी, पागल, दंडनीय श्रीराम राजू को तू सराहना चाहता है?'

वह अपराधी नहीं है

पर क्षण भर मुक्त उड़ान करने को उद्यत मन मुँह चिढ़ाकर कहने लगा, 'पगले, जितना और जैसा बागी श्रीराम राजू है, उतना ही और वैसा ही बागी जॉर्ज वाशिंगटन भी है, जिसने अमेरिका को इंग्लैंड के लौह शिकंजे से छुड़ाया या फिर डी. वलेरा है, जो आयरलैंड को इंग्लैंड के पंजे से छुड़ाना चाहता है। इंग्लैंड के राजा को फाँसी देने की इच्छा करनेवाला क्रॉमवेल भी वैसा ही सिरफिरा बागी है।

उनके स्तुति-स्तोत्र तो तू गाता है, उन्हें स्वतंत्रता सेनानी कहता है और तुझे बगावत दीखती है तो सिर्फ श्रीराम राजू में? पारतंत्र्य-सुलभ दासवृत्ति के कारण क्या कानून के भय से तू उसे बागी ठहराएगा? चाहे उसकी श्रेष्ठता को तू मान्य न कर, पर इस तरह की कायरतापूर्ण बात तो न कर। तू अपनी कायरता को छिपाने के लिए उसे बागी कह रहा है। पर वह न तो बागी है, न ही जागतिक गुणग्राहकता की कसौटी पर अपराधी है।

'अगर तू उसे अत्याचारी कहेगा तो तू स्वयं भी अत्याचारी साबित होगा। रावण, कंस, कौरव, मुगल, मुसलमान आदि लुटेरे जब दूसरों को मार डालते हैं या मार डालने को उद्यत होते हैं तो उन्हें अत्याचारी कहते हैं, पर लोककल्याण की इच्छा से प्रेरित होकर और अपरिहार्य एवं अनिवार्य साधन समझ श्रीराम, श्रीकृष्ण, छत्रपति शिवाजी जैसे लोग जब इन हिंसक और अत्याचारियों को प्राणदंड देते हैं तब उन लोककल्याणकारियों को अत्याचारी कहना, उस शब्द का अर्थ न समझने की मूर्खता है। यह अहिंसापुराण एवं अत्याचारशास्त्र तू अपनी सड़ी-गली मूर्खता में ही बंद करके रख। न्यायपीठ पर बैठे न्यायाधीश भी ऐसे लोगों को प्राणदंड की सजा देते हैं, क्या इसीसे तू उन्हें अन्यायी और अपराधी मानेगा? अगर जॉर्ज वाशिंगटन और डी. वलेरा को अपने अंगीकृत कार्य में यश न मिलता तो वे भी अपराधी माने जाते। इसलिए श्रीराम राजू को अपने काम में अधिक यश नहीं मिला, इसीसे उसे अपराधी मानना सत्यशोधक न्यायाधीश की सोच नहीं है। वह तो तुम्हारी कायरता, पौरुषहीनता एवं धूर्तता की निशानी है।'

मुझे इस तरह लतियाता और लज्जित करता मेरा मन ऊँचा उड़ गया। अपने मन एवं विचारों में रची-बसी श्रीराम राजू की कहानी मैं पाठकों के सामने प्रस्तुत कर रहा हूँ। उनके उदाहरण को दोहराया जाए या नहीं यह प्रश्न यहाँ अप्रस्तुत है। यहाँ सिर्फ उनके चरित्र का वर्णन है। अतः उसके अनुकरण का प्रश्न ही यहाँ नहीं उठता।

प्राचीन परंपरा

भारत के सभी प्रांतों में ऐसे वीर पुत्रों ने जन्म लेकर भारत माता का गौरव बढ़ाया है। इन्होंने संकटग्रस्त एवं अभागी हिंदू जाति की तन-मन-धन से सेवा की है। इसीलिए निराशा से निस्तेज नेत्रों में आशा की किरण फूटती है। और उस आलोक में इस जाति के कल्याणमय भविष्य का मार्ग दिखाई देता है। आज हम ऐसे ही एक वीर पुरुष की कहानी कह रहे हैं जो अभी भी मृत्यु के रास्ते जाकर स्मृतिसृष्टि के परदे के पीछे नहीं गया है। प्रभु रामचंद्र ने रावणी अत्याचार को रुधिर

की महानदी में डुबो दिया। पांडवों ने कौरवी अत्याचार को मृत्यु के कराल मुख में फेंक दिया। निराशा के दावानल में झुलसते हुए भी महाराणा प्रताप ने इसलामी सत्ता के सिंहासन से सिंह पराक्रम से एक-दो नहीं लगातार इक्कीस वर्ष टक्कर ली। मरते समय भी वह नतमस्तक न हुए। हिंदू जाति के गौरव का यशोध्वज, उसने स्वातंत्र्याकांक्षा के आकाश में ऊँचा उठाया। श्री शिवछत्रपति ने मुगली रावणसत्ता को धूल में मिलाकर हिंदू पदपादशाही का विजयप्रासाद बनाया। श्री संभाजी राजा ने अपने तेजस्वी, स्वतंत्र और पौरुष-संपन्न रक्त से उस हिंदू प्रासाद का उदित नारायण लाल सुर्ख चमकता तेज चढ़ाया। इक्कीस वर्षीय छत्रपति राजाराम ने युद्धयज्ञ में प्राण अर्पित कर उस स्वातंत्र्य प्रासाद को अमर बनाया। इसके बाद बाजीराव, नाना साहब, भाऊ साहब माधव राव, फड़नवीस, शिंदे आदि सभी महाराष्ट्र-वीरों ने उस स्वराज्य को साम्राज्य पद का गौरव दिलाया। दुर्भाग्य से यह मंदिर गिरने को हुआ तब उसे फिर से खड़ा करने के लिए नाना साहब, लक्ष्मीबाई, तात्या टोपे, वासुदेव बलवंत आदि वीर नर-नारी लड़ते-झगड़ते स्वातंत्र्य समर में आत्माहुति देते रहे। आंध्रप्रांतीय भारतवीर श्रीराम राजू भी इन्हीं वीरों की मालिका का चमकता एक पूर्ण भक्त मणि है।

बचपन एवं शिक्षा

इस भारत-भक्त का जन्म आंध्र प्रांत के भगलू गाँव में एक सम्मान्य क्षत्रिय परिवार में हुआ था। यह गाँव पश्चिम गोदावरी जिले में है। जिन वीर पुरुषों ने विश्व में बड़ी-बड़ी क्रांतियाँ कीं, महान् साम्राज्य स्थापित किए, अपने-अपने देशों को परतंत्रता के घोर नरक से उबारकर स्वतंत्रता के स्वर्ग का स्वामी बनाया, ऐसे बहुत से महापराक्रमी महान् पुरुषों की तरह ही यह अपना श्रीराम आधुनिक दृष्टि से विद्यालंकृत नहीं हुआ है। अलग-अलग गाँवों में शिक्षा लेते हुए श्रीराम ने किसी तरह पाँचवीं कक्षा तक विद्या प्राप्त की। वह गायन-कला में प्रवीण था तथा उसकी गणना होनहार कवियों में होती थी। लगभग इसी समय यह लगने लगा था कि वह भविष्य में कोई अनोखा काम करेगा। उसके अनोखे गुणों के अतिरेक को देखते हुए महात्मा गांधी ने उसे पागलपन की हद को छूनेवाला मूर्ख कहा था। बाद में एक जगह उन्होंने ही कहा कि—'I mistook them (the signs of greatness) for signs of stupidity bordering on madness.' मेरी उस समय की हुई परीक्षा गलत निकली। असामान्य कर्तृत्वज्ञान, महान् पुरुषों के बचपन में ही उनकी महत्ता का प्रतिबिंब उनकी हर कृति में, हर हरकत में झलकता है। श्रीराम अपनी शिक्षा की तरफ ध्यान केंद्रित नहीं कर पा रहा था। इसके लिए गांधीजी ने उसे खूब बुरा-भला

कहा। श्रीराम ने भी सच्ची शिक्षा क्या होती है और विद्यमान शिक्षा किस तरह निरुपयुक्त है, इसका गांधीजी को बहुत विवरण दिया, पर श्रीराम की शिक्षा गीता गांधीजी के पल्ले नहीं पड़ी। श्रीराम ने गांधीजी को बार-बार यह तपोवाणी सुनाई कि 'मैं संन्यास लेकर अपने देशबांधवों का उद्धार करूँगा।' बाद में गांधीजी ने कहा, "हाय! उस समय उन शब्दों की महत्ता मैं जान न सका।"

कुछ समय बाद हमारा श्रीराम पढ़ाई के लिए नरसापुर गया। वहाँ जाने पर उसे ज्योतिषशास्त्र, हस्तसामुद्रिक, अश्वारोहण आदि में रुचि पैदा हुई। उसके बचपन के बारे में हमें इससे अधिक जानकारी नहीं है।

संन्यासी श्रीराम

सन् १९१७ के आरंभ में श्रीराम ने संन्यास लिया। सन् १९१८ में वे आंध्रप्रांत के 'एजंसी' भाग के सांबारी पर्वत पर तपस्या करने लगे। तपस्या के बाद वे वहीं रहने लगे। वहाँ के स्थानीय लोग उनका बहुत आदर करने लगे। स्वाभाविक और स्वयंस्फूर्ति से वे श्रीराम को पूजने लगे। उनका आहार सिर्फ दूध और फल था। सन् १९२० में वे पैदल नासिक यात्रा पर गए।

राजू का लोगों पर प्रभाव

राजू को अनत्याचारी, असहयोग आंदोलन में विश्वास नहीं था। वे संन्यासी भले ही हुए हों, उनकी उक्ति और कृति क्षात्रवृत्ति से ही भरपूर थी। गांधीजी के कार्यक्रमों में उन्हें अच्छा लगा था तो सिर्फ ब्रिटिश न्यायालय एवं शराबखानों का बहिष्कार। उन्होंने गोदावरी तथा विजगापट्टन जिलों में शराबबंदी का आंदोलन चलाया। अपने निर्मल एवं उदात्त चरित्र तथा आकर्षक भक्तिभाव से जनसाधारण के मन को उन्होंने अपनी ओर खींच लिया था। उनका शब्द वहाँ के लोगों के लिए वेदवाक्य था। श्रीरामजी का प्रभावी वक्तृत्व जनता के दिल में उतर जाता। वे आज्ञापालन के लिए आतुर हो उठते। श्रीराम का आदेश था कि 'वे इंग्लिश न्यायालय में पाँव न रखें तथा शराब की एक बूँद भी न चखें।' उनकी यह पुकार प्रदेश में आग की तरह फैली। पूरे एजंसी प्रदेश में एक भी व्यक्ति ऐसा न रहा जिसने श्रीराम का शब्द न सुना हो, न माना हो। श्रीराम के कारण उस प्रदेश के लोगों में एकता पनपी। नए विचार-क्रांति के युग का प्रादुर्भाव हुआ। लोगों ने शराब छोड़ दी। न्यायालय सूने पड़े। गाँव-गाँव में पंचायत सभाएँ स्थापित हुईं और सभी का न्याय वहीं होने लगा। श्रीराम को स्वदेशी से प्रेम था इसीलिए उन्होंने अपने सैनिकों को खादी के स्वदेशी गणवेष दिए थे। श्री रल्लापल्ली कसन्ना नामक एक आदमी पर यह

अभियोग चलाया गया था कि उसने श्रीराम के सैनिकों को खाकी खादी की पूर्ति की। देवालय को ही अपना निवास स्थान बना श्रीराम वहाँ तपानुष्ठान करते थे। उनके दर्शन के लिए दर्शनार्थियों की भीड़ लग जाती। श्रीरामजी के स्फूर्तिप्रद, प्रेरणादायक उपदेश सुनकर वे सारे मंत्रमुग्ध हो जाते। श्रीराम के आध्यात्मिक उपदेश में देशभक्ति का पुट होता था। लोग बड़ी आतुरता से उनके उपदेशामृत का पान करते। पच्चीस वर्ष की आयु का यह जाज्वल्य, देशभक्त संन्यासी अपनी ओजस्वी वाणी से अशिक्षित समझी जानेवाली कोया जाति की जनता पर अकल्पनीय प्रभाव डाल रहा था। हम 'सुशिक्षितों' की 'सुशिक्षा' ही हमें भावनाहीन नि:सत्व अत: कर्मशून्य बनाती है। पर ये अशिक्षित लोग प्राय: पौरुष-संपन्न और भावना बल से युक्त होते हैं। वहाँ देर होती है सिर्फ उनके अंत:करण को छूनेवाले मंत्र की। एक बार वे चेत गए कि कर्मशक्ति के तेज से जलने लगते हैं। फिर तो उन्हें छूने की हिम्मत करनेवाला अन्यायी हाथ जलकर राख हो जाता है। कोया लोगों के असंतोष से हिंदुस्थान के पाशविक सत्ताधारी हिल उठे। तुरंत घोषणा हुई, 'अरे, पकड़ो उस श्रीराम को।' उस राजद्रोही, साम्राज्यशत्रु को नष्ट कर डालो। सन् १९२२ में खबर फैली कि राजू 'बगावत' को बढ़ावा दे रहा है। 'असहयोग' कर रहा है। पूर्व गोदावरी जिले का पुलिस सुपरिंटेंडेंट दौड़ पड़ा राजू के निवास की तरफ। वहाँ जाकर उसने यही देखा कि श्रीराम तपश्चर्या में लीन है। श्रीराम को विजगापट्टन जिले के नृसिंहपट्टन में छह सप्ताह नजरबंद (Interned) रखा और बाद में रिहा किया गया। फिर भी पुलिस ने उसका पीछा नहीं छोड़ा। श्रीराम ने वहाँ के डिप्टी कलेक्टर फजलुल्ला को पुलिस यंत्रणा से पीछा छुड़ाने का विनती पत्र दिया। कहते हैं कि आगे कभी श्रीराम और फजलुल्ला मिले। फजलुल्ला ने मद्रास सरकार को पत्र भेजा कि वह श्रीराम को इकतीस बीघा जमीन और खेती की सहूलियतें देकर सहायता करे। डिप्टी कलेक्टर की बात मानकर मद्रास सरकार ने श्रीराम को खेती योग्य जमीन दे दी। इस तरह उस देशभक्त को खेतिहर बनाने की कोशिश की गई।

रीजंसी में असंतोष

पर श्रीराम के अंत:करण में होमकुंड भड़क उठा था, जिसमें हिंदुस्थान को ब्रिटिश सत्ता के हाथों से छुड़ाकर स्वतंत्र करने की प्रखर महत्त्वाकांक्षा अग्निशिक्षा बनकर जल रही थी। कुत्ते की तरह फेंकी गई हड्डी की तरह श्रीराम की तरफ तीस बीघा जमीन का टुकड़ा फेंका गया था। लेकिन क्या इसीसे पालतू बनकर यह महत्त्वाकांक्षी वीर युवक लांगूलचालन करने लगता? नहीं, यह तो संभव ही नहीं था। इस स्वाभिमानी स्वतंत्र पुरुष ने गीता पढ़ी थी, स्वधर्म क्या है, यह जान लिया

था। उस प्रदेश की स्थिति अनुकूल थी और उसने उसका उचित लाभ भी उठाया। भारतमाता के हित का उसने पूरा ध्यान रखा। उसने गुडेम तहसील को अपना कार्यक्षेत्र बनाया। अन्य स्थलों की तरह उस रीजंसी में जहाँ ब्रिटिश सरकार का आदेश नहीं चलता, वहाँ जबरदस्ती का कारोबार चलता है। उसी संथाल परगने में, जो वहाँ का चालू नाम था, वहाँ डायर की सत्ता थी। उस जंगली इलाके के संथाल आदि लोगों के सभी हक सरकार ने छीने थे। वे रसोई के लिए लकड़ियाँ भी नहीं काट सकते थे। पहले की तरह उन्हें गायों के लिए चारा इकट्ठा करने की सहूलियत न थी। इस तरह की अन्यायुक्त बातों के कारण रीजंसी में भयानक असंतोष था।

जनसंग्रह

इस तरह क्रांति का बीज बोने के लिए श्रीराम को उत्कृष्ट जमीन मिली थी। उन्होंने एकनिष्ठ अनुयायी और समर्थ कार्यकर्ता जुटाए। लोगों के मन में स्वराज्य की तीव्र आकांक्षा की ज्योति जलाई। श्रीराम राजू ने उनकी सामान्य आकांक्षाओं को महत्त्वाकांक्षा का ज्वलंत रूप दिया। वहाँ के लोगों के मन में श्रीराम राजू के प्रति गहरी निष्ठा थी। वे उनके नेतृत्व में स्वराज्य के लिए जान देने-लेने के लिए सहज ही तैयार हो गए।

स्वराज्य प्राप्ति का मार्ग

पुलिस के मन में श्रीराम का डर बैठ गया था। वह जहाँ भी जाता, पुलिस जान के भय से शस्त्रास्त्र, बंदूकें एवं बारूद छोड़कर भाग खड़ी होती थी। एक बार एक अहिंसक असहयोगी ने श्रीराम से पूछा था, ''तुम किस मार्ग से स्वराज्य प्राप्त करोगे?'' श्रीराम का उत्तर था, ''इस साम्राज्यशाही से बिना युद्ध के स्वराज्य मिलना असंभव है।'' तब उस अहिंसक स्वराज्य योद्धा ने आगे पूछा था, ''तो क्या यह संभव है?'' इनका उत्तर था, ''हाँ, हाँ! क्यों नहीं? मेरे पास आदमियों की कमी नहीं। कमी है तो सिर्फ शस्त्रास्त्र एवं बारूद की।''

छोटा सा कैसर

साम्राज्यशाही ने श्रीराम का नामाभिधान किया था, 'गुडाम का छोटा कैसर'। बीस साल का युवक, विशाल साम्राज्य के सत्तापक्ष को चुनौती दे रहा था। यह युवक पहले से ही घोषित करता कि 'मैं अमुक स्थान पर अमुक समय पर छापा मारूँगा।' फिर भी उस छापे में वहाँ के ब्रिटिश-सिंह की गरदन के बाल झुलस जाते। श्रीराम का सैन्य था कोया लोग, उसके शस्त्र थे धनुष-बाण, रणक्षेत्र था

पहाड़ी घाटियाँ और दर्रे, उसकी रसद थी देहात के स्वदेशप्रेमी, श्रद्धालु लोगों द्वारा प्रेम से दी गई सब्जी-रोटी। इस प्रकार की तैयारी से श्रीराम लड़ते थे आधुनिक शस्त्रास्त्रों से लैस साम्राज्यवादी विपक्ष से। यह लड़ाई विषम थी। फिर भी यह साहसी वीर अपने दैवी साहस एवं असीम प्रेमनिष्ठ अनुयायियों के बूते पर यह लड़ाई लड़ रहा था।

ब्रिटिश-सिंह से लड़ाई

अत्यंत कुशल सेनापति शत्रु के लिए हानिकारक तथा स्वपक्ष के लिए अनुकूल युद्धक्षेत्र का चुनाव करता है। स्वराज्य प्राप्ति के लिए उत्सुक श्रीराम ने भी यही किया। उसने ब्रिटिश-सिंह पर छह बार आक्रमण किया। हर हमले में ब्रिटिश सेना को छठी का दूध याद आया। उसने धूल चाटी। उस प्रांत का सेनाबल कम पड़ने से मालाबार से सैन्य दल मँगाना पड़ा और आसाम से भी चुनिंदा सेना मँगानी पड़ी। पेडवसल गाँव की लड़ाई में अंग्रेजी सेना के दो यूरोपियन अधिकारी मारे गए। अन्य बहुत से घायल हुए। अंतिम सातवीं और आठवीं लड़ाई में श्रीराम पर अचानक हमला हुआ। बड़ी वीरता से लड़ते-भिड़ते हुए उसने आक्रामकों से पिंड छुड़ाया। उसे रणक्षेत्र छोड़कर जाना पड़ा। इस शूर, साहसी, सैन्य-संचालन कुशल, राष्ट्रप्रेमी युवक संन्यासी को यह विषम लड़ाई बीच ही में छोड़ देनी पड़ी। निराशा के अंधकार में विलुप्त हो जाना पड़ा। पर स्वदेशप्रेम के लिए उसने जो दिव्य स्वार्थ-त्याग किया, उसे देखते हुए किसकी आँखें सजल न होंगी?

श्रीराम, तुम्हारे मन में मातृभूमि का उद्धार करने की छटपटाहट थी। उसके लिए तुमने सर्वस्व त्याग किया। अधिक-से-अधिक प्रयत्न किए। अपने दिव्य स्वार्थ-त्याग के दीप्तिमान उदाहरण से तुमने हम दुर्बलों को स्वतंत्रता प्राप्ति का मार्ग दिखाया। श्रीराम, भगवान् करे कि मृत्यु की गोद में सोने से पहले तुम अपनी आँखों से देख सको कि हम हिंदुओं ने मातृभूमि को स्वतंत्र किया है। स्वतंत्र हिंदुस्थान के भावी इतिहासकार तुम्हें न भूलें, इसीलिए हे देशवीर, मैं तुम्हारी यह पवित्र स्फूर्तिदायक जीवनी लिख रहा हूँ। हे वीर श्रीराम, तुम्हारा नाम चिरस्मरणीय हो, पीढ़ी-दर-पीढ़ी वंदनीय रहे!!

□

देशवीर विष्णु गणेश पिंगले

तलेगाँव की पाठशाला शताब्दी महोत्सव मना रही है। वह सौ साल की हो गई। आदमी का सौवाँ साल उसकी मृत्यु का सूचक होने से दुःखद हो सकता है क्योंकि आदमी प्रायः सौ साल से अधिक नहीं जीता। पर संस्थाओं का जीवन कई शतकों का हो सकता है। इसीसे संस्थाओं का सौवाँ साल दुःखसूचक नहीं बल्कि उन्नतिसूचक घटना होती है। इसीलिए हम किसी भी संस्था का शतवार्षिक महोत्सव बड़ी धूमधाम से मनाते हैं। पर इस छोटी सी पाठशाला के शतवार्षिक उत्सव से हम इसलिए आनंदित हैं कि यह उन थोड़ी-बहुत संस्थाओं में से एक है जो अंग्रेजी सत्तायुग के प्रारंभ में शुरू होकर अभी तक जीवित है। यह पाठशाला सन् १८२९ में खुली थी। अंग्रेजी सत्ता की बिलकुल पहली ऐसी, जो थोड़ी-बहुत नई परधर्मीय संस्थाएँ अभी भी जड़ जमाए हैं, उनमें इस शाला की गणना होगी। अर्थात् सिर्फ दीर्घकाल जीवित रहना यद्यपि प्रशंसनीय बात है तब भी केवल उसीसे वह सम्मानीय और महत्त्वपूर्ण नहीं हो सकती। कहते हैं न 'काकोऽपि जीवति चिराय, बलिं च भुङ्क्ते।' पर तलेगाँव की इस पाठशाला के साथ एक अत्यधिक सम्मानजनक घटना भी संलग्न है और इसलिए उसकी स्मृति हम सबको रखनी चाहिए। वह यह कि महान् देशवीर विष्णु गणेश पिंगले इसी पाठशाला के विद्यार्थी थे। शालेय पढ़ाई के बाद पिंगले सन् १९०९-१० के 'अभिनव भारत' के क्रांतिकारी वातावरण में बड़े हुए। बाद में वे अमेरिका गए। वहाँ 'अभिनव भारत' की इंग्लैंड शाखा के हरदयाल आदि कार्यकर्ताओं ने 'गदर' नामक संस्था शुरू की थी। विष्णु गणेश पिंगले उसीमें सम्मिलित हो गए। वह था सन् १९१४ का साल। जर्मन महायुद्ध का समय। इस अवसर का लाभ लेने विदेश स्थित भारतीयों ने अपने देश को स्वतंत्र करने का असफल ही सही पर जोरदार प्रयास किया। इसके अधीन अमेरिका स्थित क्रांतिकारियों के जत्थे जब 'चलो भाई, मातृभूमि को मुक्त करने चलो' का नारा लगाते हुए जहाज में चढ़े तब उन क्रांतिकारियों के साथ-साथ देशवीर पिंगले भी स्वदेश लौटे। जर्मन

जहाजों में शस्त्रास्त्र लादकर इन्होंने भारत भेज दिए। उनके पीछे-पीछे ये सैकड़ों क्रांतिकारी चीन, सिंगापुर, बर्मा आदि देशों की ब्रिटिश सेना के भारतीय सैनिकों को भड़काते। विद्रोह को चेताते हिंदुस्थान में घुसे। 'कामागाटामारू' घटना की पुनरावृत्ति करते हुए बंदरगाह पर उतरते ही वहाँ के ब्रिटिश सैनिकों से खुलेआम लड़कर वे पूरे देश में फैले। कुछ लोग गुप्त रीति से देश में प्रवेश कर सके। उनमें देशवीर पिंगले थे। इन्होंने पंजाब में सेना को बरगलाया। कई अंग्रेज अधिकारियों का सफाया किया। शस्त्रास्त्रों के लिए जगह-जगह डाके डाल इन्होंने पूरे क्षेत्र में दहशत फैलाई। देशवीर पिंगले भी, जिनके अधिकतर साथी पंजाब के शूर सिख थे, इधर ही उत्पात में उलझ गए। अंत में लाहौर में इन क्रांतिकारियों पर अभियोग चलाया गया। उनमें आयु में सबसे छोटे, पर साहस में बड़े दो वीर पकड़े गए जिनका नाम था करतारसिंह और पिंगले। उन्होंने स्वयं ही कहा कि वे क्रांतिकारी हैं। उन्होंने ब्रिटिश सत्ता और ब्रिटिश न्यायालय के अधिकार को ही मानने से साफ मना किया और वे हँसते-हँसते फाँसी चढ़ गए। जिन सरकारी अधिकारियों ने यह वीरता देखी है वे उनके नाम बड़े आदर से लेते हैं। ऐसा यह देशवीर 'A real Hero' आयु का पच्चीसवाँ साल पूरा होने से पहले ही स्वदेश स्वातंत्र्य के लिए बलि चढ़ गया। कितने दुर्भाग्य की बात है कि सुशिक्षित महाराष्ट्र में हजारों में से एक को भी उसका नाम ज्ञात नहीं।

इतिहास संशोधक राजवाडेजी के ही नहीं बल्कि हाल ही में हुए प्रो. पोतदार, आपटे आदि इतिहास संशोधकों के कार्यों का भी सम्मान हो रहा है। यह ठीक भी है। पर जितना सम्मान इतिहास संशोधन करनेवालों का होता है, क्या उतना भी सम्मान इतिहास बनानेवाले देशवीरों का नहीं होना चाहिए? शिवाजी महाराज के काल का इतिहास इसी तरह के अनेक साहसी युवाओं और वीरों ने क्या निर्मित नहीं किया था? और आज का इतिहास निर्मित करने के लिए इस देश के लिए होनेवाले प्राणदान की, मारते-मारते मरते हुए देशवीरों की भट्ठी की अग्नि भी एक जीवंत-जलती घटक हो रही है, यह क्या कोई अस्वीकार कर सकता है? अगर किया जा सकता तो अंग्रेजों को रौलेट रिपोर्ट प्रकाशित करने की आवश्यकता न होती।

यह बड़ी ही विडंबनापूर्ण बात है कि हमारे शिवकालीन वीरों ने या परकीय आयरलैंड, इटली आदि देशों के वीरों ने इन पिंगले, कान्हेरे, करतारसिंह, कन्हैया आदि की तरह अथवा कुछ उदाहरणों में उनसे थोड़ी कम ही स्वार्थनिरपेक्ष देशभक्ति दिखाई, स्वतंत्रता के लिए जीने-मरने को जो जूझे उन वीरों की वीरता के वर्णनों से और प्रशंसा से हमारा महाराष्ट्र वाङ्मय उफनता दिखता है। पर उसी तरह के

साहसी कृत्य करनेवाले वर्तमान देशवीरों या सशस्त्र क्रांतिकारियों के नाम सुनकर वह मारे डर के काँपने लगता है। और उनका उल्लेख सादर नहीं तुच्छता से किया जाता है।

शिवछत्रपति और राजाराम के समय जो लोग जागीर या ईनाम के लिए लड़ते थे उनकी भी देशभक्ति को यथार्थ गौरव और उचित सम्मान देनेवाले ये आजकल के शिष्ट लेखक एवं अध्येता अपनी पीढ़ी के उन वीरों को, जो फाँसी से अधिक किसी जागीर का लालच नहीं रखते, ऐसे जाज्वल्य देशवीरों को, देशवीर कहने को भी तत्पर नहीं होते। उनपर एक अक्षर भी लिखना या बोलना इनकी दृष्टि में असभ्यता है। यह प्रभाव है 'इंडियन पीनल कोड' का। अगर उस कोड में शिवाजी, तानाजी, बाजी को स्मरण करना भी दंडनीय अपराध माना जाता तो शिवकाल को भी इस अँधेरे में ही मुँह छिपाकर बैठना पड़ता। और मराठी वाङ्मय में वैसी ही अपमानजनक स्थिति होती जैसी 'वासुदेव बलवंत' की आज है। हाल ही में उस जाज्वल्य देशभक्त की जीवनी प्रकाशित हुई है। उसमें न्यायमूर्ति महादेव गोविंद रानडे का कई बार सम्मानजनक बहुवचनी उल्लेख है। 'सार्वजनिक काका' का उल्लेख भी आदरार्थक है। यही सही भी है। वे भी देशभक्त थे और त्यागी देशभक्त थे। पर वासुदेव बलवंत फड़के की उनकी ही जीवनी में उनका उल्लेख अनादरात्मक 'अरे, करे···' से किया गया है। देशभक्ति और देश-सेवा के लिए किए गए त्याग में फड़के उन्हींकी पीढ़ी में इतने निम्न दरजे के समझे गए क्योंकि उन्होंने देशहित के लिए जीवन का थका-हारा संध्याकाल या वेतन का एकलक्षांश ही त्याग करने की सभ्यता नहीं की।

उन्होंने अपना पूरा जीवन और सर्वस्व देश के लिए त्याग की वेदी पर बलि देने की निर्लज्जता की और इसीके पुरस्कारस्वरूप उन दो कौड़ी के कलमघसीटों ने उनका अनादर किया। वासुदेव बलवंत का साहस असफल हुआ। आदर प्राप्ति का आधार केवल सफलता हो तो मैं इस बारे में कुछ भी कहना नहीं चाहूँगा। शिवाजी महाराज की ही बात लें, अफजल खान को शह देकर उसे मारने में वे सफल हुए यह भी एक संयोग था। यह भी तो हो सकता था कि वे अफजल खान के शिकंजे में फँसकर मर जाते। अगर ऐसा होता तो आज उनका गुणगान करनेवाले यही कहते न कि मूर्ख था शिवाजी। मौत को बुलावा देने अफजल खान के खेमे में गया। शाहिस्ता खान के महल और दिल्ली के पिटारों की भी यही बात है। जो हुआ उसके विपरीत हुआ होता तो ये ही शिवशाहीर, सफलता के भोंपू शिवाजी और तानाजी को भी सिरफिरे, अत्याचारी, बचकाने, अदूरदृष्टि कहते भौंकते होते। इन लेखकों, वक्ताओं को पराक्रम की परख नहीं, ये सिर्फ सफलता पानेवालों के तलवे चाटते

हैं। उच्च हेतु, त्याग, अंत:स्फूर्ति की इन्हें पहचान नहीं। ये तो सिर्फ उगते सूरज की पूजा करनेवाले अपरिपक्व लोग हैं। वरना उन्हींकी पीढ़ी में, उन्हींकी आँखों के सामने शिवकालीन या विदेश के वर्तमानकालीन व्यक्तिगत पराक्रम के बराबर का पराक्रम और वह भी किंचित् एक रत्ती अधिक ही शुद्ध जाज्वल्य देशभक्ति से पूरित उनकी इस पीढ़ी में उनकी आँखों से सामने घटित होना ऐसा देशवीरत्व असफल हो रहा है, इसलिए क्या उनका देशवीरत्व हाईकोर्ट जज या वकील के देशवीरत्व से सापेक्ष असभ्य और हीन श्रेणी का लगता है? दुर्लक्षणीय लगता है? शिवकाल के ये ही गुण सफलता के शिखर चढ़ते ही प्रशंसनीय-वर्णनीय हो गए। सफलता! यश! (क्या मनुष्य के सद्‌गुणों की परख का बस यही एक परिणाम रह गया है।) इनके हिसाब से एक सैनिक के मरते ही लड़ाई में जीत मिलनी चाहिए, बीज बोते ही क्षणमात्र में पका, रसीला आम होंठों तक आ जाना चाहिए। अन्यथा वह बीज व्यर्थ है। सैनिक चाहे जितना वीर हो, अगर यशश्री ने उसका वरण नहीं किया तो इनकी दृष्टि में उसकी सारी वीरता व्यर्थ गई।

स्वकालीन देशवीरों के संबंध में इस कायर अनवस्था का ढोंगी समर्थन कोई यह कहकर भी करेगा कि हमारे क्रांतिकारियों के चरित्र लिखे, उनके हेतु की प्रशंसा की, तो अन्य युवा भी क्रांति मार्ग का अनुसरण करेंगे और इससे स्वदेश पर बड़ा संकट गहराएगा। हिंदुस्थान की वर्तमान विशाल कीर्ति को बड़ा कलंक लगेगा। पर क्या यही बात 'शिवकालीन' क्रांतिकारियों के जीवन पर आधारित ढेरों उपन्यासों, नाटकों, वीरगीतों और रुदनगीतों, 'बदला, बदला' का जाप करनेवाले ढोंगियों पर लागू नहीं होती? जैसे अफजल खान का पोवाड़ा सुनते ही कोई शिवाजी जैसे बाघनख बनवाने लुहार की दूकान में नहीं घुसता या शाहिस्ता खान की अंगुलियों की तरह हर आते-जाते मुसलमान की अँगुलियाँ काटने नहीं दौड़ पड़ता। उसी तरह पिंगले, चापेकर, अमरसिंह, कान्हेरे आदि की जीवनियाँ पढ़ने से ही क्या हर कोई बम बनाने दौड़ेगा? ऐसा नहीं है। कम-से-कम आज की 'नैष्कर्म्य सिद्धिपरमां' प्राप्त जीवन्मृत पीढ़ी में इस तरह की बात होगी यह सोचना इस पीढ़ी का घोर अपमान करना है। न्यायमूर्ति रानडे या नामदार गोखले के मार्ग जिन्हें नापसंद हैं वे भी तो उनके लिए सम्मानजनक भाषा का प्रयोग करते हैं। फिर उस बेचारे वासुदेव बलवंत, कान्हेरे, चापेकर का उनके मार्ग के संबंध में उल्लेख निरादर से ही करना चाहिए ऐसा क्यों? कम-से-कम शिवाजी पर मतभेद होते हुए भी लिखनेवाली पीढ़ी को तो यह शोभा नहीं देता। और अगर उन्हें ऐसा ही करना है तो वे दिल्ली-बीजापुर सरकार के दरबार के धर्मनिष्ठ न्यायाधीश अथवा उनके दरबार के जयसिंह जैसे नामवर सरदारों की

स्तुति बाजी, तानाजी, येसाजी जैसे बागियों से अधिक करें जिससे उनका यह आचरण विसंगत तो नहीं लगे।

देशवीर पिंगले की स्मृति को इस विसंगति का दंड यद्यपि आज तक भुगतना पड़ा फिर भी तलेगाँव शाला के शतवार्षिक समारंभ के कारण ही सही, महाराष्ट्र को आज उनकी किंचित् स्मृति तो आई। हमारी दृष्टि से यही इस उत्सव की सफलता है। उदाहरणार्थ कुछ दिन पहले इस उत्सव के उपलक्ष्य में 'केसरी' में एक बहुत अच्छा लेख छपा था। उसमें इस पाठशाला के संस्मरणीय छात्रों में पिंगले का उल्लेख किया गया था। वैसे तो केसरी आदि वृत्तपत्रों की परंपरा ऐसे क्रांतिकारियों को सिरफिरे, अत्याचारी, आतंकवादी, पागल आदि कहने की है पर उसका अनुसरण न करते हुए लेख में इस देशवीर की योग्यता के अनुकूल उसके बारे में तथा उसके कार्य के बारे में गौरवप्रद भाषा में वर्णन किया गया था। इससे महाराष्ट्र के इस समाचारपत्र की छवि निस्संदेह उजली हो गई है।

देशवीर पिंगले के बारे में केसरीकार कहते हैं, ''परदेश से लौटकर उन्होंने राज्य क्रांति करने के उद्देश्य से यथाशक्ति प्रयास किया और उसीमें उन्होंने अपने प्राणों की आहुति देकर देशाभिमान के लिए स्वार्थ-त्याग की पराकाष्ठा की। ऐसा छात्र तलेगाँव की जिस शाला में उत्पन्न हुआ वैसी शाला स्थापित करने में अंग्रेजों का एक प्रमुख, पर अप्रकट हेतु यह था कि ऐसी पाठशालाओं में शिक्षा लेने पर हिंदू विद्यार्थियों की हिंदुत्वनिष्ठा नष्ट हो जाएगी और वे अनायास ही क्रिश्चियन धर्म की तरफ झुकेंगे। केसरीकार ने इस बारे में एलफिंस्टन साहब के जो उद्गार प्रकाशित किए हैं वे भी महत्त्वपूर्ण लगते हैं। पर बीस वर्ष पहले उनका महत्त्व और भी अधिक था। क्योंकि तब गरम-से-गरम दलीय देशभक्त भी यही सोचते थे कि हमें शिक्षित कर अंग्रेज हमपर परम उपकार कर रहे हैं। सभी सोचते थे कि रेलवे, तार-यंत्र, शांति एवं शिक्षा अंग्रेजी राज्य का उपकार है और उसके लिए हमें उनका कृतज्ञ होना होगा। यहाँ सबकी पक्की समझ थी। बाद में धीरे-धीरे शिक्षा छोड़ बाकी सभी चीजों में निहित अंग्रेजी स्वार्थ प्रकट हुआ। पर महाराष्ट्र में नई शिक्षा के कारखाने खोलनेवालों के प्रमुख, माउंट स्टुअर्ट एलफिंस्टन के उद्गार केसरी में छपे हैं—"I am convinced that the conversion of the Native must infallibly result from diffusion of knowledge among them." एलफिंस्टन के ये उद्गार अंग्रेजों के शिक्षादान में छिपे स्वार्थ का पर्दाफाश कर ही जाते हैं। अंग्रेजी पद्धति की शिक्षा के प्रमुख पुरस्कर्ता थे मैकाले। वह क्या कहता है यह भी लोगों की स्मृति में रहना बहुत आवश्यक है। क्योंकि मैकाले के प्रयासों से ही न केवल महाराष्ट्र में बल्कि पूरे हिंदुस्थान में यह नई शिक्षा पद्धति लागू हो गई। पार्लियामेंट

के भाषण में मैकाले ने अपने गुप्त हेतु का पता लगने नहीं दिया। वहाँ उन्होंने अपनी प्रख्यात घोषणा की कि 'जिस दिन इस शिक्षा से जाग्रत होकर भारत गुलामगिरी का बंधन ठुकरा देगा, वह दिन इंग्लैंड के इतिहास में स्वर्णाक्षरों से लिखा जाएगा।' हमारे अधिकतर नेता इसीको अंग्रेजों, खासकर मैकाले का शिक्षा संबंधी एकमेव उदात्त हेतु समझते थे। इसीसे अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव से उत्पन्न राष्ट्रीय जागृति का अनुभव लेनेवाले देशभक्त अंग्रेजों को अपना उद्धारकर्ता मानते थे।

अन्य लोगों की बात जाने दें उग्रवादी पंडित श्यामजी कृष्णवर्मा भी यही मानते थे कि अंग्रेज हमारे उपकारकर्ता हैं और वे मैकाले के पार्लियामेंट में दिए गए भाषणों का साक्ष्य प्रस्तुत करते थे। पं. वर्मा के मन से इस आभास को दूर करने के लिए, इंग्लैंड जाने पर देशभक्त सावरकर को उनसे लगातार दो महीने विवाद करना पड़ा। देशभक्त सावरकर ने अपने कॉलेज के दिनों में मैकाले के पत्र पढ़े थे। उसमें उन्हें मैकाले का अपने दामाद के नाम लिखा गुप्त पत्र मिला। उसमें मैकाले ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है—''ये हिंदू बाबू, पागल हिंदू धर्म को छोड़, अनायास ही ईसाइयत को स्वयं ही अपनाएँगे। हमारे सामने यह अभीष्ट परिणाम दिखाई भी देने लगा है।'' इस पत्र से यही सिद्ध होता है कि मैकाले का शिक्षा संबंधी हेतु एलफिंस्टन के हेतु से भिन्न नहीं था। 'ब्रिटिशों के उपक्रम' जैसे व्यंग्यात्मक नाम से देशभक्त सावरकर ने सार्वजनिक सभाओं में कई व्याख्यान दिए थे। उन्होंने उसमें यह पत्र प्रथमत: महाराष्ट्र में उद्धृत किया था। बाद में इंग्लैंड में उसी अर्थ के 'Are we obliged to the British Rule' व्याख्यान में उन्होंने वहाँ के हिंदुस्थानियों को मैकाले के इस पत्र से परिचित कराया। इसके बाद 'सत्तावन का स्वातंत्र्य समर' पुस्तक में उन्होंने इसे सर्वप्रथम प्रकाशित किया और तबसे यह पत्र सर्वविख्यात हो गया।

मैकाले के इस पत्र के बारे में एक बात स्मरणीय है। इसी संदर्भ में कहने योग्य है कि अभिनव भारत के विख्यात क्रांतिकारी नेता श्री अय्यर स्वयं कहते थे कि सावरकरजी का 'Are we obliged to the British Rule?' व्याख्यान सुनकर ही वे क्रांतिकारी बने और 'अभिनव भारत' संस्था के सदस्य बने। अन्यथा उस काल के अन्य लोगों की तरह उनकी भी यही धारणा थी कि ब्रिटिशों ने भारतीय लोगों को पाश्चात्य शिक्षा देने का उपकार किया है। इसलिए हमें उनके प्रति कृतज्ञ अर्थात् साम्राज्यनिष्ठ होना चाहिए। सावरकर ने अपने व्याख्यान में सिद्ध किया कि अंग्रेजों का हिंदुस्थान में रेल आदि चालू करने में जो स्वार्थ था, वही शिक्षा के लिए भी था। इसके लिए उन्होंने जो साक्ष्य प्रस्तुत किया उसमें एक मैकाले का यह पत्र भी था। सभी सबूतों को पेश करने के बाद सावरकर कहते थे, 'नई पाश्चात्य शिक्षा

से हमें काफी लाभ भी हुआ। पर उसे अंग्रेजों का उपकार नहीं समझना चाहिए। शत्रु तलवार लेकर मुझे मारने आया था। संयोग से उसके हाथ से तलवार नीचे गिरी और वह मेरे काम आई। इसमें उस शत्रु का कोई उदीप्त हेतु नहीं था। यह तो संयोग की बात है। उस तलवार से मैं उसीपर वार करने लगा तो बुद्धिमान शत्रु कहता है कि यह तलवार मैंने तुझे दी है। इसे मेरा उपकार समझ, मुझे छोड़ दे। तलवार के उदाहरण में हम जो उत्तर शत्रु को देंगे वही हमें अंग्रेजी शिक्षा के लाभ के बारे में भी देना चाहिए। उत्तर यही हो सकता है कि 'उपकार तो भगवान् के हैं। संयोग के हैं। तुमने तो अपनी तरफ से मेरा अपकार करने की ही कोशिश की थी।' यह विचार परंपरा सुन श्री अय्यरजी के मन से आंग्लनिष्ठा का भ्रमपटल हट गया और उसमें तेजी से क्रांतिकारी विचारों के बीज अंकुरने लगे।

तलेगाँव पाठशाला के चालक से हमारा निवेदन है कि वे उस पाठशाला में देशवीर पिंगले के नाम का पीतल का स्मृतिफलक या पिंगलेजी का तैलचित्र लगाएँ। केवल पिंगले का ही नहीं।

सन् १८५७ के स्वातंत्र्य युद्ध के बाद जिन महाराष्ट्रीय देशवीरों ने देश के लिए बलिदान किया उन सबके जन्म-ग्राम, पाठशाला या छात्रावास में उनका एक सुंदर स्मृतिफलक लगाया जाए। वासुदेव बलवंत तथा उनके अन्य साथी—चापेकर बंधु, रानडे, कान्हेरे, कर्वे, देशपांडे, पिंगले आदि देशकार्य में मरे साथियों के जन्म-स्थानों का पता लगाया जाए तथा उनके तैलचित्र सम्मानपूर्वक लगाए जाएँ। इतना ही नहीं, इन सबकी जानकारी परिश्रम से इकट्ठा कर, उसे ऐतिहासिक प्रमाणों की कसौटी पर कसकर उनकी जीवनी भी लिखी जाए। बंगाल में न केवल क्रांतिकारी देशवीरों की जीवनियाँ ही प्रकाशित होती हैं, जतींद्रनाथ मुकर्जी जैसे सशस्त्र क्रांतिकारी देशवीर का स्मृति-दिन भी मनाया जाता है। पूरे बंगाल में मुकर्जी अंक, मुकर्जी सप्ताह, मुकर्जी दिन जैसे उत्सव मनाए जाते हैं। उनके मार्ग भले ही अलग हों, पर वे भी तो देश के लिए लड़े थे। पंजाब में भी हुतात्मा धींगरा के तैलचित्र का अनावरण बड़ी धूमधाम से हुआ। फिर महाराष्ट्र को ही भय और विपदा का ऐसा बुखार क्यों चढ़ा है? अंग्रेज सरकार भी इसका बुरा नहीं मानेगी, क्योंकि पहले फाँसी जानेवाले देशद्रोहियों के सिर, नगर के प्रवेशद्वार पर लटकाए ही जाते थे जिससे कि अन्य युवक विद्रोह के भयानक परिणामों से डर जाएँ। अब सिर न सही प्राणदंड मिले अपराधियों के चित्र और नाम ही नगरद्वार पर टाँगे जाएँ तो भी लोगों पर वही परिणाम होगा। अंग्रेजों के विरुद्ध सशस्त्र क्रांति का यह भयंकर दंड देखकर लोग डर जाएँगे। निःशस्त्र अध्ययन-वीरों को मजाक के तौर पर राज्य क्रांति के 'स्वातंत्र्य', 'मरो', 'मारो',

'बदला' आदि शब्दों को इस्तेमाल करने की लत लग गई है। वे भी जान जाएँगे कि इन शब्दों का उपयोग करना आग से खेलना है। वे यह खेल छोड़ देंगे। जिन्हें आग में झुलसने में ही मजा आता है ऐसे वीर अन्य प्रांतों में जनमें तो जनमें, शिवाजी के इस महाराष्ट्र में अब दूसरा शिवाजी पैदा नहीं होगा। क्योंकि एक शिवाजी से ही उसका पेट भरकर फूल गया है।



जतींद्रनाथ का बलिदान

'हित उक्ति हो तो, सही समय पर बोलो'।

—मोरोपंत

जतींद्रनाथजी की माँग थी कि 'कारागार में राजबंदियों से अन्य अनैतिक अपराधियों जैसा व्यवहार न किया जाए। उनके पवित्र हेतु एवं उच्च भावना का खयाल कर उनसे सभ्यता का व्यवहार किया जाए।' अपनी इस माँग को पूरा करने के लिए उन्होंने प्रतिज्ञा की कि जब तक उनकी माँग पूरी नहीं होती वे अन्न ग्रहण नहीं करेंगे। अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार अंतिम घड़ी तक उन्होंने अन्न-जल को नहीं छुआ और अत्यंत कष्टमय स्थिति में दम तोड़ा। इस खबर से पूरा देश व्याकुल हुआ। भारत की राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए जिन हुतात्माओं ने पिछले बीस-पच्चीस वर्षों में अपने सर्वस्व की आहुति दी उनमें जतींद्रनाथ का नाम हमेशा चमकता रहेगा। स्वदेश के लिए मर मिटनेवाले वीर देशवीर कहलाए जाते हैं। अंग्रेज सरकार ने जतींद्र पर मुकदमा चलाकर उन्हें बंदी बनाया था। स्वदेश के सम्मान के लिए अन्न-त्याग की अमोघ प्रतिज्ञा कर उन्होंने स्वातंत्र्य यज्ञ में अपनी बलि दी। इस तरह उन्होंने हुतात्मा होने का गौरव पा लिया। अगर वह चाहते तो अंत तक अपनी मृत्यु को टाल सकते थे। कई देशभक्त उन्हें अन्न ग्रहण करने की विनती कर रहे थे। प्राण बचाने के लिए वे अपनी प्रतिज्ञा तोड़ देते तो भी कोई समझदार भारतीय उन्हें दोष नहीं देता। पर उस स्वाभिमानी एवं दृढ़प्रतिज्ञ वीर ने अन्न के कण को भी नहीं छुआ। मृत्यु से वह किंचित् भी नहीं डरा। स्वातंत्र्य वेदी में उसने अपने हाथों से अपने प्राणों के तिल-तिल टुकड़े कर और उन्हें एक-एक गिनकर आहुति दी। उसका यह अलौकिक प्राणदान, उसका धैर्य, उसकी सत्यनिष्ठा प्रशंसनीय है। शूर संभाजी, वीर बंदा, गुरु तेगबहादुर इन पूर्वकालीन महान् हुतात्माओं की बात छोड़ दें तो भी पिछले बीस वर्षों के राष्ट्रीय यज्ञ में जिन भारतीय हुतात्माओं ने हवि दी

उनसे जतींद्र का प्राणदान किसी भी तरह कम नहीं है। उन्हींकी तरह जतींद्रनाथ का हौतात्म्य भी वंदनीय है। पर…

भगतसिंह-दत्त, सतीन-सेन इत्यादि

भारत के इस अवनत काल में इस तरह का एक भी देशभक्त युवक पैदा हो तो वह भारत के पुनरुत्थान की निश्चित सूचना है। यह नहीं कि केवल इसी वीर ने 'स्वदेशाय स्वाहा! इदं न मम!' करके स्वातंत्र्य युद्ध में अपनी आहुति दी। अभी भी भारत में ऐसे कई युवक हैं जो स्वदेश के लिए सर्वस्व त्याग करने को तैयार हैं। जतींद्रनाथ के कई सहयोगी वही दिव्य, दुर्धर साहस कर रहे हैं। भारत ही नहीं, पूरी दुनिया जानती है कि भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त अन्न-त्याग करके अपनी बलि न देकर केवल तपस्यारत हुतात्मा बनने की तैयारी में हैं। अपनी वीर मृत्यु से वे अंग्रेजी साम्राज्य की आयु भी क्षण-क्षण से कम करना चाहते हैं। इस लेख का उद्‌देश्य इस मार्ग के अनुकरण की योग्यता-अयोग्यता की चर्चा करना नहीं है। इस अप्रस्तुत विषय को छोड़ भी दें तो भी इस बात को छिपाने की थोड़ी भी आवश्यकता नहीं है कि भारत के सैकड़ों लोग इन्हें देशवीर मान रहे हैं। इस बात को हम चाहने पर भी छिपा नहीं सकते कि जब से इन देशवीरों ने अन्न-त्याग किया है, हर देशप्रेमी डरते-डरते अखबार खोलता है कि कहीं उसे इनकी मृत्यु का अशुभ समाचार न पढ़ना पड़े। यही बात बंगाल के हिंदू कुलभूषण सेनानी सत्येंद्रनाथ सेन की भी है। हिंदू राष्ट्र की ओर से पत्वाखाली में साल भर लड़कर इस सेनानी ने विजय प्राप्त की। वारिसाल के कारागार में बंद इस वीर सेनानी ने किसी मामूली बात पर खाना त्याग दिया। इस बात को सौ दिन बीते। नानाविध देहदंड सहते हुए यह वीर मृत्युशय्या पर पड़ा है। खाना न खाने से उसकी शक्ति क्षीण होती जा रही है। उसके अर्धांग को पक्षाघात हुआ है। आवाज मंद हो गई है। अब वे अन्न ग्रहण करते हैं तो आजीवन पंगु अवस्था में रहेंगे और अन्न ग्रहण नहीं करते हैं तो मर जाएँगे। इस तरह भारतीय हुतात्माओं की नामावली में एक और नाम जुड़ जाएगा। इन सबका निश्चय, तपस्या, धैर्य, देशभक्ति प्रशंसनीय है, वंदनीय है। पर…।

हुतात्मा देशवीर रामरखा और अंदमान के अन्न-त्यागी

संतोष की बात यही है कि ये राजनीतिक बंदी भारतीय लोगों की आँखों के सामने हैं। हिंदुस्थान के कारागृह में हैं। अभियुक्त अवस्था में हैं। अभी उन्हें दंड मिलना बाकी है। इसलिए इनके भावोद्रेक, इनके अपमान, इनकी मृत्यु, राष्ट्रीय

दृष्टि के सामने निस्पंद चलचित्र के समान प्रकट हैं। इसीलिए इनकी व्यथा, राष्ट्र की व्यथा बन रही है। पर हमारी राष्ट्रदृष्टि से परे, उस अँधेरे अंदमान में भी राजबंदियों को सम्मानजनक सलूक मिले, इस बात के लिए पिछले दस वर्षों से इसी तरह की अन्न-त्याग की भीषण शारीरिक यंत्रणाओं की घटनाएँ हो रही हैं। पर इस बारे में यहाँ के बहुत कम लोग जानते हैं। यहाँ की घटनाएँ मुझे अंदमान में महीनों भूखों रहनेवाले, शारीरिक दुरावस्था सहनेवाले नानी गोपाल की, भाई परमानंद की, शूर पृथ्वीराज की और भाई मोहनसिंह आदि का स्मरण करा रही हैं। काले पानी का दंड भोगनेवाले कई राजबंदियों ने चार-चार महीनों तक अन्न के कण को नहीं छुआ था। उनके नसीब में अपने स्वदेशीय बांधवों की प्रेममय सहानुभूति की संजीवनी तक नहीं थी। इस जतींद्र की तरह वहाँ भी एक रामरखा था। उसने भी अन्न छोड़ा, वस्त्र छोड़े। भूखा पेट और हथकड़ियों से जकड़े हाथ! कई महीनों की यातनाओं से उसे तपेदिक हुआ और अत्यंत कष्टमय अवस्था में उसने अंतिम साँस ली। अंदमान के अँधेरे में वह संतप्त अवस्था में मरा। अपने संतप्त हृदय को शांत करने के लिए रामरखा को स्वदेश सहानुभूति का एक अश्रुबिंदु तक न मिला। उसकी लाश को कहाँ गाड़ा गया होगा, कहाँ दफन किया गया होगा, कहाँ बहाया गया होगा···कुछ पता नहीं। वहाँ अंदमान में और यहाँ भारत में कई वीर, हमारी यह माँग पूरी न की तो हम भूखों मरेंगे और हे इंग्लैंड, हमारी मृत्यु का पाप तुम्हारे सिर रहेगा, इस तरह का गुस्सा करते-करते हुतात्मा बने। वे सबके सब निस्संशय वीर हैं, प्रशंसनीय हैं। पर···

पर जो प्रशंसनीय होता है वह सभी के लिए अनुकरणीय होता ही है, यह नहीं कहा जा सकता। इसी तरह जो आचरण या सद्गुण सामान्यतः प्रशंसनीय, वंदनीय होता है, वह सभी स्थितियों में समान रूप से अनुकरणीय नहीं होता। और कुछ विशिष्ट स्थितियों में तो वह अनिष्ट हो जाता है। राष्ट्रीय आंदोलन में, राजनीतिक जटिल स्थितियों में, विपक्ष की गतिविधि और स्वपक्ष का बल ठीक तरह से परखना पड़ता है। अपने सैनिकों का संचालन सावधानी से करना पड़ता है। हर राष्ट्रीय आंदोलन, राष्ट्रीय आंदोलन का हर मोड़ सिर्फ प्रशंसनीय होने से ही काम नहीं चलता, वह कुशल, इष्ट एवं कार्यक्षम भी होना चाहिए। सुना था कि लोकमान्य तिलक की मृत्यु की खबर सुन, अति तीव्र देशभक्ति की वेदना से विह्वल होकर एक युवक ने ऊपरी मंजिल से कूदकर प्राण दिए थे। वैसे देखा जाए तो उस युवक की यह प्रखर देशभक्ति वंदनीय थी। प्राण अर्पण करते समय, दैहिक जीवन के प्रति उसने जो विरक्ति दिखाई थी वह किसी हुतात्मा की तरह ही प्रशंसनीय थी। पर क्या इसीसे उसका यह कृत्य अनुकरणीय हो जाता है? कदापि नहीं, क्योंकि जिस

स्वदेश हित से प्रेरित होने से लोकमान्य का मृत्यु समाचार सुन उसके मन में बलिदान की भावना उभर गई, वही देशहित वह अगर बिना मरे, किसी और तरह से करता तो कितना बेहतर होता! इस तरह उसका कृत्य प्रशंसनीय होते हुए भी इष्ट नहीं है।

वैसे ही जिस किसी स्वार्थी-लंपट आदमी का मन लोकमान्य की मृत्यु का समाचार सुनकर भी स्वदेश के लिए दुःख सहने के लिए नहीं ललका, उससे तो स्वदेशप्रेम के लिए मर मिटनेवाला यह युवक कोटिशः वंदनीय है। फिर भी चूँकि जीवित रहकर वह इससे सौ गुना अधिक स्वदेशहित कर सकता था, उसका यह कृत्य अन्य राष्ट्र सैनिकों के लिए अनुकरणीय नहीं। हम जब बलिदान और आत्महत्या, हवि और हत्या इनमें से एक को अच्छा और दूसरे को बुरा समझते हैं तो उनकी भिन्नता की कसौटी यही होती है कि उनमें से पहली बातें परमेश्वर के लिए, आत्मोन्नति के लिए, अवश्यंभावी त्याग है और यह त्याग महत्तर बात की सिद्धि के लिए किया गया सार्थक त्याग है और दूसरी बातें हैं अपना या दूसरे का निरर्थक तामसी नाश। दूसरे प्रकार का प्राणनाश टाला जा सकता है। वह लोककल्याण के लिए पोषक नहीं बल्कि विघातक ही है। वही यज्ञ है जो मुक्ति के लिए जितनी आवश्यक उतनी ही हवि लेता है और वही यजमान है जो उतनी ही हवि देता है जितनी आवश्यक है। सच्चा सेनापति वही है जो उतने ही सैनिक युद्ध में भेजता है जितने आवश्यक हैं। मुक्ति सिर्फ आत्मार्पण करने ही से नहीं मिलती। समर सिर्फ मरने भर से नहीं जीता जाता। इसी तरह राष्ट्रीय अथवा धार्मिक स्वातंत्र्य सिर्फ मरने या हुतात्मा होने ही से नहीं पाया जा सकता। अगर वह स्वातंत्र्य युद्ध के लिए अपरिहार्य घटक हो तो वह भी करना चाहिए जैसे गुरु तेगबहादुर ने किया था। जैसे लड़ाई के मोरचे पर लड़नेवाले लोग करते हैं या जो सालों-साल शत्रु के कारागार में रहनेवाले राजबंदी करते हैं।

पर राष्ट्रीय सेना का मुख्य लक्ष्य है विजय। युद्धकला वही सच्ची है जो न्याय पक्ष की कम-से-कम और अन्याय पक्ष की अधिक-से-अधिक हानि करती है। कभी-कभी उस युद्धकला का हौतात्म्य भी एक अत्यंत आवश्यक एवं वंद्य घटक हो सकता है पर वह सिर्फ अपवाद के रूप में होता है, नियम के रूप में नहीं। लेकिन केवल हौतात्म्य से ही निश्चित रूप में विजय पाई जाएगी यह नहीं कहा जा सकता। रावण ने सीता का अपहरण किया। जिसमें सीता का अपहरण करने की नीचता एवं दुष्टता थी, उसके सामने अगर राम उपवास करके प्राण देने की बात करते तो क्या उसका मन पसीजता? नहीं! इसीलिए राम ने अन्न-जल छोड़ने की बात ही की नहीं। उसने रावण के मुँह से ही रोटी का निवाला छीनने की, उसे भूखों

मारने की तैयारी की। सीता ने भी, अशोक वन में मुझे ऐसा ही भोजन चाहिए या उचित सम्मान चाहिए नहीं तो मैं अन्न-जल छोड़कर मर जाऊँगी, ऐसी बाधक प्रतिज्ञा नहीं की, क्योंकि उसका मुख्य लक्ष्य था राम द्वारा रावण का नाश कराना और इसके लिए उसका वह करना न केवल अनावश्यक था, वरन् हानिकारक भी था। उसने एक प्रतिज्ञा अवश्य की थी और उसके लिए वह प्राण-त्याग करने में भी नहीं हिचकती। उसकी प्रतिज्ञा थी उसका प्रीति स्वातंत्र्य-पातिव्रत्य अबाध रहे। इस प्रतिज्ञा पर आँच आने पर भी प्राण बचाने का अर्थ होता मुख्य लक्ष्य से विचलित होना। उस स्थिति में वह मरकर भी अपनी प्रतिज्ञा को निभाती। गुरु तेगबहादुर, बंदा वीर और संभाजी राजा का मुख्य लक्ष्य था स्वधर्म रक्षण। इस लक्ष्य के लिए प्राण देना जब अवश्यंभावी हुआ तब और तभी उन्होंने प्राण-त्याग किया और उस स्थिति में वह उचित भी था।

यही है सच्चा हौतात्म्य। यही बात क्रांतिकारियों के मुख्य लक्ष्य स्वदेश स्वातंत्र्य पर भी लागू होती है। इसके लिए लड़ते-लड़ते या विपक्ष के हाथ लगने पर स्वातंत्र्य सेना की या उसके बारूद या शस्त्रास्त्रों के बारे में पूछताछ होने पर या उसके लिए अत्यधिक शारीरिक यंत्रणा सहनी पड़ी तो वे स्वदेशहित के लिए प्राण देने की सोचें तो वह उनका कर्तव्य ही बन जाता है। क्योंकि यह उनके मुख्य लक्ष्य के लिए आवश्यक है। अगर एक प्राणदान से सैकड़ों निरपराध प्राणों की एक राष्ट्र के सम्मान की एवं एक न्याय लक्ष्य की ध्वजा की रक्षा हो तो वह प्राणदान हौतात्म्य हो जाता है। यह ऐसा हौतात्म्य है जो न केवल प्रशंसनीय और वंदनीय है बल्कि अनुकरणीय भी है। जिन्हें क्रांतिकारियों के सिद्धांतों या मार्ग से सहानुभूति नहीं है, उनकी चर्चा इस विवेचन में अप्रस्तुत है। इसलिए इस संबंध में बिना अनुकूल या प्रतिकूल राय दिए, तटस्थ दृष्टि से हम यही कहते हैं कि केवल लक्ष्य के लिए अत्यावश्यक प्राणदान ही उचित है। पर ध्येयार्थ अनावश्यक प्राणदान केवल इसीलिए वंदनीय है कि वह उस वीरात्मा की देशभक्ति, मनोनिग्रह और निस्स्वार्थ निर्भयता का प्रतीक है। पर व्यवहारत: वह अंतिम विजय के लिए न केवल अनावश्यक ही है, हानिकारक भी है और इसीलिए अननुकरणीय भी है। प्राणहानि के लिए प्राणहानि अनिष्टकारक है। इस दृष्टि से अन्न-जल छोड़कर मर जाने की यह जो नई परंपरा प्रचलित हो रही है, उसका युद्धनीति की दृष्टि से विरोध करना हम अपना कर्तव्य मानते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम उनकी देशभक्ति या उनकी कठोर तपस्या का मूल्य नकार रहे हैं। पर राष्ट्रीय हित के लिए हमें अपना बुद्धिवाद प्रकट करना ही पड़ेगा। अन्न-जल छोड़कर मर जाने की यह लहर इसी तरह फैलती रहेगी तो वह राष्ट्र के प्रमुख लक्ष्य स्वातंत्र्य प्राप्ति को हानि पहुँचाएगी।

स्वातंत्र्य प्राप्ति के लिए हमें सक्रिय जीवन या लड़ाई में मरण की आवश्यकता है। इस तरह उपवास करके मरने से कई जीवन व्यर्थ ही नष्ट होते हैं। एक को देखकर दूसरा, दूसरे को देखकर तीसरा देशभक्त अन्न-त्याग करके लँगड़ा-लूला होकर, तपेदिक से ग्रस्त होकर, दुःखद मृत्यु का ग्रास बन रहा है। यह सब किसलिए? राजनीतिक बंदियों को सम्मान दिलाने के लिए? मुख्य लक्ष्य की तुलना में यह माँग कितनी महत्त्वहीन है। इस महत्त्वहीन माँग के लिए इतनी बलि? जतींद्र, सेन, भगतसिंह, दत्त···अरे, ये हमारी राष्ट्र सेना के अभिमन्यु हैं, जनकोजी हैं। ये सब भारतीयों को अंग्रेज-विरोधी युद्ध में जिता सकते हैं। इनमें से एक-एक प्राण दस-दस प्राणों के समान है। इन्हें खर्च होना चाहिए देशभक्तों के मुख्य लक्ष्य—स्वातंत्र्य प्राप्ति के लिए। पर ये उसे ऐसे असमय ही लुटा रहे हैं। सापेक्षतः यःकश्चित् कारण के लिए, रोटी के लिए, समाचारपत्र के चौकोर टुकड़े के लिए। राजबंदी को टेबल-कुरसी की सुविधा मिले, इसके लिए राजबंदियों से कैसे सलूक हो, यह प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण है। सम्मानजनक व्यवहार प्राप्त करने के लिए राजबंदियों को कुछ मोल भी देना पड़ेगा, पर यह बात इतनी भी महत्त्वपूर्ण नहीं है जिसके लिए प्राणों का मोल दिया जाए। अंदमान में ऐसी ही माँगों के लिए हम दस साल तक लड़े, कभी अधिकारियों के आने पर खड़े होने से इनकार कर, कभी जबरदस्ती पत्रों को कारागार में लाकर और कभी पुलिस की अवज्ञा के लिए एक-दूसरे से बातें कर! इसके लिए हमें कभी हथकड़ियों का भार ढोना पड़ा तो कभी पैरों में बेड़ियाँ पड़ीं। पर जब भी कोई गुस्से के मारे अन्न-त्याग की प्रतिज्ञा करने लगता अन्य बंदी उसे प्रेम से समझा-बुझाकर उस निश्चय से परावृत्त करते। जैसे नीलामी के समय कोई जिद्दी आदमी दो कौड़ी की चीज के लिए दो हजार की बोली लगाकर अपना ही नुकसान्र कर लेता है वैसे ही राजबंदियों के सम्मानजनक व्यवहार की माँग के लिए इन वीरों के अमूल्य प्राण लुटाकर हम अपने ही पैरों पर कुल्हाड़ी मार रहे हैं। जतींद्रनाथ के त्याग को अपवाद समझकर हमें इस आत्मघातक प्रवृत्ति को रोकना चाहिए।

वैसे भी राजनीतिक बंदियों को चाहे जितना सम्मान मिले, वे रहेंगे तो फिर भी बंदी ही। कुरसी पर बैठकर पत्र पढ़ने का अवसर मिल भी जाए तो भी वे रहेंगे अंग्रेजों के बंदी ही। और कारागृह के बाहर भी कौन सी अच्छी स्थिति है!

बंदी नहीं है कौन, परतंत्र इस देश में
पूरा देश ही बना है, एक विशाल कारागार!

इन दस-पंद्रह अनमोल हीरों को गँवाकर राजबंदियों को 'सम्मानजनक

व्यवहार' का अधिकार मिल भी जाए तो भी किस काम का? क्योंकि अंग्रेज जब चाहे उसे छीन भी सकते हैं। जब तक हिंदुस्थान पराधीन है तब तक यथासंभव छोटे-मोटे अधिकारों, मान-सम्मान, प्रतिष्ठा को अंग्रेजों से छीनते रहना चाहिए। उसके लिए सीमित और उचित मात्रा में स्वार्थ त्याग और प्राण त्याग भी करते रहना चाहिए। पर यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि जब तक उन अधिकारों को देनेवाली परकीय सत्ता जीवित है, प्रबल है तब तक वे अधिकार कभी भी छीने जा सकते हैं। वे तो पानी के बुलबुले हैं। इसीलिए गौण प्रश्न को सम्मान का मुद्दा बनाकर उसके लिए अनमोल प्राणों को मिट्टी में मिलाने की प्रतिज्ञा अव्वल तो करनी ही नहीं चाहिए और कर भी ली तो उस प्रतिज्ञा को भंग किया जा सकता है। बुद्धिमानी उसे तोड़ने में ही है।

गलत प्रतिज्ञा करना भूल है और वह राष्ट्रीय हित के लिए हानिकारक है, यह समझकर भी उसपर डटे रहना उससे भी अधिक भारी भूल है। ऐसी स्थिति में प्रतिज्ञा को यशाशीघ्र तोड़ना ही सच्ची शूरता है, सच्चा देशाभिमान और सच्चा धैर्य है। इसीलिए हम अपने देशबंधुओं, विशेषत: भगतसिंह आदि तेजस्वी एवं अनमोल नररत्नों से, वीरों से आह्वानपूर्वक विनती करते हैं कि राजनीतिक बंदियों के अधिकारों जैसे गौण और सापेक्षत: कम मूल्य की माँग के लिए वे राष्ट्रीय पक्षों को, धुरंधर युवकों की बलि न चढ़ाएँ। हमारा मुख्य लक्ष्य है स्वातंत्र्य प्राप्ति, उन प्राणों की बलि वे उसके लिए दें। इन चुनिंदा वीरों को चाहिए कि वे युद्ध के प्रमुख केंद्र पर, शत्रु के मर्मस्थल पर टूट पड़ें न कि विपक्ष के बाजारू लोगों से मुट्ठी भर आटे के लिए उलझे। उन्हें अपने शरीर में अनशन का शूल घुसाकर फकीर की तरह नहीं मरना चाहिए। स्वातंत्र्य युद्ध में विपक्ष से लड़ने के लिए यह सांधन सर्वथा अनुपयुक्त है।

जो शस्त्र विपक्ष की हानि न करे, उलटे अपने ही पक्ष का नुकसान करे, वह शस्त्र ही नहीं है और इसलिए इसका उपयोग करनेवाला भी कुशल योद्धा नहीं माना जाएगा।

अनशन की बंदूक का निशाना विपक्ष पर नहीं बल्कि स्वपक्ष पर ही लगेगा। यह विश्वासघात की बंदूक, यह अनशन, वह गुस्सा इन सबके पीछे हेतु उदात्त है, पर सोच गलत है। इसीलिए यह सब आत्मनाश का कारण बन जाएगा। इस अनशन के कारण हमें एक-दो या दस-बीस भगतसिंह गँवाने पड़े तो इसमें विपक्ष को क्योंकर दुःख होगा? होगा तो सुख ही होगा; क्योंकि परसत्ता के रास्ते में बिछे विषैले काँटे आपने स्वयं ही उखाड़कर दूर फेंक दिए। सोचिए कि अगर हिरण शेर के दरवाजे पर जाकर अनशन या सत्याग्रह करने लगे तो शेर उसे खाने के लिए मनाने लगेगा या उसीको अपने पेट में डाल खुशी से डकार लेगा? शेर डरता है तो

शिकार के नाम से। हिरणों के अनशन से नहीं।

आप कहेंगे कि इस बहाने हम दुनिया के सामने परसत्ता की अनैतिकता दिखाते हैं। पर देशबंधुओ, परसत्ता खड़ी ही है अन्याय की अनैतिकता की नींव पर। क्या आप समझते हैं कि दुनिया, जो कि प्रमुखत: यूरोप और अमेरिका है, इतना भी नहीं जानती? वॉरेन हेस्टिंग्ज के समय के बर्क के भाषण एवं जनता पर अत्याचार, डलहौजी के द्वारा किया गया राज्य का, धन का अपहरण, सत्ता के कत्ल, अकाल, प्लेग, जलियाँवाला बाग का हत्याकांड, अभी परसों लालाजी पर हुआ लाठी चार्ज…कम-अधिक डेढ़ सौ सालों में परसत्ता की अनैतिकता, अत्याचार खुलेआम नंगा नाच कर रहे हैं। अगर दुनिया ने अभी तक उसे नहीं देखा है तो अब क्या देखेगी? दुनिया के प्रमुख देश सबकुछ जानते हैं और इस कुकृत्य में एक-दूसरे के साझीदार हैं। वे एक-दूसरे के उपकारों के बोझ के तले दबे हुए हैं। आपके लिए वे कुछ नहीं करनेवाले। उलटे आपकी इस अपने ही लोगों की बलि लेनेवाली सनक की वे अपेक्षा ही करेंगे। मैक्सपिनी मरा इसलिए दुनिया ने कितनी हजार सेना आयरलैंड की सहायता के लिए भेजी? कितने हजार हवाई जहाज वहाँ भेजे गए? क्या किसीने इस काम के लिए अंग्रेजों से झगड़ा मोल लिया? नहीं। बस यही स्थिति हमारे जतींद्र, भगतसिंह और दत्त की भी है। बल्कि यहाँ की स्थिति उससे भी बदतर है क्योंकि मैक्सपिनी की मृत्यु के पीछे आयरलैंड की मशीनगनों का बल था। उनकी आग अंग्रेजों को झुलसा सकी थी। आपके हुतात्मा अन्न-जल छोड़कर मर भी गए तो उससे उत्पन्न क्षोभ किसको झुलसा सकता है? मैक्सपिनी की मृत्यु ने शत्रु पक्ष की अपरिमित हानि की। फिर भी सभी आयरिश बंदियों ने अन्न त्यागकर मर जाने की गलती नहीं की। उन्होंने कारागार के अधिकारियों को ही सताकर छठी का दूध याद दिलाया। खाना छोड़ना तो दूर, दुगुना खाना खाकर उन्होंने कारागार तोड़े, बाहर से सशस्त्र आक्रमण कराकर बंदियों को छुड़ाया। आयरलैंड केवल मैक्सपिनी के अन्न-त्याग से ही स्वाधीन नहीं हुआ। वहाँ हुतात्मा के हौतात्म्य का पूरा-पूरा लाभ उठाकर सशस्त्र क्रांति की गई और इसीलिए आयरलैंड को स्वाधीनता प्राप्त करने में यश मिला। क्या हिंदुस्थान इसके लिए तैयार है?

इस लेख का विषय यह नहीं है कि क्रांतिकारियों के मार्ग की अच्छाई-बुराई परखें या उसे देखें कि आयरलैंड की तरह हमें भी समर तांडव करना चाहिए या नहीं। पर यह तो स्पष्ट ही है कि जब तक क्रांति या शांति मार्ग के भारतीय देशभक्तों में इस तरह के हौतात्म्य से विपक्ष को हानि पहुँचाने की शक्ति नहीं है तब तक इस तरह के क्षणिक राष्ट्रक्षोभ का कोई मूल्य नहीं। अन्न-त्याग से स्वयं को मृत्यु के अधीन करना आत्मघाती पागलपन है। परकीय सत्ता स्वीकारोक्ति

(Conffession) के लिए देशभक्तों को शारीरिक यंत्रणा देती है, उन्हें लूले-लँगड़े बनाती है उन्हें जबरदस्ती भूखा-प्यासा रखती है, तो उसका दोष उस परसत्ता को लगता है, दुनिया में और विशेषत: हिंदुस्थान में अत्यधिक क्षोभ उत्पन्न होता है। हिंदू वीर जतीन बाबू अन्न-त्याग से मरने की अपेक्षा अपने जैसे दस-पाँच साथियों के साथ पत्वाखाली के सत्याग्रह में मरते या शत्रु की हानि करनेवाली लड़ाई में वीरगति पाते तो कोई दु:ख न था, क्योंकि उस हालत में विपक्ष का भी नुकसान होता। पर अन्न-त्याग से मर जाने के आत्मघाती क्रोध के कारण विपक्ष का थोड़ा भी नुकसान न होगा बल्कि इस अनाड़ी चाल से हम उनका मार्ग ही सुगम कर देते हैं।

उनके विरुद्ध चलते मुकदमों में इन देशवीरों को अधिक-से-अधिक दो-चार सालों की सजा होती। सजा भुगतकर वे फिर से देश-सेवा करने लगते। परसत्ता को सताते। पर उन्हें परसत्ता फाँसी नहीं दे सकती, वे स्वयं अन्न-त्याग का फंदा अपने गले में डालकर मौत को गले लगा रहे हैं। इन देशभक्तों को फाँसी दिलाने के लिए परसत्ता ने क्या-क्या नहीं किया! हजारों रुपए खर्च किए, नए कड़े कानून जारी किए, कई सिफारिशें कीं। फिर भी या तो उनपर कोई आरोप ही सिद्ध न हुआ या उन्हें सिर्फ दस साल की सजा हुई। उन्हें फिर से जी-जान से लड़ते देख परसत्ता दु:खी हो रही थी। उन्हें इस तरह अन्न-त्याग कर एक-दो महीनों में मरते देख उसके मन में लड्डू फूट रहे होंगे। वह अपने आपसे कह रही होगी, 'अच्छा है। मरने दो अपनी बला से। मेरे जानी दुश्मन अपने आप मौत के गाल में जा रहे हैं और मेरा बाल भी बाँका नहीं हो रहा।'

अंदमान में भाई परमानंद, नानी गोपाल, भाई पृथ्वीसिंह, भाई सोहनसिंह आदि अनेक देशभक्तों ने इसी तरह अन्न-जल छोड़ प्राण त्याग करने का प्रयास किया था। तब बैरिस्टर सावरकर ने इसके हानिकारक आत्मघाती परिणामों के बारे में उन्हें सचेत कर उन्हें इस निश्चय से परावृत्त करने का प्रयास किया था। कुछ लोगों ने उनकी बात मानकर अपना आमरण अन्न-त्याग का निश्चय छोड़ दिया। इसीलिए वे अब भी उसी दृढ़ता से देश की सेवा कर रहे हैं। पाठक 'मेरा आजन्म कारावास' पुस्तक का वह प्रकरण जरूर पढ़ें। अगर वे लोग अपनी जिद पर अड़े रहते तो वहीं दम तोड़ देते और यहाँ के लोग उनके नाम तक न जानते। एक प्याला दूध के लिए, एक पौंड तेल बनाने के लिए, एकाध समाचारपत्र या कुरसी-टेबल के लिए अधिकारियों से लड़ो, काम करने से इनकार करो, अधिकारियों की नाक में दम करो, सीमित अवधि तक अन्न-त्याग भी करो। पर प्राण-त्याग? वह भी स्वयं भूखों रहकर? एक छोटी सी माँग के लिए? वह भी बिना विपक्ष की हानि किए?

भगतसिंह, दत्त, जतीन बाबू जैसे धुरंधर देशवीरों को ऐसा सोचना भी नहीं चाहिए। छि: ! यह कैसा हानिकारक क्रोध ! यह तो अनाड़ियों की चाल है, बुद्धिमानों की नहीं। रसद शत्रु की बंद करनी चाहिए न कि अपने ही पक्ष की। युद्धनीति यही कहती है कि शत्रु को भूखों मारो। उसे नाकों चने चबवाओ, उसकी शक्ति नष्ट करो। इसके लिए स्वपक्ष की थोड़ी हानि भी सहो। पर यह क्या कि परपक्ष का तो बाल भी बाँका न हो और हम ही प्राण देकर उसका कार्य सफल करें ? यह तो आत्मघाती विचार है। वीरो, ऐसे विचारों को छोड़कर तुरंत अन्न ग्रहण करो। दुगुना खाओ, विपक्ष की दुगुनी हानि करो। वैध मार्ग से दुगुनी वीरश्री से लड़ो।

हुतात्मा जतींद्रनाथ का अपवाद वंदनीय है, प्रशंसनीय है पर है वह अपवाद ही। सबके लिए वह अनुकरणीय नहीं। शिवाजी कैद में थे तब उन्होंने अनशन करके अपने प्राण नहीं गँवाए। वे तो युक्ति से औरंगजेब की आँखों में धूल झोंककर उसकी कैद से खिसके। वीरो, स्थिति को देख-परखकर, रणनीति में उचित परिवर्तन करो, पर ध्यान रहे कि मूल रणनीति वही रहे !!

□

लाला हरदयाल

आपके घर में कुछ स्वार्थ-त्यागी लोगों की तसवीरें दिखाई देंगी। पर वहाँ न कान्हेरे की तसवीर दिखाई देगी न वैद्य की। कारण यही है न कि उन्होंने बहुत ही अधिक त्याग किया? हमारा चित्र दिखने का कारण भी यही है न कि आज सरकार की मरजी है कि हम आजाद रहें?

हिंदुस्थान की भलाई के लिए कई देशभक्त संसार भर में फैले हैं, पर उनकी तीन पन्नों की भी जीवनियाँ उपलब्ध नहीं हैं। यही उपेक्षा 'हरदयाल' को भी सहनी पड़ी। इसीलिए उनकी कुछ स्मृतियाँ और उनके बारे में अन्य भाषाओं में प्रकाशित सामग्री के आधार पर मैं 'हरदयाल' की जीवनी के बारे में कुछ लिखना चाहता हूँ।

तीव्र बुद्धिमत्ता

उनके बचपन के बारे में निश्चित जानकारी उपलब्ध नहीं है। पंजाब के किस गाँव में उनका जन्म हुआ? उनके प्रारंभिक जीवन के बारे में भी कुछ जानकारी नहीं मिलती। पर इतना ज्ञान है कि कॉलेज जीवन में उनकी बुद्धिमत्ता का तेज फैलने लगा। दिखने में वे सीधे-सादे थे पर उनकी बुद्धि कुशाग्र थी। एम.ए. अंग्रेजी में पूरी यूनिवर्सिटी में प्रथम स्थान पाकर उन्होंने अपनी असाधारणता सिद्ध की। इसीलिए सरकारी छात्रवृत्ति पाकर वे उच्च शिक्षा के लिए विलायत गए।

ईसाई धर्म का प्रभाव

कुशाग्र बुद्धि, महानता दरसानेवाला सनकीपन एवं ईसाई कॉलेज का मिशनरी वातावरण। इन सबके कारण उनपर ईसाई धर्म का प्रभाव पड़ने लगा। उस संवेदनशील मन को लगने लगा कि जब तक हिंदुस्थान ईसाई नहीं बनता उसकी स्थिति नहीं सुधर सकती। लाला लाजपतराय पर इसलाम धर्म का भी गहरा प्रभाव हुआ था।

उनके पिता भी चाहते थे कि वे इसलाम धर्म की दीक्षा लें। पर हमारे सौभाग्य से वह अवसर न आया। हरदयालजी के बारे में भी यही हुआ। वे जिए और मरे भी एक हिंदू के रूप में।

इंग्लैंड में

इंग्लैंड में उन्होंने ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में प्रवेश लिया। वहाँ के अध्यापक भी उनकी विद्वत्ता से प्रभावित हुए। उनमें और उनके अध्यापकों में विचार-विमर्श होने लगा। धार्मिक, तात्त्विक चर्चाएँ होने लगीं। तभी बंगाल के बंगभंग आंदोलन का समाचार इंग्लैंड पहुँचा। विपिनचंद्र पाल, लालाजी और तिलक आदि के नेतृत्व में चले इस आंदोलन में हिस्सा न लेना, जीते-जी मरना था। लगभग इसी समय मैं इंग्लैंड में आ गया। वहाँ मैं पं. श्यामजी कृष्णवर्मा के साथ 'इंडिया हाउस' गया। हिंदू विद्यार्थियों के बारे में पूछताछ करने के क्रम में हरदयालजी का नाम प्रमुखता से ज्ञात हुआ।

हरदयालजी और मैं मिलने-जुलने लगे। मैंने उनमें असाधारण गुण देखे। उनका अनोखापन भी मैंने जान लिया। धीरे-धीरे उनमें एक परिवर्तन पाया। उनका ईसाई धर्म का पागलपन कम होता गया और उनका मन हिंदुस्थानी राजनीति में रुचि लेने लगा।

इसी समय वहाँ गोखलेजी भी आए। सरकार को गोखले थोड़े अपने लगते थे। इसका अर्थ यह नहीं कि वे उन्हें अच्छे लगते थे। पर वे सरकार को तिलकजी की तुलना में ठीक लगते थे। पर हम क्रांतिकारियों के बारे में सरकार की राय कभी भी अच्छी नहीं थी। उसके लिए हम डरावने थे। अर्थात् यह कहा जा सकता है कि हम बिलकुल अनचाहे थे और वे तिलक को चाहते थे, पर तिलक की अपेक्षा विचार-विमर्श करने के लिए गोखले अच्छे थे। इसलिए गोखले सरकार को करीबी लगते थे। पर सरकार को हममें से कोई भी रास नहीं आते थे। आज भी यही दिखाई देता है। सरकार उसीको अपना मानने का दिखावा करती है जिसपर विश्वास रखने से उसका कम-से-कम नुकसान होता हो। वह विचार-विनिमय उसीके साथ करती है। मुलाकात करती है।

क्रांति की प्रतिज्ञा

अब हरदयाल के मन पर क्रांतिकारी विचार छा गए। उन्हें लगा इंग्लैंड में जब तक जबरदस्त दहशत पैदा करनेवाला आंदोलन नहीं चलता तब तक अंग्रेजों की हिंदुस्थान पर पकड़ ढीली नहीं होगी। वहाँ वैसी स्थिति पैदा करने के लिए

हरदयाल ने मेरे सामने मेरे घर में सशस्त्र क्रांति की प्रतिज्ञा ली। एक बार वे जो मन में ठान लेते वह करके छोड़ते थे। सशस्त्र क्रांति की प्रतिज्ञा के तुरंत बाद वे ऑक्सफोर्ड गए और वहाँ अपनी छात्रवृत्ति और विद्यार्थी दशा का त्यागपत्र दे आए। अध्यापकों ने उन्हें समझाने का हर तरह प्रयास किया। उनकी विद्वत्ता के लाभ गिनाए, पर उनके मन पर इन बातों का जरा भी असर नहीं हुआ।

एकांतिक भावना

उन्हें सिर्फ इतने से ही संतोष न मिला। उन्हें लगा कि जिनकी अधीनता का हम विरोध कर रहे हैं, उनके कपड़े पहनना भी अपराध है। हमने उन्हें बहुत समझाने का प्रयास किया कि इंग्लैंड की बर्फीली हवा में सिर्फ कफनी या धोती पहनने से सेहत पर बुरा असर होगा, पर उनकी उदात्त सनक के आगे हमारी एक न चली। वे भारतीय कपड़े ही पहनते रहे। खाने के बारे में उन्होंने संकल्प किया कि हिंदू के हाथ से बना हिंदू भोजन ही करना है। जो हिंदू नहीं थे उनके हाथ का नहीं खाएँगे। और वे हिंदू पद्धति का भोजन करने लगे।

इस बारे में हम दोनों में मतभेद था। मैं कहता था, ''हिंदुस्थान में हम पूरी जिंदगी अंग्रेजों के बावरची होते हैं। कम-से-कम यहाँ तो उनसे सेवा करा लें। उनकी औरतों से अपने जूठे बरतन साफ करा लें। उनसे अपना खाना बनवा लें।'' पर हरदयाल को हमारा तर्क नहीं भाता था। उनकी कपड़ों एवं खाने के बारे में जिद का अपेक्षित परिणाम होकर रहा। उन्हें ब्रांकायटिस की बीमारी हुई। शुरू-शुरू में उन्होंने यह बीमारी हमसे छिपाई। पर जब वह बहुत अधिक बढ़ गई तब उनका उपचार करना आवश्यक हो गया। उनकी तबीयत थोड़ी सुधरी तो उन्हें पेरिस में बैरिस्टर राणा के पास भेजा गया। ये राणा अभी भी जीवित हैं। उन्होंने और उनकी जर्मन पत्नी ने हरदयालजी की अच्छी देखभाल की। इससे उनकी तबीयत ठीक हो गई। पर इसके बाद उन्होंने उस जर्मन महिला के हाथ का बना खाना छोड़ दिया। इतना ही नहीं, उन्होंने उससे बातें करना भी बंद कर दिया।

क्रांति का जोर

स्वास्थ्य ठीक होते ही 'अभिनव भारत' संस्था की सलाह के अनुसार वे क्रांति के तत्त्वों का प्रचार करने के लिए हिंदुस्थान पहुँचे। वहाँ पहुँचते ही उन्होंने पंजाब में आश्रम स्थापित कर धूमधाम से प्रचार कार्य शुरू किया। पर जैसे ही अंग्रेज सरकार को पता चला कि अभिनव भारत का केंद्र हिंदुस्थान है और वहाँ हरदयाल काम कर रहे हैं, उनके नाम सरकारी वारंट निकल गया। यह खबर सुनते

ही वे गुप्त रूप से स्थानांतरण करने लगे; पर जब उन्होंने जान लिया कि हिंदुस्थान में अधिक समय तक सुरक्षित नहीं रह सकते तो वे फिर से इंग्लैंड लौटे। इंग्लैंड में क्रांतिकारी आंदोलन जोर पकड़ रहा था। बम तैयार हो रहे थे। फ्रांस से बूटों के पार्सलों में पिस्तौलें आती थीं। वे वहाँ से हिंदुस्थान भेजी जातीं।

गुप्त सिपाहियों को चकमा

गुप्त पुलिस हाथ धोकर हमारे पीछे पड़ गई। वे हमारे सहचर ही हो गए, कई बार हम उनके हाथों में छाते पकड़ाकर आराम से चलते रहते और वे हमारे छाते पकड़कर चुपचाप हमारे पीछे-पीछे चलते। हमारा एक साथी, चारी नामक मद्रासी गुप्त पुलिस में था। कई दिनों तक सरकार को इसकी खबर ही नहीं थी। पर उससे हमें जानकारी मिलती रहती थी। ऐसे ही एक दिन एक आदमी हमारे पास आया। मैंने उसे पहचाना। उसका स्वागत किया। उसने कहा कि वह हमारा कमरा देखना चाहता है। मैंने कहा, "अच्छी बात है।" मैं उसे अपने कमरे में ले गया। कमरे में दो-चार अखबार थे, एक आरामकुरसी थी। हमने उसे कुरसी पर बैठाया। उसी कुरसी में बम रखे थे। उद्देश्य यही था कि बम फट ही गया तो वह और हम सभी नष्ट हो जाएँगे।

हमारे समाचार से ब्रिटिश डर गए। धींगरा ने कर्नल वायली का वध कर दिया। वे और अधिक आतंकित हो गए। जो काम हजारों हस्ताक्षरों से न होता वह इस एक घटना ने कर दिखाया।

जर्मनी से दोस्ती

इसी समय हरदयाल पेरिस वापस गए। वहाँ से मध्य यूरोपीय देशों से संबंध जोड़ने की कार्यवाही शुरू हुई। हेतु यही था कि अगर संभव हो तो जर्मनी से दोस्ती करें…पर यह इतिहास पट्टाभि सीतारामय्या को मालूम नहीं। उनके मत से राष्ट्र का इतिहास सन् १९२० के बाद शुरू हुआ। कोई बच्चा यह माने कि संसार उसके जन्म से शुरू हुआ तो भी उसके पिता का जन्म उसके सामने हुआ है यह वह कहेगा क्या? पट्टाभि सीतारामय्या को यह इतिहास मालूम नहीं। पर वह घटित ही नहीं हुआ उनको तो यही कहना है। क्या इसीको 'सत्य' कहते-हैं?

इतिहास सत्य मुझे कहना ही पड़ेगा। उसमें से क्या लेना है और क्या छ।ड़ना है इसका निर्णय आप करें। मैं नहीं कहता कि सारी-की-सारी ऐतिहासिक घटनाओं को स्थान दो। यह भी नहीं कहता कि सभी को निकाल दो। मैं तो केवल इतिहास कह रहा हूँ।

इंग्लैंड में 'तलवार' पत्र शुरू हुआ। सन् १८५७ के स्वातंत्र्य युद्ध की पुस्तक प्रकाशित हुई। हरदयाल ने पेरिस में 'वंदे मातरम्' पत्र शुरू किया। जहाँ-तहाँ हिंदुस्थान का बोलबाला शुरू हुआ।

महात्मा गांधी की नीति

उस समय महात्मा गांधी यूरोप में ही थे। उनका और हरदयाल का परिचय हुआ। गांधीजी के बारे में बस यही कह सकता हूँ कि हममें से किसीकी उनसे न पटी। उनके और हमारे विचारों में जमीन-आसमान का अंतर था। कहीं से भी 'God save the King' की आवाज आती तो वे फट उठकर खड़े हो जाते। हम अपनी जगह पर बैठे रहते। इसपर वे टीका करते। वे कहते, ''राजा श्रेष्ठ है। ईश्वरीय अंश है। साम्राज्य के हर व्यक्ति को उसका आदर करना चाहिए।'' अर्थात् यह विचारधारा हमें पसंद न थी। गांधी का झुकाव साम्राज्य रक्षा की ओर था। अफ्रीका के 'बोअरों' का स्वातंत्र्य छीनने में गांधीजी ने ब्रिटिश साम्राज्य-सत्ता की जो मदद की, क्या वह अहिंसा तत्त्व के अनुरूप थी? पर उनकी कुछ इसी तरह की वृत्ति बनती जा रही थी। वाद-विवाद के समय हम क्रांतिकारी मेज की एक तरफ बैठ जाते और उनके दक्षिण अफ्रीका के अनुयायी दूसरी तरफ। वाद-विवाद शुरू होता और हर दिन ऐसे मजे की बात होती की गांधी पक्ष के अनुयायी एक-एक करके क्रांतिकारियों की तरफ आ बैठते। अंत यह होता कि उस तरफ अकेले गांधी ही बचते। हमारे पंथ का 'मारो-काटो पंथ' नाम से उल्लेख कर उन्होंने उस नाम की एक पुस्तक भी प्रकाशित की।

मन की दुविधा

इस तरह अपनों की प्रखर आलोचना और परकीयों के अत्याचार के बीच भी हमारा कार्य जारी था। हिंदुस्थान भेजे शस्त्रास्त्र अपना कमाल दिखाने लगे। पकड़-धकड़ होने लगी। हमारे सहोदर, सगे पकड़े गए; हमारा अता-पता मालूम हो, इसलिए उनपर अत्याचार होने लगा। मैं बेचैन होने लगा। हर रोज वहाँ के समाचार आते। मन की बेचैनी और बढ़ जाती। हरदयाल मुझे समझाने का प्रयास करते। पर मेरे मन की दुविधा बढ़ती गई। ''मेरे सहोदर, मेरे मित्र कारागार में कष्ट सह रहे हैं और मैं यहाँ फ्रांस के बगीचों में आराम से टहल रहा हूँ। यह भी क्या जीना है?'' हरदयाल कहते, ''तुम नेता हो, आंदोलन की आत्मा हो।'' पर मुझे यह ठीक नहीं लगता। मैं कहता, ''मैं नेता हूँ या नहीं यह अभी सिद्ध नहीं हुआ। पर जो अत्याचार हमारे सगे-संबंधी सह रहे हैं, उन्हें मैं भी सहूँगा तभी कार्यपूर्ति होगी।

जहाँ मेरे सगे-संबंधी तड़प रहे हैं, वहाँ मैं जाऊँगा। उनमें मैं जाऊँगा।''

तत्त्वज्ञान की तरफ झुकाव

मैं चल पड़ा। स्टेशन पर बहुत से लोग इकट्ठा हुए थे। मैं वहाँ दो मुरझाए और ऊपरी तौर से बुद्धू चेहरे देख रहा था। एक चेहरा था मैडम कामा का और दूसरा था हरदयाल का। हरदयाल के वे अंतिम पुण्यदर्शन थे। मैं वहाँ से चल पड़ा। इंग्लैंड पहुँचा और वहीं पकड़ा गया। मुझे कारावास हुआ और आंदोलन पिचक गया। हरदयाल के कानों तक खबरें पहुँचीं। नवभारत मंडल के लोग शपथ तोड़ सरकार के मुखबिर बने। यह सब सुनकर वे पूरी तरह निराश हुए। राजनीतिक अध्ययन छोड़ वे तत्त्वज्ञान का अध्ययन करने लगे।

उन्हें अंग्रेजी, फ्रेंच, पारसी, उर्दू, संस्कृत आदि भाषाओं का अच्छा ज्ञान था। यूरोप की अन्य भाषाओं का भी उन्हें कामचलाऊ ज्ञान था। उन्होंने कई भाषाओं, कई भाषाओं में बिखरे धर्म और तत्त्वज्ञान के विचार जान लिये। अंत में उन्होंने बौद्ध धर्म के अनुसरण का निश्चय किया।

नया धर्म

आखिर होनोलूल में जीवन के लिए जितना आवश्यक है, उतना ही खाकर वे बड़ा कष्टमय जीवन बिताने लगे; पर फिर भी उन्होंने अपना अध्ययन जारी रखा। उन्होंने सोचा कि वे नए-पुराने के मेल से नया धर्म स्थापित करेंगे। विचारों का ढाँचा तैयार हो रहा था। विचार मूर्त रूप में आने लगे। उसी समय सरकारी रोष के पात्र भाई परमानंद हिंदुस्थान छोड़कर वहाँ आ गए। उनकी और हरदयाल की भेंट हुई। भाई परमानंद ने उन्हें अध्यात्मवाद से परावृत्त किया। उन्होंने हरदयाल से कहा, ''अभी तक हमारे देश में क्या कम धर्माचार्य हुए हैं जो आप भी इस तरफ झुक रहे हैं। यह काल है हिंदुस्थान की स्वतंत्रता के प्रश्न को सुलझाने का।'' भाई परमानंद के युक्तिवाद से हरदयाल के मन में परिवर्तन आया। भारतीय स्वतंत्रता प्राप्ति के विचारों ने उन्हें घेर लिया और वे तुरत अपने स्वभाव के अनुसार तन-मन-धन से इस लक्ष्य के पीछे पड़े।

विश्वयुद्ध का अवसर

उस समय विश्वयुद्ध के बादल मँडराने लगे थे। 'इंग्लैंड का जो शत्रु वह हमारा मित्र' यह भावना जाग्रत हुई। जर्मनी में प्रयास करने की इच्छा से वे यूरोप गए। हरदयाल यूरोप पहुँच तो गए पर वहाँ जीवन-निर्वाह कैसे हो? जिस देश में

जाते थे, वहीं उस देश की भाषा में वे एकाध लेख लिखते और उसके पारिश्रमिक पर किसी तरह गुजारा कर लेते। बड़ा ही कष्टमय जीवन था उनका। आज के सैकड़ों कांग्रेस भक्तों के कष्ट इकट्ठा करने पर भी उनकी तुलना 'अभिनव भारत' के एक-एक सदस्य के कष्टों और त्याग से नहीं हो सकती। पट्टाभि सीतारामय्या को ये बातें सच नहीं लग सकतीं। पर किसे क्या लगता है इसपर इतिहास निर्भर नहीं होता।

बीस साल पहले की राजनीति

धीरे-धीरे हमें जर्मनी से संबंध स्थापित करने में सफलता मिलने लगी। यूरोपीय युद्ध के समय हिंदुस्थान में विद्रोह की आग फैलनी चाहिए यह बात जर्मनी को पसंद आई। धन भी इकट्ठा होने लगा। दुनिया भर में फैले भारतीय लोग चाहे जो मदद देने के लिए तैयार हुए। वहाँ वे आराम की जिंदगी जी रहे थे। कमखर्ची, हिंदू संस्कृति के अनुरूप रहन-सहन आदि गुणों के कारण उन्होंने थोड़ा-बहुत पैसा इकट्ठा किया था। हिंदवी स्वराज्य के लिए उन्होंने अपनी जमा पूँजी प्रस्तुत की। जो स्वराज्य हिंदू प्राप्त करनेवाले हैं, वही आगे चलकर साम्राज्य होनेवाला है। हमारे इस तरह परदेश में भूखे-प्यासे रहकर, दर-दर की खाक छानकर चलाए आंदोलन हवाई जहाज से परराष्ट्र में घूमनेवाले आंदोलनकारियों के आंदोलनों से क्या आपको कम महत्त्व के लगते हैं? पर क्या इसीसे आप यह कहते हैं कि स्वराज्य प्राप्ति की सच्ची राजनीति सन् १९२० के बाद शुरू हुई? अरे, हमारे जीते-जी आपको ऐसा कहने की हिम्मत कैसे हुई? इधर, हरदयाल किसी तरह अमेरिका गए। वहाँ के सिख लोगों की मदद से हिंदुस्थान की सेना में फूट डालने की कोशिश प्रारंभ हुई।

अमेरिका की कैद से पलायन

इसी समय हरदयाल 'गदर' नाम का पत्र सात भाषाओं में प्रकाशित करने लगे। उसमें मेरी 'सत्तावन का स्वातंत्र्य समर' पुस्तक का अनुवाद धारावाहिक रूप में छपने लगा। 'गदर' लोगों में इतना प्रिय हुआ कि वे उसके अंक कंठस्थ करने लगे और सभी तरफ ब्रिटिश-विरोधी क्रांति का प्रचार होने लगा। यह और इसी तरह के समाचार ब्रिटिशों तक पहुँचने लगे होंगे। तभी उसने अमेरिका पर दबाव डालकर हरदयाल को पकड़ने का प्रयास किया। पर एक तो हरदयाल को पकड़ने से अमेरिका को कोई लाभ नहीं होता और दूसरे उस समय उसकी नीति शस्त्रास्त्र बेचकर पैसा कमाने की भी थी, अतः दिखावे के लिए उसने हरदयाल को कैद में डाला, पर अंदर-ही-अंदर उनके भाग जाने का प्रबंध भी किया। इसका लाभ

उठाकर हरदयाल वहाँ से भागकर मेक्सिको गए। वहाँ से फिर प्रयास होने लगे।

विद्रोह की तैयारी

योजना यह थी कि पैसिफिक महासागर से ब्रह्मदेश आकर, वहाँ के बंदरगाह पर कब्जा करेंगे। वहाँ से बंगाल जाकर विद्रोह की आग फैलाएँगे। अंदमान पर हमला कर वहाँ के कारागार में बंद क्रांतिकारियों को मुक्त करेंगे···वहाँ की सफलता का लाभ उठाने के लिए मद्रास की तरफ 'एमडन' जहाज भी तैयार रखा गया था। पर यह योजना सफल होनेवाली नहीं थी। एक नई खबर हवा में उछली। खबर यह थी कि हिंदुस्थान में मुसलमान राज्य की पुनर्स्थापना होगी। कैसर ने खलीफा को हिंदुस्थान का बादशाह बनाने का वचन दिया। हाँ, उन्हें क्या? उन्हें तो हिंदुस्थान में विद्रोह होने से मतलब था। वहाँ का बादशाह खलीफा हो या कोई और? हरदयाल की बात और थी। वे हिंदुस्थान में हिंदुओं का राज्य चाहते थे। वही उनका लक्ष्य था। उस लक्ष्य को धक्का लगा देख उन्होंने अपना ध्यान वहाँ से हटा लिया। पर मुसलमानों को बहुत खुशी हुई। हजारों लोग खलीफा की अगवानी में आगे बढ़े। उनमें से कई भूखों मरे, पर उससे क्या?

हिंदुस्थान में विद्रोह करने की कल्पना मर गई। इससे हरदयाल का संवेदनशील, कोमल मन फिर उदास हो गया। आंदोलन से ध्यान हटाने पर उनकी स्थिति अनुकंपनीय हुई। स्वदेश हित के लिए हरदयालजी ने अपना अध्ययन छोड़ा। सुनहरा भविष्य छोड़ा। स्वदेश स्वातंत्र्य के लिए देश-विदेश में भूखों भटकते रहनेवाले उस महान् देशभक्त का यहाँ हिंदुस्थान में स्मरण भी नहीं किया जाए कितनी लज्जा की बात है!

उपकारकर्ता की उपेक्षा

जिनके अनवरत प्रयत्नों से विजयी जर्मनों ने वारसा में हुए समझौते के कच्चे मसौदे में 'हिंदुस्थान की स्वतंत्रता' की शर्त रखी थी उस देशभक्त की राजनीति को नकारकर, हिंदुस्थान की सच्ची राजनीति सन् १९२० के बाद ही शुरू हुई—यह कहना सौ प्रतिशत अन्याय है। खुशी इसी बात की है कि हरदयालजी चाहे परलोक सिधार गए हों, पर इस सत्य एवं न्याय घटना का वर्णन करने के लिए मैं अभी जीवित हूँ।

बाद में थोड़ी शांति स्थापित होने पर हरदयाल को इंग्लैंड में रहने की अनुमति मिली। पर जिस मातृभूमि के लिए उन्होंने प्राणों की बाजी लगाई, पूरा जीवन समर्पित किया था वह मातृभूमि आँखों से देखने की तीव्र लालसा उनके मन

में उठी। उन्होंने हिंदुस्थान जाने के बहुत प्रयास भी किए। उन्हें हिंदुस्थान लौटने की अनुमति भी मिली। पर उनके पास वहाँ जाने के लिए टिकट के पैसे नहीं थे। यह बात वह किसीसे किस मुँह से कहते? यह बात भाई परमानंद के कानों तक पहुँची। उन्होंने हरदयाल को मनीऑर्डर से टिकट के पैसे भेजे। पर जैसे ही परमानंदजी के हाथों में मनीऑर्डर की पावती आई, वैसे ही यह समाचार भी आया कि हरदयालजी चल बसे हैं।

मातृभूमि के दर्शनों की आस मन में लिये वह महान् देशभक्त परलोक सिधारा। उस महान् देशभक्त की मृत्यु की खबर समाचारपत्र के एक कोने में छपी। अरे, तुम में से कोई चूहा मर जाए तो तुम लोग उसकी खबर के लिए कई स्तंभ भर देते हो। बड़े छापे में छापते हो 'प्रसिद्ध देशभक्त चूहा मर गया'। और हरदयाल जैसे मातृभूमि के लाल को एक कोने भर की तुच्छ जगह देते हो! निश्चय ही यह अत्यंत लज्जाजनक बात है।

(पुणे में दिनांक १४.५.१९३९ के दिन, वसंत व्याख्यानमाला में सेनापति बापट की अध्यक्षता में हुआ भाषण)।

□

क्रांति की चिनगारियाँ

काकोरी कांड के क्रांतिकारियों को सेशंस कोर्ट में मिली सजा कम है यह सोचकर हाईकोर्ट ने उन्हें भयंकर अनुपात में बढ़ा दिया। दस वर्ष की, चौदह वर्ष की सजा आजन्म कारावास तक बढ़ाई। अपील करने से सजा कम होगी इसलिए अपील की गई थी। क्रांतिकारियों में से तीन-चार को फाँसी पहले ही हुई थी; पर क्रांति के काकोरी कांड की चिनगारी से भड़की हाईकोर्टी आग उससे शांत न हुई, अत: शेष क्रांतिकारियों की सजा अधिक भयंकर अनुपात में बढ़ा दी गई।

जिन्हें चार-पाँच वर्ष का सश्रम कारावास था उन्हें दस वर्ष कर दिया गया। जिन्हें दस वर्ष का काला पानी था उन्हें आजीवन कारावास हो गया। इससे कोई यह अनुमान न करे कि न्यायाधीश महाशय के मन में दया या सौम्यता का भाव नहीं था। क्योंकि उन्होंने अन्य अभियुक्तों के दंड कठोरता से बढ़ा भी दिए हों तो भी सहृदयता के कारण कुछ का दंड बढ़ाने से साफ मना किया। उदाहरणार्थ जिन्हें सेशंस कोर्ट में फाँसी की सजा हुई थी उन्होंने भी हाईकोर्ट में अपील की थी, पर अन्य अभियुक्तों का दंड दुगुना करते हुए भी इनका दंड बिलकुल बढ़ाया नहीं गया। बल्कि एकमत से उदारतापूर्वक यह घोषित किया कि उन्हें सेशंस कोर्ट में दी गई फाँसी का दंड पर्याप्त है। न्यायमूर्ति की इस उदारता के लिए क्रांतिकारी उनके प्रति आभार व्यक्त करेंगे ही, क्योंकि अगर हाईकोर्ट उनकी सजा भी दुगुनी कर अगले जन्म में भी फाँसी देने का दंड सुनाता तो कोई उसका क्या कर सकता था?



अगर हाईकोर्ट या उसके सहारे चलनेवाली सरकार यह सोचती हो कि एक क्रांतिकारी कोर्ट के अभियुक्तों को इस तरह कड़ा दंड देने से बाकी क्रांतिकारी डर जाएँगे और फिर से इस तरह के क्रांतिकांड नहीं करेंगे, तो उनकी वह इच्छा सफल होने का उतना रंग अभी दिख नहीं रहा है। क्योंकि काकोरी कांड की चिनगारी उसमें फाँसी चढ़े तीन-चार क्रांतिकारियों के उष्णोष्ण रक्त की लाल-लाल बौछार

से अभी बुझी भी नहीं है कि उधर बंगाल में एक और भयंकर कांड घटित होने के मार्ग पर है। पुलिस ने एक मकान को घेरकर वहाँ से कई बम, बंदूकें, पिस्तौलें और क्रांतिकारी साहित्य बरामद किया। उस मकान का मालिक, उसका भाई और उसके दो बेटे अलग-अलग स्थानों पर पकड़े गए हैं और गाँव में और भी कई लोगों की धर-पकड़ हो रही है। अंदर-ही-अंदर जलनेवाली क्रांति की एक और चिनगारी उड़ी और उसने सत्तांधों की क्रोध की दाढ़ी फिर से जला दी। काकोरी कांड में पकड़े गए अभियुक्तों की साल-डेढ़ साल की दुर्दशा और हाईकोर्ट अपील का उपर्युक्त भयंकर निर्णय के होते हुए भी कि क्रांतिकारियों के मरने-मारने के भयानक उद्योग बंद होते नहीं दिख रहे। या उन उग्र उद्योगों को पूरा करने के लिए शस्त्रास्त्रादि सामग्री इकट्ठा करने के लिए जो लाखों रुपयों का धन जुटाना पड़ता है उसको प्राप्त करने के लिए डाले जानेवाले राजनीतिक डाके कम होते जाने के भी कोई चिह्न नहीं हैं। हर सप्ताह ऐसे राजनीतिक डाके डाले जा रहे हैं। बीच में क्रांति का दम तोड़ने के लिए बंगाल के अनेक नेताओं को दृष्टिबद्ध, स्थलबद्ध और काराबद्ध कर दिया गया। पर सुभाष बाबू सहित उनमें से अनेक को छोड़ दिया गया। पर क्रांति की आग फिर भी अंदर-ही-अंदर सुलग ही रही है।

इन क्रांतिकारियों को फाँसी चढ़ा उष्ण रक्त से क्रांति की आग बुझाने का सरकार का प्रयत्न इस तरह निष्फल हो रहा है। इतना ही नहीं, आग पर पड़े मिट्टी के तेल की तरह, क्रांतिकारियों के रक्त से यह आग उलटे और अधिक भड़क रही है। पच्चीस साल से क्रांति का रक्त छिड़ककर क्रांति की चिनगारियाँ बुझाने का प्रयास सरकार ने करके देखा है। पर वह पूर्णरूपेण सफल होता दिखता नहीं है, अतः अभी भी क्रांति की आग बुझाने का सरल और सफल उपाय, इतिहास के वैद्यकशास्त्र तथा जागतिक अनुभव ने जिसे रामबाण माना है, सरकार को उसीको आजमाना चाहिए। क्रांतिकारी जिस क्रांति की बात करते हैं, उसे सरकार स्वयं ही कर दे। हिंदुस्थान को स्वातंत्रता देकर सरकार क्रांतिकारी वृक्ष के मूल पर ही कुल्हाड़ी चला दे। पर क्या सरकार इस उपाय को आजमाएगी? क्या क्रांति मरेगी? क्या इतिहास की पुनरावृत्ति रुक जाएगी? क्या विधि की विडंबना टल जाएगी?

अगर ये चिनगारियाँ हिंदुस्थान के अंदर-ही-अंदर उड़ती रहतीं तो भी सरकार को इतना डर नहीं था। पर ये क्रांतिकारी आगामी विश्वयुद्ध में सरकार की रोकथाम से हाथ मिलाने का अति दुष्टतापूर्ण कार्य कर रहे हैं। चीन में ही देखें, चीन की राष्ट्रीय सरकार अंग्रेजों के विरुद्ध है। चीन के तुमुल स्वातंत्र्य युद्ध को दबाने के लिए अंग्रेजों ने वहाँ हजारों सैनिक और बड़ी-बड़ी युद्ध नौकाएँ भेजी हैं। इसके विपरीत रूस ने चीन के राष्ट्रीय पक्ष को अपना समर्थन दिया है। रूस चीन में प्रबल

सत्ता स्थापित कर चीन की सहायता से हिंदुस्थान में राज्य क्रांति कराने का इच्छुक है इस अवसर का लाभ उठाने के लिए चीन में बसनेवाले हिंदुस्थानी क्रांतिकारी चीन और रूस का निरंतर पक्ष ले रहे हैं। अंग्रेजों ने हिंदुस्थान के कुछ सैनिकों को चीन में चीन से लड़ने के लिए भेजा। यह बात भारतीय क्रांतिकारियों को अच्छी नहीं लगी। चीन में जाकर भारतीय सेना चीन के विरुद्ध लड़े इसके लिए हर देशभक्त भारतीय नेता का विरोध था। भारतीय सदस्यों ने विधानमंडल में भी इसका यथासंभव विरोध किया। बौद्ध होने के नाते चीनी लोग हम हिंदुओं के धर्मबांधव हैं। वे अपने देश की स्वतंत्रता का पवित्र युद्ध लड़ रहे हैं। उसमें भी यदि चीन स्वतंत्र हुआ, प्रबल हुआ तो उसका हिंदुस्थान की स्वातंत्र्य कामना को समर्थन मिलने की संभावना अधिक है। पौरुष जिस भारतीय सेना में नहीं है वह ऐसी स्थिति में अपने देश के पैरों में पड़ी गुलामी की बेड़ियों को तोड़ने अंग्रेजों द्वारा दिए जानेवाले तुच्छ वेतन के लिए चीनियों को मौत के घाट उतार चीन के पैरों में भी अंग्रेजी गुलामी की बेड़ियाँ डालने में उसकी सहायता करे, यह अति नीचतापूर्ण व्यवहार किसी भी भारतीय व्यक्ति के लिए लज्जाजनक था। अतः वरिष्ठ विधानमंडल ने भी सरकार से कह रखा था कि वह चीन में भारतीय सेना को न भेजे। पर बिना इसपर ध्यान दिए अंग्रेजों ने भारतीय सेना को चीन भेज ही दिया। विधानमंडल के हाथ में केवल शाब्दिक विरोध करने की ही सत्ता थी। सो वह खून का घूँट पीकर रह गया।

पर भारतीय क्रांतिकारियों का बल केवल शब्दों में समाया नहीं होता। बल्कि विधानमंडल का शाब्दिक बल जहाँ समाप्त होता है वहीं से क्रांतिकारियों के उग्र उपाय शुरू होते हैं। विधानमंडल की सलाह को ठुकराकर जब अंग्रेजों ने भारतीय सेना को चीन भेजा तब चीन में कार्यरत गुप्त भारतीय क्रांतिकारी संस्थाओं के सदस्य गुप्त एवं प्रकट रूप में सिख आदि भारतीय सैनिकों से मिले और उन्होंने उन्हें समझाया, ''आप लोगों का कर्तव्य अपनी मातृभूमि को दासता की शृंखलाओं से मुक्त कराना है, वह तो आपसे होता ही नहीं। वहाँ आपकी दाढ़ी-मूँछ और तलवार बकरियों की पूँछ की तरह लेंड़ी हो जाती हैं। क्या वह पाप आपको नरक में भेजने के लिए कम है जो अब आप चीन को भी गुलामी में धकेलने के लिए यहाँ आए हैं। अपनी मातृभूमि को गुलामी से मुक्त करने में असमर्थ आपकी मूँछें और तलवारें, चीनियों को गुलामी में धकेलने के लिए कैसे फड़फड़ा रही हैं? देशबांधवो, अगर आप स्वदेश को गुलामी से मुक्त नहीं कर सकते तो कम-से-कम अंग्रेजों द्वारा फेंके गए कुछ टुकड़ों के लिए कुत्ते बन, चीन जैसे अपने पड़ोसियों को गुलामी में धकेलने का महापाप तो न कीजिए।'' बार-बार होनेवाले इस उपदेश से

भारतीय सैनिकों के मन जल्दी ही बेचैन हो गए। अंग्रेज अधिकारी जल्दी ही जान गए कि उन्हें चीन के विरोध में लड़ाना खतरे से खाली नहीं। उन्हें कई बार शंघाई से हाँगकाँग और हाँगकाँग से शंघाई भेजा गया। इतने में उस सेना में विद्रोह होने की संभावना दिखाई देने लगी। कुछ वरिष्ठ भारतीय सैनिक अधिकारियों को अंग्रेज-विरोधी षड्यंत्र रचने के आरोप में गिरफ्तार कर उनपर सैनिकी अभियोग (कोर्ट मार्शल) भी चलाए गए। १९ जून को तार आया कि दिलेर राज्य क्रांतिकारी हरबतसिंह ने शंघाई के अंग्रेज सरकार के प्रमुख पुलिस अधिकारी को अपनी बंदूक का निशाना बनाकर मार डाला। राज्य क्रांति के और भी कई प्रयत्नों और षड्यंत्रों की जानकारी मिलती गई। भारतीय क्रांतिकारियों की गुप्त संस्थाओं का जाल क्यांटन, शंघाई, हाँगकाँग आदि प्रमुख शहरों में फैला हुआ है और उनकी नीति चीनी राष्ट्रीय पक्ष की सहायता कर अंग्रेजों की नाक नीची करना है। इसके पीछे हेतु है अंग्रेजों के चीन से निकल जाने के बाद चीन की राष्ट्रीय सरकार का समर्थन एवं रूस की मित्रता प्राप्त करना और फिर जब वे दोनों राष्ट्र अंग्रेजों से लड़ाई करें तब ब्रह्मदेश की सरहद पर विद्रोह कर हिंदुस्थान पर आक्रमण कर, हिंद-भू पर राज्य क्रांति का झंडा फहराना।

पर अंग्रेज इतने मूर्ख नहीं कि वे चीन में छिपे भारतीय क्रांतिकारियों के दाँव न समझते। उस चाल के मर्म को समझना हम-आप जैसे विधानमंडल, खादीमंडल के अंग्रेजी चाबुक की मार के आदी सदस्य के लिए असंभव था। हम इसे सिरफिरों की सनक, छोटे बच्चों का खेल समझ लेते। पर अंग्रेजों को उस दाँव का अर्थ तत्काल ज्ञात हुआ। अंग्रेज विधानमंडल, खादीमंडल आदि सभ्य संस्थाओं के निरुपद्रवी खेल बड़ी दिलचस्पी से देखेंगे। उनकी वाहवाही भी करेंगे। पर यह भी सर्वज्ञात है कि क्रांतिकारियों के साहसी खेलों के बारे में सुनते ही उनकी त्योरियाँ चढ़ जाती हैं और वे चिढ़कर चाहे जिसे काटने लगते हैं। अन्य आंदोलनों के नेताओं की अस्सी हजार की भीड़वाली सभा में कड़ी-से-कड़ी भाषा बोली जाने पर भी गवर्नर साहब आराम से सोते रहते हैं। पर कोई अठारह वर्ष का क्रांतिकारी लड़का कोई क्रांतिकारी शब्द बोले तो उसे 'राज्य-विरोधी लड़ाई' लड़नेवाला घोषित किया जाता है। अंग्रेजों को अस्सी हजार लोगों से भी अधिक डर क्रांतिकारियों के अठारह साल के सिरफिरे बच्चे से लगता है। इसका कारण यह कि अंग्रेज घाट-घाट का पानी पिए हुए होता है। उसे सभ्य सिरफिरेपन एवं असभ्य (दंगाई) सिरफिरेपन में अंतर तत्काल समझ में आता है। उसमें चीन के इन क्रांतिकारी उद्दंडों को चीन के सर्प का विषैला दाँत और रूस के भालुओं के तेज नाखून मिल गए हैं। आग की साधारण चिनगारियाँ कितनी ही उड़ती हैं और बुझ जाती हैं, पर यह चिनगारी क्रांति

की आग की है। समय पर ध्यान न दिया तो जैसे गैरीबाल्डी दक्षिण अमेरिका की सुसज्जित सेना लेकर इटली में उतरा, उसी तरह रूस और इंग्लैंड की लड़ाई छिड़ते ही ये भारतीय क्रांतिकारी रूसी प्रशिक्षकों के मार्गदर्शन के अनुसार सैनिक, वैज्ञानिक एवं सामरिक प्रशिक्षण लेकर ब्रह्मदेश की सीमा पार कर हिंदुस्थान में नहीं उतरेंगे—यह कैसे कहा जा सकता है। फिर तो हिंदुस्थान में क्रांति होकर रहेगी। हमारे उदारवादी कायरों ने भले ही यह राजनीति का बचपना समझ लिया हो, पर शेरनी के ताजे दूध पर पले चालाक अंग्रेजों को इसमें संभावना दिखी। यह सहज भी था। जैसे ही अंग्रेजों की सूक्ष्म राजनीतिक दृष्टि ने देखा कि चीन, रूस और भारतीय क्रांतिकारी ब्रह्मदेश पर आक्रमण करने की तैयारी कर रहे हैं, उन्होंने जिस मुस्तैदी से आज तक हिंदुस्थान की वायव्य सरहद पर युद्ध की तैयारी रखी थी, उसी मुस्तैदी से हिंदुस्थान की पूर्व सीमा पर भी लड़ाई की तैयारी करने के लिए वे तत्काल जुट गए।

आज तक सरसीमा (सरहद) और सरसीमा युद्ध की बात करते ही भारतीय लोगों को सिर्फ वायव्य सरसीमा ही दिखती थी। रूस ने भी पहले वहीं से हमला करने की सोची थी। अफगानिस्तान भी वहीं से आक्रमण करने के प्रयास में होता है। भारतीय लोगों का नाश करने के लिए जंगली कबीले भी वहीं से आकर लूटपाट मचाने की सोचते हैं, इसीलिए आज तक हिंदुस्थान को केवल इसी सरहद की चिंता होती थी। हिंदुस्थान की पूर्वी सरहद खतरे से खाली थी। पहले वह पूर्ण रूप से सभ्य थी और बाद में दुर्बल। वहाँ के तिब्बती और चीनी हिंदुस्थान को देवभूमि मानते थे। इसीलिए कई शतकों से हिंदुस्थान की पूर्वी सीमा पर भी युद्ध हो सकता है, यह आशंका लोगों ने भुला ही दी थी। पर आज वायव्य सरसीमा की तरह ही पूर्वसीमा पर भी युद्ध की तैयारी रखने का संकट सरकार पर आ गया है, क्योंकि आज रूस हिंदुस्थान की वायव्य सरहद पर अफगानिस्तान को आगे कर जैसे आक्रमण करना चाहता है, वैसा ही चीन को आगे कर रशिया पूर्व सीमा पर आक्रमण करना चाहता है। भारतीय क्रांतिकारी भी अंग्रेजों के शत्रुओं से हाथ मिलाकर इस विश्वयुद्ध का लाभ उठा सकें इसलिए बहुत दूर तक प्रभाव करनेवाला राजनीतिक दाँव लगाकर हिंदुस्थान पर क्रांतिकारी सेना का आक्रमण करना चाहते हैं।

रूस की इस चाल को असफल बनाने के लिए दूरदर्शी अंग्रेज ब्रह्मदेश की सरहद पर बड़े पैमाने पर युद्ध की तैयारी कर रहे हैं। बंदियों के जत्थे-के-जत्थे रिहा किए गए हैं और उनसे उस सरहद पर बड़ी तेजी से बड़े-बड़े रास्ते और किले बनवाए जा रहे हैं। इसके लिए धन भी जुटाया जा रहा है। आगामी विश्वयुद्ध के लिए उस सरहद पर की जा रही तैयारी या सेना की गतिविधि की भनक भी छापने

पर कड़ी पाबंदी लगाई गई है।

अफगानिस्तान की ओर से सिकंदर से लेकर हाल के जेहादी गुंडों के हमले तक जितने भी हमले हुए हैं, वे सबके सब हिंदुस्थान को गुलाम बनाने के लिए किए गए थे। पर अब अगर ब्रह्मदेश की तरफ से हिंदुस्थान पर हमला होता ही है, तो वह हिंदुस्थान जीतने के लिए नहीं अपितु केवल अंग्रेजों को हिंदुस्थान से भगाकर उनकी शक्ति कम करने के लिए होगा। इस हमले का उद्‌देश्य है— अंग्रेजों के साम्राज्य के टुकड़े करना। उन्हें उनके साम्राज्य के हृदयरूप हिंदुस्थान में दबोचना, अंग्रेजों को हिंदुस्थान में ही कैंची लगाना है। रूस, चीन और उनके सहायक भारतीय क्रांतिकारियों का विचार है कि पूर्व सीमा से अंग्रेजों पर हमला करने से उनकी शक्ति बँट जाएगी और तब हिंदुस्थान के क्रांतिकारी भी अंदर से विद्रोह कर उठेंगे।

कैसा पागलपन है यह! विधानमंडल, खादीमंडल, शिवोत्सव, शुद्धि, स्वदेशी इत्यादि अति उपयुक्त और सुखासीन उपायों से सीमित प्रगति करते रहना छोड़ क्रांतिकारियों की कानों के परदे फाड़नेवाली लड़कही घुड़दौड़ में शामिल होने से दाँत टूट जाने का ही संकट है। अरे, सभ्य आदमी हैं, क्रांतिकारियों की तरह सिरफिरे थोड़े न हैं!

पर लगता है कि ब्रह्मदेश के कुछ लोगों पर इस पागलपन का भूत सवार हो रहा है। क्योंकि उन्होंने कब से कहना शुरू किया है कि अगर कभी ब्रह्मदेश की सीमा पर चीनी और अंग्रेजी लोगों का युद्ध हुआ तो हम अंग्रेजों को धन या जन की थोड़ी भी सहायता नहीं करेंगे। कैसी विद्रोह भरी बात है। सरकार महात्मा गांधी को क्यों नहीं वहाँ भेजती! वहाँ जाकर वे सत्य, अहिंसा, शाकाहार जैसे अप्रभावी तत्त्वों का उपदेश कर ब्रह्मी लोगों को समझाएँगे कि वे इस युद्ध में अंग्रेजों की निरपेक्ष, बिना शर्त और उचित सहायता करें। वे उन्हें समझाएँगे कि अंग्रेजों को सहयोग देना ही सच्ची असहकारिता है। पिछले युद्ध में महात्माजी ने जर्मन लोगों को मारने के लिए सैनिक इकट्ठा किए थे। अब वे रूसी और चीनी लोगों की हिंसा के लिए सैनिकों की भरती करेंगे। यही सच्ची अहिंसा है। अंग्रेज हमारे अमित्र हैं मात्र इस कारण से संकट की वेला में उसका विरोध नहीं, बल्कि सहायता करनी चाहिए। इस सद्‌उद्‌देश्य से हमें अपने मित्र चीन का सिर काटना चाहिए। यही सच्ची देशभक्ति है और यही 'स्वराज्य प्राप्ति का सरल मार्ग है।'

☐

हमें शस्त्राचारी कहिए, अत्याचारी नहीं

निंदाव्यंजक विशेषण से किसी वस्तु को बिना कारण निंद्य स्वरूप भी मिल जाता है। अपने वृद्ध पिता को देखते ही कोई कहे, 'आ गया बुड्ढा!' तो उसके शब्द झूठ न होते हुए भी यह सिद्ध करते हैं कि वह उस वृद्ध व्यक्ति का अयोग्य पुत्र है। 'आप मेरे वृद्ध पिता हैं' और 'यह बुड्ढा मेरा बाप है'। इन दोनों वाक्यों का अर्थ लगभग एक ही है, लेकिन दूसरे वाक्य में छिपे अनादर से बोलनेवाले के बारे में हमारे मन में अनादर उत्पन्न होता है।

इसी लेख के कारण अंग्रेज सरकार ने 'श्रद्धानंद' पत्र अंत में बंद कराया।

आज का क्रांतिकारियों को अत्याचारी कहने का चलन भी इसी अनादर भावना का द्योतक है। आजकल के लेखक या वक्ता जब क्रांतिकारियों को अत्याचारी कहते हैं तब उनमें से कई का उनकी निंदा करने का हेतु नहीं होता। पर चूँकि उन्हें सोच-समझकर शब्दों का उपयोग करने की आदत नहीं होती, वे अपने पिता को 'वृद्ध' नहीं, 'बुड्ढा' कहते हैं।

कुछ समय पहले तक हिंदुस्थानी लोग ही सभी हिंदुस्थानियों को 'नेटिव' (Native) कहते थे। वस्तुतः अंग्रेजों ने शुरू में इसका प्रयोग असभ्य, पिछड़े हुए, जंगली इस अर्थ में किया। पर गर्भितार्थ को बिना समझे या उसकी उपेक्षा कर अंग्रेजों की नकल करते हुए अपने लोग भी अपने आपको 'नेटिव' कहने/कहलाने लगे। राष्ट्रीय सभा के पुराने लेखों में इस शब्द को भारतीय का समकक्ष मानकर लिखा गया है। पर बाद में बंगभंग आंदोलन में आत्मसम्मान की प्रथम जागृति में इस शब्द में छिपा निंदाभाव लोगों को चुभने लगा। भारतीयों ने 'नेटिव' शब्द का विरोध किया। अर्थ परखकर शब्द प्रयोग करने की बुद्धिमानी लोग सीखने लगे।

बाद में लोकमान्य तिलक के राष्ट्रीय पक्ष के प्रबल होते ही उनके शत्रु उनको 'आतंकवादी' कहने लगे। जिन्हें उस शब्द में छिपा निंदाभाव समझ नहीं आता था, वे भी बड़ी शान से अपने आपको I am an extremist कहते दीखते थे।

पर बाद में उन्हें वह शब्द चुभने लगा और लोकमान्य आदि लोगों का यह पक्ष अपने आपको 'आतंकवादी' नहीं बल्कि 'राष्ट्रीय पक्ष' कहलाने लगा।

अभी भी पहले जिन्हें अस्पृश्य कहा जाता था, उनकी पाठशाला को Low Caste School अर्थात् 'हीन जातियों की पाठशाला' कहा जाता है। इतना ही नहीं, स्वयं अस्पृश्य नेता भी निस्संकोच रूप से उस शब्द का प्रयोग कर अपने आपको Low Caste, 'हीन जाति' कहला लेते हैं। हमने उस शब्द का विरोध किया तभी उस शब्द में छिपी निंदनीयता इनकी समझ में आई। बिना अर्थ को परखे, शब्द प्रयोग की इस अनाड़ी आदत के कारण ही इस तरह लोग शत्रु की दी हुई गाली को भी उपाधि समझने लगते हैं।

यही स्थिति क्रांतिकारी पक्ष के बारे में है। भारत के शत्रुओं ने राष्ट्रीय पक्ष को 'आतंकवादी' नाम दिया था। वे ही भारत शत्रु आज क्रांतिकारी पक्ष को 'अराजकतावादी' कह रहे हैं। आश्चर्य तो इस बात का है कि जो राष्ट्रीय पक्ष अपने लिए प्रयुक्त 'आतंकवादी' नाम से चिढ़ता था वह भी क्रांतिकारियों को 'अनार्किस्ट-अराजकतावादी' कहने लगा है। जो स्वराज्य के लिए ही क्रांतिकारी बने हैं, जिन्हें पराजय से चिढ़ है और जो हिंदुस्थान के लिए दास्यलांछन से अलांछित संपूर्ण स्वातंत्र्य चाहते हैं, वे 'अराजकतावादी' कहलाने लगे हैं।

देखा जाए तो भारतीय राजनीति में केवल इसी पक्ष ने बुद्धिमानी से काम लिया है। शत्रु की दिखावे की मित्रता के धोखे में वह किंचित् भी नहीं आया। सरकार के झूठे आश्वासनों की भूलभुलैया में आकर वह अपने मार्ग से किंचित् भी नहीं हटा। गांधी परिवार के बेअक्ल सदस्यों ने अरजी, विनतीपत्र से लेकर जर्मनों को मारने के लिए अंग्रेजों की सहायता करने तक के कई मूर्खतापूर्ण उपाय आजमाए। ये वही गांधी हैं जो कल-परसों तक कह रहे थे कि 'स्वातंत्र्य शब्द का अर्थ भी मुझे मालूम नहीं'। इस तरह जिनका मस्तिष्क ही ठिकाने नहीं, ऐसे ये बुद्धिमान (!) लोग हम क्रांतिकारियों को 'सिरफिरे' कहते हैं। कितनी आश्चर्य की बात है!

पर सब क्रांतिकारियों को 'अराजकतावादी-अनार्किस्ट' कहनेवाले स्वयं ही उन क्रांतिकारियों के शिष्य बनकर संपूर्ण स्वतंत्रतावादी बन गए हैं। कहा जा सकता है कि अब तो सभी 'अराजकतावादी' हो गए हैं। क्योंकि सभी 'पराजय' न हो, इसके लिए जी-जान से प्रयास कर रहे हैं। पहले क्रांतिकारियों को सिरफिरे कहकर उदारवादी अंग्रेजों के तलवे चाटते थे, उन्होंने अंग्रेजों की इतनी लातें खाई हैं कि अंत में उनका सिर भी फिर गया है। अब उनमें और क्रांतिकारियों में 'सिरफिरेपन' का कोई अंतर नहीं रहा। अंतर है तो केवल सहनशीलता का। वे सहनशील अर्थात् सीधी प्राकृत में निर्लज्ज हैं और हम नहीं हैं। तेजस्वी सिंह जरा से अपमान से ही

बिगड़ उठा जबकि खरगोश, गिरगिट, लोमड़ी आदि जानवर सदियों तक ब्रिटिशों की मेज के इर्दगिर्द हरे चारे के लिए, एक टुकड़ा मांस के लिए मँडराते रहे, उनका मुँह ताकते रहे और फिर भी कुछ हाथ में न आया तो वे उसके विरोध में चिचियाने लगे। क्रांतिकारियों के जिन वाक्यों के लिए उन्हें 'सिरफिरा' कहा जाता था उन्हीं वाक्यों को अब ये सारे पक्ष रटने लगे हैं। भारतीय देशभक्तों के उदारवादी पक्ष भी अब क्रांतिकारियों की भाषा बोलने लगे हैं। वैसा ही आचरण करने लगे हैं, इसीलिए भारतीय पक्षों में से कोई भी क्रांतिकारियों को आतंकवादी, अराजकतावादी या सिरफिरे कहने की कायरता नहीं कर रहा। बहुश: सभी अर्थ को परखकर शब्द-प्रयोग करने की समझदारी या प्रामाणिकता दिखा रहे हैं। पर आदत से मजबूर कुछ लोग अभी भी क्रांतिकारियों को अत्याचारी कहने की हीनता दिखा रहे हैं।

आज राजनीतिक माँगों में, भाषा में या तीव्र प्रतिक्रिया दरसाने जैसी बातों में क्रांतिकारी पक्ष और अन्य प्रमुख राजनीतिक पक्षों में कोई अंतर नहीं है। सभी का ध्येय पूर्ण स्वातंत्र्य हो गया है। जिस ध्येय को क्रांतिकारियों ने तीस साल पहले ही घोषित किया था, उसी ध्येय के झंडे तले वे सभी इकट्ठा हो रहे हैं, जो ब्रिटिशों द्वारा गले में डाले गए बंधन को ही भूषण समझते थे या जो भूतदया के भ्रम में आकर क्रूर अंग्रेजों के पीछे भटकते फिरते थे। आज सभी पक्ष एकत्रित हुए हैं और क्रांतिकारियों के साथ, क्रांतिकारियों द्वारा आविर्भूत दिव्य मंत्र 'स्वातंत्र्य लक्ष्मी की जय' का समवेत स्वर में उच्चारण कर रहे हैं। अपनी राष्ट्रमाता के हित के लिए अपनी पिछली भूल सुधारने की जो तत्परता और सरलता हमारे देशबंधुओं ने दिखाई है, उससे कोई भी देशभक्त प्रसन्न होगा। लक्ष्य एक होते हुए भी अगर क्रांतिकारी उस दिव्य, न्याय्य स्वातंत्र्य प्राप्ति के लिए सशस्त्र प्रतिकार अपरिहार्य मानते हैं तो केवल इसीके लिए उन्हें 'अत्याचारी' कहने की नीचता कुछ लोग अभी भी दिखा रहे हैं। उनकी इस नीच मनोवृत्ति का यथासंभव तीव्र और लगातार विरोध करना हमारे लिए आवश्यक हो गया है। क्रांतिकारियों के प्रतिकार के कारण उन्हें अपनी पिछली कई गलतियों को सुधारना पड़ा है। इस गलती को भी सुधारने के लिए उन्हें बाध्य करना पड़ेगा।

इस 'अत्याचार' के आक्षेप का सशस्त्र क्रांतिकारी क्या उत्तर देते हैं, उसपर भी निष्पक्ष दृष्टि से विचार करना चाहिए। जैसे हमें उनके साधन अच्छे नहीं लगते, वैसे उन्हें भी हमारे साधन बिलकुल अच्छे नहीं लगते। विशेषत: हम अपने साधनों के समर्थन में नीति-नियमों का जो खोखला आधार प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं, वह उन्हें किंचित् भी नहीं सुहाता। हम कहते हैं कि आत्मशुद्धि के लिए उपवास करने चाहिए। पर क्रांतिकारी पूछते हैं कि आत्मशुद्धि किसकी ? जिसने तलवार की

नोक पर भारतवर्ष को पददलित किया, आत्मशुद्धि तो उसकी करनी चाहिए। महापाप उसने किया है, इसलिए उपवास उसीको करना चाहिए। हमारा सारा प्रयास अपनी मातृभूमि को स्वतंत्र करने के लिए है, हमें पाप छूता ही नहीं। फिर शुद्धि किस बात की? हम कहते हैं हमने अहिंसा की शपथ ली है। अनत्याचार की शपथ ली है। हम अनत्याचार से स्वतंत्रता प्राप्त करेंगे। पर वे क्रांतिकारी! वे कहते हैं, आप अनत्याचार की परिभाषा ही नहीं जानते। हम भी अनत्याचारी ही हैं। हम सशस्त्र प्रतिकार कर रहे हैं, लेकिन वह न्याय की रक्षा के लिए, अधर्मियों को दंड देने के लिए, अत: वह सदाचार ही है, अत्याचार नहीं। हमने किसीके देश पर शस्त्रबल से डाका नहीं डाला। हमारे देश पर जबरदस्ती करनेवाले अत्याचारी हैं, हम नहीं। अगर हमारा कर्म आपको इतना ही बुरा लगता है तो हमें शस्त्राचारी कहिए, अत्याचारी नहीं। क्योंकि अत्याचारी वही होता है जो दूसरे निरपराध आदमी को हानि पहुँचाता है, जो दूसरे के घर की तोड़-फोड़ करता है, न कि वह जो उन घर तोड़नेवाले डकैत या हत्यारे को शस्त्रबल से दंडित करता है। जो दूसरों के देश पर बलपूर्वक राज्य करता है वह अत्याचारी है, न कि वह जो समय आने पर स्वदेश को सशस्त्र प्रतिकार से भी मुक्त करने के लिए लड़ता है।

माना कि क्रांतिकारी मार्ग कुछ को मान्य नहीं है, सशस्त्र प्रतिकार का विचार भी कुछ लोग स्वीकार नहीं करते फिर भी जो हिंदुस्थान को शस्त्रबल से ही अपने अधीन रखते हैं, उनसे अगर भारतीय क्रांतिकारी शस्त्र से ही लड़ना चाहते हैं तो उन्हें अत्याचारी कहने की मूर्खतापूर्ण नीचता तो कोई न करे। क्योंकि अगर शस्त्र धारण करने से ही उन्हें अत्याचारी कहा जाएगा तो न्याय की माँग यही होगी कि देश स्वातंत्र्य के लिए लड़नेवाले वाशिंगटन, मैजिनी, लेनिन ही नहीं श्रीराम, श्रीकृष्ण, शिवाजी अर्थात् इतिहास के सभी पूजनीय व्यक्तियों को अत्याचारी कहा जाए, क्योंकि उन सभी ने अन्यायी शस्त्रबल का प्रतिकार संरक्षक शस्त्रबल से किया था। तत्त्वत: क्रांतिकारियों को हिंसक कहकर उनकी निंदा करनेवाली कलम या जीभ को, अहिंसावादियों को भी हिंसक कहना चाहिए। क्योंकि इन गांधीभक्त अहिंसाचार्यों को पागल कुत्ते को गोली मारना और गाय या बंदर को गोली मारना एक ही सी बात लगती है। ये जर्मनों को क्रूर-से-क्रूर शस्त्रों से मार देने के लिए बिना वेतन रिक्रूटिंग अफसर बन गए थे। इसलिए क्रांतिकारियों के शस्त्रधारी या बलवादी होने से जो उन्हें अत्याचारी या हिंसक कहना चाहते हैं, उन्हें अहिंसावादियों को भी वही सम्मान देना चाहिए। उनके द्वारा अत्याचारी भगतसिंह, हिंसक जतींद्रनाथ कहते ही, क्रांतिकारी भी 'हिंसक अत्याचारी गांधी' कहने से नहीं डरते, यह लाहौर कांग्रेस के मंडप में दिख ही गया है। यह क्रांतिकारियों को हिंसक, अत्याचारी कहने का ही

परिणाम था कि लाहौर के मार्ग पर और स्टेशन पर क्रांतिकारी युवकों ने गांधीजी के माहात्म्य की उपेक्षा की और उनका संतप्त स्वर से अपमान किया।

देश में एक खादी का अत्यंत अभिमानी पक्ष अस्तित्व में है। उसे दूसरे 'खाऊ' कहेंगे तो उन्हें वह नीचता लगेगी। कुछ दिन पहले एक पक्ष कहता था कि 'सूत' से स्वराज्य मिलेगा। अभी भी वह पूरी तरह से मिटा नहीं है। पर जो यह सोचते हैं कि केवल सूत या नमक से देश को स्वराज्य नहीं मिल सकता वे अगर उस पक्ष को 'सुतान' या 'नमकीन' कहेंगे तो उसे वह पक्ष बुरा मानेगा। पर ये ही लोग स्वातंत्र्य प्राप्ति के न्याय कार्य के लिए शस्त्र हाथ में लेनेवाले क्रांतिकारियों को अत्याचारी एवं हिंसक कहते हैं और उन्हें अपनी यह भाषा गाली-गलौज भरी नहीं लगती। वैसे क्रांतिकारियों को अत्याचारी कहना, सत्यव्रत के इन अनुयायियों का मत्सर भरा पाखंड है। क्योंकि ये लोग राम को नहीं, रावण को ही हिंसक कहते हैं। श्रीकृष्ण को नहीं, कंस को ही हिंसक कहते हैं। इसीसे स्पष्ट होता है कि उन्हें इतनी बुद्धि तो है ही कि बुराई के लिए प्रयुक्त बल अत्याचारी होता है, पर अत्याचार का प्रतिकार करनेवाला बल सदाचारी होता है। भारतीय दंड विधान अर्थात् इंडियन पीनल कोड में भी राजनीतिक विभाग को छोड़कर अन्यत्र स्वसंरक्षणार्थ अत्याचारी को मारने का सिद्धांत एवं भेद मान्य है। इसीलिए सशस्त्र प्रतिकार करनेवाले क्रांतिकारियों को अत्याचारी कहना केवल मिथ्याचार है।

क्रांतिकारी मार्ग को चाहे त्याज्य कहिए या क्रूर, गुमराह कहिए या अननुकरणीय, पर यह तो झुठलाया ही नहीं जा सकता कि क्रांतिकारी वीरों ने स्वदेश स्वातंत्र्य के पवित्र उद्‌देश्य से स्वार्थ-त्याग, प्राण-त्याग, शौर्य और पराक्रम की पराकाष्ठा की है। उसे अनदेखा कर उन्हें नीचा दिखाने के लिए जब-तब 'अत्याचारी', 'हिंसक' कहना और इस तरह अपनी जीभ कलुषित कर लेना सत्याग्रही अत्याचार का अनोखा उदाहरण है।

क्रांतिकारियों की देह और जिह्वा अंग्रेजी बैनेट के निशाने पर है और उस अंग्रेजी अत्याचार के कारण उन्हें मौन रहना पड़ रहा है। उनके इस मौन का लाभ उठाकर, पिंजरे में बंद शेर पर थूकनेवाले मूर्ख बच्चे की तरह उनपर कोई थूकने लगे तो इसमें शौर्य तो खैर है ही नहीं, प्रामाणिकता भी नहीं है। शायद क्रांतिकारियों को अधिक-से-अधिक गालियाँ देनेवाले को अंग्रेज सरकार जल्दी से हथकड़ियाँ नहीं पहनाती। इसीका लाभ उठाने के लिए अगर कोई सशस्त्र क्रांतिकारियों को हिंसक कहता है तो हम उसके इस स्वार्थ के आड़े आना नहीं चाहते। पर खबरदार, जो अज्ञान, आदत या अविचार से क्रांतिकारियों को अत्याचारी कहा! अगर आपको क्रांतिकारियों का मार्ग अमान्य हो तो आप अपने मार्ग से चलते बनिए। पर देश के

स्वातंत्र्य के लिए अधिक-से-अधिक पराक्रम और दिव्यातिदिव्य स्वार्थ-त्याग करनेवाले इन देशवीरों को शस्त्राचारी, बलवादी, शस्त्रवादी भले ही कहिए, पर अत्याचारी न कहिए। और अगर अपरिहार्य समझकर शस्त्र धारण कर रक्तपात के लिए प्रवृत्त होने ही से उन्हें अत्याचारी कहना है तो अत्याचारी शिवाजी, अत्याचारी गांधी, अत्याचारी वाशिंगटन और हिंसक तुकाराम कहने का साहस रखिए। क्योंकि तुकाराम भी यही कहते हैं—

'बिच्छू देवघर में आया। देवपूजा न भाए उसको।
वहाँ जूते का ही काम। हो अधम से अधम तमाम॥'

जूती से चटकाया जानेवाला घातक बिच्छू चाहे पिंडी पर बैठा हो या कुरसी पर।

'श्रद्धानंद' : १० मई, १९३०

(इसी लेख के कारण अंत में अंग्रेज सरकार ने 'श्रद्धानंद' पत्र बंद करवा दिया।)

□□□

परिणाम

प्रथम राजनेता जिन्होंने विदेशी वस्त्रों की होली जलाई। (पुणे में ७ जुलाई, १९०५ को)

★

प्रथम भारतीय नागरिक जिन पर हेग के अंतरराष्ट्रीय न्यायालय में मुकदमा चलाया गया।

★

प्रथम छात्र जिनकी बैरिस्टर की उपाधि राजनिष्ठा की शपथ लेने से इनकार करने के कारण रोक ली गई।

★

प्रथम राजनीतिक बंदी जिन्हें दो जन्मों का कारावास मिला।

★

प्रथम साहित्यकार जिन्होंने, लेखनी और कागज से वंचित होने पर भी, अंदमान जेल की दीवारों पर कीलों, काँटों और यहाँ तक कि नाखूनों से विपुल साहित्य का सृजन किया और ऐसी सहस्रों पंक्तियों को वर्षों तक कंठस्थ कराकर अपने सहबंदियों द्वारा देशवासियों तक पहुँचाया।

★

प्रथम भारतीय लेखक जिनकी पुस्तकें, मुद्रित व प्रकाशित होने से पूर्व ही, दो-दो सरकारों ने जब्त कीं।

जिस देश में जन्म लिया और जिसका अन्न खाया, उसके ऋण से मुक्त हुए बिना अपने लिए स्वर्ग के द्वार कदापि नहीं खुल सकते।

स्वतंत्रता हमें मिली नहीं, स्वतंत्रता को बड़े-से-बड़ा बलिदान देकर प्राप्त किया गया है। 'स्वतंत्रता मिली' कहना सर्वथा मिथ्या है !

काल स्वयं मुझसे डरा है, मैं नहीं। फाँसी का फंदा चूमकर, कराल काल के स्तंभों को झकझोरकर मैं अनेक बार लौट आया हूँ। फिर भी जीवित रहा, यह शायद काल की ही भूल थी।

देवकार्य हेतु निर्वंश होनेवाली वंशलता अमर हो जाती है और उसकी लोकहित-परिमल की सुगंधि समस्त दिशाओं में व्याप्त हो जाती है।

देशद्रोहियों की प्रथम पंक्ति में खड़े रहने से कहीं अच्छा है देशभक्तों की अंतिम पंक्ति में खड़ा होना ।

अपनी कुलदेवी माँ अष्टभुजा के चरणों में बैठकर शपथ लेता हूँ कि मातृभूमि को विदेशियों से मुक्त कराने के लिए आजीवन सशस्त्र क्रांति का ध्वज लेकर जूझता रहूँगा, चाहे इस प्रयास में हम तीनों भाइयों की भी वही नियति क्यों न हो जो चापेकर बंधुओं की हुई।

प्रभात प्रकाशन, दिल्ली
www.indianabooks.com

ISO 9001 : 2000 प्रकाशक

